धर्मशास्त्र का इतिहास

[द्वितीय भाग]

अर्जुन चौबे काश्यप, एम० ए०



धर्मशास्त्र का इतिहास

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला--१११

धर्मशास्त्र का इतिहास

(प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय धर्म तथा लोक-विधियाँ)

[द्वितीय भाग]

मूल लेखक
भारतरत्न, महामहोपाध्याय डॉ० पाण्डुरङ्ग वामन काणे
एम० ए०, एल० एल० एम०

अनुवादक
प्राध्यापक अर्जुन चौबे काश्यप, एम० ए०
प्रिंसिपल, डिग्री कालेज, प्रतापगढ़ (अवध)

हिन्दी समिति, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश, लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९६५

मूल्य
तेरह रुपये

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

प्रकाशकीय

हिन्दुओं की समाज-व्यवस्था और उनके व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र—जन्म-मरण, शिक्षा, विवाह, व्यवसाय, नीति, शासन, खान-पान, जात-पाँत, शौचाशौच आदि—में धर्म का प्राधान्य है। धर्म का जितना व्यापक अर्थ और जितना विस्तृत क्षेत्र हिन्दुओं में पाया जाता है, उतना संसार के किसी अन्य समाज, जाति या धर्मानुयायियों में नहीं पाया जाता। इस दृष्टि से उसके स्वरूप की ठीक-ठीक व्याख्या करना और विविध धर्मग्रन्थों के आधार पर उसके नियमों, सिद्धान्तों आदि का विवेचन करते हुए धर्मशास्त्र के इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करना बहुत ही कठिन काम है। वेदों से लेकर उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों, रामायण-महाभारत आदि में इतनी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है कि उसके सुचारु रूप से अध्ययन, संकलन, सम्पादन आदि का भगीरथ प्रयत्न विलक्षण योग्यता वाले विद्वान् के ही बूते की चीज़ थी। महाराष्ट्र के धुरंधर धर्मशास्त्रज्ञ श्री पाण्डुरंग वामन काणे ऐसे ही अद्वितीय विद्वान् हैं जिन्होंने इस महासमुद्र का मन्थन कर धर्म का सारतत्त्व इन पृष्ठों में 'गागर में सागर' की तरह भर देने का स्तुत्य प्रयास किया है। अंग्रेज़ी में उनका यह विशाल ग्रन्थ छः जिल्दों में समाप्त हुआ है। हिन्दी के पाठकों के लाभार्थ उसके बहुलांश का अनुवाद हिन्दी समिति द्वारा क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है। प्रथम भाग के अनन्तर यह द्वितीय भाग भी आपके सामने है। इसमें ग्रन्थ के महत्त्वपूर्ण स्थल—राजधर्म, व्यवहार (न्याय-विधि), सदाचार, कलिवर्ज्य जैसे वैधानिक परिवर्तन आदि—का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसका अन्तिम शेषांश भी यथाशीघ्र प्रकाशित किया जायगा, जिसमें परिशिष्ट, अनुक्रमणिका आदि समाविष्ट किये जायँगे।

सुरेन्द्र तिवारी
सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची

तृतीय खण्ड

उद्धरण-संकेत

अग्नि०=अग्निपुराण
अ० वे० या अथर्व०=अथर्ववेद
अनु० या अनुशासन०=अनुशासन पर्व
अन्त्येष्टि०=नारायण की अन्त्येष्टिपद्धति
अ० क० दी०=अन्त्यकर्मदीपक
अर्थशास्त्र, कौटिल्य०=कौटिलीय अर्थशास्त्र
आ० गृ० सू० या आपस्तम्बगृ०=आपस्तम्बगृह्यसूत्र
आ० ध० सू० या आपस्तम्बधर्म०=आपस्तम्बधर्मसूत्र
आप० म० पा० या आपस्तम्बम०=आपस्तम्बमन्त्रपाठ
आ० श्रौ० सू० या आपस्तम्बश्रौ०=आपस्तम्बश्रौतसूत्र
आश्व० गृ० सू० या आश्वलायनगृ०=आश्वलायनगृह्यसूत्र
आश्व० गृ० प० या आश्वलायन गृ० प०=आश्वलायन-गृह्यपरिशिष्ट
ऋ० या ऋग्०=ऋग्वेद, ऋग्वेदसंहिता
ऐ० आ० या ऐतरेय आ०=ऐतरेयारण्यक
ऐ० ब्रा० या ऐतरेय ब्रा०=ऐतरेय ब्राह्मण
क० उ० या कठोप०=कठोपनिषद्
कलिवर्ज्य०=कलिवर्ज्यविनिर्णय
कल्प० या कल्पतरु, कृ० क०=लक्ष्मीधर का कृत्यकल्पतरु
कात्या० स्मृ० सा०=कात्यायन स्मृतिसारोद्धार
का० श्रौ० सू० या कात्यायनश्रौ०=कात्यायनश्रौतसूत्र
काम० या कामन्दक=कामन्दकीय नीतिसार
कौ० या कौटिल्य० या कौटिलीय०=कौटिलीय अर्थशास्त्र
कौ०=कौटिल्य का अर्थशास्त्र (डॉ० शाम शास्त्री का संस्करण)
कौ० ब्रा० उप० या कौषीतकिब्रा०=कौषीतकिब्राह्मण-उपनिषद्
गं० भ० या गंगाभ० या गंगाभक्ति=गंगाभक्तितरंगिणी
गंगावा० या गंगावाक्या०=गंगावाक्यावली
गरुड़०=गरुड़पुराण
गृ० र० या गृहस्थ०=गृहस्थरत्नाकर
गौ० या गौ० ध० सू० या गौतमधर्म०=गौतमधर्मसूत्र
गौ० पि० सू० या गौतमपि०=गौतमपितृमेधसूत्र
चतुर्वर्ग०=हेमाद्रि की चतुर्वर्गचिन्तामणि या केवल हेमाद्रि
छा० उप० या छान्दोग्य-उप०=छान्दोग्योपनिषद्
जीमूत०=जीमूतवाहन
जै० या जैमिनि०=जैमिनिपूर्वमीमांसासूत्र
जै० उप०=जैमिनीयोपनिषद्
जै० न्या० मा०=जैमिनीयन्यायमालाविस्तर
ताण्ड्य०=ताण्ड्यमहाब्राह्मण
ती० क० या ती० कल्प०=तीर्थकल्पतरु
तीर्थ प्र० या ती०प्र०=तीर्थप्रकाश
ती० चि० या तीथचि०=वाचस्पति की सेतीर्थचिन्तामणि
तै० आ० या तैत्तिरीया०=तैत्तिरीयारण्यक
तै० उ० या तैत्तिरीयोप०=तैत्तिरीयोपनिषद्
तै० ब्रा०=तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०=तैत्तिरीयसंहिता
त्रिस्थली० या त्रि० से०=भट्टोजि का त्रिस्थलीसेतुसारसंग्रह
त्रिस्थली०=नारायण भट्ट का त्रिस्थलीसेतु
नारद० या ना० स्मृ०=नारदस्मृति
नारदीय० या नारद०=नारदीयपुराण
नीतिवा० या नीतिवाक्या०=नीतिवाक्यामृत
निर्णय० या नि० सि०=निर्णयसिन्धु
पद्म०=पद्मपुराण
परा० मा०=पराशरमाधवीय
पाणिनि या पा०=पाणिनि की अष्टाध्यायी
पार० गृ० या पारस्करगृ०=पारस्करगृह्यसूत्र
पू० मी० सू० या पूर्वमी०=पूर्वमीमांसासूत्र
प्रा० त० या प्राय० तत्त्व०=प्रायश्चित्ततत्त्व

प्रा० प्र, प्राय० प्र० या प्रायश्चित्तप्र० = प्रायश्चित्तप्रकरण
प्राय० प्रका० या प्रा० प्रकाश = प्रायश्चित्तप्रकाश
प्राय० वि०, प्रा० वि० या प्रायश्चित्तवि० = प्रायश्चित्त-विवेक
प्रा० म० या प्राय० म० = प्रायश्चित्तमयूख
प्रा० सा० या प्राय० सा० = प्रायश्चित्तसार
बु० भू० = बुधभूषण
बृ० या बृहस्पति० = बृहस्पतिस्मृति
बृ० उ० या बृह० उप० = बृहदारण्यकोपनिषद्
बृ० सं० या बृहत्सं० = बृहत्संहिता
बौ० गृ० सू० या बौधायनगृ० = बौधायनगृह्यसूत्र
बौ० ध० सू० या बौधा० ध० या बौधायनधर्म = बौधायन-धर्मसूत्र
बौ० श्रौ० सू० या बौधा० श्रौ० सू० = बौधायनश्रौतसूत्र
ब्र०, ब्रह्म० या ब्रह्मपु० = ब्रह्मपुराण
ब्रह्माण्ड० = ब्रह्माण्डपुराण
भवि० पु० या भविष्य० = भविष्यपुराण
मत्स्य० = मत्स्यपुराण
म० पा० या मद० पा० = मदनपारिजात
मनु या मनु० = मनुस्मृति
मानव० या मानवगृह्य० = मानवगृह्यसूत्र
मिता० = मिताक्षरा (विज्ञानेश्वर कृत याज्ञवल्क्यस्मृति-टीका)
मी० कौ० या मीमांसाकौ० = मीमांसाकौस्तुभ (खण्डदेव)
मेधा० या मेधातिथि = मनुस्मृति पर मेधातिथि की टीका या मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि
मैत्री-उप० = मैत्र्युपनिषद्
मै० सं० या मैत्रायणी = मैत्रायणी संहिता
य० ध० सं० या यतिधर्म० = यतिधर्मसंग्रह
या०, याज्ञ या याज्ञ० = याज्ञवल्क्यस्मृति
राज० = कल्हण की राजतरंगिणी
रा० ध० कौ० या राज० कौ० = राजधर्मकौस्तुभ
रा० नी० प्र० या राजनी० प्र० = मित्र मिश्र का राजनीति-प्रकाश
राज० र० या राजनीतिर० = चण्डेश्वर का राजनीति-रत्नाकर
वाज० सं० या वाजसनेयी सं० = वाजसनेयी संहिता
वायु० = वायुपुराण
वि० चि० या विवादचि० = वाचस्पति मिश्र की विवाद-चिन्तामणि
वि० र० या विवादर० = विवादरत्नाकर
विश्व० या विश्वरूप = याज्ञवल्क्यस्मृति की विश्वरूपकृत टीका
विष्णु० = विष्णुपुराण
विष्णु या वि० ध० सू० = विष्णुधर्मसूत्र
वी० मि० = वीरमित्रोदय
वै० स्मा० या वैखानस० = वैखानसस्मार्तसूत्र
व्यव० त० या व्यवहार० = रघुनन्दन का व्यवहारतत्त्व
व्य० नि० या व्यवहारनि० = व्यवहारनिर्णय
व्य० प्र० या व्यवहारप्र० = मित्र मिश्र का व्यवहारप्रकाश
व्य० म० या व्यवहारम० = नीलकण्ठ का व्यवहारमयूख
व्य० मा० या व्यवहारमा० = जीमूतवाहन की व्यवहार-मातृका
व्यव० सा० = व्यवहारसार
श० ब्रा० या शतपथब्रा० = शतपथब्राह्मण
शातातप = शातातपस्मृति
शां० गृ० या शांखायनगृ० = शांखायनगृह्यसूत्र
शां० ब्रा० या शांखायनब्रा० = शांखायनब्राह्मण
शां० श्रौ० सू० या शांखायनश्रौत० = शांखायनश्रौतसूत्र
शान्ति० = शान्तिपर्व
शुक्र० या शुक्रनीति० = शुक्रनीतिसार
शु० कौ० या शुद्धिकौ० = शुद्धिकौमुदी
शु० क० या शुद्धिकल्प० = शुद्धिकल्पतरु (शुद्धि पर)
शु० प्र० या शुद्धिप्र० = शुद्धिप्रकाश
शूद्रकम० = शूद्रकमलाकर
श्रा० क० ल० या श्राद्धकल्प० = श्राद्धकल्पलता
श्रा० क्रि० कौ० या श्राद्धक्रिया० = श्राद्धक्रिया-कौमुदी

श्रा० प्र० या श्राद्धप्र०=श्राद्धप्रकाश
श्रा० वि० या श्राद्धवि०=श्राद्धविवेक
स० श्रौ० सू० या सत्या० श्रौ०=सत्याषाढ़श्रौतसूत्र
स० वि० या सरस्वतीवि०=सरस्वतीविलास
सा० ब्रा० या साम० ब्रा०=सामविधान ब्राह्मण
स्कन्द या स्कन्दपु०=स्कन्दपुराण
स्मृ० च० या स्मृतिच०=स्मृतिचन्द्रिका
स्मृ० मु० या स्मृतिमु०=स्मृतिमुक्ताफल
सं० कौ० या संस्कारकौ०=संस्कारकौस्तुभ
सं० प्र०=संस्कारप्रकाश
सं० र० मा० या संस्काररत्न०=संस्काररत्नमाला
हि० गृ० या हिरण्य० गृ०=हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र

इंग्लिश नामों के संकेत

A. G. =ए० जि० (एंश्येण्ट जियॉग्रफी आव इण्डिया)
Ain. A. =आइने अकबरी (अबुल फजल कृत)
A. I. R. =आल इण्डिया रिपोर्टर
A. S. R. =आर्क्यालॉजिकल सर्वेरिपोर्ट्स
A. S. W. I. =आर्क्यालॉजिकल सर्वे आव वेस्टर्न इण्डिया
B. B. R. A. S. =बाम्बे ब्रांच, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी
B. O. R. I. =भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना
C. I. I. =कार्पस इंस्क्रिप्शंस इण्डिकेरम्
E. I. =एपिग्रैफिया इण्डिका (एपि० इण्डि०)
I. A. =इण्डियन एण्टिक्वेरी (इण्डि० ऐण्टि०)
I. H. Q. =इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली
J. A. O. S. =जर्नल आव दि अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी
J. A. S. B. =जर्नल आव दि एशियाटिक सोसाइटी आव बेंगाल
J. B. O. R. S. =जर्नल आव दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी
J. R. A. S. =जर्नल आव दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी (लन्दन)
S. B. E. =सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट (मैक्समूलर द्वारा संपादित)

प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रंथों तथा लेखकों का काल-निर्धारण

[इनमें से बहुतों का काल सम्भावित, कल्पनात्मक एवं विचाराधीन है। ई० पू०=ईसा के पूर्व; ई० उ०=ईसा के उपरान्त]

४०००—१००० (ई० पू०)	: यह वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों एवं उपनिषदों का काल है। ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं तैत्तिरीय संहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण की कुछ ऋचाएँ ४००० ई० पू० के बहुत पहले की भी हो सकती हैं, और कुछ उपनिषद् (जिनमें कुछ वे भी हैं जिन्हें विद्वान् लोग अत्यन्त प्राचीन मानते हैं) १००० ई० पू० के पश्चात्कालीन भी हो सकती हैं। (कुछ विद्वान् प्रस्तुत लेखक की इस मान्यता को कि वैदिक संहिताएँ ४००० ई० पू० प्राचीन हैं, नहीं स्वीकार करते।)
८००—५०० (ई० पू०)	: यास्क की रचना निरुक्त।
८००—४०० (ई० पू०)	: प्रमुख श्रौतसूत्र (यथा आपस्तम्ब, आश्वलायन, बौधायन, कात्यायन, सत्याषाढ आदि) एवं कुछ गृह्यसूत्र (यथा आपस्तम्ब एवं आश्वलायन)।
६००—३०० (ई० पू०)	: गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन, वसिष्ठ के धर्मसूत्र एवं पारस्कर तथा कुछ अन्य लोगों के गृह्यसूत्र।
६००—३०० (ई० पू०)	: पाणिनि।
५००—२०० (ई० पू०)	: जैमिनि का पूर्वमीमांसासूत्र।
५००—२०० (ई० पू०)	: भगवद्गीता।
३०० (ई० पू०)	: पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिक लिखने वाले वररुचि कात्यायन।
३०० (ई० पू०) १०० (ई० उ०)	: कौटिल्य का अर्थशास्त्र (अपेक्षाकृत पहली सीमा के आसपास)।
१५० (ई० पू०) १०० (ई० उ०)	: पतञ्जलि का महाभाष्य (सम्भवतः अपेक्षाकृत प्रथम सीमा के आसपास)।
२०० (ई० पू०) १०० (ई० उ०)	: मनुस्मृति।
१००—३०० (ई० उ०)	: याज्ञवल्क्यस्मृति।
१००—३०० (ई० उ०)	: विष्णुधर्मसूत्र।
१००—४०० (ई० उ०)	: नारदस्मृति।
२००—५०० (ई० उ०)	: वैखानसस्मार्तसूत्र।
२००—५०० (ई० उ०)	: जैमिनि के पूर्वमीमांसासूत्र के भाष्यकार शबर (अपेक्षाकृत पूर्व समय के आसपास)।
३००—५०० (ई० उ०)	: व्यवहार आदि पर बृहस्पतिस्मृति (अभी तक इसकी प्रति नहीं मिल सकी है)। एस० बी० ई० (जिल्द ३३) में व्यवहार के अंश अनूदित हैं और प्रो० रंगस्वामी आयंगर ने धर्म के बहुत से विषय संगृहीत किये हैं जो गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज द्वारा प्रकाशित हैं।

३००—६०० (ई० उ०)	: कुछ विद्यमान पुराण, यथा—वायु०, विष्णु०, मार्कण्डेय०, मत्स्य०, कूर्म०।
४००—६०० (ई० उ०)	: कात्यायनस्मृति (अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है)।
५००—५५० (ई० उ०)	: वराहमिहिर; पंचसिद्धान्तिका, बृहत्संहिता, बृहज्जातक आदि के लेखक।
६००—६५० (ई० उ०)	: कादम्बरी एवं हर्षचरित के लेखक बाण।
६५०—६६५ (ई० उ०)	: पाणिनि की अष्टाध्यायी पर 'काशिका'-व्याख्याकार वामन—जयादित्य।
६५०—७०० (ई० उ०)	: कुमारिल का तन्त्रवार्तिक।
६००—९०० (ई० उ०)	: अधिकांश स्मृतियाँ, यथा—पराशर, शंख, देवल तथा कुछ पुराण, यथा—अग्नि०, गरुड़०।
७८८—८२० (ई० उ०)	: महान् अद्वैतवादी दार्शनिक शंकराचार्य।
८००—८५० (ई० उ०)	: याज्ञवल्क्यस्मृति के टीकाकार विश्वरूप।
८०५—९०० (ई० उ०)	: मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि।
९६६ (ई० उ०)	: वराहमिहिर के बृहज्जातक के टीकाकार उत्पल।
१०००—१०५० (ई० उ०)	: बहुत से ग्रन्थों के लेखक धारेश्वर भोज।
१०८०—११०० (ई० उ०)	: याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर।
१०८०—११०० (ई० उ०)	: मनुस्मृति के टीकाकार गोविन्दराज।
११००—११३० (ई० उ०)	: कल्पतरु या कृत्यकल्पतरु नामक विशाल धर्मशास्त्र-विषयक निबन्ध के लेखक लक्ष्मीधर।
११००—११५० (ई० उ०)	: दायभाग, कालविवेक एवं व्यवहारमातृका के लेखक जीमूतवाहन।
११००—११५० (ई० उ०)	: प्रायश्चित्तप्रकरण एवं अन्य ग्रन्थों के रचयिता भवदेव भट्ट।
११००—११३० (ई० उ०)	: अपरार्क, शिलाहार राजा ने याज्ञवल्क्यस्मृति पर एक टीका लिखी।
१११४—११८३ (ई० उ०)	: भास्कराचार्य, जो सिद्धान्तशिरोमणि के, जिसका लीलावती एक अंश है, प्रणेता हैं।
११२७—११३८ (ई० उ०)	: सोमेश्वर देव का मानसोल्लास या अभिलषितार्थचिन्तामणि।
११५०—११६० (ई० उ०)	: कल्हण की राजतरंगिणी।
११५०—११८० (ई० उ०)	: हारलता एवं पितृदयिता के प्रणेता अनिरुद्ध भट्ट।
११५०—१२०० (ई० उ०)	: श्रीधर का स्मृत्यर्थसार।
११५०—१३०० (ई० उ०)	: मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक।
११५०—१३०० (ई० उ०)	: गौतम एवं आपस्तम्बधर्मसूत्रों तथा कुछ गृह्यसूत्रों के टीकाकार हरदत्त।
१२००—१२२५ (ई० उ०)	: देवण्ण भट्ट की स्मृतिचन्द्रिका।
११७५—१२०० (ई० उ०)	: धनञ्जय के पुत्र, एवं ब्राह्मणसर्वस्व के प्रणेता हलायुध।
१२६०—१२७० (ई० उ०)	: हेमाद्रि की चतुर्वर्गचिन्तामणि।
१२००—१३०० (ई० उ०)	: वरदराज का व्यवहारनिर्णय।
१२७५—१३१० (ई० उ०)	: पितृभक्ति, समयप्रदीप एवं अन्य ग्रन्थों के प्रणेता श्रीदत्त।
१३००—१३७० (ई० उ०)	: गृहस्थरत्नाकर, विवादरत्नाकर, क्रियारत्नाकर आदि के रचयिता चण्डेश्वर।

१३००—१३८० (ई० उ०) : वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों के भाष्यों के संग्रहकर्ता सायण।

१३००—१३८० (ई० उ०) : पराशरस्मृति की टीका पराशरमाधवीय तथा अन्य ग्रन्थों के रचयिता एवं सायण के भाई माधवाचार्य।

१३६०—१३९० (ई० उ०) : मदनपाल एवं उसके पुत्र के संरक्षण में मदनपारिजात एवं महार्णवप्रकाश संगृहीत किये गये।

१३६०—१४४८ (ई० उ०) : गंगावाक्यावली आदि ग्रन्थों के प्रणेता विद्यापति के जन्म एवं मरण की तिथियाँ। देखिए इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (जिल्द १४, पृ० १९०-१९१), जहाँ देवसिंह के पुत्र शिवसिंह द्वारा विद्यापति को प्रदत्त बिसपी नामक ग्राम-दान के शिलालेख में चार तिथियों का विवरण उपस्थित किया गया है (यथा शक १३२१, संवत् १४५५, ल० स० २८३ एवं सन् ८०७)।

१३७५—१४४० (ई० उ०) : याज्ञवल्क्य की टीका दीपकलिका, प्रायश्चित्तविवेक, दुर्गोत्सवविवेक एवं अन्य ग्रन्थों के लेखक शूलपाणि।

१३७५—१५०० (ई० उ०) : विशाल निबन्ध धर्मतत्त्वकलानिधि (श्राद्ध, व्यवहार आदि के प्रकाशों में विभाजित) के लेखक एवं नागमल्ल के पुत्र पृथ्वीचन्द्र।

१४००—१५०० (ई० उ०) : तन्त्रवार्तिक के टीकाकार सोमेश्वर की न्यायसुधा।

१४००—१४५० (ई० उ०) : मिसरू मिश्र का विवादचन्द्र।

१४२५—१४५० (ई० उ०) : मदनसिंह देव राजा द्वारा संगृहीत विशाल निबन्ध मदनरत्न।

१४२५—१४६० (ई० उ०) : शुद्धिविवेक, श्राद्धविवेक आदि के लेखक रुद्रधर।

१४२५—१४९० (ई० उ०) : शुद्धिचिन्तामणि, तीर्थचिन्तामणि आदि के रचयिता वाचस्पति।

१४५०—१५०० (ई० उ०) : दण्डविवेक, गंगाकृत्यविवेक आदि के रचयिता वर्धमान।

१४९०—१५१२ (ई० उ०) : दलपति का व्यवहारसार, जो नृसिंहप्रसाद का एक भाग है।

१४९०—१५१५ (ई० उ०) : दलपति का नृसिंहप्रसाद, जिसके भाग हैं—श्राद्धसार, तीर्थसार, प्रायश्चित्तसार आदि।

१५००—१५२५ (ई० उ०) : प्रतापरुद्रदेव राजा के संरक्षण में संगृहीत सरस्वतीविलास।

१५००—१५४० (ई० उ०) : शुद्धिकौमुदी, श्राद्धक्रियाकौमुदी आदि के प्रणेता गोविन्दानन्द।

१५१३—१५८० (ई० उ०) : प्रयोगरत्न, अन्त्येष्टिपद्धति, त्रिस्थलीसेतु के लेखक नारायण भट्ट।

१५२०—१५७५ (ई० उ०) : श्राद्धतत्त्व, तीर्थतत्त्व, शुद्धितत्त्व, प्रायश्चित्ततत्त्व आदि तत्त्वों के लेखक रघुनन्दन।

१५२०—१५८९ (ई० उ०) : टोडरमल के संरक्षण में टोडरानन्द ने कई सौख्यों में शुद्धि, तीर्थ, प्रायश्चित्त, कर्मविपाक एवं अन्य १५ विषयों पर ग्रन्थ लिखे।

१५६०—१६२० (ई० उ०) : द्वैतनिर्णय या धर्मद्वैतनिर्णय के लेखक शंकर भट्ट।

१५९०—१६३० (ई० उ०) : वैजयन्ती (विष्णुधर्मसूत्र की टीका), श्राद्धकल्पलता, शुद्धिचन्द्रिका एवं दत्तकमीमांसा के लेखक नन्द पण्डित।

१६१०—१६४० (ई० उ०) : निर्णयसिन्धु तथा विवादताण्डव, शूद्रकमलाकर आदि २० ग्रन्थों के लेखक कमलाकर भट्ट।

१६१०—१६४० (ई० उ०)	: मित्र मिश्र का वीरमित्रोदय, जिसके भाग हैं तीर्थप्रकाश, प्रायश्चित्तप्रकाश, श्राद्धप्रकाश आदि।
१६१०—१६४५ (ई० उ०)	: प्रायश्चित्त, शुद्धि, श्राद्ध आदि विषयों पर १२ मयूखों में (यथा—नीतिमयूख, व्यवहारमयूख आदि) रचित भागवतभास्कर के लेखक नीलकण्ठ।
१६५०—१६८० (ई० उ०)	: राजधर्मकौस्तुभ के प्रणेता अनन्तदेव।
१७००—१७४० (ई० उ०)	: वैद्यनाथ का स्मृतिमुक्ताफल।
१७००—१७५० (ई० उ०)	: तीर्थेन्दुशेखर, प्रायश्चित्तेन्दुशेखर, श्राद्धेन्दुशेखर आदि लगभग ५० ग्रन्थों के लेखक नागेश भट्ट या नागोजिभट्ट।
१७९० (ई० उ०)	: धर्मसिन्धु के लेखक काशीनाथ उपाध्याय।
१७३०—१८२० (ई० उ०)	: मिताक्षरा पर 'बालम्भट्टी' नामक टीका के लेखक बालम्भट्ट।

तृतीय खण्ड

राजधर्म (शासक और शासन-व्यवस्था), व्यवहार, सदाचार

अध्याय १

प्रस्तावना

अति प्राचीन काल से धर्मशास्त्र के अन्तर्गत राजधर्म की चर्चा होती रही है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।९।२५।१) ने संक्षिप्त ढंग से राजधर्म-विषयक बातों का उल्लेख किया है। महाभारत के शान्तिपर्व में विस्तार के साथ राजधर्म पर विवेचन उपस्थित किया गया है (अध्याय ५६ से १३० तक अति विस्तारपूर्वक तथा कुछ अंशों में अध्याय १३१ से १७२ तक)। मनुस्मृति ने भी सातवें अध्याय के आरम्भ में राजधर्म पर चर्चा करने की बात उठायी है। शासन की कला एवं उसके शास्त्र पर ईसवी सन् की कई शताब्दियों पूर्व से ही साहित्यिक परम्पराएँ गूंजती रही हैं और विचार-विमर्श होते रहे हैं। अनुशासनपर्व (३९।८) ने बृहस्पति एवं उशना के शास्त्रों का उल्लेख किया है। शान्तिपर्व (५८।१-३) ने बृहस्पति, भरद्वाज, गौरशिरा, काव्य, महेन्द्र, मनु प्राचेतस एवं विशालाक्ष नामक राजधर्म-व्याख्याताओं के नाम गिनाये हैं। शान्तिपर्व (१०२।३१-३२) ने शम्बर एवं आचार्यों के मतों के विरोध की ओर संकेत किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पाँच सम्प्रदायों के नामों का, अर्थात्——मानवों, बार्हस्पत्यों, औशनसों, पाराशरों एवं आम्भियों का उल्लेख हुआ है; सात आचार्यों, अर्थात्——बाहुदन्तीपुत्र, दीर्घ चारायण, घोटकमुख, कणिक, भारद्वाज, कात्यायन, किञ्जल्क एवं पिशुनपुत्र के नाम एक-एक बार आये हैं (५।५ एवं १।८); भारद्वाज, कौणपदन्त, पराशर, पिशुन, वातव्याधि एवं विशालाक्ष के सिद्धान्तों की चर्चा कई बार हुई है। कौटिल्य ने आचार्यों के मतों का उल्लेख कम-से-कम ५३ बार किया है। शान्तिपर्व (१०३।४४) ने राजधर्म के एक भाष्य की ओर संकेत किया है। स्पष्ट है कि उस काल में शासन-कला एवं शासन-शास्त्र की बातें पद्धतियों का रूप पकड़ चुकी थीं। महाभारत, रामायण, मनु एवं कौटिल्य में उल्लिखित विचार बहुत दिनों से चले आ रहे थे, यथा—सप्तांग राज्य, षाड्गुण्य (सन्धि, विग्रह आदि छः गुण-विशेष), तीन शक्ति, चार उपाय (साम-दान-भेद-दण्ड), अष्टवर्ग एवं पञ्चवर्ग (मनु ७।१५५), १८ तथा १५ तीर्थ (शान्तिपर्व ५।३८) आदि के नाम रूढि बन चुके थे (अयोध्याकाण्ड १००।६८-६९)।

राजधर्म को सभी धर्मों का तत्त्व या सार कहा गया है (शान्तिपर्व १४१।९-१०, ५६।३)।[1] राजा के कर्तव्यों की ओर कतिपय धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में प्रभूत संकेत मिलते हैं (देखिए गौतम १०।७-८, आपस्तम्बधर्मसूत्र २।५।१०।१३-१६, वसिष्ठ १९।१-२, विष्णु ३।२-३, नारद-प्रकीर्णक ५-७ एवं ३३-३४, शान्तिपर्व ७७।३३ एवं ५७।१५, मत्स्यपुराण २१५।६३, मार्कण्डेयपुराण २७।२८ एवं २८।३६)। इन ग्रन्थों के अवलोकन से पता चलता है कि राजधर्म विश्व का सबसे बड़ा उद्देश्य था और इसके अन्तर्गत आचार, व्यवहार, प्रायश्चित्त आदि के सभी नियम आ जाते थे। राजा को अपने

१. एवं धर्मान् राजधर्मेषु सर्वान्सर्वावस्थं संप्रलीनान्निबोध।...सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः। सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः। शान्तिपर्व ६३।२५, २६, २९; राजमूला महाभाग योगक्षेमसुवृष्टयः। प्रजासु व्याधयश्चैव मरणं च भयानि च॥ कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्च भरतर्षभ। राजमूला इति मतिर्मम नास्त्यत्र संशयः॥ शान्ति० (१४१।९-१०); सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्मः परायणम्। शान्ति० (५६।३)।

युग का निर्माता कहा गया है। राजा ही स्वर्ण-युग का प्रवर्तक है या देश में विपत्तियाँ, युद्ध या अशान्ति लाने वाला है (उद्योगपर्व १३२।१६; शान्तिपर्व ६९।७९, ९१।६ तथा ९, ५६।६; शुक्रनीतिसार ४।१।६०)[२]।

धर्मशास्त्र के अन्तर्गत राजधर्म एक विशिष्ट महत्त्व रखने वाला विषय तो था ही, इसी लिए सभी धर्मशास्त्र-कारों ने इसका सांगोपांग विवेचन किया है, किन्तु इस विषय की महत्ता इस बात से और अधिक प्रकट हो जाती है कि आदि काल से ही इस विषय पर पृथक् रूप से पुस्तकें आदि लिखी जाती रही हैं। शान्तिपर्व (अध्याय ५९) में आया है कि आरम्भ में कृतयुग में न तो राजा था और न दण्ड-व्यवस्था थी, जिसके फलस्वरूप मानवों में मोह, मत्सर आदि का प्रवेश हो गया। अतः धर्म को पूर्ण नाश से बचाने के लिए ब्रह्मा ने धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष (५९।३० एवं ७९) पर एक लाख अध्यायों वाला एक महान् ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ के **नीति** (शासन-शास्त्र) नामक भाग को शंकर विशालाक्ष ने संक्षिप्त करके दस सहस्र अध्यायों में लिखा (५९।८०), जिसे **वैशालाक्ष** की संज्ञा मिली। पुनः इसे इन्द्र ने पढ़कर पाँच सहस्र अध्यायों में रखा और उसे **बाहुदन्तक** की संज्ञा दी गयी (५९।८३)। आगे चलकर बाहुदन्तक को बृहस्पति ने तीन सहस्र अध्यायों में संक्षिप्त किया, जिसे लोगों ने **बार्हस्पत्य** नाम से पुकारा। पुनः बार्हस्पत्य को काव्य (उशना) ने एक सहस्र अध्यायों में रखा। कामसूत्र (१।५-८) ने भी इसी से मिलती-जुलती एक गाथा कही है——प्रजापति ने एक लाख अध्यायों में एक महाग्रन्थ लिखा, जिसे मनु ने **धर्म-शास्त्र** के रूप में, बृहस्पति ने **अर्थ-शास्त्र** के रूप में तथा नन्दो ने **काम-शास्त्र** के रूप में एक-एक सहस्र अध्यायों में संक्षिप्त किया। शान्तिपर्व (६९।३३-७४) ने ब्रह्मा के राजधर्म का जो निष्कर्ष उपस्थित किया है वह आश्चर्यजनक ढंग से कौटिल्य के अर्थशास्त्र के प्रमुख विषयों से मेल खाता है।

नीतिप्रकाशिका (१।२१-२२) में आया है कि ब्रह्मा, महेश्वर, स्कन्द, इन्द्र, प्राचेतस, मनु, बृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज, वेदव्यास एवं गौरशिरा राजधर्म के व्याख्याता थे; ब्रह्मा ने एक लाख अध्यायों वाला राजशास्त्र लिखा, जिसे उपर्युक्त लोगों ने क्रम से संक्षिप्त किया और गौरशिरा एवं व्यास ने उसे क्रम से पाँच सौ एवं तीन सौ अध्यायों में रखा। शुक्रनीतिसार (१।२-४) में आया है कि ब्रह्मा ने एक लाख श्लोकों में नीतिशास्त्र लिखा, जिसे आगे चलकर वसिष्ठ तथा अन्य लोगों ने (शुक्र ने भी) संक्षिप्त किया।

शासन-शास्त्र के लिए कतिपय शब्दों एवं नामों का प्रयोग हुआ है। सर्वोत्तम एवं उपयुक्त नाम **राजशास्त्र** है जिसका प्रयोग महाभारत ने किया है। महाभारत ने बृहस्पति, भरद्वाज तथा अन्य लेखकों को "राजशास्त्र-प्रणेतारः" कहा है। नीतिप्रकाशिका (१।२१-२२) ने शासन पर लिखने वाले मानव एवं देव लेखकों को "राजशास्त्राणां प्रणेतारः" की उपाधि दी है। अश्वघोष ने अपने बुद्धचरित (१।४६) में इसी नाम का प्रयोग किया है।[३] प्रो० एड्गर्टन द्वारा सम्पादित पञ्चतन्त्र के प्रथम श्लोक में मनु, बृहस्पति, शुक्र, पराशर एवं उनके पुत्र, चाणक्य तथा अन्य लोगों को **नृपशास्त्र** के लेखक कहा गया है। इसका एक अन्य नाम है **दण्डनीति**। शान्तिपर्व (५९।७९) ने इस शब्द का अर्थ किया है——"यह विश्व दण्ड के द्वारा अच्छे मार्ग पर लाया जाता है, या यह शास्त्र दण्ड देने की व्यवस्था करता है, इसी से इसे

२. युगप्रवर्तको राजा धर्माधर्मप्रशिक्षणात्। युगानां न प्रजानां न दोषः किन्तु नृपस्य तु॥ शुक्रनीतिसार ४।१।६०।

३. यद्राजशास्त्रं भृगुरंगिरा वा न चक्रतुर्वंशकरावृषी तौ। तयोः सुतौ तौ च ससर्जतुस्तत्कालेन शुक्रश्च बृहस्पतिश्च॥ बुद्धचरित १।४६।

दण्डनीति की संज्ञा मिली है और यह तीनों लोकों में छाया हुआ है।"[४] शान्तिपर्व ने दण्डनीति को 'राजधर्म' से मिला दिया है (६३।२८)। कौटिल्य (१।४) ने व्याख्या उपस्थित की है—"दण्ड वह साधन है जिसके द्वारा आन्वीक्षिकी, त्रयी (तीनों वेदों) एवं वार्ता का स्थायित्व एवं रक्षण अथवा योगक्षेम होता है, जिसमें दण्ड-नियमों की व्याख्या होती है वह दण्डनीति है; जिसके द्वारा अलब्ध की प्राप्ति होती है, लब्ध का परिरक्षण होता है, रक्षित का विवर्धन होता है और विवर्धित (बढ़ी हुई सम्पत्ति) का सुपात्रों में बँटवारा होता है।" इसी अर्थ से मिलती उक्ति महाभारत में भी पायी जाती है (शान्तिपर्व ६९।१०२)। नीतिसार (२।१५) का कहना है कि दम (नियन्त्रण या शासन) को दण्ड कहा जाता है, राजा को 'दण्ड' की संज्ञा इसी लिए मिली है कि उसमें नियन्त्रण केन्द्रित है, दण्ड की नीति या नियमों को दण्डनीति कहा जाता है और नीति यह संज्ञा इसलिए है कि वह (लोगों को) ले चलती है।[५] शान्तिपर्व (६९।१०४) का कहना है कि दण्डनीति क्षत्रिय (राजा) का विशिष्ट व्यापार है। वनपर्व (१५०।३२) में आया है कि बिना दण्डनीति के सारा विश्व अपने बन्धन तोड़ डालेगा (और देखिए शान्तिपर्व १५।२९, ६३।२८, ६९।७४)। दण्डनीति सम्पूर्ण विश्व का आश्रय है और यह देवी सरस्वती द्वारा उत्पन्न की गयी है (शान्तिपर्व १२२।२५)।

'अर्थशास्त्र' शब्द 'दण्डनीति' का पर्याय माना जाता रहा है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।१०।१६) में राजा से कहा गया है कि वह धर्म एवं अर्थ में पारंगत ब्राह्मण को पुरोहित के पद पर नियुक्त करे। स्पष्ट है, आपस्तम्ब ने यहाँ धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र की ओर संकेत किया है। अनुशासनपर्व (३९।१०-११) में आया है कि बृहस्पति आदि ने अर्थशास्त्रों का प्रणयन किया था। द्रोणपर्व (६।१) ने मानवीय अर्थविद्या का उल्लेख किया है।[६] शान्तिपर्व ने अर्थशास्त्र के पालन की बात बड़े गम्भीर शब्दों में चलायी है (७१।१४ एवं ३०२।१०९)। रामायण (२।१००।१४) में आया है कि राम के उपाध्याय सुधन्वा अर्थशास्त्र के पण्डित थे। कौटिल्य ने आरम्भ में अपने अर्थशास्त्र को सभी अर्थशास्त्रों का सार माना है और अन्त में इसे पृथिवी की प्राप्ति एवं उसके संरक्षण का साधन घोषित किया है। कौटिल्य ने दण्डनीति के जो चार प्रमुख उद्देश्य रखे हैं [यथा (१) अलब्ध की प्राप्ति, (२) लब्ध का परिरक्षण, (३) रक्षित का विवर्धन एवं (४) विवर्धित का सुपात्रों में विभाजन] उन्हें मनु महाराज (मनुस्मृति ७।९९–१००) सदैव क्षत्रियों के समक्ष रखते हैं। यही बात शान्तिपर्व (१०२।५७, १४०।५), याज्ञवल्क्य (१।३१७), नीतिसार (१।१८) आदि में भी पायी जाती है। कौटिल्य ने अन्त में (१५।१) लिखा है—"अर्थ सम्पूर्ण मानवों का जीवन या वृत्ति है, अर्थात् मानवों से भरी हुई पृथिवी अर्थ है। वह शास्त्र, जो पृथिवी की प्राप्ति एवं संरक्षण का साधन है, अर्थशास्त्र है।" मानव अपना जीवन-निर्वाह पृथिवी से करते हैं और सम्पत्ति पृथिवी से ही उगती है। महाभारत एवं रामायण से (कुछ शताब्दियों) उपरान्त के लेखकों ने 'दण्डनीति' एवं 'अर्थशास्त्र' को समानार्थक माना है। दण्डी ने 'दशकुमारचरित' (८) में लिखा है कि विष्णुगुप्त ने मौर्य राजा के लिए छः सहस्र श्लोकों में दण्डनीति का प्रणयन किया, किन्तु कौटिल्य ने आरम्भ में ही अपने ग्रन्थ

४. दण्डेन नीयते चेयं दण्डं नयति वा पुनः। दण्डनीतिरिति ख्याता त्रींल्लोकानभिवर्तते ॥ शान्तिपर्व (५९।७८); दण्डनीतिः स्वधर्मेभ्यश्चातुर्वर्ण्यं नियच्छति। प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यो नियच्छति ॥ शान्ति० ६९।७६।

५. दमो दण्ड इति ख्यातस्तात्स्थ्याद्दण्डो महीपतिः। तस्य नीतिर्दण्डनीतिर्नयनान्नीतिरुच्यते ॥ नीतिसार २।१५ एवं शुक्र० १।१५७।

६. देखिए जायसवाल कृत "मनु एण्ड याज्ञवल्क्य" पृ० ५, ७, १६, २५, २६, ४१, ४२, ५०, ८४। इसमें जायसवाल ने 'मनु' एवं 'अर्थ' की व्याख्या उपस्थित की है।

को अर्थशास्त्र की संज्ञा दी है। दण्डी ने कौटिल्य द्वारा उल्लिखित कुछ अर्थशास्त्रकारों के नाम भी दिये हैं। अमरकोश ने दोनों को समानार्थक ठहराया है। मनु (७।४३) की टीका में मेधातिथि ने 'दण्डनीति' की व्याख्या करते हुए लिखा है कि यह चाणक्य एवं अन्य लोगों द्वारा प्रणीत थी। याज्ञवल्क्य (१।३११) की टीका मिताक्षरा में दण्डनीति को अर्थशास्त्र के अर्थ में लिया गया है। शुक्रनीतिसार (४।३।५६) में आया है—"अर्थशास्त्र वह है, जिसमें राजाओं के आचरण आदि के विषय में ऐसा अनुशासन एवं शिक्षण हो जो श्रुति एवं स्मृति से भिन्न हो और जिसमें बड़ी दक्षता के साथ सम्पत्ति-प्राप्ति के लिए शिक्षा दी गयी हो।"

'अर्थशास्त्र' एवं 'दण्डनीति' शब्द दो दृष्टिकोणों से शासन-शास्त्र के लिए प्रयुक्त हुए हैं। कामसूत्र (१।२०) में अर्थ की परिभाषा शिक्षा, भूमि, स्वर्ण, पशु, धान्य, बरतन-भाण्ड एवं मित्र तथा वाञ्छित वस्तुओं के परिवर्धन से समन्वित की गयी है। अतः जब सभी प्रकार के धन एवं सम्पत्ति के उद्गम एवं वृत्ति के निरूपण को शास्त्र की संज्ञा दी गयी तो इनके विषय-विवेचन को 'अर्थशास्त्र' कहा गया, इसी प्रकार प्रजा-शासन एवं अपराध-दण्ड को विशिष्टता दी गयी तो शासन-शास्त्र को 'दण्डनीति' के नाम से कहा गया। यद्यपि कौटिलीय अर्थशास्त्र जैसे ग्रन्थों में धर्म को प्रभूत महत्ता दी गयी है, किन्तु वे प्रधानतः केन्द्रीय एवं स्थानीय शासन, करग्रहण, साम एवं अन्य उपायों के प्रयोग, सन्धि, विग्रह तथा कर्मचारियों एवं दण्ड की नियुक्ति से सम्बन्धित हैं। अतः अर्थशास्त्र प्रमुखतः दृष्टार्थ-स्मृति है, जैसा कि भविष्यपुराण में कहा गया है (अपरार्क द्वारा उद्धृत, पृष्ठ ६२६, स्मृतिचन्द्रिका, पृ० २४ एवं वीरमित्रोदय, परिभाषा, पृ० १९)। मेधातिथि ने मनु (७।१) की टीका में धर्म को कर्तव्य (धर्मशब्दः कर्तव्यतावचनः) के अर्थ में लिया है, राजा के कर्तव्य या तो दृष्टार्थ (अर्थात् जिनके प्रभाव सांसारिक हों और देखे जा सकें) हैं या अदृष्टार्थ (जिन्हें देखा न जा सके किन्तु उनका आध्यात्मिक महत्त्व हो), यथा अग्निहोत्र। मेधातिथि ने स्पष्ट लिखा है कि राजनीति के नियम धर्मशास्त्र के धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर नहीं बने हैं, प्रत्युत वे मुख्यतः सांसारिक कार्यों के अनुभवों पर आधारित हैं।

शासन-शास्त्र की एक अन्य संज्ञा है नीतिशास्त्र या राजनीतिशास्त्र (शान्तिपर्व ५९।७४)। कामन्दक के नीतिसार (१।६) ने उस विष्णुगुप्त को नमस्कार किया है जिसने अर्थशास्त्र-ग्रन्थों के महार्णव से नीतिशास्त्र रूपी अमृत निकाला। पञ्चतन्त्र ने अर्थशास्त्र एवं नीतिशास्त्र को एक-दूसरे का पर्याय माना है। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य २।२१) ने अर्थशास्त्र को राजनीतिशास्त्र तथा धर्मशास्त्र का अभिन्न अंग माना है। 'राजनीति' शब्द कतिपय ग्रन्थों में आया है (रघुवंश १७।६८, भगवद्गीता,–'नीति' १०।३८, आश्रमवासिकपर्व ६।५, मनु ७।१७७, शान्तिपर्व १११।७३, १३८।३९, ४३ एवं १९६, २६८।९ तथा द्रोणपर्व १५२।२९ आदि)। एक अन्य शब्द है नय, जिसका अर्थ है 'नीति की पद्धति'। अर्थशास्त्र (१।२) ने 'नय' एवं 'अनय' (बुरी नीति) को दण्डनीति के अन्तर्गत विवेचना करने का विषय ठहराया है। यह 'नय' शब्द कतिपय साहित्यिक ग्रन्थों में भी प्रयुक्त हुआ है (किरातार्जुनीय २।३, १२, ५४ एवं १३।१७)।

अब हम अर्थशास्त्र एवं धर्मशास्त्र के सम्बन्ध में कुछ चर्चा करेंगे। राजधर्म धर्मशास्त्र का महत्वपूर्ण विषय है। अर्थशास्त्र, जो मुख्यतः राजा के अधिकारों, विशेषाधिकारों एवं उत्तरदायित्वों से सम्बन्धित है, धर्मशास्त्र का ही अंग माना गया है। धर्मशास्त्र के सदृश ही इसका उद्गम दैवी माना गया है। किन्तु जहाँ अर्थशास्त्र किसी देश के शासन के सभी स्वरूपों पर विस्तार के साथ प्रकाश डालता है, धर्मशास्त्र राजशास्त्र के प्रमुख विषयों एवं अंगों पर सामान्य रूप से ही विवेचना उपस्थित करता है। जिस प्रकार कामसूत्र (१।२।१४) ने धर्म को सर्वप्रधान लक्ष्य माना है और काम को तीनों पुरुषार्थों में सबसे हीन ठहराया है, उसी प्रकार अर्थशास्त्र ने धर्म को सबसे महत्त्वपूर्ण जीवन-लक्ष्य (मूल्य) माना है। किन्तु कौटिल्य तथा अर्थशास्त्र के अन्य लेखकों ने अर्थ पर सबसे अधिक बल दिया है। धर्म एवं अर्थ से सम्बन्धित मत-भेदों में धर्मशास्त्रकारों ने धर्म को अधिक महत्त्व दिया है (आपस्तम्बधर्मसूत्र १९।२४।२३, याज्ञ० २।२१, नारद-व्यवहारमातृका १।३९)। धर्मशास्त्र को स्मृति (मनु २।१०) भी कहा गया है। किन्तु

अर्थशास्त्र को उपवेद की संज्ञा दी गयी है। विष्णुपुराण (३।६।२८), वायुपुराण (६१।७९), ब्रह्माण्डपुराण (३५।८८-८९) आदि ने आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद एवं अर्थशास्त्र को चार उपवेद कहा है।

यद्यपि सिद्धान्त रूप से अर्थशास्त्र को धर्ममार्ग पर चलना चाहिए, किन्तु व्यावहारिक रूप में महाभारत एवं कौटिल्य ने कतिपय स्थलों पर नैतिकता के सिद्धान्तों की अवहेलना करने की बात कही है। शान्तिपर्व (१४०) में ऐसी बातें आयी हैं, जिन्हें हम किसी रूप में नैतिक अथवा धार्मिक नहीं कह सकते। दो-एक उदाहरण अवलोकनीय हैं—'बोलने में मधुर एवं विनम्र होना चाहिए, किन्तु भीतर (हृदय में) तीक्ष्ण छुरी के सदृश होना चाहिए (शान्तिपर्व १४०। १३); धन-सम्पत्ति की लालसा रखने वाले को हाथ जोड़ना चाहिए, शपथ खानी चाहिए, मधुर वाणी का प्रयोग करना चाहिए, चरण-चुम्बन करना चाहिए, यहाँ तक कि आँसू भी बहाने चाहिए; एक व्यक्ति अपने शत्रु को कंधे पर भी ढोये, किन्तु काम हो जाने पर मिट्टी के बरतन के समान उसे प्रस्तर-खण्ड पर पटक कर तोड़-फोड़ देना (मार डालना) चाहिए (शांति० १४०।१७।१८), आदि। इन बातों को पढ़कर पाठक महाभारत के विषय में विचित्र धारणाएँ बना सकते हैं, किन्तु ये बातें आपत्तियों के समय करणीय मानी गयी हैं। युधिष्ठिर ने स्वयं इन बातों का विरोध किया और भीष्म पितामह से कहा कि ये बातें घोर अनैतिक हैं। ये बातें सम्भवतः भारद्वाज जैसे लेखकों की उक्तियों से सम्बन्धित हैं। स्वयं भीष्म ने आगे चलकर कहा है कि ये बातें 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' के नियम से सम्बन्धित हैं, सामान्यतः राजा ऋजु मार्ग का अनुसरण करता है। किन्तु दुष्ट, अनैतिक एवं क्रूर शत्रुओं से वैसा करना नीति-विरुद्ध नहीं है। भीष्म ने कहा है कि सदा नैतिक बातों का पालन नहीं करना चाहिए, सुविचारणा एवं तर्क का आश्रय लेना श्रेयस्कर होता है (शान्ति० ५१७, १७)। महाभारत ने स्थान-स्थान पर धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का समन्वय उपस्थित किया है।

कौटिल्य ने लिखा है कि अर्थशास्त्रकारों ने क्रूर, स्वार्थान्ध एवं अनैतिक सम्मतियाँ देने में कोई संकोच नहीं किया है। इन्होंने लिखा है कि भारद्वाज के अनुसार राजकुमार लोग कर्कट (केकड़ा) हैं जो अपने माता पिता को खा डालते हैं, अतः यदि वे अपने पिता को न प्यार करें तो उन्हें गुप्त रूप से समाप्त कर देना चाहिए। किन्तु विशालाक्ष ने भारद्वाज की इस उक्ति की भर्त्सना की है और कहा है कि इस प्रकार राजकुमारों को समाप्त कर देना अनुचित, क्रूरता-प्रदर्शन एवं क्षत्रिय-कुल-नाशक है, ऐसे राजकुमारों को एक ही स्थान पर बन्दी बना कर रखना कहीं श्रेयस्कर है। वातव्याधि ने लिखा है कि राजकुमारों को अति काम-वासना में लगा देना चाहिए। कौटिल्य ने इस सम्मति की भर्त्सना की है। उन्होंने लिखा है कि गर्भाधान एवं उत्पत्ति के विषय में उचित अवधानता रखी जानी चाहिए एवं धर्म की शिक्षा-दीक्षा देनी चाहिए। भारद्वाज को उद्धृत कर कौटिल्य ने एक अन्य विचित्र नियम की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है, जो उनके अर्थशास्त्र-प्रणयन के पूर्व कतिपय अर्थशास्त्रकारों द्वारा प्रतिपादित किया गया था। भारद्वाज ने लिखा था कि राजा की मृत्यु के समय मन्त्री को चाहिए कि वह राजकुमारों को एक-दूसरे के विरोध में खड़ा कर दे और आगे चलकर अन्य सम्बन्धियों को भी उभाड़ दे। इस प्रकार सबका गुप्त रूप से हनन करके या उन्हें दबाकर उसे स्वयं राज्य पर अधिकार कर लेना चाहिए। कौटिल्य इस मत के विरोधी हैं। किन्तु स्वयं उन्होंने अधार्मिक या दुष्ट लोगों के नाश के लिए विष, दवाओं तथा मन्त्र-प्रयोगों का प्रतिपादन किया है (औपनिषदिक, १४)। कौटिल्य ने भी अनैतिक एवं क्रूर नीतियों के पालन की बात चलायी है (१।१८, ५।१, ५।२)। खाली कोश को भरने के लिए उन्होंने राजा से कहा है कि वह मन्दिरों की सम्पत्ति भी हड़प सकता है। स्वयं कौटिल्य ने दुरभिसंधियों की चर्चा की है और राजा की सुपुष्ट स्थिति की स्थापना के लिए शत्रुओं, राजकुमारों, सम्बन्धियों या विरोधी राजपुरुषों के गुप्त हनन की बात चलायी है।

राजधर्म-सम्बन्धी संस्कृत-साहित्य बहुत विशाल है। आपस्तम्ब जैसे कतिपय धर्मसूत्रों में भी संक्षेपतः इसकी

चर्चा हुई है, किन्तु निम्नलिखित ग्रन्थों को प्रभूत महत्त्व मिला है—महाभारत (वनपर्व १५०, सभा ५, उद्योग ३३-३४, शान्ति १-१३०, आश्रमवासिक ५-७), रामायण (अयोध्या, १५, ६७, १००; युद्ध, १७-१८, ६३), मनुस्मृति (७-९), कौटिल्य का अर्थशास्त्र (यह ग्रन्थ राजधर्म पर सबसे महत्त्वपूर्ण है), याज्ञवल्क्य (१।३०४-३६७), वृद्ध-हारीत-स्मृति (७।१८८-२७१), बृहत्पराशर (१०, पृ० २७७-२८५), विष्णु-धर्मसूत्र (३), कामन्दक का नीतिसार, अग्निपुराण (२१८-२४२), गरुड़पुराण (१०८-११५), मत्स्यपुराण (२१५-२४३), विष्णुधर्मोत्तर (२), मार्कण्डेयपुराण (२४), कालिका पु० (८७), वैशम्पायन की नीतिप्रकाशिका, शुक्रनीतिसार, सोमेश्वर की अभिलषितार्थचिन्तामणि या मानसोल्लास (प्रथम चार विंशतियाँ), भोज का युक्तिकल्पतरु, सोमदेव (९५९ ई०) का नीतिवाक्यामृत, बृहस्पति-सूत्र, लक्ष्मीधर के कृत्यकल्पतरु का राजनीति-काण्ड, चण्डेश्वर का राजनीतिरत्नाकर, मित्र मिश्र का राजनीतिप्रकाश, नीलकण्ठ का नीतिमयूख, अनन्तदेव का राजधर्मकौस्तुभ, राजकुमार सम्भाजी का बुधभूषण तथा केशव पण्डित की दण्डनीति। कौटिलीय अर्थशास्त्र के प्रकाशन के उपरान्त अर्थशास्त्र-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जिनकी तालिका देना यहाँ आवश्यक नहीं है।

अध्याय २

राज्य के सात अंग

प्रायः सभी राजनीति-शास्त्रज्ञों ने राज्य के सात अंग बतलाये हैं, यथा (१) स्वामी (शासक या सम्राट्), (२) अमात्य, (३) जनपद या राष्ट्र (राज्य की भूमि एवं प्रजा), (४) दुर्ग (सुरक्षित नगर या राजधानी), (५) कोश (शासक के कोश में द्रव्यराशि), (६) दण्ड (सेना) एवं (७) मित्र।[1] अंगों को प्रकृति भी कहा जाता है। राजनीति के ग्रन्थों में 'प्रकृति' शब्द राज्यों के मण्डल के अंगों का भी द्योतक कहा गया है (देखिए मनु ७।१५६ एवं कौटिल्य ६।२)। इस शब्द का सम्बन्ध मन्त्रियों से भी है (देखिए शुक्रनीतिसार २।७०-७३)। कहीं-कहीं इसका अर्थ 'प्रजा' भी है (देखिए खारवेल का अभिलेख; नारद, प्रकीर्णक ५; रघुवंश ८।१८)। इन अंगों के क्रम एवं नामों में कहीं-कहीं बहुत अन्तर पाया गया है। जनपद के लिए जन या राष्ट्र शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। दण्ड के लिए बल तथा दुर्ग के लिए पुर का प्रयोग हुआ है। आश्रमवासिकपर्व (५।८) ने राज्य के आठ अंग गिनाये हैं। राजनीतिज्ञों ने शासक (राजा) को सप्तांगों में सर्वश्रेष्ठ माना है। कौटिल्य ने तो राजा को ही संक्षेप में राज्य कह डाला है।[2] किन्तु कौटिल्य का यह सूत्र फ्रांस के राजा चौदहवें लुई के "ल इतात स एस्त म्वाइ" अर्थात् "मैं ही राज्य हूँ" नामक सूत्र के समान नहीं है। कौटिल्य (८।१) ने स्पष्ट लिखा है कि राजा ही मन्त्रियों, कर्मचारियों एवं अधीक्षकों की नियुक्तियाँ करता है; वही अन्य प्रकृतियों[3] पर विपत्तियाँ घहराने पर दुःखमोचन या साहाय्य का प्रबन्ध करता है, अर्थात् वही नियुक्त मन्त्रियों पर विपत्ति

१. स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः। कौटिल्य ६।१, पृ० २५७; स्वाम्यमात्या जनो दुर्गं कोशो दण्डस्तथैव च। मित्राण्येताः प्रकृतयो राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते।। याज्ञवल्क्य १।३५३; स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा। सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते।। मनु ९।२९४; स्वाम्यमात्यदुर्गकोशदण्ड-राष्ट्रमित्राणि प्रकृतयः। विष्णुधर्मसूत्र ३।३३; स्वाम्यमात्यसुहृद्दुर्गकोशदण्डजनाः। गौतमसूत्र (सरस्वतीविलास द्वारा उद्धृत, पृ० ४५)। और भी देखिए शान्तिपर्व ६९।६४-६५, मत्स्यपुराण २२५।११ एवं २३९, अग्निपुराण २३३।१२, कामन्दक १।१६ एवं ४।१-२। 'प्रकृति' शब्द का अर्थ अपरार्क (पृष्ठ ५८८) ने सुन्दर ढंग से किया है--यतः कार्यमुत्पद्यतेऽवतिष्ठते नियमेन भवति सा प्रकृतिः। यथा हिरण्यं कुण्डलस्य। राज्यं च विना स्वाम्यादिभिर्नोत्पद्यते, उत्पन्नमपि न तैर्विना चिरकालमनुवर्तते। ततो भवन्ति स्वाम्यादयो राज्याङ्गानि।

२. राजा राज्यमिति प्रकृतिसंक्षेपः। कौटि० ८।२; तत्कूटस्थानीयो हि स्वामीति। कौ० ८।१; सप्तांग-मुच्यते राज्यं तत्र मूर्धा नृपः स्मृतः। दृगमात्यः सुहृच्छ्रोत्रं मुखं कोशो बलं मनः।। हस्तौ पादौ दुर्गराष्ट्रौ०--शुक्र-नीति १।६१-६२; सप्तांगस्यापि राज्यस्य मूलं स्वामी प्रकीर्तितः। राजनीतिप्र० पृ० १३३; सप्तांगस्यास्य राज्यस्य त्रिदण्डस्येव तिष्ठतः। अन्योन्यगुणयुक्तस्य कः केन गुणतोऽधिकः।। तेषु तेषु हि कालेषु तत्तदंगं विशिष्यते। येन यत् सिध्यते कार्यं तत्प्राधान्याय कल्पते।। शान्तिपर्व; मनु (९।२९६-२९७) ने भी सर्वथा यही बात कही है। परस्परोप-कारीदं सप्तांगं राज्यमुच्यते (मत्स्यपुराण २३९।१)।

आने पर अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करता है; यदि राजा सम्पत्तिमान् अथवा समृद्धिशाली है तो वह अपनी प्रकृतियों को समृद्धि प्रदान करता है। प्रकृतियों को वही गौरव प्राप्त है जो राजा को है, अतः राजा सुस्थिर एवं अक्षय शक्ति का केन्द्र है। शुक्रनीतिसार (२।४) ने लिखा है कि यदि राजा मनमाना कार्य करता है तो इससे विपत्तियाँ घहराती हैं, मन्त्रियों की हानि होती है और अन्त में राज्य का नाश होता है।

शुक्रनीतिसार (१।६१-६२) ने राज्य के सप्तांगों की तुलना शरीर के अंगों से की है, यथा--राजा सिर है, मन्त्री लोग आँखें हैं, मित्र कान हैं, कोश मुख है, बल (सेना) मन है, दुर्ग (राजधानी) एवं राष्ट्र हाथ एवं पैर हैं। कामन्दक (४।१-२) ने लिखा है कि सातों अंग एक-दूसरे के पूरक हैं, यदि एक भी अंग दोषपूर्ण हुआ तो राज्य ठीक से चल नहीं सकता। शान्तिपर्व ने भी सभी अंगों की महत्ता स्वीकृत की है। मनु एवं महाभारत ने राज्य के अंगों में स्वाभाविक एकता देखी है। सभी अंगों को लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक-दूसरे के साथ मिलकर कार्यशील होना ही होगा। सभी अंग महत्त्वपूर्ण हैं, कोई दूसरे से हीन नहीं है, एक की महत्ता अपने स्थान पर है, वह दूसरे से बढ़ कर नहीं है (मनु ९।२९५)।

केवल जन-समूह से ही राज्य का निर्माण नहीं होता, प्रत्युत राज्य के लिए जन-समूह का भौगोलिक सीमाओं (राष्ट्र) के भीतर रहना परमावश्यक है, जन-समूह को किसी स्वामी के अनुशासन के अनुसार चलना होगा, राज्य के लिए एक विशिष्ट शासन-क्रम (अमात्य) होगा, उसके लिए एक सुव्यवस्थित आर्थिक व्यवस्था होगी (कोश), रक्षा के लिए बल होगा तथा होगी अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री। राज्य के सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं (१) स्वामी, (२) शासन-व्यवस्था, (३) निश्चित भूमि एवं जन-संख्या। ये चारों तत्त्व अति प्राचीन सूत्रकारों को भी विदित थे। देखिए गौतम ११।१ (राजा), आप० २।६।२५।१० (अमात्य), आप० २।१०।२५।११ (विषय, नगर, ग्राम), गौतम ११।५-८ (प्रजा)। अब हम सप्तांगों का क्रमानुसार वर्णन उपस्थित करेंगे।

स्वामी (१)

कतिपय ग्रन्थों में स्वामी या शासक की आवश्यकता पर बल दिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (१।१४) में आया है कि देवों ने राजा के न रहने पर अपनी दुर्दशा देखी और तभी एकमत से उसका चुनाव किया। इससे प्रकट होता है कि सामरिक आवश्यकताओं ने स्वामित्व या नृपत्व को जन्म दिया। मनु (७।३ = शुक्रनीतिसार १।७१) ने लिखा है--"जब सभी भयाकुल हो इधर-उधर दौड़ने लगे और विश्व में कोई स्वामी नहीं था तो विधाता ने इस विश्व की रक्षा के लिए राजा का प्रणयन किया।" मनु ने मात्स्यन्याय ("बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को निगल जाती हैं", अर्थात् "बली दुर्बल को दबा बैठता है", या "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाले सिद्धान्त) की ओर भी संकेत किया है (मनु ७।१४ एवं २०)। इस मात्स्यन्याय की विवेचना कौटिल्य, महाभारत तथा अन्य लोगों ने भी की है। शतपथब्राह्मण (११।६।२४) में आया है--"जब कभी अकाल पड़ता है तो बलवान् दुर्बल को दबा बैठता है, क्योंकि पानी ही न्याय है।" इसका तात्पर्य यह है कि जब वर्षा नहीं होती तब न्याय का राज्य समाप्त हो जाता है और मात्स्यन्याय कार्यशील हो जाता है। कौटिल्य का कहना है--"जब दण्ड का प्रयोग नहीं होता तो मात्स्यन्याय की दशा उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि दण्डधर के अभाव में बलवान् दुर्बल को खा डालता है।" कौटिल्य ने यह भी कहा है कि मात्स्यन्याय से अभिभूत होकर लोगों ने मनु वैवस्वत को अपना राजा बनाया।[3] यही बात रामायण (२, अध्याय ६७), शान्तिपर्व १५।३० एवं ६७।१६),

३. (दण्डः) अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति। बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे। कौ० १।४; मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे। कौ० १।१३; मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति

कामन्दक (२।४०), मत्स्यपुराण (२२५।९), मानसोल्लास (२।१६, श्लोक १२९५) में भी अपने ढंग से कही गयी है। बहुत-से ग्रन्थों में दण्ड की प्रशस्तियाँ गायी गयी हैं। राजा को दण्डधर की उपाधि दी गयी है (शान्ति० ६७।१६, कामन्दक १।१ एवं गौतम ११।२८)। मत्स्यपुराण (२२५।१७), अग्निपुराण (२२६।१६) तथा शान्तिपर्व (१५।८) में आया है कि दण्ड नाम इसलिए पड़ा है कि यह अनियन्त्रित लोगों को दबाता है और अभद्र तथा अनीतिमान् को दण्डित करता है।[4] दण्ड को मनु (७।२५ =विष्णुधर्मसूत्र ३।९५ =मत्स्य० २२५।८), याज्ञ० (१।३५४), शान्ति० (१२१।१५) ने देवत्व की स्थिति प्रदान की है।[5] दण्ड सब पर राज्य करता है, सबकी रक्षा करता है; यह न्याय के रक्षकों के सो जाने पर भी जगा रहता है; बुद्धिमान् लोग इसे धर्म कहते हैं (मनु ७।१८=शान्ति० १५।२=मत्स्य० २२५।१४–१५)। स्पष्ट है; राज्य की इच्छा एवं दण्ड-शक्ति व्यक्ति एवं राष्ट्र को धर्म की सीमाओं के भीतर रखती है, आज्ञा के उल्लंघन पर दण्ड देती है तथा सबका कल्याण करती है। देवगण, दानवगण, गन्धर्वगण, राक्षसगण तथा नागगण भी मानवों के आनन्द के योग्य हो जाते हैं, क्योंकि वे दण्ड से दबा दिये जाते हैं (मनु ७।२३)। भगवद्गीता (१०।३८) में आया है--"मैं उन लोगों के हाथों का दण्ड हूँ जो दूसरे को नियन्त्रित करते हैं, मैं विजेताओं की नीति (राजनीति) हूँ।" दण्ड के प्रभावों एवं प्रशस्तियों के विषय में विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए मनु (७।१४–३१), मत्स्य० (२२५।४–१७), कामन्दक (२।३८–४४)। किन्तु दण्ड का प्रयोग सीमा के भीतर ही होना चाहिए। न तो इसे अति कठिन होना चाहिए और न अति कोमल, प्रत्युत इसे अपराध के अनुसार होना चाहिए (कौटिल्य १।४, कामन्दक २।३७, मनु ७।१६, शान्ति० १५।११, ५६।२१, १०३।३४)। शान्तिपर्व (५७।४१) में आया है कि सर्वप्रथम राजा की प्राप्ति करनी चाहिए, तब पत्नी और इसके उपरान्त धन का सञ्चय करना चाहिए, क्योंकि राजा के अभाव में न तो पत्नी रह सकेगी और न धन प्राप्त हो सकेगा। स्पष्ट है कि कुटुम्ब, धन की संस्थापनाएँ एवं दुर्बल-रक्षा राजा के अस्तित्व के साथ सन्निहित हैं। कात्यायन (राजनीतिप्रकाश, पृ० ३०) का कहना है कि राजा असहायों का रक्षक, गृहहीनों का आश्रय, पुत्रहीनों का पुत्र एवं पिताहीनों का पिता है।

राजकीय व्यापार की महत्ता को द्योतित करने के लिए कुछ ग्रन्थों ने ऐसा लिखा है कि राजा में देवों के अंश होते हैं। उदाहरणार्थ, मनु का कहना है--"विधाता ने इन्द्र, मरुत, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र एवं कुबेर के प्रमुख अंशों से युक्त राजा की रचना की, अतः वह (राजा) राजमहिमा के कारण सभी जीवों में आगे बढ़ जाता है (मनु ७।४–५, तुलना कीजिए मनु० ९।९६); बालक राजा का भी, यह सोचकर कि वह भी मानव ही है, अपमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह नररूप से देवता ही है (मनु ७।८, शान्ति० ६८।४०)। यही बात दूसरे ढंग से गौतम (११।३२) एवं आपस्तम्ब० (१।११।३१।५) ने भी कही है। और भी देखिए मनु (७।३–४), शुक्रनीतिसार (१।७१–७२), मत्स्य-

परस्परम्। अयोध्या० ६७।३१; दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विनश्येयुरिमाः प्रजाः। जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन्दुर्बलं बलवत्तराः॥ शान्ति० १५।३०; राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः। जले...बलवत्तराः॥ शान्ति० ६७-१६; दण्डाभावे परिध्वंसी मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते। कामन्दक २।४०।

४. यस्माददान्तान्दमयत्यशिष्टान्दण्डयत्यपि। दमनाद्दण्डनाच्चैव तस्माद्दण्डं विदुर्बुधाः॥ शान्ति० १५।८, अग्नि० २२६।१६, मत्स्य० २२५।१७।

५. यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा। प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति॥ मनु (७।२५ =मत्स्य० २२५।८=विष्णु० ३।९५), शान्ति० (१२१।१५-१६) ने यह लिखा है--नीलोत्पलदलश्यामश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः।...एतद्रूपं बिभर्त्युग्रं दण्डो नित्यं दुरासदः॥

पुराण (२२६।१) आदि। मनु (९।३०३–३११) ने उपर्युक्त देवों के साथ पृथिवी को जोड़कर उनकी विशिष्टताओं का वर्णन करके राजा के राज-गौरव का उल्लेख किया है। यही बात मत्स्य० (२२६।९–१२) ने भी कही है। अग्नि-पुराण (२२६।१७–२०) में आया है कि राजा सूर्य, चन्द्र, वायु, यम, वरुण, अग्नि, कुबेर, पृथिवी एवं विष्णु के कार्य करता है, अतः उसमें इनके अंश पाये जाते हैं (और देखिए शुक्रनीतिसार १।७३–७९)। इन बातों से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि राजा को दैवी अधिकार प्राप्त हैं अथवा उसकी उत्पत्ति दैवी है, प्रत्युत ऐसा समझना चाहिए कि राजा में इन देवों के कार्य पाये जाते हैं। नारदस्मृति (प्रकीर्णक-अध्याय, श्लोक २०–३१) में बहुत-से मनोरम वचन मिलते हैं।[6] इसके अनुसार राजा में अग्नि, इन्द्र, सोम, यम एवं कुबेर के कार्य पाये जाते हैं। यही बात मार्कण्डेयपुराण (२७।२१–२६) में भी कही गयी है (और देखिए शान्ति० ६७।४)। शान्तिपर्व (६९) में आया है कि अन्य देवता अलक्ष्य हैं किन्तु राजा को हम देख सकते हैं। वायुपुराण (५७।७२) का कहना है कि अतीत एवं भविष्य के मन्वन्तरों में चक्रवर्ती राजा उत्पन्न हुए एवं होंगे और उनमें विष्णु का अंश होगा। मत्स्यपुराण (२२६।१–१२) एवं भागवत-पुराण (४।१४।२६–२७) में भी राजा के देवांशों की चर्चा की गयी है। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर कालान्तर के क्षत्रिय राजकुलों ने अपने को सूर्य तथा चन्द्र के वंशों से सम्बन्धित कहा है। बाद के क्षत्रियों ने अपने को इसी प्रकार अग्निकुल से उत्पन्न माना है। इसी कारण संस्कृत नाटकों में राजा को 'देव' कहकर सम्बोधित किया गया है। अशोक ने अपने को 'देवानां प्रिय' कहा है और कनिष्क तथा हुविष्क कुषाण राजाओं ने अपने को 'देवपुत्र' घोषित किया है। कौटिल्य (१।१३) ने गुप्तचरों द्वारा पौरों एवं जानपदों में राजा को इन्द्र एवं यम के समान दण्ड एवं कृपा देने वाला घोषित कराने को कहा है। और देखिए रामायण (३।१।१८–१९ एवं ७।७६।३७–४५), मार्कण्डेयपुराण (२४।२३–२८), विष्णुधर्मोत्तर (२।२।९) आदि। प्रत्येक राजा विष्णु है। पञ्चतन्त्र (१।१२०, पृ० १९) में आया है— "मनु ने ऐसा घोषित किया है कि राजा देवों के अंश से बना है।"[7] राजकीय व्यापारों की प्रशस्ति के विषय में जानकारी के लिए विशेष रूप से देखिए मनु (७।६–१७), शान्ति (६३।२४–३० एवं ६८), कामन्दक (१।९–११) एवं राजनीतिप्रकाश (पृ० १७–३१)।

उपर्युक्त विवेचनों के आधार पर ऐसा नहीं समझना चाहिए कि राजा को दैवी अधिकार प्राप्त थे, या प्रत्येक राजा को, चाहे वह बुरा ही क्यों न हो, देवत्व प्राप्त था और वह मनमाना कर सकता था। राजनीतिप्रकाश (पृ० ८३) ने राजा के हट जाने पर राजकुमार के अभिषेक के समय के लिए कहा है कि "स्वयं प्रजा विष्णु है।" दूसरी बात यह है कि ब्राह्मणों के विषय में राजा के अधिकार सीमित थे।[8] गौतमधर्मसूत्र (११।१।७ एवं ८) में आया है— "ब्राह्मणों के अतिरिक्त सब पर राजा शासन करता है, ब्राह्मणों को छोड़कर सभी अन्य लोगों को नीचे आसन पर बैठ-

६. राजेति सञ्चरत्येष भूमौ साक्षात्सहस्रदृक्। प्रजानां विगुणोऽप्येवं पूज्य एव प्रजापतिः॥ पञ्च रूपाणि राजानो धारयन्त्यमितौजसः। अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य यमस्य धनदस्य च॥ अशुचिर्वचनाद्यस्य शुचिर्भवति मानवः। शुचिश्चैवाशुचिः सम्यक् कथं राजा न दैवतम्॥ नारदस्मृति, प्रकीर्णक २०, २२, २६, ५२; इन्द्रमेव प्रवृणुते यद् राजानमिति श्रुतिः। यथैवेन्द्रस्तथा राजा संपूज्यो भूतिमिच्छता॥ शान्ति० ६७।४; कात्यायन का कहना है—सुराध्यक्षश्च्युतः स्वर्गान्नृपरूपेण तिष्ठति। कर्तव्यं तेन तन्नित्यं येन तत्त्वं समाप्नुयात्॥ (राजधर्मकाण्ड द्वारा उद्धृत, ३, पृ० १६)। यहाँ तत्त्व का अर्थ है सुरेशत्व।

७. सर्वदेवमयो राजा मनुना संप्रकीर्तितः। तस्मात्तमेव सेवेत न व्यलीकेन कर्हिचित्॥ पञ्चतन्त्र (१)। कुछ संस्करणों में "तस्मात्तं देववत्पश्येत्" आया है।

कर राजा का सम्मान करना चाहिए, क्योंकि राजा का आसन सबसे ऊँचा होता है। ब्राह्मणों को भी चाहिए कि वे राजा का सम्मान करें।"[8] ऐतरेयब्राह्मण (३७।५) के काल से ही ब्राह्मणों एवं राजा की एकरूपता की तथा राजा द्वारा ब्राह्मण की सम्मति का आदर करने की परम्परा चली आती रही है (ऐतरेयब्राह्मण ४०।१, गौतम० ८।१, ११।२७)। शुक्रनीतिसार (१।७०) में आया है कि वह राजा जो प्रजा को कष्ट देता है या धर्म के नाश का कारण बनता है, अवश्य ही राक्षसों का अंश होता है।[9] मनु (७।१११-११२) ने कहा है कि जो राजा प्रजा को पीड़ा देता है वह अपना जीवन, कुटुम्ब एवं राज्य खो देता है। प्राचीन साहित्य में ऐसे राजाओं की गाथाएँ पायी जाती हैं जो अपने अत्याचार के फलस्वरूप मार डाले गये थे। राजा वेन को ब्राह्मणों ने मार डाला क्योंकि वह देवद्रोही था, अपने लिए यज्ञ कराना चाहता था और अधर्मपालक था (शान्ति० ५९।९३-९५, भागवतपुराण ४।१४)। यही बात (अर्थात् प्रजापीडक, अत्याचारी एवं भ्रष्ट राजाओं के मार डालने वाली बात) अनुशासनपर्व में भी पायी जाती है।[10] मनु (७।२७-२८) का कहना है कि यदि दण्ड के सिद्धान्त भली भाँति कार्यान्वित हों तो तीनों पुरुषार्थों की उन्नति होती है, किन्तु यदि व्यभिचारी, दुष्ट एवं अन्यायी राजा दण्ड धारण करे तो वह दण्ड उसी पर घूम जाता है और उसके सम्बन्धियों के साथ उसका नाश कर देता है। कामन्दक (२।३८) ने लिखा है कि मूर्खतापूर्वक दण्ड धारण करने से मुनि लोगों का भी नाश हो जाता है। शान्तिपर्व (९२।१९) में घोषित हुआ है कि झूठे एवं दुष्ट मन्त्रियों वाले तथा अधार्मिक राजा को मार डालना चाहिए। तैत्तिरीयसंहिता (२।३।१), शतपथब्राह्मण (१२।९।३।१ एवं ३) ने भी ऐसा ही संकेत दिया है और लिखा है कि दुष्ट राजा निकाल बाहर किये जाते रहे हैं, यथा—दुष्टरीतु पौंसायन, जिसके कुल का राज्य दस पीढ़ियों से चला आ रहा था, राज्य से निकाल दिया गया राज्य से हीन हो जाने के बाद ही सौत्रामणि इष्टि राज्य की पुनःप्राप्ति के लिए की जाती रही है। शान्ति० (९२।६ एवं ९), मनु (७।२७ एवं ३४) तथा याज्ञ० (१।३५६) ने राजगद्दी छीन लेने की बात कही है। शुक्रनीति० (२।२७४-२७५) ने भी दुष्ट राजाओं को गद्दी से उतार कर गुणवान् व्यक्ति के राज्याभिषेक की चर्चा की है। नारद (प्रकीर्णक, २५) ने लिखा है कि पूर्व जन्मों में सत्कर्मों के कारण ही राजपद मिलता है। यह कर्मवाद का सिद्धान्त है और इसका प्रतिपादन शुक्रनीति० (१।२०) ने भी किया है (और देखिए मनु ७।१११-११२, शान्ति० ७८।३६)। यदि ब्राह्मण लोग अत्याचारी राजा को हटाकर मार डालें तो इस कर्म से पाप नहीं लगता (शुक्रनीति० ४।७।३३२-३३३)। यशस्तिलक (३, पृ० ४३१) ने प्रजा द्वारा मारे गये राजाओं के उदाहरण दिये हैं, यथा—कलिंग का राजा, जिसने एक नाई को अपना प्रधान सेनापति बनाया था।

८. राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्। तमुपर्यासीनमधस्तादुपासीरन्नन्ये ब्राह्मणेभ्यः। तेप्येनं मन्येरन्। गौ० ११।१।७-८। गौ० (११।७) को मनु (७।६) की व्याख्या में मेधातिथि ने उद्धृत किया है और यही कार्य राजनीतिप्रकाश (पृ० १७) ने भी किया है।

९. यो हि धर्मपरो राजा देवांशोन्यश्च रक्षसाम्। अंशभूतो धर्मलोपी प्रजापीडाकरो भवेत्।। शुक्रनीति० १।७०; नीचहीनो दीर्घदर्शी वृद्धसेवी सुनीतियुक्। गुणिजुष्टस्तु यो राजा स ज्ञेयो देवतांशकः।। विपरीतस्तु रक्षोंशः स वै नरकभाजनम्। नृपांशसदृशा नित्यं तत्सहायगणाः किल।। शुक्रनीति० १।८६-८७।

१०. अरक्षितारं हन्तारं विलोप्तारमनायकम्। तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः सन्नह्य निर्घृणम्।। अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः। स संहत्या निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः।। अनुशासन० (६१।३२-३३)। असत्पापिष्ठसचिवो वध्यो लोकस्य धर्महा। शान्ति० ९२।१९।

राजनीति-शास्त्र-सम्बन्धी सभी ग्रन्थों में राजाओं के अधिकारों एवं विशेषाधिकारों की अपेक्षा उनके कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों पर विशेष बल दिया गया है। कुछ ग्रन्थों में राजा प्रजा का नौकर कहा गया है, जिसे रक्षा करने के कारण वेतन रूप में कर दिया जाता है (देखिए, बौधायनधर्मसूत्र १।१०।१; शुक्रनीति १।१८८; नारद-प्रकीर्णक ४८; शान्ति० ७१।१०)।[११] एक ओर तो ऐसा कहा गया है कि राजा को देवत्व प्राप्त है और दूसरी ओर बुरा कर्म करने पर उसे सिंहासन-च्युत करने या मार डालने की व्यवस्था दी गयी है। ऐसी विपरीत धारणाओं के मूल में दो दृष्टिकोण हैं। ग्रन्थकारों ने वर्णों एवं आश्रमों की स्थिति को अक्षुण्ण रखने के लिए तथा आने वाले कालों में सामाजिक कुव्यवस्थाएँ न उत्पन्न हों, इसलिए राजा को देवत्व प्रदान किया, जिससे कि लोग उसकी आज्ञाओं के अनुसार चलते रहें। यह बात सामान्य लोगों के लिए कही गयी है। किन्तु बुरे राजाओं एवं मन्त्रियों के अत्याचार का भी भय था ही। अतः राजा तथा उसके मन्त्रियों को नाश एवं मृत्यु की धमकी भी दे दी गयी थी।

कौटिलीय (५।३) में ये शब्द आये हैं—"समानविद्येभ्यस्त्रिगुणवेतनो राजा राजसूयादिषु क्रतुषु", अर्थात् राजसूय तथा अन्य पवित्र यज्ञों में राजा को तत्समान विद्वानों की अपेक्षा तिगुना वेतन मिलता है। डा० जायसवाल (हिन्दू पॉलिटी, भाग २, पृ० १३६) ने इस कथन के आधार पर राजा को भी मन्त्रियों एवं प्रधान सेनापति के समान वेतनभोगी की संज्ञा दी है। किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है, क्योंकि कौटिल्य ने यहाँ पर राजा के विषय में नहीं, प्रत्युत उसके प्रतिनिधि या सहायक की ओर संकेत किया है, जब कि राजा अश्वमेध-जैसे लम्बी अवधि वाले यज्ञों में संलग्न रहा करता था। आपस्तम्बश्रौतसूत्र (२२।३।१-२), बौधायनश्रौतसूत्र (१५।४) एवं सत्याषाढ श्रौतसूत्र (१४।१।२४-२५) में स्पष्ट आया है कि अश्वमेध यज्ञ में, जब कि वह दो वर्षों तक चलता रहता था, अध्वर्यु नामक पुरोहित उसके स्थान पर कार्य करता था। अतः ऊपर जो बात राजा के वेतन के विषय में कही गयी है वह अध्वर्यु के लिए सिद्ध होती है, जो कि यज्ञादि में राजा का प्रतिनिधि होता था। कौटिल्य (१०।३) ने लिखा है कि सदाचारी राजा को किसी युद्ध के आरम्भ में अपने सैनिकों को इस प्रकार प्रेरित करना चाहिए—"मैं भी तुम लोगों की भाँति वेतनभोगी हूँ, इस राज्य का उपभोग मुझे तुम लोगों के साथ ही करना है, तुम्हें मेरे द्वारा बताये गये शत्रु को हराना है।"—यहाँ पर प्रकारान्तर से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि राजा वेतनभोगी है या राज्य का नौकर है।

निरुक्त (२।३) में 'राजन्' शब्द 'राज्' धातु से निष्पन्न बताया गया है जिसका अर्थ है 'चमकना', किन्तु महाभारत (शान्ति० ५९।१२५) ने राजा को 'रञ्ज्' धातु से निष्पन्न बताया है जिसका अर्थ है 'प्रसन्न करना', अर्थात् वही राजा है जो प्रजा को प्रसन्न एवं सुखी या सन्तुष्ट रखता है। कालिदास (रघुवंश ४।१२) ऐसे कवियों ने महाभारत का अर्थ स्वीकृत किया है और क्षत्रिय शब्द को 'क्षत' तथा 'त्रै' धातु से निष्पन्न बताया है, जिसका अर्थ है 'वह जो नाश या व्रण से रक्षा करता है।' (शान्ति० ५९।१२६, रघुवंश २।५३)।

हमारे प्रामाणिक ग्रन्थों में राजत्व के उद्गम के विषय में चार सिद्धान्त घोषित किये गये हैं। ऋग्वेद (१०। १७३=अथर्ववेद ६।८७ एवं ८८।१-२) में चुनाव की ओर संकेत मिलता है, ऐसा डा० जायसवाल का कहना है। किन्तु सम्भवतः यह बात ठीक नहीं है। "सभी लोग तुम्हें (राजा की भाँति) चाहें" (ऋग्वेद १०।१७३।१) उसके लिए आया

११. अन्यप्रकारादुचिताद् भूमेः षड्भागसंज्ञितात्। बलिः स तस्य विहितः प्रजापालनवेतनम्।। नारद (प्रकीर्णक, ४८); बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम्। शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम्।। शान्ति० ७१।१०; स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृपः कृतः। ब्रह्मणा स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा।। शुक्रनीति (१।१८८)।

है जो पहले से ही राजा है। अथर्ववेद (३।४।२) में राजा के निर्वाचन की ओर संकेत मिलता है—"लोग (विशः) राज्य करने के लिए तुम्हें चुनते हैं, ये दिशाएँ, ये पञ्चदेवियाँ तुम्हें चुनती हैं।" भद्र लोग, राजा-निर्माता या राजा के कर्ता, सूत, ग्राम-मुखिया, दक्ष रथकार, कुशल धातु-निर्माता राजा को चुनते थे, ऐसी ध्वनि अथर्ववेद (३।५।६ एवं ७) में मिलती है।[१२] अन्य वैदिक ग्रन्थों एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।७।३) में राजा के निर्माता (राज-कर्ता) को 'रत्निन्' कहा गया है, "रत्नी लोग राष्ट्र (राज्य) राजा को देते हैं" (रत्निनामेतानि हवींषि भवन्ति। एते वै राष्ट्रस्य प्रदातारः—तै० ब्रा० १।७।३)। इससे स्पष्ट होता है कि ऐसी धारणा थी कि राजा भद्र लोगों, उच्च कर्मचारियों तथा सामान्य लोगों से राज्य पाता था। अयोध्याकाण्ड (१ एवं २) में राजा दशरथ ने राम को युवराज पद देने के लिए सामन्तों, नागरिकों, ग्रामिकों आदि की सभा बुलायी थी और उन सभी लोगों ने प्रसन्नतापूर्वक अपना अभिमत राम के पक्ष में दिया। इससे स्पष्ट है कि कालान्तर में राजत्व-पद आनुवंशिक हो गया था, किन्तु सामान्य लोगों का अभिमत लेने की परम्परा अभी जाग्रत थी। किन्तु उपर्युक्त कथनों से यह नहीं प्रकट होता कि राजा लोगों द्वारा निर्वाचित सदस्यों की संसद् द्वारा निर्वाचित होता था। केवल इतना ही व्यक्त होता है कि लोग यों ही स्वेच्छया एकत्र हो सभा में अपनी सम्मति दे देते थे। रामायण (२।६७) में आया है कि दशरथ के दिवंगत हो जाने पर मार्कण्डेय एवं वामदेव जैसे मुनियों ने अमात्यों के साथ कुलपुरोहित वसिष्ठ के समक्ष यह उद्घोषित किया कि राम एवं लक्ष्मण वन को चले गये, भरत एवं शत्रुघ्न केकय देश में हैं, अतः इक्ष्वाकु कुल के किसी वंशज को राजा चुनना चाहिए। इन मुनियों एवं अमात्यों को 'राज-कर्तारः' कहा गया है (७९।१)। आदिपर्व (४४।६) में आया है कि परीक्षित की मृत्यु के उपरान्त राजधानी के सभी नागरिकों ने एक स्वर से जनमेजय नामक बालक को राजा चुना और जनमेजय ने अपने मन्त्रियों एवं पुरोहित की सहायता से राज्य किया। राजा के निर्वाचन के विषय में ऐतिहासिक उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। क्षत्रप राजा रुद्रदामन् सुराष्ट्र के लोगों द्वारा निर्वाचित हुआ था। कौटिल्य (११।१) के शब्दों में सुराष्ट्र में एक समय गणतन्त्र था। रुद्रदामन् के अभिलेख में आया है कि उसने राज्य-प्राप्ति पर शपथ भी ली थी (देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, भाग ८, पृ० ३६)। पाल-वंश के संस्थापक गोपाल का भी निर्वाचन हुआ था। लगता है, मुख्य मंत्रियों एवं ब्राह्मणों द्वारा राजा का नाम घोषित होता था और वे ही लोग "राज-कर्तारः" कहे जाते थे। प्रसिद्ध चीनी यात्री युवान च्वाँग (ह्वेन सांग) ने लिखा है कि राज्यवर्धन की मृत्यु के उपरान्त मुख्य मन्त्री भण्डी ने मन्त्रियों की सभा की और मन्त्रियों एवं न्यायाधिकारियों ने हर्ष को राजा बनाया। इसी प्रकार जब परमेश्वर वर्मा द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त पल्लव-राज्य में अराजकता फैल गयी तो प्रजा ने राजा चुना। राजतरंगिणी (५।४६१-४६३) में आया है कि यशस्कर पहले एक दरिद्र व्यक्ति था, ब्राह्मणों ने उसे राजा बनाया।

कहीं-कहीं रूसो द्वारा उद्घोषित 'सामाजिक समझौते' वाले सिद्धान्त की प्रतिध्वनि भी मिल जाती है। वर्तमान काल में सामाजिक समझौते वाला सिद्धान्त दो स्वरूपों में उपस्थित किया जाता है। पहला वह है जिसके द्वारा शासन एवं जनता में स्पष्ट अभिमत की कल्पना की गयी है और दूसरा वह है जिसके द्वारा यह व्यक्त होता है कि एक ऐसे राजनीतिक समाज का निर्माण हुआ जो व्यक्तियों का पारस्परिक समझौता था और जिसमें राजा का कोई हाथ नहीं था। सामाजिक समझौते वाला सिद्धान्त यह व्यक्त करता है कि शासन या सरकार जनता की स्वीकृति पर निर्भर रहती है। कौटिल्य (१।१३) ने उस किंवदन्ती की ओर संकेत किया है जिससे प्रकट होता है कि वैवस्वत मनु लोगों द्वारा राजा बनाया गया और रक्षा करने के कारण लोगों ने उसको आय का छठा भाग कर देना स्वीकार किया।

१२. त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः। अथर्व० ३।४।२; ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये। उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्॥ अथर्व० ३।५।७।

किन्तु कौटिल्य ने यह नहीं लिखा है कि मनु ने जनता के समक्ष कोई प्रण किया कि नहीं। शान्तिपर्व (अध्याय ५९) में आया है कि किस प्रकार प्रथम राजा वैन्य (पृथु) ने देवों एवं मुनियों के समक्ष शपथ ली कि वह विश्व की रक्षा करेगा, राजनीति-शास्त्र द्वारा निर्धारित कर्तव्यों का पालन करेगा और अपने मन की कभी न करेगा।[१३]

राजा के देवत्व अधिकार वाले सिद्धान्त की ध्वनि ऋग्वेद में भी है। ऋग्वेद (४।४२) में पुरुकुत्स के पुत्र त्रसद्दस्यु का वर्णन है। इस मन्त्र के कुछ विचार विलक्षण हैं। राजा त्रसद्दस्यु कहता है—"देव लोग वरुण की शक्ति पर निर्भर हैं, किन्तु मैं लोगों का राजा हूँ; मैं इन्द्र एवं वरुण हूँ, मैं विशाल एवं गम्भीर स्वर्ग एवं पृथिवी हूँ; मैं अदिति का पुत्र हूँ।" यहाँ पर राजा अपने को वैदिक देवों में सर्वश्रेष्ठ देवों के समान कहता है। अथर्ववेद (६।८७।१-२) में आया है—"हे राजा, तुम्हें सभी लोग चाहें, तुम्हारे हाथों से राज्य न छीना जा सके, तुम इन्द्र के समान इस विश्व में सुस्थिर रहो और तुम राज्य धारण किये रहो।" शतपथब्राह्मण (५।१।५।१४) में, वाजपेय यज्ञ में बाण चलाते समय ऐसा कहा गया है—"राजन्य प्रजापति का है, वह अकेला है, किन्तु बहुतों पर राज्य करता है।" यहाँ पर राजा की स्थिति का वर्णन प्रजापति के प्रतिनिधि रूप में है। विश्वरूप (याज्ञवल्क्य १।३५०) ने एक लम्बे वैदिक अंश (आगम) को उद्धृत कर ऐसा लिखा है—"देवों ने प्रजापति से कहा; हम लोग सोम, सूर्य, इन्द्र, विष्णु, वैश्रवण (कुबेर) एवं यम से क्रमानुसार महत्ता, दीप्ति, शक्ति, विजय, औदार्य एवं नियन्त्रण लेकर मानव रूप में राजा के लिए व्यवस्था करेंगे।" जब इस प्रकार राजा बन गया तो उसने देवों से अपने मित्र के रूप में धर्म की याचना की जिससे कि वह लोगों की रक्षा कर सके, और तब देवों ने धर्म (अर्थात् दण्ड) को मित्र के रूप में उसे दिया।

राजत्व के उद्गम के सिद्धान्तों की जो चर्चा महाभारत में हुई है, हम उसकी समीक्षा करेंगे। शान्तिपर्व ने इस विषय में दो स्थलों पर चर्चा की है (अध्याय ५९ एवं ६७)। ५९वें अध्याय में युधिष्ठिर ने महान् योद्धा एवं राजनीतिज्ञ भीष्म से पूछा कि 'राजा' की उपाधि का उद्गम क्या है और किस प्रकार अन्य मनुष्यों की भाँति ही दैहिक एवं मानस शक्तियों वाला एक मनुष्य सब पर शासन करता है। ये दो प्रश्न नहीं हैं प्रत्युत एक ही प्रश्न के दो पहलू हैं। भीष्म ने उत्तर के रूप में कहा कि आरम्भ में कृतयुग (पूर्णता की स्थिति) था, न राजा था, न राज्य; और न दण्ड था और न दण्ड देने वाला। क्रमशः लोगों में मोह उत्पन्न हुआ और तब लोभ, कामुक प्रेरणाओं एवं उद्दाम प्रवृत्तियों का उदय हुआ और वेदों एवं धर्म का विनाश हो गया। देवों को आहुतियाँ मिलनी बन्द हो गयीं और वे ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने एक महान् ग्रन्थ का प्रणयन किया, जिसमें विश्व के कल्याण के हेतु जीवन के अस्तित्व के चार लक्ष्य प्रतिपादित किये गये और वह ज्ञान का उत्तमांश घोषित हुआ। इसके उपरान्त देव-गण विष्णु के पास गये और उनसे मनुष्यों में सर्वोत्तम व्यक्ति को राजा बनाने की प्रार्थना की। विष्णु ने अपने मन से विरजा नामक पुत्र उत्पन्न किया जिसने राजा बनना स्वीकार नहीं किया। विरजा की पाँचवीं पीढ़ी में वेन उत्पन्न हुआ जिसने धर्म का नाश कर दिया और ब्राह्मणों ने उसे मार डाला। ब्राह्मणों ने फिर उसकी बायीं भुजा को मथकर सुन्दर, सुसज्जित तथा वेद-वेदांगों एवं दण्डनीति में पारंगत पृथु को उत्पन्न किया। देवों एवं ऋषियों ने उसे सुनिश्चित धर्म के पालन के लिए उद्वेलित किया, अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने तथा शपथ लेने को कहा। उसे ही देवों एवं ऋषियों ने जन-रक्षण के लिए राज-पद दिया। स्वयं विष्णु ने उससे कहा—"हे राजा, तुम्हारी आज्ञा के विरोध में कोई नहीं जायगा।" ऐसा कहकर विष्णु पृथु में समा गये (श्लोक १२८) और इसी लिए लोग राजाओं को देवतुल्य मानकर उनके समक्ष माथा नवाते हैं। इस वृत्तान्त

१३. प्रतिज्ञां चाभिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा। पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्मेत्येवाह चासकृत्॥ यश्चात्र धर्मो नीत्युक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः। तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन॥ शान्ति० ५९।१०६-१०८।

से पता चलता है कि पृथु को जो शपथ दिलायी गयी वह मानवों के समक्ष न होकर देवों के समक्ष हुई और उसने लोगों के समक्ष कोई प्रण नहीं किया। सम्भवतः देवों के समक्ष ली गयी शपथ मनुष्यों के लिए भी ज्यों-की-त्यों मान ली गयी। किन्तु जो वृत्तान्त ऊपर आया है, उससे पता चलता है कि राजा का उद्गम दैवी था।

६७वाँ अध्याय उपर्युक्त विषय में संक्षिप्त वृत्तान्त देता है। लगता है, यह विवेचन किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ या लेखक से सम्बन्धित था। इसमें आया है कि राज्य के लिए सबसे बड़ी बात है राजा प्राप्त करना, क्योंकि राजा-विहीन देश में धर्म, जीवन एवं सम्पत्ति का नाश हो जाता है, इसी लिए देवों ने जन-रक्षार्थ राजा की नियुक्ति की। इस अध्याय में आया है कि लोग एकत्र हुए और उन्होंने इस आशय के नियम बनाये कि जो कोई निन्दा, मारपीट, बलात्कार तथा नियम भंग करेगा वह त्याज्य होगा। वे सभी ब्रह्मा के पास गये और उनसे ऐसे शासक की नियुक्ति के लिए प्रार्थना की जो उनकी रक्षा कर सके और उनसे आदर-सम्मान प्राप्त कर सके। ब्रह्मा ने मनु की नियुक्ति की, किन्तु उन्होंने प्रथमतः यह कहकर अस्वीकार किया कि शासन एक कठिन व्यापार है, विशेषतः मनुष्यों के बीच जो कि सदा कपटी होते हैं, मैं मनुष्यों के पापमय कर्मों से बड़ा भय खाता हूँ। मनुष्यों ने मनु से न डरने को कहा और कहा कि पाप केवल पापकर्मियों को ही प्रभावित करेगा (मनु को नहीं), उन्होंने अन्न का दसवाँ, पशु का पाँचवाँ, धर्म का चौथा भाग आदि देने का वचन दिया। तब मनु मान गये। उन्होंने विश्व का परिभ्रमण किया, दुष्कर्मियों को भयाक्रान्त किया और उन्हें धर्म के अनुसार चलने को बाध्य किया। कौटिल्य ने मनु एवं मानव से सम्बन्धित यह बात अपने अर्थशास्त्र में भी परिकल्पित की है (१।१३)। मनु ने अपनी ओर से कोई प्रण नहीं किया, यद्यपि मनुष्यों ने कर देने तथा अपने पापों को स्वयं भोगने का प्रतिवचन दिया था। इसमें सन्देह नहीं है कि दोनों अध्यायों के वृतान्तों में कुछ अन्तर अवश्य है। ६७वें अध्याय में आरम्भिक कृतयुग, विशाल ग्रन्थ, शपथ आदि का उल्लेख नहीं है। इतना ही नहीं, एक अध्याय में प्रथम राजा वैन्य है तो दूसरे में मनु। दोनों धारणाएँ काल्पनिक एवं देवताख्यान-सम्बन्धी हैं, किन्तु दोनों में मुख्य तथ्य एक ही है। दोनों में राजा की प्राप्ति देवों से ही हुई है, विशेषतः उस समय जब कि जनों में राजा नहीं था और चारों ओर अनैतिकता का साम्राज्य था। ६७वें अध्याय में दैवी अधिकार एवं राजा और लोगों के बीच आरम्भिक समझौते का सम्मिश्रण पाया जाता है। अस्तु; राजत्व के उद्गम के विषय में दोनों अध्याय एक ही बात की ओर संकेत करते हैं, अर्थात् राजत्व का उद्गम दैवी था। शान्तिपर्व (६७।४) में आया है—"सम्पत्ति एवं समृद्धि के अभिकांक्षी को इन्द्र के सम्मान के समान ही राजा का सम्मान करना चाहिए।" ५९वें अध्याय (श्लोक १३९) में आया है कि दैवी गुणों के कारण ही लोग राजा के नियन्त्रण में रहते हैं। शान्तिपर्व के दोनों अध्यायों में राजा एवं मनुष्यों के बीच समझौते पर कोई स्पष्ट या सम्यक् सिद्धान्त नहीं है।

नारदस्मृति (प्रकीर्णक, २०, २२, २६, ५२) ने स्पष्ट रूप से दैवी अधिकार का प्रतिपादन किया है—"पृथिवी पर स्वयं इन्द्र राजा के रूप में विचरण करता है। उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन करके मनुष्य कहीं नहीं रह सकते। राजा सर्वशक्तिमान् है, वही रक्षक है, वह सब पर कृपालु है, अतः यह निश्चित नियम है कि राजा जो कुछ करता है वह ठीक या सम्यक् ही रहता है। जिस प्रकार दुर्बल पति को भी उसकी पत्नी की ओर से सम्मान मिलता है, उसी प्रकार गुणहीन शासक को भी प्रजा द्वारा सम्मान मिलना चाहिए।"

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दी डिवाइन राइटर आव किंग्स' (सन् १९३४, पृ० ५-६) में श्री जे० एन० फिग्गिस ने दैवी अधिकार के सिद्धान्त के लिए चार प्रमेय स्वीकृत किये हैं; (१) राजत्व दैवी है अर्थात् इसकी संस्थापना में दैवी हाथ है, (२) राजत्व पर आनुवंशिक अधिकार है, (३) राजा पूर्णरूपेण स्वतन्त्र है, वह केवल परमात्मा के प्रति उत्तरदायी है, (४) बिना किसी आग्रह के तथा पूर्ण आज्ञाकारिता के साथ राजाज्ञा माननी होगी, ऐसा ईश्वर द्वारा निर्धारित है, अर्थात् किसी भी दशा में राजा का विरोध करना पाप है....। यूरोप में यह सिद्धान्त १६वीं

एवं १७वीं शताब्दियों में भली भाँति प्रचलित था, क्योंकि उन दिनों वहाँ धर्मशास्त्र एवं राजनीति-शास्त्र एक-साथ मिलकर चल रहे थे।

अब हम यह देखेंगे कि उपर्युक्त सिद्धान्त एवं हिन्दू सिद्धान्त में किस रूप में समानता एवं विरोध है। प्रथम प्रमेय के विषय में यह कहना है कि मनुस्मृति, महाभारत आदि ग्रन्थों ने राजा को या तो साक्षात् ईश्वर माना है या ईश्वर का प्रतिनिधि, जो देवों के समान ही कर्म करता है। दूसरे प्रमेय के विषय में यह कहना है कि सभी संस्कृत-ग्रन्थों ने राजत्व-प्राप्ति के आनुवंशिक अधिकार की घोषणा की है। किन्तु कुछ अपवाद भी पाये जाते हैं, जिनके विषय में आगे लिखा जायगा। हमारे प्राचीन ग्रन्थों ने तीसरे एवं चौथे प्रमेयों को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया है। उनका कहना है कि राजा मनमानी नहीं कर सकता, उसको धर्म के अनुसार चलना होगा, नवीन नियमों के निर्माण में उसकी शक्ति सीमित है; इतना ही नहीं, यदि वह धर्म के नियमों के अनुसार नहीं चलेगा तो उसे गद्दी से उतार दिया जायगा, उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन किया जायगा या वह मार डाला जायगा (देखिए ऊपर शुक्रनीति एवं अनुशासन० के उद्धृत अंश)। मनु (७।१११-११२) एवं नारद (प्रकीर्णक, १२ एवं ३२) की एतत्सम्बन्धी घोषणाएँ भी विचारणीय हैं।

ऐसा कहना कि "दैवी अधिकार" वाला सिद्धान्त "सामाजिक समझौता" वाले सिद्धान्त के विरोध में उत्पन्न हुआ, सर्वथा भ्रामक है। प्रथम सिद्धान्त प्राचीन काल में स्वभावतः प्रचलित हो सकता था, किन्तु दूसरा सिद्धान्त राजनीतिक विचार के प्रगतिशील स्तर का द्योतक है। वास्तव में दोनों सिद्धान्त अनर्गल हैं, निरर्थकता एवं अनर्गलता में दोनों के पलड़े समान हैं। दैवी अधिकार वाले सिद्धान्त को एक अन्य अति प्राचीन सिद्धान्त दबा बैठता है। १८वीं शताब्दी में अमेरिका वालों ने अंग्रेजों के विरोध में स्वर ऊँचा उठाया कि "कर ग्रहण एवं प्रतिनिधित्व साथ-साथ चलते हैं।" प्राचीन हिन्दू राजनीतिज्ञों एवं धर्मशास्त्रकारों ने कहा—"कर ग्रहण एवं रक्षण साथ-साथ चलते हैं।" बौधायनधर्मसूत्र (१।१०।१) का कहना है—"जो राजा छठे भाग (कर-ग्रहण) के लिए रखा जाता है, उसे चाहिए कि वह प्रजा की रक्षा करे।" इसी प्रकार की बातें अन्य संदर्भों में कई लेखकों द्वारा कही गयी हैं (देखिए याज्ञ० १।३३४, १।३३७; शान्तिपर्व ५७।४४-४५; शुक्रनीति० १।१२१; वसिष्ठ १।४४-४६; गौतम० ११।११; विष्णुधर्मसूत्र ३।२८; उद्योगपर्व १३२।१२, शान्ति० ७२।२०, आश्रमवासि० ३।४०, अनुशासन० ६१।३४ एवं ३६; कामन्दक० २।१०)। कर न देने वाले ऋषियों-मुनियों की भी रक्षा राजा को करनी पड़ती थी, क्योंकि वह उनके पुण्यों का भागी होता था। और देखिए रामायण (३।६।१४), कालिदास (शकुन्तला २।१३), आदिपर्व (२१३।९), शान्तिपर्व (७१।२९)।

उपर्युक्त विवेचन से राजाज्ञा-पालन के विषय में निम्नलिखित तथ्य उपस्थित हो जाते हैं—(१) राजा में देवत्व है, (२) जीवन, स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति की रक्षा के लिए राजा या शासक की बड़ी महत्ता है, (३) दण्ड का भय (मनु ७।२२), (४) राजा एवं जनों में प्रारम्भिक समझौता, (५) शासक एवं शासित राज्य के अन्योन्याश्रित अंग हैं। अन्तिम बात के विषय में देखिए मनु (९।२९४) की व्याख्या में मेधातिथि के वचन।

किसे राजा होना चाहिए? इस विषय में कई मत हैं। "राजा" शब्द का एक अर्थ है "क्षत्रिय"। मनु (७।१) ने क्षत्रिय को ही राजा के योग्य ठहराया है। धर्मशास्त्र-साहित्य में "राजा" शब्द उसके लिए आया है जो किसी देश पर शासन करता है या उसकी रक्षा करता है। कुल्लूक के अनुसार "राजा" शब्द किसी भी जाति के व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हो सकता है। जो व्यक्ति प्रजा-रक्षण का कार्य करता है, वह राजा है। यही बात अवेष्टि नामक इष्टि के सम्पादन के विषय में भी कही गयी है। अवेष्टि राजसूय यज्ञ का एक प्रमुख अंग है। राजा राजसूय यज्ञ करता था ('राजा राजसूयेन यजेत' अर्थात् राजसूय राजा द्वारा सम्पादित होना चाहिए)। अवेष्टि के सम्पादन के सिलसिले

में ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों की भी चर्चा हुई है। इससे प्रकट होता है कि राजसूय करने वाला राजा किसी भी जाति का हो सकता है।

बहुत से ब्राह्मण-वंशों ने राज्य एवं साम्राज्य स्थापित किये थे। शुंग-साम्राज्य का संस्थापक पुष्यमित्र ब्राह्मण-जाति का था (हरिवंश ३।२।३५)। शुंगों के उपरान्त कण्व ब्राह्मणों ने तथा उनके उपरान्त वाकाटक, कदम्ब आदि ब्राह्मण-राजाओं ने राज्य किये। हमने इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में ब्राह्मणों की चर्चा करते हुए देख लिया है कि आपत्काल में वे लोग अस्त्र-शस्त्र ग्रहण कर सकते थे। मनु (१२।१००) ने लिखा है कि वेदज्ञ ब्राह्मण राजा, सेनापति या दण्डाधिपति हो सकता है। जैमिनि (२।३।३) की व्याख्या में कुमारिल ने लिखा है कि सभी जातियों के लोग शासक होते देखे गये हैं। पाल-वंश का संस्थापक गोपाल शूद्र था। मनु (४।६१) ने लिखा है कि शूद्र द्वारा शासित देश में ब्राह्मणों को नहीं रहना चाहिए। शान्तिपर्व में आया है कि जो भी कोई दस्युओं अथवा डाकुओं से जनता की रक्षा करता है और स्मृति-नियमों के अनुसार दण्ड-वहन करता है, उसे राजा समझना चाहिए। हरिवंश (३।३।६) तथा कुछ पुराणों में आया है कि कलियुग में अधिकतर शूद्र राजा होंगे और वे अश्वमेध यज्ञ करेंगे (देखिए मत्स्य० १४४।४० एवं ४३ एवं लिंग० ४०।७ एवं ४२)। युवान च्वाँग ने अपने यात्रावृत्तान्त में उल्लेख किया है कि सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में सिन्ध पर शूद्र राजा का राज्य था।

यह एक सामान्य नियम-सा था कि केवल पुरुषवर्ग ही राजा हो सकता था। बहुत थोड़े ही अपवाद पाये जाते हैं। शान्ति० (३३।४३ एवं ४५) में आया है कि विजित देश के सिंहासन पर राजा के भाई, पुत्र या पौत्र को बैठाना चाहिए, किन्तु राजकुमार के न रहने पर भूतपूर्व राजा की पुत्री को यह पद मिलना चाहिए। राजतरंगिणी (५।२४५ एवं ६।३३२) ने सुगन्धा (९०४-९०६ ई०) एवं दिद्दा (९८०-८१ ई०) के कुख्यात शासन का वर्णन किया है। तेरहवीं शताब्दी के गंजाम ताम्रपत्र ने शुभाकर के मर जाने पर उसकी रानी तथा पुत्री दण्डी महादेवी के राज्य-पद सुशोभित करने का वर्णन किया है और दण्डी महादेवी को "परमभट्टारिका—महाराजाधिराजपरमेश्वरी" की उपाधि दी है। रघुवंश (१९।५५ एवं ५७) में आया है कि अग्निवर्ण राजा की विधवा रानी गद्दी पर आसीन हुई और वंशपरम्परा से चले आते हुए मन्त्रियों की सहायता से शासन-कार्य किया।

विजय एवं निर्वाचन के कतिपय उदाहरणों को छोड़कर राजत्व बहुधा आनुवंशिक था और ज्येष्ठ पुत्र को ही गद्दी मिलती थी। शतपथ ब्राह्मण (१२।९।३।१ एवं ३) ने दस पीढ़ियों तक चले आते हुए राजत्व का उल्लेख किया है। राजा के मर जाने या राज्य-पद से च्युत हो जाने पर सामान्यतः उसका ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य-पद का अधिकारी होता था। वैदिक काल में भी ज्येष्ठ पुत्रों एवं पुत्रियों के अधिकारों की रक्षा की जाती थी। यही बात स्मृतियों के समयों में भी थी। ऋग्वेद (१।५।६, ३।५०।३) ने इन्द्र के ज्यैष्ठ्य पद की ओर कई बार संकेत किया है। तैत्तिरीय संहिता (५।२।७) में भी यह बात लिखी हुई है कि पिता की सारी सम्पत्ति ज्येष्ठ पुत्र को मिलती है। ऐतरेयब्राह्मण (१९।४) ने लिखा है कि देवों ने इन्द्र के ज्यैष्ठ्य पद को अस्वीकृत कर दिया था। अतः इन्द्र ने बृहस्पति द्वारा द्वादशाह यज्ञ सम्पादित कर अपनी पूर्व स्थिति प्राप्त की। निरुक्त (२।१०) में देवापि एवं शन्तनु की कथा आयी है। छोटे भाई शन्तनु ने राज्य प्राप्त कर लिया अतः देवापि ने तप करना आरम्भ किया। शन्तनु के राज्य में १२ वर्षों तक वृष्टि नहीं हुई क्योंकि देवगण रुष्ट हो गये थे। शन्तनु से ब्राह्मणों ने कहा—"आपने बड़े भाई का अधिकार हर लिया है, इसी से यह गति है।" शन्तनु ने अपने बड़े भाई देवापि को राज्यपद देना चाहा। देवापि ने पुरोहित-पद स्वीकार कर यज्ञ आरम्भ कराया। जल बरसाने के लिए देवापि ने मन्त्र प्रकट किये, जो ऋग्वेद के १०।९८ के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हैं। इस कथानक से स्पष्ट है कि निरुक्त के लेखक यास्क के पूर्व बड़े भाई के अधिकारों को छीन लेना एक पाप समझा जाता था। उसी कथानक को दूसरे रूप में बृहद्देवता (७।१५६-१५७ एवं ८।१-९) ने उल्लिखित किया है। जब ययाति

ने अपने बड़े पुत्रों में यदु आदि के स्थान पर पुरु को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहा तो ब्राह्मणों एवं नागरिकों ने कहा--"ज्येष्ठ पुत्र के स्थान पर छोटा पुत्र कैसे राज्य कर सकता है?" अर्जुन ने भीमसेन की भर्त्सना की है--"धर्म का पालन करने वाले अपने बड़े भाई के विरुद्ध कौन जा सकता है?" (सभापर्व ६८।८)। रामायण (२।३।४०) में आया है कि दशरथ ने राम को अपनी सबसे बड़ी रानी का ज्येष्ठ पुत्र समझकर उत्तराधिकार सौंपा था और वसिष्ठ ने भी राम से कहा है--"इक्ष्वाकुओं में ज्येष्ठ पुत्र को गद्दी मिलती है, ज्येष्ठ के रहते छोटों को राजा नहीं बनाया जाता (रामायण २।११०।३६)। यही बात अयोध्याकाण्ड में कई स्थलों पर आयी है (८।२३-२४, १०१।२)। कौटिल्य (१।१७) ने लिखा है कि आपत्काल को छोड़कर लोग ज्येष्ठ को ही राजा बनाना श्रेयस्कर समझते हैं। मनु (९।१०९) ने लिखा है कि ज्येष्ठ पुत्र की उत्पत्ति के उपरान्त मनुष्य पितृ-ऋण से उऋण हो जाता है, अतः ज्येष्ठ पुत्र अपने पिता से सब कुछ प्राप्त करता है। राजधर्मकौस्तुभ (पृ० ३३४-३३५) ने कालिकापुराण एवं रामायण को उद्धृत कर निम्न प्रमेय उद्घोषित किये हैं--(१) ग्यारह प्रकार के गौण पुत्रों के स्थान पर औरस पुत्र को प्राथमिकता मिलती है, चाहे वह अवस्था में बड़ा हो या छोटा; (२) यदि (अपनी ही जाति की) छोटी रानी का पुत्र अवस्था में बड़ी रानी के पुत्र से बड़ा हो तो उसे प्राथमिकता मिलती है; (३) यदि एक ही जाति की दो रानियों को एक ही समय पुत्र उत्पन्न हो तो बड़ी रानी के पुत्र को प्राथमिकता मिलती है; (४) यदि बड़ी रानी को जुड़वाँ पुत्र उत्पन्न हों तो पहले उत्पन्न होने वाले पुत्र को प्राथमिकता प्राप्त होती है।

यदि ज्येष्ठ पुत्र अन्धा या पागल हो तो उसके स्थान पर उसका छोटा भाई राजा होता है (मनु ९।२०१)। महाभारत में आया है कि अन्धे होने के कारण धृतराष्ट्र को राज्य नहीं मिला (आदिपर्व १०९।२५, उद्योगपर्व १४७।२९)। शुक्रनीतिसार (१।३४३-३४४) में आया है कि यदि ज्येष्ठ पुत्र बधिर, कोढ़ी, गूँगा, अन्धा या नपुंसक हो तो उसके स्थान पर उसका छोटा भाई या पुत्र राज्याधिकार प्राप्त करता है। और देखिए शुक्रनीतिसार (१।३४६-३४६)। राजधर्मकौस्तुभ ने कुछ अतिरिक्त प्रमेय भी उपस्थित किये हैं--(१) यदि ज्येष्ठ पुत्र किसी शारीरिक या मानसिक दोष के कारण राजा न हो सके तो उसके पुत्र का अधिकार अखण्डित रहता है (आदिपर्व १००।९२ का उद्धरण भी दिया गया है)। यही बात बालम्भट्टी (याज्ञ० १।३०९) एवं राजनीतिप्रकाश (पृ० ४०) ने भी कही है। (२) यदि बड़े पुत्र की अक्षमता के कारण छोटा पुत्र राजपद पाये तो उसकी मृत्यु पर उसी का ज्येष्ठ पुत्र उत्तराधिकारी होता है, न कि अक्षम का पुत्र (पाण्डु की मृत्यु के उपरान्त युधिष्ठिर को ही राजपद मिलना चाहिए था न कि धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन को)। नीतिवाक्यामृत (परिच्छेद २४, पृ० २४९) ने उत्तराधिकार के विषय में निम्न क्रम रखा है; पुत्र, भाई, सौतेला भाई, चाचा, उसी वंश का कोई पुरुष, पुत्री का पुत्र, कोई अन्य जन जो निर्वाचित हुआ हो या जिसने राज्य पर अधिकार कर लिया हो।

कभी-कभी किसी राजा ने अपने छोटे पुत्र को भी प्राथमिकता दी है। इस विषय में कतिपय ऐतिहासिक उदाहरण प्राप्त होते हैं। गुप्त वंश के सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रथम ने छोटे पुत्र समुद्रगुप्त को ही राजा बनाया, जिसने अपने पिता के वरण के औचित्य को आगे चलकर सिद्ध कर दिया। इसी प्रकार समुद्रगुप्त ने अपने छोटे पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय को ही अपना उत्तराधिकारी चुना था। ययाति ने पुरु को चुना, क्योंकि वह उसके बड़े एवं अन्य पुत्रों में सर्वश्रेष्ठ था, आज्ञाकारी था और था कर्तव्यशील (आदिपर्व ७५वाँ अध्याय)। राज्याधिकार इस प्रकार से आनुवंशिक था कि एक छोटा बच्चा भी राजा बना दिया जाता था (रघुवंश १८।३९)।

अच्छे राजा के गुणों के विषय में सभी राजनीतिविषयक ग्रन्थों में चर्चा हुई है। देखिए कौटिल्य (६।१), मनु (७।३२-४४), याज्ञ० (१।३०९-३११ एवं ३३४), शंखलिखित, शान्ति० (५७।१२ एवं ७०)१, कामन्दक (१।२१-२२ ४।६-२४, १५।३१), मानसोल्लास (२, १।१-९, पृ० २९), शुक्र० (१।७३-८६), विष्णुधर्मोत्तर (२।३)।

याज्ञ० (१।३०९-३११) के अनुसार राजा को शक्तिमान्, दयालु, दूसरों के अतीत कर्मों का जानकार, तप, ज्ञान एवं अनुभव वालों पर आश्रित, अनुशासित मन वाला, अच्छे एवं बुरे भाग्य में समान स्वभाव रहने वाला, अच्छे मातृकुल एवं पितृकुल वाला, सत्यवादी, मन एवं देह से पवित्र, कार्यपटु, शक्तिशाली, स्मृतिमान्, वचन एवं कर्म में मृदु, वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालक, दुष्कर्मों से दूर रहने वाला, मेधावी, साहसी, रहस्य को गोपनीय रखने में चतुर (भारुचि एवं अपरार्क के अनुसार शत्रुओं के भेदों को जानने में चतुर), अपने राज्य के दुर्बल स्थलों की रक्षा करनेवाला, तर्कशास्त्र, शासनशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं तीनों वेदों में प्रशिक्षित होना चाहिए। उसे ब्राह्मणों के प्रति सहनशील, मित्रों के प्रति सरल, शत्रुओं के प्रति क्रूर एवं सेवकों तथा प्रजा के प्रति पितृवत् होना चाहिए। मनु (७।३२) ने भी ऐसा ही कहा है। इस प्रकार के गुण अंतरंग (भीतरी तथा अपेक्षाकृत आवश्यक) कहे जाते हैं। याज्ञ० ने १।३१२ से आगे बहिरंग गुणों का वर्णन किया है, यथा——मन्त्रियों का चुनाव, पुरोहित एवं यज्ञ कराने वाले याजकों का चुनाव, योग्य ब्राह्मणों को दान, रक्षा आदि। कौटिल्य (६।१) ने राजा के गुणों की सूची कई दृष्टिकोणों से उपस्थित की है। उसमें सबसे पहले ऐसे गुणों का वर्णन है जिनके द्वारा राजा लोगों के हृदय को जीत सके, यथा——कुलीनता, धर्मपरायणता, प्रफुल्लता, बड़ों-बूढ़ों से सम्मति लेने की प्रवृत्ति, सदाचारिता, सत्यवादिता, वचनबद्धता, कृतज्ञता, विशाल चित्तता, उत्साह, अप्रमाद, सामन्तों को वश में रखने की क्षमता, दृढ-संकल्पता, स्वानुशासनप्रियता, अच्छे मन्त्रियों का रखना आदि। इन गुणों को **आभिगामिक गुण** कहा गया है (देखिए दशकुमारचरित, ८)। राजा के बुद्धिविषयक गुण ये हैं——सीखने की अभिकांक्षा, अध्ययन एवं समझने की प्रवृत्ति तथा धारण करने की शक्ति, सुविचारणा, वाद-विवाद के उपरान्त सिद्धान्तों के प्रति श्रद्धा। यही बात कामन्दक (४।२२) ने भी कही है। कौटिल्य (६।१) द्वारा प्रयुक्त शब्द 'शक्यसामन्त' अग्निपुराण (२३९। ४) में भी आया है। उत्साह-सम्बन्धी गुण ये हैं——पराक्रम, दूसरे के पराक्रम के प्रति असहिष्णुता, कार्यचपलता एवं उद्योग। कामन्दक (४।२३) ने भी यही लिखा है। इन बातों के निरूपण के उपरान्त कौटिल्य ने राजा की **आत्म-सम्पत्** (उसके अपने विशिष्ट गुणों) की चर्चा की है। गौतम (११।२।४-६) के अनुसार राजा को शास्त्रविहित कार्य करना चाहिए, सत्य निर्णय देना चाहिए, बाहर-भीतर से पवित्र होना चाहिए, इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए, अच्छे नौकरों वाला होना चाहिए, नीति-विषयक उपादानों का ज्ञान रखना चाहिए, प्रजा को समान दृष्टि से देखना चाहिए और प्रजा-कल्याण करना चाहिए। शंखलिखित ने कौटिल्य एवं याज्ञवल्क्य की लम्बी सूची के समान कुछ अधिक या कम बातें कही हैं। शान्ति० (७०) ने राजा के ३६ गुणों की सूची दी है, यथा——उसे परुष वचन नहीं बोलना चाहिए, उसे धर्मनिष्ठ होना चाहिए, दुष्टता से दूर रहना चाहिए, हठी नहीं होना चाहिए, प्रिय वचन बोलना चाहिए आदि। कामन्दक (१।२१-२२) ने १९ गुण बताये हैं, यथा——दण्ड-नीति का अध्ययन, मेधा, गम्भीरता, चातुर्य, साहसिकता, ग्रहण सामर्थ्य, क्षमता, वाग्विदग्धता, दृढता, आपत्काल-सहिष्णुता, प्रभविष्णुता, पवित्रता, दयालुता, उदारता, सत्यवादिता, कृतज्ञता, कुलीनता, चारित्र्य एवं आत्मनिग्रह। कामन्दक (४।२४) ने लिखा है कि राजा के लिए दानशीलता, सत्यवादिता एवं पराक्रम ऐसे तीन गुण हैं जो उसे अन्य गुणों की प्राप्ति में सहायता देते हैं। मानसोल्लास (२।१।२-७) ने ४४ गुण बताये हैं जो कौटिल्य की सूची से बहुत-कुछ मिलते हैं, किन्तु इसने पाँच विशिष्ट गुणों की भी चर्चा की है, यथा——सत्यवादिता, पराक्रम, क्षमाशीलता, दानशीलता एवं दूसरे की योग्यता को समझने की क्षमता। अग्निपुराण (२३९।२-५) ने २१ गुणों का वर्णन किया है, यथा——कुलीनता, चारित्र्य आदि। परशुरामप्रताप में ९६ गुणों की चर्चा हुई है। सभापर्व (५।१०७-१०९) एवं रामायण (२।१००।६५-६७) ने १४ दोषों से बचने के लिए उपदेश किया है, यथा——नास्तिकता, असत्यवादिता, क्रोध, अनवधानता, प्रमाद, समझदारों से न मिलना, आलस्य, पाँचों इन्द्रियों के सुखों में लगा रहना, मन्त्रियों से सम्मति न लेना, राजनीति-ज्ञान-विहीनों से सम्मति लेना, निर्णीत बातों के अनुसार न चलना, गुप्त नीति का पालन न करना, शुभ कार्य न करना, एक ही समय सभी प्रकार

की बातों को अंगीकार करना। इस विषय में और देखिए वनपर्व (२५।१।५)। सभापर्व (५।१२५) में आया है कि राजा के लिए छः विपत्तियाँ ये हैं---दिन में सोना, आलस्य, कायरता, रोष, सुकुमारता एवं दीर्घसूत्रता।

धर्मशास्त्रीय एवं अर्थशास्त्रीय ग्रन्थों ने राजा की शिक्षा-दीक्षा के विषय में बहुत विस्तार किया है। गौतम (११।३) ने लिखा है कि राजा को त्रयी (तीनों वेदों) एवं आन्वीक्षिकी की शिक्षा लेनी चाहिए। आन्वीक्षिकी की व्याख्या कई प्रकार से की गयी है। कौटिल्य (१।२) का कहना है कि आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत सांख्य, योग एवं लोकायत के विचार आते हैं। इसके अध्ययन से मन, वचन एवं कर्म में प्रौढता एवं वैलक्षण्य आ जाता है। आन्वीक्षिकी से सभी विद्याओं पर प्रकाश पड़ता है। यह धर्म का मूल है। अमरकोश, विश्वरूप (याज्ञ० १।३०६), हरदत्त (गौतम ११।३) आदि के अनुसार आन्वीक्षिकी का अर्थ है तर्कशास्त्र। कामन्दक (२।७ एवं ११), मिताक्षरा (याज्ञ० १।३११), शुक्रनीति (१।१५८) के अनुसार यह 'आत्मविद्या' है। राजनीतिप्रकाश (पृ० ११८) एवं शुक्रनीति (१।१५३) ने कहा है कि यह तर्कशास्त्र है जो आत्मविद्या की ओर ले जाता है। नीतिमयूख (पृ० ३४) ने आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत तर्कशास्त्र एवं वेदान्त को रखा है और त्रयी के अन्तर्गत मीमांसा एवं स्मृतियों को रखा है। बृहस्पतिसूत्र (२।५-६) ने राजा को सम्मति दी है कि वह अर्थ की प्राप्ति के लिए लौकायतिक के सिद्धान्तों का अनुसरण करे और कामसाधन तथा अन्य इच्छाओं की प्राप्ति के लिए वह कापालिक शास्त्र के अनुसार चले।[१४]

राजा की शिक्षा के लिए उपयुक्त विद्याओं के विषय में कई मत हैं। मनुस्मृति (७।४३), शान्ति० (५९।३३), कौटिल्य (१।२) याज्ञ० (१।३११), कामन्दक (२।२), शुक्रनीति (१।१५२), अग्नि० (२३८।८) के अनुसार राजा की शिक्षा के विषय चार हैं, यथा---आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति। कौटिल्य ने टिप्पणी की है कि मानवों के सम्प्रदाय के अनुसार विद्याएँ तीन हैं और आन्वीक्षिकी त्रयी की एक विशिष्ट शाखा है; बार्हस्पत्यों के सम्प्रदाय के अनुसार विद्याएँ केवल दो हैं, यथा---वार्ता एवं दण्डनीति, क्योंकि त्रयी से सांसारिक ज्ञान की प्राप्ति के आगे आवरण आ जाता है; औशनसों के सम्प्रदाय के अनुसार राजा के लिए केवल दण्डनीति ही पर्याप्त है, क्योंकि अन्य विद्याएँ इसके साथ संलग्न हैं। स्पष्ट है, औशनसों एवं बार्हस्पत्यों के मत से राजा के लिए धर्म-ग्रन्थों एवं आत्मविद्या का ज्ञान आवश्यक नहीं है, उसे शासन-शास्त्र का व्यावहारिक अथवा लौकिक ज्ञान रखना चाहिए। दशकुमारचरित (८) ने चार विद्याएँ ग्रहण के योग्य मानी हैं, यथा---"चतस्रो राजविद्याः ; त्रयी वार्तान्वीक्षिकी दण्डनीतिः", जो कौटिल्य के मतानुसार ही हैं। बार्हस्पत्यसूत्र (१।३) ने राजा के लिए केवल दण्डनीति (दण्डनीतिरेव विद्या) ही उचित ठहरायी है। कौटिल्य ने व्याख्या की है कि धर्म एवं इसके विरोधी तत्त्व तीन वेदों (ऋग्वेद, सामवेद एवं यजुर्वेद) से पढ़े जाते हैं, अथर्ववेद एवं इतिहासवेद (इतिहास एवं पुराण) अन्य वेद हैं, ये तथा छः अंग (वेदांग) त्रयी के अन्तर्गत आ जाते हैं।

१४. 'आन्वीक्षकी' शब्द भी प्रचलित है, किन्तु 'आन्वीक्षिकी' व्याकरण-सम्मत है।

लोकायत सिद्धान्त की ओर कतिपय संकेत मिलते हैं, यथा---पतंजलि-महाभाष्य (जिल्द ३, पृ० ३२५, पाणिनि ७।३।४५ की व्याख्या में)। आगे चलकर यह सिद्धान्त नास्तिकवाद का द्योतक माना जाने लगा। देखिए शंकर का वेदान्तभाष्य (२।२।१ तथा ३।३।५३ एवं ५४); तन्त्रवार्तिक (जैमिनि १।३।३); रामायण (अयोध्या-कांड १००।३८-३९); कामसूत्र (१।२।३०); राजशेखर (काव्यमीमांसा पृ० ३७); नीतिवाक्यामृत (पृ० ७६)। और देखिए अंग्रेजी में---जे० आर० ए० एस्० (१९१७, पृ० १७५, टिप्पणी २); जे०ए० ओ० एस्० (१९३०, पृ० १३२), धर्मशास्त्र का इतिहास (भा०---२, अध्याय ७, टिप्पणी); बी० ओ० आर० इंस्टिट्यूट, पूना का रजतजयन्ती ग्रन्थ, पृ० ३८६-३९७ जहां लोकायतों के विषय में कुछ ऐतिहासिक संकेत दिये गये हैं।

शुक्रनीति (१।१५५) का कहना है कि १४ विद्याएँ (याज्ञ० १।३ में उल्लिखित) त्रयी के अन्तर्गत आ जाती हैं। गौतम (११।१९) ने वेदों, धर्मशास्त्रों, वेदांगों, उपवेदों एवं पुराणों पर बल दिया है। रामायण में आया है कि राम एवं उनके भाई वेदों, वेदांगों, धनुर्वेद, गांधर्ववेद, राजविद्या आदि में पारंगत थे (१।१८।२४ एवं २६, २।१।२०, २।२।३४-३५, ५।३५।१३-१४)। वनपर्व (२७७।४) में आया है कि राजकुमार वेदों एवं उनके पूत सिद्धान्तों तथा धनुर्वेद में प्रवीण थे। और देखिए आदिपर्व (२२१।७२-७४), अनुशासनपर्व (१०४।१४६-१४७)। खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में आया है कि खारवेल लेखा (राजकीय लिखा-पढ़ी), रूप (मुद्रा-शास्त्र), गणना, न्याय-शास्त्र, गान्धर्ववेद (संगीत) में शिक्षित हुए थे। और देखिए रुद्रदामन् का अभिलेख (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृ० ४४) एवं समुद्रगुप्त का अभिलेख (गुप्त अभिलेख सं० १, पृ० १२, १५-१६)। राजकुमार की शिक्षा के आदर्श पाठ्यक्रम के लिए देखिए डा० वेणीप्रसाद का ग्रन्थ "थ्योरी आव गवर्नमेण्ट इन ऐंशेण्ट इण्डिया", पृ० २१८, जहाँ उन्होंने बौद्ध ग्रन्थ, अश्वघोष के सूत्रालंकार का उद्धरण दिया है। नीतिवाक्यामृत (पृ० १६१) ने भी राजकुमार द्वारा प्राप्त किये जाने वाले गुणों की एक तालिका प्रस्तुत की है, यथा—सभी लिपियों का ज्ञान, रत्नों का मूल्यांकन करना, अस्त्र-शस्त्र-ज्ञान आदि। अग्निपुराण (२२५।१-४) में आया है कि राजकुमारों को धर्मशास्त्र, कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, धनुर्वेद आदि का ज्ञान दिया जाना चाहिए. . .यदि वे पढ़ाये-लिखाये न जा सकें तो उन्हें आमोद-प्रमोद के व्यापारों से ग्रस्त कर देना चाहिए, जिससे कि वे राजा के शत्रुओं आदि से मिल न सकें। राजकुमारों को अपनी राजधानी या पास के किसी कालेज में शिक्षा दी जाती थी। कभी-कभी उन्हें तक्षशिला जैसे प्रसिद्ध ज्ञान-केन्द्रों में भेज दिया जाता था (देखिए फॉस्बॉल द्वारा सम्पादित जातक २।८७, २७८, २१९, ३२३, ४००, ३।१५८, १६८, ४१५, ४६३)। वहाँ पढ़ने के विषय थे तीनों वेद तथा १८ शिल्प या विद्याएँ (जातक, २।८७।३।११५)। कौटिल्य (१।४) का कहना है कि वार्ता में कृषि, पशु-पालन, सोना, साधारण धातुओं, बेगार आदि का ज्ञान सम्मिलित था, जिसके ज्ञान से राजा कोश एवं सेना बढ़ाता था और शत्रुओं पर अधिकार रखता था। सभापर्व (५।७९) एवं अयोध्याकाण्ड (१००।४७) में आया है कि जब संसार वार्ता पर निर्भर रहता है तो वह बिना कठिनाई के समृद्धिशाली होता है। शान्तिपर्व (२६३।३) में सावधान किया गया है कि यदि वार्ता की चिन्ता न की जायगी तो यह विश्व नष्ट हो जायगा; विश्व के मूल में वार्ता है और यह तीनों वेदों द्वारा धारित है (६८।३५)। वनपर्व (१५०।३०) में भी आया है कि यह सम्पूर्ण विश्व वार्ता अर्थात् वाणिज्य, खान, व्यापार, कृषि, पशु-पालन द्वारा धारित एवं पालित है। और देखिए नीतिवाक्यामृत (पृ० ९३)। इन उद्धरणों से व्यक्त होता है कि समाज के आर्थिक ढाँचे एवं कृषि पर बहुत बल दिया जाता था। इसी से अर्थशास्त्र में आर्थिक विषयों पर प्रभूत चर्चा हुई है।

कौटिल्य (१।५) ने लिखा है कि तीन विद्याएँ दण्ड पर आधारित हैं और दण्ड सहज एवं अर्जित नामक दो प्रकार के अनुशासन पर निर्भर रहता है। विद्याओं से अर्जित अनुशासन की प्राप्ति होती है। कौटिल्य ने लिखा है कि चौल कर्म के उपरान्त राजकुमार को लिखने एवं अंकगणित का ज्ञान कराना चाहिए, उपनयन के उपरान्त उसे शिष्ट लोगों (वेदज्ञों) से वेद एवं आन्वीक्षिकी का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, विभिन्न विभागों के अधीक्षकों से वार्ता, व्यावहारिक राजनीतिज्ञों एवं व्याख्याताओं से दण्डनीति का अध्ययन करना चाहिए (और देखिए मनु ७।४३, मत्स्य० २१५।५४ एवं अग्नि० २२५।२१-२२)। कौटिल्य ने लिखा है कि सोलह वर्षों तक चार विद्याओं का अध्ययन करके राजकुमार को विवाह करना चाहिए। उसे सदैव शिष्ट लोगों के बीच में रहकर अपने ज्ञान को माँजते जाना चाहिए। राजा को दिन के प्रथम भाग में हाथी, घोड़े, रथ की सवारी तथा अस्त्र-शस्त्र का अभ्यास करना चाहिए; दिन के अगले भाग में इतिहास अर्थात् पुराण, गाथाओं, प्रशस्तियों, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र का पाठ सुनना चाहिए। वह राजा, जिसकी मेधा इस प्रकार अनुशासित रहेगी, जो अपनी प्रजा को अनुशासित रखने में संलग्न रहेगा तथा जो सबके कल्याण के लिए तत्पर रहेगा,

वह इस संसार पर राज्य कर सकेगा। राजा को विनयी होना चाहिए। नीतिवाक्यामृत (पृ० १६२) ने विनय की यह परिभाषा दी है--जो व्रतों एवं विद्याओं में प्रवीण तथा बड़ी अवस्था वाले हैं, उनके प्रति आदर के भाव को विनय कहते हैं। मनु (७।३८-३९), कामन्दक (१।१९-२० एवं ५९-६३), शुक्रनीति० (१।९२-९३) आदि ने विनय की महत्ता का वर्णन किया है। मनु (७।४०-४२) ने लिखा है कि बहुत-से राजा विनय के अभाव में शक्तिशाली रहने पर भी नष्ट हो गये। बहुत-से राजा विनय के कारण राजपद पर सुशोभित हुए और बहुत-से अविनयी राजा, यथा वेन, नहुष, सुदास, सुमुख, निमि आदि नाश को प्राप्त हो गये और पृथु, मनु जैसे राजा विनयी होने के कारण राजपद प्राप्त कर सके (और देखिए मत्स्य० २१५।५३)। प्राचीन भारतीय लेखकों ने राजपद के आदर्श की इतनी महत्ता गायी है और कुमार की शिक्षा को इतना महत्त्व दिया है कि राजा को रार्जाष की उपाधि दे दी गयी है। कालिदास ने इसका बहुधा वर्णन किया है। (शाकुन्तल० २।१४, रघुवंश १।५८)। सुकरात की भाँति भारतीय लेखकों ने भी राजाओं को दार्शनिक राजा या राजा-दार्शनिक कहा है (दार्शनिकों को राजा होना चाहिए या राजा को दार्शनिक होना चाहिए)। धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र ने राजा के लिए नैतिक अनुशासन, संवेगों एवं इच्छा का सम्यक् निर्देशन तथा परिमार्जन अत्यन्त आवश्यक माना है।

कौटिल्य (१।६) ने लिखा है कि ज्ञानेन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना विद्याओं की प्राप्ति, प्रवीणता तथा अनुशासन के लिए परम आवश्यक है और यह सब दुष्ट प्रवृत्तियों, यथा कामुकता, रोष, लोभ, अहंकार (मान), मद एवं अतिशय प्रसन्नता के त्याग से ही सम्भव है। उपर्युक्त दुष्ट प्रवृत्तियों (काम, क्रोध, मद, लोभ आदि) को शत्रु-षड्वर्ग या अरि-षड्वर्ग कहा गया है। कामन्दक (१।५५-५८), शुक्रनीति (१।४४-१४६) ने भी ऐसा ही लिखा है। और देखिए मार्कण्डेय० (२७।१२-१३), सुबन्धु की वासवदत्ता, उद्योगपर्व (७४।१३-१८), मनु (७।४४=मत्स्य० २१५।५५) आदि। मनु (७।४५-५२) ने बहुत से दुर्गुणों की चर्चा की है, जिनसे राजाओं को बचना चाहिए। कौटिल्य (८।३) ने राजाओं के लिए जुआ खेलना बहुत बुरा माना है। कामन्दक (१।५४) ने शिकार खेलना (मृगया), जुआ खेलना तथा मद्य पीना वर्जित माना है, क्योंकि इन्हीं दुर्गुणों से क्रम से पाण्डु, नल एवं वृष्णियों का नाश हुआ। शुक्र० (१। ३३२-३३३) ने मृगया की अच्छी बातें मानी हैं, किन्तु पशु-हनन को बुरा ठहराया है। और देखिए शुक्रनीति (१। १०२-१०२, १०९-११९, ११४ एवं १।१२८), कामन्दक (१।४०-४६)।

अध्याय ३

राजा के कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व

सभी ग्रन्थकारों ने यह स्वीकार किया है कि राजा का प्रधान कर्तव्य है प्रजा-रक्षण। शान्तिपर्व (६८।१-४) का कहना है कि सातों राजशास्त्रप्रणेताओं ने राजा के लिए प्रजा-रक्षण सबसे बड़ा धर्म माना है। यही बात मनु (७।१४४), कालिदास (रघुवंश १४।६७) आदि ने भी कही है। प्रजा-रक्षण का तात्पर्य है चोरों, डाकुओं आदि के भीतरी आक्रमणों तथा बाहरी शत्रुओं से प्रजा के प्राण एवं सम्पत्ति की रक्षा करना।[1] गौतम (१०।७-८, ११।९-१०) का कहना है कि राजा का विशिष्ट उत्तरदायित्व है सभी प्राणियों की रक्षा करना, न्यायोचित दण्ड देना, शास्त्र-विहित नियमों के अनुसार वर्णाश्रम की रक्षा करना तथा पथभ्रष्ट लोगों को सन्मार्ग दिखाना। वसिष्ठ० (१९।१-२) का तो कहना है कि राजा के लिए रक्षण-कार्य जीवन-पर्यन्त चलने वाला एक सत्र है जिसमें उसे भय एवं मृदुता छोड़ देनी होगी। और देखिए वसिष्ठ० (१९।७-८), विष्णुधर्मसूत्र (३।२-३)। शान्ति० (२३।१५) में आया है कि जिस प्रकार सर्प बिल में छिपे हुए चूहों को निगल जाता है, उसी प्रकार यह पृथिवी ऐसे राजा एवं ब्राह्मण को निगल जाती है जो क्रम से बाहरी आक्रामकों से नहीं भिड़ते एवं विद्या-ज्ञान के वर्धन के लिए दूर-दूर नहीं जाते।[2] इस विषय में विशिष्ट रूप से पढ़िए मनु (९।३०६), याज्ञ० (१।३३५), कौटिल्य, नारद (प्रकीर्णक ३३), शुक्र० (१।१४), अत्रि (श्लो० २८), विष्णुधर्मोत्तर (३।३२३।२५-२६)।[3] इन स्थलों की बातों के अध्ययन से पता चलता है कि राजा के प्रमुख कर्तव्य ये थे--(१) प्रजा का रक्षण या पालन, (२) वर्णाश्रम-धर्म-नियम का पालन, (३) दुष्टों को दण्ड देना तथा (४) न्याय करना।

रक्षा के लिए युद्ध करना या मर जाना सम्भव था, अतः धर्मशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों का कहना है कि क्षत्रिय

१. बृहस्पतिः। तत्प्रजापालनं प्रोक्तं त्रिविधं न्यायवेदिभिः। परचक्राच्चौरभयाद् बलिनोऽन्यायवर्तिनः॥ परानीकस्तेनभयमुपायैः शमयेन्नृपः। बलवत्परिभूतानां प्रत्यहं न्यायदर्शनैः॥ राजनीतिप्रकाश द्वारा उद्धृत, पृष्ठ २५४-२५५।

२. भूमिरेतौ निगिरति सर्पो बिलशयानिव। राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥ शान्ति० (२३। १५) द्वारा बृहस्पति की बात उद्धृत। यही बात एक अन्य स्थल पर (शान्ति० ५७।३) उशना की कही गयी है। और देखिए सभापर्व (५५।१४) एवं शुक्रनीतिसार (४।७।३०३)।

३. तस्य धर्मः प्रजारक्षा वृद्धप्राज्ञोपसेवनम्। दर्शनं व्यवहाराणामुत्थानं च स्वधर्मसु॥ नारद (प्रकीर्णक ३३); नृपस्य परमो धर्मः प्रजानां परिपालनम्। दुष्टनिग्रहणं नित्यं न नीत्या ते विना ह्युभे॥ शुक्र० १।१४। दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा न्यायेन कोशस्य च संप्रवृद्धिः। अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्ररक्षा पञ्चैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम्॥ अत्रि (श्लोक २८); मिलाइए---दुष्टदण्डः सतां पूजा धर्मेण च धनार्जनम्। राष्ट्ररक्षा समत्वं च व्यवहारेषु पञ्चकम्॥ भूमिपानां महायज्ञाः सर्वकल्मषनाशनाः॥ विष्णुधर्मोत्तर (३।३२३।२५-२६)।

का कर्तव्य है युद्ध करना और सबसे बड़ा आदर्श है समरांगण में मर जाना। मनु (७।८७-८९) का कहना है कि आक्रमण में प्रजा की रक्षा करते समय युद्ध-क्षेत्र से नहीं भागना चाहिए; वे राजा जो युद्ध करते-करते मर जाते हैं, स्वर्ग प्राप्त करते हैं। सैनिकों को भी युद्ध करते-करते मर जाने पर स्वर्ग प्राप्ति होती है (याज्ञ० १।३२४)। और देखिए स्त्रीपर्व (२।१६ एवं १८ तथा ११।८-९), भगवद्गीता (२।३१-३७)। शान्ति० (७८।३१) का कहना है कि जिस प्रकार अश्वमेध यज्ञ के उपरान्त राजा के साथ जो-जो स्नान करते हैं सभी पापमुक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार सभी जाति वाले सैनिक युद्ध में मर जाने पर पापरहित हो जाते हैं। इस विषय में देखिए पराशर।[4] दैवी नर्तकियाँ (अप्सराएँ) मरे हुए (वीरगति प्राप्त किये हुए) सैनिकों का सत्कार करती हैं (पराशर ३।३८)। ऋग्वेद (१०।१५४-३=अथर्ववेद १८।२।१७) में आया है कि युद्ध में प्राण गँवाने वाले सैनिक वही फल पाते हैं जो यज्ञों में सहस्रों गायों का दान करने वाले पाते हैं। सम्भवतः कौटिल्य (१०।३) ने सैनिकों को युद्ध के लिए प्रेरित करते हुए इसी वैदिक उक्ति की ओर संकेत किया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१०।२६।२-३) ने भी राजा को प्रजा-रक्षार्थ युद्ध करने के लिए प्रेरित किया है। शान्तिपर्व (२१।१९ एवं ७७।२८ तथा ३०) ने कहा है कि गाय तथा ब्राह्मण की रक्षा करने में मर जाना श्रेयस्कर है। यही बात विस्तार से विष्णुधर्मोत्तर (३।४४-४६) में आयी है। भीष्मपर्व (१७।११) में भीष्म ने कहा है कि क्षत्रिय वीर के लिए घर में किसी रोग से मर जाना पाप है, परम्परा से चला आया हुआ नियम तो यह है कि वह लोहे से ही मृत्यु का वरण करे। यही बात दूसरे ढंग से शल्यपर्व (५।३२) एवं शान्तिपर्व (९७।२३ एवं २५) में भी आयी है।

कामन्दक (५।८२-८३) ने स्पष्ट किया है कि प्रजा को राजा के बड़े कर्मचारियों, चोरों, शत्रुओं, राजवल्लभों (रानी एवं राजकुमारों) एवं स्वयं राजा के लोभ से बचाना होता है।[5] वास्तव में, प्रजा के ये पाँच भय हैं। राजनीतिज्ञों ने इसी सिलसिले में यह भी कहा है कि उपर्युक्त कर्तव्यों के अतिरिक्त राजा को चाहिए कि वह विद्यार्थियों, विद्वान् ब्राह्मणों एवं याज्ञिकों का पालन करे। देखिए गौतम (१०।९-१२, १८।३१), कौटिल्य (२।१), अनुशासन (६१।२८-३०), शान्ति० (१६५-६-७), विष्णुधर्मसूत्र (३।७९-८०), मनु (७।८२ एवं १३४), याज्ञ० (१।३१५ एवं ३२३ तथा ३।४४), मत्स्यपुराण (२१५।५८), अत्रि (२४)। अतीत काल तथा मध्यकाल के राजाओं ने पर्याप्त उदारता के साथ उपर्युक्त सम्मति का पालन युगों तक किया। शासन के कार्य केवल शान्ति एवं सुख के स्थापन तक ही सीमित नहीं थे, प्रत्युत उनके द्वारा संस्कृति का प्रसार भी आवश्यक माना जाता था। राजा को असहायों, वृद्धों, अंधों, लँगड़े-लूलों, पागलों, विधवाओं, अनाथों, रोगियों, गर्भवती स्त्रियों की सहायता (दवा, वस्त्र, निवास-स्थान देकर) करनी पड़ती थी।[6] देखिए वसिष्ठ० (१९।३५-३६), विष्णुधर्मोत्तर (३।६५), मत्स्य०

४. द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः ।। पराशर (३।३७)--मेधातिथि द्वारा (मनु ७।८९ की व्याख्या करते समय) उद्धृत।

५. आयुक्तकेभ्यश्चोरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात्। पृथिवीपतिलोभाच्च प्रजानां पञ्चधा भयम् ।। पञ्च-प्रकारमप्येतदपोह्यं नृपतेर्भयम्। कामन्दक (५।८२-८३)।

६. कृपणानाथवृद्धानां विधवानां तु योषिताम्। योगक्षेमं च वृद्धिं च नित्यमेव प्रकल्पयेत् ।। शान्ति० (८६।२४ =मत्स्यपुराण २१५।६२=अग्निपुराण २२५।२५); कृपणातुरानाथव्यंगविधवाबालवृद्धानौषधावसथाशनाच्छादनैर्बिभृयात्। शंखलिखितौ (राजनीतिप्रकाश द्वारा उद्धृत, पृष्ठ १३८); कच्चिदन्धांश्च मूकांश्च पंगून् व्यंगानबान्धवान्। पितेव पासि धर्मज्ञ तथा प्रव्रजितानपि ।। सभा० ५।१२४।

(२१५।६२), अग्नि० (२२५।२५), आदिपर्व (४९।११), सभा० (१८।२४), विराटपर्व (१८।२४), शान्ति० (७७।१८) आदि। विष्णुधर्मोत्तर को उद्धृत करते हुए राजनीतिप्रकाश (पृ० १३०-१३१) ने लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह पतिव्रता स्त्रियों का सम्मान एवं रक्षा करे। इस ग्रन्थ ने शंखलिखित को उद्धृत करते हुए लिखा है कि यदि क्षत्रिय एवं वैश्य शास्त्रविहित उपायों से अपने को न सँभाल सकें तो उन्हें राजा से भरण-पोषण की व्यवस्था के लिए माँग करनी चाहिए और राजा को चाहिए कि वह उनकी सहायता करे और क्षत्रिय तथा वैश्य शास्त्रविहित कर्मों से उसकी सहायता करें; यहाँ तक कि पालित एवं पोषित होने पर शूद्र को भी अपने शिल्प द्वारा राजा की सहायता करनी चाहिए। विपत्ति एवं अकाल के समय में राजा को अपने कोश से भोजन आदि की व्यवस्था करके प्रजा-पालन करना चाहिए (मनु ५।९४ की व्याख्या में मेधातिथि)। बुड्ढों, अन्धों, विधवाओं, अनाथों एवं असहायों की व्यवस्था तथा उद्योग या व्यवसाय द्वारा हीन क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों को समयानुकूल सहायता देना आदि अत्याधुनिक परम्पराएँ हैं, किन्तु प्राचीन भारतीय राजाओं ने ऐसा क्रम चला रखा था। अतः यह स्पष्ट है कि धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों एवं दयालु राजाओं ने एक ऐसा वातावरण उपस्थित कर दिया था कि सामान्य राजा लोग भी अच्छे-अच्छे नियमों का पालन करते थे। अशोक महान् ने मनुष्यों एवं पशुओं के लिए अस्पताल खुलवाये थे (द्वितीय प्रस्तर अभिलेख)। उन्होंने धर्मशालाओं, अनाथालयों, पौसरों, छायादार वृक्षों, सिंचाई आदि की सुचारु व्यवस्था कर रखी थी। राजा खारवेल ने भी जलाशय खुदवाये थे। रुद्रदामन् ने सुदर्शन नामक झील का पुनरुद्धार किया था। अनुशासनपर्व में आया है कि अच्छे राजाओं को चाहिए कि वे सभा-भवनों, प्रपाओं, जलाशयों, मन्दिरों, विश्रामालयों आदि का निर्माण करायें।[7] और देखिए मत्स्य-पुराण (२१५।६४)।

राजा के प्रति दिन के कार्यों के विषय में हमने द्वितीय भाग के बाईसवें अध्याय में पढ़ लिया है (कौटिल्य १।१९, मनु ७।१४५-१५७, २१६-२२६, याज्ञ० १।३२७-३३३, शुक्रनीति १।२७६-२८५, अग्निपुराण २३५, विष्णुधर्मोत्तर २।१५१, भागवत १०।७०।४-१७, नीतिप्रकाश ८।९, राजनीतिप्रकाश पृ० १५३-१६९ आदि)। प्रति दिन शय्या से उठने पर राजा को तीनों वेदों में पारंगत ब्राह्मणों की बातें सुननी होती थीं और उनके अनुसार चलना पड़ता था (मनु ७।३७ एवं गौतम० ११।१३-१४ तथा वसिष्ठ १।३९-४१)। प्रति दिन राजा को प्रजा के सम्मुख दर्शन भी देना पड़ता था (अयोध्या० १००।५१, सभापर्व ५।९०)।

कौटिल्य, महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों ने राजा के समक्ष बहुत ही बड़ा आदर्श रख छोड़ा है। कौटिल्य का कहना है—"प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प्रजा के हित में ही राजा का हित है. . .।"[8] विष्णुधर्मसूत्र (३) में भी यही बात कही गयी है।[9] जिस राजा ने अपनी प्रजा की भरपूर रक्षा की है उसे न तप करने की आवश्यकता है और न यज्ञ करने

७. शालाप्रपातडागानि देवतायतनानि च। ब्राह्मणावसथाश्चैव कर्तव्यं नृपसत्तमैः॥ अनुशासनपर्व (पराशरमाधवीय, भाग १, पृ० ४६६ में उद्धृत)।

८. राज्ञो हि व्रतमुत्थानं यज्ञः कार्यानुशासनम्। दक्षिणा वृत्तिसाम्यं च दीक्षितस्याभिषेचनम्॥ प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्। नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥ अर्थशास्त्र १।१९।

९. प्रजासुखे सुखी राजा तद्दुःखे यश्च दुःखितः। स कीर्तियुक्तो लोकेस्मिन् प्रेत्य स्वर्गं महीयते॥ विष्णुधर्मसूत्र (३, अन्तिम श्लोक राजधर्मकाण्ड द्वारा उद्धृत)। कृत्वा सर्वाणि कार्याणि सम्यक् संपाल्य मेदिनीम्। पालयित्वा तथा पौरान् परत्र सुखमेधते॥ किं तस्य तपसा राज्ञः किं च तस्याध्वरैरपि। सुपालितप्रजो यः स्यात्सर्वधर्मविदेव सः॥ शान्ति० (६९।७२-७३)।

की (शान्ति० ६९।७२-७३ एवं अंगिरा अर्थात् बृहस्पति)। ऐसा राजा सभी धर्मों का ज्ञाता है। कौटिल्य ने राजा की तुलना यज्ञ करने वाले से की है। राजा का सदैव क्रियाशील रहना ही व्रत है, शासन-कार्य के लिए अनुशासन पर चलना ही यज्ञ है, उसकी निष्पक्षता ही यज्ञ-दक्षिणा है, उसका राज्य-अभिषेक ही यज्ञ करने वाले का स्नान है। शान्ति-पर्व (५६।४४ एवं ४६) एवं नीतिप्रकाशिका (८।२) ने लिखा है कि राजा को गर्भवती स्त्री की भाँति मनचाहा नहीं करना चाहिए, प्रत्युत उसे प्रजा-सुख के लिए शास्त्रविहित कार्य करना चाहिए, धर्म पर आश्रित रहना चाहिए।[10] मार्कण्डेय पुराण (१३०।३३-३४) में राजा मरुत्त की माता मही ने उसे सावधान किया है—"राजा का शरीर आमोद-प्रमोद के लिए नहीं बना है, प्रत्युत वह कर्तव्य-पालन करने तथा पृथिवी की रक्षा करने के प्रयत्न में कष्ट सहने के लिए है।" भारतीय ग्रन्थकारों ने राजा के शासन को पितृवत् माना है। कौटिल्य (२।१) ने लिखा है कि जो लोग कर-मुक्ति के नियमों के बाहर हैं उनके साथ पितृवत् व्यवहार करना चाहिए। याज्ञ० (१।३३४) ने लिखा है कि राजा को अपनी प्रजा तथा नौकरों के साथ पितृवत् व्यवहार करना चाहिए। यही बात शान्ति० (१३९।१०४-१०५) में भी पायी जाती है। रामायण (२।२।२८-४७ तथा ५।३५।९-१४) में राम के गुणों का वर्णन करते हुए यह भी कहा गया है कि वे प्रजा के साथ पितृवत् व्यवहार करते थे, यदि प्रजा दुखी रहती, तो वे दुखी हो जाते थे, यदि प्रजा-जन आमोद-प्रमोद में मग्न होते थे तो उन्हें पिता के समान आनन्द मिलता था। इस विषय में और देखिए रामायण (३।६।११)।[11] कालिदास ने भी इन बातों की ओर संकेत किया है (शाकुन्तल० ५।५, ६।२३ एवं रघुवंश १।२४)। हर्षचरित (५) में आया है—"राजा प्रजा के लिए न केवल ज्ञाति (सम्बन्धी) है, प्रत्युत बन्धु है।"[12] अशोक महान् अपने शिलालेखों में लिखता है—"सभी लोग मेरे पुत्र हैं।"

बहुत प्राचीन काल से ही राजाओं को कई श्रेणियों में बाँटा गया है। ऋग्वेद में कई स्थलों पर राजा शब्द आया है। यह शब्द मित्र एवं वरुण (ऋ० ७।६४।२, १।२४।१२ एवं १३ तथा १०।१७३।५) नामक देवों के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—(१) राजा के अर्थ में (ऋ० १।६५।७, ३।४३।५, यथा—राजा इन्द्र, क्या आप मुझे लोगों का रक्षक बनाएँगे? ४।४।१, ९।७।५, १०।१७४।४) तथा (२) 'भद्र' व्यक्ति के अर्थ में, यथा—जहाँ पौधे उसी प्रकार साथ आते हैं जिस प्रकार भद्र लोग सभा में आते हैं "राजानः समिताविव" (ऋ० ९।१०।३, १०।७८।१, १०।९७।६)। ऋग्वेद (८।२१।१८) में लिखा है—"वह चित्र जिसने सहस्रों एवं दस सहस्र दिये, केवल वही राजा है, अन्य लोग सरस्वती के तट पर छोटे-छोटे सामन्त मात्र हैं।" **सम्राट्** शब्द ऋग्वेद में वरुण एवं इन्द्र (क्रम से ६।६८।९

१०. लोकरंजनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः। शान्ति० ५७।११; यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम्। गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम्॥ वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिना। स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत्॥ शान्ति ५६।४५-४६; . . . धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु। . . . धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि धर्मो राजनि तिष्ठति॥ शान्ति० ९०।१ एवं ५। पौरजानपदार्थं तु ममार्थो नात्मभोगतः॥ कामतो हि धनं राजा यः पारक्यं प्रयच्छति। न स धर्मेण धर्मात्मन्युज्यते यशसा न च॥ उद्योग० (११८।१३-१४)।

११. राज्ञां शरीरग्रहणं न भोगाय महीपते। क्लेशाय महते पृथ्वीस्वधर्मपरिपालने॥ मार्कण्डेय० (१३०।३३-३४); पिता भ्राता गुरुः शास्ता वह्निर्वैश्रवणो यमः। सप्त राज्ञो गुणानेतान्मनुराह प्रजापतिः॥ पिता हि राजा लोकस्य प्रजानां योऽनुकम्पिता। शान्ति० (१३९।१०४-१०५); अधर्मः सुमहान्नाथ भवेत्तस्य महीपतेः। यो हरेद् बलिषड्भागं न च रक्षति पुत्रवत्॥ अरण्यकाण्ड ६।११।

१२. प्रजाभिस्तु बन्धुमन्तो राजानो न ज्ञातिभिः। हर्षचरित (५)।

एवं ८।१६।१) की उपाधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है। साम्राज्य शब्द भी उल्लिखित है (ऋ० १।२५।१०)। ऋग्वेद (८।३७।३) में इन्द्र को **एकराट्** भी कहा गया है। लगता है, ऋग्वेद-काल में एकछत्र राजा की कल्पना हो चुकी थी, जिसके अन्तर्गत अनेक राजा थे। हो सकता है कि ऋग्वेद (७।३७।३) में 'एकराट्' शब्द केवल एक रूपक के रूप में ही प्रयुक्त हुआ हो। ऋग्वेद (७।८३।७-८) में आया है कि दस राजा, जब कि उन लोगों ने एक मण्डल स्थापित कर लिया था, सुदास को पराजित नहीं कर सके।[13] यहाँ यह भी आया है कि दस राजाओं के युद्ध में (दाशराज्ञे) इन्द्र एवं वरुण ने दस राजाओं से घिरे सुदास की सहायता की। बहुत-से स्थलों पर अनेक राजाओं के नाम आये हैं (ऋ० १।५३।८ एवं १०, १।५४।६, १।१००।१७, ७।३३।२, ८।३।१२, ८।४।२)। इन राजाओं के अतिरिक्त बहुत-से गणों या गणराजों के नाम आये हैं, यथा—अनु, द्रुह्यु, तुर्वशु, पुरु, यदु (ऋ० १।१०८।८, ७।१८।६ एवं ८।६।४६)। ये सभी शब्द बहुवचन में तथा कभी-कभी एकवचन में प्रयुक्त हुए हैं। एकवचन वाले शब्द 'राजा' या 'प्रमुख' के अर्थ में ही आये हैं (देखिए ऋ० ८।४।७, ८।१०।५, ४।३०।१७)। अथर्ववेद (३।४।१, ६।९८।१) में **एकराट्** एवं अधिराज शब्द अपने उचित अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं। अथर्ववेद (४।९।४, ३।४।३) में शक्तिशाली राजा के लिए उग्र उपाधि पायी गयी है (तुम रोग का पीछा उसी प्रकार करो जिस प्रकार कि उग्र या शक्तिशाली राजा अनेक राजाओं को दबा बैठता है)। तैत्तिरीय संहिता (१।८।१०।२) में आया है कि मनुष्य राजा द्वारा पालित या नियन्त्रित होते हैं (तस्माद् राज्ञा मनुष्या विधृताः)। इस संहिता में प्रयुक्त 'आधिपत्य' एवं 'जानराज्य' शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध नहीं ज्ञात हो पाता। ये शब्द वाजसनेयी संहिता (९।४० एवं १०।१८) एवं काठक० (१५।५) में भी उल्लिखित हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (३९।१) में[14] ऐसा आया है—"जो कोई अन्य राजाओं पर प्रभुत्व जमाना चाहता है, सम्राट्-पद प्राप्त करना चाहता है...और अभिलाषा करता है कि वह सबसे बड़ा शासक हो, जो समुद्र पर्यन्त पृथिवी का एकराट् होना चाहता है उसे शपथ लेने के उपरान्त ऐन्द्र-महाभिषेक से अभिषिक्त होना चाहिए।" इस मन्त्र में लोगों पर आधिपत्य होने के अर्थ में प्रयुक्त 'भौज्य', 'स्वाराज्य', 'वैराज्य', 'पारमेष्ठ्य' शब्दों का अर्थ स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः ये शब्द प्रभुत्व प्रदर्शित करने के हेतु अतिशयोक्तिपूर्ण एवं भारी-भरकम शब्द-प्रयोग मात्र हों। वैदिक उक्तियों के अनुसार, ब्राह्मण भी यदि वह 'स्वाराज्य' अर्थात् 'प्रभुत्व' प्राप्त करना चाहता है तो, वाजपेय का सम्पादन कर सकता है। 'परमेष्ठी' का अर्थ है 'प्रजापति', अतः 'पारमेष्ठ्य' का तात्पर्य हुआ **दैवी शक्ति**। शतपथ ब्राह्मण (५।१।१।१३) में 'राजा' एवं 'सम्राट्' का अन्तर स्पष्ट हो गया है; "राजसूय के सम्पादन से राजा होता है और वाजपेय के सम्पादन से सम्राट्; राजा का पद निम्न एवं सम्राट् का पद उच्च है।" यही बात अन्य स्थल पर भी कही गयी है (शतपथ० ९।३।४।८)। शतपथ ब्राह्मण में पुनः आया है—"वृत्र को मारने के पूर्व इन्द्र केवल इन्द्र थे, यह सच है, किन्तु वृत्र को मार डालने के उपरान्त वे महेन्द्र हो गये; राजा भी विजय के उपरान्त महाराज हो जाता है (१।६।४।२१)। इन विवेचनों से स्पष्ट है कि सार्वभौम शासक की कल्पना का उद्भव वैदिक काल में हो गया था, किन्तु उसका विकसित रूप एवं पूर्ण व्यवस्था ऐतरेय एवं शतपथ ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रणयन के पूर्व हो चुकी थी।

१३. दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधुः।...दाशराज्ञे परियत्ताय विश्वतः सुदास इन्द्रावरुणावशिक्षतम्॥ ऋ० ७।८३।७-८।

१४. स य इच्छेदेवंवित्क्षत्रियमयं...सर्वांल्लोकान्विन्देतायं सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छेत साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात्सार्वभौमः सार्वायुष आन्तादापरार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराळिति तमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाभिषिञ्चेत्। ऐ० ब्रा० ३९।

ऐतरेय ब्राह्मण ने प्राचीन भारत के १२ सम्राटों एवं शतपथ ब्राह्मण (१३।५।४।१-१९) ने १३ सम्राटों के नाम गिनाये हैं। पाणिनि (५।१।४१-४२) ने 'सार्वभौम' का अर्थ 'सम्पूर्ण पृथिवी का पति या स्वामी' लगाया है। अमरकोश का कहना है कि 'राजा', 'पार्थिव', 'क्ष्माभृत्', 'नृप', 'भूप' एवं 'महीक्षित्' एक दूसरे के पर्याय हैं और उनका अर्थ है शासक, किन्तु वह शासक या राजा जिसके समक्ष सभी सामन्त झुक जाते हैं, 'अधीश्वर', 'चक्रवर्ती' या 'सार्वभौम' की उपाधि पाता है और ये अन्तिम शब्द एक-दूसरे के पर्याय हैं। क्षीरस्वामी का कहना है कि चक्रवर्ती राजा वह है जो "राजाओं के चक्र या वृत्त पर राज्य करता है", या जो अपनी आज्ञाएँ राजाओं के मण्डल पर चलाता है। 'चक्रवर्ती' शब्द 'सार्वभौम' शब्द के उपरान्त ख्याति में आया है, किन्तु है वह भी अति प्राचीन (मैत्री उपनिषद् १।४, सामविधान ब्राह्मण ३।५।२)। गौतम बुद्ध ने अपने को धर्मराज कहा है और धर्म-चक्र चलाने वाला माना है। नानाघाट अभिलेख (ई० पू० २००) में 'अप्रतिहतचकस्' (=चक्रस्य) शब्द आया है। खारवेल ने अपने को 'सुप्रवृत्तविजय-चक्र' (सुपवतविजयचक) तथा 'पवृत्त-चक्र' (पवत चक) कहा है (हाथीगुम्फा अभिलेख)। खारवेल की रानी ने अपने पति को कलिंग-चक्रवर्ती कहा है (मञ्चपुरी अभिलेख)। कौटिल्य (९।१) ने चक्रवर्ती के राज्य की सीमा का उल्लेख यों किया है—"समुद्र से लेकर उत्तर में हिमालय तक, जो एक सीधी पंक्ति में एक सहस्र योजन लम्बी है।" राजशेखर की काव्यमीमांसा में भी यही बात पायी जाती है। कौटिल्य ने "चतुरन्तो राजा" अर्थात् "पृथिवी की चारों दिशाओं का राजा" कहा है। शान्तिपर्व में ऐसे राजा का उल्लेख हुआ है जो सम्पूर्ण पृथिवी को अपने एक छत्र के अन्तर्गत रखता है। हर्षचरित (४) में हर्ष को सात चक्रवर्तियों का शासक बताया गया है। कुछ ग्रन्थों में छः चक्रवर्तियों के नाम इस प्रकार आये हैं—मान्धाता, धुन्धुमार, हरिश्चन्द्र, पुरूरवा, भरत, कार्तवीर्य। सभापर्व (१५।१५-१६) ने पाँच प्राचीन सम्राटों के नाम लिये हैं, यथा यौवनाश्व (मान्धाता), भगीरथ, कार्तवीर्य, भरत एवं मरुत्त। इस विषय में विस्तृत जानकारी के लिए देखिए डा० एन० एन० ला की पुस्तक 'आस्पेक्ट्स आव ऐंश्येण्ट इण्डियन पॉलिटी' (पृ० १७-२१), जहाँ महाभारत, शतपथ ब्राह्मण एवं अन्य ग्रन्थों से प्राचीन सम्राटों के नाम चुनकर रखे गये हैं। चक्रवर्तित्व का आदर्श सभी राजाओं के सामने उपस्थित रहता था, इसका परिणाम यह हुआ कि राजा लोग चक्रवर्ती-पद के लिए आपस में सदैव लड़ा-भिड़ा करते थे। मान्धाता, भरत आदि सम्राटों के आदर्शों की प्राप्ति में लगे हुए अनेकों राजाओं के पारस्परिक युद्ध-वर्णनों से हमारा इतिहास भरा पड़ा है। चन्द्रगुप्त, अशोक, पुष्यमित्र, भारशिवों के भवनाग, प्रवरसेन, वाकाटक, समुद्रगुप्त, हर्ष आदि सम्राट् उपर्युक्त श्रेणी में ही आते हैं। मानी हुई बात है कि यदि चक्रवर्तित्व का आदर्श न भी रहा होता तो भी युद्ध बन्द न हुआ होता, क्योंकि प्राचीन काल में विश्व के सभी कोनों में युद्ध के बादल मँडराया करते और कोई-न-कोई राजा सम्राट्-पद प्राप्त कर ही लेता था।

मत्स्यपुराण (११४।९-१०) ने भारतवर्ष की लम्बाई-चौड़ाई का ब्यौरा दिया है, जो दक्षिण से उत्तर (कुमारी अन्तरीप से गंगा के उद्गम) तक एक सहस्र योजन लम्बा कहा गया है। भारतवर्ष का विस्तार दस सहस्र योजन था (चारों दिशाओं की सीमा को जोड़कर)। सभी सीमाओं पर म्लेच्छों का निवास था। पूर्व एवं पश्चिम में किरात एवं यवन रहते थे। जो राजा सम्पूर्ण भारतवर्ष को जीतता था उसे सम्राट्-पद प्राप्त होता था। और देखिए ब्रह्मपुराण (१७।८)। शुक्रनीतिसार (१।१८३-१८७) के अनुसार एक सामन्त की वार्षिक आय थी प्रजा को बिना पीड़ित किये १ से लेकर ३ लाख रजत के कर्ष, माण्डलिक की आय थी ४ से १० लाख कर्ष, राजा की ११ से २० लाख कर्ष, महाराज की २१ से ५० लाख कर्ष, स्वराट् की ५१ से १ करोड़, विराट् की २ करोड़ से १० करोड़ और सार्वभौम की आय थी ११ करोड़ से ५० करोड़। भले ही आज इन आँकड़ों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, किन्तु इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सामन्त, राजा तथा सम्राट् में क्या विशेष अन्तर था। सभापर्व (१५।२) का कहना है—"प्रत्येक घर में राजा हैं जो अपने मन को प्रसन्न करने वाले कार्य करते हैं, किन्तु वे सम्राट्-पद नहीं प्राप्त करते, क्योंकि यह अति कठिन है। वह राजा

जिसके प्रभुत्व के अन्तर्गत सारा संसार आ जाता है, सम्राट् हो जाता है।" ऐसे सभी स्थलों पर 'संसार' से तात्पर्य है केवल भारतवर्ष। प्राचीन काल में सम्राट् लोग अनेक सामन्तों या छोटे-मोटे राजाओं पर आधिपत्य करने के स्थान पर दूसरों द्वारा अपनी शक्ति या प्रभुत्व अंगीकार कर लेने को अधिक महत्त्व देते थे। दिग्विजयों का वर्णन (महाभारत के आदिपर्व में पाण्डु की, सभापर्व में अर्जुन तथा अन्य पाण्डवों की दिग्विजयों का वर्णन) यह प्रकट करता है कि वास्तव में, सम्राट् देश पर देश जीतकर अपने राज्य में सम्मिलित नहीं करते थे, प्रत्युत बहुत-से राजाओं को कर देने तथा प्रभुत्व स्वीकार कर लेने पर विवश करते थे। अर्जुन ने स्पष्ट कहा है कि वे सभी राजाओं से कर लेकर आयँगे (सभापर्व २५।३)। . . .और हम जानते हैं कि विजित देशों के राजा लोग हीरे-जवाहरात, सोना-चाँदी, हाथी-घोड़े, गाय आदि लेकर पाण्डव सम्राट् के पास आये थे। प्रयाग की स्तम्भ-प्रशस्ति से पता चलता है कि समुद्रगुप्त को भी प्रत्यन्त (सीमा वाले) राजाओं आदि ने उसी प्रकार कर भेंट, पुरस्कार आदि दिये थे। शान्तिपर्व (९६) का कहना है कि धर्म के अनुसार ही विजय करनी चाहिए। साम्राज्य का तात्पर्य यह नहीं था कि विजित देश पर भाषा या शासन-विधि लाद दी जाय, जैसा कि आजकल के बहुत-से साम्राज्यों ने किया है। यूरोपीय साम्राज्यवाद के साथ यूरोप की सभ्यता एवं संस्कृति का विकास होता गया और विजित राष्ट्रों पर नयी संस्कृति का भार लाद दिया गया था। किन्तु प्राचीन भारतीय साम्राज्यवाद की गाथा कुछ और है, हम जिस पर आगे प्रकाश डालेंगे। कौटिल्य (१२।१) ने तीन प्रकार के आक्रामकों के नाम गिनाये हैं; (१) **धर्मविजयी** (जो केवल अधीनता स्वीकार कर लेने पर शान्त हो जाते हैं), (२) **लोभविजयी** (जो कर एवं भूमि पाकर सन्तुष्ट हो जाते हैं) तथा (३) **असुरविजयी**, जो न केवल कर एवं भूमि से ही सन्तुष्ट होते, प्रत्युत विजित देशस्थ राजाओं के पुत्रों, पत्नियों एवं प्राणों को भी हर लेते हैं। और देखिए नीतिवाक्यामृत (पृ० ३६२-३६३) एवं युद्ध-समुद्देश, जिन्होंने इसी प्रकार की व्याख्या की है। प्रथम एवं द्वितीय प्रकारों के विजित राष्ट्रों के शासन-प्रबन्ध आदि पर विजयी राष्ट्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उनकी व्यवस्थाएँ, संस्थाएँ एवं शासन-विधि ज्यों-की-त्यों रह जाती है। अशोक ने अपनी विजय को धर्मविजय कहा है, अर्थात् उसने केवल अपने प्रभाव को अंगीकार कराकर सन्तोष कर लिया था। पल्लवराज शिवस्कन्द वर्मा ने, जिसने अग्निष्टोम, वाजपेय एवं अश्वमेध यज्ञ कर डाले थे, अपने को धम्म-महाराजाधिराज (धर्मविजयी सम्राट्) कहा है। पृथ्वीषेण को भी धर्मविजयी कहा गया है (प्रवरसेन द्वितीय का दुदिया नामक पत्रक, एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ३, पृ० २५८)। समुद्रगुप्त की दक्षिण भारत वाली विजय धर्मविजय मात्र थी।

कालान्तर में राजाओं ने भारी-भरकम उपाधियाँ धारण करना आरम्भ कर दिया था। अशोक ने, जिसका साम्राज्य अफगानिस्तान से बंगाल की खाड़ी तक तथा दक्षिण में मैसूर तक विस्तृत था, अपने को मात्र **राजा** कहा है। खारवेल को केवल महाराज एवं कलिंगाधिपति कहा गया है (हाथीगुम्फा अभिलेख)। कुषाण सम्राट् हुविष्क ने अपने को **महाराज-राजातिराज-देवपुत्र** कहा है। समुद्रगुप्त को केवल **महाराज** कहा गया है। किन्तु कालान्तर के राजाओं ने अपने को **परमभट्टारक-महाराजाधिराज** या **परमभट्टारक-महाराजाधिराज-परमेश्वर** कहा है। प्राचीन काल के ग्रन्थों ने राजा या सम्राट् के विषय में कुछ कहते हुए लम्बी-लम्बी उपाधियाँ नहीं लिखी हैं। शान्तिपर्व (६८।५४) का कहना है कि राजा को **राजा, भोज, विराट्, सम्राट्, क्षत्रिय, भूपति** एवं **नृप** नामों से पुकारा जाता है। दशरथ को **राजा** (अयोध्याकाण्ड २।२) एवं **महाराज** (१८।१५ एवं ५७।२०) कहा गया है। राजनीतिरत्नाकर के अनुसार राजाओं की तीन कोटियाँ होती हैं; (१) सम्राट्, (२) वह जो कर देता है और (३) वह जो कर नहीं देता (किन्तु सम्राट् नहीं है)। इस ग्रन्थ ने कई प्रमाणों के आधार पर कहा है कि 'चक्रवर्ती', 'सम्राट्', 'अधीश्वर' एवं 'महाराज' शब्द समानार्थक हैं। प्राचीन भारत में सम्राट् की उपाधि के लिए राजा 'राजसूय' एवं 'अश्वमेध' यज्ञ करते थे (सभापर्व १३।३०)। सेनापति पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध किये थे। खारवेल (जैन राजा) ने भी अश्वमेध यज्ञ किया था। वाकाटक-राज प्रवरसेन प्रथम ने चार अश्वमेध यज्ञ किये थे। भारशिवों ने दस अश्वमेध करके अपने को प्रसिद्ध किया। इसी प्रकार सालंकायन

राजा विजयदेव वर्मा, चालुक्यराज पुलकेशी प्रथम आदि राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ किये थे। सेनापति पुष्यमित्र ने राजसूय यज्ञ किया था (मालविकाग्निमित्र, अंक ५)। कदम्बों ने भी अश्वमेध यज्ञ किये थे। विष्णुकुण्डी महाराज माधव वर्मा ने ११ अश्वमेध तथा १,००० अग्निष्टोम यज्ञ किये थे।

कौटिल्य (७।१६) का कहना है कि विजयी को विजित राष्ट्र की भूमि का लोभ नहीं करना चाहिए और न विजित राजा की पत्नियों, पुत्रों, धन-सम्पत्ति पर अधिकार करना चाहिए, प्रत्युत उसे चाहिए कि वह विजित के सम्बन्धियों को उनके पूर्व स्थान पर पुनः नियुक्त कर दे, राजगद्दी पर भूतपूर्व राजा के पुत्र को बैठा देना चाहिए। जो राजा विजित देश के राजा को बन्दी बनाता है, उसकी पत्नियों, पुत्रों, धन-सम्पत्ति आदि का लोभ करता है, वह बहुत-से राजाओं के मण्डल को अपने विरुद्ध उभाड़ देता है। याज्ञवल्क्य (१।३४२-४३) ने लिखा है कि विजयी राजा को विजित राजा के राष्ट्र की रक्षा अपने राज्य के समान ही करनी चाहिए, उसकी परम्पराओं, रूढियों, रीतियों आदि पर अपनी संस्कृति का दुःसह भार नहीं लादना चाहिए।

विष्णुधर्मसूत्र (३।४२ एवं ४७-४९) ने लिखा है कि विजेता को विजित देश की परम्पराओं का नाश नहीं करना चाहिए। उसे चाहिए कि वह अपनी राजधानी में मृत राजा के कुछ सम्बन्धियों को रखे और यदि राजवंश निम्न जाति का न हो तो उसका नाश न करे। यही बात मनु (७।२०२-२०३) एवं अग्निपुराण (२३६।२२) ने भी कही है। रामायण (७।६२।१८-१९) में आया है कि विजयी को चाहिए कि वह विजित देश पर दूसरे राजा को प्रतिष्ठापित कर दे, जिससे स्थायी शासन चल सके। और देखिए शान्तिपर्व (३३।४३-४६)। कात्यायन (राजनीतिप्रकाश द्वारा उद्धृत, पृ० ४११) का कहना है कि यदि विजित राजा अपराधी हो तो भी उसके राज्य का नाश नहीं करना चाहिए। क्योंकि समस्त जनता की सम्मति लेकर उसने युद्ध नहीं किया था। स्पष्ट है कि विजित राजा के मन्त्रियों पर विपत्ति घहरा सकती है, किन्तु प्रजा पर नहीं। यह सुन्दर आदर्श सामान्यतः प्राचीन काल के विजयी सम्राटों द्वारा पालित होता था। रुद्रदामन् एवं समुद्रगुप्त ने इस आदर्श का पालन किया था, उन्होंने विजित राष्ट्रों पर उनके भूतपूर्व शासकों को पुनः राजा-रूप में स्वीकृत किया था।

अभिषेक

राज्याभिषेक एक बहुत ही पवित्र एवं महत्त्वपूर्ण संस्कार माना जाता था। हम यहाँ उसका विस्तृत वर्णन नहीं उपस्थित कर सकते। मध्य काल के ग्रन्थों में बहुत-सी विधियाँ उल्लिखित हैं। राजनीतिप्रकाश (पृ० ४३-११२), नीतिमयूख (पृ० १-१३) एवं राजधर्मकौस्तुभ (पृ० २३७-३७४) ने ऐतरेय ब्राह्मण, गोपथ ब्राह्मण, सामविधान ब्राह्मण, ब्रह्मपुराण, विष्णुधर्मोत्तर तथा अन्य ग्रन्थों के उद्धरण देकर राज्याभिषेक की विधियों का वर्णन किया है। राजधर्मकौस्तुभ (पृ० २३९) का कथन है कि विष्णुधर्मोत्तर में बहुत विस्तार पाया जाता है, यदि कोई चाहे तो उस पुराण की विधि अपना सकता है, जो ऐसा न कर सके उसके लिए विकल्प है, या जो ऋग्वेद का अनुयायी है वह ऋग्विधान का ढंग अपनाये और जो सामवेदी है, वह सामविधान की परम्परा अपनायें, या सभी लोग पुराण का ढंग अपनायें।

ऐतरेय ब्राह्मण (३८) में इन्द्र का महाभिषेक (ऐन्द्र महाभिषेक) वर्णित है। ऐतरेय ब्राह्मण ने इसी सिलसिले में यह भी बतलाया है कि किस प्रकार दक्षिण में सात्वत राजा लोग अभिषेक के उपरान्त **भोज** कहलाये, पूर्व देशों के राजा **सम्राट्**, पश्चिम के **स्वराट्** तथा उत्तर के (हिमालय के उस पार के अर्थात् उत्तर कुरु एवं उत्तर मद्र के) **विराट्** कहलाये। इस ब्राह्मण (३९) ने यह बतलाया है कि ऐन्द्र महाभिषेक की विधि के अनुसार ही क्षत्रिय को शपथ लेनी चाहिए तथा मुकुट धारण करना चाहिए। पुरोहित के समक्ष क्षत्रिय जो शपथ लेता है वह इस प्रकार की है—"यदि मैं आपको घृणा की दृष्टि से देखूँ या आपके प्रति असत्य ठहरूँ तो जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त जो कुछ यज्ञों या अच्छे कर्तव्यों

द्वारा गुण अर्जित करूँ, वे सब तथा मेरे लोक, मेरे सत्कार्य, प्राण, सन्तति आदि सभी आप नष्ट कर दें।" इसके उपरान्त ऐतरेय ब्राह्मण ने राज्याभिषेक के सम्भारों (सामग्रियों) की सूची दी है (३९।२), यथा—न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ, प्लक्ष नामक वृक्षों के फल, छोटे अक्षत, बड़े अक्षत, प्रियंगु एवं जौ, उदुम्बर का पलंग, उदुम्बर का चतुर्मुख चमस, दही, घृत, मक्खन, वर्षा का जल। मन्त्रों का वर्णन ३९।३-४ में है और दक्षिणा का ३९।६ में है। राजसूय में, जिसे केवल क्षत्रिय ही कर सकते हैं, प्रमुख कृत्य है अभिषेचनीय, जिसमें उदुम्बर के सत्रह बरतनों में रखे गये सत्रह उद्गमों के जल से स्नान किया जाता है। राजनीतिप्रकाश (पृ० ९२-१०७) ने ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित राज्याभिषेक का वर्णन किया है। राजसूय में जो बहुत-से कर्म होते हैं, उनमें एक है "रत्निनां हवींषि" (१२ रत्नियों के घरों में आहुतियाँ)। ये रत्न प्रतीकात्मक महत्त्व रखते हैं। वास्तव में, वह राजा, जिसका अभिषेक होता है, अपने राज्य के बड़े कर्मचारियों की महत्ता स्वीकार करता है और वे रत्न लोग उसे राजा के रूप में स्वीकार करते हैं। राजसूय के अभिषेचन-कृत्य के दो भाग हैं; (१) धार्मिक एवं (२) लौकिक अर्थात् साधारण लोगों द्वारा सम्पादित होने वाला। सर्वप्रथम अध्वर्यु तथा अन्य पुरोहित विभिन्न बरतनों में रखे गये विभिन्न स्थानों से प्राप्त जल से राजा के ऊपर जल-सिंचन या अभिषेक करते हैं। इसके उपरान्त राजा का भाई, कोई मित्र क्षत्रिय, कोई वैश्य भी ऐसा ही करता है। इस अन्तिम अभिषेक-कृत्य का तात्पर्य है साधारण जनता द्वारा राज्याभिषेक का समर्थन, अथवा राज्याभिषेक का लौकिक महत्त्व।[15]

तैत्तिरीय संहिता (२।७।१५-१७) ने राज्याभिषेक का वर्णन किया है। इसमें सात आहुतियों के लिए सात मन्त्र दिये गये हैं। व्याघ्रचर्म पर राजा बैठाया जाता है। राजा पर ऐसे जल का अभिषेक होता है जिसमें जौ के अंकुर एवं दूर्वा-दल मिले रहते हैं। मन्त्रों के साथ राजा रथ पर चढ़ता है। पुरोहित एवं रथ को मन्त्रों के साथ सम्बोधित किया जाता है। अनुमति, पृथिवी (माता के रूप में) एवं स्वर्ग (पिता के रूप में) से राज्याभिषेक के समर्थन के लिए प्रार्थना की जाती है। राजा सर्वप्रथम सूर्य की ओर देखता है और तब अपनी प्रजा की ओर। इसके उपरान्त राजा का क्षौरकर्म होता है और उसके सिर एवं बाहुओं पर घृत-मिश्रित दूध मला जाता है।

नीतिमयूख (पृ० ४-५), राजनीतिप्रकाश (पृ० ४२-४३) एवं राजधर्मकौस्तुभ (पृ० ३३५-३३५) ने गोपथ-ब्राह्मण में दिये गये राज्याभिषेक के कृत्यों का उद्धरण इस प्रकार दिया है[16]—"आवश्यक सामग्री एकत्र करके, यथा १६ कलश, बेल के १६ फल, वल्मीक की मिट्टी (चींटियों या दीमकों के ढूह की मिट्टी), सभी प्रकार के छाँटे हुए (जिनकी

१५. गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः ॥ न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट्शब्दो हि कृच्छ्रभाक् ॥ सभा० १५।२; प्रभुर्यस्तु परो राजा यस्मिन्नेकवशे जगत्। स साम्राज्यं महाराज प्राप्तो भवति योगतः ॥ सभा० १४।९-१०।

१६. आथर्वणगोपथब्राह्मणे—अथ राज्ञोभिषेकविधिं व्याख्यास्यामः। बिल्वप्रभृतीन्सम्भारान् संभृत्य षोडश कलशान् षोडश बिल्वानि वल्मीकस्य च मृत्तिकां सर्वान्नं सर्वरसान् सर्वबीजानि। तत्र चत्वारः सौवर्णाश्चत्वारो राजताश्चत्वारस्ताम्राश्चत्वारो मृन्मयाः कुम्भाः। तान् ह्रदे सरसि वोर्ध्वस्रुतो नामैनाम इत्युदकेन पूरयित्वा वेदिपृष्ठे संस्थाप्य कुम्भेषु बिल्वमेकैकं दद्यात्। सर्वान्नं सर्वरसान् सर्वबीजानि च प्रक्षिप्याभयैरपराजितैरायुष्यैः स्वस्त्ययनैः सौवर्णेषु संपातान्, सुम्नाह्यैः संसिक्तीयैश्चैव राजतेषु, भैषज्यैरंहोमुच्यैस्ताम्रेषु, संवेशसंवर्गाभ्यां शन्तातीयैः प्राणसूक्तेन च मृन्मयेषु। ततस्तान् कलशान् गृहीत्वा श्रोत्रियैः पवित्रतमै राजानमभिषिञ्चेत्। भूमिमिन्द्रं च वर्धयित्वा क्षत्रियं म इति (इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इति ?) सिंहासनमारूढमभिमन्त्रयेत्। एवमभिषिक्तस्तु रसान्प्राश्नीयाद् विप्रेभ्यश्च दद्याद् गोसहस्रं सदस्येभ्यः कर्त्रे ग्रामवरम्। विपुलं यशः प्राप्नोति भुंक्ते धरां जितशत्रुः सदा भवेदिति ॥ राजनीति-प्रकाश, पृ० ४२-४३। राजधर्मकौस्तुभ पृ० ३३५-३३६, नीतिमयूख पृ० ४-५।

भूसी निकाल ली गयी हो) अन्न, सभी प्रकार के रस, सभी प्रकार के बीज-अन्न (जिनकी भूसी न निकाली गयी हो), सोने, चाँदी, ताँबे एवं मिट्टी के चार-चार कलश रखे जायँ। इन कलशों में किसी गहरे जलाशय से लेकर "नामैनाम" मन्त्र के साथ जल भरा जाय। उन कलशों को वेदिका पर रखकर, प्रत्येक में एक-एक बेल डाल दे। यह सब कार्य पुरोहित ही करे। वह उन कलशों में भूसी वाले तथा छाँटे हुए अन्न डाल दे। सोने के कलश में यह सब डालते हुए पुरोहित अभय (अथर्ववेद १९-१५), अपराजित, आयुष्य (अथर्व० १।३०) एवं स्वस्त्ययन (अथर्व० १।२१, ७।८५।१, ७।८६।१, ७।११७।१) नामक मन्त्रों का उच्चारण करे। इसी प्रकार चाँदी के कलशों के साथ संश्राव्य (अथर्व० १९।१) एवं संसिक्तीय (अथर्व० २।२६) मन्त्रों का पाठ हो, ताँबे के कलशों के साथ भैषज्य (अथर्व० ७।४५) एवं अहंमुच् नामक मन्त्रों तथा मिट्टी के कलशों के साथ संवेश, संवर्ग्य एवं शंतातीय नामक मन्त्रों तथा अथर्ववेद (११।४) की 'प्राण' नामक स्तुति का पाठ किया जाय। इसके उपरान्त पुरोहित श्रोत्रियों (विद्वान् ब्राह्मणों) द्वारा पकड़े गये कलशों के जल से राजा का अभिषेक करे। तब वह सिंहासन पर बैठे हुए राजा का अभिषेक अथर्ववेद के इस मन्त्र के साथ करे--"हे इन्द्र, मेरे इस क्षत्रिय की अभिवृद्धि करो।" इस प्रकार बैठा हुआ राजा भाँति-भाँति के रसों का पान करता है, प्रमुख पुरोहित के सहायक पुरोहितों को एक सहस्र गाय देता है तथा प्रमुख पुरोहित को एक अच्छा गाँव देता है। इस प्रकार वह राजा विपुल यश की प्राप्ति करता है, इस धरा को भोगता है तथा अपने शत्रुओं का नाश करता है।"

सामविधान ब्राह्मण ने राज्याभिषेक का संक्षिप्त वर्णन उपस्थित किया है, जिसे यहाँ देना आवश्यक नहीं जान पड़ता। बौधायनगृह्यसूत्र (१।२३) ने राज्याभिषेक का वर्णन उपस्थित किया है, जिसे बालम्भट्टी (याज्ञ० १।३०९ की टीका में मिताक्षरा की व्याख्या करते हुए) ने उद्धृत किया है और जिसे यहाँ स्थानाभाव के कारण प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है।

अथर्ववेद (१७।१-१०) के कौशिकसूत्र ने युवराज, माण्डलिक, सामन्त एवं सेनापति (१७।११-३४ में) के अभिषेक का तथा राजा के महाभिषेक का वर्णन उपस्थित किया है।

रामायण में राज्याभिषेक के कतिपय संकेत मिलते हैं। युद्धकाण्ड (१३१) में राम के राज्याभिषेक के विषय में विशद विस्तार मिलता है। उसका कुछ स्वरूप यह है--'राम का क्षौर-कर्म किया गया, स्नान के उपरान्त उन्होंने मूल्यवान् परिधान धारण किये। सीता का भी यथोचित अलंकरण किया गया। राम रथ पर बैठकर राजधानी में घूमे। भरत के हाथों में लगाम थी, शत्रुघ्न ने छत्र उठा रखा था और लक्ष्मण के हाथ में चमर था। इसके उपरान्त राम हाथी पर बैठे। दुन्दुभि बजी एवं शंखध्वनि की गयी। शुभ लक्षणों के रूप में सोना, गौएँ, कुमारियाँ, ब्राह्मण, मिठाई लिये हुए पुरुष आदि राम के सामने से गये या ले जाये गये। नागरिकों के हाथ में पताकाएँ थीं, प्रत्येक घर पर झण्डे फहरा रहे थे। जाम्बवान्, हनुमान् और अन्य दो व्यक्ति चार कलशों में समुद्र-जल ले आये। इसी प्रकार पाँच सौ नदियों का जल कलशों में लाया गया। कुलपुरोहित एवं वृद्ध मुनि वसिष्ठ ने राम और सीता को रत्नजटित सिंहासन पर बैठाया। सर्वप्रथम वसिष्ठ एवं अन्य मुनियों ने राम पर पवित्र एवं सुगन्धित जल छिड़का। इसके उपरान्त वही कार्य कुमारियों, मन्त्रियों, सिपाहियों, वणिक-निगमों के लोगों ने किया। वसिष्ठ ने राम के सिर पर अति प्राचीन मुकुट रखा। तब गान एवं नृत्य के क्रम चले। राम ने पुरोहितों, अपने मित्रों एवं सहायकों, यथा सुग्रीव, अंगद, विभीषण आदि को भेंट दी। सीता ने हनुमान् को कण्ठहार दिया।' अयोध्याकाण्ड (१५) में हमें राम के युवराज के रूप में अभिषिक्त होने की तैयारी का विवरण मिलता है। कालिदास (रघुवंश २७।१०) ने कुश के पुत्र के राज्याभिषेक का उल्लेख किया है जिसमें स्वर्ण-कलशों में भरकर पवित्र जलों से अभिषेक किया गया था। महाभारत में भी संकेत एवं वर्णन मिलते हैं। देखिए सभापर्व (३३, जहाँ शूद्रों के साथ अन्य जातियों के लोग राजसूय में बुलाये गये थे), जिसमें युधिष्ठिर के राज्याभिषेक का वर्णन है। शान्तिपर्व (४०।९-१३) में राज्याभिषेक के सम्भारों (सामग्रियों) का वर्णन मिलता है। संकेतों के लिए देखिए

आदिपर्व ४४, ८५, १०१)। राज्याभिषेक के लिए सम्भारों की सूची प्रतिमा नाटक (सम्भवतः भास-कृत) एवं पञ्चतन्त्र (३।७६...) में भी प्राप्त होती है।

अग्निपुराण के २१८वें अध्याय में राज्याभिषेक का वर्णन तथा २१९वें अध्याय में मन्त्रों की सूची है। उसमें निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं--स्नान (तिल एवं सरसों से युक्त जल से), भद्रासन पर बैठना, अभय की घोषणा (रक्षा एवं किसी को न मारने की घोषणा), बन्दी-गृह से कुछ बन्दियों का छोड़ना, ऐन्द्री शान्ति, राजा द्वारा उपवास, मन्त्रोच्चारण, पर्वत-शिखर एवं अन्य स्थलों से लायी गयी मिट्टी से राजा के सिर एवं अन्य अंगों को परिशुद्ध करना, पञ्चगव्य छिड़कना, चारों वर्णों के अमात्यों द्वारा सोने, चाँदी, ताँबे एवं मिट्टी के चार घड़ों के जल से अभिषेक; मधु-मिश्रित जल से ऋग्वेदी द्वारा, कुश-मिश्रित जल से छन्दोग (सामवेदी) द्वारा, यजुर्वेदी एवं अथर्ववेदी ब्राह्मणों द्वारा राजा के सिर एवं कण्ठ को पीले रंग से स्पर्श करते हुए अभिषेक, गान एवं वाद्ययन्त्र बजाना, राजा के समक्ष पंखे एवं चमर पकड़कर खड़े रहने का कृत्य, राजा द्वारा घृत एवं शीशे में छाया-दर्शन, विष्णु तथा अन्य देवों की पूजा, व्याघ्रचर्म पर बैठना, जिसके नीचे सिंह, चीते, बिल्ली एवं बैल के चर्म रखे गये हों, पुरोहित द्वारा मधुपर्क देना, राजा के सिर पर एक पट्ट बाँधना एवं उस पर मुकुट रखना, प्रतिहार द्वारा मन्त्रियों को उपस्थित करना, राजा द्वारा पुरोहितों एवं अन्य ब्राह्मणों को भेंट देना, अग्नि-प्रदक्षिणा, गुरुजनों को प्रणाम करना, बैल को स्पर्श करना, बछड़े के साथ गाय की पूजा, अश्वारोहण, हाथी का सम्मान करना तथा उस पर आरोहण, राजधानी में जुलूस निकालना तथा सभी लोगों का सम्मान करना और उनसे बिदा लेना।

महाभारत में युवराज के रूप में भीम के (शान्ति० ४१) एवं सेनापति के रूप में भीष्म के (उद्योग० १५५। २६-३२), द्रोण के (द्रोण० ५।३९-४३) एवं स्कन्द के (शल्य० ४५) अभिषेकों का वर्णन मिलता है।

राजनीतिप्रकाश (पृ० ४९-८८), राजधर्मकौस्तुभ (पृ० ३१८-३६३) एवं नीतिमयूख (पृ० १-४) ने विष्णुधर्मोत्तर (द्वितीय खण्ड २१-२२ अध्याय) का उद्धरण देकर राज्याभिषेक के कृत्यों एवं मन्त्रों का वर्णन किया है। विष्णुधर्मोत्तर (२।१९) में सर्वप्रथम इन्द्र के सम्मान में पौरन्दरी या ऐन्द्री शान्ति नामक शान्ति-कृत्य का वर्णन पाया जाता है। यहाँ विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया जा सकता, केवल कुछ बातों की ही चर्चा हो सकेगी। विष्णुधर्मोत्तर पुराण (२।२१) में वैदिक मन्त्रों (स्वस्त्ययन, आयुष्य, अभय एवं अपराजित मन्त्रों) एवं अन्य कृत्यों का विशद वर्णन है। विष्णुधर्मोत्तर (२।२२) ने पौराणिक मन्त्रों (कुल मिलाकर १८२ श्लोकों में) द्वारा ब्रह्मा, नक्षत्रों (कृत्तिका से भरणी), ग्रहों, १४ मनुओं, ११ रुद्रों, विश्वे-देवों, गन्धर्वों अप्सराओं, दानवों, डाकिनियों, गरुड़ ऐसे पक्षियों, नागों, वेदव्यास ऐसे मुनियों, पृथु, दिलीप, भरत ऐसे सम्राटों, वेदों, विद्याओं, नारियों आदि का राजा को मुकुट पहनाने के लिए आह्वान किया गया है।

राजधर्मकौस्तुभ ने राज्याभिषेक का अत्यन्त विशद वर्णन उपस्थित किया है। सर्वप्रथम शान्ति-कृत्य का सम्पादन होता है। दूसरे दिन ईशान (रुद्र) को आहुति दी जाती है। तीसरे दिन ग्रहों, जलों के देवताओं, पृथिवी, नारायण, इन्द्र आदि की पूजा तथा नक्षत्रों का आह्वान होता है। चौथे दिन नक्षत्रों के लिए याग (यज्ञ) किया जाता है। पाँचवें दिन रात्रि में निर्ऋति नामक देवी (काला परिधान धारण किये हुए, गदहे पर बैठी मिट्टी की मूर्ति) को आहुति दी जाती है। छठे दिन ऐन्द्री शान्ति का कृत्य होता है। इसके उपरान्त विष्णुधर्मोत्तर में वर्णित कृत्यों का ब्यौरा उपस्थित किया गया है।

विष्णुधर्मोत्तर (२।१८।२-४) ने टिप्पणी दी है कि राजा के मर जाने पर उत्तराधिकारी के राज्याभिषेक के लिए किसी शुभ घड़ी की बाट नहीं जोहनी चाहिए। तिल एवं सरसों से मिले जल से स्नान करा देना चाहिए। उसके नाम से घोषणा निकाल देनी चाहिए कि उसने उत्तराधिकार सँभाल लिया है। भूतपूर्व राजा के आसन के अतिरिक्त अन्य आसन पर बिठला कर पुरोहित एवं ज्योतिषी को चाहिए कि वे उसे जनता को दिखला दें। राजा को प्रजा का

सम्मान करना चाहिए, शान्ति एवं रक्षा की घोषणा करनी चाहिए, कुछ बन्दियों को छोड़ देना चाहिए और औपचारिक राज्याभिषेक की बाट जोहनी चाहिए। राजनीतिप्रकाश (पृ० ६२) के अनुसार राजा के मर जाने पर उत्तराधिकारी को मुकुट एक वर्ष के उपरान्त पहनाना चाहिए। किन्तु यदि कोई राजा गद्दी छोड़ दे तो उत्तराधिकारी को वर्ष भर जोहने के स्थान पर किसी शुभ दिन में राज्याभिषेक करा लेना चाहिए।

विष्णुधर्मोत्तर (२।७) ने अग्रमहिषी के गुणों का वर्णन विस्तार के साथ किया है। राजनीतिकौस्तुभ (पृ० २४९-२५०) ने इसका उद्धरण दिया है। प्रमुख या पट्ट या अग्र रानी का राजा के साथ ही या अलग राज्याभिषेक कृत्य कर देना चाहिए। मनु (७।७७) ने रानी के लिए भद्र कुल, समान जाति, सौन्दर्य, अच्छे गुण से सम्पन्न होना आवश्यक माना है। राजतरंगिणी (८।८२) ने टिप्पणी की है कि राजा उच्चल की रानी जयमती सदा पति के साथ आधे सिंहासन पर बैठती थी।

शिवाजी का राज्याभिषेक सन् १६७४ ई० में बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुआ था। इसके विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए **'शिव-छत्रपति महाराज-चरित'** जिसका सम्पादन श्री मल्हार रामराव चिटनिस (सन् १८८२, पृ० १२०-१२५) ने मराठी भाषा में किया है। शिवाजी का उपनयन ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष की पंचमी को हुआ था। सात दिनों तक भाँति-भाँति के कृत्य होते रहे। विनायकशान्ति, ग्रहशान्ति, ऐन्द्री एवं पौरंदरी का सम्पादन हुआ और ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष त्रयोदशी को उनके सिर पर मुकुट रखा गया।

प्रमुख मन्त्रियों द्वारा राजकीय प्रतीक, यथा छत्र, चमर एवं बेंत की छड़ी आदि राजा के सम्मुख रखे जाते थे। इन प्रतीकों को विशिष्ट ढंग से तैयार कराया जाता था। विशेष रूप से देखिए कालिदास का रघुवंश (३।१६) एवं बृहत्संहिता (अध्याय ७१ एवं ७२)।

कभी-कभी राज्याभिषेक के समय राजा दूसरा नाम धारण कर लेता था जिसे **अभिषेक-नाम** कहा जाता था। कुछ राजाओं ने अश्वमेध सम्पादन के समय भी नाम-परिवर्तन किये थे, यथा कुमारगुप्त प्रथम ने अपने को महेन्द्र नाम से घोषित किया। इस विषय में देखिए डा० आर० सी० मजुमदार की पुस्तक 'चम्पा' (पृ० १५७)।

विष्णुधर्मोत्तर (२।१६२) का कहना है कि प्रति वर्ष राज्याभिषेक के दिन वैसे ही कृत्य किये जाने चाहिए। ब्रह्मपुराण ने भी यही बात कही है (देखिए राजनीतिप्रकाश, पृ० ११५, कौस्तुभ, पृ० ३७९, राजधर्मकाण्ड, पृ० १०)।

मनु (७।२१७-२२०) ने राजा को विष से बचाने के नियम बतलाये हैं। उनका कहना है कि राजा को वही भोजन करना चाहिए जो भली भाँति परीक्षित हो चुका हो और जो पूर्ण विश्वासी व्यक्ति द्वारा तैयार किया गया हो और जिस पर विष-शान्ति वाला मन्त्र फूंक दिया गया हो। राजा को अपनी भोज्य वस्तुओं में विषमोचक वस्तुएँ मिला देनी चाहिए और ऐसे रत्न धारण करने चाहिए जो विष को मार सकें। वैसी ही स्त्रियों को राजा के स्नानार्थ, लेपनार्थ, वीजनार्थ तथा स्पर्शार्थ नियुक्त करना चाहिए जो भक्त हों और जिनके वस्त्राभूषण आदि की भली भाँति परीक्षा ली जा चुकी हो। राजा को अपनी सवारियों, शय्या, भोजन, स्नान, लेपन आदि के विषय में विशेष सतर्क रहना चाहिए। कामन्दक (७।८) एवं मत्स्यपुराण (२१९।१०) ने भी मनु (७।२२०) की ही बातें कही हैं। कौटिल्य (१।१७) का कहना है कि राजा को सर्वप्रथम अपने पुत्रों एवं रानियों से व्यक्तिगत सुरक्षा करनी चाहिए और इसके उपरान्त अपने नातेदारों एवं शत्रुओं से अपने राज्य की रक्षा करनी चाहिए। कौटिल्य ने पुत्रों—राजकुमारों से सुरक्षा रखने के विषय में राजा को मन्त्रणा दी है। इस विषय में कई पूर्व राजनीतिज्ञों की सम्मतियाँ उद्धृत की गयी हैं, यथा—गुप्त दण्ड (भारद्वाज के मतानुसार), एक स्थान पर रक्षकों के बीच रखना (विशालाक्ष), सीमा-रक्षकों के साथ एक दुर्ग में रखना (पराशर), अपने राज्य से दूर किसी सामन्त के दुर्ग में रखना (पिशुन), माता के कुल में भेजना (कौणपदन्त), राजकुमारों को विषयासक्त बना देना (वातव्याधि), जन्म के पूर्व एवं जन्म के उपरान्त उचित सावधानी एवं शिक्षा देना (स्वयं कौटिल्य)। इससे

स्पष्ट है कि प्राचीन राजनीतिज्ञों ने राजकुमारों से बचने के लिए राजा को कई आवश्यक मार्ग बता दिये थे, जिनमें कौटिल्य वाला मार्ग अपेक्षाकृत युक्तिसंगत एवं सम्भव प्रतीत होता है। मत्स्यपुराण (२२० वाँ अध्याय) ने भी राजकुमारों के प्रशिक्षण, अनुशासन तथा उत्तरदायित्व की बात चलायी है और कहा है कि बुरे राजकुमारों को सुरक्षित स्थान में उनकी स्थिति के अनुसार सुख एवं आराम की व्यवस्था करके बन्दी रखना चाहिए।[१७]

कौटिल्य (१।२०) ने अग्नि एवं विष के विषय में कई व्यावहारिक संकेत दिये हैं; 'जिस घर में जीवन्ती, श्वेता एवं अन्य उपयोगी पौधे होते हैं, वहाँ विषैले सर्प नहीं आते; बिल्लियाँ, मोर, नेवले तथा चितकबरे हरिण साँप को खा डालते हैं; तोता, मैना आदि पक्षी विषैले साँपों को देखकर चीखने लगते हैं; क्रौंच (सारस) विष की सन्निधि में संज्ञा-शून्य हो जाते हैं; जीवंजीव पक्षी रुक जाता है; कोकिल का बच्चा मर जाता है; चकोर की आँखें लाल हो जाती हैं। इस विषय में देखिए कामन्दक (७।१०-१३), मत्स्यपुराण (२१९।१७-२२), यशस्तिलक (३, ५११-५१२) तथा शुक्र० (१।३२६-३२८)। कौटिल्य (१।२१), कामन्दक (७।१५-२६), मत्स्य० (२१९।९-३२) का कहना है कि भोजन का कुछ अंश अग्नि में छोड़ना चाहिए या पक्षियों को देना चाहिए, जिससे यदि विष हो तो उसका प्रभाव जाना जा सके। पाचक एवं वैद्य को, जो भोजन में विषमोचक पदार्थ डालते थे, सर्वप्रथम उसे चखना पड़ता था। राजा को अन्तःपुर में बहुत सावधानी बरतनी पड़ती थी। इसी प्रकार भेंट लेते समय, गाड़ी में बैठे हुए, घोड़े पर चढ़े हुए या नाव से यात्रा करते समय या उत्सवों में सम्मिलित होते समय सदा सावधान रहना चाहिए; ऐसा कौटिल्य (१।२०-२१), कामन्दक (७।२८-४७) ने कहा है। कौटिल्य (१।२०) एवं कामन्दक (७।४४ एवं ५०) ने राजा को चेतावनी दी है कि वह स्त्रियों का विश्वास न करे, यहाँ तक कि रानी का भी विश्वास न करे, जब रानी की जाँच ८० वर्षीय पुरुषों द्वारा या ५० वर्षीय स्त्रियों द्वारा हो जाय और यह ज्ञात हो जाय कि रानी सुरक्षित एवं शुद्ध है, तो वह उसके पास जाय। कौटिल्य (१।२०) एवं कामन्दक (७।५१।५२) ने ऐसे सात राजाओं के दृष्टान्त दिये हैं, जो रानी की दुरभिसंधि या शत्रुओं के शिकार हुए; भद्रसेन अपने भाई द्वारा, जो उसकी रानी के कक्ष में छिपा पड़ा था, मारा गया (वास्तव में राजा के भाई एवं उसकी रानी में प्रेम-भाव चल रहा था); राजा करूष अपने पुत्र द्वारा मारा गया, जो ऐसी रानी के शयन-कक्ष में छिपा था जो राजा से अपने पुत्र के उत्तराधिकार के विषय में रुष्ट थी; आदि-आदि। इस विषय में विस्तृत विवरण अन्यत्र देखिए, यथा--हर्षचरित ६, बृहत्संहिता (७७।१-२), मेधातिथि (मनु ७।१५३), नीतिवाक्यामृत (राजरक्षा-समुद्देश ३५।३६, पृ० २३१-२३२)।

राजा को मन्त्रियों एवं अन्य राज्यकर्मचारियों के धोखे एवं प्रवंचना से बचना चाहिए। कौटिल्य (१।१०) ने लिखा है कि किस प्रकार प्राचीन शास्त्रियों ने मन्त्रियों की सदसद्-भावना की जाँच, उनके सामने विविध प्रकार के प्रलोभन आदि, यथा धर्म, धन, काम-प्रेरणाएँ, भय--रखकर करने की सम्मति दी है। कौटिल्य ने अपनी सम्मति दी है कि ऐसा प्रलोभन, जिसका सम्बन्ध या संकेत राजा या रानी से हो, मन्त्रियों के समक्ष नहीं रखना चाहिए। हर्षचरित

१७. गुणाधानमशक्यं तु यस्य कर्तुं स्वभावतः। बन्धनं तस्य कर्तव्यं गुप्तदेशे सुखान्वितम्॥ अविनीतकुमारं हि कुलमाशु विशीर्यते॥ अधिकारेषु सर्वेषु विनीतं विनियोजयेत्। आदौ स्वल्पे ततः पश्चात्क्रमेणाथ महत्स्वपि॥ मत्स्य० (२२०।५-७)। मिलाइए कामन्दक ७।२-६--राजपुत्रा मदोद्धूता गजा इव निरंकुशाः। भ्रातरं वाभिनिघ्नन्ति पितरं वाभिमानिनः।...विनयोपग्रहान् भृत्यैः कुर्वीत नृपतिः सुतान्। अविनीतकुमारं हि कुलमाशु विनश्यति॥ विनीतमौरसं पुत्रं यौवराज्येभिषेचयेत्। दुष्टं गजमिवोद्वृत्तं कुर्वीत सुखबन्धनम्॥ और देखिए अग्निपुराण (२२५।३-४)।

(६) में आया है कि हस्तिसेना के सेनापति स्कन्दगुप्त ने सम्राट् हर्ष को सब पर विश्वास करने से मना किया है और १९ ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि असावधानी के कारण तथा दुरभिसन्धियों के फलस्वरूप वे राजा विपत्तियों में फँसे। कुछ नाम ये हैं---वत्सराज उदयन, मौर्यराज बृहद्रथ, काकवर्ण शैशुनारि (शैशुनागि ?), अग्निमित्र का पुत्र सुमित्र, शुंग देवभूति, मौखरी राजा क्षत्रवर्मा। और देखिए कामसूत्र (५।५।३०), नीतिवाक्यामृत (दूतसमुद्देश, पृ० १७१), यशस्तिलकचम्पू (३, पृ० ४३१-४३२)।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह नहीं समझना चाहिए कि प्राचीन काल में भारतीय राजा असुरक्षित रहा करते थे और उनके प्राणों पर बहुधा आक्रमण हुआ करते थे। भारतवर्ष में एक ही समय बहुत-से राजा राज्य करते थे। यदि सहस्रों वर्षों के दौरान कुछ ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अन्य देशों के इतिहास के पन्ने उलटे जायँ तो कुछ ही शताब्दियों में सैकड़ों ऐसे चित्र उपस्थित होंगे जहाँ कपटाचरण एवं दुरभिसंधियों के कारण कतिपय शासक मार डाले गये। वास्तव में, राजसत्तात्मक प्रणाली में राजा सारे राज्यचक्र की विवर्तन-कील (धुरा) था। मत्स्यपुराण (२१९।१४) में आया है कि राजा जड़ है और प्रजा वृक्ष; भय से राजा को बचाने में सम्पूर्ण राज्य की समृद्धि बनी रहती है, अतः सबको मिलकर राजा की रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए।

प्राचीन एवं मध्य काल में शासन-व्यवस्था वंशपरम्परागत एकराजात्मक थी। कौटिल्य (१।१७) ने स्पष्ट लिखा है कि विपत्तिकाल को छोड़कर सदैव ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकार मिलता रहा है और यह प्रणाली सदैव मान्य रही है। बुद्ध के समय के आस-पास तथा उनसे कुछ शताब्दियाँ उपरान्त भी भारत में कुछ अल्पजनाधिपत्य-शासन या गणतन्त्र संस्थापित थे। किन्तु हमारे धर्मशास्त्र-विषयक ग्रन्थों या राजनीतिशास्त्र-विषयक ग्रन्थों में उनके विषय में बहुत कम संकेत प्राप्त होते हैं। शान्तिपर्व (१०७) में गणराज्यों के विषय में ऐसा लिखा है--"गणों के नाश का कारण है आन्तरिक कलह; जहाँ बहुत-से शासक हों, वहाँ नीति का रहस्य छिपा नहीं रह सकता, सभी सदस्य निर्धारित नीति को जानने के अधिकारी नहीं हो सकते, अतः गण के रक्षार्थ प्रमुख व्यक्तियों को आपस में विचार-विमर्श करना चाहिए; यदि गण के विभिन्न कुलों में कलह उत्पन्न हो जाय और कुलों के मुख्य लोग उसे सँभाल न सकें तो गण में गड़बड़ियाँ अवश्य उत्पन्न हो जायँगी। गणराज्यों के विषय में आन्तरिक कलहों का मिट जाना परमावश्यक है, बाहरी भय उतने गम्भीर नहीं होते जितने कि भीतरी। गण के सभी सदस्य जन्म एवं कुल-परम्परा में समान होते हैं, किन्तु शौर्य, मेधा, शरीर-स्वरूप एवं धन में बराबर नहीं होते। आन्तरिक कलह उत्पन्न कर एवं घूस देकर बाह्य शत्रु गणों को तोड़ डालते हैं। अतः गणों की सुरक्षा एकता में ही पायी जाती है।" उपर्युक्त शब्दों द्वारा महाभारत कई व्यक्तियों द्वारा चलाये गये शासन के दोषों का वर्णन करता है, यथा--(१) भेद गुप्त नहीं रखा जा सकता, (२) लोभ एवं ईर्ष्या के कारण व्यभिचार बढ़ जाता है और नाश अवश्यम्भावी हो जाता है। एक अन्य स्थल पर महाभारत (शान्ति० ८१) ने वृष्णियों के संघ की ओर संकेत किया है। वृष्णि-संघ के अध्यक्ष थे कृष्ण। महाभारत में लिखा है कि संघ के नेता में चार गुण विशेष पाये जाने चाहिए, यथा दूरदर्शिता, सहिष्णुता, आत्म-निग्रह एवं अर्जनप्रवृत्ति-त्याग। महाभारत में **गण** एवं **संघ** शब्द एक-दूसरे के पर्याय माने गये हैं। पाणिनि (३।३।८६) ने संघ का अर्थ गण बताया है। पतञ्जलि (महाभाष्य, जिल्द २, पृ० ३५६) ने **संघ, समूह, समुदाय** को समानार्थक कहा है। पाणिनि ने संघ के दो प्रकार बताये हैं, यथा (१) आयुधजीवी (युद्ध करके जीविका कमाने वाले, ऐसे लोग आयुध रखते थे और समय-समय पर राजा द्वारा बुलाये जाने पर सेना में भर्ती होते थे या आवश्यकता पड़ने पर युद्ध करते थे) तथा अन्य लोग, जो ऐसे नहीं थे। पाणिनि ने लिखा है कि वाहीक देश में संघों में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अन्य लोग पाये जाते हैं (५।३।११४)। आयुधजीवी संघों में थे वृक, त्रिगर्त, यौधेय तथा परशु (५।३।११५-११७)। कात्यायन ने अपने वार्तिक (४।१।१६८) में बताया है कि संघ और एकराजात्मकता में अन्तर है। कौटिल्य ने लिखा

है कि द्वैपायन से मुठभेड़ होने पर वृष्णि-संघ का नाश हुआ। कौटिल्य (१।१७) ने लिखा है कि राज्य-शासन कुल द्वारा चलाया जा सकता है, क्योंकि कुलसंघ दुर्जय होता है, यह राजारहित राज्य की विपत्तियों से दूर रहता है और बहुत दिनों तक चलता रहता है। संघों के साथ महत्त्वाकांक्षी राजा के व्यवहार किस प्रकार के होने चाहिए, इस पर कौटिल्य ने एक पूरा अधिकरण (११) लिख डाला है। संघों को अपनी ओर मिला लेना किसी सेना या मित्रों को अपनी ओर मिला लेने से कहीं उत्तम है। कौटिल्य ने इसी सिलसिले में एक मनोरंजक बात कही है--काम्भोज एवं सुराष्ट्र में क्षत्रियों एवं अन्य लोगों की श्रेणियाँ "वार्ता-शस्त्रोपजीवी" हैं (अर्थात् कृषि, व्यापार आदि करने वाले एवं युद्ध में लड़ने की वृत्ति (पेशा) करने वाले हैं), किन्तु लिच्छिविकों, वृजिकों, मल्लकों, मद्रकों, कुकुरों, कुरुओं एवं पांचालों के संघ 'राजशब्दोपजीवी' हैं (अर्थात् वे कृषक एवं सैनिक नहीं हैं, प्रत्युत केवल सामन्त या प्रमुख लोग हैं)। वार्ता-शस्त्रोपजीवी लोग कृषि एवं युद्ध दोनों करते थे, अर्थात् थे तो वे कृषक किन्तु समय पड़ने पर अपने राष्ट्र के रक्षार्थ सदैव उद्यत रहते थे। कौटिल्य बिना किसी विकल्प के कपटाचरण द्वारा संघों में कलह उत्पन्न करने की सम्मति सम्राट् को देते हैं। सम्राट् चाहे तो संघों के सदस्यों, नेता या संघ-मुख्य में फूट के बीज बो सकता है। कौटिल्य (८।३) ने लिखा है कि संघों के लोगों में जुआ खेलने का अभ्यास होता है, अतः उनमें कलह किसी भी क्षण उत्पन्न किया जा सकता है तथा संघ का नाश हो सकता है। ईसा से ५००-६०० वर्षों के उपरान्त गण-राज्य कम होते चले गये और क्रमशः उनका अन्त हो गया।

गणराज्यों के विषय में हमें जो जानकारी है वह बौद्ध ग्रन्थों, यूनानी कथाओं (मेगस्थनीज की इण्डिका के स्फुट उद्धरण, जो अन्य यूनानी इतिहासकारों एवं पर्यटकों के ग्रन्थों एवं भ्रमण-वृत्तान्तों में पाये जाते हैं), सिक्कों एवं शिलालेखों पर आधारित है। रुद्रदामन् (१५० ई० वाले जूनागढ़ के अभिलेख) ने सगर्व घोषित किया है कि उसने वीर यौधेयों को परास्त कर दिया। समुद्रगुप्त ने चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध में यौधेयों, मालवों, आर्जुनायनों आदि का नाश किया। गुप्ताभिलेखों (संख्या ५८, पृ० २५१) से पता चलता है कि यौधेयगण ने महाराज-सेनापति को अपना नेता बनाया था। बृहत्संहिता ने कतिपय स्थलों पर (४।२५, ५।४०, ६७, ७५; १४।२५ एवं २८; १६।२१; १७।१९) यौधेयों एवं आर्जुनायनों की ओर संकेत किया है और 'यौधेय-नृप' के बारे में उल्लेख किया है (९।११)। यूनानी लेखकों ने क्षुद्रकों, मालवों, शिबियों, अम्बष्ठों आदि का उल्लेख किया है, जो गण-राज्य थे। बौद्ध ग्रन्थों में लगभग ११ गणराज्यों के नाम उनकी राजधानियों के साथ मिलते हैं, यथा--शाक्य (कपिलवस्तु), मल्ल (कुसीनारा एवं पावा), विदेह (मिथिला), लिच्छिवि (वैसाली) आदि (देखिए डा० जायसवाल कृत हिन्दू पालिटी, भाग १, अध्याय ८, पृ० ६३-७९; राइस डेविड्स कृत बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १९)। राइस डेविड्स ने निष्कर्ष निकाला है--शाक्यों के शासन-सम्बन्धी एवं न्याय-सम्बन्धी कार्य कपिलवस्तु के संथागार में निश्चित होते थे। एक प्रमुख का चुनाव (कैसे और कितने दिनों के लिए, यह नहीं ज्ञात है) होता था, जो बैठकों की अध्यक्षता करता था और राज्य करता था। उसकी उपाधि थी राजा। एक बार गौतम बुद्ध के चचेरे भाई भद्दिय भी राजा बनाये गये थे और उनके पिता शुद्धोदन भी राजा की पदवी से विभूषित थे। राइस डेविड्स (पृ० २६) ने लिखा है कि वज्जियों में आठ माण्डलिक कुल थे, जिनमें लिच्छिवियों एवं विदेहों को अधिक महत्ता प्राप्त थी। डा० जायसवाल का यह सिद्धान्त कि गौतम बुद्ध ने गणराज्यों की शासन-विधि को बौद्ध संघ की व्यवस्था के लिए अपना लिया, भ्रामक है। डा० डी० आर० भण्डारकर की सहमति भी उसी प्रकार निर्मूल है। बात यह है कि ऐसी उक्ति के लिए कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। बुद्ध ने अजातशत्रु से कहा था कि जब तक वज्जि लोग सात शर्तों का पालन करेंगे उनका नाश कठिन है। इस कथन के आधार पर ही यह सिद्धान्त निकाल लेना कि बौद्ध संघ के नियम वज्जि-संघ के नियमों पर आधारित हैं, बिना मूल की परिकल्पना मात्र है। अस्तु; वे सात शर्तें क्या थीं? ये शर्तें महापरिनिब्बाण-सुत्त (अध्याय १) में लिखित हैं--(१) बार-बार जन-

बैठकें बुलाना एवं करना, (२) चित्तैक्य के साथ मिलना एवं चित्तैक्य के साथ जो निर्णय हो उसे कार्यान्वित करना, (३) जो पूर्व प्रतिष्ठापित न हो उस पर नियम न बनाना, तथा जो नियम बन चुका हो, उसे समाप्त न करना तथा पूर्व काल से प्रतिष्ठापित प्राचीन नियमों के अनुसार कार्यशील होना, (४) गुरुजनों का सम्मान एवं श्रद्धा करना तथा उनकी बातें मानना, (५) बलपूर्वक अपनी जाति की स्त्रियों या लड़कियों को न रोकना या बलात्कार न करना या उन्हें न भगा ले जाना, (६) वज्जि लोगों के तीर्थ-स्थानों का सम्मान करना, उनकी रक्षा करना तथा उनकी पूजा-अर्चना-सम्बन्धी क्रियाओं को समाप्त न होने देना तथा (७) उनमें पाये जाने वाले अर्हतों की रक्षा-सुरक्षा की चिन्ता करना।

किन्तु गणराज्य-सम्बन्धी कुछ अति आवश्यक बातों पर हमें कोई प्रकाश नहीं मिलता, यथा—कौन अभिमत (वोट) देने का अधिकारी था? राज्य-सभा की सदस्यता के लिए कौन-कौन-सी अनिवार्य शर्तें थीं? वोट कैसे पड़ता था? सदस्यता की अवधि क्या थी? क्या अध्यक्ष जीवन भर के लिए या कुछ अवधि के लिए चुना जाता था या उसका चुनाव होता ही नहीं था? सभा की शक्तियाँ एवं विधियाँ क्या थीं? (देखिए डा० वेनीप्रसाद कृत 'हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीज़' पृ० १५८)। राइस डेविड्स (बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ४१) ने लिखा है कि जातकों के आधार पर वैसाली में ७७०७ राजा थे। भद्दसाल-जातक (फॉस्बॉल, जिल्द ४, पृ० १४८) में आया है कि वैसाली में गण के राजाओं (प्रमुखों) के कुलों के स्नान के लिए एक तालाब था। महावस्तु में आया है कि लिच्छिवियों में ८४ सहस्र के दुगुने राजा लोग थे। इससे स्पष्ट होता है कि कौटिल्य ने जो "राजशब्दोपजीविनः" लिखा है, वह ठीक ही है। ये राजा शारीरिक कार्य, यथा कृषि, व्यापार आदि नहीं करते थे। धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र की पुस्तकों में सभा के सदस्यों के चुनाव के नियमों के विषय में कोई प्रकाश नहीं मिलता (देखिए डा० डी० आर० भण्डारकर कृत पुस्तक 'सम आस्पेक्टस आव ऐंश्येंट हिन्दू पॉलिटी', १९२९, पृ० १०१-१२१, जहाँ गणराज्यों का संक्षिप्त विवेचन दिया गया है)। दक्षिण भारत के उत्तरमल्लूर नामक अभिलेख से पता चलता है कि गणों की सदस्यता के लिए कुछ भूमि-खण्ड तथा वैदिक अध्ययन की शर्त थी और टिकट पर आवेदकों के नाम लिखे रहते थे। किन्तु ऐसी बातें बहुत कम थीं और थीं भी तो ग्राम-सभाओं के लिए। वास्तव में गणों की चुनाव-व्यवस्था के विषय में हमें अभी कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते।

क्या किसी राजतन्त्र के अन्तर्गत निर्वाचित प्रतिनिधियों की सभाएँ थीं? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस विषय में 'सभा' एवं 'समिति' शब्दों पर विचार करना आवश्यक है। ऋग्वेद (१।९१।२०) में आया है कि सोम ने एक ऐसा पुत्र प्रदान किया जो सादन्य, विदथ्य एवं सभेय है, जिससे प्रकट होता है कि 'सभा' शब्द 'विदथ' शब्द से भिन्न अर्थ रखता है। ऋग्वेद (२।२४।१३) में एक विप्र (पुरोहित या मन्त्र-प्रणेता) को सभेय (सभा में चतुर या प्रसिद्ध) कहा गया है। ऋग्वेद (१०।३४।६) में एक स्थल पर सभा का अर्थ "जुआ का घर" है। वाजसनेयी संहिता (३०।६) में लगता है, सभाचर का अर्थ सभासद है अर्थात् न्याय-सम्बन्धी सभा का सदस्य। दूसरे स्थल (३०।१८) पर प्रतीकात्मक पुरुषमेध में सभास्थाणु आस्कन्द को दे देने का वर्णन आया है। वाज० (१६।२४) में सभाओं एवं सभापतियों (सभाओं के अध्यक्ष) को प्रणाम किया गया है। अथर्ववेद (७।१२।१) में 'सभा' और 'समिति' प्रजापति की दो पुत्रियाँ कही गयी हैं। जिससे यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि ये दोनों समान होती हुई भी एक-दूसरी से कुछ भिन्न हैं। अथर्ववेद में दूसरे स्थल (१५।९।२) पर 'सभा' एवं 'समिति' का उल्लेख पृथक्-पृथक् हुआ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।७।४) में 'सभापाल' शब्द प्रयुक्त हुआ है और सायण ने 'सभा' का अर्थ "द्यूत-भवन" लगाया है। ऋग्वेद (१०।९७।६) एवं वाज० सं० (१२।८०) में ऐसा आया है कि 'विप्र' एक वैद्य (भिषक्) है, जिसमें ओषधियाँ उसी प्रकार एक-साथ आती हैं, जिस प्रकार राजा लोग समिति (बैठक या युद्ध) में जाते हैं। ऋग्वेद में एक स्थल (१०।१९१।३) पर 'समिति' का अर्थ सभा या सभा-स्थल के अतिरिक्त और कुछ

नहीं प्रतीत होता। अथर्ववेद में एक स्थल (५।१९।१५) पर ऐसा आया है--"जो ब्राह्मण को तंग करता है उसे समिति नहीं भाती," अर्थात् वह समिति पर विजय नहीं प्राप्त कर सकता। छान्दोग्योपनिषद् में उल्लेख है कि श्वेतकेतु पञ्चाल देश की समिति में गया, जहाँ राजा प्रवाहण जैवलि ने उससे पाँच प्रश्न पूछे जिनका उत्तर वह दे न सका। इसके उपरान्त वह दूसरे दिन प्रातःकाल सभा में बैठे हुए राजा से मिला। यहाँ पर दो बार प्रयुक्त 'सभा' शब्द एक ही सभा के लिए है। वैदिक काल में सभा या समिति का निर्माण कैसे होता था, यह कहना असम्भव है। हम इतना ही कह सकते हैं कि यह एक ऐसी जन-सभा थी जहाँ राजा, विद्वान् लोग तथा अन्य लोग जाते थे। यह निर्वाचित संस्था थी, ऐसा कहना अत्यन्त सन्देहात्मक है। सम्भवतः यह ऐसे लोगों की अस्थायी सभा थी जो उसमें जाना या उपस्थित रहना पसन्द करते थे। डा० का० प्र० जायसवाल (हिन्दू पॉलिटी, भाग १, पृ० ११) का कहना है कि 'समिति' वैदिक काल में (सभी लोगों की) एक राष्ट्रीय सभा थी और उसमें उपस्थित रहना राजा का कर्तव्य था; उसी प्रकार 'सभा' थोड़े-से चुने हुए लोगों की स्थायी संस्था थी जो समिति के अधिकारों के भीतर ही कार्य करती थी (पृ० १२)। किन्तु ये सब कल्पनात्मक विचार हैं। स्वयं डा० जायसवाल ने माना है कि सभा, वास्तव में, समिति से सम्बन्धित थी, किन्तु इसका वास्तविक सम्बन्ध प्राप्त साधनों के आधार पर नहीं बताया जा सकता।[१८]

पौर एवं जानपद

अब हम 'पौर' एवं 'जानपद' शब्दों की व्याख्या उपस्थित करेंगे। 'पौर' शब्द ऋग्वेद में एक स्थल (५।७४।४) पर तीन प्रकार से प्रयुक्त हुआ है--(१) अश्विनौ के साथ, (२) मुनि पौर (जो आत्रेय थे) के साथ, तथा बादल के साथ (सायण के अनुसार)। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने 'हिन्दू पॉलिटी' (भाग २, पृ० ६०-१०८) में इन दोनों शब्दों को लेकर जो लम्बा आख्यान बना डाला है, वह उनकी विद्वत्ता, परिश्रम एवं युक्तिमत्ता का परिचायक है। उन्होंने 'पौर' एवं 'जानपद' को निर्वाचित संस्थाएँ माना है। हम उनके निष्कर्ष को यों रखते हैं (पृ० १०८)--"यह दो प्रकार की या दोनों मिलकर एक प्रकार की पौर-जानपद संस्था, राजा को पदच्युत कर सकती थी, उत्तराधिकारी घोषित कर सकती थी, . . जिसके अध्यक्ष को मन्त्रि-परिषद् द्वारा निर्णीत नीति बता दी जाती थी। राजा नये कर के लिए मन्त्रि-परिषद् से विनम्र प्रार्थना करता था. . .पौर-जानपद का अध्यक्ष राजा के विरोध में भी नियम बना सकता था. . .। अध्यक्ष राजा के शासन को सम्भव या असम्भव बना सकता था।" डा० जायसवाल का यह सिद्धान्त सत्य से बहुत दूर है। बहुत-से लेखकों ने, यथा--डा० बी० के० सरकार (पोलिटिकल इंस्टिच्यूशंस एण्ड थ्योरीज़ आव दी हिन्दूज़, पृ० ७१) तथा डा० बेनीप्रसाद (दी स्टेट इन इयेण्ट इण्डिया, पृ० ४९८-५००), ने डा० जायसवाल के

१८. डा० जायसवाल जैसे लोगों ने निर्वाचित सभाओं की उपस्थिति को सिद्ध करने का जो प्रयत्न किया है वह इसी लिए कि बहुत काल से बहुत-से विदेशी लेखकों ने यह विचार प्रकट कर रखा था और प्रचारित कर रखा था कि भारत में लोकनीतिक या जनतन्त्रात्मक संस्थाएं स्थापित नहीं की जा सकतीं। वास्तव में, यूरोपीय लेखकों को यह ज्ञात होना चाहिए कि उनके यहाँ भी निर्वाचन आदि की प्रथा अभी कल की है, अर्थात् ७-८ शताब्दी प्राचीन। भारत में वर्तमान स्वतन्त्रता के पूर्व एवं उपरान्त निर्वाचन के उदाहरण जैसे सफल रहे हैं और यहाँ सन् १९४७ से जिस प्रकार जनतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली चल रही है वह विश्व को चकित करने वाली है। काश, वे लेखक यह देखने को जीवित बचे होते, जिन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि भारतवर्ष में निर्वाचन तथा लोकतन्त्रात्मक संस्थाएं नहीं चल सकतीं।

सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। हम यहाँ विस्तार के साथ डा० जायसवाल के सिद्धान्त की जाँच नहीं कर सकते। बहुत थोड़े में कुछ मुख्य बातें दी जा रही हैं।

डा० जायसवाल के सिद्धान्त का स्रोत हाथीगुम्फा का अभिलेख है, जिसका यह अंश विचारणीय है—"राजसूयं संदसयंतो सव-कर-वणं अनुग्रह-अनेकानि सतसहसानि विसजति पोरं जानपदम्।" इसका अर्थ स्वयं डा० जायसवाल ने यों किया है—"सभी दशमांश एवं कर छोड़ता है, पौर एवं जानपद पर सैकड़ों-हजारों अधिकार सौंपता है।" डा० जायसवाल ने इस शब्द का अर्थ कई बार कई ढंग से किया है। डा० बरुआ पोरं जानपदं को एक पद के रूप में लेते हैं। यदि यह एक पद है तो समाहार-द्वन्द्व समास होने के कारण इसका तात्पर्य हुआ "राजधानी के सभी निवासी तथा ग्राम के निवासी।" यदि मान लिया जाय कि यह शब्द वास्तव में 'पोरं जानपदं' है, तो भी प्रश्न जहाँ-का-तहाँ रह जाता है। यदि डा० जायसवाल यह कहते हैं कि पौर-जानपद राजा को पदच्युत कर सकता है, तो यह कहना कि राजा "सभी दशमांश एवं कर छोड़ता है और पौर एवं जानपद पर सैकड़ों-हजारों अधिकार सौंपता है", कैसे युक्तिसंगत माना जायगा ? क्या यह विरोधाभास नहीं है ? एक ओर पौर-जानपद इतने शक्तिशाली हैं और दूसरी ओर वे ही राजा की कृपा के भिखारी हैं। यह कैसे सम्भव है ? डा० जायसवाल ने रामायण तथा अन्य संस्कृत ग्रन्थों से जो-कुछ उद्धृत किया है उससे यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि ये दोनों निर्वाचित संस्थाएँ थीं। वास्तव में, पौर (राजधानी के निवासी-गण) एवं जानपद (राजधानी के अतिरिक्त अन्य ग्रामों के निवासी-गण) के साधारण अर्थ ही पर्याप्त हैं। कौटिल्य (१। १९) ने लिखा है कि राजा दिन के दूसरे भाग में (दिन ८ भागों में विभाजित था) पौर-जानपद के प्रयोजनों पर विचार करते थे। डा० जायसवाल ने यहाँ यह भ्रामक अर्थ लगाया है कि राजा अपने दिन का एक अंश निर्वाचित पौर-जानपद सभा को दिया करते थे। कौटिल्य एवं याज्ञ० (१।३२७) केवल इतना ही कहते हैं कि राजा जनता के व्यवहारों (मुकदमों) को देखते थे। मनु (८।४३), नारद तथा अन्य लेखकों ने व्यवहार के क्षेत्र में 'कार्य' शब्द 'मुकदमा' के अर्थ में प्रयुक्त किया है। याज्ञ० (२।३६) ने लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह चोरी किया हुआ धन जानपद को लौटा दे। डा० जायसवाल ने इसको इस अर्थ में लिया है कि वह चोरी किया हुआ धन साधारण सभा को मिल जाना चाहिए। यहाँ पर याज्ञवल्क्य के सरल शब्दों को जायसवाल महोदय ने तोड़-मोड़कर अपने अर्थ में ले लिया है। यही साधारण बात मनु (८।४०) ने यों कही है—"दातव्यं सर्व-वर्णेभ्यो राज्ञा चोरैर्हृतं धनम्।" सौभाग्य से मनु ने 'जानपद' शब्द का प्रयोग नहीं किया। मेधातिथि ने सीधा अर्थ लगाया है—"यह उसे दे देना चाहिए जिससे यह चुराया गया था।" डा० जायसवाल (हिन्दू पॉलिटी, भाग २, पृ० ७९) अर्थशास्त्र (२।१४) के एक शब्द से यह अर्थ लगाते हैं कि पौर-जानपद ने सिक्के ढालने वाले अधिकारी द्वारा सोने के सिक्के ढलवाये। किन्तु सीधा अर्थ यह है कि सिक्का बनाने वाला सभी लोगों के लिए, जब कि वे उसके पास सोना-चाँदी लेकर आते थे, उचित (निर्धारित) माप के सोने एवं चाँदी के सिक्के बना देता था। राजनीति के सभी ग्रन्थों में राज्य के सात अंग कहे गये हैं, किन्तु कहीं भी पौर-जानपद को राज्य के तत्त्वों में सम्मिलित नहीं किया गया है। यदि ऐसा हुआ होता तो जायसवाल महोदय को अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए अखिल भारतीय वाङमय की छानबीन न करनी पड़ती। इतना ही नहीं, धर्मशास्त्रीय एवं अर्थशास्त्रीय ग्रन्थों में कहीं भी निर्वाचन, निर्वाचन-विधि, सदस्यता की शर्त, सदस्यता अवधि आदि पर विचार नहीं किया गया है और न कहीं संकेत ही मिलता है। जब अपरार्क (याज्ञ० २।१, पृ० ६००) जैसे मध्यकाल के लेखक बृहस्पति को उद्धृत कर चार प्रकार की सभाओं का उल्लेख करते हैं, तो वे केवल न्याय-सभा-सम्बन्धी बहु प्रकार की सभाओं की ही चर्चा करके रह जाते हैं।

यदि जन-साधारण द्वारा निर्वाचित सभाएँ नहीं थीं तो यह पूछा जा सकता है कि क्या राजा की शक्ति अपरिमित थी ? क्या राजा निरंकुश था या राजा पर किसी प्रकार का नियन्त्रण था ? जिसके फलस्वरूप वह सब कुछ या मनमानी

नहीं कर सकता था। उत्तर यह है कि राजा पर नियन्त्रण था और राजा की सीमाएँ भी थीं। यह नियन्त्रण तथा सीमाएँ कई प्रकार की थीं। कात्यायन (१०) का कहना है कि जो राजा बिना सोचे-समझे क्रोध करता है वह आधे कल्प तक रौरव नरक भोगता है। हमारे लेखकों ने राजा पर धर्म का इतना दवाब रख छोड़ा है कि उसका राजा पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव हठात् पड़ता ही था। दण्ड को दैवी शक्ति प्राप्त थी, अतः वह बुरे राजाओं पर स्वयं घहरा सकता था, इसी से अनवस्थित राजा अपने को बन्धनों के बीच ही रखते थे (मनु ७।१९, २७, २८, ३०; याज्ञ० १।३५४-३५६)। लेखकों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि राजा मनमानी नहीं कर सकता, उसे शास्त्रानुकूल कार्य करके अपने पद की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि राज्य एक पवित्र धरोहर है। इन विचारों ने एक जनमत प्रस्तुत कर रखा था और राजा उससे विमुख नहीं रह सकता था, अर्थात् राजा वास्तविकता की पहचान रखता था। मर्यादा-पुरुषोत्तम राम यह जानते थे कि सीता पवित्र हैं, किन्तु उन्होंने लोकापवाद की रक्षा कर सीता को निर्वासित कर दिया, क्योंकि साधारण जनता यह समझती थी कि सीता रावण के बन्दीगृह में रह चुकी थीं (देखिए रामायण, ७।४५)। राजा को मन्त्रियों की सम्मति लेनी पड़ती थी। इन सब बातों के अतिरिक्त पुरोहित तथा अन्य विद्वान् ब्राह्मण थे जो सदा धर्म की बातें समझाते रहते थे, जिनकी बातों का मानना राजा के लिए परमावश्यक था, अन्यथा वे उसका नाश कर सकते थे, क्योंकि धर्म एवं जाति के अनुसार वे राजा की अपेक्षा अधिक पूत एवं उच्च माने जाते थे (वसिष्ठ १।३९-४१, गौतम ११।१२-१४, मनु ९।३२०)। और देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय ३।

यह एक गहरा विश्वास था कि शास्त्रों (श्रौत एवं स्मार्त धर्म) के नियम दैवी हैं और राजा से बहुत ऊपर हैं। धर्म-पालन सभी के लिए सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व रखता था और राजा इससे अपने को बरी नहीं कर सकता था। धर्म से बढ़कर कुछ नहीं है (बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।११-१४)। धर्म के बल पर एक निर्बल व्यक्ति भी सबल पर अधिकार कर सकता है। जो धर्म है वही सत्य है। धर्म एवं सत्य एक ही हैं।[19] कामन्दक (१।१४) ने कहा है कि यवन राजा ने भूतल पर बहुत दिनों तक शासन किया, क्योंकि उसने धर्म की आज्ञाओं के अनुसार राज्य चलाया। न्याय-शासन में राजा को निर्भीक न्यायाधीश एवं सभ्यों के नियन्त्रण के अनुसार चलना पड़ता था (इस पर हम व्यवहार के अध्याय में पुनः विचार करेंगे)। न्यायाधीश एवं सभ्य लोग निर्भीक होकर राजा की त्रुटियाँ बताते थे। इन सब बातों के अतिरिक्त श्रेणियाँ, निगम आदि शक्तिशाली समुदाय थे जो एक प्रकार से स्व-शासन रखते थे। मनु (८।३३६ एवं याज्ञ० २।३०७) ने तो यहाँ तक व्यवस्था दी है कि जब राजा अवैधानिक रूप से कुछ बलपूर्वक ग्रहण कर लेता है या दण्ड देता है, तो उसे भी दण्ड मिलना चाहिए और उसे पापियों से प्राप्त दण्ड-स्वरूप धन को ब्राह्मणों में बाँट देना चाहिए (मनु ९।२४३-२४४)। अन्त में, हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जनता या प्रजा बुरे या अयोग्य राजा को त्याग सकती थी, या उसे मार डाल सकती थी (मनु ७।२७।२८, अर्थशास्त्र १।४)।[20] कौटिल्य (८।३) ने लिखा है कि अनुशासनाभाव या अविनीतता के कारण राजा पर विपत्तियाँ घहरा सकती हैं; "क्रोध के वश में रहने वाले राजा प्रजा

१९. स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्ति। अथो अबलीयान्बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञा। एवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद् ध्येवैतदुभयं भवति। बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१४।

२०. दुष्प्रणीतः (दण्डः) कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वानप्रस्थपरिव्राजकानपि कोपयति किमङ्ग पुनर्गृहस्थान्। अर्थशास्त्र १।४।

(या मन्त्रियों) द्वारा मार डाले गये हैं।"[२१] हम कह सकते हैं कि जहाँ तक सिद्धान्त एवं सामान्य जनता का प्रश्न है, राजा की शक्ति अपरिमित थी और वह सर्वेसर्वा था, जैसा कि मनु (९।९-१२) एवं पराशर ने स्पष्ट कहा है—"राजा ब्रह्मा है, शिव है और विष्णु एवं इन्द्र है, क्योंकि वह प्रजा के कर्मों के अनुसार दाता, नाशक एवं नियामक है। किन्तु, जैसा कि हम अभी देख चुके हैं, राजा पर कुछ ऐसे नियन्त्रण थे जिनके फलस्वरूप वह मनमानी नहीं कर सकता था। किन्तु इन नियन्त्रणों को हम आधुनिक भाषा में वैधानिक नियन्त्रण नहीं कह सकते। नारद का कहना है कि प्रजा आश्रित है, राजा अनियन्त्रित है, किन्तु वह शास्त्रों के विरोध में नहीं जा सकता (देखिए गौतम ९।२ की टीका में हरदत्त)।

आधुनिक काल में राजा के तीन प्रधान कार्य हैं; राजनियम-प्रबन्ध अथवा कार्यकारिणी-सम्बन्धी, न्याय-सम्बन्धी एवं विधान-निर्माण-सम्बन्धी। प्राचीन भारतीय राजा के न्याय-सम्बन्धी कार्यों का विवेचन हम एक अन्य अध्याय में करेंगे। प्राचीन काल में राजा का विधान-सम्बन्धी कार्य बहुत सीमित था, क्योंकि उन दिनों हमारा समाज ही ऐसा था। आधुनिक काल में हम सभी वस्तुओं के पीछे कानून की मुहर लगा देना चाहते हैं। प्राचीन काल में ऐसी बात नहीं थी। मनु (७।१३) का कहना है कि राजा में सभी देवताओं की दीप्ति विद्यमान रहती है, अतः सम्यक् आचरणों एवं अनुचित आचरणों के विषय में वह जो कुछ नियम बनाता है उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। मनु के इस कथन की टीका में मेधातिथि ने कुछ राजनियमों के ऐसे उदाहरण दिये हैं, यथा—"आज राजधानी में सभी को उत्सव मनाना चाहिए; मन्त्री के घर के वैवाहिक कार्य में आज सभी को जाना चाहिए; कसाइयों द्वारा आज के दिन पशु-हनन नहीं होना चाहिए; आज पक्षियों को नहीं पकड़ना चाहिए; इन दिनों महाजनों को चाहिए कि वे कर्जदारों को न सतायें; बुरे आचरण वाले मनुष्यों का साथ नहीं करना चाहिए; ऐसे लोगों को घर में नहीं आने देना चाहिए।" मेधातिथि का कहना है कि राजा को शास्त्रीय नियमों का विरोध नहीं करना चाहिए, अर्थात् उसे वर्णाश्रम धर्म के विरोध में नहीं जाना चाहिए, यथा—अग्निहोत्र आदि का विरोध नहीं करना चाहिए।[२२] मेधातिथि की यह टीका राजनीतिप्रकाश (पृ० २३-२४) में ज्यों-की-त्यों पायी जाती है। कौटिल्य (२।१०) ने शासनों के प्रणयन के विषय में एक प्रकरण ही लिख डाला है। शुक्रनीतिसार (१।३१२-३१३) ने लिखा है कि राजा के शासन (फरमान या घोषणाएँ) डुग्गी पिटवाकर घोषित कर देने चाहिए, उन्हें चौराहे पर लिखकर रख देना चाहिए। राजा को घोषित कर देना चाहिए कि उसकी आज्ञा के उल्लंघन से कड़ा दण्ड मिलेगा। शुक्र० (१।२९२-३११) ने इस विषय में निम्न उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—"चौकीदारों को चाहिए कि वे प्रति डेढ़ घण्टे पर सड़कों पर घूम-घूमकर चोरों एवं लंपटों को रोकें; लोगों को चाहिए कि वे दासों, नौकरों, पत्नी, पुत्र या शिष्य को न तो गाली दें और न पीटें; नाप-तोल के बटखरों, सिक्कों, धातुओं, घृत, मधु, दूध, मांस, आटा आदि के विषय में कपटाचरण नहीं होना चाहिए; राज-कर्मचारियों द्वारा घूस नहीं ली जानी चाहिए और न उन्हें घूस देनी चाहिए; बलपूर्वक कोई लेख-प्रमाण नहीं लेना चाहिए; दुष्ट चरित्रों, चोरों, छिछोरों, राजद्रोहियों एवं शत्रुओं को शरण नहीं देनी चाहिए; माता-पिता, सम्मानार्ह लोगों, विद्वानों, अच्छे चरित्र वालों का असम्मान नहीं होना चाहिए और न उनकी खिल्ली उड़ायी जानी चाहिए; पति-पत्नी, स्वामी-भृत्य, भाई-भाई, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र में कलह के बीज नहीं बोने चाहिए; कूपों, उपवनों, चहारदीवारियों, धर्मशालाओं, मन्दिरों, सड़कों तथा लूले-लँगड़ों के मार्ग में बाधा या

२१. अविनीतो हि व्यसनदोषान् न पश्यति। तानुपदेक्ष्यामः। कोपजस्त्रिवर्गः कामजश्चतुर्वर्गः, तयोः कोपो गरीयान् सर्वत्र हि कोपश्चरति। प्रायशश्च कोपवशा राजानः प्रकृतिकोपैर्हताः श्रूयन्ते। अर्थशास्त्र ८।३।

२२. न त्वग्निहोत्रव्यवस्थायै वर्णाश्रमिणां राजा प्रभवति स्मृत्यन्तरविरोधप्रसङ्गात्, अविरोधे चास्मिन् विषये वचनस्यार्थवत्त्वात्। मेधातिथि (मनु ७।१३)।

नियन्त्रण नहीं खड़ा करना चाहिए; बिना राजाज्ञा के जुआ, आसव-विक्रय, मृगया, अस्त्र-वहन, क्रय-विक्रय, (हाथी, घोड़ा, भैंस, दासी, अचल सम्पत्ति, सोना, चाँदी, रत्न, आसव, विष, औषध), वैद्यक कार्य आदि-आदि न करने चाहिए।" मेधातिथि (मनु ८।३९९) का कहना है कि अकाल के समय राजा भोजन-सामग्री का निर्यात रोक सकता है। शुक्रनीतिसार में जो बातें पायी जाती हैं वे शताब्दियों पूर्व से ही लागू थीं। अशोक ने यह सब बहुत पहले ही अपने शासनों द्वारा, जो शिला-स्तम्भों पर लिखित पाये जाते हैं, व्यक्त कर दिया था। स्मृतियों में आजकल की भाँति नियम निर्माण-विधि नहीं पायी जाती। गौतम (९।१९-२५) ने लिखा है कि राजा को निम्नलिखित ग्रन्थों के आधार पर नियम बनाने चाहिए; (१) वेद, धर्मशास्त्र, वेदांग (यथा व्याकरण, छन्द आदि), उपवेद, पुराण; (२) देश, जाति एवं कुलों की रीतियाँ; (३) कृषकों, व्यापारियों, महाजनों (ऋण देने वालों), शिल्पकारों आदि की रूढ़ियाँ; (४) तर्क एवं (५) तीनों वेदों के पण्डित लोगों की सभा द्वारा निर्णीत सम्मतियाँ।[23] रूढ़ियों, परम्पराओं, रीतियों के प्रमाण के विषय में हम आगे पढ़ेंगे। कारणों के निर्णय में चार तत्त्वों पर विचार होता था; धर्म, व्यवहार, चरित एवं राजशासन, जिनके विषय में भी हम आगे ही विवेचन उपस्थित करेंगे। स्पष्ट है कि सर्वप्रथम राजशासन या राजा के आदेश ही न्याय-कार्य में लागू होते थे, जो कालान्तर में नियमों के रूप में बँध गये। देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय २८, जहाँ धार्मिक बातों में परिषद् की सहायता की चर्चा है। याज्ञ० (१।९) एवं शंख ने भी परिषद् (विद्वानों की सभा) को धर्म की बातों में प्रमाण माना है।

राज-नियम-प्रबन्ध-सम्बन्धी बातों के बारे में हम आगे के अध्याय में सविस्तर पढ़ेंगे।

राजा के कार्यों को हम धार्मिक एवं लौकिक (धर्म-निरपेक्ष) दोनों रूपों में देख सकते हैं। प्रथम रूप में राजा देवताओं एवं अदृश्य शक्तियों को प्रसन्न रखने एवं भयों से दूर रहने के लिए पुरोहित एवं यज्ञिय पुरोहितों (गौतम ११।१५-१७, याज्ञ० १।३०८) की सहायता से कार्यशील होता था और उसे धर्म की रक्षा करनी पड़ती थी। उसके धर्म-निरपेक्ष या लौकिक या व्यावहारिक कार्य थे सम्पत्ति बढ़ाना, अकाल एवं अन्य प्रकार की विपत्तियों के समय में प्रजा की रक्षा करना, न्याय की दृष्टि में सबको समान जानना, चोरों, आक्रामकों आदि से जन एवं धन की रक्षा करना।

महाभारत में ऐसे उदाहरण हैं, जिनसे पता चलता है कि बहुत-से राजाओं ने अपने पुत्रों को उत्तराधिकार सौंप कर मुनि के समान वन का मार्ग अपनाया था। वनपर्व (२०२।८) में आया है कि बृहदश्व ने अपने पुत्र कुवलयाश्व को राजा बनाया। और देखिए वायु० (८८।३२)। धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर से कहा है कि उनके कुल में वृद्धावस्था में पुत्रों को शासन सौंपकर वन में चले जाने की परम्परा-सी रही है (आश्रमवासिक पर्व ३।३८)। व्यास ने कहा है कि सभी राजर्षियों ने ऐसा किया है (आश्रमवासिक ४।५)। आश्रमवासिक पर्व (२०) में बहुत-से ऐसे राजाओं के नाम आये हैं। और देखिए शान्तिपर्व (२१।२५)। अयोध्याकाण्ड (२३।२६, ९४।१९) में भी इस परम्परा का संकेत मिलता है। और देखिए कालिदास की उक्तियाँ (रघुवंश १।८, १८; ७, ९, २६; ८।११-२३)। जैन परम्पराओं से पता चलता है कि अन्तिम श्रुतकेवली जैन साधु (मुनि) भद्रबाहु ने, जिसे चन्द्रगुप्त मौर्य भी कहा जाता है, अपने पुत्र को राज्य सौंपकर श्रवण बेलगोड़ा का मार्ग पकड़ा था (इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द २१, पृ० १५६)। दिव्यावदान (२९, पृ० ४३१) में आया है कि अशोक महान् अन्तिम अवस्था में शक्ति एवं समृद्धि से रहित हो गया था। डा० फ्लीट का अनुमान है

२३. तस्य च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गान्युपवेदाः पुराणम्। देशजातिकुलधर्माश्चाम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम्। कर्षकवणिक्पशुपालकुसीदिकारवः स्वे स्वे वर्गे।...न्यायाधिगमे तर्कोऽभ्युपायः।...विप्रतिपत्तौ त्रैविद्यवृद्धेभ्यः प्रत्यवहृत्य निष्ठां गमयेत् तथा ह्यस्य निःश्रेयसं भवति। गौ० ९।१९-२५।

कि सम्भवतः उसने प्राचीन परम्परा का अनुसरण किया था और वृद्धावस्था में राज्य त्याग दिया था। बाघेल कुल के राजा लवणप्रसाद ने अपने पुत्र वीरधवल (१२३३-३८ ई०) के पक्ष में राजसिंहासन छोड़ा था (बम्बई गजेटियर, जिल्द १, भाग १, पृ० १९८, २००, २०६)।

कौटिल्य (८।२) ने एक विलक्षण राजत्व की ओर संकेत किया है, जिसे "द्वैराज्य" (दो का राज्य) कहते हैं। उन्होंने "द्वैराज्य" एवं "वैराज्य" में अन्तर बताया है। अर्थशास्त्र की हस्तलिखित प्रतियों में कहीं कुछ लिखा है, कहीं कुछ, किन्तु पाद-टिप्पणी में डा० शाम शास्त्री ने जो दिया है वह ठीक ज्ञात होता है। "द्वैराज्य" एवं "वैराज्य" (विदेशी राज्य) में प्रथम राज्य पारस्परिक कलह एवं विरोध के कारण नाश को प्राप्त होता है; दूसरा जब प्रजा के मन को जीत रखता है, जैसा कि आचार्यों का कथन है, तो चलता रहता है। किन्तु कौटिल्य का कथन है कि नहीं, द्वैराज्य सामान्यतः पिता एवं पुत्र या भाई-भाई के बीच पाया जाता है; दोनों का कल्याण एक ही है अतः अमात्यों के प्रभाव से (दोनों का एक साथ शासन) चल सकता है; किन्तु वैराज्य तो वह राज्य है जिसे कोई बाहरी राजा जीत कर हथिया लेता है, बाहरी राजा सदैव यह सोचता रहेगा कि यह राज्य, वास्तव में, उसका नहीं है, अतः वह इसे निर्धन बना देगा, इसके धन को लूट कर ले जायगा, इसे क्रय की वस्तु समझेगा और जब यह समझेगा कि देश उससे विरक्त है तो उसे छोड़कर चला जायगा। कौटिल्य के इस कथन में विदेशी राजा की मनोवृत्ति पायी जाती है। मनु (४।१६०) ने बहुत ही सरल एवं संक्षिप्त ढंग से कहा है कि किस प्रकार स्वतन्त्रता में व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय सुख छिपा रहता है। कालिदास के मालविकाग्निमित्र (५) में भी द्वैराज्य का वर्णन मिलता है; अग्निमित्र के राज्य करते समय उसके दो पुत्रों, यज्ञसेन एवं माधवसेन को वरदा नदी के उत्तर एवं दक्षिण में सम्मिलित राजा बनाने की अभिकांक्षा की जा रही है। महाभारत (उद्योग० १६६) में विन्द एवं अनुविन्द के द्वैराज्य का वर्णन मिलता है। मैक्रिण्डल (इनवेज़न आव इण्डिया बाई अलेक्ज़ैण्डर, पृ० २९६) ने डायोडोरस को उद्धृत कर बताया है कि अलेक्ज़ैण्डर नदी में ऊपर की ओर आता हुआ तौल (पटल) के पास पहुँचा, जो एक अति प्रसिद्ध नगरी थी, जहाँ का शासन स्पार्टा के समान था, क्योंकि इसमें शासन-सूत्र दो विभिन्न कुलों के वंश-परम्परागत राजाओं के हाथ में था, और गुरुजनों की परिषद् के हाथ में सब अधिकार अवस्थित था। विशेष जानकारी के लिए पढ़िए डा० जायसवाल की पुस्तक 'हिन्दू पॉलिटी' (भाग १, पृ० ९६-९७) एवं डा० डी० आर० भण्डारकर की पुस्तक 'ऐंश्येण्ट इण्डियन पॉलिटी' (पृ० ९९-१००), जहाँ बौद्ध तथा अन्य सामग्रियों के आधार पर द्वैराज्य के विषय में विस्तार से विवेचन उपस्थित किया गया है।

अध्याय ४

मन्त्रि-गण (२)

अमात्य––राज्य के सात अंगों में दूसरा है अमात्य, जिसे हम सचिव या मन्त्री भी कह सकते हैं। अमात्य, सचिव एवं मन्त्री में कभी-कभी कुछ अन्तर भी परिलक्षित होता है। इन तीनों में 'अमात्य' शब्द अत्यन्त पुराना है। ऋग्वेद (४।४।१) में इस शब्द का बीज या आरम्भिक रूप पाया जाता है; "हे अग्नि, मन्त्रियों (अमावान्) के साथ हाथी पर चढ़े हुए राजा के समान जाओ।"[1] 'अमात्य' शब्द भी ऋग्वेद (७।१५।३) में आया है, किन्तु वहाँ यह विशेषण है, जिसका अर्थ है 'स्वयं हमारा' या 'हमारे घर में रहने वाला'। कुछ सूत्रों (यथा––बौधायनपितृमेधसूत्र १।४।१३, १।१२।७) में 'अमात्य' शब्द 'घर में पुरुष सम्बन्धियों के पास' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१०।२५।१०) में 'अमात्य' शब्द 'मन्त्री' के अर्थ में अर्थात् अपने वास्तविक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; "राजा को अपने गुरुओं (गुरुजनों या बुजुर्गों) एवं अमात्यों से बढ़कर सुखपूर्वक नहीं जीना या रहना चाहिए" (गुरून्नमात्यांश्चैव नातिजीवेत्)। ऐतरेय ब्राह्मण में 'सचिव' शब्द आया है, जहाँ ऐसा लिखा है कि इन्द्र ने मरुतों को अपने सचिवों (सहायकों या साथियों) के रूप में माना। बहुत-से लेखकों ने अमात्यों एवं सचिवों की आवश्यकता सुन्दर शब्दों में दर्शायी है। कौटिल्य (१।७, अन्तिम पाद) का कहना है––"राजत्व-पद सहायकों की मदद से ही सम्भव है, केवल एक पहिया कार्यशील नहीं होता; अतः राजा को चाहिए कि वह मन्त्रियों की नियुक्ति करे और उनकी सम्मतियाँ सुने।" मनु (७।५५ =शुक्रनीति० २।१) का कहना है––"एक व्यक्ति के लिए सरल कार्य भी अकेले करना कठिन है; तो शासन-कार्य, जो कि कल्याण करना परम लक्ष्य मानता है, बिना सहायकों के कैसे चल सकता है?" मत्स्यपुराण (२१५।२) का कहना है––"राजा को, जब कि राज्याभिषेक के कारण अभी उसका सिर गीला ही है और वह राज्य का पर्यवेक्षण करना चाहता है, चाहिए कि वह सहायक चुन ले, क्योंकि उन्हीं में राज्य का स्थायित्व छिपा रहता है।" और देखिए मनु (७।५५ =मत्स्य० २१५।३), विष्णुधर्मोत्तर (२।२४।२-३), शान्ति० (१०६।११) एवं राजनीतिप्रकाश (पृ० १७४)। अर्थशास्त्र (१।७ एवं ८), मनु (७।५४ एवं ६०), कामन्दक (४।२५, २७, १३।२४ एवं ६४) ने 'सचिव' एवं 'अमात्य' शब्द समानार्थक रूप में प्रयुक्त किये हैं। रुद्रदामन् (ई० १५०) के लेख में 'सचिवों' को दो भागों में विभक्त किया गया है, एक तो वे हैं जो सम्मति देने वाले थे और दूसरे वे जो निर्णीत बात को कार्यान्वित करते थे। इस लेख में 'सचिव' एवं 'अमात्य' एक-दूसरे के पर्याय हैं। अमरकोश (२) में आया है कि 'अमात्य' जो 'धीसचिव' ('मतिसचिव') है, 'मन्त्री' कहलाता है और ऐसे अमात्य जो मन्त्री नहीं हैं 'कर्मसचिव' कहे जाते हैं। इन अन्तरों पर बहुधा ध्यान नहीं दिया जाता। रामायण (१।७।३) में सुमन्त्र को अमात्य एवं सर्वश्रेष्ठ मन्त्री कहा गया है (१।८।४)। अयोध्याकाण्ड (१।२।१७) में 'अमात्य' एवं 'मन्त्री' में अन्तर बताया गया है। कौटिल्य (१।८) ने लिखा है कि 'अमात्यों' एवं 'मन्त्रियों' में अन्तर है। कौटिल्य

१. कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजवामवाँ इभेन। ऋ० ४।४।१; याहि राजा इव अमात्यवान् अभ्यमनवान् स्ववान् वा। निरुक्त ६।१२।

ने मन्त्रियों को अमात्यों की अपेक्षा अधिक उच्च पदाधिकारी माना है। राजनीतिप्रकाश (पृ० १७८) में अमात्यों को मन्त्री भी कहा गया है। कौटिल्य (१।१०) ने अमात्यों की नियुक्ति के लिए धर्म, अर्थ, काम एवं भय के अवसरों में प्रलोभन आदि से परीक्षा लेने की सम्मति दी है, किन्तु मन्त्रियों के लिए सत्यता (ईमानदारी) एवं विश्वासपात्रता की जाँच सभी प्रकार की परीक्षाओं के सम्मिलित रूप में आवश्यक मानी है। इस प्रकार की जाँच-प्रणाली को उपधा कहते हैं। नीतिवाक्यामृत (पृ० १११) ने उपधा की परिभाषा की है। कई प्रकार के उपायों से (गुप्तचरों द्वारा) धर्म, अर्थ, काम एवं भय के अवसरों में मनुष्य का परीक्षण ही उपधा है। कात्यायन (४-५) का कथन है कि राजाओं का मन अधिक शौर्य, ज्ञान, धन, अपरिमित शक्ति के कारण बहुत डाँवाडोल हो जाता है, अतः ब्राह्मणों को चाहिए कि वे राजाओं को उनके कर्तव्यों की ओर सदा सचेत रखें।

मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों की संख्या के विषय में बहुत प्राचीन काल से ही मतभेद रहा है। कौटिल्य (१।१५) एवं कामन्दक (११।६७-६८) का कहना है कि मानव-सम्प्रदाय के अनुसार मन्त्रि-परिषद् में १२ अमात्य होते हैं, बार्हस्पत्यों के अनुसार १६, औशनसों के अनुसार २०। किन्तु कौटिल्य की सम्मति है कि संख्या का निर्धारण यथासामर्थ्य होना चाहिए, अर्थात् जितनी शक्ति हो या जितने की आवश्यकता हो। रामायण (बालकाण्ड ७।२-३) में आया है कि दशरथ के कर्तव्यनिष्ठ एवं विश्वासी ८ मन्त्री थे। मनु (७।५४) एवं मानसोल्लास (२।२।५७) का कहना है कि राजा को वंशपरम्परागत, शास्त्रों में प्रवीण, वीर, उच्च कुलोत्पन्न एवं भली भाँति परीक्षित ७ या ८ व्यक्तियों को चुन लेना चाहिए। शिवाजी मनु की इस सम्मति के अनुसार अपनी मन्त्रि-परिषद् में आठ प्रधान (अष्टप्रधान) रखते थे। देखिए रानाडे कृत 'राइज़ आव दी मरहठा पावर', पृ० १२५-१२६। अष्टप्रधान ये थे--**मुख्य प्रधान** (प्रधान मन्त्री), **पन्त अमात्य** (वित्त-मन्त्री), **पन्त सचिव** (आय-व्यय-निरीक्षक एवं सबसे बड़ा अंकक), **सेनापति**, **मन्त्री** (राजा के व्यक्तिगत कार्यों का प्रभारी), **सुमन्त** (वैदेशिक नीति का मन्त्री), **पण्डितराव** (धार्मिक बातों का प्रभारी) एवं **न्यायाधीश**। सम्भवतः शिवाजी के समर्थकों ने यह सूची शुक्रनीतिसार (२।७१-७२) से ली थी। शान्तिपर्व (८५।७-९) में आया है कि राजा के पास ३७ सचिव होने चाहिए, ४ विद्वान् एवं साहसी ब्राह्मण हों, ८ वीर क्षत्रिय हों, २१ धनी वैश्य हों, ३ शूद्र हों और एक पुराणों में पारंगत सूत हो। किन्तु ११वें श्लोक में आया है कि राजा को नीति-निर्धारण आठ मन्त्रियों के बीच में करना चाहिए। शान्ति० (८३।४७) का कहना है कि मन्त्रियों की संख्या तीन से किसी प्रकार कम नहीं होनी चाहिए। रामायण (२।१००।७१) में आया है कि राम ने भरत से, जब वे वन में राम से मिलने आये थे, पूछा था कि वे ३ या ४ मन्त्रियों से परामर्श करते हैं कि नहीं। राम के पूछने का तात्पर्य यह था कि भरत को न तो केवल अपने से और न अधिक मन्त्रियों से परामर्श करना चाहिए। कौटिल्य (१।१५) ने भी कहा है कि राजा को ३ या ४ मन्त्रियों से सम्मति लेनी चाहिए। नीतिवाक्यामृत (मन्त्रिसमुद्देश, पृ० १२७-१२८) के अनुसार मन्त्रियों की संख्या ३, ५ या ७ होनी चाहिए, यदि अधिक लोग रहेंगे तो मतैक्य मिलना कठिन हो जायगा, अधिक मन्त्रियों के विभिन्न चरित्रों एवं मतियों से पारस्परिक ईर्ष्या एवं कलह की आशंका है, क्योंकि सभी लोग अपने विचारों को प्रमुखता देना चाहेंगे।

उपर्युक्त विवेचनों एवं उल्लेखों से स्पष्ट है कि प्रथमतः ३ या ४ मन्त्रियों की एक लघु परिषद् होती थी, उसके उपरान्त दूसरे ८ या उससे अधिक संख्या वाले मन्त्रियों की एक परिषद्, और तीसरे, बहुत-से अमात्य या सचिव (बहुत-से विभागों से सम्बन्धित उच्च पदाधिकारी-गण) होते थे। मन्त्रि-परिषद् की चर्चा अशोक ने भी की है ('परिसा पि युते आज्ञापयिसति', तीसरा एवं छठा शिला-अभिलेख)। कौटिल्य (१।९), मनु (७।५४), याज्ञ० (१।३१२), कामन्दक (४।२५-३०), शान्ति० (११८।२-३, जहाँ मन्त्रियों के १४ गुणों का वर्णन है), शान्ति० (८०।२५-२८), बालकाण्ड (७।७-१४), अयोध्याकाण्ड (१००।१५), मेधातिथि (मनु ७।५४), अग्निपुराण (२३९।११-१५ = कामन्दक ४।२५ एवं २८-३१), राजनीतिरत्नाकर (पृ० १३-१४), राजनीतिप्रकाश (पृ० १७४-१७८), राजधर्मकौस्तुभ (पृ० २५१-

२५४), बुधभूषण (पृ० ३२५७-५८) ने अमात्यों के गुणों की तालिका दी है। हम यहाँ केवल कौटिल्य की सूची प्रस्तुत करेंगे--मन्त्री देशवासी होना चाहिए, उच्च कुल का होना चाहिए, प्रभावशाली होना चाहिए और होना चाहिए कला-निपुण, दूरदर्शी, समझदार, अच्छी स्मृति वाला, सतत जागरूक, अच्छा वक्ता, निर्भीक, मेधावी, उत्साह एवं प्रताप से परिपूर्ण, धैर्यवान्, (मन-कर्म से) पवित्र, विनयशील, (राजा के प्रति) अटूट श्रद्धावान्, चरित्र, बल, स्वास्थ्य एवं तेजस्विता से परिपूर्ण, हठवादिता एवं चाञ्चल्य से दूर, स्नेहवान्, ईर्ष्या से दूर। कौटिल्य के अनुसार अमात्य तीन प्रकार के होते हैं--उत्तम, मध्यम एवं निम्न श्रेणी वाले; जिनमें प्रथम उपर्युक्त सभी गुणों से सम्पन्न होते हैं और दूसरे तथा तीसरे प्रकार में क्रम से उपर्युक्त गुणों के चौथाई तथा आधे का अभाव पाया जाता है। शान्ति० (८३।३५-४०) में उन दुर्गुणों या दोषों का वर्णन है जिनके रहने से कोई मन्त्री का पद नहीं प्राप्त कर सकता, किन्तु ४१ से ४६ तक के श्लोकों में गुणों का वर्णन है जिनमें एक यह है कि उसे (मन्त्री को) पौरों एवं जानपदों का विश्वास प्राप्त होना चाहिए। बहुत-से ग्रन्थों का कहना है कि मन्त्रियों को वंशपरम्परानुगत होना चाहिए, किन्तु यह बात तभी सम्भव है जब कि पुत्र योग्य हो (मनु ७।५४; याज्ञ० १।३१२; रामायण २।१००।२६ = सभापर्व ५।४३; अग्निपुराण २२०।१६-१७; शुक्र० २।११४)। मत्स्यपुराण (२१५।८३-८४) एवं अग्निपुराण (२२०।१६-१७) का कहना है कि वंशपरम्परानुगत मन्त्रियों को अपने दायादों के मुकदमों को अपने हाथ में नहीं लेना चाहिए। यही बात विष्णुधर्मोत्तर (२।२४।५५-५६) में भी पायी जाती है। वंशपरम्परा से चले आये हुए मन्त्रियों का उल्लेख अभिलेखों (उत्कीर्ण लेखों) में भी मिलता है। देखिए समुद्रगुप्त की प्रयाग-स्तम्भ-प्रशस्ति, जहाँ महादण्डनायक हरिषेण का पिता ध्रुवभूति भी महादण्डनायक था; उदयगिरि गुहा-अभिलेख, जहाँ चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में वीरसेन 'अन्वयप्राप्तसाचिव्य' (जिसने वंशपरम्परा से सचिव-पद प्राप्त किया था) कहा गया है। राजनीतिप्रकाश (पृ० १७६) ने मत्स्यपुराण को उद्धृत करते हुए लिखा है कि यदि भूतपूर्व मन्त्री का पुत्र या पौत्र अयोग्य हो तो वंशपरम्परा का सिद्धान्त वहाँ त्याज्य समझना चाहिए, अयोग्य पुत्रों एवं पौत्रों को उनकी बुद्धि के अनुरूप अन्य राज्य-कार्य सौंपे जा सकते हैं।[2] मध्यकालिक लेखकों में अधिकांश का कथन है कि मन्त्रियों को ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों में से चुनना चाहिए, किन्तु शूद्र को मन्त्री होने का अधिकार नहीं है, भले ही वह सर्वगुणसम्पन्न ही क्यों न हो (शुक्र० २।४२६-४२७, नीतिवाक्यामृत, पृ० १०८)।[3]

मन्त्रि-परिषद् से एकान्त में परामर्श लेना अच्छा समझा जाता था। कौटिल्य (१।१५) ने लिखा है--मन्त्रियों से मन्त्रणा करने के उपरान्त ही शासन-सम्बन्धी कार्य आरम्भ किये जाने चाहिए। मन्त्रणा ऐसे स्थान में की जानी चाहिए जो सर्वथा एकान्त में हो और जहाँ का स्वर बाहर न जा सके, और जिसे पक्षी भी न सुन सकें, क्योंकि ऐसा सुनने में आया है कि तोता, मैना, कुत्ता एवं अन्य पशुओं द्वारा भेद खोल दिया गया है।[4] हर्षचरित (६) में आया है कि नाग वंश के

२. मत्स्यपुराणेपि। गुणहीनानपि तथा विज्ञाय नृपतिः स्वयम्। कर्मस्वेव नियुञ्जीत यथायोग्येषु भागशः।। अत्रायं वाक्यार्थः। यदि मौलाः कुलीना अपि तथा पितृपैतामहपदयोग्यगुणहीनास्तांस्तथाविधगुणहीनानपि विज्ञाय यथायोग्येष्वेव कर्मसु स्वयं भागशः कर्मविभागेन नियुञ्जीत न तु तत्तत्पितृपैतामहपदेषु तत्र तत्र तेषामयोग्यत्वात्। रा० नी० प्र० पृ० १७६।

३. ब्राह्मणक्षत्रियविशामेकतमं स्वदेशजमाचाराभिजनविशुद्धमव्यसनिनमव्यभिचारिणमधीताखिलव्यवहारतन्त्रमस्त्रज्ञमशेषोपाधिविशुद्धं च मन्त्रिणं कुर्वीत। समस्तपक्षपातेषु स्वदेशपक्षपातो महान्। नीतिवाक्यामृत, पृ० १०८।

४. मन्त्रपूर्वाः सर्वारम्भाः। तदुद्देशः संवृतः कथानामनिस्रावी पक्षिभिरनालोक्यः स्यात्। श्रूयते हि शुक-

नागसेन का नाश पद्मावती में इस कारण हुआ कि उसका गुप्त रहस्य एक मैना द्वारा प्रकट कर दिया गया था, श्रुतवर्मा ने अपना राज्य श्रावस्ती में इसलिए खो दिया कि उसका रहस्य एक तोते ने खोल दिया था, राजा सुवर्णचूड़ ने मृत्तिकावती में प्राण इसलिए गँवाये कि वह अपनी नीति के विषय में स्वप्नावस्था में बड़बड़ा उठा था। और देखिए मनु (७।१४७-१५०), याज्ञ० (१।३४४), कामन्दक (११।५३, ६५-६६), अग्निपुराण (२२५।१९), मानसोल्लास (२।९)। कौटिल्य (१।१५) ने स्पष्ट कहा है—"कोई बाहरी मनुष्य राजा की गुप्त नीति न जान सके। केवल वे ही लोग, जिन्हें उसे कार्यान्वित करना है, केवल समय पर उसे जान सकते हैं।" इस विषय में और देखिए मनु (७।१०५ = शान्ति० १४०।२४)।[5] मन्त्रि-परिषद् की बैठकों में राजा अध्यक्ष होता था, किन्तु उसकी अनुपस्थिति में प्रधान मन्त्री ऐसा करता था (मनु ७।१४१)। मालविकाग्निमित्र (५) में आया है कि राजा का द्वैराज्य-सम्बन्धी निर्णय मन्त्रि-परिषद् को भेजा गया और तब अमात्य (यहाँ पर यह प्रधान मन्त्री या मन्त्रि-परिषद् के अध्यक्ष के रूप में है) ने राजा से कहा कि परिषद् ने उसकी बात मान ली और तब कहीं राजा ने मन्त्रि-परिषद् को कहला भेजा कि वह सेनापति वीरसेन को प्रस्ताव कार्यान्वित करने को भेजे। कौटिल्य (१।१५) यह भी कहते हैं कि सभी कार्य मन्त्रियों की उपस्थिति में होने चाहिए, यदि कोई अनुपस्थित रहे तो उसकी सम्मति पत्र लिखकर मँगा लेनी चाहिए। आकस्मिक घटना या किसी बड़े भय के समय राजा को अपनी छोटी मन्त्रि-परिषद् एवं बड़ी मन्त्रि-परिषद् के मन्त्रियों को बुला भेजना चाहिए और जो बहुमत से निर्णय हो उसे ही कार्यान्वित करना चाहिए। शुक्र० (१।३६५) ने भी बहुमत की चर्चा की है। कामन्दक (४।४१-४९) का कहना है कि राजा को त्रुटिमय मार्ग से हटाना मन्त्रियों का कर्तव्य है, और मन्त्रियों की मन्त्रणा को सुनना राजा का कर्तव्य है। (अच्छे एवं कर्तव्यशील) मन्त्रि-गण न केवल मित्र हैं प्रत्युत राजा के गुरु हैं।[6] शुक्र० (२।८२-८३) का कथन है—"जिनको रुष्ट करने से राजा डरता नहीं वैसे मन्त्रियों द्वारा राज्य समृद्धिशाली कैसे हो सकता है? ऐसे लोग अलंकाराभूषणों एवं वस्त्रों से सजायी जाने वाली स्त्रियों से कभी बढ़कर नहीं हैं। ऐसे मन्त्रियों से क्या लाभ, जिनकी सम्मति से राज्य की उन्नति नहीं होती, न जनता, सेना, कोश एवं अच्छे शासन की उन्नति होती और न शत्रुओं का नाश होता है?" सम्भवतः मन्त्रियों के लिए एक ओर राजा को प्रसन्न रखना तथा दूसरी ओर प्रजा को सान्त्वना देना बहुत कष्टसाध्य कार्य था। एक पुरानी कहावत (सुभाषित) है कि जो राजा के कल्याण की चिन्ता करता है उससे प्रजा घृणा करती है और जो प्रजा की चिन्ता करता है वह राजा द्वारा त्याग दिया जाता है, अतः जहाँ यह बड़ी कठिनाई है, वहाँ दोनों को अर्थात् राजा एवं प्रजा को प्रसन्न रखने वाला कठिनता से प्राप्त होता है।[7]

सारिकाभिर्मन्त्रो भिन्नः श्वभिरन्यैश्च तिर्यग्योनिभिः। अर्थशास्त्र १।१५; मिलाइए हर्षचरित (६) 'नागकुलजन्मनः सारिकाश्रावितमन्त्रस्यासीन्नाशो नागसेनस्य पद्मावत्याम्। शुकश्रुतरहस्यस्य च श्रीरशीर्यत श्रुतवर्मणः श्रावस्त्याम्।'

५. नास्य छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेषु परमन्वियात्। गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः॥ शान्ति० ८३।४९ एवं शान्ति० १४०।२४। कौटिल्य ने यों लिखा है—'नास्य गुह्यं परे विद्युश्छिद्रं विद्यात्परस्य च।... यत्स्याद्विवृतमात्मनः॥'

६. सज्जमानमकार्येषु निरुन्ध्युर्मन्त्रिणो नृपम्। गुरूणामिव चैतेषां शृणुयाद्वचनं नृपः॥...नृपस्य ते हि सुहृदस्त एव गुरवो मताः। य एनमुत्पथगतं वारयन्त्यनिवारिताः॥ सज्जमानमकार्येषु सुहृदो वारयन्ति ये। सत्यं ते नैव सुहृदो गुरवो गुरवो हि ते॥ कामन्दक ४।४१, ४४-४५।

७. नरपतिहितकर्ता द्वेष्यतां याति लोके जनपदहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः। इति महति विरोधे वर्तमाने समाने नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्ता॥

मनु (७।५८-५९) ने ऐसे विषयों की तालिका दी है जिनके बारे में मन्त्रियों से मन्त्रणा करना आवश्यक है, यथा--शान्ति एवं युद्ध, स्थान (सेना, कोश, राजधानी एवं राष्ट्र या देश), कर के उद्गम, रक्षा (राजा एवं देश की रक्षा), पाये हुए धन को रखना या उसका वितरण। राजा को मन्त्रियों की सम्मति लेना अनिवार्य है, पृथक्-पृथक् रूप में या सम्मिलित रूप में सम्मति लेकर जो लाभप्रद हो वही करना चाहिए। राजा को अन्त में, नीतिविषयक छः साधनों के सम्बन्ध में (जो अति महत्त्वपूर्ण बातें हों, उनके विषय में) किसी विज्ञ ब्राह्मण से (जो मन्त्रियों में सर्वश्रेष्ठ हो) परामर्श करना चाहिए और उस पर विश्वास करना चाहिए एवं नीति की सभी बातों में उसकी सहमति से निर्णय करना चाहिए। याज्ञ० (१।३१२) भी चाहते हैं कि राजा मन्त्रियों से मन्त्रणा लेकर किसी ब्राह्मण (पुरोहित) से सम्मति ले, तब स्वयं कार्य-निर्णय करे। कामन्दक (१३।२३-२४=अग्निपुराण २४१।१६-१८) के अनुसार मन्त्रियों के सोचने के मुख्य विषय ये हैं--मन्त्र, निर्धारित नीति से उत्पन्न फल की प्राप्ति (यथा किसी देश को जीतना और उसकी रक्षा करना), राज्य के कार्य करना, किसी किये जाने वाले कार्य के अच्छे या बुरे प्रभावों के विषय में भविष्यवाणी करना, आय एवं व्यय, शासन (दण्डनीय को दण्ड देना), शत्रुओं को दबाना, अकाल जैसी विपत्तियों के समय उपाय करना, राजा एवं राज्य की रक्षा करना।[8]

याज्ञ० (१।३४३) का कथन है--"राज्य मन्त्र (मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा एवं विचार-विमर्श तथा परामर्श करने के उपरान्त नीति-निर्धारण) पर निर्भर है, अतः राजा को अपनी नीति इस प्रकार गोपनीय रखनी चाहिए कि लोग उसे तब तक न जानें जब तक कार्य के फल स्वयं न प्रकट होने लगें।" कौटिल्य (१०।६) ने मन्त्र का महत्त्व समझाया है; एक छोड़ा गया तीर किसी को मार सकता है या किसी को भी नहीं मार सकता अर्थात् चूक जा सकता है, किन्तु विज्ञ द्वारा निर्णीत कोई योजना उनको भी नष्ट कर सकती है जिनका अभी बीजारोपण मात्र हुआ है।[9] सभापर्व (५।२७) एवं अयोध्याकाण्ड (१००।१६) में एक ही बात पायी जाती है; "मन्त्र विजय का मूल है।"[10] कौटिल्य एवं नीतिवाक्यामृत (पृ० ११४) का कथन है कि मन्त्र से निम्नलिखित कार्य होते हैं--"जो न प्राप्त किया जा सका हो उसका ज्ञान, जो प्राप्त किया जा चुका हो उसको निश्चित बल देना, द्विधा में सन्देह मिटाना, एक ही अंश को देखकर सम्पूर्ण बात की कल्पना कर लेना।"[11] बहुत-से ग्रन्थों, यथा--कौटिल्य (१।१५), कामन्दक (११।५६), अग्निपुराण (२४१।४), पञ्चतन्त्र (१, पृ० ८५), मानसोल्लास (२।९।६९७) में कहा गया है कि मन्त्र के पाँच तत्त्व होते हैं, जिन पर विचार करना चाहिए--कर्म के आरम्भ का उपाय, मनुष्य एवं प्रचुर सम्पत्ति, देशकाल विभाग,

८. मन्त्रो मन्त्रफलावाप्तिः कार्यानुष्ठानमायतिः। आयव्ययौ दण्डनीतिरमित्रप्रतिषेधनम्।। व्यसनस्य प्रतीकारो राजराज्याभिरक्षणम्। इत्यमात्यस्य कर्मेदं हन्ति स व्यसनान्वितः।। कामन्दक (१३।२३-२४=अग्नि० २४१।१६-१८); आयो व्ययः स्वामिरक्षा तन्त्रपोषणं चामात्यानामधिकारः। नीतिवाक्यामृत (अमात्यसमुद्देश) पृ० १८५।

९. एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुः क्षिप्तो धनुष्मता। प्राज्ञेन तु मतिः क्षिप्ता हन्याद् गर्भगतानपि।। अर्थशास्त्र १०।६; उत्तरार्ध यशस्तिलक (३, पृ० ३८६) द्वारा भी उद्धृत है।

१०. मन्त्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघव। अयोध्याकाण्ड १००।१६; विजयो मन्त्रमूलो हि राज्ञां भवति भारत। सभा० ५।२७।

११. अनुपलब्धस्य ज्ञानमुपलब्धस्य निश्चयबलाधानमर्थद्वैधस्य संशयोच्छेदमेकदेशदृष्टस्य शेषोपलब्धिरिति मन्त्रसाध्यमेतत्। तस्माद् बुद्धिवृद्धैः सार्धमासीत मन्त्रम्। अर्थशास्त्र १।१५ एवं नीतिवाक्यामृत, पृ० ११४।

विनिपात-प्रतीकार (बाधाओं को दूर करने के उपाय), कार्यसिद्धि (अर्थात् कार्य हो जाने पर राज्य एवं प्रजा का सुख)।[१२]

विभिन्न कालों में विभिन्न उच्च पदाधिकारी एवं कार्यालय-प्रतिपालक रहे हैं। वैदिक काल में राजसूय के सम्पादन में कुछ ऐसी आहुतियाँ (सामान्यतः १२ आहुतियाँ) होती थीं जो "रत्निनां हवींषि" कही जाती थीं। उनके नामों एवं क्रमों में कालान्तर में कुछ हेर-फेर हो गया है, किन्तु बहुधा वे सभी ग्रन्थों में उसी रूप से पायी जाती हैं। राजा (यजमान) के अतिरिक्त ११ रत्नी लोग ये हैं---सेनापति, पुरोहित, बड़ी रानी, सूत ग्रामणी (मुखिया), क्षत्ता (कंचुकी), संगृहीता (कोषाध्यक्ष), अक्षावाप (लेखाध्यक्ष), भागदुघ (करादाता), गोविकर्तन, दूत, परिवृक्ति (त्यागी हुई रानी) (शतपथ ब्राह्मण ५।३।२)। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।७।३) में इन रत्नियों को राज्य के दाता कहा गया है (एते वै राष्ट्रस्य प्रदातारः)। शतपथ ब्राह्मण (५।३।२।२) की तालिका से स्पष्ट है कि सेनापति एवं गोविकर्तन जैसे रत्नी लोग शूद्र थे। कालान्तर में कुछ पदाधिकारी **तीर्थ** नाम से पुकारे जाने लगे और उनकी संख्या १८ हो गयी (देखिए सभापर्व ५।३८ = अयोध्याकाण्ड १००।३६ एवं शान्ति० ६९।५२)।[१३] कौटिल्य (१।१२) ने अठारह तीर्थों के नाम दिये हैं।[१४] रघुवंश (१७।६८) में कालिदास ने तीर्थ शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त किया है। नीतिवाक्यामृत (पृ० २९) के कथनानुसार वे सहायक जो धर्म एवं राज्य के विषय में सहायता देते हैं, तीर्थ कहलाते हैं। अशोक के शिलालेखों में उच्च पदाधिकारी को **महामात्र** (तेरहवें शिलालेख में **धर्ममहामात्रों** का भी उल्लेख है) तथा अन्य अधिकारियों को **युक्त**, **राजुक** एवं **प्रादेशिक** कहा गया है। युक्त लोग मन्त्रि-परिषद् के नीचे के अधिकारी थे। आगे चलकर लेखकों ने, यथा अयोध्याकाण्ड (१००।३६) की टीका में गोविन्दराज ने तथा यशस्तिलक (१, पृ० ९१) की टीका ने तीर्थों के नामों में अन्तर दिखाये हैं।

१२. कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसम्पत्, देशकालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिरिति पञ्चाङ्गो मन्त्रः। अर्थशास्त्र १।१५; सहाया साधनोपाया विभागो देशकालयोः। विपत्तेश्च प्रतीकारो मन्त्रः पञ्चांग इष्यते।। कामन्दक (१०।५६)। यहां यह ज्ञातव्य है कि कामन्दक ने 'कार्यसिद्धि' नामक अंग छोड़ दिया है, किन्तु 'देशविभाग' एवं 'कालविभाग' को अलग-अलग करके पाँच की संख्या प्रस्तुत कर दी है।

१३. कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च। त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः।। अयोध्या० १००।३६ = सभा० ५।२८ = नीतिप्रकाशिका १।५२।

१४. तान् राजा स्वविषये मन्त्रि-पुरोहित-सेनापति-युवराज-दौवारिकान्तर्वंशिक-प्रशास्तृ-समाहर्तृ-संनिधातृ-प्रदेष्टृ-नायक-पौरव्यावहारिक-कार्मान्तिक-मन्त्रिपरिषदध्यक्ष-दण्डदुर्गान्तपालाटविकेषु श्रद्धेयदेशवेषशिल्पभाषाभिजनापदेशान् भक्तितः सामर्थ्ययोगाच्चापसर्पयेत्।...एवं शत्रौ च मित्रे च मध्यमे चावपेच्चरान्। उदासीने च तेषां च तीर्थेष्वष्टादशस्वपि।। अर्थशास्त्र १।१२। दौवारिक द्वारपाल है अर्थात् राजप्रासाद का द्वाररक्षक; आन्तर्वंशिक को आश्वमेधिक पर्व (२२।२०) एवं शल्य० (२९।७२ एवं ९४) में स्त्र्यध्यक्ष या कलत्राध्यक्ष कहा गया है और इसी को अशोक के शिलालेख (गिरनार या मानसेढ़ा के १२वें शिलालेख) में स्त्र्यध्यक्ष महामात्र कहा गया है; मत्स्यपुराण (२१५।४२) में अन्तःपुराध्यक्ष भी इसी का द्योतक है। प्रशास्ता सम्भवतः न्यायाध्यक्ष है। समाहर्ता स्वायत्त-मन्त्री है। सन्निधाता कोशपाल है। प्रदेष्टा का कार्य अभी अज्ञात है। नायक सम्भवतः नगराध्यक्ष है। पौर-व्यावहारिक प्रमुख न्यायाधीश है जो राजधानी में रहता था। कार्मान्तिक सभी खानों एवं मनुष्य-निर्मित वस्तुओं का अधीक्षक था। दण्डपाल सेना के सभी विभागों का अधिकारी था। दुर्गपाल (राष्ट्रपाल) सभी दुर्गों का अधिकारी था। अन्तपाल सीमा-प्रान्तों का अधिकारी था। आटविक वन एवं वनवासी लोगों का अधीक्षक था। प्रदेष्टृनायक सम्भवतः कई प्रदेष्टाओं का नायक था।

राजतरंगिणी (१।१२०) का कहना है कि प्राचीन काल में केवल सात विभाग (कर्मस्थान) थे किन्तु कालान्तर में वे १८ हो गये, और आगे चलकर इनमें ५ और जोड़ दिये गये (४।१४२-१४३ एवं ५१२), यथा--महाप्रतिहार, महा-सांधिविग्रह, महाश्वशाल, महाभाण्डागार, महासाधनभाग, और इनके पदाधिकारियों को 'अधिगत-पंचमहाशब्द' कहा गया। शुक्रनीतिसार (२।६९-७०-२, ७४-७७, २।२७९, २।८४-८७, ८८-१०५ आदि) ने विशद रूप से उच्च पदाधिकारियों के नाम, उनके वेतन तथा अन्य अधिकारियों के वेतन के विषय में लिखा है, जिसे हम विस्तार-भय से यहाँ छोड़ रहे हैं। शुक्र० (१।३५३-३६१) ने राजा के दरबार का भी वर्णन किया है और दर्शाया है कि कौन-कौन कहाँ-कहाँ बैठते हैं। शुक्र० (१।३७४-३७६) ने राजा के कर्तव्यों के तथा उसके अधिकारीगण-सम्बन्धी कार्यों के विषय में भी विस्तार के साथ लिखा है। एक अधिकारी एक स्थान पर तथा एक ही विभाग में बहुत दिनों तक न रहने पाये, नहीं तो शक्ति-मोह उत्पन्न हो जायगा। राजा को सदा लिखित आज्ञा देनी चाहिए (२।२९०)। इसी प्रकार बहुत-से निर्देश शुक्रनीतिसार में पाये जाते हैं।

अशोक के ये शब्द "पंचसु पंचसु वासेसु नियातु" सम्भवतः उच्च पदाधिकारियों के पंचवार्षिक स्थानान्तरणों की ओर संकेत करते हैं। सिद्धान्त एवं व्यवहार में राजा अपना आदेश मन्त्रियों की सम्मति या उपस्थिति में निकालता था। पूर्वी चालुक्य वंश के राजा राजराज प्रथम के एक दानपत्र से पता चलता है कि उसने मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, दौवारिक एवं प्रधान की उपस्थिति में वह दानपत्र निकाला था।

शुक्रनीतिसार (२।३६२-३७०) ने आदेश निकालने के विषय में यह विधि बतायी है--सर्वप्रथम मन्त्री, प्राड्विवाक (मुख्य न्यायाधीश), पण्डित (धर्माध्यक्ष) एवं दूत अपने विभागों से सम्बन्धित बातें लिखते हैं, जिसे देखकर अमात्य उस पर "साधु लेखनमस्ति" (अच्छा लिखा है) लिख देता है, उस पर सुमन्त "सम्यग् विचारितम्" (ठीक से सोचा-विचारा गया है) लिख देता है, तब प्रधान लिखता है--"सत्यं यथार्थम्" (यह सत्य है, यह कार्य के अनुकूल ही है), फिर प्रतिनिधि लिखता है--"अङ्गीकर्तुं योग्यम्" (स्वीकार करने योग्य है), उस पर युवराज लिखता है--"अङ्गीकर्तव्यम्" (यह स्वीकार कर लिया जाय), तब पुरोहित लिखता है--"लेख्यं स्वाभिमतम्" (मैं इसका अनुमोदन करता हूँ)। सभी लोग ऐसा लिखकर अपनी मुहर लगाते हैं और तब राजा लिखता है--"अङ्गीकृतम्" (स्वीकृत हो गया) और अपनी मुहर लगा देता है।

राजतरंगिणी (५।७३) में आया है कि कभी-कभी नीच कुल के व्यक्ति भी मन्त्रि-पद पर पहुँच जाते हैं। अवन्तिवर्मा का अभियन्ता (इंजीनियर) एक अपवित्र बालक था। इसी प्रकार एक चौकीदार आगे चलकर मुख्य मन्त्री बन गया (७।२०७)।

युवराज--राज्य के कतिपय बड़े अधिकारियों के विषय में कुछ लिख देना आवश्यक है। पहले हम **युवराज** पर लिखते हैं। कौटिल्य ने एक पूरा अध्याय (१।१७) राजकुमार के विषय में सावधानता प्रदर्शित करने के लिए लिख दिया है। हमने राजकुमार की शिक्षा, राज्य-व्यापार से उसके सम्बन्ध, राजकुमारों के साथ व्यवहार, अच्छे या बुरे युवराज के राज्याभिषेक पर पहले ही (गत अध्याय में) लिख दिया है। राजा के शासन-काल में ही छोटा भाई या ज्येष्ठ पुत्र युवराज घोषित हो जाता था (अयोध्या०, अध्याय ३-६, काम० ७।६, शुक्र० २।१४-१६)। राम ने राजा होने के अभिषेक के दिन लक्ष्मण के अस्वीकार करने पर भरत को युवराज बनाया (युद्धकाण्ड १३१।९३)। राज्य के विभिन्न भागों में युवराज तथा राजकुमार राज्यपाल (प्रान्तीय शासक) बनाकर भेजे जाते थे। दिव्यावदान (२६, पृ० ३७) में आया है कि अपने पिता बिन्दुसार द्वारा अशोक तक्षशिला में शासक बनाकर भेजा गया था और स्वयं अशोक ने अपने पुत्र कुणाल को वहाँ पर (अमात्यों के अत्याचार होने से विद्रोह उठ खड़ा होने पर) भेजा था (पृ० ४०७-८)। हाथी-गुम्फा अभिलेख से पता चलता है कि स्वयं खारवेल ९ वर्षों तक युवराज-पद पर अवस्थित था। मालविकाग्निमित्र से

पता चलता है कि जब पुष्यमित्र भारतवर्ष का वास्तविक सम्राट् था तो उसका पुत्र अग्निमित्र विदिशा में शासक था और उसको इतना अधिकार प्राप्त था कि वह बरार के राज्य को यज्ञसेन एवं माधवसेन नामक दो भाइयों में बाँट सकता था। इसे हमने द्वैराज्य के लिए उदाहरण-स्वरूप भी प्रस्तुत किया है (देखिए गत अध्याय)। युवराज का उल्लेख सामान्यतः मन्त्रियों की सूची में नहीं मिलता, किन्तु वह १८ तीर्थों में एक है और शुक्र० (२।३६२-३७०) से पता चलता है कि महत्त्वपूर्ण विषय अन्य मन्त्रियों की भाँति उससे भी स्वीकृत होकर निकलते थे और वह अपनी मुहर प्रयोग में लाता था। शुक्र० (२।१२) का कहना है कि युवराज एवं अमात्य-दल राजा के दो बाहु या आँखें हैं, किन्तु उसने चेतावनी दी है कि मृत्यु के समय को छोड़कर राजा को चाहिए वह उन्हें सम्पूर्ण राज्य-शक्ति कभी भी न दे (५।१७)। मत्स्यपुराण (२२०।७) का कहना है कि राजा को चाहिए कि वह अनुशासित राजकुमार को पहले कम महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपे, तब क्रमशः अति महत्त्वपूर्ण कार्य बाद में सौंपे (बुधभूषण द्वारा पृ० ३३ में उद्धृत)। यदि राजकुमार अविनीत हो तो उसे त्याग नहीं देना चाहिए, नहीं तो वह शत्रुओं से मिल जायगा; उसे एक सुरक्षित स्थान में बन्दी बनाकर रखना चाहिए (कामन्दक ७।६, बुधभूषण पृ० ३३, ३५, श्लोक ७७, ९३)। जहाँ तक वेतन का प्रश्न है, वह उसे मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, रानी एवं राजमाता के समान ही मिलता था (कौटिल्य ५।३)। कुमारामात्य के पद के विषय में (गुप्ताभिलेख, पृ० १०, ५०, एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १०, पृ० ७२; वही, जिल्द ११, पृ० ८३) अभी तक हमें स्पष्ट रूप से कुछ नहीं ज्ञात है। सम्भवतः इसका अर्थ "एक राजकुमार जो अमात्य भी है" नहीं है। हो सकता है इसका अर्थ है कोई अमात्य जो युवराज के साथ लगा हुआ है, जैसा कि 'राजामात्य' (गुप्ताभिलेख, पृ० २१८) शब्द से भी प्रकट होता है। ऐसा लगता है कि प्राचीन काल में प्रान्तीय शासकों का राजकुल से कोई सम्बन्ध नहीं था। रुद्रदामन् के जूनागढ़-अभिलेख से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में सुराष्ट्र का शासक था पुष्यगुप्त नामक एक वैश्य और अशोक के समय में वहाँ का शासक था तुषास्प नामक एक यवन (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृ० ३६)।

पुरोहित--हमने इस ग्रन्थ के भाग २, अध्याय २ में देख लिया है कि पुरोहित का पद ऋग्वेद-काल से चला आया है, वह राजा के आत्मा का अर्ध भाग समझा जाता था। राज्य की समृद्धि के लिए आध्यात्मिक गुरु एवं धर्म-निरपेक्ष राजा का सहयोग अत्यन्त आवश्यक समझा जाता रहा है। गौतम (११।१२-१४) एवं आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।१०।१६) ने पुरोहित के गुणों की तालिका उपस्थित की है। हमारे प्रामाणिक ग्रन्थों से पता चलता है कि पुरोहित केवल याजक या पुजारी नहीं था। ऐतरेय ब्राह्मण (४०।२) ने पुरोहित को "राष्ट्रगोप" (राज्य का रक्षक) कहा है। शुक्रनीति (२।७४) ने भी, यद्यपि यह अर्वाचीन काल का ग्रन्थ है, पुरोहित को वैसा ही कहा है, यथा--'राजराष्ट्रभृत्' (राजा एवं राष्ट्र का सहायक)। ऋग्वेद (३।५३।१२) में आया है कि पुरोहित विश्वामित्र के मन्त्र तथा उनकी आध्यात्मिक शक्ति ने भरतकुल की रक्षा की।[15] विश्वामित्र ने राजा को युद्ध के लिए सन्नद्ध किया और "जहाँ तीर उड़ते हैं, आदि..." (ऋ० ६।७५।१७) का पाठ करते हुए स्वयं राजा के साथ युद्ध में गये (देखिए आश्वलायनगृह्यसूत्र १२।१९७)। विष्णुधर्मसूत्र (३।७०), याज्ञ० (१।३१३), कामन्दक (४।३२) के अनुसार पुरोहित को[16] वेदों, इति-

१५. विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्। ऋ० ३।५३।१२।

१६. वेदेतिहासधर्मशास्त्रार्थकुशलं कुलीनमव्यंगं तपस्विनं पुरोहितं च वरयेत्। विष्णुधर्मसूत्र (३।७०); पुरोहितं प्रकुर्वीत दैवज्ञमुदितोदितम्। दण्डनीत्यां च कुशलमथर्वाङ्गिरसे तथा॥ याज्ञ० १।३१३; पुरोहितमुदितोदित-कुलशीलं षडङ्गे वेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यां चाभिविनीतमापदां दैवमानुषीणामथर्वभिरुपायैश्च प्रतिकर्तारं कुर्वीत। तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्यः स्वामिनमिव चानुवर्तेत।..ब्राह्मणेनैधितं क्षत्रं मन्त्रिमन्त्राभिमन्त्रितम्। जयत्यजितमत्यन्तं

हास, धर्मशास्त्र या दण्डनीति, ज्योतिष एवं भविष्यवाणी-शास्त्र तथा अथर्ववेद में पाये जाने वाले शान्तिक संस्कारों में पारंगत होना चाहिए, उच्च कुल का होना चाहिए और होना चाहिए शास्त्रों में वर्णित विद्याओं एवं शुभ कर्मों में प्रवीण एवं तपःपूत। कौटिल्य (१।९) ने भी अधिकांश में ये ही बातें कही हैं और कहा है कि राजा को उसकी सम्पत्ति का आदर उसी प्रकार करना चाहिए जिस प्रकार शिष्य गुरु की बात का, पुत्र पिता की बात का, नौकर स्वामी की बात का करता है। कौटिल्य ने यह भी कहा है कि ब्राह्मण द्वारा बढ़ायी गयी, मन्त्रियों द्वारा मन्त्रदृढीकृत, शास्त्रविहित नियमों के समान शास्त्रों से सज्जित राज्य-शक्ति दुर्दमनीय एवं विजयी हो जाती है। और देखिए आदिपर्व (१७०। ७४-७५, १७४।१४-१५), शान्ति० (७२।२-१८ एवं अध्याय ७३), राजनीतिप्रकाश (पृ० ५९-६१ एवं १३६-१३७), राजधर्मकौस्तुभ (पृ० २५५-२५७) जहाँ पुरोहित की पात्रता या गुण-विशिष्टता का उल्लेख किया गया है। कौटिल्य (१०।३) का कथन है कि युद्ध चलते समय प्रधान मन्त्री एवं पुरोहित को चाहिए कि वे वेद-मन्त्रों एवं संस्कृत-साहित्य के उद्धरणों द्वारा सैनिकों का उत्साहवर्धन करते रहें और मरने वालों के लिए दूसरे जन्म में अच्छे पुरस्कारों की घोषणा करते रहें। शुक्रनीतिसार (२।७८-८०) का कथन है कि पुरोहित को अन्य गुणों के साथ धनुर्वेद का जानकार, अस्त्र-शस्त्र में निपुण, युद्ध के लिए सेना की टुकड़ियाँ बनाने में दक्ष तथा प्रभावशाली धार्मिक बल वाला (जिससे वह शाप भी दे सके) होना चाहिए। पुरोहित ऋत्विक् नहीं है जो मात्र यज्ञ कराने वाला होता है (देखिए मनु ७।७८ एवं याज्ञ० १।३१४)। पुरोहित के विषय में अन्य ज्ञातव्य बातों के लिए देखिए मानसोल्लास (२।२।६०, पृ० ६४), राजनीति-रत्नाकर (पृ० १६-१७), विष्णुधर्मोत्तर (१।५), अग्नि० (२३९।१६-१७) आदि। कुछ ग्रन्थकारों ने पुरोहित को अमात्यों या मन्त्रियों (विज्ञानेश्वर, याज्ञ० १।३५३, शुक्र० २।६९-७०) में गिना है और कुछ ने उसे मन्त्रियों से भिन्न माना है (याज्ञ० १।३१२)। कौटिल्य के अनुसार उसे अथर्ववेद में उल्लिखित उपायों या साधनों से मानवी एवं दैवी विपत्तियों को दूर करना चाहिए। कौटिल्य (४।३) के अनुसार भयंकर दैवी विपत्तियाँ हैं अग्नि, बाढ़, रोग अकाल, चूहे, जंगली हाथी, सर्प एवं भूत-प्रेत।[17] मनु (७।७८) के अनुसार पुरोहित का कार्य था श्रौत एवं गृह्य सूत्रों से सम्बन्धित धार्मिक कृत्य करना; और आपस्तम्ब (२।५।१०।१४-१७) के अनुसार पुरोहित को अपराध करने वालों के लिए प्रायश्चित्त-व्यवस्था देने का पूर्ण अधिकार था। वसिष्ठ० (१९।४०-४२) का कहना है कि यदि अपराधी छूट जाय तो राजा को एक तथा पुरोहित को तीन दिनों तक उपवास करना पड़ता है। किन्तु यदि राजा निरपराध को दण्ड दे दे तो पुरोहित को कृच्छ्र नामक प्रायश्चित्त करना पड़ता था। अधिकांश लेखकों का यही कहना है कि उसका कार्य अधिकतया धार्मिक ही था। न्याय-शासन की सभा के दस अंगों में उसका उल्लेख नहीं हुआ है। सरस्वतीविलास (पृ० २०) द्वारा उद्धृत कात्यायन के अनुसार पुरोहित को अर्थशास्त्र में पारंगत होना आवश्यक नहीं है, किन्तु मिताक्षरा (याज्ञ० २।२) एवं स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० १४) द्वारा उद्धृत कात्यायन के मत से राजा को न्याय-भवन में विज्ञ ब्राह्मणों, मन्त्रियों, मुख्य न्यायाधीश, पुरोहित आदि के साथ प्रवेश करना चाहिए। याज्ञ० (१।३१२) एवं मिताक्षरा (याज्ञ० १।३१२-३१३) के अनुसार लौकिक (व्यावहारिक) एवं धार्मिक बातों में सब मन्त्रियों से परामर्श ले लेने

शास्त्रानुगमस्त्रितम्॥ कौटिल्य १।९; राजा पुरोहितं कुर्यादुदितं ब्राह्मणं हितम्। कृताध्ययनसंपन्नमलुब्धं सत्यवादिनम्॥ कात्यायन (सरस्वतीविलास पृ० २० मे उद्धृत)।

१७. दैवान्यष्टौ महाभयानि—अग्निरुदकं व्याधिर्दुर्भिक्षं मूषिका व्यालाः सर्पा रक्षांसीति। तेभ्यो जनपदं रक्षेत्। अर्थशास्त्र ४।३; अमानुष्योग्निवर्षमतिवर्षं मरकी (मरको ?) दुर्भिक्षं सस्योपघातो जन्तुसर्गो व्याधिर्भूतपिशाचशाकिनी-सर्पव्यालमूषकाश्चेत्यापदः॥ नीतिवाक्यामृत (पृ० १६०)।

के उपरान्त राजा को सब के अन्त में पुरोहित से सम्मति लेनी चाहिए। नीतिवाक्यामृत (पुरोहितसमुद्देश, पृ० १६०) के अनुसार दैवी आपत्तियाँ ये हैं—अग्निवर्षा (विद्युत्पात ?), अति वृष्टि, महामारी, दुर्भिक्ष, सस्योपघात (अनाजों का रोग), टिड्डी-दल, व्याधि, भूत, पिशाच एवं डाकिनी, सर्प, वनैले हाथी, चूहे। पुरोहित को पाँच प्रकार के कल्प-विधान (शास्त्रोक्त विधि-क्रिया) का ज्ञान होना चाहिए, यथा—नक्षत्रों को प्रसन्न रखने, श्रौत यज्ञों, संहिताओं (तंत्र-पूजा), अथर्वशिरों तथा शान्ति का कल्प।[१८] कामन्दक (१३।२०-२१) के अनुसार आपदाएँ दो हैं; दैवी एवं मानुषी, जिनमें प्रथम के पाँच प्रकार हैं—अग्नि, बाढ़, रोग, दुर्भिक्ष एवं महामारी, जिन्हें मानवीय उद्योगों तथा शमन-क्रियाओं से दूर किया जा सकता है, किन्तु मानुषी आपदाएँ सतत प्रयत्नों एवं सम्यक् नीति-निर्धारण से दूर की जा सकती हैं। ये बातें अग्निपुराण (२४१।१४-१६) में भी ज्यों-की-त्यों पायी जाती हैं।

कौटिल्य (५।३) के अनुसार राजकीय यज्ञ कराने वाले ऋत्विक् (पूजक), आचार्य (गुरु), मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, राजमाता एवं रानियों का ४८,००० पण वेतन होता था। कौटिल्य ने वहीं यह भी कहा है कि इतने बड़े वेतन के भोगी होने के कारण ये लोग (राजा के विरुद्ध) षड्यन्त्र नहीं करेंगे और न प्रलोभन में फँसेंगे। मनु (८।३३५ एवं ९।२३४) के मत से अनुचित मार्ग पर जाने से अमात्यों, न्यायाधीश और यहाँ तक कि पुरोहित को भी दण्डित होना पड़ेगा। कौटिल्य (९।३) का कहना है कि यदि पुरोहित भी अपराध में पकड़ा जाय तो उसे बन्दी बना लेना चाहिए या निर्वासित कर देना चाहिए। बहुत-से बड़े-बड़े मन्त्री (पुरोहित के अतिरिक्त) विद्वान् ब्राह्मण थे और सरल जीवन व्यतीत करते थे, यथा चाणक्य एवं माधव। अर्थशास्त्र में उल्लिखित वेतन के विषय में कई एक मत हैं। डा० जायसवाल (हिन्दू पॉलिटी, भाग २, पृ० १३६) ने लिखा है कि वेतन वार्षिक था और चाँदी के सिक्कों में दिया जाता था। प्रो० दीक्षितार (मौर्यन पालिटी, पृ० १५१) ने लिखा है कि वेतन मासिक था। इस मतभेद का प्रमुख कारण है पण का सोने, चाँदी एवं ताम्र नामक तीनों धातुओं में होना। रावबहादुर के० वी० रंगस्वामी आयंगर का मत है कि अर्थशास्त्र में उल्लिखित वेतन मासिक था और वह भी सोने के पणों में (ऐंश्येण्ट इण्डियन पॉलिटी, पृ० ४४-४५)। अब हम इस विषय की खोज करेंगे।

मनु के समय में ताम्र, चाँदी एवं सोने के सिक्कों का प्रचलन था। मनु (८।१३४ एवं १३६), विष्णुधर्मसूत्र (४।६-१०) एवं याज्ञ० (१।३६३-३६५) के अनुसार ५ कृष्णल बराबर होते हैं एक माष के, १६ माष बराबर होते हैं एक सुवर्ण के, ४ (या कुछ लोगों के मत से ५) सुवर्ण बराबर होते हैं एक पल के, एक कर्ष बराबर होता है पल के चौथाई के, ताम्र का एक टुकड़ा जिसकी तोल पल की चौथाई के बराबर होती है, पण कहलाता है, वही कार्षापण भी है। कार्षापण बराबर होता है ८० रक्तिकाओं या गुञ्जा दाने के। एक पल ३२० रक्तिकाओं के बराबर था। यही बात कौटिल्य ने भी कही है (२।१९)। कौटिल्य (५।३) में वेतन-क्रम ४८,००० पणों से ६० पणों तक है जो क्रम से सर्वोच्च पदाधिकारी से लेकर निम्न कोटि के भृत्यों तक चला गया है। यह वेतन-क्रम सभी के लिए एक ही प्रकार की अवधि तथा

१८. पञ्चकल्पविधानज्ञं वरयेत्तु सुदर्शनम्। नक्षत्रकल्पो वैतानस्तृतीयः संहिताविधिः। चतुर्थः शिरसां कल्पः शान्तिकल्पस्तु पञ्चमः॥ पञ्चकल्पविधानज्ञमाचार्यं प्राप्य भूपतिः। सर्वोत्पातप्रशान्तात्मा भुनक्ति वसुधां चिरम्॥ विष्णुधर्मोत्तर २।५।३-५ (राजनीतिकौस्तुभ, पृ० २५६ में उद्धृत)। 'शिरस्' का अर्थ है अथर्वशिरस् जो एक उपनिषद्-कल्प है जिसका उल्लेख गौतम (१९।१२), वसिष्ठ० (२८।१४), विष्णुधर्मसूत्र (५६।२२) ने उन वैदिक ग्रन्थों में किया है जिनसे व्यक्ति पापों से मुक्त होते हैं। इसका आरम्भ यों होता है—"देवा ह वै स्वर्गं लोकमगमंस्ते देवा रुद्रमपृच्छन् को भवानिति।"

एक ही प्रकार की मुद्रा से सम्बन्धित है, क्योंकि कौटिल्य ने कहीं भी विभिन्न अवधियों एवं धातुओं के विषय में कुछ भी नहीं कहा है। सामान्यतः 'पण' एवं 'कार्षापण' शब्द, जैसा कि मनु (८।१३६), मिताक्षरा (याज्ञ० १।३६५) एवं शुक्र० (४।१।११६) ने कहा है , ताम्र मुद्राओं की ओर ही संकेत करता है। मनु (८।१३५-१३६), विष्णुधर्मसूत्र (६।११-१२), याज्ञ० (१।३६४) द्वारा उपस्थापित एक तालिका यह भी है—२ रक्तिकाएँ या कृष्णल=एक (रजत) माष, १६ माष=एक (रजत) पुराण या धरण; धरण=एक (रजत) शतमान। यह तालिका चाँदी के सिक्कों के लिए है। इस प्रकार एक धरण=पल के $\frac{1}{10}$ भाग के, जैसा कि बृहत्संहिता (१०।१३, पलदशभागो धरणम्) ने लिखा है, बराबर है। नारद (परिशिष्ट ५७) ने स्पष्ट लिखा है कि चाँदी का कार्षापण दक्षिण में प्रचलित था, इससे व्यक्त होता है कि चाँदी का पण या कार्षापण सब स्थानों में नहीं था। एक सुवर्ण ८० गुंजाओं के बराबर तथा एक रजत-पण ३२ गुंजाओं के बराबर होता था। राइस डेविड्स (बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १००) ने लिखा है कि बुद्ध के जन्म के आस-पास वस्तुओं का आदान-प्रदान कहापण (कार्षापण) में होता था जो चौखूँटा (वर्गाकार) चाँदी का सिक्का था और तोल में १४४ ग्रेन के बराबर था, उस पर श्रेणियों एवं निगमों की मोहरें लगी रहती थीं। उस समय कार्षापण सिक्का के आधे एवं चौथाई भाग के भी सिक्के थे।[१९]

उपर्युक्त विवेचन से यह कहा जा सकता है कि जब पण या कार्षापण शब्द बिना किसी विशिष्ट उपाधि के

१९. सुवर्ण, शतमान, निष्क आदि के विषय में दो-एक शब्द लिख देना आवश्यक जान पड़ता है। कृष्णल शब्द तैत्तिरीयसंहिता (२।३।२।१) में आया है। हिरण्यकार (सोनार) वाजसनेयी संहिता (३०।१७) में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में एक स्थल (१।१२६।२) पर एक सौ निष्कों एवं घोड़ों के दान का उल्लेख है और एक स्थल (४।३७।१) पर ऋभुओं को अच्छे निष्क धारण करनेवाले कहा गया है। अथर्ववेद (५।१४।३) में 'निष्क' शब्द आया है। ऐतरेय-ब्राह्मण (३९।८) में "निष्ककण्ठीः" (जिनके कण्ठ निष्क के हारों से अलंकृत हैं) अप्सराओं को अन्य भेंटों के साथ उल्लिखित किया गया है। अतः निष्क सम्भवतः एक सोने का खण्ड था जो मुद्रा के या अलंकार के रूप में प्रयुक्त होता था। आज भी नारियाँ सोने के पत्तरों के सुन्दर-सुन्दर टुकड़ों से कण्ठहार बनवा कर पहनती हैं। ऋग्वेद (२।३३।१०) में रुद्र को 'विश्वरूप-निष्क' पहले व्यक्त किया गया है। सम्भवतः उस पर विभिन्न आकृतियों की मुहरें लगी थीं। एक स्थान (६।४७।२३) पर ऋषि का कथन है कि उसे दिवोदास से दस 'हिरण्यपिण्ड' मिले। ऋग्वेद में एक स्थल (८।७८।२) पर इन्द्र से एक सोने के 'मन' की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की गयी है। सम्भवतः यह 'मन' शब्द 'शतमान' शब्द का अग्रेसर है। तैत्तिरीयसंहिता (६।६।१०।२) में भी यह शब्द आया है। पाणिनि (५।१।२७, २९, ३०) ने क्रम से शतमान (एक शतमान में जो क्रय किया जाता है उसे शातमान कहा जाता है), कार्षापण, निष्क का उल्लेख किया है और दूसरे स्थल (५।१।३४) पर पण, पाद एवं माष की ओर संकेत किया है। पतञ्जलि (महाभाष्य जिल्द ३, पृ० ३६९, पाणिनि ८।१।१२) ने दृष्टान्त दिया है "इस कार्षापण से यहाँ वाले दो व्यक्तियों को एक-एक माष दो।" पाणिनि का ५।२।१२० सूत्र (रूपाद्-आहतप्रशस्तयोर्-यप्) बताता है कि उन्हें यह ज्ञात था कि धातु के खण्ड पीट-पीट कर लम्बे-चौड़े किये जाते थे और उनसे सुन्दर बारी या किनारों वाले अर्थात् सुन्दर दीखने वाले सिक्के बनाये जाते थे। पाणिनि के ५।१।३३ संख्यक सूत्र के "काकिण्याश्चोपसंख्यानम्" वार्तिक से प्रकट होता है कि काकिणी उन दिनों सामान क्रय करने का एक माध्यम थी। काशिका में "रूप्यो दीनारः" एक उदाहरण आता है। निघातिका-ताडनादिना दीनारादिषु रूपं यदुत्पद्यते तदाहतमित्युच्यते। आहतं रूपमस्य रूप्यो दीनारः। रूप्यं कार्षापणम्। काशिका।

प्रयुक्त किये जायँ तो उन्हें ताम्र का ही समझा जाना चाहिए। अतः कौटिल्य द्वारा कहा हुआ वेतन ताम्र-पणों में ही था। इस निष्कर्ष को हम कई बातों से सिद्ध कर सकते हैं। मनु (७।१२६) का कहना है कि निम्नतम श्रेणी के भृत्यों (यथा झाड़ू-बहारू करने वाले या पानी भरने वाले नौकर) को प्रति दिन एक पण, उससे उच्च भृत्य को प्रति दिन ६ पण मिलने चाहिए, किन्तु प्रथम श्रेणी के भृत्यों को प्रति छठे मास एक जोड़ा वस्त्र, प्रति मास एक द्रोण (=१०२४ मुष्टि मिताक्षरा के अनुसार, याज्ञ० ३।२७४) अन्न देना चाहिए। अर्थशास्त्र एवं मनुस्मृति का हम जो भी काल मानें, दोनों के कालों की दूरी एक या दो शताब्दियों से अधिक की नहीं हो सकती। अतः यह कहा जा सकता है कि दोनों के समयों की आर्थिक दशाओं में विशेष अन्तर नहीं पाया जा सकता। ऐसा कहना असम्भव-सा प्रतीत होता है कि निम्नतम श्रेणी के भृत्य को प्रति दिन सोने का एक पण मिलता था और साथ-ही-साथ प्रति दिन ३० मुष्टियाँ (एक मास में १०२४ मुष्टियाँ) अन्न भी। यदि ऐसी बात होती भी तो कौटिल्य के समय में निम्नतम श्रेणी का भृत्य आज के निम्नतम श्रेणी के भृत्यों से सैकड़ों गुना अधिक वेतन पाता। १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में बम्बई ऐसे नगरों के निम्नतम श्रेणी के भृत्यों को बिना अन्न वाली ऊपरी आय के ५) से १०) तक प्रति मास मिलता था। अतः कौटिल्य के पाँचवें अध्याय में पण सोने का नहीं है। कौटिल्य (५।३) का कहना है कि यदि कोश खाली हो गया हो तो राजा अपने कर्मचारियों का वेतन वन में उत्पन्न सामग्री, पशु या भूमि के रूप में थोड़े सिक्कों के साथ दे सकता है। यदि राजा किसी ऊसर भूमि को आबाद कर रहा हो तो उसे वेतन सिक्कों के रूप में देना चाहिए न कि ग्राम-दान के रूप में। इसी सिलसिले में कौटिल्य ने यह भी कहा है कि ६० पणों में अन्न का एक आढक मिलता है। एक आढक=२५६ मुष्टि (मुट्ठी) अन्न है। दुर्भिक्ष में भी एक आढक अन्न का मूल्य चाँदी के ६० पणों के बराबर नहीं हो सकता। सोने के पणों की बात तो निराली ही है। कौटिल्य (५।३) ने घोषित किया है कि एक दूत को एक योजन यात्रा के लिए दस पण तथा इसके आगे १०० योजनों के लिए प्रति योजन पर २० पण मिलने चाहिए। कौटिल्य (२।२०) के अनुसार एक योजन ८,००० धनुओं (अन्य भाषान्तर के आधार पर ४,००० धनुओं) के बराबर होता है, एक धनु चार अरत्नियों के बराबर होता है (एक अरत्नि २४ अंगुल के बराबर होती है)। अतः अधिकतम अंक लेते हुए हम कह सकते हैं कि एक योजन ९ या १० मील के बराबर था (या केवल ४½ या पाँच मील, दूसरे भाषान्तर के अनुसार)। तो, यह कहना कि एक साधारण दूत को दस मील (जिसे वह आधे या इससे भी कम दिन में तय कर सकता है) जाने के लिए १० रजत-पण दिये जाते थे, तो यह पारिश्रमिक बहुत अधिक कहा जायगा। अतः कौटिल्य के कथन में (५।३) जो पण है वह ताम्र-पण ही है। जब यह निर्णय हो जाता है कि कौटिल्य (५।३) का पण ताम्र-पण है तो वेतन मासिक था इसमें कोई सन्देह नहीं है। कौटिल्य के कथनानुसार शिल्पकलाकारों एवं हस्तकलाकारों को १२० पण वेतन मिलता था। यदि यह वेतन वार्षिक होता तो उन्हें १० पण ही प्रति मास मिलता। अतः १२० ताम्र-पण मासिक वेतन था। वेतन भरसक मासिक रूप से ही दिया जाना अच्छा लगता है न कि वार्षिक। शंखलिखित जैसे लेखकों ने सैनिकों के लिए मासिक वेतन की व्यवस्था दी है (राजनीतिप्रकाश, पृ० २५२)। नासिक के १२वें शिलालेख (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृ० ८२) से पता चलता है कि ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में ३५ कार्षापण बराबर होते थे एक सुवर्ण के। अस्तु,

क्रमशः पुरोहित की महत्ता में कमी आ गयी। आगे चलकर वह मन्त्रि-परिषद् से हट गया और उसका स्थान पण्डित ने ग्रहण कर लिया। बंगाल तथा अन्य देशों में उसके कार्यों को धर्माध्यक्ष या धर्माधिकरणिक करने लगे। मत्स्यपुराण (२१५।२४) में धर्माधिकारी के गुणों का वर्णन है। और देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १४, पृ० १५६, बल्लालसेन का नैहाटी दान-पत्र, जिसमें पुरोहित एवं महाधर्माध्यक्ष दोनों के नाम हैं। परन्तु चेदिराज कर्णदेव लेख (एपि० इण्डि० जिल्द २, पृ० ३०९) में महाधर्माधिकरणिक का नाम आया है किन्तु पुरोहित का नहीं। इन बातों के अतिरिक्त एक अन्य अधिकारी ने, जिसका नाम 'सांवत्सर' (ज्योतिषी) था, पुरोहित के कुछ विभागों पर

छापा मार दिया। विष्णुधर्मसूत्र (३।७५) में आया है--"राजा च सर्वकार्येषु सांवत्सराधीनः" अर्थात् सभी कार्यों में राजा 'सांवत्सर' पर निर्भर रहता है। बृहत्संहिता (२।९) में आया है कि बिना सांवत्सर के राजा अन्धे के समान मार्ग में त्रुटियाँ करता है। यही बात अपने ढंग से कामन्दक (४।३३) तथा विष्णुधर्मोत्तर (२।४।५-१६) ने भी कही है। कौटिल्य (९।४) ज्योतिष पर अधिक निर्भरता के विरुद्ध है।[२०] किन्तु याज्ञ० (१।३०७) का कहना है कि राजा का उत्थान एवं पतन नक्षत्रों के प्रभावों पर निर्भर रहता है।

सेनापति--बहुत-से ग्रन्थों में सेनापति के गुणों का वर्णन किया गया है, यथा--कौटिल्य (२।३३), अयोध्या० (१००।३०=सभा० ५।४६), शान्ति० (८५।३१-३२), मत्स्य० (२१५।८-१०), अग्नि० (२२०।१), काम० (२८।२७-४४), विष्णुधर्मोत्तर (२।२४।४-६), मानसोल्लास (२।२)। सेनापति को ब्राह्मण या क्षत्रिय होना चाहिए (अग्नि० २२०।१, मत्स्य० २१५।१०)। शुक्र० (२।४२९-४३०) ने क्षत्रिय को उत्तम ठहराया है, किन्तु यदि वीर क्षत्रिय न मिले तो उसके अनुसार ब्राह्मण सेनापति बनाया जा सकता है, किन्तु शूद्र कभी भी नहीं। मानसोल्लास के अनुसार सेनापति के गुण निम्न हैं--अच्छा कुल-चरित्र, साहस, कई भाषाओं की योग्यता, अश्व एवं हस्ती पर चढ़ने एवं अस्त्र-विद्या की चातुरी, शकुनों एवं दवाओं का ज्ञान, अश्व-जातियों की पहचान, आवश्यक एवं अनावश्यक के अन्तर का ज्ञान, उदारता, मधुर वाणी, आत्म-निग्रह, मेधा, दृढ़प्रतिज्ञता। महाभारत काल में सेनापतियों का चुनाव होता था (उद्योग १५१, द्रोण ५, कर्ण १०) किन्तु आगे चलकर यह परम्परा समाप्त हो गयी। उसकी नियुक्ति स्वयं राजा द्वारा की जाने लगी।

दूत--अति प्राचीन काल में भी यह शब्द और इसका पद प्रचलित था। ऋग्वेद में कई स्थलों (१।१२।१, १।१६१।३, ८।४४।३) पर अग्नि को दूत माना गया है और उसे यज्ञों में देवों को बुलाने के लिए कहा गया है। इस शब्द के साथ चार-वृत्ति (गुप्तचर के कार्य) का अर्थ भी लगा हुआ है। ऋग्वेद (१०।१०८।२-४) में आया है कि इन्द्र ने सरमा (देवों की कुतिया) को पणियों के धनों का पता लगाने के लिए भेजा था। उद्योगपर्व (३७।२७) में दूत के आठ विशेष गुणों का उल्लेख है, यथा--उसे प्रतिनिविष्ट अर्थात् स्तब्ध (ढीठ) नहीं होना चाहिए, कायर नहीं होना चाहिए, दीर्घसूत्री (मन्द) नहीं होना चाहिए, उसे दयालु एवं सुशील होना चाहिए, उसे ऐसा होना चाहिए कि दूसरे उसे अपने पक्ष में न मिला सकें; रोगरहित होना चाहिए और होना चाहिए मधुरभाषी।[२१] और देखिए शान्ति० (८५।२४, यहाँ केवल ७ गुणों का वर्णन है), अयोध्या० (१००।३५), मनु (७।६३-६४), मत्स्यपुराण (२१५।१२-१३)। दूत उतना ही बोले जितना उससे (राजा द्वारा) बोलने को कहा गया है, नहीं तो वह प्राणों से हाथ धो सकता है (उद्योग० ७२।७)। शान्ति० (८५।२६-२७) ने दूत के शरीर को पवित्र ठहराया है। कौटिल्य ने दूत के विषय में एक अध्याय लिख डाला है (१।१६)। नीति-निर्धारण के उपरान्त दूत को उस राजा के पास भेजना चाहिए जिस पर आक्रमण किया जाने वाला हो (देखिए कामन्दक को भी १२।१)।

दूत के तीन प्रकार हैं; (१) **निसृष्टार्थ** (वह, जिसे जो कहना है उसे कहने के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता है); इस प्रकार के दूत को मन्त्री (अमात्य) का अधिकार रहता है, यथा पाण्डवों के दूत कृष्ण तथा आजकल के दूत (ऐम्बैसडर)। (२) **परिमितार्थ** (निश्चित कार्य के लिए भेजा गया, इन्वॉय), यह भी मन्त्री के बराबर रहता है किन्तु एक चौथाई

२०. नक्षत्रमतिपृच्छन्तं बालमर्थोऽतिवर्तते। अर्थो ह्यर्थस्य नक्षत्रं किं करिष्यन्ति तारकाः॥ अर्थशास्त्र ९।४।

२१. अस्तब्धमक्लीबमदीर्घसूत्रं सानुक्रोशं श्लक्ष्णमहार्यमन्यैः। अरोगजातीयमुदारवाक्यं दूतं वदन्त्यष्टगुणोपपन्नम्॥ उद्योग० ३७।२७।

कम। (३) शासनहर (केवल राजकीय पत्र एवं संदेश ले जाने वाला), इसमें मन्त्रियों के केवल आधे गुण पाये जाते हैं। मिताक्षरा (याज्ञ० १।३२८) ने बड़े सुन्दर ढंग से इन तीन प्रकारों का वर्णन किया है। कौटिल्य ने दूत-कार्य पर सविस्तर लिखा है, यथा—शत्रु-देश में उसे क्या-क्या देखना चाहिए, उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए (स्त्रियों एवं आसव से दूर रहना चाहिए), उसे गुप्तचरों से किस प्रकार समाचार ग्रहण करने चाहिए आदि-आदि। स्थानाभाव के कारण हम विस्तार छोड़े दे रहे हैं। देखिए काम० (१२।२-२४) को भी। कामन्दक (१२।२३-२४) ने बहुत संक्षेप में निम्न बातें दी हैं—शत्रु के यहाँ के उन लोगों की अभिज्ञता प्राप्त करना जो उसके राजा के द्रोही हैं, शत्रु-राजा के मित्रों एवं सम्बन्धियों को अपनी ओर मिला लेना, दुर्गों की संख्या एवं सन्नद्धता की जानकारी प्राप्त कर लेना, शत्रु की आर्थिक स्थिति एवं सैन्य बल की अभिज्ञता प्राप्त कर लेना, शत्रु का अभिप्राय जानना, शत्रु-देश के जनपदों के प्रभारी अधिकारियों को अपनी ओर मिला लेना, युद्ध-क्षेत्र की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेना जिससे उस स्थान से शीघ्रता के साथ आगे निकला जा सके। मनु (७।६५) के कथनानुसार दूत ही सन्धि एवं विग्रह का कारण होता है। यदि दूत से संदेश सुनकर राजा (शत्रु) रुष्ट हो जाय तो दूत को इस प्रकार कहना चाहिए —"सभी राजा आप और अन्य दूत के मुख से ही बातें जानते हैं। अतः धमकी दिये जाने पर भी दूत को संदेश देना ही पड़ता है; नीच जाति के (चाण्डाल) दूतों को भी नहीं मारना चाहिए; उस दूत की तो बात ही क्या जो ब्राह्मण है? यह जो मैं कह रहा हूँ दूसरे का सन्देश है, इसे कह देना मेरा कर्तव्य है।"[२२] रामायण (५।५२।१४-१५) का कहना है कि अच्छे लोग दूत-वध की आज्ञा नहीं देते, किन्तु कुछ अवसरों पर उसे कोड़े मारने, मुण्डित कर बाहर निकाल देने आदि की आज्ञा दे दी गयी है।

चर या चार (गुप्तचर) तथा दूत में अन्तर है, जैसा कि कौटिल्य, कामन्दक (१२।३२), याज्ञ० (१।३२८) में लिखा है। कामन्दक (१२।३२) का कथन है कि दूत प्रकाश में कार्य करता है किन्तु **चर** छिपकर। आजकल के राजदूत एक प्रकार के सम्मानित दूत ही हैं जो राष्ट्रों के नियमों की सुरक्षा में रहते हैं। कौटिल्य ने गुप्तचरों पर चार अध्याय लिखे हैं (१।११-१४)। कामन्दक (१२।२५-४९) ने भी लिखा है। शुक्रनीतिसार (१।३३४-३३६) का कथन है कि प्रति रात्रि को राजा को चाहिए कि वह गुप्तचरों द्वारा प्रजा एवं कर्मचारियों के अभिप्रायों, मन्त्रियों, शत्रुओं, सैनिकों, सभा के सदस्यों, सम्बन्धियों एवं अन्तःपुर की रानियों की सम्मतियों को जाने। कामन्दक (१२।२५) का कहना है कि चर में इतनी योग्यता होनी चाहिए कि वह लोगों के मन की बात जान ले, उसकी स्मृति शक्तिशाली होनी चाहिए, मधुरभाषी होना चाहिए, शीघ्रगामी होना चाहिए, उसमें विपत्तियों को सहने की एवं कठिन परिश्रम करने की शक्ति होनी चाहिए; उसे क्षिप्र होना चाहिए और होना चाहिए प्रत्युत्पन्नमति। कौटिल्य (१।११) का कथन है कि गूढ़-पुरुष या गुप्तचर लोग वे हैं जो **कापटिक** (ऐसा साहसी विद्यार्थी, जो लोगों के मन को पढ़ ले), **उदास्थित** (ऐसा कृत्रिम साधु, जो साधुत्व के वास्तविक कर्तव्यों से च्युत हो, किन्तु हो बुद्धिमान् एवं पवित्र चरित्र वाला), **गृहपतिक** (ऐसा गृहस्थ जो ऐसा कृषक हो, जो अपनी जीविका न चला सके, किन्तु हो मेधावी एवं उत्तम चरित्र वाला), **वैदेहक** (ऐसा व्यापारी जो व्यापार से अपनी जीविका न चला सके किन्तु हो मेधावी एवं शुद्ध चरित्र वाला), **तापस** (ऐसा गुप्तचर जो तपस्या कर रहा हो, जिसने सिर मुड़ा लिया हो, या जटाएँ बढ़ा ली हों और अपनी जीविका चलाने का इच्छुक हो), **सत्री** (सहयोगी या सहपाठी), **तीक्ष्ण** (निराश व्यक्ति), **रसद** (विष देने वाला) एवं भिक्षुकी का वेष

२२. **तं ब्रूयात् दूतमुखा वै राजानस्त्वं चान्ये च। तस्मादुद्धृतेष्वपि शस्त्रेषु यथोक्तं वक्तारस्तेषामन्तावसायिनोऽप्यवध्याः। किमङ्ग पुनर्ब्राह्मणाः। परस्यैतद्वाक्यमेव दूतधर्म इति। अर्थशास्त्र १।१६। नीतिवाक्यामृत (दूतसमुद्देश, पृ० १७१) एवं यशस्तिलक (३, पृ० ५६४) में ये ही शब्द लिखित हैं।**

धारण कर कार्य कर सके। इनमें से प्रथम पाँच को कौटिल्य ने **पञ्चसंस्था** कहा है जिन्हें राजा द्वारा पुरस्कार एवं सम्मान मिलना चाहिए, और उनके द्वारा राजा को अपने भृत्यों के चरित्र की पवित्रता की जाँच करनी चाहिए। कौटिल्य का कहना है कि **उदास्थित** नामक गुप्तचर को राजा द्वारा दी गयी भूमि पर कृषि-कर्म, पशु-पालन एवं व्यापार करते रहना चाहिए और उसे पर्याप्त सोना एवं चेले आदि दिये जाने चाहिए, जिससे वह सभी (बनावटी) साधुओं को भोजन, वस्त्र एवं आवास दे सके और उन्हें विशिष्ट अपराधों एवं समाचारों की टोह में भेज सके। **तापस** नामक गुप्तचर को राजधानी के पास ही रहना चाहिए, उसके पास बहुत से चेले रहने चाहिए, उसे यह प्रसिद्ध कर देना चाहिए कि वह मास में केवल एक बार खाता है या दो-एक मुट्ठी साग-भाजी या घास खाता है (वास्तव में, छिपकर वह माल उड़ाता है या अपनी मनचाही थाली पर हाथ साफ़ करता रहता है)। उसके चेलों को यह घोषित कर देना चाहिए कि उनके गुरु महोदय की शक्तियाँ अलौकिक हैं और वे लाभ, अग्नि, डाका आदि के विषय में भविष्यवाणी कर सकते हैं।

कौटिल्य (१।१२) ने **सञ्चर** (घुमक्कड़) गुप्तचरों अर्थात् **सत्रियों** (जो अनाथ होते हैं और उनका पालन-पोषण राज्य द्वारा होता है और उन्हें हस्त-रेखा-विद्या, इन्द्रजाल, हस्तलाघव (हाथ की सफाई की विद्या) आदि में पारंगत किया जाता है) का भी वर्णन किया है। कौटिल्य ने **तीक्ष्ण** (जो जीवन से इतने निराश होते हैं कि धनोपार्जन के लिए हाथी से भी लड़ सकते हैं), **रसद** (जो अपने सम्बन्धियों के लिए भी कोई स्नेह नहीं रखते, आलसी एवं क्रूर होते हैं), **भिक्षुकी या परिव्राजिका** (दरिद्र ब्राह्मण विधवा, चतुर एवं जीविकोपार्जन की इच्छुक, जिसका अन्तःपुर में मान होता है और जो महामात्रों एवं मन्त्रियों के कुटुम्बों में प्रवेश पाती रहती है) का भी वर्णन किया है। उपर्युक्त गुप्तचर लोग १८ तीर्थों के भेदों को बताने के लिए तैनात रहते थे। तीर्थों के व्यक्तिगत चरित्रों की जानकारी एवं जाँच के लिए ऐसे लोग नियुक्त किये जाते थे जो कुब्जों, वामनों, (नाटे लोगों) किरातों, बहरों, गूँगों, मूर्खों, जड़ों का अभिनय कर सकें या अभिनेता, नर्तक, गायक आदि हों। इस कार्य के लिए स्त्रियों की नियुक्ति भी होती थी। इनसे जो समाचार प्राप्त होते थे उनकी परीक्षा **पञ्च संस्थाओं** (ऊपर वर्णित) द्वारा करा ली जाती थी, किन्तु दोनों प्रकार के दल अपनी-अपनी जाँच अलग-अलग करते थे। इसके उपरान्त अन्य गुप्तचरों द्वारा परीक्षण कराया जाता था। यदि इस प्रकार के तीनों परीक्षणों का फल एक ही होता था तो समाचार को ठीक मान लिया जाता था, किन्तु यदि समाचारों में भेद पड़ जाय तो गुप्तचरों को गुप्त रूप से दण्ड दिया जाता था या उन्हें नौकरी से हटा दिया जाता था। विष्णुधर्मोत्तर (२।२४।६६-६७) में भी इसी प्रकार के रहस्य-भेदन का वर्णन पाया जाता है। कौटिल्य (१।१३) ने सामान्य रूप से भी रहस्य-भेदन के विषय में लिखा है (अर्थात् राजधानी तथा राज्य के अन्य भागों के विषय में भी)। गुप्तचर लोग राज्य भर में घूमा करते थे और गुप्त रूप से राजा के विषय में एवं शासन-कार्य के विषय में सन्तोष या असन्तोष की बातों का पता लगाते थे। कौटिल्य (१।१४) ने विदेशों के रहस्य-भेदन के लिए भी गुप्तचर-व्यवस्था की चर्चा की है। गुप्तचर लोग वहाँ के राजा के मित्रों, शत्रुओं, विरोधी तत्त्वों आदि का पता लगाते थे और उन्हें अपनी ओर मिला लेने की व्यवस्था करते थे। राज्य में चारों ओर गुप्तचरों का जाल बिछा रहता था, जैसा कि कामन्दक (१२।२८) ने राजा को "चारचक्षुर्महीपतिः" (गुप्तचर राजा की आँखें हैं) की उपाधि देकर प्रकट किया है। यही बात विष्णुधर्मोत्तर (२।२४।६३) एवं उद्योगपर्व (३४।३४) ने क्रम से "राजानश्चारचक्षुषः" एवं "चारैः पश्यन्ति राजानः" के रूप में कही है। कौटिल्य (४।४-६) ने समाहर्ता[23] द्वारा नियुक्त कतिपय गुप्तचरों की चर्चा की है जो अशान्ति उत्पन्न करने

२३. समाहर्ता जनपदे सिद्धतापसप्रव्रजितचक्रचरचारणकुहकप्रच्छन्दककार्तान्तिकनैमित्तिकमौहूर्तिकचिकित्सकोन्मत्तमूकबधिरजडान्धवैदेहककारुशिल्पिकुशीलववेश-शौण्डिकापूपिकपाक्वमांसिकौदनिकव्यञ्जनान् प्रणिदध्यात्।

वालों को दबाने, घूस लेने वाले न्यायाधिकारियों एवं अन्य विभागों के अधीक्षकों का भेद बताने, अनधिकृत ढंग से मुद्रा बनानेवालों का पता लगाने, बलात्कार करने वालों, चोरों, डाकुओं एवं अपराधियों की खोज करने के लिए तैनात किये जाते थे। न्याय-विषयक कुछ विशेष जानकारी के लिए भी गुप्तचरों की व्यवस्था कौटिल्य ने की है। कौटिल्य (३।१) का कहना है—"यदि साक्षियों के कारण वादी एवं प्रतिवादी दोनों का मुकद्दमा गड़बड़ हो जाय, जब दोनों दलों में किसी एक का पक्ष गुप्तचरों द्वारा असत्य सिद्ध हो जाय तो उसके विरोध में न्याय दिया जायगा।" द्रोणपर्व (७५।४) से पता चलता है कि दुर्योधन की सेना में कृष्ण के गुप्तचर नियत थे और यही बात दुर्योधन की ओर से भी की गयी थी। शान्तिपर्व (६९।८-१२ एवं १४०।३९-४२) ने उन स्थलों के नाम दिये हैं जहाँ-जहाँ गुप्तचर नियत किये जाने चाहिए और इस बात पर भी बल दिया है कि गुप्तचर एक-दूसरे को न जान सकें।[२४] कौटिल्य ने गुप्तचर-विभाग का जो विस्तृत वर्णन उपस्थित किया है उससे चकित नहीं होना चाहिए। आधुनिक काल में सभी देशों में गुप्तचर-विभाग पर पर्याप्त धन व्यय किया जाता है। देश-विदेश में चारों ओर गुप्तचरों के जाल बिछे रहते हैं। भारत के राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री या किसी राज्य के मुख्यमन्त्री या मन्त्री जब विचरण करते हैं या किसी सभा में जाते हैं तो उनके रक्षार्थ चारों ओर जनता के वेश में गुप्तचर फैले रहते हैं।

ते ग्रामाणामध्यक्षाणां च शौचाशौचं विद्युः। अर्थशास्त्र ४।४। मिलाइए, नीतिवाक्यामृत (चारसमुद्देश) पृ० १७२, जहाँ गुप्तचरों के रूप में लोगों की लम्बी तालिका दी हुई है।

२४. पाषण्डांस्तापसादींश्च परराष्ट्रे निवेशयेत्। उद्यानेषु विहारेषु प्रपास्वावसथेषु च।। पानागारे प्रवेशेषु तीर्थेषु च सभासु च। शान्ति १४०।३९-४२; यथा न विद्युरन्योन्यं प्रणिधेयास्तथा हि ते। शान्ति० ६९।१०।

अध्याय ५

राष्ट्र (३)

'राष्ट्र' शब्द ऋग्वेद (४।४२।१ "मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य" अर्थात् "मेरा राष्ट्र दोनों ओर या दोनों गोलकों में है"—ऐसा त्रसदस्यु ने कहा है) में भी आया है। वरुण को राष्ट्रों का स्वामी (राजा राष्ट्राणाम्... ऋ० ७।३४।११) कहा गया है। कई अन्य स्थलों पर भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, यथा—ऋग्वेद ७।८४।२, १०।१०९।३ आदि। तैत्तिरीय संहिता (७।५।१८, वाजसनेयी संहिता २२।२२) में आशीर्वचन आया है—"इस राष्ट्र में राजा शूर, महारथी और धनुर्धर हो।"[1] और देखिए तै० ब्रा० (३।८।१३), जहाँ उपर्युक्त आशीर्वचन की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। अथर्ववेद (१२।१।८) में पृथिवी को माता कहा गया है और उसका आह्वान किया गया है कि वह राष्ट्र को बल एवं दीप्ति दे। कामन्दक (६।३) का कहना है कि राज्य के सभी अंगों का उद्भव राष्ट्र से होता है अतः राजा को सभी सम्भव प्रयत्नों द्वारा राष्ट्र की वृद्धि करनी चाहिए। अग्निपुराण (२३९।२) के अनुसार राज्य के सभी अंगों में राष्ट्र सर्वश्रेष्ठ है। मनु (७।६९) का कहना है कि राजा को ऐसे देश में घर बनाना (रहना) चाहिए, जहाँ पानी न जमा रहता हो, जहाँ प्रचुर अन्न उपजता हो, जहाँ अधिकतर आर्यों का वास हो, जहाँ (आधियों एवं व्याधियों से) उपद्रव न हो, जो (वृक्षों, पुष्पों एवं फलों के कारण) सुन्दर हो, जहाँ के सामन्त अधिकार में आ गये हों और जहाँ जीविका के साधन सरलता से प्राप्त हो सकें।[2] यही बात याज्ञ० (१।३२१) एवं विष्णुधर्मसूत्र (३।४-५) में भी दूसरे ढंग से कही गयी है। इस विषय में कामन्दक (४।५०-५६) के वचन पठनीय हैं—"राजा के राष्ट्र की समृद्धि इसकी मिट्टी के गुणों पर निर्भर रहती है राष्ट्र-समृद्धि से राजा की समृद्धि होती है, अतः राजा को चाहिए कि वह समृद्धि के लिए अच्छे गुणों से युक्त ऐसी भूमि का चुनाव करे, जिस में प्रचुर अन्न उपजे, जहाँ खनिज हों, जहाँ व्यापार हो सके, खानों तथा अन्य वस्तुओं की भरमार हो, जहाँ पशु-पालन हो सके, प्रचुर जल हो, जहाँ सुसंस्कृत व्यक्ति रहते हों, जो सुन्दर हो, जहाँ जंगल हो, हाथी हों, जहाँ जल-स्थल के मार्ग हों, जहाँ केवल वर्षा के जल पर निर्भर न रहना पड़े।"[3] वह भूमि जो कँकरीली एवं पथरीली हो,

१. आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामास्मिन् राष्ट्रे राजन्य इषव्यः शूरो महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्ध्रिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलिन्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्। तै० सं० ७।५।१८।१, वाज० सं० २२।२२ (थोड़े अन्तरों के साथ)।

२. अल्पोदकतृणो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः। स ज्ञेयो जाङ्गलो देशो बहुधान्यादिसंयुतः।। मनु (७।६९) की व्याख्या में कुल्लूक द्वारा उद्धृत; स्वल्पवृक्षोदकपर्वतो बहुपक्षिमृगः प्रचुरवर्षातपश्च जाङ्गलो देश इति। एक स्मृति से नीतिप्रकाश (पृ० १९७) द्वारा उद्धृत। याज्ञ० (१।३२१) की व्याख्या के सिलसिले में मिताक्षरा का कथन है—'यद्यप्यल्पोदकतरुपर्वतोद्देशो जाङ्गलस्तथाप्यत्र सजलतरुपर्वतो देशो जाङ्गलशब्देनाभिधीयते।'

३. अदेवमातृका चेति शस्यते भूविभूतये। काम० ४।५२। देशो नद्यम्बुवृष्ट्यम्बुसंपन्नव्रीहिपालितः। स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम्।। अमरकोश, अर्थात् जहाँ पर धान आदि की खेती केवल वर्षा-जल पर निर्भर

जहाँ जंगल ही जंगल हों, जहाँ चोरों का अड्डा हो, जो जलहीन हो, कँटीले पौधों एवं सर्पों से युक्त हो; राष्ट्र के चुनाव के लिए उपयुक्त नहीं है। उस देश को, जहाँ जीविका के साधन सरलता से उपलब्ध हो सकें, जहाँ की मिट्टी अच्छे गुणों वाली हो, जहाँ पर्याप्त मात्रा में जल हो, जहाँ पर्वतमालाएँ हों, जहाँ शूद्र, शिल्पकार एवं व्यापारी अधिक संख्या में हों, जहाँ के कृषक (भूमिसुधार-सम्बन्धी कार्यों में) विशेष रुचि रखते हों, जो राजा के प्रति सत्य एवं अनुकूल तथा शत्रु के प्रति प्रतिकूल हों तथा दुःखों (विपत्तियों) एवं कर के भार को वहन कर सकें, जो अति विस्तृत हो, जहाँ देश-विदेश के व्यक्ति निवास करते हों जो सत्यमार्गी हों, जहाँ धन-धान्य एवं पशुओं का प्राचुर्य हो, जहाँ के मुख्य पुरुष न तो मूर्ख हों और न दुष्ट हों; अपेक्षाकृत अधिक अच्छा समझना चाहिए। उपर्युक्त उपयुक्तताओं से पता चलता है कि देश या राष्ट्र समृद्धिशाली हो, उसमें जीवन के साधन प्रचुर मात्रा में हों और हो वह सुरक्षा के उपादानों से भली भांति परिपूर्ण। जन-संख्या के विषय में कुछ स्मृतिकारों के मतों में विभेद है। मनु (७।६९) के अनुसार देश में केवल आर्य हों, किन्तु विष्णु-धर्मसूत्र (३।५) के अनुसार उसमें अपेक्षाकृत शूद्र एवं वैश्य अधिक हों। एक अन्य स्थान पर मनु (८।२२) का कहना है कि जिस देश में शूद्र अधिक हों, जहाँ नास्तिकों की संख्या अधिक हो और द्विज बिल्कुल न हों, वह देश व्याधियों एवं दुर्भिक्षों से आक्रान्त होकर नष्ट हो जाता है। यही बात मत्स्यपुराण (२१७।१-५), विष्णुधर्मोत्तर (२।२६।१-५), मानसोल्लास (२।३, श्लोक १५१-१५३), नीतिवाक्यामृत (जनपदसमुद्देश, पृ० १९, जिसमें 'राष्ट्र', 'विषय,' 'देश', 'जनपद' आदि की परिभाषाएँ दी हुई हैं) ने भी कही है। प्रथम दो ग्रंथों का कहना है (एवंविधं यथालाभं राजा विषय-मावसेत्) कि प्रत्येक राष्ट्र में उनके कथनानुसार गुणों का पाया जाना सम्भव नहीं है, अतः राजा को चाहिए कि वह जो कुछ प्राप्त है उसका सर्वोत्तम उपयोग करे। कौटिल्य (२।१) का कहना है कि राजा को ग्रामों का मण्डल प्राचीन ढूहों या नवीन स्थानों पर बनवाना चाहिए, जिनमें अन्य देशों के लोग बसने को प्रेरित किये जायँ, जहाँ राष्ट्र के अधिक जन-संख्या वाले स्थानों से लोग बुलाकर बसाये जायँ, किन्तु प्रत्येक ग्राम में एक सौ से न कम और न ५०० से अधिक कुल बसाये जायँ और उसमें अधिकतर शूद्रकर्षकों (कृषकों) को बसाया जाय। प्रत्येक ग्राम का विस्तार (रकबा) एक या दो कोस (क्रोश) का हो और वह पड़ोसी ग्रामों की सहायता कर सके।[४]

पौराणिक भूगोल के अनुसार द्वीप सात हैं, यथा—जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शक एवं पुष्कर (विष्णु-पुराण २।१।११), और प्रत्येक द्वीप वर्षों में विभाजित है। जम्बूद्वीप में ९ वर्ष हैं, जिनमें भारतवर्ष प्रथम है (विष्णु-

रहती है उस देश को देवमातृक (देवो माता यस्य) कहते हैं, किन्तु जहाँ यह नदियों, तालाबों आदि पर निर्भर रहती है उसे नदीमातृक कहते हैं।

४. भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा जनपदं परदेशापवाहनेन स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वा निवेशयेत्। शूद्रकर्षकप्रायं कुल-शतावरं पञ्चशतकुलपरं ग्रामं क्रोशद्विक्रोशसीमानमन्योन्यारक्षं निवेशयेत्। अर्थशास्त्र २।१। इस कथन से व्यक्त होता है कि कौटिल्य ने 'जनपद' शब्द को 'देश' के अर्थ में प्रयुक्त किया है जहाँ उपनिवेश बनाया जाय और जो राज्य के अन्तर्गत हो अथवा न हो। डा० प्राणनाथ (स्टडी इन दी एकनॉमिक कण्डीशन आव एंश्येण्ट इण्डिया, पृ० १७) की यह व्याख्या कि यह (अर्थात् 'जनपद') राज्य का एक भाग है, स्वीकृत नहीं की जा सकती, जैसा कि 'भूतपूर्वमभूतपूर्वम्' शब्दों से व्यक्त है। संस्कृत के लेखकों एवं पुराणों से व्यक्त होता है कि 'जनपद' का सीधा अर्थ है 'देश' और अमरकोश में यह देश एवं विषय का पर्याय कहा गया है। क्षीरस्वामी ने जनपद का अर्थ राष्ट्र से लगाया है। काव्यमीमांसा ने, जिस पर डा० प्राणनाथ देशों की संख्या के विषय में अपनी व्याख्या के लिए निर्भर हैं, 'जनपद' शब्द का प्रयोग भूमि की चारों दिशाओं में देशों के नामों के लिए किया है।

पुराण २।२।१२)। महाभारत ने १३ द्वीपों के नाम लिये हैं (आदि० ७५।१९, वनपर्व ३।५२ एवं १३४।२०); एक स्थल (द्रोण० ७०।१५)पर १८ द्वीपों के नाम हैं। भारतवर्ष के विषय में देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय १। मनु (२।२०) ने पवित्र कुरुक्षेत्र-भूमि एवं मत्स्यों, पञ्चालों, शूरसेनों की भूमि को सर्वोत्तम माना है, जहाँ के विद्वान् ब्राह्मण विचारों एवं क्रियाओं में सम्पूर्ण विश्व के लोगों के लिए नेता एवं आदर्श माने गये हैं। विष्णु० (२।३।२), ब्राह्म०, मार्कण्डेय तथा अन्य पुराणों ने भारतवर्ष को कर्मभूमि माना है। यह उस देशभक्ति का द्योतक है जो पाश्चात्य देशों में दुर्लभ है। अति प्राचीन काल से भारतवर्ष को बहुत देशों का झुण्ड कहा जाता रहा है। इसके देशों और उनके निवासियों के एक ही नाम चलते आये हैं (पाणिनि ४।१।१६८, ४।२।८१)। ऋग्वेद में निम्नलिखित राजकुलों के नाम आये हैं--यदुओं, तुर्वसुओं द्रुह्युओं, अनुओं एवं पुरुओं के राजकुल (ऋ० १।१०८।८, ८।१०।५ आदि)। चेदि (८।५।-३९), कीकट (३।५३।४), ऋजीक (८।७।२९), रुशम (५।३०।१२), वेतसु (१०।४९।४) नामक देशों के नाम भी हैं। अथर्ववेद (५।२२) में बहुत से लोगों एवं देशों के नाम हैं, जिनमें बह्लिकों (५।३०।५ तथा ९), मूजवत् (५।३०।५ एवं ८), गंधारि, अंग, मगध (५।३०।१४) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (३८।३) ने भारत वर्ष को पाँच भागों में, यथा--पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर (उत्तर कुरु एवं उत्तर मद्र) एवं मध्य (कुरु-पञ्चाल एवं वश-उशीनर) में बाँट दिया है। भारतवर्ष दो भागों में भी बँटा माना गया था, यथा--दक्षिणापथ (नर्मदा से दक्षिण तक) एवं उत्तरापथ। ईसा से कुछ शताब्दियों पूर्व ही यह धारणा बँध चुकी थी। हाथीगुम्फा अभिलेख में उत्तरापथ के कतिपय राजाओं के नाम आये हैं और महाभाष्य में दक्षिणापथ के कई तालाबों के नाम आये हैं।[५] ब्राह्मण-ग्रन्थों में कुरु-पञ्चालों (तै० ब्रा० १।८।४), उत्तर कुरु, उत्तर मद्र, कुरु-पञ्चालों, वश-उशीनरों (ऐत० ब्रा० ३८।३), कुरु-पञ्चालों, अंग-मगधों, काशि-कोसलों, शाल्व-मत्स्यों, वश-उशीनरों (गोपथ-ब्राह्मण २।१०) के नाम आये हैं। गन्धारों का उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् (६।१४।१) में, विदेह का बृहदारण्यकोपनिषद् (३।१।१) में, मद्रों का बृहदारण्यकोपनिषद् (३।३।१) में हुआ है। महाभारत में कतिपय प्रसंगों में लगभग २०० देशों के नाम आये हैं (सभा० ४।२१-३२, २०।२६-३०, सभा २५, सभा ५२।१३-१९, ५३।५-९, विराट १।१२-१३, भीष्म ९।३९-६९, ५०।-४७-५३, द्रोण २।१५-१८, ७०।११-१३, आश्वमेधिक ७३-७८, ८३।१०)। बौधायनगृह्यसूत्र (१।१।७) ने सूर्य-पूजा के लिए एक मण्डल की व्यवस्था की है और आठ दिशाओं में आठ देशों तथा मध्य में एक देश को उस मण्डल के लिए प्रतिनिधि-देश माना है। इस प्रकार इस गृह्यसूत्र में ९ देशों के नाम हैं। पुराणों में भी देशों के नामों की तालिकाएँ मिलती हैं (मत्स्य० ११४।३४-५६, मार्कण्डेय० ५७।३२-६७ एवं अध्याय ५८, ब्राह्म० १७।१०-१५ एवं २५।२५-३९)। कभी-कभी एक ही देश के दो नाम आते हैं, यथा विदर्भ एवं क्रथकैशिक दोनों एक ही देश थे (रघुवंश ७।१ एवं ३२)। राइस डेविड्स (बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० २३) ने १६ देशों के नाम दिये हैं जो अंगुत्तरनिकाय (अध्याय १, पृ० २१३; ४, पृ० २५२) एवं दिग्घनिकाय (२, पृ० २००) में उल्लिखित हैं--अंग, मगध, कासि, कोसल, वज्जि, मल्ल, चेटि (चेदि), वश (वत्स?), कुरु, पञ्चाल, मत्स्य, शूरसेन, अश्मक, अवन्ति, गन्धार, कम्बोज। वराहमिहिर

५. महाभाष्य में निम्न देशों के नाम आये हैं--अजमीढ, अंग, अम्बष्ठ, अवन्ति, इक्ष्वाकु, उशीनर, ऋषिक, कडेर, कलिंग, कश्मीर, काशि, कुन्ति, कुरु, केरल, कोसल, क्षुद्रक, गन्धार, चोड, जिह्नु, त्रिगर्त, दशार्ण, नीचक, नीप, नैश, पञ्चाल, पारस्कर, पुण्ड्र, मगध, मद्र, महिष, मालव, युगन्धर, वंग, विदर्भ, विदेह, वृजि, शिबि, सुह्म, सौवीर। कुछ देशों के नाम पाणिनि (४।१।१७०-१७५, ४।२।१०८) ने भी दिये हैं। यथा--अवन्ति, अश्मक, कलिंग, कम्बोज, कुरु, कोसल, मगध, मद्र, साल्व, सौवीर।

की बृहत्संहिता, बौधायनगृह्यसूत्र (१।१७), कामसूत्र (५।६, ३३-४१), बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र (३।८३-११७), राजशेखर की काव्यमीमांसा (१७ वाँ अध्याय) ने बहुत-से देशों के नाम दिये हैं। अन्तिम पुस्तक भारत को पाँच भागों में बाँटती है और सभी चारों दिशाओं में ७० देशों के नाम देती है, किन्तु मध्य भारत के देशों के नाम नहीं देती। भावप्रकाशन (पृ० ३०९-३१०) ने ६४ देशों के नाम दिये हैं। उसका कहना है कि दक्षिणापथ भारतवर्ष का चौथाई है, और त्रेता एवं द्वापर के युगों में हिम से डरकर लोग दक्षिण में चले गये। कुछ तन्त्रग्रन्थों में ५६ देशों के नाम आये हैं (देखिए इण्डियन कल्चर, जिल्द ८, पृ० ३३)। यादवप्रकाश की वैजयन्ती (एक कोश) में एक सौ से अधिक देशों के नाम तथा कुछ की राजधानियों के नाम आये हैं।

किसी राष्ट्र के लिए किसी परिमाण की भूमि एवं बड़ी जनसंख्या की आवश्यकता पड़ती है। थोड़ी-सी जनसंख्या एवं कुछ ग्रामों से राष्ट्र का निर्माण नहीं होता। ऊपर जिन राष्ट्रों के नाम आये हैं, उनकी सीमाओं में विजय-पराजय के फलस्वरूप बहुत-से परिवर्तन होते रहे हैं।

प्राचीन भारत में आधुनिक राष्ट्रीयता की भावना नहीं थी। ग्रन्थकारों ने राज्य का नाम लिया है और राष्ट्र को उसका एक तत्त्व माना है। किन्तु उन लोगों में राष्ट्रीयता की भावना का पूर्ण अभाव था और उन्होंने राष्ट्रीय एकता के लिए कोई प्रयत्न भी नहीं किया। आजकल जिसे हम राष्ट्र कहते हैं वह एक भूनैतिक और आन्तरिक अनुभूति का विषय है। इस रूप में केवल १७-१८वीं शताब्दियों में कुछ दिनों के लिए महाराष्ट्रियों एवं सिक्खों ने राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत कर रखी थी। पूरे भारतवर्ष में धर्म, दर्शन, साहित्यिक विधियों (प्रणालियों), कलात्मक विधियों, पूजा की विधियों, तीर्थस्थानों की श्रद्धा आदि में एकरूपता थी, किन्तु इन कारणों से भारतवर्ष में राष्ट्रीय एकता की भावना को जन्म न मिल सका। अधिकांश सूत्रकारों एवं स्मृतियों ने आर्यावर्त की पवित्र भूमि की सीमाएँ निर्धारित करने का प्रयत्न अवश्य किया है और इसे म्लेच्छों के देशों से पृथक् माना है (देखिए, इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय १)। विष्णु० (२।३।१-२), मार्कण्डेय (५५।२१) आदि पुराणों ने भारत की महत्ता के गीत गाने में सारी साहित्यिक शक्ति लगा दी है, और इसका कर्म-भूमि के रूप में वर्णन करते हुए लिखा है कि यह वह देश है जहाँ स्वर्ग एवं मोक्ष के अभिकांक्षी बसते हैं... ('कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम्।' या 'तत्कर्मभूमिर्नान्यत्र सम्प्राप्तिः पुण्यपापयोः॥'—मार्कण्डेय पुराण)। मनु (२।२०) ने ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल एवं शूरसेन नामक पवित्र देशों के प्रति अपना अभिमान एवं श्रद्धा प्रकट की है। यही बात वसिष्ठ० (१।१०) ने भी कही है। शंखलिखित (याज्ञ० १।२ की टीका में विश्वरूप द्वारा उद्धृत) का कथन है कि आर्यावर्त देश उच्च गुणों से परिपूर्ण, पुरातन और पूत है (देश आर्यो गुणवान्..... सनातनः पुण्यः)। स्मृतियों का प्रणयन विभिन्न समयों में होता रहा, उनमें भारत के विभिन्न भागों की रीतियाँ स्थान पाती गयीं, उन्होंने वेदों का अनुसरण करने वालों के लिए सामान्य बातों का उल्लेख किया, किसी विशिष्ट देशभाग की परम्पराओं को विशेषता नहीं दी (आश्वलायनगृह्यसूत्र—यत्तु समानं तद् वक्ष्यामः)।

धार्मिक दृष्टिकोण से (राजनीतिक दृष्टिकोण से नहीं) सभी ग्रन्थकारों ने भारतवर्ष या आर्यावर्त के प्रति भावात्मक सम्बन्ध जोड़ रखा था और सारे राष्ट्र को एक मान रखा था, इस तथ्य को स्वीकार करने में किसी को संदेह नहीं हो सकता। आज हम 'राष्ट्रीयता' शब्द का जो अर्थ लगाते हैं, उसके अनुसार प्राचीन भारतीय राष्ट्रीयता में हम शासन-सम्बन्धी अथवा राजनीतिक तत्त्व का अभाव पाते हैं। किन्तु इन बातों के साथ हमें एक अन्य तथ्य नहीं भूलना चाहिए और वह है सारे देश को एक छत्र के अन्तर्गत लाना, अर्थात् किसी एक राजा के छत्र के अन्तर्गत सारे देश के लोगों को रखना। यह थी चक्रवर्ती सम्राट् की कल्पना, जो आधुनिक साम्राज्यवाद की कल्पना एवं उसके व्यावहारिक रूप से पूर्णरूपेण भिन्न थी। आज के साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने अपनी विस्तारवादी भावनाओं से अन्य राष्ट्रों पर जो

विपत्तियाँ एवं कहर ढाहे हैं उससे विश्व का इतिहास कलंकित हो चुका है। हम यहाँ इस विषय में कुछ विशेष कहना उचित नहीं समझते हैं।

अब हम प्रान्तीय एवं स्थानीय शासन के विषय में कुछ लिखेंगे। प्रत्येक राज्य में कई एक देश थे और देशों की कई एक इकाइयाँ। राष्ट्र के शासक को 'राष्ट्रपति' या 'राष्ट्रिय' कहा जाता था।

अमरकोश के अनुसार देश, राष्ट्र, विषय एवं जनपद शब्द पर्यायवाची हैं। इनके परिमाणों के विषय में उत्कीर्ण लेखों के साक्ष्यों में मतैक्य नहीं है। कभी-कभी 'विषय' देश का उपविभाग माना गया है (देखिए 'राष्ट्रपति-विषय-पति-ग्रामकूट'---इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द ८, पृ० २०; वही, जिल्द १२, पृ० २४७, २५१)। किन्तु हिरहड़गल्ली दान-पत्र में (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १, पृ०५) 'विषय' पहले आया है और 'राष्ट्र' उसके उपरान्त, जिससे प्रकट होता है कि 'विषय' राष्ट्र से बड़ा क्षेत्र है। सह्याद्रिखण्ड (उत्तरार्ध, अध्याय ४) के अनुसार एक देश में १०० ग्राम होते हैं, एक मण्डल में चार देश, एक खण्ड में १०० मण्डल और सम्पूर्ण पृथ्वी में ९ खण्ड होते हैं। काम्बे दान-पत्र (९३० ई०) से पता चलता है कि मण्डल देश का एक भाग था (एपि० इण्डि०, जिल्द ७, पृ० २६)। बानगढ़ दान-पत्र (एपि० इण्डि०, जिल्द १४, पृ० ३२४) एवं आमगाछी दान-पत्र से पता चलता है कि मण्डल विषय से छोटा था और विषय भुक्ति का एक भाग मात्र था। 'भोग' शब्द, जिसका निर्माण 'भुक्ति' शब्द के समान ही है, लगता है विषय का ही एक भाग है और विषय राष्ट्र का एक भाग है (यथा---राष्ट्रपति-विषयपति-भोगपतिप्रभृतीन् समाज्ञापयति, एपि० इण्डि०, जिल्द १४, पृ० १२१)। मिताक्षरा (याज्ञ० १।३१९) का कहना है कि केवल महीपति ही भूमि का दान कर सकता है न कि भोगपति (भोग का अधिकारी)। देश के किसी भाग का द्योतन 'आहार' भी करता है। (रूपनाथ-शिलालेख, सारनाथ स्तम्भ-लेख---कार्पस इंस्क्रिप्शन इण्डिकेरम्, जिल्द १, पृ० १६२ एवं १६६, नासिक अभिलेख---सं० ३ एवं १२---गोवर्धनहार एवं कापुराहार, एपि० इण्डि०, जिल्द ८, पृष्ठ ६५ एवं ८२; कार्ले का अभिलेख सं० १९, एपि० इण्डि० जिल्द ७, पृ० ६४---जहाँ मामलाहार नाम मिलता है)। स्थानाभाव के कारण देश के विभिन्न भागों का पूर्ण विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है (विस्तृत विवेचन के लिए देखिए जे०, आर० ए० एस० सन् १९१२, पृ० ७०७ में डा० फ्लीट की व्याख्या तथा जे० बी० बी० आर० ए० एस०, जिल्द २९, १९१४-१९१७, पृ०६४८-६५३ में मेरा निबन्ध)।

कौटिल्य (२।१) का कथन है कि 'राज्य में ग्रामों के दल बनाये जाने चाहिए, प्रत्येक दल में एक मुख्य नगर (बस्ती) या दुर्ग होना चाहिए; दस ग्रामों के दल को संग्रहण, २०० ग्रामों के दल को खार्वटिक, ४०० ग्रामों के दल को द्रोणमुख कहा जाना चाहिए तथा ८०० ग्रामों के मध्य में एक स्थानीय होना चाहिए।' 'स्थानीय' शब्द, लगता है, आधुनिक शब्द 'थाना' का द्योतक है। क्योंकि शब्द-ध्वनि एवं अर्थ में दोनों में विचित्र समता है। मनु (७।११४) ने इसी प्रकार कहा है कि दो, तीन या पाँच ग्रामों के बीच में, राजा को चाहिए कि वह रक्षकों का एक मध्य-स्थान नियुक्त करे। इस मध्य-स्थान को 'गुल्म' कहा गया है। इसी प्रकार एक सौ ग्रामों के बीच में 'संग्रह' होता है। मनु (७।११९-११७), विष्णुधर्मसूत्र (३।७-१४), शान्ति० (८७।३), अग्नि० (२२३।१-४), विष्णुधर्मोत्तर (२।६१।१-६), मानसोल्लास (२।२।१५९-१६२) के अनुसार राजा द्वारा एक ग्राम में, १० ग्रामों के दल में, २० ग्रामों, १०० ग्रामों एवं १००० ग्रामों के दलों में क्रम से एक से ऊँचे बढ़ते हुए अधिकारियों की नियुक्ति की जानी चाहिए, जिन्हें अपने-अपने अधिकार क्षेत्रों के समाचार से अवगत होना चाहिए और यदि वे कोई कार्य करने में समर्थ न हो सकें तो उन्हें इसकी सूचना ऊपर वाले अधिकारी को दे देनी चाहिए। मनु (७।१२०) का कहना है कि राजा के किसी मन्त्री द्वारा इन अधिकारियों के कार्यों की एवं उनके पारस्परिक कलह आदि की देखभाल होनी चाहिए। अशोक की राजाज्ञाओं से पता चलता है कि उसने एक के नीचे एक अधिकारी की नियुक्ति कर रखी थी, यथा---महामात्र, युक्त,

राजुक। गुप्तकाल में भी ऐसी ही बात अपने ढंग से पायी जाती है। एपिग्रैफिया इण्डिका (जिल्द १५, पृ० ११३; जि० १७, पृ० ३४५, जिल्द २१, पृ० ७८) में वर्णित दामोदरपुर, बैग्राम एवं अन्य दानपत्रों के अनुशीलन से पता चलता है कि गुप्त सम्राट् **उपरिक महाराज** नामक प्रान्तीय शासकों की नियुक्ति स्वयं करते थे, और प्रान्तीय शासक या सम्राट् विषयपतियों (जिले के अधिकारियों) की नियुक्ति करते थे। विषयपतियों को शासन-सम्बन्धी कार्यों में **नगर-श्रेष्ठी** (बैंकर), **सार्थवाह** (मुख्य वणिक्), **प्रथम कुलिक** (शिल्प-श्रेणी के प्रमुख) एवं **प्रथम कायस्थ** (प्रमुख सचिव) नामक चार सम्मतिदाता सहायता देते थे। विषयपतियों के प्रमुख कार्यालय-स्थान को **अधिष्ठान** कहा जाता था और उनके अन्य कार्यालयों (कचहरियों) को **अधिकरण**। भूमि-विक्रय के बारे में **पुस्तपालों** (लोगों की सम्पत्ति के लेखप्रमाण रखने वालों) से पूछा जाता था और वे अपनी ओर से प्रमाण आदि देते थे। कुमारगुप्त प्रथम के ताम्रपत्र (एपि० इण्डि०, जिल्द, १७, पृ० ३४५, ३४८) में 'ग्रामाष्ट-कुलाधिकरणम्' आया है, जिसका तात्पर्य है 'एक कार्यालय जिसका अधिकार-क्षेत्र ८ ग्रामों तक था। मनु (७।११९) का कहना है कि दस ग्रामों के अधिकारी को भूमि का एक कुल वेतन रूप में मिलता था। कुल्लूक के शब्दों में एक कुल उतनी भूमि को कहते हैं जिसे जोतने के लिए प्रति हल ६ बैलों वाले दो हल लगते थे। विष्णुधर्मसूत्र (३।१५) में आया है—"कुलं हलद्वयकर्षणीया भूः।" शुक्रनीतिसार (१।१९१-१९२) का कहना है कि एक सौ ग्रामों के स्वामी को सामन्त कहा जाता है, एक सौ ग्रामों पर राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी को **अनुसामन्त** तथा दस ग्रामों के अधिकारी को **नायक** कहा जाता है। मनु (७।६१ एवं ८१), याज्ञ० (१।३२२), काम० (५।७५), विष्णुधर्मसूत्र (३।१६-२१) एवं विष्णुधर्मोत्तर (२।२४।४८-४९) का कथन है कि राजा को चाहिए कि वह चतुर, सच्चे एवं अच्छे कुल के लोगों को राज्य के विभागों के अध्यक्षों के रूप में नियुक्त करे। इस विषय में और देखिए कौटिल्य (२।९), विष्णुधर्मसूत्र (३।१६-२१), विष्णुधर्मोत्तर (२।२४।४८-४९), शान्ति० (६९।२९) आदि[६] जहाँ ऐसा आया है,—"उन लोगों को, जो अमात्य के गुणों से सम्पन्न हैं, विभिन्न विभागों के अध्यक्षों के रूप में नियुक्त करना चाहिए, उनके कार्यों की सदा परीक्षा होती रहनी चाहिए, क्योंकि मनुष्य स्वभावतः चञ्चल होते हैं और नियुक्त हो जाने पर अश्वों की भाँति अपना चित्त-परिवर्तन प्रकट करते हैं।....धर्मिष्ठ लोगों को धर्मकार्य या न्यायकार्य में नियुक्त करना चाहिए, शूरों को संग्रामकार्य में, अर्थ-विद्या में निपुण लोगों को राजस्व कार्य में तथा विश्वासी लोगों को खानों, नमकों, चुंगी-स्थानों, घाटों एवं हस्ति-वनों में नियुक्त करना चाहिए।"

कौटिल्य ने अपने द्वितीय अधिकरण में २८ विभागों के कार्यों तथा उनके अध्यक्षों के कर्तव्यों के विषय में सविस्तर लिखा है। बड़े ही सूक्ष्म रूप से उन्होंने जो विवेचन उपस्थित किया है वह एक ज्ञानकोश का द्योतक है। शासन के सम्बन्ध में कौटिल्य का ग्रन्थ प्रामाणिक माना जाने लगा था और बहुत-से शिलालेखों में 'अध्यक्षप्रचार' नामक अधिकरण में वर्णित बातों के आधार पर ही अधिकारियों की नियुक्तियों का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ हम भोजवर्मदेव के बेलवा दान-पत्र (एपि० इण्डि०, जिल्द १२, पृ० ४०) एवं विजयसेन के बैरकपुर दान-पत्र (एपि० इण्डि०, जिल्द १५, पृ० २८३) में यह पाते हैं—"अन्यांश्च सकलराजपादोपजीविनोध्यक्षप्रचारोक्तान् इहाकीर्तितान्

६. अमात्यसम्पदोपेताः सर्वाध्यक्षाः शक्तितः कर्मसु नियोज्याः। कर्मसु चैषां नित्यं परीक्षां कारयेच्चित्तानित्यत्वान्मनुष्याणाम्। अश्वसधर्माणो हि मनुष्या नियुक्ताः कर्मसु विकुर्वते। कौ० २।९; धर्मिष्ठान् धर्मकार्येषु शूरान् संग्रामकर्मणि। निपुणानर्थकृत्येषु सर्वत्र च तथा शुचीन्॥ विष्णुधर्मोत्तर २।२४।४८। याज्ञ० (१।३२२) की टीका मिताक्षरा में भी ऐसा ही पद्य उद्धृत है।

षट्भटजातीयान् जनपदान् क्षेत्रकरांश्च।" हम यहाँ प्रत्येक अध्यक्ष के क्षेत्र के विषय में स्थानाभाव के कारण संक्षिप्त संकेत करने के अतिरिक्त और कुछ विशेष नहीं कह सकेंगे। **सन्निधाता** (२।५) का कार्य था राज्यकोष के गृह के निर्माण, व्यापारिक वस्तुओं के भाण्डार-गृह के निर्माण, अन्न, जंगल की वस्तुओं, पशुओं एवं आवागमन के मार्ग का निरीक्षण करना। **समाहर्ता** का कार्य था (२।३५) सम्पूर्ण राज्य को चार जनपदों में बाँटना तथा ग्रामों को तीन श्रेणियों में व्यवस्थित करना, यथा--(१) ऐसे ग्राम जो करमुक्त थे, (२) वे जो सैनिक देते थे तथा (३) वे जो अन्न, पशु, धन, वन की वस्तुओं, बेगार आदि के रूप में कर देते थे। समाहर्ता की अध्यक्षता में **गोप** का कार्य था ५ या १० ग्रामों के दल का निरीक्षण करना। गोप जनसंख्या का ब्यौरा रखता था और देखता था कि वर्णों में तथा ग्रामों में कौन कर-दाता हैं, और कौन करमुक्त हैं, उसे कृषकों, ग्वालों, व्यापारियों, शिल्पकारों, मजदूरों, दासों, द्विपद एवं चतुष्पद पशुओं, धन, बेगार, चुंगी तथा अर्थ-दण्ड से प्राप्त धन, स्त्रियों, पुरुषों, बूढ़ों एवं जवानों की संख्या, उनकी विविध वृत्तियों, रूढियों, व्यय आदि के ब्यौरे की बही रखनी पड़ती थी। राज्य के चार जनपदों में से प्रत्येक में एक **स्थानिक** होता था, जो वैसा ही कार्य करता था। **अक्षपटलाध्यक्ष** को गणक-कार्यालय का निर्माण इस प्रकार करना पड़ता था कि उसका द्वार उत्तर या पूर्व में हो, उसमें कुछ कोठरियाँ गणकों या लिपिकों के लिए तथा कुछ आलमारियाँ ऐसी हों जिन पर बहियाँ आदि रखी जा सकें। इस अधिकारी का कार्य था 'हिसाब-किताब' रखना, ज़मानतों के रुपये की देखभाल करना, ग़बन न होने देना, असावधानी या छल-कपट किये जाने पर अर्थ-दण्ड की प्राप्ति करना। आषाढ़ की पूर्णिमा को आय-व्यय के हिसाब-किताब का वार्षिक दिन माना जाता था। वर्ष में ३६४ दिन माने जाते थे और अधिक मास का वेतन पृथक्-रूप से दिया जाता था। अक्षपटलाध्यक्ष के महत्त्वपूर्ण कार्यों में एक था धर्म, न्यायिक विधि, देशों की रूढियों, ग्रामों, जातियों, दुर्भिक्षों एवं संघों की तालिका को पंजीकृत रूप में रखना (देशग्रामजातिकुलसंघातानां धर्म-व्यवहार-चरित-संस्थानां.....निबन्ध-पुस्तकस्थं कारयेत्)।

कौटिल्य (२।८) ने राजकर्मचारियों द्वारा किये जाने वाले ४० प्रकार के ग़बन का उल्लेख किया है, जिस की ओर संकेत दशकुमारचरित (८) में मिलता है। कौटिल्य (२।९) ने एक महत्त्वपूर्ण एवं विलक्षण बात यह लिखी है कि जिस प्रकार पानी में रहती हुई मछलियों के बारे में यह जानना कि वे पानी कब पीती हैं, बड़ा कठिन है, उसी प्रकार राज्य के विभिन्न विभागों में नियुक्त कर्मचारियों एवं अधिकारियों के घूस लेने के विषय में जानना बड़ा कठिन है। कोषाध्यक्ष (२।११) योग्य व्यक्तियों की उपस्थिति में हीरे, मोती, कम या अधिक मूल्य की सामग्रियाँ, जंगली वस्तुएँ, यथा चन्दन-अगुरु आदि कोष में रखता था। खनिज पदार्थों के अध्यक्ष को धातु, पारा, रसों तथा गुफाओं, छिद्रों एवं पर्वतों के नीचे से निकलने वाले रसों की विद्या' में पारंगत होना पड़ता था। उसके अन्तर्गत **लोहाध्यक्ष** (जो ताम्र आदि धातुओं के बरतन-भाण्डों के निर्माण-कार्य में लगा रहता था), **लक्षणाध्यक्ष** (जो टंकशाला अर्थात् टकसाल में सोने, चाँदी या ताम्र के सिक्के ढलवाता था), **रूपदर्शक** (जो सिक्कों की परीक्षा करता था), **खन्यध्यक्ष** (हीरे, मोती, शंख, सीपी आदि के व्यापारों का निरीक्षण करने वाला) तथा **लवणाध्यक्ष** (नमक का अध्यक्ष) रहते थे। **सुवर्णाध्यक्ष** को स्वर्णकार की कर्मशाला का निर्माण कराना पड़ता था जिसमें सोने-चाँदी की वस्तुएँ बनती थीं। इस कर्मशाला में द्वार एक ही होता था, कक्ष चार होते थे और विश्वासी एवं दक्ष स्वर्णकार की नियुक्ति की जाती थी जो सड़क के ऊपर मुख्य भाग में अपनी दुकान रखता था। कर्मशाला के कर्मचारियों के अतिरिक्त अन्य कोई उसमें प्रवेश नहीं कर सकता था। जो कोई अनधिकृत ढंग से प्रवेश करता था, उसका सिर काट लिया जाता था। राजकीय स्वर्णकार को नागरिकों एवं ग्रामीणों के लिए अपने शिल्पकारों द्वारा चाँदी के सिक्के बनवाने पड़ते थे। **भाण्डाराध्यक्ष** (२।१५) को राजा की भूमि के अन्न, लोगों से प्राप्त कर, आकस्मिक राजस्व, चावल, तेल आदि

को सुरक्षित रखना पड़ता था। पण्याध्यक्ष (२।१६) को विभिन्न मार्गों से आयी हुई व्यापारिक सामग्रियों की परख, वस्तुओं की आवश्यकता तथा अभाव आदि के लिए प्रबन्ध करना पड़ता था।

कूप्याध्यक्ष (२।१७) को वन के रक्षकों द्वारा वन की सामग्रियाँ एकत्र करानी पड़ती थीं, यथा लकड़ी, बाँस, लताएँ, रेशे वाले पौधे, टोकरी बनाने वाले सामान, ओषधियाँ, विष, पशु-चर्म आदि। आयुधागाराध्यक्ष (२।१८) को अस्त्र-शस्त्र, रथ-चक्र, यन्त्र आदि युद्ध-सामग्रियों एवं आक्रमण-रक्षा के साधनों के निर्माण के लिए अनुभवी नौकर रखने पड़ते थे। नाप-तोल के अध्यक्ष को लोहे या मगध एवं मेकल पर्वत से प्राप्त पत्थरों से आधे माषक से लेकर एक सौ सुवर्णों तक के बटखरों का निर्माण कराना पड़ता था। शुल्काध्यक्ष (२।२१) को राजधानी के प्रमुख द्वार के पास एक चुंगी-घर बनवाना पड़ता था और अपने अन्तर्गत चार-पांच कर्मचारियों को चुंगी एकत्र करने के लिए रखना पड़ता था, जो बाहर से आने वाले सामानों की तथा व्यापारियों की सूची रखते थे। कपड़ा तथा अन्य प्रकार के परिधानों के निर्माण के अध्यक्ष (२।२३) को ऐसे लोगों द्वारा सामान तैयार कराना पड़ता था जो अन्य कार्य करने में अशक्त थे, यथा विधवाएँ, लँगड़े-लूले, लड़कियाँ, अवधूतिनें (अर्थ-दण्ड देने के लिए), वेश्याओं की माताएँ, राजप्रासाद की पुरानी नौकरानियाँ, देवदासियाँ (जो अब मन्दिरों में नृत्य-संगीत के योग्य नहीं थीं)।

यह अध्यक्ष घर से न निकलने वाली स्त्रियों, परदेश गये हुए पति की पत्नियों, लूली-लँगड़ी स्त्रियों, अविवाहित एवं उन स्त्रियों के लिए, जो कार्य करके अपना निर्वाह करती थीं, काम देने-दिलाने की व्यवस्था करता था। वह अपने विभाग की महिला-नौकरानियों द्वारा कताई-बुनाई का प्रबन्ध करता था। यदि अध्यक्ष इन नारियों की ओर घूरता था, या उनसे कार्य के अतिरिक्त कोई और बात करता था तो उसे अर्थ-दण्ड दिया जाता था। इस विवेचन से स्पष्ट है कि राज्य घरेलू या कुटीर-उद्योग की सहायता करता था। इस कताई-बुनाई वाले अध्यक्ष के कई अधिकार थे। वह अर्थ-दण्ड एवं शरीर-दण्ड भी दे सकता था, यथा यदि कोई नारी पारिश्रमिक लेने के उपरान्त कार्य न करे, तो वह उसका अँगूठा काट ले सकता था या अँगूठे तथा तर्जनी को एक में बाँध सकता था। सीताध्यक्ष को कृषि-शास्त्र एवं वृक्षायुर्वेद के विशेषज्ञों से सहायता लेकर समय पर सब प्रकार के अन्नों, फलों, फूलों, शाकों, कन्दों, सनइयों, कपासों आदि को एकत्र करना पड़ता था और वह दासों, श्रमिकों या बन्दियों से अर्थ-दण्ड के स्थान पर कार्य कराता था। आसव या मदिरा के अध्यक्ष को राजधानी तथा देहात में मदिरा-व्यवसाय का प्रबन्ध करना पड़ता था। उसे यह देखना पड़ता था कि बिना अनुमति (लाइसेंस) के कोई मदिरा-व्यापार न कर सके, कोई व्यक्ति मदिरा-सेवन में सीमा का अतिक्रमण न कर सके, आदि-आदि। शुक्रनीतिसार (४।४।४३) ने तो दिन में किसी को भी मदिरा पीने के लिए वर्जना की है। सूनाध्यक्ष (२।२६) को मांस आदि का प्रबन्ध करना पड़ता था और देखना पड़ता था कि कोई व्यक्ति राजकीय सुरक्षा के अन्तर्गत हरिण या किन्हीं अन्य पशुओं, पक्षियों, मछलियों आदि वाले स्थानों में शिकार न खेलने पाये। गणिकाध्यक्ष का वर्णन २।२७ में हुआ है। हमने वेश्या-वृत्ति पर पहले ही पढ़ लिया है (देखिए भाग--२, अध्याय १६)। कौटिल्य का कहना है कि एक गणिका को एक सहस्र पण मिलते थे। उसे सुन्दर, युवा एवं ६४ कलाओं में निपुण होना चाहिए (कामसूत्र १।३।१६)। कौटिल्य का कहना है कि यदि वह देश छोड़ दे तो उसकी पुत्री या बहिन को उसका स्थान लेना पड़ता था। यदि उसके पास कोई पुत्री या बहिन नहीं होती थी तो उसकी सम्पत्ति राज्य द्वारा ले ली जाती थी और उसके पुत्र को कुछ न मिलता था। २४,००० पण देकर कोई गणिका अपनी स्वतन्त्रता पा सकती थी। जब राजा सिंहासन पर या रथ पर या पालकी पर विराजमान रहता था तो गणिका उसके ऊपर छत्र लगाये रहती थी और स्वर्ण-कलश उसके साथ रहता था। उत्तम, मध्यम एवं निकृष्ट श्रेणियों की गणिकाएँ होती थीं और इन्हीं श्रेणियों के अनुसार उनका वेतनक्रम निर्धारित था। राजकीय रंगमंच पर गणिकाओं के पुत्र अभिनय करते थे। उपर्युक्त विवेचन से पता चलता है कि गणिकाएँ दासियाँ थीं। नावध्यक्ष समुद्रों, नदी के मुहानों, झीलों एवं नदियों के

जहाजी मार्गों का निरीक्षण करता था, मल्लाहों, व्यापारियों आदि पर कर लगाता था। इस अध्यक्ष को यह देखना पड़ता था कि नौका-मार्गों से शत्रुओं के जहाज या नौकाएँ तो नहीं आ-जा रही हैं। पशुओं के अध्यक्ष को गायों, बैलों, भैंसों आदि के पालन-पोषण आदि की चिन्ता करनी पड़ती थी। अश्वाध्यक्ष को घोड़ों की जाति, वय, रंग आदि गुणों की पहचान रखनी होती थी। कौटिल्य ने कहा है कि कम्बोज, सिन्धु, आरट्ट (पश्चिमी पंजाब, अब पाकिस्तान) तथा वनायु (पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त) नामक स्थानों के घोड़े उत्तम माने जाते थे, बाह्लीक, पापेय, सौवीर (पूर्वी सिन्ध तथा पश्चिमी राजस्थान) एवं तैतिला के घोड़े मध्यम श्रेणी के तथा अन्य स्थानों के निकृष्ट श्रेणी के माने जते थे। हस्त्यध्यक्ष को उन जंगलों की रक्षा करनी पड़ती थी जहाँ हाथी पाये जाते थे। उसे हाथियों को पकड़ने, प्रशिक्षण देने, खिलाने आदि का प्रबन्ध करना पड़ता था। रथों एवं पदातियों के अध्यक्ष को रथ-विभाग एवं पैदल सैनिकों के विभाग का निरीक्षण करना पड़ता था। पदाति-सेना में ६ श्रेणियाँ थीं। मुद्राध्यक्ष को देशी एवं परदेशी लोगों को मुद्रा (अनुज्ञापत्र) देने की व्यवस्था करनी पड़ती थी। चरागाहों के अध्यक्ष भी मुद्रा देखते थे। एक माषक देने पर मुद्रा मिलती थी, और जो बिना मुद्रा या पास के आता या जाता था तो उसे पकड़े जाने पर १२ पण अर्थ-दण्ड देना पड़ता था। चरागाह के अध्यक्ष लोग चोरों एवं शत्रुओं के आगमन की सूचना शंख बजाकर, मनुष्य भेजकर या तोतों के पैरों में संदेश आदि बाँधकर या आग-धुआँ करके देते थे। नागरक लोग राजधानी या बड़े-बड़े नगरों की व्यवस्था रखते थे। गोप (नागरक के अन्तर्गत) २० या ४० कुलों की व्यवस्था करता था और स्थानिक नगर के चार भागों में किसी एक की रक्षा करता था (पूरे नगर को चार भागों में बाँट दिया जाता था और प्रत्येक भाग में एक स्थानिक होता था)। याज्ञ० (२।१७३) का स्थानपाल कौटिल्य का स्थानिक ही है। सम्भवतः स्थानिक से ही आधुनिक शब्द थाना बना है। गोप एवं स्थानिक पुरुषों एवं नारियों की जाति, गोत्र, नाम, वृत्ति, आय-व्यय का ब्यौरा रखते थे। दातव्य संस्थाओं के व्यवस्थापक आदि नास्तिकों, धर्म-विरोधियों एवं यात्रियों की सूची भेजा करते थे। उपर्युक्त बातों के विषय में देखिए मनु (७।१२१), शान्ति० (८७।१०), कामसूत्र (५।५।७-१२)। गुप्त-काल के प्रान्तीय शासन के विषय में देखिए एपि० इण्डि० (जिल्द १५, पृ० १२७-१२८)।

एक, दस या इससे अधिक ग्रामों वाले राजकर्मचारियों के वेतन के विषय में मनु (७।११८-११९) का कहना है— "ग्राम के मुखिया को वे ही वस्तुएँ मिलनी चाहिए, जो प्रति दिन राजा को मिलती हैं, यथा—भोजन, पेय पदार्थ, ईंधन आदि। दस ग्रामों के अधिकारी को एक कुल[७], बीस ग्रामों से अधिक वाले को पाँच कुल, एक सौ ग्रामों के अधिकारी को

७. 'प्रत्यहम्' (प्रति दिन) शब्द में वह भूमि-कर, जो वर्ष में एक बार या जो किसी विशिष्ट समय में लगाया जाता है, सम्मिलित नहीं है। इसी प्रकार 'भोजन, पेय पदार्थ, ईंधन आदि' में पशु, धन आदि सम्मिलित नहीं हैं। 'कुल' शब्द यहाँ पर पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ हो सकता है 'इतनी भूमि जो एक कुल (कुटुम्ब) की जीविका चला सके।' किन्तु मनु के टीकाकारों ने एक दूसरा अर्थ भी किया है। सर्वज्ञ नारायण (मनु ७।११९) ने उद्धरण देकर समझाया है कि कुल का तात्पर्य है "दो हल"। उसने एवं कुल्लूक ने हारीत को उद्धृत कर बताया है कि एक हल में (धर्म के अनुसार) आठ बैल लगते हैं, ६ बैल वाले हल से वे खेती करते हैं जो केवल जीविका-निर्वाह चाहते हैं, गृहस्थ ४ बैल वाले हल रखते हैं, किन्तु वे जो लोभी हैं और गम्भीर पाप करना चाहते हैं एक हल में केवल दो बैल जोतते हैं। अतः कुल का अर्थ है इतनी भूमि, जो दो हलों द्वारा, चाहे उनमें ८ बैल लगे हों या ६ बैल या ४ बैल, जोती जाती है। हल में ६ या ८ या १२ बैल लगते हैं—ऐसा अथर्ववेद (६।९१।१) एवं तै० सं० (५।२।५२) में भी आया है। 'हलं तु द्विगुणं कुलमिति वचनाद् द्वाभ्यां हलाभ्यां या कृष्यते भूस्तां भुञ्जीतेत्यर्थः। हलमानं च—अष्टागवं धर्महलं षड्गवं

एक ग्राम का भूमि-कर तथा एक सहस्र ग्रामों के बड़े अधिकारी को एक नगर का कर मिलना चाहिए। मेधातिथि का कहना है कि मनु के ये शब्द केवल सुझाव के रूप में हैं और अधिकारियों की स्थिति एवं उत्तरदायित्व के द्योतक हैं। और देखिए शान्ति० (८७।६।८)। कौटिल्य ने राजकर्मचारियों एवं अन्य नौकरों के वेतन का ब्यौरा यों दिया है--(मंत्रियों, पुरोहित आदि के वेतन का ब्यौरा गत अध्याय में दिया जा चुका है।) दौवारिक, अन्तर्वंशिक (स्त्र्यध्यक्ष), प्रशास्ता, समाहर्ता एवं सन्निधाता को २४,००० पण; राजकुमारों (युवराज को छोड़कर), राजकुमारों की दाई (उपमाता), नायक, न्याय के अध्यक्ष (नगर के--पौरव्यावहारिक), कर्मान्तिक (राजकीय निर्माण-शालाओं के अध्यक्ष), मन्त्रि-परिषद के सदस्यों, राष्ट्रपाल (प्रान्तीय शासक), अन्तपाल को १२,००० पण; श्रेणियों के प्रधानों, हस्तिसेना, अश्वसेना, रथ-सेना के प्रमुखों तथा प्रदेष्टाओं को ८००० पण, पदातियों (पैदल), रथों, हस्तियों, वन-संपत्ति, हस्ति-वनों के अध्यक्षों (सेनापति से नीचे के लोगों) को ४००० पण; रथ हाँकनेवाले अर्थात् अनीक, सेना-वैद्य, अश्व-प्रशिक्षक, बढ़इयों, योनिपोषकों (?) को २००० पण; भविष्यवक्ता, ज्योतिषी, पुराण-पाठक, सूत, मागध (भाट), पुरोहित के पुरुषों (सहायकों) एवं अध्यक्षों को १००० पण; प्रशिक्षित पदातियों, अंककों (गणकों) एवं लिपिकों को ५०० पण, संगीतज्ञों को २५० पण, दुन्दुभि-वादकों को ५०० पण; कारुओं एवं शिल्पकारों को १२० पण; दोपायों एवं चौपायों के नौकरों, छोटे-मोटे भृत्यों, राजा के पार्श्व-भृत्यों, रक्षक एवं बेगार लगाने वालों (विष्टि) को ६० पण; कार्ययुक्तों (थोड़े समय के लिए युक्त लोगों), पीलवान, बच्चों (माणवक, वस्त्रपरिधान सँभालने वाले लड़कों), पर्वत खोदनेवालों, सभी नौकरों, शिक्षकों एवं विद्वान् लोगों को पूजावेतन (आनरेरिएम्) मिलता था जो उन्हें उनके गुणों के अनुसार ५०० से लेकर १००० पण तक मिलता था; राजा के रथकार को १००० पण, पाँच प्रकार के गुप्तचरों को १००० पण (देखिए गत पृष्ठ ६३७); ग्राम के नौकरों (यथा धोबी) सत्रियों, विष देने वालों, अवधूतिनियों को ५०० पण; घुमक्कड़ गुप्तचरों को ३०० या अधिक (परिश्रम के अनुसार) पण दिये जाते थे। एक सौ या एक सहस्र नौकरों के दलों के अध्यक्षों को अपने अन्तर्गत लोगों के भक्त (जीविका), नकद धन (वेतन), अग्रिम धन, नियुक्ति या स्थानान्तरण आदि की व्यवस्था करनी पड़ती थी। राजा के व्यक्तिगत नौकरों, दुर्गों के रक्षकों का स्थानान्तरण (बदली) नहीं किया जाता था। शुक्रनीतिसार (१।२११) का कथन है कि वेतन पण के रूप में दिया जाना चाहिए न कि भूमि के रूप में, यदि राजा किसी को भूमि दे भी दे तो वह लेने वाले के केवल जीवन तक ही रह सकेगी, अर्थात् उसके पुत्र या कुल के लोग उसके स्वामी नहीं हो सकते। किन्तु कौटिल्य (२।१) ने लिखा है कि विभिन्न विभागों के अध्यक्षों, गणकों, गोपों, स्थानिकों, सेना के अधिकारियों, वैद्यों, अश्वप्रशिक्षकों को भूमि दी जा सकती है, किन्तु ये उसे बेच या धरोहर में रख नहीं सकते। शुक्र ने सेना के बहुत-से अधिकारियों के नाम दिये हैं (२।११७-२०४)। शुक्र (४।७।२४-२७) के मत से यदि राजा की आय प्रति वर्ष एक लाख मुद्रा हो तो अधिकारियों को वेतन दिया जा सकता है। कौटिल्य ने पूर्व सेवार्थ वृत्ति एवं प्रदान (पेंशन एवं अनुग्रह-धन) देने की भी व्यवस्था दी है। कौटिल्य का कहना है--"कार्य करते हुए मर जाने पर कर्मचारियों के पुत्रों एवं स्त्रियों को जीविका एवं पारिश्रमिक की व्यवस्था की जाय। मरनेवाले अधिकारियों के छोटे बच्चों एवं रोगी संबंधियों को कृपा-धन मिलना चाहिए। अन्त्येष्टि-क्रिया, रोग, सन्तानोत्पत्ति के समय धन एवं आदर मिलना चाहिए।" और देखिए महाभारत (सभा० ५।५४), शुक्र० (२।४०६-४११)।[८]

जीवितार्थिनाम्। चतुर्गवं गृहस्थानां द्विगवं ब्रह्मघातिनामिति हारीतोक्तम्। धर्महलं ग्राह्यं गृहस्थहलं वा।' सर्वज्ञ नारायण (मनु० ७।११९)।

८. कच्चिद्दारान्मनुष्याणां तवार्थे मृत्युमीयुषाम्। व्यसनं चाभ्युपेतानां बिभर्षि भरतर्षभ।। सभा० ५।५४;

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट होता है कि कौटिल्य के समय की बहुत-सी बातें आधुनिकतम प्रणाली का स्मरण दिलाती हैं। शासन-कार्य की जटिल व्यवस्था तथा उच्च या निम्न पदाधिकारी-गण आदि आधुनिक राज्य की विधियों के सूचक हैं।

स्वायत्त ग्राम-संस्थाएँ

स्थानीय शासन के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। 'ग्राम' शब्द ऋग्वेद (१।११४।१) में भी आया है।[९] ऋग्वेद (५।५४।८) में आया है—"ग्रामजितो यथा नरः" अर्थात् 'जिस प्रकार ग्रामों को जीतने वाले नायक (या मनुष्य)"। और भी देखिए ऋग्वेद (१०।६२।११, १०।१०७।५)। तैत्तिरीय संहिता (२।५।४।४) में आया है—"विद्वान् ब्राह्मण, ग्रामणी (ग्राम-प्रमुख या मुखिया) एवं राजन्य (लड़नेवाला) तीनों समृद्धिशाली हैं।" इसी प्रकार देखिए तै० ब्राह्मण (१।१।४।८), शतपथ ब्राह्मण (५।४।४।१९) आदि, जहाँ ग्राम से सम्बन्धित मुख्य व्यक्ति अर्थात् ग्रामणी का उल्लेख हुआ है। हमने यह भी देख लिया है कि ग्रामणी की गणना रत्नियों में होती थी (देखिए गत अध्याय ४)। 'ग्राम' का अर्थ 'गाँव' ही नहीं था, सम्भवतः वह नगर का भी द्योतक था। ग्राम का मुखिया 'ग्रामणी', 'ग्रामिक', 'ग्रामाधिपति' (मनु ७।११५।११६, कौटिल्य ३।१०), ग्रामकूट एवं पट्टकिल (एपि० इण्डि०, जिल्द ७, पृ० ३९, १८३, १८८, जिल्द ११, पृ० ३०४, ३१०; इण्डिएन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ६, पृ० ५१, ५३, जिल्द १८, पृ० ३२२)। पूना जिले के एक अभिलेख (१३वीं शताब्दी) से पता चलता है (एपि० इण्डि०, जिल्द ७, पृ० १८३) कि 'पट्टकिल' शब्द आगे चलकर 'पट्टेल' हो गया और बिगड़ते-बिगड़ते आज का पाटिल (पटेल) शब्द बन गया। इसी प्रकार 'ग्रामकूट' शब्द बिगड़कर 'गावुण्ड' हो गया (एपि० इण्डि०, जिल्द ७, पृ० १८३)। पैठीनसि को उद्धृत कर अपरार्क (पृ० २३९) ने लिखा है कि ग्रामकूट का भोजन ब्राह्मण नहीं खा सकता था। गाथासप्तशती में ग्रामणी तथा उसके पुत्र के प्रेम का वर्णन मिलता है (१।३०-३१, ७।२४)। और देखिए कामसूत्र (५।५।५)। शुक्र० (१।१९३) के अनुसार एक ग्राम विस्तार में एक कोस तक होता था और उससे १००० (चाँदी के) कार्षापण कर के रूप में प्राप्त होते थे। ग्राम का अर्ध भाग **पल्ली** तथा चौथाई भाग **कुम्भ** कहलाता था। हेमाद्रि (दानखण्ड, पृ० २८८) ने मार्कण्डेय-पुराण को उद्धृत कर **पुर, खेट, खर्वट** एवं **ग्राम** की परिभाषाएँ दी हैं। याज्ञ० (२।१६७) ने चरागाह के विस्तार को ध्यान में रखकर **ग्राम, खर्वट** एवं **नगर** का अन्तर बताया है। बौधायनसूत्र (२।३।५८ एवं ६०) में आया है कि धार्मिक ब्राह्मण को नगर में नहीं रहना चाहिए, क्योंकि वहाँ शरीर पर धूल जम जाती है और मुख एवं आँखों में चली जाती है, उसे जल, ईंधन, भूसा, समिधा, कुश, पुष्प से युक्त एवं धनिक, परिश्रमी आर्यों वाले ग्राम में रहना चाहिए। सभापर्व (५।८४) में ग्राम के पाँच प्रकार के अधिकारियों का उल्लेख हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि ग्राम का अधिकारी वैदिक काल का रत्नी था, आगे चलकर वह केवल ग्राम का प्रभावशाली व्यक्ति मात्र रह गया और कालान्तर में राजा द्वारा नियुक्त होने लगा और

पादहीनां भृतिं त्वार्ते दद्यात् त्रैमासिकीं ततः। पञ्चवत्सरभृत्ये तु न्यूनाधिक्यं यथा तथा।। षाण्मासिकीं तु दीर्घार्ते तदूर्ध्वं न च कल्पयेत्। नैव पक्षार्धमार्तस्य हातव्याल्पापि वै भृतिः।।...चत्वारिंशत् समा नीताः सेवया येन वै नृपः। ततः सेवां विना तस्मै भृत्यर्धं कल्पयेत्सदा।।...स्वामिकार्ये विनष्टो यस्तत्पुत्रे तद्भृतिं वहेत्। यावद् बालोऽन्यथा पुत्रगुणान् दृष्ट्वा भृतिं वहेत्।। शुक्रनीति० (२।४०६-४१०, ४१३)।

९. यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्।। ऋग्वेद (१।११४।१)।

उसका पद वंशपरम्परानुगत बनकर रह गया (देखिए एपि० इण्डि०, जिल्द ७, पृ० १७७, १८८, १८९। शुक्र० (२।१२०-१२४) का कहना है कि गाँव में छः प्रकार के अधिकारी और (२।४२८-४२९) उनकी निम्नोक्त जातियाँ थीं—**साहसाधिपति** (साहस करने या बल प्रयोग करने वाले के द्वारा हुए अपराधों पर दण्ड देने वाला) क्षत्रिय था, **ग्रामनेता** ब्राह्मण था, **भागहार** (राजकीय कर उगाहने वाला) क्षत्रिय था, **लेखक** (लिपिक) कायस्थ था, **शुल्कग्राह** (चुंगी एकत्र करने वाला) वैश्य था तथा **प्रतिहार** (ग्राम-सीमा पर रक्षा करने वाला) शूद्र था। शुक्र० (२।१७०-१७५) ने इन छः अधिकारियों के कार्यों का भी वर्णन किया है, यथा—मुखिया (ग्रामनेता) को डाकुओं, चोरों एवं राज्य-कर्मचारियों से ग्रामनिवासियों की पिता के समान रक्षा करनी पड़ती थी, भागहार को वृक्षों की रक्षा करनी पड़ती थी, लेखक के लिए अंकन एवं गणना करने में दक्ष होना एवं कई भाषाओं का ज्ञान रखना आवश्यक था, प्रतिहार को शरीर से स्वस्थ एवं तगड़ा, अस्त्र-शस्त्र-विद्या में निपुण, विनीत तथा ग्राम के लोगों को यथोचित आदर देने वाला होना पड़ता था और शुल्कग्राह को ऐसी व्यवस्था रखनी या करनी पड़ती थी कि चुंगी के कारण उन्हें अपने माल के विक्रय में घाटा न लगे। कौटिल्य (३।१०) के कथन से पता चलता है कि ग्रामिक या ग्रामनेता या ग्राम-मुखिया लोगों पर अर्थ-दण्ड भी लगा सकता था। जब मुखिया गाँव के काम से कहीं बाहर जाता था तो बारी-बारी से गाँव का कोई-न-कोई जन उसके साथ अवश्य जाता था, जो ऐसा नहीं करता था उसे एक पण या ½ पण का दण्ड देना पड़ता था। इसी प्रकार गाँव में कोई खेल-तमाशा (प्रेक्षा) होने पर यदि कोई व्यक्ति प्रबन्ध में सहयोग नहीं करता था तो उसे खेल देखने नहीं दिया जाता था, किन्तु यदि वह चोरी से छिपकर खेल देख लेता था तो उसे दण्डित होना पड़ता था। ग्रामों में, विशेषतः कर्नाटक एवं दक्षिण भारत में तथा ब्रह्मदेय दान-भूमि (विद्वान् ब्राह्मणों को जो भूमि दान में दी जाती थी उसे ब्रह्मदेय कहा जाता था) में ग्राम-सभाएँ ही स्थानीय शासन करती थीं। इस विषय में देखिए एपि० इण्डि०, जिल्द २०, पृ० ५९; श्री गोपालन की पुस्तक "हिस्ट्री आव् दी पल्लवज़ आव् काञ्ची", पृ० ९३, १५३-१५७; एन्युअल रिपोर्ट आव् अर्क्यालॉजिकल सर्वे आव इण्डिया, १९०४-५, पृ० १३१; एपि० इण्डि०, जिल्द २४, पृ० २८, जिल्द २३, पृ० २२; श्री राइस डेविड्स की पुस्तक 'बुद्धिस्ट इण्डिया' पृ० ४५-५१। पाणिनि एवं उसकी टीका काशिका से पता चलता है कि गाँवों में कुछ शिल्पकार, यथा बढ़ई, राज, नाई, चमार, धोबी आदि होते थे जो स्थायी रूप से नियुक्त थे और वर्ष में उन्हें अनाज का अंश नियमतः मिलता रहता था। यह प्रणाली आज भी लागू है, किन्तु धीरे-धीरे नयी अर्थ-व्यवस्था एवं सामाजिक व्यवस्था के कारण परिवर्तन के चक्र घूमते जा रहे हैं। पाणिनि (६।२।६२) की टीका में काशिका द्वारा प्रयुक्त उदाहरण हैं **ग्रामनापित** (गाँव का नाई), **ग्रामकुलाल** (गाँव का कुम्हार)। पाणिनि (५।४।९५) के "ग्रामकौटाभ्यां च तक्ष्णः" सूत्र से पता चलता है कि बढ़ई भी गाँव का नौकर था।

बृहस्पति ने स्थानीय ग्राम-शासन के विषय में महत्त्वपूर्ण बातें उल्लिखित की हैं।[10] "ग्रामों की श्रेणियों एवं गणों के समूह को **समय** (निश्चित करार) कर लेना चाहिए। आपत्तिकाल एवं धर्मकार्य में ऐसे समय को कार्यान्वित करना चाहिए। समूहों के सहायकों के रूप में दो, तीन या पाँच व्यक्तियों की नियुक्ति होनी चाहिए जिनकी सम्मति

१०. ग्रामश्रेणिगणानां च संकेतः समयक्रिया। बाधाकाले तु सा कार्या धर्मकार्ये तथैव च॥ द्वौ त्रयः पञ्च वा कार्याः समूहहितवादिनः। कर्तव्यं वचनं तेषां ग्रामश्रेणिगणादिभिः॥ सभाप्रपादेवगृहतडागारामसंस्कृतिः। तथानाथदरिद्राणां संस्कारो यजनक्रिया॥ कुलायननिरोधं च कार्यमस्माभिरंशतः। यत्रैतल्लेखितं पत्रे धर्म्या सा समयक्रिया॥ पालनीया समस्तैस्तु यः समर्थो विसंवदेत्। सर्वस्वहरणं दण्डस्तस्य निर्वासनं पुरात्॥ बृहस्पति, अपरार्क (पृ० ७९२-९३) एवं स्मृतिचन्द्रिका (२।२२२-२३, व्य० प्र० पृ० ३३२) द्वारा उद्धृत।

को ग्रामवासी, श्रेणियाँ, गण आदि मानते रहें। बाधाकाल या आपत्तिकाल के समय के उदाहरण ये हैं--अकाल के समय में, नक्षत्रों के शान्त्यर्थ यज्ञ करने के लिए **समय** बनना चाहिए, अर्थात् सब लोगों को कुछ-न-कुछ धन देना चाहिए, या जब लूट-पाट का डर हो तो प्रत्येक घर से तगड़े एवं अस्त्र-शस्त्रधारी व्यक्ति मिलने चाहिए।" धर्मकार्य के विषय में भी बृहस्पति ने उदाहरण दिये हैं--"ग्रामवासियों को यह लिखित कर लेना चाहिए कि उन्हें क्या-क्या करना है, यथा सभागृह का जीर्णोद्धार, यात्रियों के लिए पानी पिलाने का प्रबन्ध अर्थात् पौसरे का निर्माण, मन्दिर, तालाब, बाटिका का निर्माण, दरिद्रों एवं असहायों के (उपनयन, अन्त्येष्टि क्रिया आदि) संस्कार की व्यवस्था, यज्ञ के लिए दान-भेट, अकालपीडित कुलों को आने से रोकना (आदि)। इस प्रकार की परम्पराओं की मर्यादा बँधनी चाहिए और ग्रामों को इनका आदर करना चाहिए। समर्थ होते हुए भी जो लोग ऐसा नहीं करते हों उनका धन छीनकर उन्हें (ग्राम से) निष्कासित कर देना चाहिए।" बृहस्पति का कहना है; कुलों, श्रेणियों, गणों के प्रमुखों (अध्यक्षों), पुरों एवं दुर्गों के निवासियों को पापकर्मियों को दण्डित करने का अधिकार है, वे दोनों प्रकार के दण्ड (अर्थात् भर्त्सना करना एवं निष्कासित करना) दे सकते हैं और उनके इस प्रकार के कार्य (यदि वे नियमानुकूल किये गये हों) राजा द्वारा अनुमोदित होने चाहिए, क्योंकि उनका यह अधिकार ऋषियों द्वारा नियोजित है।[११] कौटिल्य (३।१०) का कहना है कि यदि किसी को ग्राम-मुखिया या ग्राम बिना किसी अपराध के (उसने चोरी या बलात्कार न किया हो तो भी) निकाल दे तो उन्हें २४ पण का दण्ड देना पड़ता है।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट होता है कि स्थानीय ग्राम-शासन चलता रहता था, केन्द्र में चाहे जो भी शासन या शासक हो, उससे उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था, ग्राम का स्थानीय शासन स्वतः संचालित था। कर, आक्रमण-रक्षा आदि बातों के अतिरिक्त केन्द्रीय शासन किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता था, केवल एक सामान्य नियन्त्रण मात्र था। ग्राम-संस्थाएँ मानो छोटे-छोटे राज्य के रूप में कार्य करती थीं। केन्द्रीय सरकार ने अपने बहुत-से अधिकार ग्राम-संस्थाओं को दे दिये थे। बहुत-से 'माल-फौजदारी' के मुकदमे भी उनके अधिकार में थे, जैसा कि हम आगे देखेंगे। अन्य बातों की जानकारी के लिए देखिए डा० आर० सी० मजुमदार कृत "कॉरपोरेट लाइफ इन एँश्येण्ट इण्डिया", अध्याय २, पृ० १३५ एवं फिक (पृ० १६१)। जिस प्रकार पूरे ग्राम की एक सामान्य व्यवस्था थी, उसी प्रकार वहाँ की श्रेणियों एवं गणों के कार्य-परिचालन के लिए बहुत-से नियम एवं रूढ़ियाँ थीं। कौटिल्य (११।१) ने काम्भोज एवं सुराष्ट्र के क्षत्रियों की श्रेणियों की ओर संकेत किया है और लिखा है कि क्षत्रिय कृषि-कर्म या आयुध द्वारा (लड़ने का व्यवसाय करके) अपनी जीविका चलाते थे (...काम्भोजसुराष्ट्रक्षत्रियश्रेण्यादयो वार्ताशस्त्रोपजीविनः)। कौटिल्य (३।१४) ने भृत्यों के संघ (संघभृताः) की भी चर्चा की है। मनु (१।११८) ने गणों का उल्लेख किया है। और देखिए मनु (८।४१), याज्ञ० (२।१९२)। नारद (समयस्यानपाकर्म, २।६) एवं बृहस्पति (वीरमित्रोदय, व्यवहार में उद्धृत) ने श्रेणी, गण आदि के विषय में व्यावहारिक चर्चाएँ की हैं।[१२] नारद का कहना है कि पाषण्ड-सम्प्रदायों, नैगमों (वणिकों), श्रेणियों तथा

११. कुलश्रेणिगणाध्यक्षाः पुरदुर्गनिवासिनः। वाग्धिग्दमं परित्यागं प्रकुर्युः पापकारिणाम्।। तैः कृतं च स्वधर्मेण निग्रहानुग्रहं नृणाम्। तद्राज्ञोप्यनुमन्तव्यं निसृष्टार्था हि ते स्मृताः।। बृहस्पति (अपरार्क पृ० ७९४, स्मृति० २, पृ० २२५, सरस्वतीविलास पृ० ३२९ द्वारा उद्धृत, उद्धरणों में कहीं-कहीं हेर-फेर है)।

१२. पाषण्डिनैगमश्रेणीपूगव्रातगणादिषु। संरक्षेत्समयं राजा दुर्गे जनपदे तथा।। यो धर्मः कर्म यच्चैषामुपस्थानविधिश्च यः। यच्चैषां वृत्त्युपादानमनुमन्येत तत्तथा।। नानुकूलं च यद्राजा प्रकृत्यवमतं च यत्। बाधकं च यदर्थानां तत्तेभ्यो विनिवर्तयेत्।। मिथः संघातकरणमहितं शस्त्रधारणम्। परस्परोपघातं च तेषां राजा न मर्षयेत्।। पृथग्गणांश्च

अन्य ग्राम या नगर के दलों की परम्पराएँ एवं रूढ़ियाँ राजा द्वारा संरक्षित होनी चाहिए। राजा को चाहिए कि वह उनके विशेष नियमों (यथा—सत्य बोलना), विशिष्ट कार्यों (यथा—बिना स्नान किये प्रातःकाल भिक्षा माँगना), मिलने के ढंग (दुंदुभि बजने पर) एवं जीविकावृत्ति को माने, अर्थात् उन्हें वैसा करने दे। किन्तु ऐसे नियम या रूढ़ियाँ जो स्वयं राजा के विरोध में जायँ, सामान्य लोगों द्वारा अच्छी न कही जायँ या राजा के उद्देश्य के लिए बाधक सिद्ध हों, तो उन्हें मान्यता नहीं मिलनी चाहिए, अर्थात् राजा उन नियमों को बन्द कर सकता है। उनके आपसी विभेद तथा एक-दूसरे के विरोध में जाने वाले दलगत विचार, लड़ाई-झगड़े आदि रोक दिये जाने चाहिए। कई संघों में झगड़ा उत्पन्न करने वालों को दबा देना चाहिए, क्योंकि उनके इस प्रकार के परस्पर-विरोधी कार्यों से भयंकरता उत्पन्न होती है। संघों, श्रेणियों आदि के विषय में हमने भाग-२ के अध्याय-२ में विस्तार से पढ़ लिया है। शिलालेखों में निम्न महत्त्वपूर्ण हैं—आभीर ईश्वरसेन के समय का नासिक अभिलेख सं० १५ (एपि० इण्डि०, जिल्द ८, पृ० ८८), जहाँ कुम्हारों, तेलियों एवं पानी लाने वालों की श्रेणियों को निक्षिप्त धन मिलने की बात लिखी है); जुन्नार बौद्ध गुफाओं के अभिलेख (आर्क्यालॉजिकल सर्वे आव वेस्टर्न इण्डिया, जिल्द ४, पृ० ९७, जहाँ बाँस से काम करने वालों, ठठेरों अर्थात् पीतल के बरतन आदि बनाने वालों की श्रेणियों में धरोहर या निक्षिप्त धन रखने की बात उल्लिखित है); गुप्त-अभिलेख सं० १६, पृ० ७० (तेलियों की श्रेणी में, जिसका मुखिया जीवन्त था, धन रखने की बात की चर्चा है); गुप्त-अभिलेख, सं० १८, पृ० ७९ (रेशम बुननेवाले लाट से दशपुर में आकर सूर्य-मन्दिर बनाते हैं), एपि० इण्डि०, जिल्द १५, पृ० २६३; वही, जिल्द १८, पृ० ३२६ एवं पृ० ३०; वही, जिल्द १६, पृ० ३३२; वही, जिल्द १, पृ० १५५ (ग्वालियर में, जिसका प्राचीन नाम था गोपगिरि, तेलियों एवं मालियों की श्रेणियाँ थीं); वही, जिल्द १, पृ० १८४। राइस डेविड्स ने अपने ग्रन्थ 'बुद्धिस्ट इण्डिया' (पृ० ९०-९६) में १८ श्रेणियों की एक सूची उपस्थित की है। श्रेणियों के विषय में विशिष्ट जानकारी के लिए देखिए डा० आर० सी० मजुमदार कृत 'कारपोरेट लाइफ़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया' (अध्याय १) तथा 'इण्डियन कल्चर' (जिल्द ६, पृ० १९४०, ४२१-४२८)।

बहुत-से ग्रन्थों में सामान्य नौकरों (यथा—परिवार, भृत्य या अनुजीवी) के गुणों के विषय में भी चर्चा हुई है, यथा—उन्हें किस प्रकार रहना चाहिए, राजा प्रसन्न हैं या क्रुद्ध हैं, यह कैसे जानना चाहिए आदि-आदि। इस विषय में देखिए कौटिल्य (५।४), विराटपर्व (४।१२-५०, जहाँ कई स्थलों पर 'स राजवसतिं वसेत्' आया है), मत्स्य० (२१६, जो सम्पूर्ण रूप से राजधर्मकाण्ड, पृ० २४-२७ एवं राजनीतिप्रकाश, पृ० १८९-१९२ में उद्धृत है), अग्नि० (२२१), विष्णुधर्मोत्तर (२।२५।२-२८), कामन्दक (४।१०-११, ५।१-४, ९, ११-६३, जिसका बहुतांश राजनीतिरत्नाकर, पृ० ५१-५८ में उद्धृत है), शुक्रनीतिसार (२।५४-६८, २०५-२५३)। याज्ञ० (१।३१०) में 'अक्षुद्रपरिषद्' (मिताक्षरा ने इसे 'अक्षुद्रोऽपरुषः' पढ़ा है) आया है जिसकी व्याख्या में विश्वरूप ने शंख को उद्धृत किया है—"हमें गृध्रों (लोभी नौकरों) से घिरे हुए हंस (अच्छे राजा) की अपेक्षा हंसों (पवित्र चरित्र वाले नौकरों) से घिरे गृध्र (लोभी राजा) को श्रेयस्कर मानना चाहिए।" राजनीतिप्रकाश (पृ० १९५) ने इसी पद्य को शंखलिखित से

ये भिन्द्युस्ते विनेया विशेषतः। आवहेयुर्भयं घोरं व्याधिवत्ते ह्युपेक्षिताः॥ नारद (समयस्यानपाकर्म २–६)। अमरावती के शिलालेखों (एपि० इण्डि०, जिल्द १५, पृ० २६३) में "धञ्ञकडकस निगमस" शब्द आये हैं। इस स्थान के विषय में कई मत हैं (एपि० इण्डि०, जिल्द २०, पृ० ९)। अमरकोश के अनुसार 'नैगम' एवं 'वणिक्' समानार्थक हैं। याज्ञ० (२।१९२) की टीका में विश्वरूप का कथन है—'सार्थवाहादिसमूहो नैगमः'; अपरार्क (पृ० ७९६) ने व्याख्या की है—"सह देशान्तरवाणिज्यार्थं ये नानाजातीया अधिगच्छन्ति ते नैगमाः।"

उद्धृत किया है और अपनी ओर से यह जोड़ा है--"राजा जिनसे घिरा रहता है, उन्हीं से दोषों की उत्पत्ति होती है और इन्हीं दोषों से एक दिन राजा का नाश हो जाता है। अतः राजा को नौकरों को रखने के पूर्व उनके ज्ञान, चरित्र एवं अच्छे कुल के विषय में लिख लेना चाहिए।[13] शुक्र (२।२४६-२४७) ने नौकरों की विश्वास्यता के विषय में निम्न महत्त्वपूर्ण बात कही है--"आपत्ति में पड़े हुए अपने अच्छे स्वामी को नहीं छोड़ देना चाहिए। एक बार भी सम्मान से जिसका नमक (अर्थात् भोजन) खा लिया, क्या उसके कल्याण के लिए सतत और (आवश्यकता पड़ने पर) शीघ्र चिन्ता नहीं करनी चाहिए?"[14] इस प्रकार का भाव सामान्यतः राजभृत्यों में विद्यमान था, यहाँ तक कि विदेशी एवं दूसरे धर्म के अनुयायी राजाओं के लिए भी भारतीय भृत्यों के मन में यही भावना विराजमान थी। नौकरों के चुनाव के विषय में राजनीतिप्रकाश (पृ० १७६) ने निम्न चार प्रधान बातों पर बल दिया है--"(१) शिक्षा, (२) शील (चरित्र), (३) कुल एवं (४) कर्म। जिस प्रकार सोने की परीक्षा चार प्रकार से की जाती है, यथा (१) तोलकर, (२) कसौटी पर कसकर, (३) काटकर एवं (४) गर्म करके, उसी प्रकार उपर्युक्त बातों से भृत्यों को परीक्षित किया जाना चाहिए।

हमने गत चौथे अध्याय में यह देख लिया है कि घूस लेने वाले राज्य-कर्मचारियों की परीक्षा करने के लिए गुप्तचर नियुक्त थे। याज्ञ० (१।३३६, ३३८, ३३९) ने व्यवस्था दी है कि राजा को कायस्थों के चंगुल से प्रजा की रक्षा करनी चाहिए, गुप्तचरों द्वारा राज्य-कर्मचारियों के कार्यों की जाँच करानी चाहिए, जो लोग अच्छे आचरणयुक्त पाये जायँ उनको प्रशंसित करना चाहिए, जो लोग असदाचरणशील पाये जायँ उनको दण्डित करना चाहिए तथा जो लोग घूस लेते हों उन्हें देश-निष्कासित कर देना चाहिए। इस विषय में और देखिए मनु (७।१२२-१२४), विष्णुधर्मोत्तर, पञ्चतन्त्र (१।३४३) एवं मेधातिथि (मनु ९।२९४)। मेधातिथि ने व्याख्या की है कि उस राज्य को नाश का भय नहीं है जहाँ से कण्टक (दुष्ट लोग) निकाल बाहर किये जाते हैं और न्याय की दृष्टि में सब समान समझे जाते हैं। मेधातिथि ने यह भी लिखा है कि अधिकतर कण्टकों को रानी, राजकुमार, राजा के प्रिय पात्रों एवं सेनापति के यहाँ प्रश्रय मिलता है (मनु ९।२९४)।

पशु-पालन और कृषि

अब हम प्रजा या जनता के प्रति राजा के उत्तरदायित्वों का वर्णन करेंगे। कौटिल्य (२।२९ एवं २।३४) से पता चलता है कि पशु-पालन के लिए प्रयत्न किये जाते थे तथा चरागाहों के प्रबन्ध एवं सुरक्षा के लिए राज्य की ओर

१३. तथा च शंखः। न हंसो गृध्रपरिवारः कामं तु गृध्रो हंसपरिवारः स्यात्। विश्वरूप (याज्ञ० १।३०५); शंखलिखितौ। न गृध्नुपरिवारः स्यात्कामं गृध्रो राजा प्रेयान्न हंसपरिवारो न हंसो गृध्नुपरिवारः। परिवाराद्धि दोषाः प्रादुर्भवन्ति तेऽलं विनाशाय। तस्मात्पूर्वमेव तत्परिवारं लिखेच्छ्रुतशीलान्वयोपपन्नम्। राजनीतिप्र० पृ० १८५। यह उद्धरण अशुद्ध-सा लगता है। सम्भवतः हमें 'हंसपरिवार' के पूर्व जो 'न' आया है उसे छोड़ देना चाहिए। वसिष्ठ (१६।२१-२६, फुहरर्स की प्रति, १९१६) में भी ऐसा ही पाठ आया है, किन्तु वह अशुद्ध है। देखिए राजधर्मकाण्ड, पृ० २२, जहाँ यह वाक्य शंखलिखित का कहा गया है। इसी अर्थ में पञ्चतन्त्र ने भी कहा है (१।३०२)--'गृध्राकारोपि सेव्यः स्याद्धंसाकारैः सभासदैः। हंसाकारोपि संत्याज्यो गृध्राकारैः स तैर्नृपः।।'

१४. आपद्गतं सुभर्तारं कदापि न परित्यजेत्। एकवारमप्यशितं यस्यान्नं ह्यादरेण च। तदिष्टं चिन्तयेन्नित्यं पालकस्याञ्जसा न किम्।। शुक्रनीतिसार (२।२४६-२४७)।

से कठोर नियम बने हुए थे। मनु (८।२३७), याज्ञ० (२।१६७) तथा मत्स्य० (२२७।२४) ने भी गाँवों, बड़ी बस्तियों एवं नगरों के चतुर्दिक् चरागाह बनाने की व्यवस्था दी है। कौटिल्य ने पशुओं के अध्यक्ष पर पशुओं को श्रेणियों में विभाजित करने (यथा--बछड़े, युवा साँड़, पालतू, हलवाले बैल, गाड़ी वाले बैल, मांस वाले पशु, गाभिन गायें, दुधारू गायें आदि) का भार सौंपा था। अध्यक्ष को उन पशुओं पर चिह्न लगाने तथा उनको बही में लिख लेने की आज्ञा थी। जो लोग अनधिकृत ढंग से पशुओं को मार डालते थे या चोरी करते थे उन्हें शरीर-दण्ड देने की व्यवस्था दी गयी थी। कौटिल्य ने इस विषय में भी व्यवस्था दी है कि पशुओं को कितना भूसा, कितनी खली या कितना नमक दिया जाय और उनसे कितना काम लिया जाय। महाभारत (वनपर्व २३९।४) से पता चलता है कि राज्य के पशुओं की गणना एवं प्रबन्ध में राजकुमारों को भी कार्यशील होना पड़ता था। और देखिए वनपर्व (२४०।४-६)। महाभाष्य (२, पृ० ४०१) ने भी पशु-धन एवं अन्न-धन पर देश के धन को आधारित माना है।

कृषि पर विशेष ध्यान दिया जाता था। सभापर्व (५।७७) में राजा से कहा गया है कि वह राज्य के विभिन्न भागों में जलपूर्ण तड़ाग बनवाये और यह देखे कि कृषि केवल वर्षा-जल पर ही निर्भर न रहे। मेगस्थनीज़ (मैकरिंडिल, १, पृ० ३०) का कहना है कि उसके समय में भारत में सिंचाई का प्रबन्ध था और वर्ष में दो फसलें होती थीं। यही बात तै० सं० (५।१।७।३) में भी आयी है (तस्माद् द्विः संवत्सरस्य सस्यं पच्यते)। वाज० सं० (१८।१२) ने १२ प्रकार के अनाजों की सूची दी है--चावल, यव (जौ), गेहूँ, माष, तिल, मुद्ग, मसूर आदि और बृहदारण्यकोपनिषद् (६।३।१३) ने दस प्रकार के अन्नों (ग्राम्याणि धान्यानि) का उल्लेख किया है। खारवेल राजा के हाथीगुम्फा अभिलेख से पता चलता है कि वह नहर जो नन्द राजाओं के १०३वें वर्ष (ईसा पूर्व चौथी शताब्दी) में बनी थी (खारवेल के) पाँचवें वर्ष में विस्तारित हुई (एपि० इण्डि०, जिल्द २०, पृ० ७१)। रुद्रदामन् ने बिना बेगार लगाये राज्यकोष से जूनागढ़ के पास सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार कराया था (एपि० इण्डि०, जिल्द ८, पृ० ३६)। इस सुदर्शन झील का निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य एवं अशोक के प्रान्त-पतियों ने किया था और वह कालान्तर में बाढ़ के कारण टूट-फूट गयी थी। वैदिक काल से ही सिंचाई की व्यवस्था होती रही है। ऋग्वेद (७।४९।२) ने नदियों, झरनों के अतिरिक्त खुदी हुई जल-प्रणालियों (नहरों) की भी चर्चा की है। दक्षिण भारत के शिलालेखों से पता चलता है कि पल्लव राजाओं एवं अन्य कुलों के राजाओं ने बहुत-से तड़ाग खुदवाये जिन पर उनके अथवा स्थल-विशेष के व्यक्तियों के नाम लिखे हुए थे। इनमें से बहुत-से तड़ाग आज भी विद्यमान हैं (देखिए साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शंस, जिल्द २, भाग-३, पृ० ३५१; एपि० इण्डि०, जिल्द ४, पृ० १५२; साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शंस, जिल्द १, पृ० १५०; एपि० इण्डि०, जिल्द ८, पृ० १४५)। कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (८३३-८५८) के अभियन्ता (इंजीनियर) सूय्य ने वितस्ता नदी को इस भाँति बाँधा कि जो चावल की खारी पहले २०० दीनारों में मिलती थी वह सिंचाई की सुन्दर व्यवस्था के कारण ३६ दीनारों में मिलने लगी (राजतरंगिणी ५।८४-११७)। कौटिल्य (२।२४) ने जल की सहायता से अन्न बढ़ाने की कई विधियाँ दर्शायी हैं और उनसे प्राप्त कर की मात्राएँ भी बतायी हैं, यथा--शारीरिक परिश्रम वाले अन्न का कर उपज का ⅕ भाग, कंधे से जल ढोकर सिंचाई करने से उत्पन्न अन्न का कर उपज का ¼ भाग, स्वाभाविक जल-प्रपातों से जल-चक्र द्वारा सिंचाई करने से कर उपज का ⅓ भाग और नदियों, झीलों, तालाबों एवं कूपों की सिंचाई से उपज का ¼ भाग लिया जाता था। कौटिल्य ने ईख की खेती को कठिन माना है, क्योंकि उसकी प्राप्ति में व्यय अधिक होता है और आपत्तियाँ भी कम नहीं होतीं। अथर्ववेद (१।३४।५) के काल में भी ईख की खेती होती थी। शुक्रनीतिसार (४।४।६०) के मत से जल की समुचित व्यवस्था करना राजा का परम कर्तव्य था, यथा--कूप, सीढ़ियों वाले जलाशय, तालाब, झीलें आदि खुदवाना। उसके कर्तव्यों एवं उनकी पूर्ति की ओर मेगस्थनीज़ की इण्डिका भी संकेत करती है। मेगस्थनीज़ (मैकरिंडिल, ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ८६) का कहना है कि कुछ (राज्यकर्मचारी) लोग नदियों

का निरीक्षण करते थे, भूमि की माप (पैमाइश) कराते थे, जैसा कि मिस्र (ईजिप्ट) में होता था, और कुछ लोग प्रमुख नहर से अन्य छोटी-छोटी नहरें निकलवा कर जल देने की व्यवस्था करते थे जिससे सबको यथोचित जल मिल जाय।

कौटिल्य ने राष्ट्रीय विपत्तियों से, यथा--अग्निकाण्ड, बाढ़, रोग, दुर्भिक्ष, चूहे, जंगली हाथियों (या पशुओं), साँपों एवं भूत-प्रेतों से राज्य की रक्षा किस प्रकार की जाय, इस पर एक विशिष्ट अध्याय ही लिखा है। इन विपत्तियों से बचने के लिए मानवीय एवं धार्मिक क्रियाओं एवं कृत्यों के विषय में उन्होंने व्यावहारिक निर्देश भी दिये हैं। दुर्भिक्ष के समय राजा को बीज एवं भोजन देने की व्यवस्था करनी चाहिए, विपत्ति में फँसे लोगों की सहायता के लिए कुछ निर्माण कार्य आरम्भ कर देना चाहिए, राज-भाण्डार या धनिक लोगों के भाण्डार या मित्र राष्ट्रों के भाण्डार से अन्न लेकर बँटवाना चाहिए, धनिकों पर इतना कर लगाना चाहिए कि वे प्रचुर मात्रा में धन दे सकें या ऐसे देश को चल देना चाहिए, जहाँ प्रचुर मात्रा में अन्न हो। राष्ट्रीय विपत्तियाँ 'ईति' के नाम से पुकारी गयी हैं और उनके छः प्रकार हैं, यथा--अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक (चूहे), टिड्डी-दल (शलभ), तोते तथा परदेशी राजाओं का बहुत पास में होना।[१५] और भी देखिए कामन्दक (१३।२०, १३।६३-६४)। प्राचीन एवं मध्य काल के दुर्भिक्षों के विषय में बहुत-से संकेत प्राप्त हुए हैं। छान्दोग्योपनिषद् (१।१०।१-३) में आया है कि जब देश पर उपलवृष्टि (या टिड्डियों का आक्रमण हुआ) तो उषस्ति चाक्रायण को उच्छिष्ट भोजन करना पड़ा। रोमपाद के शासन-काल में अंग देश दुर्भिक्ष से आक्रान्त हो गया था (बालकाण्ड, अध्याय ९)। निरुक्त (२।१०) से पता चलता है कि राजा शन्तनु के समय में १२ वर्षों तक दुर्भिक्ष पड़ा था। महास्थान (प्राचीन पुण्ड्र नगर) में प्राप्त मौर्य-अभिलेख से पता चलता है कि दुर्भिक्षपीडित लोगों में 'गण्डक' नामक सिक्के एवं अन्न बाँटे गये थे (जे० ए० एस० बी०, १९३२, पृ० १२३)। और देखिए इस विषय में 'एनल्स आव बी० ओ० आर० इन्स्टीच्यूट', जिल्द ११, पृ० ३२; एपि० इण्डि०, जिल्द २२, पृ० १ एवं जे० ए० एस० बी०, जिल्द ७ (१९४१), भाग २, पृ० २०३। राजतरंगिणी में कई बार दुर्भिक्षों की चर्चा हुई है (२।१७-५४, ५।२७०२७८, ७।१२१९)। मणिमेखलै (अध्याय २८) ने दक्षिण भारत की काञ्चीपुरी में बारह वर्षों के दुर्भिक्ष का वर्णन किया है। सन् १३९६ ई० में दक्षिण भारत १२ वर्षों के उस भयंकर अकाल से ग्रस्त था जिसे 'दुर्गादेवी' की संज्ञा दी गयी है (देखिए ग्रैण्ट डफ का ग्रन्थ 'हिस्ट्री आव दी मरहठास्', जिल्द १, पृ० ४३)। और देखिए एपि० इण्डि०, जिल्द १५, पृ० १२।

हमने इस ग्रन्थ के भाग २ (अध्याय ३, ७ एवं २५) में देख लिया है कि विद्वान् ब्राह्मणों की सहायता करना, कवियों एवं ज्ञानवान् लोगों की गोष्ठियाँ करना, शिक्षण-संस्थाओं को भूमि-दान देना तथा विद्या की उन्नति के लिए सभी प्रकार के प्रयत्नों में लगा रहना राजा का कर्तव्य था। वृद्ध-हारीत (७।२२९-२३०) का कहना है कि राजा को चाहिए कि वह केवल तप में लीन विद्वान् ब्राह्मणों को ही अपने दानों का उचित पात्र समझे। कुछ ऐसे राजा भी हो गये हैं जो दान देने में सीमा का अतिक्रमण कर देते थे। युवान-च्वांग ने पुष्यभूति हर्षवर्धन के दया-दाक्षिण्य का वर्णन किया

१५. अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। अत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः॥ क्षीरस्वामी (अमरकोश की टीका में) एवं राजनीतिप्रकाश (पृ० ४४७); मिलाइए 'ईतयो न सन्ति मे।' उद्योगपर्व (६१।१७); हुताशनो जलं व्याधिर्दुर्भिक्षं मरकास्तथा। इति पञ्चविधं दैवं व्यसनं मानुषं परम्॥ काम० १३।२० = बुधभूषण (पृ० ६०, श्लोक ३२९); अतिवृष्टि...शुकाः। असत्करश्च दण्डश्च परचक्राणि तस्कराः॥ राजानीकप्रियोत्सर्गो मरकव्याधिपीडनम्। पशूनां मरणं रोगो राष्ट्रव्यसनमुच्यते॥ काम० १३।६३-६४ = बुधभूषणं (पृ० ५९, श्लो० ३२२-३२३।)

है। प्रति पाँचवें वर्ष राजा हर्ष प्रयाग में जाकर अपना सर्वस्व दान कर देता था (देखिए बील का ग्रन्थ "बुद्धिस्ट रेकर्ड्स आदि", जिल्द १, पृ० २१४, २३३)। शुक्रनीतिसार (१।३६८-३६९) में आया है कि राजा को विद्वान् व्यक्तियों की टोह (खोज) में रहना चाहिए, उनकी शिक्षा के अनुसार उन्हें अधिकारी के रूप में नियुक्त करना चाहिए, उन्हें, जो कला एवं विद्या में बहुत आगे बढ़ गये हों, प्रति वर्ष सम्मानित करना चाहिए और विविध कलाओं तथा विद्याओं के उत्कर्ष के लिए समुचित व्यवस्था करनी चाहिए। पाठकों को यह जानना चाहिए कि प्राचीन काल के राजा लोग इन वचनों का अक्षरशः पालन करते थे।

पश्चिमी देशों की भाँति भारत में भी राजा अवयस्क लोगों का रक्षक एवं अभिभावक माना जाता था। गौतम (१०।४८-४९) एवं मनु (८।२७) का कथन है कि जब तक लड़का वयस्क न हो जाय या गुरुकुल से लौटकर न आ जाय तब तक राजा को उसकी सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहिए।[१६] यही बात अपने ढंग से बौधायनधर्मसूत्र (२।२।४३), वसिष्ठ (१६।८-९), विष्णुधर्मसूत्र (३।६५), शंख-लिखित आदि ने भी कही है। नारद (ऋणादान, ३५) ने घोषित किया है कि १६ वर्षों तक अवयस्कता रहती है। मनु (८।२८-२९), विष्णुधर्मसूत्र (३।६५) का कहना है कि राजा को वन्ध्या स्त्रियों, पुत्रहीन स्त्रियों, कुलहीन स्त्रियों एवं रोगियों की सुरक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। नारद का कहना है कि किसी स्त्री के पति या पिता के कुल में कोई न हो तो राजा को चाहिए कि वह उसकी सुरक्षा का प्रबन्ध करे। कौटिल्य (२।१) के मत से ग्राम के गुरुजनों का यह कर्तव्य है कि वे बालों (अवयस्कों) एवं मन्दिरों के धन की वृद्धि का प्रबन्ध करें।[१७]

राजा का एक विशिष्ट कार्य था यह देखना कि उचित मान के नाप-तोल के बटखरे आदि प्रयोग में लाये जाते हैं या नहीं। कौटिल्य (२।१९) ने नाप-तोल के बटखरों आदि के अध्यक्ष की चर्चा की है। वसिष्ठ (१९।१३) एवं मनु (८।४०३) का कहना है कि नाप-तोल के यन्त्रों एवं बटखरों पर मुहरें लगनी चाहिए, प्रति छमाही पर उनकी पुनः जाँच होनी चाहिए, जिससे कि गृहस्थों को लोग धोखा न दे सकें। याज्ञ० (२।२४०) एवं विष्णुधर्मसूत्र (५।१२२) ने उनके लिए कठिनातिकठिन दण्ड की व्यवस्था की है, जो नाप-तोल के बटखरों, सिक्कों आदि में गड़बड़ी करते हैं या उन्हें अनधिकृत ढंग से बनाते हैं। इस विषय में देखिए नीतिवाक्यामृत (पृ० ९८) एवं अलबरूनी (सचौ द्वारा अनूदित) की पुस्तक (जिल्द १, अध्याय १५, जहाँ ११वीं शताब्दी के बटखरों की चर्चा की गयी है)।

राजा का एक अन्य उत्तरदायित्व था चोरी न होने देना। केकय के राजा अश्वपति को इस बात का अभिमान था कि उसके राज्य में न तो कोई चोर था, न कोई कृपण व्यक्ति था और न कोई शराबी (छान्दोग्योपनिषद् ५।११।५)। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१०।२६।६-८) का कथन है कि राजकर्मचारियों को चोरों से नगर की रक्षा एक योजन तक

१६. रक्ष्यं बालधनमाव्यवहारप्रापणात्। समावृत्तेर्वा। गौ० १०।४८-४९; रक्षेद्राजा बालानां धनान्यप्राप्तव्यवहाराणां श्रोत्रियवीरपत्नीनाम्। शंखलिखित, विवादरत्नाकर पृ० ५९८ में उद्धृत; बालधनं राज्ञा स्वधनवत्परिपालनीयम्। अन्यथा पितृव्यादिबान्धवा मयेदं रक्षणीयं मयेदं रक्षणीयमिति विवदेरन्। मेधातिथि (मनु ८।२७)। मेधातिथि ने मनु (८।२८) की व्याख्या में कहा है--"यः कश्चिदनाथस्तस्य सर्वस्य धनं राजा यथावत् परिरक्षेत्। तथा चोदाहरणमात्रं वशादयः।

१७. विनियोगात्मरक्षासु भरणे च स ईश्वरः। परिक्षीणे पतिकुले निर्मनुष्ये निराश्रये।। तत्सपिण्डेषु वासत्सु पितृपक्षः प्रभुः स्त्रियाः। पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्ता प्रभुः स्त्रियाः।। मेधातिथि द्वारा मनु (५।३।२८) की व्याख्या में उद्धृत। बालद्रव्यं ग्रामवृद्धा वर्धयेयुराव्यवहारप्रापणात्। देवद्रव्यं च। कौटिल्य (२।१)।

तथा ग्रामों की एक कोस तक करनी चाहिए और उस सीमा के भीतर जो कुछ भी चोरी जायगा उन्हें (राजकर्मचारियों को) ही देना पड़ेगा। गौतम (१०।४६-४७), मनु (८।४०), याज्ञ० (२।३६), विष्णुधर्मसूत्र (३।६६-६७), शान्ति० (७५।१०) का कहना है कि राजा को चोरों से चोरी का माल लेकर उसके वास्तविक स्वामी को बिना जाति का विभेद किये, दिला देना चाहिए, यदि वह ऐसा न कर सके तो उसे राज्यकोष से उसकी पूर्ति कर देनी चाहिए; यदि प्राप्त किया हुआ धन वह स्वयं रख ले, या चोरों को पकड़ने का भरपूर प्रयत्न न करे या अपने कोष से चोरी के माल की पूर्ति न करे तो उसे पाप लगेगा। यही बात दूसरे ढंग से कौटिल्य (३।१६) ने भी कही है। और देखिए विश्वरूप (याज्ञ० २।३८) द्वारा बृहस्पतिस्मृति का उद्धरण। विष्णुधर्मोत्तर (२।६१-६२) का कहना है कि यदि कोई अपने नौकरों द्वारा लूट लिया जाय तो राजा को चोरी का माल प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए (मार-पीट कर या धमकी देकर), किन्तु अपने कोष से क्षतिपूर्ति नहीं करनी चाहिए। याज्ञ० (२।२७०-२७२), नारद (परिशिष्ट १६-२१) एवं कात्यायन ने कुछ और बातें कहीं हैं--चोर द्वारा सारी सम्पत्ति या उसका मूल्य दिला देना चाहिए; यदि चोर न पकड़ा जा सके तो राजकर्मचारी एवं परिरक्षक को चोरी के सामान का मूल्य चुकाना चाहिए; यदि चोर के पद-चिह्नों का पता न चल सके तो ग्रामाध्यक्ष को चोरी का सामान देना चाहिए; यदि चोरी चरागाह या जंगल में हो (और चोर का पता न चल सके) तो स्वयं राजा को ही धन देना चाहिए; यदि चोरी जंगल में न हो प्रत्युत मार्ग में (सड़क पर) हो तो चोरों का पता चलाने के लिए नियुक्त राजकर्मचारियों को क्षतिपूर्ति करनी चाहिए; यदि चोरी ग्राम में हो तो सबको मिलकर क्षतिपूर्ति करनी चाहिए; यदि ग्राम से हटकर एक कोस की दूरी पर चोरी हो तो चारों ओर के पाँच या दस ग्रामों को मिलकर क्षतिपूर्ति करनी चाहिए। याज्ञ० (२।२७१) एवं कात्यायन ने चोरों को पकड़ने वाले अधिकारी को 'चौरोद्धर्ता' (चोरोद्धर्ता) कहा है। बहुत-से शिलालेखों में 'चौरोद्धरणिक' अधिकारी का नाम आया है (एपि० इण्डि०, जिल्द ११, पृ० ८३)। नारायण पाल के शिलालेख में 'चौरोद्धरणिक' एवं 'कोट्टपाल' (आधुनिक कोतवाल) शब्द आया है (इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जिल्द १५, पृ० ३०४)। कौटिल्य (४।१३) ने भी इसी प्रकार के नियम दिये हैं और 'चोररज्जुक' अधिकारी का नाम लिया है जिसे दो गाँवों में हुई चोरी तथा चरागाह के अतिरिक्त अन्य भूमिखण्ड में हुई चोरी की क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी।

याज्ञ० (१।३०९) एवं कौटिल्य (६।१) के मत से राजा का प्रथम गुण है 'महोत्साह' जो 'आभिगामिक' नामक गुणों में गिना जाता है। धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र से सम्बन्धित सभी ग्रन्थों ने इस बात पर अधिक बल दिया है कि राजा को सतत कार्यशील रहना चाहिए, उसे किसी भी दशा में प्रमादी एवं भाग्यवादी नहीं होना चाहिए। महाभारत में[18]

१८. (१) दैवं प्रज्ञाविशेषेण को निवर्तितुमर्हति। विधातृविहितं मार्गं न कश्चिदतिवर्तते॥ आदि० (१।२४६-२४७); दैवं पुरुषकारेण को निवर्तितुमुत्सहेत्। उद्योग० (१८६।१८); दैवमेव परं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम्। सभा० (४७।३६); दैवं पुरुषकारेण को वञ्चयितुमर्हति। दैवमेव परं मन्ये पुरुषार्थो निरर्थकः॥ वन० (१७९।२७, यह बात अजगर द्वारा पकड़ लिये जाने पर भीम ने कही है); न हि दिष्टमतिक्रान्तुं शक्यं भूतेन केनचित्। दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम्॥ उद्योग० (४०।३२); (२) दैवे पुरुषकारे च लोकोयं संप्रतिष्ठितः। आदि० (१२३।२१); जयस्य हेतुः सिद्धिर्हि कर्म दैवं च संश्रितम्। सभा० १६।१२; दैवे च मानुषे चैव संयुक्तं लोककारणम्। उद्योग० (७९।५); न ह्युत्थानमृते दैवं राज्ञामर्थं प्रसाधयेत्। साधारणं द्वयं ह्येतद् दवमुत्थानमेव च॥ शान्ति० ५६।१४; न हि दैवेन सिध्यन्ति कार्याण्येकेन सत्तम। न चापि कर्मणैकेन द्वाभ्यां सिद्धिस्तु योगतः॥ सौप्तिक० २।३; (३) यत्नो हि सततं कार्यस्ततो दैवेन सिध्यति। शान्ति० (१५३।५०); तत्रालसा मनुष्याणां ये भवन्त्यमनस्विनः। उत्थानं ते विगर्हन्ति प्राज्ञानां

मानवीय प्रयत्न एवं दैव (भाग्य या नियति) पर कई स्थलों में चर्चाएँ हुई हैं। आदि० (१।२४६-२४७, ८९।७-१०), सभा० (४६-१६, ४७।३६, ५८।१४), वन० (१७९।२७-२८), उद्योग० (८।५२, ४०।३२, १५९।४, १८८।१), आश्रमवासिक० (१०।२९) में दैव पर अधिक बल दिया गया है। किन्तु मध्यम मार्ग का निर्देश आदि० (१२३।२१), सभा० (१६।१२), उद्योग० (७९।५-६), शान्ति० (५६।१४-१५), सौप्तिक (२।३) में आया है और कहा गया है कि सांसारिक कार्यों में पुरुषकार (प्रयत्न) एवं दैव दोनों की आवश्यकता है। कहीं-कहीं प्रयत्न पर अधिक बल दिया गया है और कहा गया है कि व्यक्ति को प्रयत्न करते जाना चाहिए और भाग्य के भरोसे नहीं बैठ रहना चाहिए (द्रोण० १५२।२७; शान्ति० २७।३२, ५८।१३-१६, १५३।५०; अनुशासन० ६।१; सौप्तिक० २।१२-१३ एवं २३-२४)। शान्ति० (५८।१३-१५) के अनुसार उत्साहपूर्ण कर्म ही राजधर्म का मूल है। इसी उत्साहपूर्ण कर्म अर्थात् उत्थान से देवों को अमृत की प्राप्ति हुई, असुरों का हनन हुआ एवं इन्द्र को श्रेष्ठ पद मिला। देखिए भगवद्गीता (१८।१३-१६) भी। कौटिल्य (१।१९) का कहना है—"धन के मूल में उत्थान है, उत्थान के विरोधी भाव से बुराई उत्पन्न होती है। उत्थान के अभाव में वर्तमान एवं भविष्य की प्राप्ति का ह्रास निश्चित है, उत्थान के द्वारा राजा मनोवांछित वस्तु एवं प्रचुर धन की प्राप्ति कर सकता है।" याज्ञ० (१।३४९ एवं ३५१) का कथन है कि किसी योजना की सफलता दैव (भाग्य) एवं मानवीय प्रयत्न दोनों पर निर्भर है, किन्तु भाग्य कुछ नहीं है, वह तो मानव के गत जीवनों के कर्मों का प्रतिफल है और (आज इस जीवन में) प्रभाव के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है; जिस प्रकार एक पहिया से रथ नहीं चलता उसी प्रकार बिना मानवीय प्रयत्न या कर्म के भाग्य से कुछ सम्भव नहीं है। इस विषय में देखिए मनु (७।२०५), मत्स्य० (२२१।१-१२), विष्णुधर्मोत्तर (२।६६) एवं राजनीतिप्रकाश (पृ० ३१३-३१४), जहाँ याज्ञ० (१।३४९ एवं ३५१) की बातें कही गयी हैं। मत्स्य० (२२१।१२) में आया है—"तस्मात् सदोत्थानवता हि भाव्यम्।" मत्स्य० (२२१।२) में मानवीय प्रयत्न को उत्तम माना है। मेधातिथि (मनु ४।१३७) ने एक सुभाषित उद्धृत किया है—"प्रयत्न से हीन लोग ग्रहस्थिति पर निर्भर रहते हैं, जो दृढ़प्रतिज्ञ और व्यवसायी होते हैं उनके लिए कुछ भी करना असम्भव नहीं है।"[१९] कौटिल्य (९।४) एवं काम० (५।११ एवं १३।३-११) ने सतत प्रयत्न करते रहने पर बल दिया है। यही बात शुक्रनीतिसार (१।४६-५८) में भी कही गयी है। और देखिए शुक्रनीतिसार (१।४८-४९), राजनीतिप्रकाश (पृ० ३१२-३१५), नीतिमयूख (पृ० ५२-५३), जहाँ दैव एवं प्रयत्न पर विशेष रूप से चर्चाएँ हुई हैं। महाभारत में एक स्थल (उद्योग० १२७।१९) पर आया है कि मनुष्य को सदा प्रयत्न करते रहना चाहिए, उसे झुकना नहीं चाहिए; प्रयत्न करना पुरुषार्थ है, एक स्थल पर जहाँ सन्धि नहीं है, मनुष्य टूट सकता है, किन्तु उसे झुकना नहीं चाहिए।" इस विषय में और देखिए बृहत्पराशरस्मृति (१०, पृ० २८२-२८३), वायुपुराण (९।६०-६१) एवं मार्कण्डेयपुराण (२।६१-६२ एवं २३।२५-२६)।

तन्न रोचते ।। वृद्धानां वचनं श्रुत्वा योऽभ्युत्थानं प्रयोजयेत्। उत्थानस्य फलं सम्यक् तदा स लभतेऽचिरात् ।। सौप्तिक० (२।१३ एवं २३); उत्थानं हि नरेन्द्राणां बृहस्पतिरभाषत। राजधर्मस्य तन्मूलं श्लोकांश्चात्र निबोध मे ।। उत्थानेनामृतं लब्धमुत्थानेनासुरा हताः। उत्थानेन महेन्द्रेण श्रैष्ठ्यं प्राप्तं दिवीह च ।। उत्थानवीरः पुरुषो वाग्वीरानधितिष्ठति। उत्थानवीरान्वाग्वीरा रमयन्त उपासते ।। शान्ति० (५८।१३-१५)।

१९. स्वमेव कर्म दैवाख्यं विद्धि देहान्तरार्जितम्। तस्मात्पौरुषमेवेह श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः ।। मत्स्य० (२२१।२); धीमन्तो वन्द्यचरिता मन्यन्ते पौरुषं महत्। अशक्ताः पौरुषं कर्तुं क्लीबा दैवमुपासते। दैवे पुरुषकारे च खलु सर्वं प्रतिष्ठितम् ।। शुक्र० (१।४८-४९); अस्ति कस्यचित्सुभाषितम्। हीनाः पुरुषकारेण गणयन्ति ग्रहस्थितिम्। सत्त्वोद्यमसमर्थानां नासाध्यं व्यवसायिनाम् ।। मेधा० (मनु ४।१३७)।

अर्थशास्त्रकारों का एक प्रमुख सिद्धान्त उत्साह की आवश्यकता पर आधारित है। यह उत्साह, प्रभु (प्रभाव) एवं मन्त्र नामक तीन शक्तियों वाला सिद्धान्त कहा जाता है। इन तीनों का उल्लेख महाभारत में भी हुआ है (आश्रम-वासिकपर्व ७।६)। सरस्वतीविलास (पृ० ४६) ने इनके संबन्ध में गौतम के एक सूत्र (जो प्रकाशित अंशों में नहीं पाया जाता) का उद्धरण दिया है।[२०] कौटिल्य (६।२) ने मन्त्रशक्ति को ज्ञानबल, प्रभुशक्ति को कोषबल एवं उत्साहशक्ति को विक्रमबल कहा है।[२१] कौटिल्य ने विश्लेषण एवं तुलना करके प्रभुशक्ति को उत्साहशक्ति से तथा मन्त्रशक्ति को प्रभुशक्ति से महत्तर माना है। कामन्दक (१५।३२) ने इन शक्तियों की परिभाषा की है--"छः उपायों (सन्धि-विग्रह आदि) में यथोचित नीति का निर्धारण ही मन्त्रशक्ति है, पूर्ण कोष एवं सैन्यबल प्रभुशक्ति का द्योतक होता है तथा शक्तिशाली की क्रियाशीलता ही उत्साहशक्ति का परिचायक है। जिस राजा को ये शक्तियाँ प्राप्त रहती हैं वह विजयी होता है।"[२२] यही परिभाषा नीतिवाक्यामृत (षाड्गुण्यसमुद्देश, पृ० ३२२) में भी पायी जाती है। इस विषय में और देखिए दशकुमारचरित (८), परशुरामप्रताप, अग्निपुराण (२४१।१), मानसोल्लास (२।८-१०, पृ० ९१-९४), कामन्दक (१३।४१-५८)।[२३]

शक्तिशाली राजा को अपनी राज्य-सीमाएँ बढ़ाने तथा प्रजा को अपने अधिकार में रखने के लिए कई उपायों का सहारा लेना पड़ता था। रामायण (५।४१२-३), मनु (७।१०९), याज्ञ० (१।३४६), शुक्र (४।१।२७) आदि के मत से उपाय चार हैं, यथा--**साम, दान, भेद एवं दण्ड**।[२४] खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में आया है कि खारवेल ने राज्याभिषेक के दसवें वर्ष में दण्ड, सन्धि, साम की नीति के अनुसार अपनी सेना भरतवर्ष के विरोध में भेजी और उसे जीत लिया तथा बहुत-से हीरे-जवाहरात (रत्न आदि) प्राप्त किये (एपि० इण्डिका, जिल्द २०, पृ० ७९, ८८)। यह अभिलेख ई० पूर्व दूसरी शताब्दी का माना जाता है, अतः स्पष्ट है कि ईसा के कई शताब्दियों पूर्व से ही उपायों के सिद्धान्त का प्रचलन था। कुछ ग्रन्थकारों एवं ग्रन्थों ने उपर्युक्त चार उपायों के अतिरिक्त कुछ अन्य उपायों की भी चर्चा कर दी है, यथा--काम० (१७।३), मत्स्य० (२२२।२), अग्नि० (२२६।५-६), बार्हस्पत्यसूत्र (५।१-३),

२०. अत एव गौतमसूत्रम्। प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तयस्तन्मूला इति। तन्मूलाः कोशमूला इत्यर्थः। सरस्वती-विलास, पृ० ४६।

२१. शक्तिस्त्रिविधा। ज्ञानबलं मन्त्रशक्तिः कोशबलं प्रभुशक्तिः विक्रमबलमुत्साहशक्तिः। अर्थशास्त्र ६।२, पृ० २६१।

२२. मन्त्रस्य शक्तिं सुनयोपचारं सुकोशदण्डौ प्रभुशक्तिमाहुः। उत्साहशक्तिं बलवद्विचेष्टां त्रिशक्तियुक्तो भवतीह जेता॥ कामन्दकीय १५।३२।

२३. कोशदण्डबलं प्रभुशक्तिः। शूद्रशक्तिकुमारौ दृष्टान्तौ। विक्रमो बलं चोत्साहशक्तिस्तत्र रामो दृष्टान्तः। नीतिवाक्यामृत, पृ० ३२२-३२३; मन्त्रेण हि विनिश्चयोऽर्थानां प्रभावेण प्रारम्भ उत्साहेन निर्वहणम्। दशकुमार-चरित (८, पृ० १४४); आज्ञारूपेण या शक्तिः सर्वेषां मूर्धनि स्थिता। प्रभुशक्तिर्हि सा ज्ञेया सप्रभामहिमोदया॥ परशु-रामप्रताप द्वारा उद्धृत। और देखिए पञ्चतन्त्र (३।३०)--'उत्साहशक्तिसम्पन्नो हन्याच्छत्रुं लघुर्गुरुम्।'

२४. अल्पशेषमिदं कार्यं दृष्टेयमसितेक्षणा। त्रीनुपायानतिक्रम्य चतुर्थ इह दृश्यते॥ न साम रक्षःसु गुणाय कल्पते न दानमर्थोपचितेषु युज्यते। न भेदसाध्या बलदर्पिता जनाः पराक्रमस्त्वेव ममेह रोचते॥ सुन्दरकाण्ड (४१।२-३); उपायोपपन्नविक्रमोऽनुरक्तप्रकृतिरल्पदेशोऽपि भूपतिर्भवति सार्वभौमः। न हि कुलागता कस्यापि भूमिः किन्तु वीरभोग्या वसुन्धरा। सामोपप्रदानभेददण्डा उपायाः। नीतिवाक्यामृत, पृ० ३३२।

विष्णुधर्मोत्तर (२।१४६) ने तीन अन्य उपाय बतलाये हैं। सभापर्व (५।२१) ने सात उपाय तथा वनपर्व (१५०।४२) ने साम, दान, भेद, दण्ड एवं उपेक्षा नामक पाँच उपाय कहे हैं। तीन अतिरिक्त उपायों के विषय में मतैक्य नहीं है। अधिकांश ने **माया, उपेक्षा** एवं **इन्द्रजाल** (काम० एवं अग्नि०) नामक अतिरिक्त तीन उपाय बताये हैं। बार्हस्पत्यसूत्र (५।२६३) ने **माया, उपेक्षा** एवं **वध** नाम दिये हैं। इसी प्रकार अन्य तालिकाएँ हैं, यथा—माया, अक्ष (पासों का खेल या जुआ) एवं इन्द्रजाल (सरस्वतीविलास, पृ० ४२)। माया का अर्थ है कपटपूर्ण चालाकी। विष्णुधर्मोत्तर (२।१४८) ने बहुत-से दृष्टान्त दिये हैं, यथा—किसी पक्षी की पूँछ में अग्निकाष्ठ या लुकारी बाँधकर शत्रु के शिविरों पर गिराना, जिससे शत्रु-पक्ष को इस बात का भान हो कि आकाश से अशुभ उल्कापात हुआ है। भीम ने द्रौपदी का वेश धारण कर कीचक का वध किया था (काम० १७।५४)। माया के अन्य उदाहरणों के लिए देखिए कामन्दक (१७।५१-५३)। उपेक्षा का अर्थ है अन्याय करते हुए, किसी दोषयुक्त आचरण से लिप्त तथा युद्ध करते हुए शत्रु की ओर से उदासीन हो जाना, जैसा कि राजा विराट ने कीचक के विषय में किया था (काम० १७।५५-५७)। **इन्द्रजाल** का अर्थ है मन्त्रप्रयोग या अन्य चालाकियों से भ्रम उत्पन्न करना, यथा—ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देना कि शत्रु जान जाय कि उसके प्रतिद्वन्द्वी के पास विशाल सेना है, या उसके विरोध में देवदूत लड़ने आ रहे हैं, या शत्रु-शिविरों पर रक्त की वर्षा करना आदि (काम० १७।५८-५९, विष्णुधर्मोत्तर २।१४९)। चार उपायों की चर्चा करते समय मनु (७।१०८-९) कहते हैं कि राज्य की समृद्धि के लिए **साम** एवं **दण्ड** को उत्तम समझना चाहिए। किन्तु यदि शत्रु नमित न हो और अन्य तीन उपाय निष्फल हो जायँ तो दण्ड का प्रयोग करना चाहिए, किन्तु प्रत्येक अवस्था में दण्ड का प्रयोग अन्तिम उपाय है, क्योंकि जय सदैव अनिश्चित है। शान्तिपर्व (६९।२३) में बृहस्पति का मत उद्धृत है—"युद्ध का वर्जन सदा करना चाहिए, अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दण्ड की अपेक्षा अन्य तीन उपायों की सहायता लेनी चाहिए।" बृहत्पराशर (१०, पृ० २८०) में आया है कि अन्य उपायों के न रहने पर ही दण्ड की सहायता लेनी चाहिए।[२५] उद्योगपर्व (१३२।२९-३०) में कुन्ती ने कृष्ण द्वारा अपने पुत्रों को यह सन्देश भेजा है—"भिक्षा तुम्हारे लिए वर्जित है, यह बात कृषि के विषय में भी है, तुम अपने बाहु-बल पर जीने वाले क्षत्रिय हो और हो 'क्षतात् त्राता' अर्थात् क्षति से बचाने वाले। तुम लोग अपने वंश की समृद्धि को साम, दान, भेद, दण्ड एवं नय के उपायों से प्राप्त करो।" और देखिए उद्योगपर्व (१५०)। विष्णुधर्मोत्तर (२।१४६) ने भी चार उपाय बताये हैं। यही बात मिताक्षरा (याज्ञ० १।३४६) एवं कामन्दक (१८।१) ने भी कही है। चार उपायों का उपयोग न केवल राजाओं के लिए, प्रत्युत सामान्य लोगों के लिए भी श्रेयस्कर माना गया है।[२६]

कामन्दक (१८), मानसोल्लास (२।१७-२०), नीतिवाक्यामृत (पृ० ३३२-३३६) आदि ने विस्तार के साथ चारों उपायों की व्याख्या की है। कुछ बातें निम्न हैं। **साम** के पाँच प्रकार हैं, यथा—(१) एक-दूसरे के प्रति किये गये अच्छे व्यवहारों की चर्चा, (२) जीते जाने वाले लोगों के गुणों एवं कर्मों की प्रशंसा, (३) एक-दूसरे के सम्बन्ध की घोषणा, (४) भविष्य में होने वाले शुभ प्रतिफलों की चर्चा, (५) "मैं आपका हूँ, मैं आपकी सेवा के लिए प्रस्तुत हूँ" की उद्घोषणा (काम० १७।४-५)। **दान** में निम्न बातें आती हैं, यथा—एक-दूसरे की धरोहर लौटा देना, एक-दूसरे

२५. वर्जनीयं सदा युद्धं राज्यकामेन धीमता। उपायैस्त्रिभिरादानमर्थस्याह बृहस्पतिः॥ शान्ति० ६९।२३; न युद्धमाश्रयेत्प्राज्ञो न कुर्यात् स्वबलक्षयम्।...वदन्ति सर्वे नीतिज्ञा दण्डस्त्वगतिका गतिः॥ बृहत्पराशर; याज्ञवल्क्य (१।३४६) ने भी "दण्डस्त्वगतिका गतिः" का प्रयोग किया है।

२६. एते सामादयो न केवलं राज्यव्यवहारविषया अपि तु सकललोकव्यवहारविषयाः। यथा—अधीष्व पुत्रकाधीष्व दास्यामि तव मोदकान्। यद्यान्यस्मै प्रदास्यामि कर्णमुत्पाटयामि ते॥ मिताक्षरा (याज्ञ० १।३४६)।

द्वारा सम्पत्ति-ग्रहण की सहमति, किसी नवीन वस्तु की भेंट, माँगने पर किसी वस्तु का दान, समय पर प्रतिश्रुत वस्तुओं को भेज देना। भेद में निम्न बातें ज्ञातव्य हैं, यथा--मन्त्रियों या सामन्तों, युवराज तथा उच्चाधिकारियों को घूस या भेंट देना, राजा एवं मन्त्रियों के बीच अविश्वास उत्पन्न करना, राजा को अन्य लोगों के विरोध में कर देना, सुन्दर व्यक्तियों के विरोध में राजा को यह कहकर उभाड़ना कि वे अन्तःपुर में आते-जाते हैं, धनिकों एवं राजा के बीच अविश्वास उत्पन्न करना आदि-आदि। भेद उपाय में गुप्तचर लगे रहते हैं, जो दोनों पक्षों से वेतन लेते हैं (उभय-वेतनभोगी)।[२७] और देखिए कौटिल्य (११।१), मत्स्य० (२२३), शुक्र० (४।१।२५-५४)। दण्ड का अर्थ है अपने देश में अपराधी को फाँसी देना, शारीरिक दण्ड देना या धन-दण्ड देना तथा शत्रुओं से युद्ध करना, शत्रु-देश का नाश करना, धन-धान्य, पशु, दुर्ग आदि पर अधिकार करना, ग्रामों, जंगलों को जलाना, लोगों को बन्दी बनाना आदि।

राजा के बहुत-से विशेषाधिकार थे। हमने बहुत पहले देख लिया है कि गड़े हुए धन पर राजा का अधिकार होता था। इस विषय में कौटिल्य (४।१) ने लिखा है कि खानों, रत्नों एवं गड़े हुए धन की सूचना देने वाले को $\frac{1}{6}$ भाग मिलता था, किन्तु यदि सूचना देने वाला राजकर्मचारी होता था तो उसे $\frac{1}{12}$ भाग ही मिलता था। एक लाख पणों के ऊपर वाला गड़ा धन सम्पूर्ण रूप से राजा को ही प्राप्त होता था (बताने वाले को एक लाख पर ही $\frac{1}{6}$ भाग मिलता था)। ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य लोगों के निःसन्तान मर जाने पर उनकी सम्पत्ति राजा की हो जाती थी (देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय ३)। इस विषय में हम आगे 'व्यवहार एवं न्याय' वाले अध्याय में पुनः लिखेंगे। त्यागी हुई सम्पत्ति पर भी राजा का ही अधिकार होता था (देखिए गौतम० १०।३६-३८, वसिष्ठ० १६।१९, मनु ८।३०-३३, याज्ञ० २।३३, १७३-१७४, शंख-लिखित)। गौतम एवं बौधायन (१।१०।१७) का कथन है कि धन प्राप्त होने के एक वर्ष के उपरान्त ही राजा को उस पर अधिकार करना चाहिए। इस बीच में उसे डुग्गी पिटवा कर लोगों को तत्सम्बन्धी सूचना दे देनी चाहिए। किन्तु मनु (अध्याय ८) ने इस विषय में तीन वर्ष की अवधि दी है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।३३) ने लिखा है कि यदि वास्तविक स्वामी अपना अधिकार सिद्ध कर देता है तो एक वर्ष के भीतर उसे सम्पूर्ण धन बिना कर दिये मिल जाता है, किन्तु दूसरे वर्ष में उसे सम्पूर्ण धन का $\frac{1}{12}$ भाग सुरक्षा से रखे जाने के कारण कर के रूप में दे देना पड़ता है और इसी प्रकार तीसरे वर्ष में $\frac{1}{10}$ भाग देना पड़ जाता है। किन्तु यदि स्वामी तीन वर्षों के उपरान्त आता है तो उसे $\frac{1}{6}$ भाग देना पड़ता है। जो व्यक्ति धन का पता लगाता है उसे राजा के भाग का $\frac{1}{4}$ भाग मिल जाता है। यदि स्वामी नहीं आता है तो पाने वाले को $\frac{1}{4}$ भाग और राजा को $\frac{3}{4}$ भाग मिल जाता है। यदि स्वामी तीन वर्षों के उपरान्त आये और इस बीच में राजा उसके धन को प्राप्त कर ले तो उसे उस धन को उपर्युक्त नियम के अनुसार लौटाना पड़ता है। इसी प्रकार प्राप्त पशुओं के विषय में भी नियम हैं।

राजा को साक्षी के रूप में कोई नहीं बुला सकता था। देखिए कौटिल्य (३।२), मनु (८।६५) एवं विष्णु-धर्मसूत्र (८।२)।

वैधानिक रूप से कोई भी व्यक्ति राजा के अन्याय पर उसे अपराधी नहीं ठहरा सकता था। किन्तु धर्मशास्त्रकारों ने कहा है कि धर्म राजाओं का भी राजा है (बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१४), वरुण राजाओं को भी दण्ड देने वाला है (मनु ९।२४५); अतः स्पष्ट है कि उन्होंने राजा के उच्चतर स्वभाव एवं अन्तःकरण की ओर संकेत किया है। यदि

२७. शत्रुस्थैरात्मपुरुषैर्गूढैरुभयवेतनैः। भीतापमानितान् क्रुद्धान् भेदयेच्च नृसङ्गतान्॥ प्राणापहो मानभंगो धनहानिश्च बन्धकः। दाराभिलाषोऽङ्गभङ्ग इति भेदोऽत्र षड्विधः॥ मानसोल्लास २।१८, श्लो० ९८८-९८९, पृ० ११८।

राजा अन्यायपूर्वक किसी पर अर्थ-दण्ड लगाता है तो उसे उस दण्ड का तीस गुना वरुण को देना पड़ता है और वह उस धन को या तो जल में छोड़ देता है या ब्राह्मणों में बाँट देता है (याज्ञ० २।३०७)। जहाँ सामान्य अपराधी को एक कार्षापण दण्ड देना पड़ता था वहाँ राजा को एक सहस्र देना पड़ता था (मनु ८।३३६)। इस विषय में और देखिए कौटिल्य (४।१३, अन्तिम दो पद्य), मनु (९।२४५) एवं याज्ञ० (२।३०७)। किन्तु ये नियम केवल धर्मशास्त्रकारों की सद्भावना के द्योतक हैं, कदाचित् ही किसी राजा ने अपने को दण्डित किया हो! इसी से मध्य काल के कुछ लेखकों ने इस विषय में प्रयुक्त "राजा" शब्द को सामन्त के बराबर माना है, न कि किसी 'स्वतन्त्र राजा' के अर्थ में।

रामायण (२।१००।४३-४६) में सुशासित राज्य का वर्णन यों हुआ है—"मैं आशा करता हूँ कि तुम्हारे राज्य में सौ चैत्य (पवित्र वृक्षों के लिए मण्डप या उच्च स्थल) होंगे; वहाँ के लोग भली भाँति रक्षित होंगे; वहाँ मन्दिर, प्रपा (पौसरा), तालाब आदि होंगे; नर-नारी गण सुखपूर्वक रहते होंगे, जहाँ मेले एवं उत्सव होते होंगे; जहाँ भूमि में पर्याप्त कृषि-कर्म होता होगा; जहाँ पशु बिना किसी भय के विचरण करते होंगे; जहाँ के खेत केवल वर्षा-जल पर ही निर्भर नहीं रहते होंगे (अर्थात् जहाँ नहरों, तालाबों, कुओं आदि की पूर्ण व्यवस्था होती होगी); जो सुन्दर होगा और होगा हिंस्र पशुओं एवं अन्य भयों से विहीन; जहाँ खानें होंगी; जहाँ सौख्य एवं सम्पत्ति की प्रचुरता होगी और जो दुष्ट लोगों से विहीन होगा।" इस विषय में और देखिए आदिपर्व (अध्याय १०९)। विष्णुधर्मोत्तर (१।१३।२-१२) में प्राचीन अयोध्या का बहुत ही सुन्दर वर्णन उपस्थित किया गया है।

अध्याय ६

दुर्ग (किला या राजधानी) (४)

मनु (९।२९४) ने राजधानी को राष्ट्र के पूर्व रखा है। मेधातिथि (मनु ९।२९५) एवं कुल्लूक का कथन है कि राजधानी पर शत्रु के अधिकार से गम्भीर भय उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि वहीं सारा भोज्य पदार्थ एकत्र रहता है, वहीं प्रमुख तत्त्व एवं सैन्यबल का आयोजन रहता है, अतः यदि राजधानी की रक्षा की जा सकी तो परहस्त-गत राज्य लौटा लिया जा सकता है और देश की रक्षा की जा सकती है। भले ही राज्य का कुछ भाग शत्रु जीत ले किन्तु राजधानी अविजित रहनी चाहिए। राजधानी ही शासन-यन्त्र की धुरी है। कुछ लेखकों ने (यहाँ तक कि मनु ने भी, ७।६९-७०) पुर (राजधानी) या दुर्ग को राष्ट्र के उपरान्त स्थान दिया है। प्राचीन युद्ध-परम्परा तथा उत्तर भारत की भौगोलिक स्थिति के कारण ही राज्य के तत्त्वों में राजधानी एवं दुर्गों को इतनी महत्ता दी गयी है। राजधानी देश की सम्पत्ति का दर्पण थी और यदि वह ऊँची-ऊँची दीवारों से सुदृढ रहती थी तो सुरक्षा का कार्य भी करती थी। याज्ञवल्क्य (१।३२१) ने लिखा है कि दुर्ग की स्थिति से राजा की सुरक्षा, प्रजा एवं कोष की रक्षा होती है (जनकोषात्मगुप्तये)। मनु (७।७४) ने दुर्ग के निर्माण का कारण भली भाँति बता दिया है; दुर्ग में अवस्थित एक धनुर्धर एक सौ धनुर्धरों को तथा सौ धनुर्धर एक सहस्र धनुर्धरों को मार गिरा सकते हैं। देखिए पञ्चतन्त्र (१।२२९ एवं २।१४)। राजनीतिप्रकाश द्वारा उद्धृत बृहस्पति में आया है कि अपनी, अपनी रानियों, प्रजा एवं एकत्र की हुई सम्पत्ति की रक्षा के लिए राजा को प्राकारों (दीवारों) एवं द्वार से युक्त दुर्ग का निर्माण करना चाहिए।[1] कौटिल्य (२।३ एवं ४) ने दुर्गों के निर्माण एवं उनमें से किसी एक में राजधानी बनाने के विषय में सविस्तर लिखा है। उन्होंने चार प्रकार के दुर्गों का उल्लेख किया है, यथा—**औदक** (जल से सुरक्षित, जो द्वीप-सा हो, जिसके चारों ओर जल हो), **पार्वत** (पहाड़ी पर या गुफा वाला); **धान्वन** (मरुभूमि वाला, जलविहीन भूमिखण्ड पर जहाँ झाड़-झंखाड़ हों या अनुर्वर भूमि हो) तथा **वन-दुर्ग**, जहाँ खंजन, जल-मुर्गियाँ हों, जल हो, झाड़-झंखाड़ और बेंत एवं बाँसों के झुण्ड हों। कौटिल्य का कहना है कि प्रथम दो प्रकार के दुर्ग जन-संकुल स्थानों की सुरक्षा के लिए हैं और अन्तिम दो प्रकार जंगलों की रक्षा के लिए हैं। वायु० (८।१०८) ने दुर्ग के चार प्रकार दिये हैं। मनु (७।७०), शान्ति० (५६।३५ एवं ८६।४-५), विष्णुधर्मसूत्र (३।६), मत्स्य० (२१७। ६-७), अग्नि० २२२।४-५), विष्णुधर्मोत्तर (२।२६।६-९, ३।३२३।१६-२१), शुक्र० (४।६) ने छः प्रकार बताये हैं, यथा—**धान्व दुर्ग** (जलविहीन, खुली भूमि पर पाँच योजन के घेरे में), **महीदुर्ग** (स्थल-दुर्ग, प्रस्तर-खण्डों या ईंटों से निर्मित प्राकारों वाला, जो १२ फुट से अधिक चौड़ा और चौड़ाई से दुगुना ऊँचा हो), **जलदुर्ग** (चारों ओर जल से आवृत), **वार्क्ष-दुर्ग** (जो चारों ओर से एक योजन तक कँटीले एवं लम्बे-लम्बे वृक्षों, कँटीले लता-गुल्मों एवं झाड़ियों से आवृत हो), **नृदुर्ग** (जो चतुरंगिनी सेना से चारों ओर से सुरक्षित हो), **गिरिदुर्ग** (पहाड़ों वाला दुर्ग, जिस पर कठिनाई से चढ़ा जा

१. बृहस्पतिराह। आत्मदारार्थलोकानां सञ्चितानां तु गुप्तये। **नृपतिः कारयेद् दुर्गं प्राकारद्वारसंयुतम्॥** राजनीतिप्रकाश, पृ० २०२ एवं राजधर्मकाण्ड, पृ० २८।

सके और जिसमें केवल एक ही संकीर्ण मार्ग हो)। मनु (७।७१) ने गिरिदुर्ग को सर्वश्रेष्ठ कहा है, किन्तु शान्ति० (५६। ३५) ने नृदुर्ग को सर्वोत्तम कहा है, क्योंकि उसे जीतना बड़ा ही कठिन है। मानसोल्लास (२।५, पृ० ७८) ने प्रस्तरों, ईंटों एवं मिट्टी से बने अन्य तीन प्रकार जोड़कर नौ दुर्गों का उल्लेख किया है। मनु (७।७५), सभा० (५।३६), अयोध्या० (१००।५३), मत्स्य० (२१७।८), काम० (४।६०), मानसोल्लास (३।५, श्लो० ५५०-५५५), शुक्र० (४।६।१२-१३), विष्णुधर्मोत्तर (२।२६।२०-८८) के अनुसार दुर्ग में पर्याप्त आयुध, अन्न, औषध, धन, घोड़े, हाथी, भारवाही पशु, ब्राह्मण, शिल्पकार, मशीनें (जो सैकड़ों को एक बार मारती हैं), जल एवं भूसा आदि सामान होने चाहिए। नीति-वाक्यामृत (दुर्गसमुद्देश, पृ० १९९) का कहना है कि दुर्ग में गुप्त सुरंग होनी चाहिए जिससे गुप्त रूप से निकला जा सके, नहीं तो वह बन्दी-गृह-सा हो जायगा, वे ही लोग आने-जाने पायें जिनके पास संकेत-चिह्न हों और जिनकी हुलिया भली भाँति ले ली गयी हो। विशेष जानकारी के लिए देखिए कौटिल्य (२।३), राजधर्मकाण्ड (पृ० २८-३६), राजधर्म-कौस्तुभ (पृ० ११५-११७), जहाँ उशना, महाभारत, मत्स्य०, विष्णुधर्मोत्तर आदि से कतिपय उद्धरण दिये गये हैं।

ऋग्वेद में बहुधा नगरों का उल्लेख हुआ है। इन्द्र ने पुरुकुत्स के लिए सात नगर ध्वस्त कर डाले (ऋ० १।६३।७)। इन्द्र ने दस्युओं को मारा और उनके अयस् (ताम्र; 'हत्वी दस्यून् पुर आयसीर् नि तारीत्') के नगरों को नष्ट कर दिया (ऋ० २।२०।८)। स्पष्ट है, ऋग्वेद के काल में भी प्राकारयुक्त दुर्ग होते थे। किन्तु दीवारें मिट्टी या लकड़ी की थीं या पत्थर, ईंटों की थीं; कुछ स्पष्ट रूप से कहा नहीं जा सकता। देखिए हॉप्किंस, जे० ए० ओ० एस०, जिल्द १३, पृ० १७४-१७६। तैत्तिरीयसंहिता (६।२।३।१) ने असुरों के तीन नगरों का उल्लेख किया है जो अयस्, चाँदी एवं सोने (हरिणी) के थे। शतपथब्राह्मण में वर्णित **अग्निचयन** में सहस्रों पक्की ईंटों की आवश्यकता पड़ती थी। सिन्धु घाटी की नगरियों (मोहेनजोदड़ो एवं हरप्पा) में पक्की ईंटों का प्रयोग होता था (मार्शल, जिल्द १, पृ० १५-२६)। ऋग्वेद काल में भी ऐसा पाया जाना असम्भव नहीं होगा। रामायण एवं महाभारत में प्राकारों (दीवारों), तोरणों, अट्टालकों (ऊपरी मंजिलों), उपकुल्याओं आदि का उल्लेख राजधानियों के सिलसिले में पाया जाता है। कभी-कभी नगरों के नाम पर ही द्वारों के नाम पड़ जाते थे। पाण्डव लोग हस्तिनापुर के बाहर वर्धमानपुर द्वार से गये (वनपर्व १।९-१०)। महलों में नर्तनागार भी होते थे (विराटपर्व २२।१६ एवं २५-२६)। और देखिए शान्ति० (६९।६०, ८६।४-१५)। रामायण (५।२।५०-५३) में लंका के सात-सात एवं आठ-आठ मंजिल वाले प्रासादों एवं पच्चीकारी से युक्त फर्शों का उल्लेख मिलता है। बृहत्संहिता (अध्याय ५३) में वास्तुशास्त्र पर ११५ श्लोक आये हैं जिनमें भवनों, प्रासादों आदि के निर्माण के विषय में लम्बा-चौड़ा आख्यान पाया जाता है। इसमें दीवारों के लिए ईंटों या लकड़ी के प्रयोग की बात चलायी गयी है।

राजा की राजधानी दुर्ग के भीतर या सर्वथा स्वतन्त्र रूप से निर्मित हो सकती थी। मनु (७।७० एवं ७६), आश्रमवासिक० (५।१६-१७), शान्ति० (८६।६-१०), काम० (४।५७), मत्स्य० (२१७।९) एवं शुक्र० (१।२१३-२१७) ने राजधानी के निर्माण के विषय में उल्लेख किया है। कौटिल्य (२।४) ने विस्तार के साथ राजधानी के निर्माण की व्यवस्था दी है। कौटिल्य के मत से राजधानी के विस्तार-द्योतक रूप में पूर्व से पश्चिम तीन राजमार्ग तथा उत्तर से दक्षिण तीन राजमार्ग होने चाहिए। राजधानी में इस प्रकार बारह द्वार होने चाहिए। उसमें गुप्त भूमि एवं जल होना चाहिए। रथमार्ग, राजमार्ग एवं वे मार्ग जो द्रोणमुख, स्थानीय, राष्ट्र एवं चरागाहों की ओर जाते थे, चौड़ाई में चार दण्ड (१६ हाथ) होने चाहिए। कौटिल्य ने इसके उपरान्त अन्य कामों के लिए बने मार्गों की चौड़ाई का उल्लेख किया है। राजा का प्रासाद पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख होना चाहिए और लम्बाई एवं चौड़ाई में सम्पूर्ण राजधानी का $\frac{1}{9}$ भाग होना चाहिए। राजप्रासाद राजधानी के उत्तर में होना चाहिए। राजप्रासाद के उत्तर-पूर्व में राजा के आचार्य, पुरोहित, मन्त्रियों के गृह तथा यज्ञ-भूमि एवं जलाशय होना चाहिए। कौटिल्य ने इसी प्रकार राजप्रासाद के चतुर्दिक् अध्यक्षों,

व्यापारियों, प्रमुख शिल्पकारों, ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, वेश्याओं, बढ़इयों, शूद्रों आदि के आवासों का उल्लेख किया है। राजधानी के मध्य में अपराजित, अप्रतिहित, जयन्त एवं वैजयन्त के मूर्ति-गृह तथा शिव, कुबेर, अश्विनौ, लक्ष्मी, मदिरा (दुर्गा) के मन्दिर बने रहने चाहिए। प्रमुख द्वारों के नाम ब्रह्मा, यम, इन्द्र एवं कार्तिकेय के नामों पर रखे जाने चाहिए। खाई के आगे १०० धनुषों (४०० हाथ) की दूरी पर पवित्र पेड़ों के मण्डप, कुञ्ज एवं बाँध होने चाहिए। उच्च वर्णों के श्मशान-स्थल दक्षिण में तथा अन्य लोगों के पूर्व या उत्तर में होने चाहिए। श्मशान के आगे नास्तिकों एवं चाण्डालों के आवास होने चाहिए। दस घरों पर एक कूप होना चाहिए। तेल, अन्न, चीनी, नमक, दवाएँ, सूखी तरकारियाँ, इंधन, हथियार तथा अन्य आवश्यक सामग्रियाँ इतनी मात्रा एवं संख्या में एकत्र होनी चाहिए कि आक्रमण या घिर जाने पर वर्षों तक किसी वस्तु का अभाव न हो सके। उपर्युक्त विवरण से मत्स्यपुराण की बहुत-सी बातों का मेल नहीं बैठता (मत्स्य० २१७।९-८७)। राजनीतिप्रकाश (पृ० २०८-२१३) एवं राजधर्मकाण्ड (पृ० २८-३६) ने मत्स्यपुराण को अधिकांश में उद्धृत किया है। राजनीतिप्रकाश (पृ० २१४-२१९) ने देवीपुराण से **नगर, पुर, हट्ट, पुरी, पत्तन, मन्दिरों** के निर्माण के विषय में बहुत-से अंश उद्धृत कर डाले हैं।[२] पाणिनि (७।३।१४) ने ग्राम एवं नगर का अन्तर बताया है (प्राचां ग्रामनगराणाम्)। पतञ्जलि ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि ग्राम, घोष, नगर एवं संवाह भाँति-भाँति के जन-अधिवसितों (बस्तियों) के या बस्तियों के दलों के नाम हैं। वायुपुराण (९४।४०) ने पृथक् रूप से पुरों (नगरों या पुरियों), घोषों (ग्वालों के ग्रामों), ग्रामों एवं पत्तनों का उल्लेख किया है। राजधानी, प्रासाद, कचहरियों, कार्यालयों, खाइँयों आदि के निर्माण के विषय में देखिए शुक्र० (१।२१३-२५८), युक्तिकल्पतरु (पृ० २२), वायु० (८।१०८), मत्स्य० (१३०)। शुक्र० (१।२६०-२६७) ने **पद्या** (फुटपाथ), **वीथी** (गली) एवं **मार्ग** की चौड़ाई क्रम से ३, ५ एवं १० हाथ कही है। अयोध्या की राजधानी के वर्णन के लिए देखिए रामायण (२।१००।४०-४२)। रामायण (६।११२।४२ सिक्तरथ्यान्तरायणा) एवं महाभारत (आदि० २२१।३६) से पता चलता है कि सड़कों पर छिड़काव होता था। हर्ष-चरित (३) में बाण ने स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर) का सुन्दर वर्णन किया है। राजधानी के स्थानीय शासन के विषय में देखिए कौटिल्य (२।३६) पहाड़पुर पत्र (गुप्त संवत् १५९=४७८-९ ई०)। से पता चलता है कि नगर-श्रेष्ठी (राज-धानी के व्यापारियों एवं धनागार-श्रेष्ठियों के प्रमुख) का चुनाव सम्भवतः स्वयं राजा करता था (एपि० इ०, जिल्द २०, पृ० ५९)। सम्भवतः राजधानी के शासक को शासन-कार्य में सहायता देने के लिए पौरमुख्यों या पौरवृद्धों की एक समिति (बोर्ड) होती थी। दामोदरपुर के पत्र (एपि० इ०, जिल्द १५, पृ० १३०, १३३, गुप्त संवत् १२९) में नगर-सेठ (नगर-श्रेष्ठी) का उल्लेख है। मेगस्थनीज़ (मैक्रिंडिल की ऐंश्येण्ट इण्डिया, फ्रैगमेण्ट ३४, पृ० १८७) ने पालिबोथ्रा (पाटलिपुत्र) नगर तथा उसके शासन का वर्णन किया है। वह कहता है कि ५-५ सदस्यों की ६ समितियाँ थीं, जो क्रम से (१) शिल्पों, (२) विदेशियों, (३) जन्म-मरण, (४) व्यापार, बटखरों, (५) निर्मित सामानों एवं (६) बेची हुई वस्तुओं का दसवाँ भाग एकत्र करने अर्थात् चुंगी का प्रबन्ध करती थीं। मेगस्थनीज़ के कथन से पता चलता है कि पाटलिपुत्र ८० स्टैडिया लम्बा एवं १५ स्टैडिया चौड़ा था, इसका आकार समानान्तर चतुर्भुज की भाँति था और

२. मिलाइए "ग्रामा हट्टादिशून्याः, पुरो हट्टादिमत्यः, ता एव महत्यः पत्तनानि, दुर्गाण्यौदकादीनि। खेटाः कर्षकग्रामाः। खर्वटाः पर्वतप्रान्तग्रामा इति।" श्रीधर (भागवत० ४।१८।३१), राजनीतिकौस्तुभ द्वारा उद्धृत (पृ० १०२)। शिल्परत्न (अ० ५) में ग्राम, खेटक, खर्वट, दुर्ग, नगर, राजधानी, पत्तन, द्रोणिक, शिबिर, स्कन्धावार, स्थानीय, विडम्बक, निगम एवं शाखानगर की परिभाषाएँ दी गयी हैं। मय-मत (१०।९२) ने इनमें दस का उल्लेख किया है और (९।१०) ग्राम, खेट, खर्वट, दुर्ग तथा नगर के विस्तार का वर्णन किया है।

इसके चारों ओर लकड़ी की दीवारें थीं जिनमें तीर छोड़ने के लिए छिद्र बने हुए थे। राजधानी के सामने खाईं भी थी। एरियन (मैक्रिंडिल, पृ० २०९-२१०) के अनुसार पाटलिपुत्र में ५७० स्तम्भ एवं ६४ द्वार थे। अपने महाभाष्य में पतञ्जलि ने पाटलिपुत्र का उल्लेख कई बार किया है (जिल्द १, पृ० ३८०)। महाभाष्य में पाटलिपुत्र शोण के किनारे बताया गया है (पाणिनि २।१।१६) और इसमें इसके प्रासादों, दीवारों का भी उल्लेख हुआ है (वार्तिक ४, पाणिनि ४।३।६६, एवं जिल्द २, पृ० ३२१, पाणिनि ४।३।१३४)। फाहियान (सन् ३९९-४१४ ई०) ने भी पाटलिपुत्र की शोभा का उल्लेख किया है और उसे प्रेतात्माओं द्वारा बनाया हुआ कहा है। और देखिए राइस डेविड्स (बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ३४-४१)।

भागवतपुराण (४।१८।३०-३२) में आया है कि वेन के पुत्र पृथु ने सर्वप्रथम पृथिवी को समतल कराया और ग्रामों, नगरों, राजधानियों, दुर्गों आदि में जनों को बसाया। पृथु के पूर्व लोग जहाँ चाहते थे रहते थे, न तो ग्राम थे और न नगर। राजनीतिकौस्तुभ के अनुसार श्रीधर द्वारा उद्धृत भृगु के मत से ग्राम वह बस्ती है, जहाँ ब्राह्मण लोग अपने कर्मियों (मज़दूरों) एवं शूद्रों के साथ रहते हैं, खर्वट नदी के तट की उस बस्ती को कहते हैं जहाँ मिश्रित लोग रहते हैं और जिसके एक ओर ग्राम और दूसरी ओर नगर हो। राजनीतिकौस्तुभ (पृ० १०३-४) द्वारा उद्धृत शौनक के मत से खेट उसे कहते हैं जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य रहते हैं, वह स्थान जहाँ सभी जातियाँ रहती हैं, नगर कहलाता है। शौनक के मत से ब्राह्मण गृहस्थों को श्वेत एवं सुगन्धित मिट्टी में, क्षत्रियों को लाल एवं सुगन्धित मिट्टी वाले नगरों में तथा वैश्यों को पीली मिट्टी वाले स्थानों में बसना चाहिए।

अध्याय ७

कोष (५)

कौटिल्य (२।१) का कहना है कि जिस राजा का कोष रिक्त हो जाता है वह नगरवासियों एवं ग्रामवासियों को चूसने लगता है। कौटिल्य (२।८) ने ठीक ही कहा है कि राज्य के सारे व्यापार कोष पर निर्भर रहते हैं, अतः राजा को सर्वप्रथम कोष पर ध्यान देना चाहिए।[1] गौतम (सरस्वतीविलास द्वारा उद्धृत, पृ० ४६) का कहना है कि कोष राज्य के अन्य छः अंगों का आधार है। शान्ति० (११९।१६) ने भी कोष की महत्ता गायी है। काम० (१३।३३) ने तो यहाँ तक कहा है कि यह लौकिक प्रसिद्धि है कि राजा कोष पर आधारित है। विष्णुधर्मोत्तर (२।६१।१७) का कहना है कि कोष राज्य के वृक्ष की जड़ है। प्राचीन भारत के भारतीय राज्यों के दो स्तम्भ थे; राजस्व एवं सैन्यबल। मनु (७।६५) का कहना है कि राज्य का कोष एवं शासन राजा पर निर्भर रहता है, अर्थात् राजा को उन पर व्यक्तिगत ध्यान देना चाहिए। यही बात याज्ञ० (१।३२७-३२८) ने अपने ढंग से कही है। और देखिए काम० (५।७७) एवं शुक्र० (१। २७६-२७८)। राजतरंगिणी (७।५०७-५०८) का कथन है कि कश्मीर का राजा कलश (सन् १०६३-१०८९ ई०) वणिक की भाँति आय-व्यय का ब्यौरा रखता था और बड़ी सावधानी बरतता था। उसके पार्श्व में सदा एक लिपिक रहता था, जिसके हाथ में लिखने के लिए खड़िया एवं भूर्ज (भोजपत्र) रहा करते थे।

कोष भरने का प्रमुख साधन है कर-ग्रहण, अतः धर्मशास्त्रों द्वारा उपस्थापित कर-ग्रहण के सिद्धान्तों की व्याख्या कर लेना उचित है। **प्रथम सिद्धान्त** यह था कि स्मृतियों द्वारा निर्धारित कर के अतिरिक्त अन्य कर राजा नहीं लगा सकता था, अर्थात् राजा अपनी ओर से मनमानी नहीं कर सकता था। कर की मात्रा वस्तुओं के मूल्य एवं समय पर निर्भर थी, क्योंकि आक्रमण, दुर्भिक्ष आदि विपत्तियाँ भी घहरा सकती थीं। गौतम (१०।२४), मनु (७।१३०), विष्णुधर्मसूत्र (३।२२-२३) ने घोषित किया है कि राजा साधारणतया उपज का छठा भाग ले सकता है, किन्तु कौटिल्य (५।२), मनु (१०।११८), शान्ति० (अध्याय ८७), शुक्र० (४।२।९-१०) ने छूट दे दी है कि आपत्तियों के समय राजा उपज का चौथाई या तिहाई भाग ले सकता है। किन्तु इस विषय में कौटिल्य ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि राजा को आपत्ति-काल में भारी कर लगाने के लिए प्रजा से स्नेहपूर्ण याचना (प्रणय) करनी चाहिए और अनुर्वर भूमि पर तो भारी कर लगाना ही नहीं चाहिए। कौटिल्य ने यह भी कहा है कि एक आपत्ति-काल में एक से अधिक बार कर नहीं लगाना चाहिए।[2]

१. कोशमूलाः कोशपूर्वाः सर्वारम्भाः। तस्मात्पूर्वं कोशमवेक्षेत। कौ० २।२; कोशश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभिः। कोशमूला हि राजानः कोशो वृद्धिकरो भवेत्॥ शान्ति० (११९।१६); कोशमूलो हि राजेति प्रवादः सार्वलौकिकः। काम० (१३।३३), यह बुधभूषण (पृ० ३६) में भी पाया जाता है; कोशस्तु सर्वथा अभिसंरक्ष्य इत्याह गौतम। तन्मूलत्वात्प्रकृतीनामिति। सरस्वतीविलास (पृ० ४६)।

२. कोशमकोशः प्रत्युत्पन्नार्थकृच्छ्रः संगृह्णीयात्। जनपदं महान्तमल्पप्रमाणं वा देवमातृकं प्रभूतधान्यं धान्यस्यांशं तृतीयं चतुर्थं वा याचेत।...इति कर्षकेषु प्रणयः।...इति व्यवहारिषु प्रणयः।...सकृदेव न द्विः प्रयोज्यः। अर्थशास्त्र (५।२)।

शान्ति० (८७।२६-३३) में आया है कि अधिक कर लगाने के पूर्व राजा को चाहिए कि वह प्रजाजनों के समक्ष भाषण करे, यथा--"यदि शत्रु आक्रमण करता है तो तुम्हारा सब कुछ यहाँ तक कि तुम्हारी पत्नियों तक को उठा ले जायगा, शत्रु तुमसे जो छीन लेगा वह पुनः तुम्हें वापस नहीं मिलेगा . . .।" जूनागढ़ के अभिलेख में (एपि० इ०, जिल्द ८, पृ० ३६, जिल्द २, पृ० १५-१६) भी 'प्रणय' शब्द का प्रयोग हुआ है। कर-ग्रहण के सिलसिले में **दूसरा सिद्धान्त** बड़े कवित्व-पूर्ण एवं आलंकारिक रूप में रखा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि करदाता को कर हलका लगे, जिसे वह बिना किसी कठिनाई के दे सके। उद्योग० (३४।१७-१८) में आया है[3]--"जिस प्रकार मधुमक्खी मधु तो निकाल लेती है, किन्तु फूलों को बिना पीड़ा दिये छोड़ देती है, उसी प्रकार राजा को मनुष्यों से बिना कष्ट दिये धन लेना चाहिए। मधुमक्खी मधु के लिए प्रत्येक फूल के पास जा सकती है, किन्तु उसे फूल की जड़ नहीं काट देनी चाहिए, माली के समान उसे व्यवहार करना चाहिए, न कि अंगारकारक (कोयला फूँकने वाले) के समान (जो कोयला बनाने के लिए सम्पूर्ण पेड़ जड़-सहित काट लेता है)। मनु (७।१२९ एवं १४०) ने संक्षिप्त रूप से इस प्रकार कहा है--"जिस प्रकार जोंक, बछड़ा एवं मधुमक्खी थोड़ा-थोड़ा करके अपनी जीविका के लिए रक्त, दूध या मधु लेते हैं, उसी प्रकार राजा को अपने राज्य से वार्षिक कर के रूप में थोड़ा-थोड़ा लेना चाहिए। राजा को न तो अपनी जड़ (कर न लेकर) और न दूसरों की जड़ (अधिक कर लेकर) काटनी चाहिए।[4] यही बात शान्ति० (८८।४-६) ने दूसरे ढंग से कही है। और देखिए धम्मपद (अध्याय ४९)। राजा को मालाकार की भाँति न कि आंगारिक की भाँति कार्य करना चाहिए।[5] कर-ग्रहण का **तीसरा सिद्धान्त** यह है कि कर-वृद्धि क्रमशः और वह भी एक समय, कम ही होनी चाहिए (शान्ति० ८८।७-८)। करों को उचित समय एवं उचित स्थल पर उगाहना चाहिए (शान्ति० ८८।१२ एवं काम० ५।८३-८४)।[6] व्यापारियों पर कर लगाते समय राजा को निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए; वस्तुओं के क्रय में कितना धन लगा है, राज्य में वस्तुओं की बिक्री कैसी होगी, कितनी दूरी से सामान लाया गया, मार्ग में खाने-पीने, सुरक्षा आदि की व्यवस्था में कितना धन लगा (मनु ७।१२७=शान्ति० ८७।१३-१४)। शिल्पियों पर कर लगाने के पूर्व उनके परिश्रम एवं कुशलता आदि पर ध्यान देना चाहिए (शान्ति० ८८।१५)। राज्य के कोष के लिए सभी को कुछ-न-कुछ देना ही चाहिए। यहाँ तक कि दरिद्र लोगों को भी, जो कोई वृत्ति करते हैं, कर देना चाहिए। रसोई बनाने वालों, बढ़इयों, कुम्हारों आदि को भी मास में एक दिन की कमाई कर के रूप में देनी चाहिए (मनु ७।१३७-१३८)। और देखिए गौतम (१०।३१-३४), विष्णु-धर्मसूत्र (३।३२)। किन्तु शुक्र (४।२।१२१) का कथन है कि मजदूरों एवं शिल्पियों को प्रत्येक पक्ष में एक दिन की बेगार देनी चाहिए। गौतम (१०।३४) का कहना है कि बेगार के दिन राजा द्वारा उन्हें भोजन मिलना चाहिए। काम-

३. यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः। तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया।। पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत्। मालाकार इवारामे न यथाङ्गारकारकः।। उद्योग० (३४।१७-१८)। यही बात पराशर (१।६२) ने भी कही है। मिलाइए धम्मपद (४९)--'यथापि भमरो पुप्फं वण्णगंधं अहेठयं। पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे।।'

४. यथा राजा च कर्ता च स्यातां कर्मणि भागिनौ। संवेक्ष्य तु तथा राज्ञा प्रणेयाः सततं कराः।। नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चापि तृष्णया। ईहाद्वाराणि संरुध्य राजा संप्रीतदर्शनः।। शान्ति० (८७।१७-१८); मनु (८।१३९) ने भी आधा "नोच्छिन्द्यात्...आदि" कहा है।

५. मालाकारोपमो राजन्भव मांगारिकोपमः। शान्ति० (७१।२०); और देखिए शुक्रनीतिसार (४।२।११३), जहाँ ऐसी ही उपमा दी गयी है।

६. आददीत धनं काले त्रिवर्गपरिवृद्धये। यथा गौः पाल्यते काले दुह्यते च तथा प्रजा।। काम० ५।८३-८४।

न्दक (४।६२।६४), शुक्र० (४।२-३), गौतम (१०।२८-२९), मनु (७।१२८, ८।३०६-३०८), नारद (प्रकीर्णक ४८) आदि ने कर लगाने के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला है।[7] प्रजाजनों की रक्षा करने के लिए मानो कर राजा का वेतन है। राजा सूर्य के समान है जो समुद्र से जल सोखकर पुनः वर्षा करता है (रघुवंश १।१८)। कर लेकर राजा राज्य की रक्षा करता है, आपत्तियों से बचाता है, धर्म एवं अर्थ नामक उद्देश्यों की पूर्ति करता है।

कामन्दक (५।७८-७९) ने विभागाध्यक्षों के कार्यों द्वारा कोष के भरण के लिए आठ प्रमुख स्रोतों (अष्टवर्गों) का उल्लेख किया है, यथा——कृषि, जल-स्थल के मार्ग, राजधानी, जलों के बाँध, हाथियों को पकड़ना, खानों में काम करना——सोना एकत्र करना, (धनिकों से) धन उगाहना, निर्जन स्थानों में नगरों एवं ग्रामों को बसाना। मानसोल्लास (२।४, श्लोक ५३९-५४०, पृ० ७७) ने कहा कि है राजा को वार्षिक कर का तीन चौथाई भाग साधारणतः व्यय कर देना चाहिए और एक चौथाई बचा रखना चाहिए। शुक्र० (१।३१५-३१७) के मत से राजा को अपनी वार्षिक आय का छठा भाग बचा रखना चाहिए, सम्पूर्ण का आधा भाग सेना पर, बीसवाँ भाग (पण्डितों, दरिद्रों एवं असहायों आदि को) दान के रूप में तथा मन्त्रियों, छोटे-मोटे कर्मचारियों, अपने लिए तथा अन्य मदों में व्यय करना चाहिए। शुक्र० (४।२। २६) का कथन है कि राजा को तीन वर्षों के लिए अन्न एकत्र रखना चाहिए। इस स्मृति ने तो एक यह भी असम्भव बात कह डाली है कि उसका कोष इतना परिपूर्ण होना चाहिए कि २०.वर्षों तक बिना किसी प्रकार का कर उगाहे सेना का व्यय सँभाला जा सके। मानसोल्लास (२।४।३९४, ३९७, पृ० ६४) का कहना है कि कोष सोना, चाँदी, रत्नों, आभूषणों, बहुमूल्य परिधानों, निष्कों (सिक्कों) आदि से परिपूर्ण रहना चाहिए। कौटिल्य (४।३) के मत से दुर्भिक्ष में राजा धनिकों से उनका धन ले सकता है। कौटिल्य (५।२) ने यह भी कहा है कि जब कोष खाली हो और कोई विपत्ति सामने आ खड़ी हो, तो राजा कृषकों, व्यापारियों, मद्य-विक्रेताओं (कलवारों), वेश्याओं, सूअर बेचने वालों, अण्डा, पशु आदि रखने वालों से विशिष्ट याचना करने के उपरान्त धनिकों से यथासामर्थ्य सोना देने का अनुरोध कर सकता है और उन्हें दरबार में कोई ऊँचा पद या छत्र या पगड़ी या कोई उचित सम्मान देकर बदला चुका सकता है।[8] कौटिल्य ने राजा को यह छूट दी है कि वह आपत्काल में देवनिन्दकों के संघों एवं मन्दिरों का धन छीन सकता है, अथवा किसी रात्रि में अचानक किसी देवमूर्ति या पूत वृक्ष का चैत्य (उच्च मण्डप) स्थापित करने के लिए या अलौकिक शक्तियों वाले किसी व्यक्ति के लिए पवित्र स्थान की स्थापना के लिए या मेला या जन-समूह के आनन्दोत्सव के लिए आवश्यक धन एकत्र कर सकता है।[9] कौटिल्य ने और भी बहुत-सी बातें कही हैं, जिन्हें स्थानाभाव से हम यहाँ नहीं दे रहे हैं। उपर्युक्त

७. बह्वादानोऽल्पनिःस्रावः ख्यातः पूजितदैवतः। ईप्सितद्रव्यसंपूर्णो हृद्य आप्तैरधिष्ठितः।। मुक्ताकनकरत्नाढ्यः पितृपैतामहोचितः। धर्मार्जितो व्ययसहः कोशः कोशज्ञसंमतः।। धर्महेतोस्तथार्थाय भृत्यानां भरणाय च। आपदर्थं च संरक्ष्यः कोशः कोशवता सदा।। काम० ४।६२–६४, राजनीतिरत्नाकर (पृ० ३४) द्वारा उद्धृत।

८. सारतो वा हिरण्यमाढ्यान्याचेत। यथोपकारं वा स्ववशा वा यदुपहरेयुः स्थानछत्रवेष्टनविभूषाश्चैषां हिरण्येन प्रयच्छेत्। अर्थशास्त्र ४।२।

९. पतञ्जलि (महाभाष्य, जिल्द २, पृ० ४२९, पाणिनि ५।३।९९) के अनुसार मौर्यों ने धन के लिए मूर्तियाँ स्थापित की थीं। राजतरंगिणी (५।१६६–१७७) ने कश्मीर के राजा शंकरवर्मा की ज्यादतियों (बलपूर्वक ग्रहण) का वर्णन किया है। उसने निगरानी करने के बहाने से ६४ मन्दिरों का धन लूट लिया। उसने गृह्य कृत्यों (यथा——उपनयन-संस्कार, विवाह आदि) पर भी कर लगाया था। ग्यारहवीं शताब्दी में कश्मीर के राजा हर्ष ने अधिकांश मन्दिरों को लूट लिया था (राजतरंगिणी ७।१०९०)।

उपायों के पीछे कौटिल्य का मन्तव्य इतना ही है कि आपत्काल में उपयुक्त सहायता प्राप्त हो सके। किन्तु कौटिल्य ने इस विषय में इतनी सावधानी प्रदर्शित की है कि उचित धार्मिक स्थानों की सम्पत्ति न छीनी जा सके, केवल अधार्मिक एवं राजद्रोही लोगों की सम्पत्ति के साथ ही ऐसा व्यवहार किया जाय (५।२; एवं दूष्येष्वधार्मिकेषु वर्तेत नेतरेषु)। रिक्त कोष की पूर्ति के विषय में और देखिए नीतिवाक्यामृत (कोश-समुद्देश, पृ० २०५)। परशुरामप्रताप (राजवल्लभ-काण्ड) ने तो ऐसा उद्धरण दिया है जिससे सिद्ध होता है कि कोष की पूर्ति के लिए रसायन, धातुवाद आदि का प्रयोग किया जा सकता है।[10] शुक्र (४।२।११) ने ऋण पर धन लेने की बात भी चलायी है।[11] शान्ति० (८८।२९-३०) में आया है कि राजा को चाहिए कि वह अपने राज्य के धनिकों को आदर-सम्मान दे, क्योंकि वे राज्य के प्रधान तत्त्व होते हैं, इतना ही नहीं; उनसे प्रार्थना करनी चाहिए कि वे उसके साथ जनता पर अनुग्रह करें।[12]

राजा को कर देने के विषय में बहुत-से कारण बताये गये हैं। गौतम (१०।२८) का कहना है कि राजा रक्षा करता है अतः उसके लिए कर देना चाहिए। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रकट हुआ है कि कर मानो राजा का वेतन है। राजा मनु ने प्रजा से इसी प्रकार का समझौता किया था (देखिए शान्ति० ६७ एवं ७०।१०, बौधायनधर्मसूत्र १।१०।१, नारद १८।४८, कौटिल्य १।१३)। कात्यायन (श्लोक १६-१७) का कहना है कि राजा भूमि का स्वामी है, किंतु धन के अन्य प्रकारों का नहीं, वह उपज के छठे भाग का अधिकारी है; मनुष्य भूमि पर निवास करते हैं अतः वे साधारण रूप में स्वामी-से लगते हैं (किन्तु, वास्तव में, उनका स्वामित्व दूसरे ढंग का है; वास्तविक स्वामी तो राजा ही है)।[13]

धर्मशास्त्रों, अर्थशास्त्रों एवं शिलालेखों में भाँति-भाँति के करों का उल्लेख हुआ है। राजा को जो कर दिया जाता है उसका प्राचीनतम नाम है 'बलि'। ऋग्वेद (७।६।५ एवं १०।१७३।६) में साधारण लोगों के लिए 'बलिहृत्' (राजा के लिए बलि, शुल्क या कर लाने वाले) शब्द का प्रयोग हुआ है।[14] तैत्तिरीय-ब्राह्मण (२।७।१८।३) में आया है—"हरन्त्यस्मै विशो बलिम्" अर्थात् "लोग राजा के लिए बलि लाते हैं।" ऐतरेय ब्राह्मण (३५।३) में वैश्य को "बलिकृत्" (दूसरे को कर देने वाला) कहा गया है, क्योंकि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय लोग अधिकांश में कर-मुक्त थे। देखिए प्रो० हाप्किंस की पुस्तक 'सोशल कण्डीशन आव दी रूलिंग क्लास' (जे० ए० ओ० एस, जिल्द १३, पृ० ८९) एवं फिक (पृ० ११९, जहाँ करों के सम्बन्ध में जातकों का साक्ष्य (हवाला) दिया गया है। मनु (७।८०), मत्स्य० (२१५।५७), रामायण (३।६।११), विष्णुधर्मसूत्र (२२) में 'बलि' शब्द का प्रयोग (राजा द्वारा लगाये गये कर के

१०. धातुवादप्रयोगैश्च विविधैर्वर्धयेद्धनम्। ताम्रेण साधयेत् स्वर्णं रौप्यं वंगेन साधयेत्॥ परशुरामप्रताप (राज०)।

११. धनिकेभ्यो भृतिं दत्त्वा स्वापत्तौ तद्धनं हरेत्। राजा स्वापत्समुत्तीर्णस्तत्स्वं दद्यात्सवृद्धिकम्॥ शुक्र० (४।२।११)।

१२. धनिनः पूजयेन्नित्यं पानाच्छादनभोजनैः। वक्तव्याश्चानुगृह्णीध्वं प्रजाः सह मयेति वै॥ अंगमेतन्महद्-राज्ये धनिनो नाम भारत। ककुदं सर्वभूतानां धनस्थो नात्र संशयः॥ शान्ति० ८८।२९-३०।

१३. कात्यायनः। भूस्वामी तु स्मृतो राजा नान्यद्रव्यस्य सर्वदा। तत्फलस्य हि षड्भागं प्राप्नुयान्नान्यथैव तु॥ भूतानां तन्निवासित्वात्स्वामित्वं तेन कीर्तितम्। राजनीतिप्रकाश (पृ० २७१)। देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय २५, जहाँ राजा के भूमि-स्वामित्व पर विवेचन उपस्थित किया गया है।

१४. स निरुध्या नहुषो यह्वो अग्निर्विशश्चक्रे बलिहृतः सहोभिः॥ ऋ० ७।६।५; अथो त इन्द्रः केवलीर्विशो बलिहृतस्करत्॥ ऋ० १०।१७५।६; हरन्त्यस्मै विशो बलिम्। तै० ब्रा० २।७।१८।३।

रूप में) षष्ठ भाग के लिए हुआ है। अशोक के रुम्मिन्देई स्तम्भ-लेख (कॉर्पस इंस्क्रिप्सनम् इण्डिकेरम्, जिल्द १, पृ० १६४) में आया है कि लुम्मिनि ग्राम बलि-मुक्त कर दिया गया, किन्तु उसे उपज का ⅛ भाग देना पड़ता था (लुम्मिनिग्राम उद्बलिक (उब्दलिकः) कटे अठभागिये (अष्टभागिकः) च)। यहाँ 'बलि' एवं 'भाग' में अन्तर दिखाया गया है उपहार अर्थ में 'बलि' व्यापक शब्द है, 'कर' शब्द लगान (टैक्स) का सामान्य अर्थ प्रकट करता है। और देखिए आपस्तम्ब-धर्मसूत्र (२।१०।२६।१०), मनु (७।१२८, १२९, १३३), वसिष्ठ० (१९।२३), विष्णु-धर्मसूत्र (३।२६-२७)। 'भाग' शब्द साधारण करों के लिए प्रयुक्त हुआ है और इसका अर्थ है राजा का भूमि-खण्डों, वृक्षों, ओषधियों, पशुओं, द्रव्यों आदि पर भाग या हिस्सा। इस विषय में देखिए मनु (७।१३०-१३१।८।३०५), विष्णुधर्मसूत्र (३।२५)। 'भाग' का यह अर्थ अति प्राचीन है। भागदुघ, राजा के रत्नियों में एक रत्नी था। अमरकोश में **बलि, कर, भाग** पर्याय माने गये हैं।

शुल्क शब्द का अर्थ है चुंगी, जो क्रेताओं एवं विक्रेताओं द्वारा राज्य के बाहर या भीतर ले जाने या लाने वाले सामानों पर लगायी जाती थी (शुक्र० ४।२।१०८)। पाणिनि (४।३।७५) के 'आयस्थानेभ्यष्ठक्' सूत्र की व्याख्या करते हुए महाभाष्य ने 'शौल्किक' एवं 'गौल्मिक' उदाहरण दिये हैं, जिससे प्रकट होता है कि शुल्क, जो चुंगी की चौकियों पर लिया जाता था, आय का एक रूप था।

राज्य की आय के प्रमुख एवं सतत चलने वाले साधन तीन थे, यथा—उपज पर राजा का भाग, चुंगी एवं दण्ड से प्राप्त धन (अपराधियों एवं हारे हुए मुकदमेबाजों से प्राप्त धन, अर्थात् उन पर लगाये गये आर्थिक दण्डों से प्राप्त धन)। इस विषय में देखिए शान्ति० (७१।१०) एवं शुक्र० (४।२।१३)। प्रमुख करदाता थे कृषक, व्यापारी, श्रमिक एवं शिल्पकार (मनु १०।११९-१२०)। वर्धमान (पृ० ५) के दण्डविवेक में उद्धृत मनु (८।३०७) के अनुसार वह राजा, जो बिना रक्षा किये **बलि, कर, शुल्क, प्रतिभोग** (मुद्रित संस्करण में **प्रतिभाग**) एवं **दण्ड** (अर्थ-दण्ड या जुरमाना) लगाता है, सीधे नरक को जाता है। वर्धमान ने उसे **कर** कहा है जो प्रति मास ग्रामवासियों एवं नगर-वासियों से (कुल्लूक के मत से प्रत्येक मास में, या वर्ष में दो बार, भाद्रपद या पौष में) लिया जाता है, व्यापारियों से प्राप्त ¹⁄₂₀ भाग **शुल्क** तथा प्रति दिन बेचे गये फल, फूल एवं शाक पर लगने वाला **प्रतिभोग** कहा गया है। इन कतिपय तथा अन्य प्रकार के करों के विषय में यहाँ कुछ लिख देना आवश्यक जान पड़ता है।

मनु (७।१३०), गौतम (१०।२४), विष्णुधर्मसूत्र (३।२२), मानसोल्लास (२।३।१६३, पृ० ४४) एवं अन्य ग्रन्थों में राजा भूमि से प्राप्त अन्न के ⅙, ⅛ या ¹⁄₁₂ भाग का (विष्णु० में ⅙, गौतम में ¹⁄₁₀ भाग भी) अधिकारी माना जाता है। बृहस्पति एवं विष्णुधर्मोत्तर (२।१।६०-६१) में इन करों के उगाहने की दशाओं का वर्णन मिलता है। राजा शूकधान्य (ऐसे धान्य या अनाज जिनमें टूँड़ हो, यथा जौ गेहूँ आदि) का ⅙ भाग, **शिम्बीधान्य** (ऐसे धान्य जिनके बीच में बीज हो या बीजकोश) का ⅛ भाग, वर्षों से न जोते गये खेत से उत्पन्न अन्न का ¹⁄₁₀ भाग, वर्षा ऋतु में उत्पन्न अन्न का ⅛ भाग एवं वसन्त ऋतु में उत्पन्न अन्न का ⅙ भाग लेता है।[१५] देश की परम्परा के अनुसार कर वर्ष में या छः मास में एक बार उगाहा जाता था। कौटिल्य द्वारा उपस्थापित विभिन्न कर-परिणामों की ओर सीताध्यक्ष के

१५. विष्णुधर्मोत्तरे। शूकधान्येषु षड्भागं शिम्बीधान्येष्वथाष्टमम्। राजा बल्यर्थमादद्याद्देशकालानुरूपतः॥ शूकशिम्ब्यतिरिक्ते धान्ये मनुगौतमोक्तो द्वादशो दशमो वा भागः। तथा च बृहस्पतिः। दशाष्टषष्ठं नृपतेर्भागं दद्यात् कृषीवलम्। खिलाद्वर्षावसन्ताच्च कृष्यमाणाद्यथाक्रमम्॥... ...स एवाह। देशस्थित्या बलिं दद्युर्भूतं षण्मास-वार्षिकम्। एष धर्मः समाख्यातः कीनाशानां पुरातनः॥ राजनीतिप्रकाश (पृ० २६२–२६३) एवं राजधर्मकाण्ड (पृ० ६३, अन्तिम दो श्लोक)।

कार्यों के वर्णन (गत पृ० ६४६) में संकेत कर दिया गया है। शुक्र० (४।२।१२१-१२२) ने एक सुन्दर नियम दिया है—"यदि कोई कृषक तालाब, कूप, जलाशय बनाता है या वर्षों से पड़े हुए (अकृष्ट अर्थात् न जोते गये) खेत को जोतता है तो उससे तब तक कर नहीं लिया जाना चाहिए, जब तक कि वह अपने व्यय किये हुए धन का दुगुना नहीं प्राप्त कर लेता।" कौटिल्य (२।१) ने लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह कृषकों को बीज, पशु एवं धन अग्रिम दे दे, जिसे कृषक कई सरल भागों में लौटा सकते हैं। इस प्रकार की कृपा को अनुग्रह कहा जाता है। राजा को इस प्रकार **अनुग्रह** एवं **परिहार** (छूट) करना चाहिए कि कोष बढ़े, न कि खाली हो जाय।[16] यह हमने बहुत पहले देख लिया है कि साधारणतः राजा को उपज का $\frac{1}{6}$ भाग मिलता था, किन्तु आक्रमण या अन्य प्रकार की आपत्तियों की स्थिति में वह $\frac{1}{4}$ भाग तक कर प्राप्त कर सकता था। मेगस्थनीज़ (फ्रैगमेण्ट १, पृ० ४२) का कथन है कि किसी को भूमि-स्वामित्व का अधिकार नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति को भूमि-कर के अतिरिक्त उपज का $\frac{1}{4}$ भाग देना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में कर अधिक देना पड़ता था, क्योंकि उन दिनों यूनानी आदि आक्रामकों को मार भगाने तथा विशाल सेना के लिए अधिक धन की आवश्यकता थी। मनु (७।१३०), गौतम (१०।२५), विष्णुधर्मसूत्र (३।२४), मानसोल्लास (२।३।१६३, पृ० ४४) आदि के मत से राजा को चरवाहों द्वारा पालित पशुओं तथा महाजनी पर $\frac{1}{50}$ भाग लेने का अधिकार था। अन्तिम बात से प्रकट होता है कि मानो प्राचीन काल में **आयकर** (इनकम टैक्स) लेने की प्रथा भी हलके ढंग से विद्यमान थी। शुक्र० (४।२।१२८) ने महाजनों द्वारा प्राप्त ब्याज पर $\frac{1}{32}$ भाग लेने की व्यवस्था दी है।[17] विष्णु ने इस विषय में वस्त्र-व्यापार की भी चर्चा की है। मनु (७।१३१-१३२), गौतम (१०।२७), विष्णुधर्मसूत्र (३।२५), विष्णुधर्मोत्तर (२।६१।६-६३) एवं मानसोल्लास के अनुसार राजा को पेड़ों, मांस, मधु, घृत, चन्दन, ओषधियों के पौधों (यथा गुडूची), रसों (नमक आदि), पुष्पों, जड़ों (यथा हल्दी आदि), फलों, पत्तियों (यथा ताम्बूल आदि), शाकों (तरकारियों), घासों, खालों, बाँस की बनी वस्तुओं, मिट्टी के बरतनों, प्रस्तर की वस्तुओं पर $\frac{1}{6}$ भाग मिलता था। विष्णु ने इस सूची में मृगचर्म भी जोड़ दिया है।

शुल्क के दो प्रकार हैं—(१) वह जो स्थलमार्ग द्वारा ले जाये जाने वाले सामानों पर लगता है और (२) वह जो जलमार्ग द्वारा ले जाये जाने वाले सामानों पर लगता है (मिताक्षरा, याज्ञ० २।२६३)। गौतम (१०।२६) एवं विष्णुधर्मसूत्र (३।२९) के अनुसार देश में क्रीत एवं विक्रीत सामानों पर शुल्क $\frac{1}{20}$ भाग था, जिसे हरदत्त एवं नन्द पण्डित ने बिक्री की हुई वस्तुओं के दाम पर ५ प्रतिशत माना है और राजनीतिप्रकाश (पृ० २६४) ने क्रीत धन एवं विक्रीत धन के अन्तर अर्थात् लाभ के ५ प्रतिशत के रूप में माना है। विष्णुधर्मसूत्र (३।२९-३०) का कहना है कि राजा अपने देश में बने हुए सामानों पर $\frac{1}{10}$ भाग तथा दूसरे देश से आये हुए सामानों पर $\frac{1}{20}$ भाग कर लेता है। याज्ञ० (२।२६१) का कहना है कि सामानों का $\frac{1}{20}$ भाग कर के रूप में लिया जाता है। कौटिल्य (२।२१) ने शुल्काध्यक्ष के अध्याय में कुछ नियम दिये हैं जिनके विषय में कुछ मनोरंजक बातें ये हैं—विवाह सम्बन्धी सामानों, वधू द्वारा पिता के घर से ससुराल ले जाते हुए सामानों या भेट की वस्तुओं पर, यज्ञ के सामानों, प्रसूति के सामानों, देवों की पूजा की वस्तुओं, चौल, उपनयन, गोदान, व्रत के उपकरणों, यज्ञ में दीक्षित करने के सामानों तथा इसी प्रकार अन्य प्रकार के विशिष्ट उत्सवों या क्रिया-संस्कारों में उपस्थित वस्तुओं पर कर नहीं लगता। वे वस्तुएँ, जो देश के लिए नाशकारी

१६. धान्यपशुहिरण्यैश्चैनाननुगृह्णीयात्तान्यनुसुखेन दद्युः। अनुग्रहपरिहारौ चैभ्यः कोशवृद्धिकरौ दद्यात्। कौटिल्य २।१, पृ० ४७।

१७. वार्धुषिकाच्च कौसीदाद् द्वात्रिंशांशं हरेन्नृपः। शुक्र० ४।२।१२८।

हों अथवा निरर्थक हों, नष्ट कर देनी चाहिए; उन वस्तुओं पर जिनकी उपादेयता बहुत अधिक हो, वे बीज जो सरलतापूर्वक प्राप्त नहीं होते, आदि आदि बिना किसी शुल्क के दूसरे देश से मँगा लिये जा सकते हैं।[१८] कौटिल्य (२।२२) ने आगे कहा है कि आयात-निर्यात पर शुल्क लगता है; आयात पर सामान्यतः वस्तुओं का $\frac{१}{५}$ भाग कर-रूप में लिया जाता है और अन्य प्रकार की वस्तुओं पर विभिन्न प्रकार के शुल्क लिये जा सकते हैं, यथा $\frac{१}{६}$, $\frac{१}{१०}$, $\frac{१}{१५}$, $\frac{१}{२०}$ या $\frac{१}{२५}$ भाग। कौटिल्य (२।२८) ने बन्दरगाहों के सामानों के शुल्कों की चर्चा की है जिसके विषय में हमने पहले ही पढ़ लिया है।

नाव से पार होने या सामान ले जाने पर निम्न प्रकार के नियम बने थे। ब्राह्मणों, साधुओं, बच्चों, बूढ़ों, रोगियों, राजदूतों, गर्भवती स्त्रियों पर नाव से पार होने समय शुल्क नहीं लगा था। सामान तथा पशुओं के बच्चों या छोटे पशुओं वाले मनुष्यों को एक माष, गाय, घोड़ा वाले मनुष्यों को दो माष शुल्क देना पड़ता था। पशुओं की संख्या के अनुसार शुल्क बढ़ता जाता था। मानसोल्लास (२।४, श्लोक ३७४-३७६, पृ० ६२) ने व्यवस्था दी है कि राजा को वेलापुरों (बन्दरगाहों) की सुरक्षा करनी चाहिए, और जब अपने देश के नाविक दूर देश से सामान लेकर वेलापुर पर आयें तो उनसे सामानों का $\frac{१}{१०}$ भाग शुल्क के रूप में लेना चाहिए और यदि उलटी हवाओं के कारण विदेशी नावें अपने वेलापुरों में चली आयें तो उनका सारा सामान जब्त कर लेना चाहिए या थोड़ा-बहुत छोड़कर सर्वस्व हरण कर लेना चाहिए। इस विषय में एक मनोरंजक शिलालेख का भी हवाला द्रष्टव्य है (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १२, पृ० १९५)[१९]। काकतीयराज गणपतिदेव (१२४४-४५ ई० सन्) के मोटुपल्लि-स्तम्भ के अभिलेख में एक **अभय-शासन** (सुरक्षा-सम्बन्धी राजानुशासन या सिक्योरिटी के चार्टर) का उल्लेख है। यह अनुशासन उन नाविकों के विषय में है, जो दूसरे-दूसरे देशों के नगरों, द्वीपों एवं महाद्वीपों तक अपने पोत चलाया करते थे, यथा—"पुराने राजा लोग, उन पोतों के सामानों, यथा सोना, हाथी, घोड़े आदि को छीन लेते थें, जो एक देश से दूसरे देश जाते समय दुर्वातों (विरोधी हवाओं) के कारण ऐसे स्थान में आ लगते थे, जो उनका गन्तव्य न हो, किन्तु यह जानते हुए कि जीवन से धन अधिक प्यारा है, हम लोगों ने दयापूर्वक यह निश्चय किया है कि हम उन्हें सब कुछ ले जाने देंगे, केवल उनसे शुल्क मात्र लेंगे, (क्योंकि) वे समुद्र पार करने का साहस करते हैं। ऐसा करके हम गौरव एवं सचाई के अधिकारी होंगे। शुल्क इस प्रकार लिया जाता है...।" समुद्र से आये हुए सामानों पर बौधायनधर्मसूत्र (१।१०।१५-१६) के अनुसार $\frac{१}{१०}$ भाग शुल्क लगना चाहिए। देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका (जिल्द ३, पृ० २९२)। शुक्रनीतिसार (४।२।१०९-१११) ने उचित शुल्क-निर्धारण किया है। एक देश में एक वस्तु पर एक ही बार शुल्क लगेगा, राजा क्रय करने वाले या विक्रय करने वाले से $\frac{१}{१६}$, $\frac{१}{२०}$ या $\frac{१}{३२}$ भाग ले सकता है। यदि बिना लाभ उठाये या घाटे पर सामान बेचा जाय तो उस पर शुल्क नहीं लगता, राजा को शुल्क लगाने के पूर्व यह देख लेना चाहिए कि बेचने वाला क्या बेचने जा रहा है और कितना लाभ प्राप्त हो रहा है। नारद (सम्भूयसमुत्थान, श्लोक १४-१५) का कहना है कि घर के काम के लिए सामानों पर श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को शुल्क नहीं देना पड़ता, किन्तु उसके व्यापार के सामानों पर

१८. राष्ट्रपीडाकरं भाण्डमुच्छिन्द्यादफलं च यत्। महोपकारमुच्छुल्कं कुर्याद् बीजं तु दुर्लभम्॥ कौटिल्य (२।२१)।

१९. "पूर्वराजानः पोतपात्रेष्वन्यदेशाद्देशान्तरं प्रवृत्तेषु दुर्वातेन समापतितेषु भग्नेष्वतीर्थसंगतेषु च संभृतानि करितुरगरत्नादीनि वस्तूनि सकलानि बलादपहरन्ति। वयमपि प्राणेभ्योऽपि गरीयो धनमिति समुद्रयानकृतमहासाहसेभ्यस्तेभ्यः क्लृप्तशुल्कादृते कृपया कीर्त्यै धर्माय च सर्वं वितराम इति। तत्शुल्कपरिमाणम्".....। इसके उपरान्त शुल्कों के विषय में तेलुगु भाषा में वर्णन है। देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १२, पृ० १९५।

शुल्क लगता है, ब्राह्मणों को भेट के सामानों पर शुल्क नहीं देना पड़ता है, इसी प्रकार अभिनेता की सम्पत्ति एवं कंधे पर ढोये जाने वाले (बहँगी) सामानों पर शुल्क नहीं लगता। इस विषय में और देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय ३। गौतम (१०।९-१२), आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१०।२६।१०-१६), वसिष्ठ (१।४२-४६ एवं १९।२३-२४) एवं मनु (८।३९४) ने शिक्षित एवं विद्वान् ब्राह्मणों, सभी जातियों की नारियों, युवा होने से पूर्व के बच्चों, गुरुकुल में रहने वाले छात्रों, धर्मज्ञ साधुओं, शूद्रों (जो सवर्ण लोगों का पैर धोते हैं), अन्धों, बहरों, गूँगों, रोगियों, लूलों, ७० वर्षीय या अधिक अवस्था वालों को निःशुल्क बताया है। व्यापारी श्रोत्रियों को नारद (६।१४) के अनुसार शुल्क देना चाहिए।[२०] याज्ञ० (२।४) की व्याख्या में मिताक्षरा का कथन है कि केवल विद्वान् ब्राह्मण ही करमुक्त हैं, न कि सभी ब्राह्मण। मनु (७।१३३) का कहना है कि भले ही राजा का सब कुछ नष्ट हो गया है, उसे श्रोत्रिय पर कर कभी नहीं लगाना चाहिए। किन्तु रामायण (३।६।१४) में एक विचित्र विरोधी बात आयी है—"मूल फल पर जीविका निर्वाह करने वाला मुनि जो धर्म करता है उसका १/४ भाग राजा का होता है।"[२१] राजा पर इसी प्रकार दूसरा भार भी था; यदि वह ठीक से नियन्त्रण नहीं करता था और प्रजाजन अपराध या पाप करते थे तो राजा को उन पापों का आधा स्वयं भोगना पड़ता था (याज्ञ० १।३३७)। इसी प्रकार मनु, विष्णुधर्मसूत्र (३।२८), विष्णुधर्मोत्तर (२।६१।२५) आदि का कहना है कि राजा को अपनी प्रजा के पापों का १/६ भाग स्वयं भोगना पड़ता है।

कौटिल्य (२।१५) ने करों एवं शुल्कों के प्रकारों का वर्णन किया है। बहुत-से शब्दों का अर्थ बताना कठिन कार्य है। प्राचीन काल में दान देते समय राजाओं ने दान लेने वालों को बहुत-से करों से मुक्त किया है, जैसा कि उनके दानपत्रों से व्यक्त होता है। ऐसे अपवादों को **परिहार** (छूट) कहा जाता है। यह शब्द कौटिल्य एवं हाथीगुम्फा के लेख (एपि० इण्डि०, जिल्द २०, पृ० ९) में आया है (बम्हनानं जातिं परिहारं ददाति)। प्राचीन अभिलेखों में १८ परिहारों की चर्चा हुई है, यथा—शिवस्कन्दवर्मा (एपि० इण्डि०, जिल्द १, पृ० ६), विजयस्कन्दवर्मा '(एपि० इण्डि०, जिल्द १५, पृ० २५०) आदि। इस विषय में देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय २५।

इस ग्रन्थ के 'व्यवहार एवं न्याय' वाले अध्याय में हम अर्थ-दण्ड के विषय में पढ़ेंगे। राजा की आय के बहुत से उपादान थे। कौटिल्य (२।१२) ने खानों के अध्यक्ष के कार्यों का वर्णन किया है। खानों से निकाली हुई प्रत्येक वस्तु राजा की मानी जाती है (विष्णुधर्मसूत्र ३।५५)। मनु (८।३९) एवं उसके टीकाकार मेधातिथि के अनुसार राजा खानों से खोदी गयी वस्तुओं के अर्धांश का या कुछ वस्तुओं के १/६, १/८ आदि भाग का अधिकारी है, क्योंकि वह भूमि का स्वामी है और सुरक्षा प्रदान करता है। परशुरामप्रताप ने उद्धरण दिया है—"ब्रह्मा ने व्यवस्था दी कि राजा धन का स्वामी है, विशेष रूप से वह पृथ्वी के भीतर के धन का स्वामी है।" कात्यायन (१६।१७) का कथन है कि "राजा भूमि का स्वामी घोषित है, किन्तु सम्पत्ति के सभी प्रकारों का नहीं; अतः उसे पृथ्वी की उपज का छठा भाग मिलना चाहिए। किन्तु मनुष्य पृथ्वी पर रहते हैं अतः उनका विशिष्ट स्वामित्व भी घोषित है।" इस विषय में हमने पहले पढ़ लिया है (देखिए इस ग्रन्थ के भाग २ का अध्याय २५)। राज्य की ओर से नमक बनता था अतः अन्य लोगों

२०. सदा श्रोत्रियवर्ज्यानि शुल्कान्याहुः प्रजानता। गृहोपयोगि यच्चैषां न तु वाणिज्यकर्मणि।। नारद ६।१४; ब्राह्मणेभ्यः करादानं न कुर्यात्। विष्णुधर्मसूत्र (३।२६)। इसकी टीका वैजयन्ती का कहना है—"परन्तु श्रोत्रियेभ्यः। क्रियमाणो...करमिति मानवात्।"

२१. यत्करोति परं धर्मं मुनिर्मूलफलाशनः। तत्र राज्ञश्चतुर्भागः प्रजा धर्मेण रक्षतः।। रामायण, अरण्य ६।१४।

द्वारा बनाये गये नमक पर वह अपना भाग लेता था; वह बाहर से आये हुए नमक का $\frac{1}{6}$ भाग कर-रूप में लेता था। कौटिल्य ने खानों से प्राप्त कर के दस प्रकार बताये हैं। मानसोल्लास (२।३, श्लोक ३३२ एवं ३६१) ने राजा से हीरे, सोने एवं चाँदी की खानों की सुरक्षा के लिए कहा है और घोषित किया है कि विधाता ने उसे सम्पूर्ण सम्पत्ति का शासक बनाया है, विशेषतः उन वस्तुओं का जो भूगर्भ में हैं। रुद्रदामन् (१५० ई०) ने सगर्व कहा है कि उसने अपने कोष को शास्त्र के अनुसार लगाये गये **बलि**, **शुल्क** एवं **भाग** से भरा है और उसे सोने, चाँदी, हीरों, मणियों तथा अन्य प्रकार के रत्नों से भरपूर किया है (एपि० इण्डि०, जिल्द ८, पृ० ३६)। कौटिल्य (४।१) ने कहा है कि जो खानों की धूल बुहारता है वह $\frac{1}{3}$ भाग और राजा $\frac{2}{3}$ भाग तथा सभी रत्न पाता है। कुछ बातों में राजा को एकाधिकार प्राप्त थे। केवल वही हाथियों को पकड़ सकता था (कौटिल्य २।३१-३२, मानसोल्लास २।३, पृ० ४४-५८)। मानसोल्लास में हाथियों के पकड़ने के कई उपाय बताये गये हैं। मेधातिथि (मनु ८।४००) ने हाथियों के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ, यथा—कुंकुम, रेशम, ऊन, अश्व, मोती, रत्न आदि राजा के एकाधिकार के अन्तर्गत गिनाये हैं।[22] मेगस्थनीज (फ्रैग-मेण्ट् ३६, पृ० ९०) ने लिखा है कि राजा को छोड़कर अन्य व्यक्ति हाथी या घोड़ा नहीं रख रसकता था, क्योंकि ये पशु राजा की विशिष्ट सम्पत्ति के अन्तर्गत गिने जाते थे।

राजा अपने अन्तपालों (सीमा-प्रांतों या सीमा के रक्षक या अभिभावक) के द्वारा मार्ग-कर लेता था, यथा—व्यापार के सामान से भरी एक गाड़ी पर $1\frac{1}{4}$ पण, पशु पर $\frac{1}{2}$ पण, छोटे-छोटे चौपायों पर $\frac{1}{4}$ पण तथा मनुष्य के कंधे पर ढोये गये सामान पर एक माष लगता था (कौटिल्य २।२१, पृ० १११)। शुक्र (४।२।१२९) ने मार्ग के जीर्णोद्धार के लिए पृथक् कर की व्यवस्था दी है, आय के अन्य साधन भी थे, यथा—बटखरों पर मुहर लगाने, जुआ खिलाने वालों, नटों, संगीतज्ञों, वेश्याओं, जंगलों, चरागाहों आदि से आय अथवा कर की प्राप्ति होती थी। बृहत्पराशर (१०, पृ० २८२) ने कोष खाली हो जाने पर मन्दिरों पर भी कर लगाने की बात उठायी है, किन्तु समय का परिवर्तन हो जाने पर लिया गया धन लौटा देने की व्यवस्था दी है। इसी प्रकार इसने आपत्काल में महाजनों (ब्याज पर धन देने वालों), निम्न जातियों, अधार्मिकों, वेश्याओं आदि का धन ले लेने की व्यवस्था दी है, क्योंकि मन्दिरों एवं अन्य लोगों की सम्पत्ति तथा उसकी विद्यमानता राजा पर ही निर्भर है।[23]

राजतरंगिणी (७।१००८) का कथन है कि गया का श्राद्ध करने वाले कश्मीरियों पर एक प्रकार का कर लगता था। विक्रमादित्य पञ्चम के एक शिलालेख (गदग के पास, सन् १०१२-१३ ई०) में ऐसा संकेत मिला है कि उपनयन, विवाहों, वैदिक यज्ञों आदि पर भी कर लगता था (एपि० इण्डि, जिल्द २०, पृ० ६४)। अणहिलवाड़ के राजा सिद्ध-राज (१०९४-११४३ ई०) ने सीमान्त नगर बाहुलोद में सोमनाथ-मन्दिर के यात्रियों पर जो कर लगता था और जिससे प्रतिवर्ष ७५ लाख की आय होती थी, अपनी माता के कहने पर उसे क्षमा कर दिया, अर्थात् उसे लेना रोक दिया (बाम्बे

२२. यानि भाण्डानि राजोपयोगितया यथा हस्तिनः काश्मीरेषु कुंकुमप्रायेषु पट्टोर्णादीनि प्रतीच्येष्वश्वा दाक्षिणात्येषु मणिमुक्तादीनि। मेधा० (मनु ८।४०)। आज भी कश्मीर का कुंकुम प्रसिद्ध है। सरकपांसुधावकाः सारत्रिभागं लभरेन्। द्वौ राजा रत्नं च। अर्थशास्त्र ४।१।

२३. नृपस्य यदि जातानि देवद्रव्याणि कोशवत्। आदाय रक्ष्य चात्मानं ततस्तत्र च तत् क्षिपेत्।। वित्तं वार्धुषिकाणां तु कदर्यस्यापि यद्भवेत्। पाषण्डिगणिकावित्तं हरन्नातो न किल्विषी।। देवब्राह्मणपाषण्डिगणका गणिकादयः। वणिग्वार्धुषिकाः सर्वे स्वस्थे राजनि सुस्थिताः।। बृहत्पराशर (१०, पृ० २८२)।

गज़ेटियर, जिल्द १, भाग १, पृ० १७२ एवं प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० ८४, टानी)। कोष की वृद्धि के लिए मानसोल्लास ने राजा को रासायनिक उपायों की शरण में भी जाने को कहा है।[२४]

अब यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है; राजा को करातिरेक एवं अत्यधिक अत्याचारों से रोकने के क्या साधन थे? कौटिल्य (७।५, पृ० २७६-२७७) ने प्रजाजन की दरिद्रता, लोभ एवं असन्तोष के कारणों पर विशद रूप से प्रकाश डाला है। उसने लिखा है—[२५]"जो देना चाहिए उसे न दिया जाय, जिसे न लेना चाहिए वह लिया जाय, अपराधी को दण्डित न किया जाय अथवा उसे बुरी तरह दण्डित किया जाय, चोरों से प्रजाजनों की रक्षा न की जाय और उनकी सारी सम्पत्ति छीन ली जाय।..." आदि ऐसे कारण हैं जिनसे प्रजाजनों में दरिद्रता, लोभ, असन्तोष, विराग आदि उत्पन्न होते हैं। कौटिल्य ने लिखा है कि जब प्रजाजन दरिद्र या क्षीण हो जाते हैं तो वे लोभी हो जाते हैं, लोभी हो जाने पर उनमें असन्तोष उत्पन्न होता है, तभी वे शत्रुओं की ओर चले जाते हैं और अपने राजा का नाश कर देते हैं। एक अन्य स्थान पर कौटिल्य (१३।१) ने लिखा है—"विजयी राजा को ऐसे गुप्तचर नियुक्त करने चाहिए जो शत्रु, अकाल (दुर्भिक्ष), चोरों एवं आटविकों अर्थात् जंगली जातियों के विप्लवों से व्याकुल प्रजाजनों को अपने राजा से यह कहने को उकसा सकें कि हम लोग राजा से सहायता की माँग (कर-मुक्त करने या बीज आदि दिलाने की व्यवस्था करने के लिए) करेंगे, यदि वह हमारी माँगें ठुकरा देगा तो हम दूसरे देश को चले जायेंगे।" शान्तिपर्व (८७।३६) में आया है कि यदि वैश्य लोग (गोमिनः) जो कर का अधिकांश देते हैं, उपेक्षित हो जायँ तो वे या तो देश से चले जायँगे या वनों में रहने लगेंगे। मनु (७।१११।११२) ने उन राजाओं को सावधान किया है जो मूर्खतावश अपने देश पर अत्याचार ढाते हैं जिसके फलस्वरूप उनका, उनके सम्बन्धियों एवं राज्य का नाश हो सकता है। याज्ञ० (१।३४०-३४१) ने और कड़ी चेतावनी दी है; जो राजा अपना कोष अन्यायपूर्ण साधनों से बढ़ाता है वह शीघ्र ही अपनी सम्पत्ति खो बैठता है और अपने सम्बन्धियों के साथ नाश को प्राप्त हो जाता है; "प्रजाजन के क्रोध से उत्पन्न अग्नि तब तक नहीं बुझती जब तक कि उसके वंश, सम्पत्ति एवं उसके प्राणों को नहीं हर लेती।" कात्यायन (श्लोक १९) ने आध्यात्मिक परिणामों की ओर संकेत किया है—"जो राजा अन्यायपूर्वक प्रजाजन से कर, दण्ड, सस्यभाग, शुल्क आदि लेता है वह पाप-कर्म करता है।"[२६] शुक्रनीतिसार (२।२१९-३२१ एवं ३७०) ने दैनन्दिन, मासिक, वार्षिक आय-व्यय-ब्यौरा रखने की बात चलायी है, जिसमें आय-ब्यौरा बायीं ओर तथा व्यय-ब्यौरा दायीं ओर होना चाहिए।[२७] नीतिवाक्यामृत ने आय-व्यय की गड़बड़ी होने पर दक्ष आय-व्यय-निरीक्षक की नियुक्ति की बात बतायी है।[२८]

२४. धातुवादप्रयोगैश्च विविधैर्वर्धयेद्धनम्। ताम्रेण साधयेत् स्वर्णं रौप्यं वंगेन साधयेत्॥ मानसोल्लास २।४, श्लोक ३२७, पृ० ६३।

२५. अप्रदानैश्च देयानामदेयानां च साधनैः। अदण्डनैश्च दण्ड्यानां दण्ड्यानां चण्डदण्डनैः॥...अरक्षणैश्च चोरेभ्यः स्वानां च परिमोषणैः।...राज्ञः प्रमादालस्याभ्यां योगक्षेमविधावपि॥ प्रकृतीनां क्षयो लोभो वैराग्यं चोपजायते। क्षीणाः प्रकृतयो लोभं लुब्धा यान्ति विरागताम्। विरक्ता यान्त्यमित्रं वा भर्तारं घ्नन्ति वा स्वयम्॥ कौटिल्य (७।५)।

२६. अन्यायेन हि यो राष्ट्रात्करं दण्डं च पार्थिवः। सस्यभागं च शुल्कं चाप्याददीत स पापभाक्॥ कात्यायन (राजनीतिप्रकाश, पृ० २७६ में उद्धृत)।

२७. वत्सरे वत्सरे वापि मासि मासि दिने दिने। हिरण्यपशुधान्यादि स्वाधीनं त्वायसंज्ञकम्॥ पराधीनं कृतं यत्तु व्ययसंज्ञं धनं च तत्।...आयमादौ लिखेत्सम्यग् व्ययं पश्चात्तथागतम्। वामे वायं व्ययं दक्षे पत्रभागे च लेखयेत्॥ शुक्रनीतिसार (२।३२१, ३७०)।

२८. आयव्ययविप्रतिपत्तौ कुशलकरणकार्यपुरुषेभ्यस्तद्विनिश्चयः। नीतिवाक्यामृत, पृ० १८९ (अमात्यसमुद्देश)।

अध्याय ८

बल (सेना) (६)

कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं अन्य ग्रन्थों में **बल** को **दण्ड** भी कहा गया है। किन्तु सुमन्तु के मत से दण्ड का तात्पर्य है "शारीर दण्ड या अर्थ-दण्ड" और वे चतुरंगिणी सेना की गणना कोष के अन्तर्गत मानते हैं।[1] ऋग्वेद में सेना, अस्त्र-शस्त्रों, युद्धों आदि का वर्णन कई बार हुआ है। 'सेनानी' शब्द ऋग्वेद (१०।८४।२) में आया है जहाँ युद्धाक्रोश को सेनानी होने के लिए पुकारा गया है।[2] ऋग्वेद (६।७५) में धनुषों, बाणों, कवच (शिरस्त्राण आदि), प्रत्यञ्चाओं, तूणीर, सारथि, अश्वों, रथों आदि की चर्चा हुई है। कामन्दक (१३।३४-३७) का कथन है कि परिपूर्ण कोष के रहने पर राजा अपनी क्षीण सेना बढ़ाता है, अपनी प्रजा की रक्षा करता है और उस पर उसके शत्रुगण भी आश्रित रहते हैं। बलशाली सेना के रहने पर मित्रों एवं शत्रुओं की सम्पत्ति तथा स्वयं राजा के राज्य की सीमाएँ बढ़ती हैं, उद्देश्यों की शीघ्र एवं मनचाही पूर्ति होती है, प्राप्त की हुई वस्तुओं की सुरक्षा होती है, शत्रु की सेनाओं का नाश होता है तथा अपनी सेनाओं की टुकड़ियाँ एकत्र की जा सकती हैं। अधिकांश आचार्यों के मत से सेनाएँ छः प्रकार की होती हैं, यथा—**मौल** (वंशपरम्परानुगत), **भृत** या **भृतक** या **भृत्य** (वेतन पर रखे गये सैनिकों का दल), **श्रेणी** (व्यापारियों या अन्य जन-समुदायों की सेनाएँ), **मित्र** (मित्रों या सामन्तों की सेना), **अमित्र** (ऐसी सेना जो कभी शत्रुपक्ष की थी), **अटवी** या **आटविक** (जंगली जातियों की सेना)। इस विषय में देखिए कौटिल्य (९।२, प्रथम वाक्य), कामन्दक (१८।४), अग्नि० (२४२।१-२), मानसोल्लास (२।६, श्लोक ५५६, पृ० ७६)। इनमें प्रथम तीन ग्रन्थों के अनुसार उपर्युक्त छः प्रकारों में पूर्ववर्णित प्रकार आगे वाले प्रकारों से उत्तम हैं।[3] **मौल** दल आज की स्थायी सेना का द्योतक है। कौटिल्य ने इस सेना की प्रभूत महत्ता गायी है, क्योंकि यह राजा द्वारा प्रतिपालित होती है और इसके सैनिक सदा व्यायाम एवं अभ्यास करते रहते हैं। मौल सेना में ऐसे लोग रहते थे जिनके पूर्वजों को उनकी सैनिक सेवाओं के फलस्वरूप करमुक्त भूमि-खण्ड प्राप्त हुए थे। सभापर्व (५।६३) ने सेना के चार प्रकार (**श्रेणी** एवं **अमित्र** को छोड़ दिया है) एवं युद्धकाण्ड (१७।२४) ने पाँच प्रकार (श्रेणी को छोड़ दिया है) बताये हैं। आश्रमवासिकपर्व (७।७-८) के अनुसार सेना के पाँच प्रकार हैं (अमित्र को छोड़ दिया गया है) और **मौल** तथा **मित्र** नामक सेनाओं को अन्य प्रकारों से श्रेष्ठ कहा गया है तथा **भृतक** एवं **श्रेणी** सैन्य दलों को एक-दूसरे के समान ही कहा गया है। सेना के इन प्रकारों की चर्चा वलभी के राजा ध्रुवसेन प्रथम के शिलालेख (वलभी + गुप्त संवत् २०६) में भी हुई है (एपि० इण्डि०, जिल्द ११, पृ० १०६)।

१. दण्डः चतुरंगसैन्यं न भवति। अपराधानुसारेण शारीरोऽर्थदण्डः परिकल्पनीयः। अयमभिसन्धिः—सुमन्तुमते चतुरंगसैन्यस्य कोश एवान्तर्भाव इति। स० वि०, पृ० ४६।

२. अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि॥ ऋ० १०।८४।२।

३. मौलभृतकश्रेणीमित्रामित्राटवीबलानां समुद्दानकालाः।...पूर्वं पूर्वं चैषां श्रेयः संनाहयितुम्। कौटिल्य ९।२।

मानसोल्लास (२।६, श्लोक ५५९-५६०, पृ० ७९) ने भी सेनाओं के विषय में अपना मत दिया है। इसके अनुसार आटविक सेना में निषाद, म्लेच्छ आदि पहाड़ी प्रदेशों में रहने वाली जातियों के लोग रहते हैं। अमित्र सेना वह है जिसमें विजित देश के सैनिक रहते हैं जो दास-रूप में भर्ती होते हैं। राजनीतिरत्नाकर (प० ३८) के अनुसार **अरिबल** वह है जिसके सैनिक अपने राजा को त्याग कर दूसरे राजा की सेना में आ मिलते हैं। कामन्दक (१८।७) के अनुसार आटविक दल स्वभावतः अधार्मिक, लोभी, अनार्य एवं सत्य से दूर रहने वाला होता है। लगता है, इस दल के लोग उत्तरकालीन मुगल-काल अथवा अंग्रेजों के शासन स्थापित होने के पूर्व के पिण्डारियों एवं ठगों के समान थे। कौटिल्य (९।२) एवं कामन्दक (१८।५-९) ने विस्तार के साथ अमित्र एवं आटविक सेना की अपेक्षा मौल एवं अन्य सेनाओं की श्रेष्ठता प्रकट की है। कौटिल्य का कहना है कि किसी आर्य की अध्यक्षता में अमित्र सेना आटविक सेना से अच्छी है। दोनों प्रकार की सेनाएँ डाकेजनी करने को आतुर रहती हैं, अतः यदि उनके लिए उनके स्वभावानुकूल अवसर न मिला तो वे सर्पों के समान भयंकर हो उठती हैं। कौटिल्य ने **श्रेणी बल** को सुव्यवस्थित सैनिकों का दल माना है और उसी के सैनिकों को उसने "वार्ताशस्त्रोपजीविनः" कहा है (कौटिल्य ११।१)। व्यापारीगण अपने सामानों की रक्षा के लिए दक्ष सैनिकों का दल रखते थे। लगता है, समय पड़ने पर राजा इन व्यापारियों के सैनिक दलों को बुला लेते थे, इसी से यह सैन्य-बल मौल एवं भृत्य-बल से पृथक् समझा जाता था। कौटिल्य ने अन्य आचार्यों का यह मत कि जो सैन्य दल क्रम से ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों द्वारा गठित होते हैं वे उसी क्रम से अच्छे कहे जाते हैं, नहीं माना है। उनके अनुसार सुन्दर ढंग से प्रशिक्षित क्षत्रियों का दल या वैश्यों या शूद्रों का दल ब्राह्मणों के सैन्य-दल से कहीं अच्छा होता है, क्योंकि शत्रु लोग ब्राह्मणों के चरणों में झुककर उन्हें अपनी ओर फोड़ ले सकते हैं।[४] ब्राह्मण सैनिक-कार्य कर सकते हैं कि नहीं, इस विषय में देखिए इस ग्रन्थ के भाग २ का अध्याय ३। उद्योगपर्व (९६।७, क्रिटिकल संस्करण, अध्याय ९४) में आया है कि राजा दम्भोद्भव प्रति दिन प्रातःकाल यही कहता था—"क्या कोई शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मण मेरे बराबर बलशाली है और मुझसे युद्ध कर सकता है?" इससे स्पष्ट है कि क्षत्रियों के अतिरिक्त अन्य जाति वाले भी महाभारत काल में सैनिक हो सकते थे। कामन्दक (४।६३, ६५ एवं ६७) के अनुसार **मौल** अथवा **पितृ-पैतामह** सेना में अधिकांश क्षत्रिय ही होने चाहिए। महाराज धारसेन द्वितीय (वलभी-संवत् ५७१-७२ ई०) के मलिय नामक ताम्रपत्र में लिखा है कि वलभी-राज्य के संस्थापक भटार्क ने **मौल, भृत, मित्र** एवं **श्रेणी** सेनाओं के द्वारा राज्य प्राप्त किया (गुप्ताभिलेख, पृ० १६५)। शुक्र० (२।१३७-१३९) का कथन है कि शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य, म्लेच्छ या वर्णसंकर कोई भी सैनिक हो सकता है, किन्तु उसको साहसी, नियन्त्रित, शरीर से सुगठित, विश्वासपात्र, धार्मिक एवं शत्रुद्रोही होना आवश्यक है। शान्तिपर्व (१०१।३-५) ने बतलाया है कि गन्धार, सिन्धु एवं अन्य देशों के सैनिक तथा यवन एवं दक्षिणी सैनिक क्योंकर सबसे अच्छे होते हैं। इस पर्व (श्लोक ६) में आया है कि साहसी एवं सुदृढ व्यक्ति सभी स्थानों में पाये जा सकते हैं, किन्तु सीमाप्रान्तों के मनुष्य (मिल्ल एवं कैवर्त, जैसा कि नीलकण्ठ ने लिखा है) प्राणों की बाजी लगाकर लड़ते हैं और युद्धक्षेत्र से कभी नहीं भागते, अतएव उन्हें सेना में भर्ती करना चाहिए (श्लोक १९)। यशस्तिलक (३, पृ० ४६१-४६७) ने औत्तरापथ (उत्तरापथ अर्थात् उत्तर भारत के लोगों), दाक्षिणात्य, द्रमिल (दक्षिण भारत के), तिरहुत (तैरभुक्त) एवं गुजराती सैनिकों के गुणों की चर्चा की है।

४. ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यसैन्यानां तेजःप्राधान्यात् पूर्वं पूर्वं श्रेयः संनाहयितुमित्याचार्याः। नेति कौटिल्यः। प्रणिपातेन ब्राह्मबलं परोऽभिहारयेत्। प्रहरणविद्याविनीतं तु क्षत्रियबलं श्रेयो बहुलसारं वैश्यशूद्रबलमिति। कौटिल्य ९।२।

सेना के चार भाग होते थे; हस्ती, अश्व, रथ एवं पदाति और इस प्रकार की सेना की सञ्ज्ञा थी चतुरंगिणी। कामन्दक (१८।२४) के मत से बल के छः प्रकार थे—हस्ती, अश्व, रथ, पदाति, मन्त्र (नीति) एवं कोष। शान्तिपर्व (१०३।३८) में सेना के छः अंगों का उल्लेख हुआ है—हस्ती, अश्व, रथ, पदाति, कोष एवं आवागमन के मार्ग। कौटिल्य (२।२, ७।११) एवं कामन्दक (१९।६२) के मत से शत्रु-नाश हाथियों पर निर्भर रहता है।[5] शान्तिपर्व (१००।२४) का कहना है कि वह सेना सुदृढ है, जिसमें पैदल सैनिक अधिक हों, जब वर्षा न हो तो रथ एवं घुड़सवार भी अच्छे ही हैं। शान्ति० (५९।४१।४२) ने सेना के आठ अंग बताये हैं—**हस्ती, अश्व, रथ, पैदल** (पादात), **विष्टि** (श्रमिक जो बेगार देते थे और जिन्हें भोजन के अतिरिक्त कोई पारिश्रमिक नहीं मिलता था), **नाव, चर** एवं **देशिक** (पथप्रदर्शक)। और देखिए शांति० (१२१।४४)। महाभारत में, जैसा कि वर्णन मिलता है, हाथियों के युद्धों का वर्णन रथों एवं अन्य आयुधों की अपेक्षा बहुत ही कम है। विराटपर्व (६५।६) में आया है कि अर्जुन से लड़ते समय विकर्ण हाथी पर बैठा था। भीष्मपर्व (२०।७) में दुर्योधन हाथी पर बैठा दिखाया गया है और भीम से लड़ते समय भगदत्त हाथी पर ही सवार था (९५।३२-३३)। इस विषय में महाभारत ने वैदिक परम्परा सँभाली है। मेगस्थनीज (फ्रैगमेण्ट १, पृ० ३०) के मत से प्राचीन भारत में हाथी युद्धों के लिए प्रशिक्षित होते थे और जय-विजय के पलड़े को इधर या उधर कर देते थे।

प्राचीन भारतीय राजा एवं सम्राट् विशाल सेना रखते थे। लवणासुर से युद्ध करने के लिए शत्रुघ्न ४००० घोड़ों, २००० रथों एवं १०० हाथियों को लेकर चले थे (रामायण ७।६४।२-४)। दशकुमारचरित (८) में विहारभद्र ने अपने स्वामी को स्मरण दिलाया है कि उसके पास १००० हाथी, ३ लाख घोड़े एवं असंख्य पैदल सैनिक थे। मेगस्थनीज़ (फ्रैगमेण्ट २७, पृ० ६८) ने सैंड्रकोट्टोस (चन्द्रगुप्त मौर्य) के शिबिर का वर्णन किया है और कहा है कि उसमें ४,००,००० व्यक्ति थे। पालिब्रोथ्रा (पाटलिपुत्र) के राजा के पास निम्न सैन्य बल था—६ लाख पैदल, ३००० अश्व, ९००० हाथी (मैक्रिंडिल, पृ० १४१)। इसी प्रकार होराटी (सुराष्ट्र) के राजा के पास १,५०,००० पैदल, ५००० घोड़े, १६०० हाथी थे (मैक्रिंडिल, पृ० १५०) और पाण्ड्य राज्य में नारियों का राज्य था, जिसमें १,५०,००० पैदल,

५. हस्तिप्रधानो विजयो राज्ञाम्। कौटिल्य (२।२); हस्तिप्रधानो हि परानीकवधः। कौटिल्य (७।११); नागेषु हि क्षितिभुजां विजयो निबद्धस्तस्माद् गजाधिकबलो नृपतिः सदा स्यात्। काम० १९।६२; मुख्यं दन्तिबलं राज्ञां समरे विजयैषिणाम्। तस्मान्निजबले कार्या बहवो द्विरदा नृपैः॥ मानसोल्लास २।८, श्लोक ६७८, पृ० ९०; यतो नागास्ततो जयः। बुधभूषण, पृ० ४२; बलेषु हस्तिनः प्रधानमङ्गं स्वैरवयवैरष्टायुधा हस्तिनो भवन्ति। नीतिवाक्यामृत (बलसमुद्देश, पृ० २०७)। हाथी के चारों पैर, दो दाँत, सूंड़ एवं पूंछ आठ आयुध हैं। यद्यपि बुधभूषण (पृ० ४२) ने हाथी की प्रभूत प्रशंसा की है, नीतिवाक्यामृत का कहना है कि यदि हाथी भली भाँति प्रशिक्षित न हों, तो वे धन (क्योंकि वे बहुत अन्न और चारा खा जाते हैं) एवं जन (युद्ध में वे अपने ही सैनिकों को पैरों तले कुचल देते हैं) का नाश कर देते हैं—"अशिक्षिता हस्तिनः केवलमर्थप्राणहराः" (२२।५, पृ० २०८)। यशस्तिलक (२, पृ० ४९१) का कथन है—"न विनीता गजा येषां तेषां ते नृप केवलम्। क्लेशायापि विनाशाय रणे चात्मवधाय च॥" यह बात हम मुसलमानों एवं अन्य बाहरी आक्रामकों के युद्धों में देख चुके हैं। इतिहास प्रमाण है (देखिए एलफिस्टन की हिस्ट्री आव इण्डिया, पाँचवाँ संस्करण, १८६६ ई०, पृ० ३०९, जहाँ सिन्ध के राजा दाहिर एवं मुहम्मद बिन कासिम के युद्ध में अग्निगोला लग जाने पर राजा दाहिर के हाथी के बिगड़ जाने का वर्णन है; कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, जिल्द ३, १९२८, पृ० ५ एवं १६, जहाँ महमूद ग़जनवी से लड़ते समय राजा अनंगपाल के हाथी के बिगड़ जाने का उल्लेख है)।

५०० हाथी थे (मैक्रिंडिल, पृ० १४७)। अपने भाई के हत्यारे के विरुद्ध लड़ने के लिए जाते समय हर्ष के पास ५००० हाथी, २००० घोड़े एवं ५०,००० पैदल थे और ६ वर्षों के उपरान्त उसके पास ६०,००० हाथी एवं १,००,००० घोड़े थे। इस विषय में देखिए बील का 'बुद्धिस्ट रेकर्ड्स आदि' (जिल्द १, पृ० २१३)। आश्वमेधिकपर्व (६०।१४-२०) में ऐसा उल्लेख है कि जब द्रोणाचार्य कौरव-सेना के सेनापति हुए, उस समय सेना क्षीण हो चुकी थी और उसमें अब ११ अक्षौहिणी के स्थान पर केवल ९ अक्षौहिणी सैनिक थे। जब कर्ण सेनापति हुआ तो केवल ५ अक्षौहिणी सेना थी, और पाण्डवों के पास भी अब केवल ३ अक्षौहिणी सेना रह गयी थी। शल्य के सेनापति होते-होते केवल ३ अक्षौहिणी सेना कौरवों के पास बच गयी थी और पाण्डवों के पास अब केवल एक अक्षौहिणी सेना शेष थी। युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र को उत्तर दिया है कि महाभारत में कुल मिलाकर १६६,००,२०,००६ सैनिक मारे गये (स्त्रीपर्व २६।९)। अक्षौहिणी के विषय में उद्योगपर्व (१५५।२४-२६) में निम्नांकित तालिका मिलती है--एक सेना में ५०० हाथी, ५०० रथ, १५०० घोड़े एवं २५०० पैदल होते हैं; १० सेनाओं की एक **पृतना** होती है, १० पृतनाओं की एक **वाहिनी** होती है, १० वाहि-नियों की एक **ध्वजिनी** होती है, १० ध्वजिनियों की एक **चमू** होती है और १० चमुओं की एक **अक्षौहिणी** होती है। कौरवों के पास ११ तथा पाण्डवों के पास ७ अक्षौहिणी सेना थी। आदिपर्व (२।१९-२२) के अनुसार एक अक्षौहिणी में २१८७० हाथी, उतने ही रथ, ६५६१० घोड़े एवं १०९३५० पैदल होते हैं। किन्तु यदि अन्य सूचियों पर ध्यान दिया जाय तो संख्या और भी आगे बढ़ जायगी। उद्योगपर्व (१५५।२८-२९) के अनुसार एक **पत्ति** में ५५ व्यक्ति, ३ पत्तियाँ =एक **सेनामुख** या **गुल्म**, ३ गुल्म=एक **गण**; इस प्रकार कौरवों की सेना में गणों के कई अयुत (१०सहस्र)सैनिक थे। आदिपर्व (२।१९-२२) उपर्युक्त दोनों सूचियों से भेद रखता है। उद्योगपर्व(१५५।२२)ने यह भी कहा है कि प्रत्येक घुड़-सवार दस सैनिकों से घिरा रहता था (नरा दश हयश्चासन् पादरक्षाः समन्ततः)। यद्यपि शताब्दियों तक पैदल सैनिकों की संख्या सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक रूप से घुड़सवारों से अधिक मानी जाती रही है, किन्तु ऐसा लगता है कि रथों एवं घुड़सवारों की अपेक्षा उन पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता रहा है। वैजयन्ती कोश के अनुसार एक **पत्ति** में ३ घोड़े ५ पैदल, एक रथ एवं एक हाथी पाये जाते हैं, ३ पत्तियाँ=एक सेनामुख तथा सेनामुख, गुल्म, गण, **वाहिनी**, **पृतना**, **चमू** एवं **अनीकिनी** नामक सैन्य दल अपने पूर्ववर्ती से तिगुने होते हैं और दस अनीकिनियाँ बराबर होती हैं एक अक्षौहिणी के। इस विषय में देखिए नीतिप्रकाशिका (७।३ एवं १०)। मनु (७।१९२) ने जल-युद्ध की चर्चा की है। महाभारत के उल्लेखों से तो पता चलता है कि रथों में केवल दो ही चक्र (पहिये) होते थे; देखिए भीष्म० (९८।४), द्रोण० (१५४।३), शल्य० (१६।२४) "शैनेयो दक्षिणं चक्रं धृष्टद्युम्नस्तथोत्तरम्।" प्रमुख सेनापतियों के रथों की रक्षा करने वालों को "चक्र-रक्षौ" अर्थात् द्विवचन में कहा गया है (भीष्म० ५४-७६, १०८।५ द्रोण० ९१।३६, कर्ण ११।३१, ३४।४४)। महारथियों के रथ चार घोड़ों द्वारा खींचे जाते थे (आदि० १९८।१५, उद्योग० ४८।५०, द्रोण० १४५।८१)। उद्योग० (८३।१५-२१) में कृष्ण के रथ का वर्णन है। उद्योग० (१४०।२१) में आया है कि रथों में छोटी-छोटी घण्टियाँ और व्याघ्रचर्म के आवरण लगे रहते थे। ऋग्वेद में रथों का बड़ा मनोहर वर्णन है। सामान्यतः ऋग्वेदीय काल में रथ में दो घोड़े जुते रहते थे (ऋ० ५।३०।१, ५।३६।५, ६।२३।१), उसमें दो चक्र होते थे। किन्तु आश्विनौ के रथ में तीन चक्रों का उल्लेख पाया जाता है (ऋ० १।११८।२, १।१५७।३, १०-४१।१)। घटोत्कच के रथ में आठ पहिये थे (द्रोण० १५६।६१, १७५।१३)।

शुक्रनीतिसार (२।१४०-१४८) ने सेना के विभिन्न भागों एवं प्रकारों के संयोजन की एक अन्य प्रणाली दी है--५-६ सैनिकों की एक **पत्ति** होती है, जिस पर एक **पत्तिप** नामक अधिकारी नियुक्त होता है, ३० **पत्तिपालों** पर एक **गौल्मिक** होता है, १०० गौल्मिकों पर एक **शतानीक** होता है, जिसे एक **अनुशतिक**, **एक सेनानी** एवं एक **लेखक** सहायक रूप में मिलते थे; २० हाथियों या घोड़ों के स्वामी को **नायक** कहा जाता है। इनमें से प्रत्येक अधिकारी का अपना-अपना

बिल्ला (संकेत) था जिसे वे अपने वस्त्रों पर लगाये रहते थे, जिससे उनके पद एवं स्थान का पता उचित रूप से चल सके। अयोध्याकांड (१००।३२ = सभापर्व ५।४८) में आया है—"मैं समझता हूँ पात्रता के अनुसार प्रत्येक सैनिक को तुम उचित समय से भोजन-सामग्री एवं वेतन देते हो और देरी नहीं करते हो।" नारदस्मृति (सम्भूय-२२) एवं बृहस्पतिस्मृति के मत से भाड़े पर काम करने वालों में सैनिक सर्वश्रेष्ठ होता है। मानसोल्लास (२।६।५६६-५६९) का कहना है कि राजा को मौल सेना के प्रमुखों को रत्नों, आभूषणों, बहुमूल्य परिधानों, मधुर शब्दों एवं भोजन-सम्बन्धी विशिष्ट उपकरणों से सम्मानित करना चाहिए, और उन्हें एक ग्राम या दो ग्राम या अधिक ग्राम या सोना आदि देने चाहिए। राजा को चाहिए कि वह भाड़े पर काम करने वाले सैनिकों को प्रति दिन, मासिक, त्रैमासिक, या जैसा भी सम्भव हो, वेतन समय से दे। मेगस्थनीज (फ्रैगमेण्ट ३४, पृ० ८८) ने भारतीय सेना के प्रबन्ध का उल्लेख किया है—"एक तीसरी प्रशासक संस्था सैनिक कार्यों की देखभाल करती थी, जिसके ६ भाग थे और प्रत्येक भाग में ५ सदस्य थे। एक भाग नौ-सेना से सम्बन्धित था, दूसरा बैलगाड़ियों, भोजन-सामग्री तथा अन्य सामानों को ढोने के लिए, तीसरा पैदल सेना, चौथा घुड़सवारों, पाँचवाँ रथों एवं छठा हाथियों से सम्बन्धित था।" मध्यकाल में रथों को मान्यता नहीं मिली और हर्षचरित में भी जहाँ सेनाओं का विशद वर्णन मिलता है, रथों की चर्चा नहीं हुई है। महाभारत में भारत के उत्तर-पश्चिम देशों के घोड़ों को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। कम्बोज एवं गन्धार के घोड़ों का उल्लेख सभापर्व (५३।५) में हुआ है, बाह्लीक के घोड़ों का उद्योग० (८६।६) में, काम्बोज घोड़ों का द्रोण० (१२५।२५) एवं सौप्तिक० (१३।२) में हुआ है। हर्षचरित (२) ने वनायु, आरट्ट, कम्बोज, सिन्धु देश एवं पारसीक से आये हुए घोड़ों को सर्वश्रेष्ठ कहा है।

शुक्र० (४।७।३७९-३९०) ने सेना के विषय में कुछ व्यावहारिक नियम दिये हैं। सैनिकों को ग्राम या बस्ती से दूर (किन्तु बहुत दूर नहीं) रखना चाहिए, ग्रामवासियों एवं सैनिकों में धन के लेन-देन का व्यापार नहीं होने देना चाहिए। सैनिकों के लिए राजा को पृथक् दुकानें खोलने का प्रबन्ध करना चाहिए, एक स्थान पर सैनिकों का आवास एक वर्ष से अधिक नहीं होना चाहिए, बिना राजा की आज्ञा के सैनिक ग्रामों के भीतर न जाने पायें, जो कुछ सैनिकों को दिया जाय उसकी रसीद रख लेनी चाहिए और उनके वेतन का लेखा-जोखा रखना चाहिए। इनमें से कुछ नियम अति प्राचीन हैं। उद्योगपर्व (३७।३०) में आया है कि राजाओं के नौकरों एवं सैनिकों से व्यवहार नहीं करना चाहिए।

राजा की सेना के प्रबन्ध आदि के विषय में कौटिल्य के अर्थशास्त्र (९।१-७ एवं १०।१-६) में विशद वर्णन मिलता है, यथा—सेना-प्रबन्ध कैसा हो; आक्रमण के लिए प्रस्थान कब और कहाँ होना चाहिए; बाह्य और अन्तः आपत्तियाँ एवं विपत्तियाँ तथा उन्हें दूर करने के क्या उपाय हैं; देशद्रोहियों एवं शत्रुओं के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए; अग्नि, बाढ़, महामारी, दुर्भिक्ष आदि विपत्तियों में क्या धार्मिक परिहार (देव-पूजन, ब्राह्मणों की पद-पूजा एवं अथर्ववेद के अनुसार इन्द्रजालिक क्रियाएँ) होने चाहिए; सेनाओं का स्कन्धावार (शिबिर आदि की व्यवस्था) कैसा हो; कपटपूर्ण एवं व्यूहरचनात्मक समर कैसे किया जाय, कौन-से युद्धस्थल अच्छे हैं। उसी प्रकार अर्थशास्त्र में सेना के निवासस्थान, बेगार, व्यूह-रचना आदि पर विशद वर्णन मिलता है। स्थानाभाव के कारण हम इन सभी बातों पर प्रकाश नहीं डाल सकते। दो-एक बातें यहाँ दे दी जाती हैं। राजा को शत्रु पर मार्गशीर्ष में (जब कि वर्षाकाल की कृषि खड़ी हो) या चैत्र में या जब शत्रु किसी आपत्ति से ग्रस्त हो तब आक्रमण करना चाहिए। यही बात शान्ति० (१००।१०-११) में भी पायी जाती है। जब कोई मन्त्री, पुरोहित, सेनापति या युवराज क्रुद्ध होता है या राजा से अप्रसन्न होता है, तब अन्तःविपत्तियों का जागरण होता है। ऐसी स्थिति में राजा को अपना दोष मान लेना चाहिए या किसी शत्रु-आक्रमण की ओर संकेत करके सब कुछ शांत कर देना चाहिए। यदि युवराज तंग करे तो उसे या तो बन्दी बना लेना चाहिए या मार डालना चाहिए (जब कोई अन्य योग्य पुत्र जीवित हो तभी ऐसा करना चाहिए)। प्रान्तीय शासक या अन्तपाल या आटविक या किसी विदेशी राजा द्वारा उत्पन्न विपत्ति को बाह्य विपत्ति कहा जाता है। राजा को इस विपत्ति से दूर

होने के लिए एक को दूसरे के विरोध में खड़ा कर देना चाहिए। वास्तुशास्त्र द्वारा निर्धारित सर्वश्रेष्ठ भूमिखण्ड पर सेना का आवास निश्चित होना चाहिए जो नायक (सेनाध्यक्ष), बढ़ई एवं ज्योतिषी द्वारा नपा-तुला भी होना चाहिए, शिबिर स्थल वृत्ताकार, वर्गाकार या चतुर्भुजाकार तथा चार फाटकों वाला होना चाहिए, जिसमें ६ मार्ग हों और हों ९ भाग। झगड़ा, मद्य-सेवन, समाज (आनन्दोत्सव आदि), जुआ आदि का निषेध होना चाहिए और प्रवेश-पत्र पर ही लोग उसमें आने-जाने पायें (१०।१)। वनपर्व (१५।१४, १९) ने भी प्रवेश-पत्र का उल्लेख किया है। जब द्वारका को शाल्व ने घेर लिया था तो नर्तकों एवं संगीतज्ञों का आना निषिद्ध था। उद्योग० (१५१।५८, १९५।१२-१९) से पता चलता है कि हाटों, वेश्याओं, सवारियों, बैलों, यन्त्रों, आयुधों, डाक्टरों (वैद्यों) आदि से युक्त दुर्योधन की सेना का निवास (सेनानिवेश या स्कन्धावार) राजधानी की भाँति दिखाई पड़ता था और विस्तार में पाँच योजन था। कौटिल्य (१०।३) में आया है कि चीर-फाड़ करने के यन्त्रों एवं सहायक यन्त्रों के साथ दवाओं, अच्छा करनेवाले तैलों, अपने हाथों में घाव बाँधने के वस्त्र-खण्डों को लिये हुए वैद्यों-उपवैद्यों के साथ ऐसी कुशल दाइयाँ होनी चाहिए जो सैनिकों को खाना-पीना दें और उन्हें उत्साहित करती रहें। यही बात भीष्मपर्व (१२०।५५) में भी कही गयी है। श्रमिकों (विष्टि) का कार्य था शिबिरों, मार्गों, पुलों, कूपों, नदी के घाटों की जाँच करना; यन्त्रों, आयुध, कवच, बरतन, चारा आदि ले चलना; घायल व्यक्तियों को उनके आयुधों, कवचों के साथ समर-भूमि से उठाना (१०।४)। प्रत्येक सेनाध्यक्ष के पास विशिष्ट पताका रहा करती थी। भीष्म की पताका में था एक सुनहला ताल वृक्ष (भीष्म० ६।१७ एवं १८, तालेन महता भीष्मः पञ्चतारेण केतुना)। कौटिल्य (१०।६) ने बहुत-से व्यूहों का उल्लेख किया है, यथा--दण्ड, भोग, मण्डल, अशनिहत; उन्होंने कुछ उपविभागों के नाम भी दिये हैं, यथा--गोमूत्रिका, मकर आदि। काम० (१८।४८-४९, १९।४०), मनु (७।१८७-१९१), नीतिप्रकाश (अध्याय ६) एवं महाभारत में बहुत-से व्यूहों का वर्णन मिलता है। वनपर्व (२८५।६-७) ने उशना के नियमों पर आधारित रावण की सेना तथा बृहस्पति के नियमों पर आधारित राम की सेना का उल्लेख किया है। आश्रमवासिकपर्व (७।१५) में शकट, पद्म एवं वज्र नामक व्यूहों की चर्चा है। कौटिल्य (१०।६) ने व्यूहों के निर्माण के सिलसिले में औशनस एवं बार्हस्पत्य नियमों की ओर संकेत किया है। द्रोण० (७५।२७, ८७।२२-२४), कर्णपर्व (११।१४ एवं २८) ने मकर, शकट आदि व्यूहों का वर्णन किया है। इस विषय में और देखिए मानसोल्लास (२।२०, श्लोक ११७०-११८१, पृ० १३४-१३५), अग्नि० (२४२।७-८ एवं ४२-४३)। कौटिल्य में विजय के लिए कपटाचरण आदि की ओर संकेत है, किन्तु महाभारत ने इस विषय में बहुत उच्च आदर्श रखा है। भीष्मपर्व (२१।१०) में आया है कि विजेता लोग अपनी सेनाओं एवं शक्ति से विजय नहीं प्राप्त करते बल्कि अपनी सचाई, अत्याचाराभाव, धर्मानुचरण एवं शक्ति-पूर्ण क्रियाओं से प्राप्त करते हैं। शान्तिपर्व (९५।१७-१८) में आया है कि कपटपूर्ण क्रियाओं से विजय प्राप्त करने की अपेक्षा समरांगण में लड़ते हुए मर जाना श्रेयस्कर है।[६]

भीष्मपर्व (१।२७-३२) में कौरवों एवं पांडवों द्वारा स्वीकृत युद्ध-सम्बन्धी कुछ नियमों का उल्लेख है, यथा--अपने समान लोगों से ही युद्ध करना चाहिए (पैदल सैनिक से पैदल सैनिक, घुड़सवार से घुड़सवार आदि), दूसरे से लड़ते हुए योद्धा को नहीं मारना चाहिए, जो पीठ दिखा दे, या जो बिना कवच का हो उसे न मारा जाय। आपस्तम्बधर्मसूत्र

६. न तथा बलवीर्याभ्यां जयन्ति विजिगीषवः। यथा सत्यानृशंस्याभ्यां धर्मेणैवोद्यमेन च ॥ भीष्म० (२१।१०); धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा। नाधर्मश्चरितो राजन् सद्यः फलति गौरिव। मूलानि च प्रशाखाश्च दहन् समधिगच्छति॥ शान्ति० (९५।१७-१८)।

(२।५।१०।१२), गौतम (१०।१७-१८), याज्ञ० (१।३२६), मनु (७।९०-९३), शान्ति० (९५।७-१४, ९६।३०, ९८।४८-४९, २९७।४), द्रोण० (१४३।८), कर्ण० (९०।१११-११३), सौप्तिक० (५।११-१२, ६।२१-२३), शंख (याज्ञ० १।३२६ की व्याख्या में मिताक्षरा द्वारा उद्धृत), बौधायनधर्मसूत्र (१।१०।१०-१२), वृद्ध-हारीत (७।२२६), बृहत्पराशर (१०, पृ० २८१), शुक्र० (४।७।३५४-३६२), युद्धकाण्ड (१८।२७-२८) आदि में युद्ध-सम्बन्धी बड़े उदात्त विचार व्यक्त किये गये हैं। इनमें से कुछ निम्नोक्त हैं।[7] गौतम (१०।१७-१८) का कहना है कि "जिन्होंने अश्व, सारथि, आयुध खो दिये हों, जिन्होंने हाथ जोड़ लिये हों, जिनके केश बिखर गये हों (भागते-भागते), जिन्होंने पीठ दिखा दी हो, जो भूमि पर बैठ गया हो, जो (भागते-भागते) पेड़ पर चढ़ गया हो, जो दूत हो, जो गाय या ब्राह्मण हो; इनको छोड़कर किसी अन्य को समरांगण में मारना या घायल करना पाप नहीं है।" वृद्ध हारीत ने दर्शकों को भी वर्जित माना है। मनु (७।९०-९३) ने घोषित किया है--"कपटपूर्ण या गुप्त आयुधों के साथ नहीं लड़ना चाहिए और न विषाक्त या शूलाग्र या जलती हुई नोकों वाले आयुधों से लड़ना चाहिए। युद्धलिप्त उसे न मारे जो उच्च भूमि पर चढ़ गया हो या जो हिंजड़ा हो या जिसने (प्राण की रक्षा के लिए) हाथ जोड़ लिये हों, जो इतनी तेजी से भाग रहा हो कि उसके केश उड़ रहे हों, या जो भूमि पर बैठ गया हो और कह रहा हो, "मैं तुम्हारा हूँ," जो सोया हुआ हो, जिसका कवच हट गया हो, जो नंगा या बिना आयुध के हो गया हो, जो मात्र दर्शक हो, जो दूसरे शत्रु से लड़ रहा हो, जिसके आयुध टूट गये हों, जो दुःखित हो या बुरी तरह घायल हो गया हो, जो डर गया हो और जो पीठ दिखाकर भाग चला हो।" शंख ने लिखा है कि पानी पीते हुए सैनिक को भी नहीं मारना चाहिए और न भोजन करते हुए या जूता निकालते हुए को ही मारना चाहिए, स्त्री को, हथिनी को, सारथि को, भाट (चारण) को, ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिए, और जो स्वयं राजा नहीं है उसे किसी राजा को न मारना चाहिए। बौधायनधर्मसूत्र (१।१०।१०) ने विषाक्त बाणों (कर्णियों) से मारना निषिद्ध माना है, यही बात शान्ति० (९५।११) में भी पायी जाती है। शान्ति० (९५।१३-१४) ने तो यहाँ तक व्यवस्था दे डाली है कि यदि शत्रु-पक्ष का सैनिक घायल हो गया हो तो उसकी दवा-दारू की जानी चाहिए और अच्छा हो जाने पर ही उसे जाने देना चाहिए।[8] शान्तिपर्व में यह भी आया है कि सैनिक को चाहिए कि वह बच्चे, बूढ़े या पीछे से किसी को न मारे और न उसे मारे जिसने मुंह में तिनका ले लिया है (हार स्वीकार कर प्राणों की भिक्षा माँग रहा है)। ये नियम बड़े उदात्त हैं, किन्तु कदाचित् ही व्यवहार में पूर्णरूपेण माने जाते रहे हों। आजकल तो निहत्थी एवं अनजान में पड़ी जनता पर भी परमाणु बम छोड़ दिये जाते हैं और आये दिन उद्जन बम फेंकने की

७. न दोषो हिंसायामाहवे। अन्यत्र व्यश्वसारथ्यायुधकृताञ्जलिप्रकीर्णकेशपराङमुखोपविष्टस्थलवृक्षाधिरूढदूतगोब्राह्मणवादिभ्यः। गौतम १०।१७-१८; न पानीयं पिबन्तं न भुञ्जानं नोपानहौ मुञ्चन्तं नावर्माणं सवर्मा न स्त्रियं न करेणुं न वाजिनं न सारथिनं न सूतं न दूतं न ब्राह्मणं न राजानमराजा हन्यात्। शंख (याज्ञ० १।३२६ की टीका में मिताक्षरा द्वारा उद्धृत); बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्। न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परन्तप॥ आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः। अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना॥..एवं दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे। अस्वर्ग्यं चायशस्यं च बलवीर्यविनाशनम्॥ रामायण (६।१८।२७-२८, ३१); न वधः पूज्यते लोके सुप्तानामिह धर्मतः। सौप्तिकपर्व (५।११); वृद्धबालौ न हन्तव्यौ न च स्त्री नैव पृष्ठतः। तृणपूर्णमुखश्चैव तवास्मीति च यो वदेत्॥ शान्ति० (९८।४८-४९)।

८. भग्नशस्त्रो विपन्नश्च कृत्तज्यो हतवाहनः। चिकित्स्यः स्यात् स्वविषये प्राप्यो वा स्वगृहे भवेत्॥ निर्व्रणश्च स मोक्तव्य एष धर्मः सनातनः। शान्ति० (९५।१३-१४)।

धमकी दी जाती है। प्राचीन काल में युद्ध न करने वालों को अछूता छोड़ दिया जाता था। मेगस्थनीज (फ्रैगमेण्ट १, पृ० ३२) ने लिखा है--"कृषकगण मस्ती से, निर्भय अपना कृषि-कर्म करते चले जाते थे और पास-पड़ोस में भयंकर युद्ध चला करते थे, क्योंकि युद्धलिप्त लोग उनको किसी प्रकार भी तंग नहीं करते थे।" मनु (७।३२) ने राजा को अपने शत्रु के देश को तहस-नहस करने की आज्ञा दी है, किन्तु मेधातिथि ने इस कथन की व्याख्या में यह कहा है कि शत्रु के देश के लोगों की यथासम्भव, विशेषतः ब्राह्मणों की, रक्षा करनी चाहिए। गदायुद्ध का नियम यह था कि नाभि के नीचे कोई भी वार न करे (शल्यपर्व ६०।६)। किन्तु भीम ने इस नियम का उल्लंघन किया और दुर्योधन की जाँघ पर गदा-प्रहार कर ही दिया। दुर्योधन ने कृष्ण एवं पाण्डवों के दुष्कर्मों का वर्णन किया है (शल्य० ६१) किन्तु कृष्ण ने मुँहतोड़ उत्तर दिया है कि उसने (दुर्योधन ने) कितनी ही बार नैतिकता की सीमाओं का उल्लंघन किया है और युद्ध-नियम भंग किये हैं (यथा--अभिमन्यु को घेरकर एक ही समय बहुत लोगों द्वारा मरवाना)। सूर्यास्त के उपरान्त युद्ध बन्द हो जाता था, यह एक सामान्य नियम था (भीष्म० ४९।५२-५३)। किन्तु द्रोणपर्व (१५४ एवं १६३।१६) में हमें रात्रि-युद्धों का उल्लेख मिलता है और यह लिखा हुआ है कि (ऐसे अवसरों पर) रथों, हाथियों एवं घोड़ों पर दीपक रहने चाहिए।

यह बात हमने देख ली है कि प्रत्येक क्षत्रिय एवं सैनिक का यह कर्तव्य था कि वह समरांगण में भले ही लड़ता मर जाय किन्तु भागे नहीं। पुरस्कारों का मोह दिलाकर युद्ध-प्रेरणा भरी जाती थी। पहला पुरस्कार था लूट-पाट का माल एवं भूमि की प्राप्ति (गौतम० १०।४१, मनु ७।२०६, गीता २।३७); दूसरा था क्षत्रिय रूप में अपने कर्तव्य का पालन (गीता २।३१-३३), आदर-सम्मान एवं यश (गीता २।३४-३५), स्वर्ग एवं अन्य भौतिक सुखों की प्राप्ति (याज्ञ० १। ३२४, मनु ७।८८-८९) तथा ब्राह्मणों की सुरक्षा (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।१०।२६।२-३)। विष्णुधर्मसूत्र (३।४४-४६) में भी ऐसी ही बातें कही गयी हैं। शान्ति० (९८।४०-४१) का यह कहना है कि जो सैनिक युद्ध-क्षेत्र से भाग खड़ा होता है वह नरक में गिर पड़ता है। याज्ञवल्क्य (१।३२४-३२५) का कहना है कि जो अपने देश की रक्षा के लिए बिना विषाक्त बाणों से लड़ता हुआ, बिना पीठ दिखाये समरांगण में मर जाता है वह योगियों के समान स्वर्ग प्राप्त करता है, उस व्यक्ति का प्रत्येक पग, जो अन्य साथियों के मर जाने पर भी युद्ध-स्थल से नहीं भागता, अश्वमेध-जैसे यज्ञों के बराबर है; जो लोग युद्ध-क्षेत्र से भाग जाते हैं और अन्त में मार डाले जाते हैं उनके सभी अच्छे सुकृत राजा को प्राप्त हो जाते हैं। यही बात मनु (७।९५) में भी पायी जाती है। यह बात न केवल क्षत्रियों के लिए है, प्रत्युत सभी प्रकार के एवं जातियों के सैनिकों के लिए है। और देखिए राजनीतिप्रकाश (पृ० ४०७)। पराशर (३।३१) एवं बृहत्पराशर (१०, पृ० २८१) का कहना है कि उस वीर के पीछे स्वर्ग की अप्सराएँ दौड़ती हैं और उसे अपना स्वामी बनाती हैं, जो शत्रुओं से घिर जाने पर भी प्राण-भिक्षा नहीं माँगता और लड़ता-लड़ता गिरकर मर जाता है; उसे न नाश होने वाले लोक प्राप्त होते हैं। कौटिल्य (१०।३) ने पराशर का ३।३६ श्लोक उद्धृत किया है और प्रकट किया है कि सैनिकों को किस प्रकार युयुत्सु होने के लिए प्रेरणा दी जाती है।[९] कौटिल्य (१०।३) ने राजा को सम्मति दी है कि

९. यं यज्ञसंघैस्तपसा च विप्राः स्वर्गैषिणोत्र यथैव यान्ति। क्षणेन यान्त्येव हि तत्र वीराः प्राणान् सुयुद्धेषु परित्यजन्तः॥ पराशर ३।३६; कौटिल्य (१०।३) ने दूसरे ढंग से उद्धरण दिया है। कौटिल्य में उद्धृत दूसरा पद्य यों है--नवं शरावं सलिलस्य पूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्। तत्तस्य मा भून्नरकं च गच्छेद्यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्॥ यह उद्धरण प्रतिज्ञायौगन्धरायण (४।२) में भी, जिसे सम्भवतः भास ने लिखा है, पाया जाता है। पराङमुखीकृते सैन्ये यो युद्धान्न निवर्तते। तत्पदानीष्टितुल्यानि भूत्यर्थमेकचेतसः॥ शिरोहृतस्य ये वक्त्रे विशन्ति रक्तबिन्दवः। सोमपानेन

वह स्वयं तथा उसके मंत्री एवं पुरोहित वेदों एवं साहित्यिक ग्रन्थों से उद्धरण देकर सैनिकों को प्रेरणा दें कि स्वामी के लिए लड़कर मर जाने से पुरस्कार एवं पीठ दिखाकर भाग जाने से धार्मिक दण्ड मिलते हैं। ज्योतिषियों को शुभ ग्रहों की बातें कहकर प्रेरणा करनी चाहिए। युद्ध के एक दिन पूर्व राजा को उपवास करना चाहिए, अथर्ववेद के मन्त्रों के साथ अग्नि में आहुतियाँ देनी चाहिए और विजय-सम्बन्धी कल्याणकारी श्लोक आदि सुनने चाहिए। चारणों को वीरों के लिए पुरस्कारों तथा कायरों के लिए नरक आदि दण्डों से सम्बन्ध रखने वाली कविताएँ सुनानी चाहिए तथा सैनिकों की जाति, श्रेणी, वंश, कर्तृत्व एवं चरित्र आदि की प्रशंसा के पुल बाँधने चाहिए। पुरोहितों के सहायकों को घोषित करना चाहिए कि उन्होंने शत्रु के विरोध के लिए डाकिनियों एवं मायाविनियों को अपने वश में कर लिया है। सेनापति एवं उसके अन्य सहायकों को निम्नोक्त प्रकार से सेना के समक्ष भाषण करना चाहिए--"जो शत्रुपक्ष के राजा को मारेगा उसे एक लाख (पण) दिये जायेंगे, जो शत्रुपक्ष के सेनापति या युवराज को मारेगा उसे पचास सहस्र (पण) दिये जायँगे....पत्ति (बटालियन) के अध्यक्ष को मारने पर एक सौ, साधारण सैनिक को मारने वाले को बीस (पण) तथा सभी सैनिकों को लूटे हुए माल तथा उनके वेतन का दुगुना मिलेगा।" कामन्दक (१९।१८-२१) का कहना है कि जब सैनिक अपनी वीरता प्रदर्शित कर चुकें तो उन्हें पूर्वकथित पुरस्कारादि दे देने चाहिए। इस विषय में और देखिए मानसोल्लास (२।२०, श्लोक ११६३-११६७, पृ० १३३-१३४)। गौतम (१०।२०-२३) ने व्यवस्था दी है कि यदि कोई सैनिक व्यक्तिगत रूप से सम्पत्ति प्राप्त कर ले तो राजा को उसे सब कुछ दे देना चाहिए किन्तु घोड़ा या हाथी आदि ले लेना चाहिए, किन्तु यदि कई सैनिक साथ मिलकर कुछ प्राप्त करें तो राजा को चाहिए कि वह सर्वोत्तम वस्तु लेकर शेष को सैनिकों की सेना के अनुसार उसमें बाँट दे। मनु (७।९६-९७) ने तो रथ, घोड़े या हाथी सैनिकों को ही दे देने को कहा है, यहाँ तक कि दासियाँ तक सैनिकों के पास रह सकती हैं, केवल सोना, चाँदी तथा अन्य रत्न आदि राजा को मिल जाने चाहिए। और देखिए काम० (१९।२१-२२) तथा शुक्र० (४।७।३७२)।

अस्त्र-शस्त्र

प्राचीन काल के आयुधों के विषय में भली भाँति चर्चा करने के लिए एक पृथक् ग्रन्थ के प्रणयन की आवश्यकता पड़ेगी। ऋग्वेद में भी कतिपय आयुधों या अस्त्र-शस्त्रों का उल्लेख हुआ है, यथा--**ऋष्टि** (ऋ० ५।५२।६, ५।५७।२ एवं ६, यह मरुतों के कंधों पर रहता था), **बाण** (५।५७।२, ६।७५।१७), **तूणीर** (५।५७।२), **अंकुश** (इन्द्र का, ८।१७।१०, १०।४४।९), **परशु** (१०।२८।८), **कृपाण** (१०।२२।१०), **वज्र** (अयस् से निर्मित, १०।४८।३, १०।११३।५)। अथर्ववेद ने विषाक्त बाणों का उल्लेख किया है (४।६।६)। अथर्ववेद (१।१६।२ एवं ४) में सीसे के किसी हथियार का वर्णन है--"यदि तुम हमारी गाय या अश्व या पुरुष को मारोगे तो हम लोग सीसे से भोंक देंगे और तुम हमारे शक्तिशाली सैनिकों को मारना बन्द कर दोगे।" तैत्तिरीयसंहिता (१।५।७।६) में कहा गया है कि जब अग्नि में समिधा "इन्धानास्त्वा शतं हिमाः" नामक मन्त्र कहकर डाली जाती है तो यजमान अपने शत्रु के प्रति **शतघ्नी** (वह आयुध जो सैकड़ों को मारता है) छोड़ता है जो स्वयं वज्र के समान कार्य करती है।

डा० ओप्पर्ट ने नीतिप्रकाशिका की भूमिका (पृ० १०-१३) में उपर्युक्त तथा अन्य उक्तियों के आधार पर यह उद्घोष किया है कि प्राचीन भारतीय आग्नेय अस्त्र जानते थे और अथर्ववेद (१।१६।४) ने वर्तुलाकार वस्तुओं से सीसे-

ते तुल्या इति वसिष्ठजोऽब्रवीत्॥ युध्यन्ते भूभृतो ये च भूम्यर्थमेकचेतसः। इष्टैस्ते बहुभिर्यागैरेव यान्ति त्रिविष्टपम्॥ बृहत्पराशर १०, पृ० २८१। (वसिष्ठज का तात्पर्य है पराशर)।

के गोलक छोड़ने की ओर संकेत किया है। देखिए डा० ओप्पर्ट का ग्रन्थ "वेपंस, आर्मी आर्गनाइज़ेशन एण्ड पोलिटिकल मैक्ज़िम्स आव द ऐंश्येण्ट हिन्दूज़" (१८८०), जहाँ उन्होंने भाँति-भाँति के आयुधों का वर्णन किया है और विश्वास किया है कि १३वीं शताब्दी के बहुत पहले से भारत में बारूद का प्रयोग होता रहा है। इस विषय में श्री जी० टी० दाते की पुस्तक "आर्ट आव वार इन ऐंश्येण्ट इण्डिया" (लंदन १९२९), डा० पी० सी० चक्रवर्ती का ग्रन्थ (१९४१, ढाका) एवं प्रो० दीक्षितार की पुस्तक (इसी विषय की) अवलोकनीय हैं। महाभारत (उद्योगपर्व १५५।३-९) में बहुत-से आयुधों का वर्णन है, जिसे हम स्थानाभाव से यहाँ उल्लिखित नहीं कर रहे हैं। विस्तार से अध्ययन के लिए देखिए हाप्किन्स का लेख (जे० ए० ओ० एस्०, जिल्द १३, पृ० २६९-३०३)। प्रयाग के स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की प्रशस्ति (चौथी शताब्दी ई०) में भी आयुधों की एक सूची है (कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, जिल्द ३, पृ० ६-७)।[१०] शुक्र० (२।९३, ११९६; ४।७।२०८) ने अग्निचूर्ण (बारूद) एवं बन्दूक (४।७।२०९-२१९) की ओर संकेत किया है और बारूद का सूत्र (फार्मूला) भी दिया है (यथा--यवक्षार का पाँच पल, गंधक का एक पल एवं कोयले के चूर्ण का एक पल मिलाकर बारूद या आग्नेय चूर्ण बनाया जाता है)। शुक्रनीतिसार सम्भवतः १३वीं या १४वीं शताब्दी में लिखित है, जब कि यूरोप में आग्नेयास्त्र (कैनन) सर्वप्रथम प्रयोग में लाया गया था। रामायण एवं महाभारत में शतघ्नी का उल्लेख बहुत बार हुआ है। शतघ्नी से सौ व्यक्ति मर जाते थे। युद्धकाण्ड (३।१३) में आया है कि लंका के द्वारों पर देखने में भयंकर, तीक्ष्ण एवं काल-समान सैकड़ों लोहे की शतघ्नियाँ राक्षसों द्वारा सजायी गयी थीं। सुन्दरकाण्ड (२।२१-२२) में कवित्व-पूर्ण ढंग से कहा गया है कि लंका में शतघ्नियाँ एवं शूल लंका के सिर के केशों के समान थे। वनपर्व (१५) में शाल्व द्वारा घिरी हुई द्वारवती (द्वारका) का वर्णन है जहाँ कहा गया है कि राजधानी में बहुत-से स्तम्भ एवं शिरोगृह (प्रासाद के शृंग या शिखर), यन्त्र, तोमर, अंकुश, शतघ्नी आदि थे। आदि० (२०७।३४), वन० (१६९।१६, २८४।५, २९०।-२४), द्रोण० (१५६।७०), कर्ण० (११।८), शल्य० (४५।११०) में शतघ्नी का उल्लेख है। किन्तु यह क्या था, बतलाना कठिन है। वनपर्व (२८४।३१) से पता चलता है कि हाथों द्वारा बड़े जोर से इसे फेंका जाता था, इसमें चक्र (पहिए), गोलक एवं प्रस्तर-खण्ड रहते थे। द्रोणपर्व (१७९।४६) में कहा गया है कि घटोत्कच की शतघ्नी में पहिए थे और वह चार घोड़ों को एक साथ मार सकती थी। द्रोणपर्व (१९९।१९) में पुनः आया है कि शतघ्नी में दो या चार पहिए होते थे। वनपर्व (२८४।४) में आया है कि सर्जरस (जलाने के लिए राल) एकत्र किया गया है। हरिवंश (भविष्यपर्व ४४।२२) में आया है कि हिरण्यकशिपु द्वारा नरसिंह पर फेंके गये अस्त्रों में जलती हुई शतघ्नियाँ भी थीं (शतघ्नीभिश्च दीप्ताभिर्दण्डैरपि सुदारुणैः)। रामायण (७।३२।४४) में आया है कि मुसल नामक आयुध के सिरे पर अशोक के फूलों के सदृश अग्नि जलती थी। सुन्दरकाण्ड (४।१८) ने शतघ्नी एवं मुसल को एक साथ कर दिया है। सम्भवतः इनमें बारूद का प्रयोग नहीं होता था, क्योंकि शतघ्नियों से धूम निकलने की बात नहीं कही गयी है। हाप्किन्स (जे० ए० ओ० एस्०, जिल्द १३, पृ० २९९-३०३) ने लिखा है कि बारूद एवं बन्दूक का प्रयोग महाभारत के काल में नहीं होता था, और आज तक हमें जो कुछ पता चल सका है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि यह कथन ठीक ही है।

नीतिप्रकाशिका (अध्याय २-५) ने बहुत-से आयुधों का वर्णन किया है और उन्हें चार श्रेणियों में बाँटा है--(१) मुक्त (फेंका या छोड़ा जानेवाला, यथा बाण), (२) अमुक्त (न छोड़ा या फेंका गया, यथा तलवार), मुक्तामुक्त (फेंका जाने वाला और न फेंका जाने वाला यथा वे अस्त्र, जो फेंके जाने पर पुनः लौटाये जा सकते हैं) एवं मन्त्रमुक्त (ऐसे

१०. "परशु-शर-शंकु-शक्ति-प्रास-असि-तोमर-भिन्दिपाल-नाराच-वैतंसिकाद्यनेकप्रहरणविरूढाकुल-व्रणशतांकशोभासमुदयोपचितकान्ततरवर्ष्मणः" (गुप्त इंस्क्रिप्शंस, पृ० ६-७)।

अस्त्र जो पुनः लौटाये नहीं जा सकते)। अग्निपुराण (२४९-२५२) एवं विष्णुधर्मोत्तर (२।१७८-१८२) ने धनुर्वेद (दोनों ने शब्दशः एक ही बात कही है, किन्तु दूसरी पुस्तक में कुछ अधिक श्लोक हैं) का निष्कर्ष दिया है और आयुधों के पाँच प्रकार बताये हैं--**यन्त्रमुक्त** (किसी यन्त्र या मशीन, यथा--ढेलवाँस, धनुष आदि से फेंके जाने वाले आयुध), **पाणिमुक्त** (हाथ से फेंके जाने वाले, यथा--पत्थर या तोमर), **मुक्तामुक्त** (प्रास के समान), **अमुक्त** (तलवार के समान) एवं **नियुद्ध** या **बाहुयुद्ध** (कुश्ती या मल्लयुद्ध)। अस्त्रों का विज्ञान अलौकिक प्रकार का था। महाकाव्यों एवं पुराणों में आया है कि महारथी लोग अस्त्र-विद्या का ज्ञान गुरु से या अपने पिता से या तपस्या से प्राप्त करते थे; कभी-कभी (जैसा कि लव-कुश के अस्त्र-ज्ञान से पता चलता है) कुछ अस्त्रों का ज्ञान पुत्र को जन्मजात या पिता की कांक्षा के कारण हो जाया करता था। धनुर्वेद की चर्चा पौराणिक चर्चा मात्र ही है, कोई लिखित पुस्तक नहीं रही है जिसके पढ़ने मात्र से कोई महारथी या योद्धा उस शास्त्र में प्रवीण हो जाय। अग्निपुराण (१३४-१३५) रण-विजय एवं विश्व-विजय के विषय में कुछ मन्त्र भी देता है। परशुरामप्रताप (राजवल्लभकाण्ड ९-१२) में बहुत-से मन्त्रों, यन्त्रों एवं मायावी उपायों का वर्णन है जो ब्रह्मयामल नामक तन्त्र-ग्रन्थ से लिये गये हैं।

महाभारत ने बड़ी सावधानीपूर्वक यह संकेत किया है कि सेना बल (शक्ति) का निकृष्ट प्रकार है। उद्योग-पर्व (३७।५२-५५) का कहना है कि बल के पाँच प्रकार होते हैं; (१) **बाहुबल**, (२) **अमात्यलाभ** (वह बल जो अमात्यों की प्राप्ति से हो), (३) **धनलाभ** (वह शक्ति या बल जो धन से प्राप्त होता है), (४) **अभिजातबल** (वह शक्ति जो अच्छे कुल में उत्पन्न होने से होती है) तथा (५) **प्रज्ञाबल** (ज्ञान से प्राप्त बल) जो सर्वोत्तम कहा जाता है। यह उपर्युक्त बात बुधभूषण (पृ० ७९) द्वारा उद्धृत है। शान्तिपर्व (१३४।८) में आया है कि शक्तिशाली के आगे कुछ भी असम्भव नहीं है, अर्थात् वह सब कुछ कर सकता है, और वह जो कुछ करता है वह पवित्र है।[११] एक अन्य स्थान पर आया है--"शक्तिशाली के लिए सब कुछ शुचि है" (आश्रमवासिक० ३०।२४)। आदिपर्व (१७५।४५) में योद्धा की शक्ति की भर्त्सना की गयी है और ब्राह्मणों की आध्यात्मिक शक्ति (ब्रह्मतेज) को वास्तविक शक्ति कहा गया है।

११. **यद् बलानां बलं श्रेष्ठं तत्प्रज्ञाबलमुच्यते। उद्योग० (३७।५५); नास्त्यसाध्यं बलवतां सर्वं बलवतां शुचि। शान्ति० (१३४।८); सर्वं बलवतां पथ्यं सर्वं बलवतां शुचि। सर्वं बलवतां धर्मः सर्वं बलवतां स्वकम्॥ आश्रमवासिक० (३०।२४); धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्। बलाबले विनिश्चित्य तप एव परं बलम्॥ आदि० (१७५।४५-४६)। ये वचन प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक नीत्शे** (Nietzsche; 'Beyond Good and Evil', Section 29) **के वचन के सदृश हैं; "केवल थोड़े ही स्वतन्त्र रहने का अधिकार रखते हैं; यह शक्तिशाली का विशेषाधिकार है"** (It is the business of the very few to be independent; it is a privilegc of the strong. translated by H. Zimmern)।

अध्याय ९

सुहृद् या मित्र (७)

मनु (७।२०८) ने मित्र बनाने की आवश्यकता पर बहुत बल दिया है और राजा के लिए अच्छे मित्र (सुहृद्) के गुणों का वर्णन किया है-- "राजा सोना एवं भूमि पाकर उतना समृद्धिशाली नहीं होता जितना कि अटल मित्र पाकर; भले ही वह (मित्र) कम धन (कोष) वाला हो, क्योंकि भविष्य में वह शक्तिशाली हो जायगा। एक दुर्बल मित्र भी श्लाघनीय है यदि वह गुणवान् एवं कृतज्ञ हो, उसकी प्रजा सन्तुष्ट हो और वह अपने हाथ में लिये हुए कार्य को अन्त तक करने वाला अर्थात् दृढ़प्रतिज्ञ हो।" मनु (७।२०६) के मत से "भूमि, सोना (हिरण्य) एवं मित्र" राजा की नीति या प्रयत्नों के तीन फल हैं। याज्ञ० (१।३५२) ने भी मनु (७।२०८) की बात मानी है। किन्तु कौटिल्य (७।९) ने इस विषय में कुछ दूसरी ही बात कही है--[1] 'भूमिलाभ हिरण्यलाभ एवं मित्रलाभ से श्रेयस्कर है तथा हिरण्यलाभ मित्रलाभ से श्रेयस्कर है।' महाभारत (शान्ति० १३८।११०) का कथन है कि कोई भी किसी का न मित्र है न शत्रु; मित्र एवं शत्रु धन (या किसी व्यक्ति द्वारा किये जाते हुए कर्मों या ध्येयों) द्वारा प्राप्त किये जाते हैं।[2] यही बात कामन्दक (८।५२) ने भी कही है। शुक्र० (४।१।८-१०) का कथन है--"शक्तिशाली, साहसी एवं विनम्र के सामने अन्य लोग ऊपर से मित्रवत् व्यवहार करते हैं, किन्तु भीतर-भीतर शत्रुता रखते हैं और अवसर की ताक में लगे रहते हैं (कि कब आक्रमण कर दें)। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। क्या वे स्वयं भूमि की विजय-लिप्सा नहीं रखते? राजा का कोई मित्र नहीं और न वह किसी का मित्र है।" शान्ति० (८०।३) के मत से मित्र चार प्रकार के होते हैं--(१) समान ध्येय वाले, (२) शरण एवं सुरक्षा चाहने वाले, (३) स्वभाव से ही जो सुहृद् हैं (सहज) तथा (४) वे जो प्राप्त किये जाते हैं (कृत्रिम)। कर्णपर्व (८८।२८) ने मित्र के चार प्रकार विभिन्न ढंग से दिये हैं--(१) सहज, (२) जो प्रसन्नतादायक शब्दों द्वारा प्राप्त किये जाते हैं, (३) जो धन द्वारा जीते जाते हैं तथा (४) वे जो शक्ति द्वारा आकृष्ट किये जाते हैं। कामन्दक (४।७४) के मत से चार प्रकार ये हैं--(१) औरस अर्थात् जन्म-जात (यथा माता, पिता, नाना, नानी आदि), कृतसम्बन्ध (विवाह-सम्बन्ध से उत्पन्न), वंशक्रमागत (पिता के मित्र) एवं (४) रक्षित अर्थात् विपत्तियों से जिनकी रक्षा की गयी हो।[3] कामन्दक (४।७५-

१. संहितप्रयाणे मित्रहिरण्यभूमिलाभानामुत्तरोत्तरो लाभः श्रेयान्। मित्रहिरण्ये हि भूमिलाभाद् भवतः। मित्रहिरण्यलाभाद्यो वा लाभः सिद्धः शेषयोरन्यतरं साधयति। कौटिल्य ७।९।

२. न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचित्सुहृत्। अर्थतस्तु निबध्यन्ते मित्राणि रिपवस्तथा॥ शान्ति० (१३८।११०); कारणेन हि जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा। कामन्दक (८।५२); नास्ति जात्या रिपुर्नाम मित्रं नाम न विद्यते। सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा॥ विष्णुधर्मोत्तर (२।१४५=शान्ति० १४०।५); न राज्ञो विद्यते मित्रं राजा मित्रं न कस्य वै। शुक्र० (४।१।९)।

३. सहार्थो भजमानश्च सहजः कृत्रिमस्तथा। शान्ति० (८०।३)। भजमान का अर्थ 'पितृपैतामहक्रमागत' भी हो सकता है तथा सहज मित्र वे हैं जो सम्बन्ध से प्राप्त होते हैं, यथा अपनी मा की बहन के पुत्र (मौसी के पुत्र) आदि। और संकृतसम्बन्धं तथा वंशक्रमागतम्। रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम्॥ काम० (४।७४)।

७६) के अनुसार मित्र राजा के गुण ये हैं—(हृदय की) पवित्रता (स्वच्छता), दयालुता, वीरता, सुख-दुःख में साथ देना, प्रेम, (मित्र का कार्य सम्पन्न करने में) जागरूकता, सचाई। सच्चे मित्र की विशेषता है मित्र द्वारा वांछित उद्देश्यों के प्रति श्रद्धा। मित्र बनाने का उद्देश्य होता है धर्म, अर्थ एवं काम नामक तीन पुरुषार्थों में से किसी एक की प्राप्ति (काम० ४।७२)।

उपर्युक्त चर्चा के सिलसिले में मण्डल-सिद्धान्त की व्याख्या कर देना आवश्यक है। कौटिल्य (६।२ एवं ७ प्रकरण), मनु (७।१५४-२११), आश्रमवासिक पर्व (६-७), याज्ञ० (१।३४५-३४८), काम० (८-९), अग्नि० (२३३ एवं २४०), विष्णुधर्मोत्तर (२।१४५-१५०), नीतिवाक्यामृत (पृ० ३१७-३४३), राजनीतिप्रकाश, (पृ० ३१६-३३०), नीतिमयूख (पृ० ४४-४६) आदि ने मण्डल के सिद्धान्त एवं छः गुणों पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला है। इन ग्रन्थों में कौटिलीय अर्थशास्त्र सम्भवतः सबसे पुराना है, अतः हम मण्डल-सिद्धान्त के विवेचन में प्रमुखतः उसी का सहारा लेंगे। नीति-वाक्यामृत (पृ० ३११-३१३) ने तो कौटिलीय के शब्दों को ज्यों-का-त्यों उद्धृत कर डाला है।

शम (शान्ति) एवं **व्यायाम** (उद्योग) पर राज्य का **योगक्षेम** निर्भर रहता है। व्यायाम अर्थात् उद्योग से हाथ में लिये हुए कार्य की पूर्ति होती है और शम से किये हुए कार्य से उत्पन्न फल का शान्तिपूर्वक उपभोग होता है। छः गुणों (सन्धि आदि) के सम्यक् उपयोग से ही शम एवं व्यायाम उभरता है। छः गुणों से जो फल-प्राप्ति (उदय) होती है वह या तो सत्यानाश या गतिरोध या उन्नति के रूप में परिणत होती है। **उदय** मानवीय एवं दैविक कारणों पर निर्भर रहता है, क्योंकि इन्हीं दोनों के आधार पर विश्व का शासन चलता है। मानवीय कारण हैं **नय** एवं **अपनय**। मानवीय कारणों की जानकारी हो सकती है और वे कार्य रूप में परिणत भी होते हैं। **नय** (अच्छी नीति) उन मानवीय कारणों का फल है जिनसे (राज्य का) योगक्षेम प्राप्त होता है; **अपनय** (अविनम्र नीति) से हानि होती है। कौटिल्य (६।१) का कथन है कि जो राजा **नय** को समझता है और आत्मगुणों एवं राज्य-तत्त्वों (प्रकृतियों) से सम्पन्न है वह सम्पूर्ण संसार का विजय कर सकता है, भले ही वह एक छोटे राज्य का ही अधिकारी क्यों न रहा हो। **विजिगीषु** (विजय की अभिलाषा रखने वाले या विजय करने वाले) के सम्बन्ध में ही मण्डल-सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। कामन्दक (८।६) ने विजिगीषु की परिभाषा यों की है—[४] "जो अपने राज्य का विस्तार करना चाहता है, जो राज्य के सातों तत्त्वों से सम्पन्न है, जो महोत्साही है और जो उद्योगशील है, वह विजिगीषु कहलाता है।" सभी ग्रन्थों में इस बात की चर्चा है कि राजा के लिए अपने दुर्बल पड़ोसियों को धर-दबाना एवं विजयाकांक्षी होना एक आदर्श है। विजिगीषु वही कहलाता है जो अच्छे गुणों (**आत्मसम्पत्**) से सम्पन्न हो और राज्य के विभिन्न तत्त्वों (**प्रकृतियों**) से परिपूर्ण हो। उसे **नय-स्रोत** होना चाहिए, अर्थात् उसकी नीति अच्छी हो जिसके बल पर वह सफलता की सीढ़ी पर चढ़ता जाय।

विजिगीषु की राज्य-सीमाओं पर रहने वाले राजा अरि कहलाते हैं। इससे प्रकट है कि अरि कई हो सकते हैं। किन्तु इस विषय में नीतिवाक्यामृत (पृ० ३२१) का यह कथन स्मरण रखना चाहिए कि यह कोई नियम नहीं होना चाहिए कि पड़ोसी सदा अरि ही हो और दूर का राजा मित्र ही। सान्निध्य एवं दूरी शत्रुता एवं मित्रता के कारण नहीं हैं, बल्कि उद्देश्य ही मुख्य है जिसके फलस्वरूप मित्र या शत्रु बनते हैं। हाँ, पड़ोसी राजा बहुधा अरि हो जाते हैं। मित्र वह है जो विजिगीषु के पड़ोसी शत्रु राजा की सीमा के उस पार हो। **शत्रु** वह है जो पड़ोसी हो और जो शत्रु-गुणों से सम्पन्न हो। देखिए कौटिल्य (६।१)। **यातव्य** (जिस पर विजिगीषु आक्रमण करता है) वह अरि है जो कठिनाइयों से ग्रस्त हो गया है। शत्रु वह अरि है जो आक्रमण का अवसर देता है। उस शत्रु को, जो विपत्तियों में फँस गया है,

४. संपन्नस्तु प्रकृतिभिर्महोत्साहः कृतश्रमः। जेतुमेषणशीलश्च विजिगीषुरिति स्मृतः॥ कामन्दक (८।६)।

यातव्य कहा जाता है और उस पर आक्रमण किया जा सकता है। जिसका कोई आश्रय न हो या जिसका आश्रय दुर्बल हो, उसका नाश कर देना चाहिए; किन्तु उस शत्रु को, जो बलशाली हो या आश्रय वाला हो, तंग कर देना चाहिए, उसकी शक्ति क्षीण कर देनी चाहिए। आश्रय का तात्पर्य है शक्तिशाली दुर्ग या अच्छा मित्र (काम० ८।६०)। इस प्रकार शत्रु के चार प्रकार हुए; **यातव्य, उच्छेद्य, पीडनीय** एवं **कर्शनीय**। जिसके पास मन्त्र एवं शक्तिशाली सेना नहीं होती उसे पीड़ित होना पड़ता है। जिसके पास मन्त्र एवं सेना की प्रबलता होती है उसे कर्शित किया जाता है, अर्थात् उसे दुर्बल बनाया जाता है।

शत्रु एवं मित्र के अन्य तीन प्रकार हैं; **सहज, कृत्रिम** एवं **प्राकृत**। सहज मित्र वे हैं जो माता-पिता के सम्बन्ध से प्राप्त होते हैं, यथा मामा या मौसा के पुत्र आदि, **कृत्रिम** मित्र वे हैं जो प्राप्त किये जाते हैं अर्थात् जो विजिगीषु को अपनी सहायता से अनुगृहीत करते हैं या जो स्वयं अनुगृहीत होते हैं, तथा **प्राकृत** मित्र वे हैं जो पड़ोसी राजा की सीमा से सटे हों (वे मण्डल-सिद्धान्त के अन्तर्गत एक तत्त्व (प्रकृति) माने जाते हैं, इसी से उन्हें **प्राकृत** कहा जाता है)। **सहज शत्रु** वह है जो अपने ही कुटुम्ब में उत्पन्न हुआ हो, यथा विमाता-पुत्र, **कृत्रिम** वह है जो विरोधी है अथवा विरोध-भावनाएँ बढ़ाता रहता है (जिसने हानि की हो या जिसकी हानि स्वयं विजिगीषु ने कर डाली हो), तथा पड़ोसी राजा **प्राकृत** शत्रु है। मिताक्षरा (याज्ञ० १।३४५) ने उपर्युक्त बातों पर प्रकाश डाला है।[५] विष्णुधर्मोत्तर (२।१४५। १५-१६) एवं अग्निपुराण (२३३।२१-२२) के मत से **प्राकृत** वास्तव में **कृत्रिम** है। कामन्दक (८।५६) ने भी केवल **सहज** एवं **कृत्रिम** का ही वर्णन किया है।

विजिगीषु बहुत-से राजाओं से घिरा रहता है, किन्तु जो **अरि** है वह विजिगीषु के पुरस्तात् (सम्मुख) कहा जाता है। अतः विजिगीषु के सम्मुख क्रम से **अरि** (पड़ोसी शत्रु), **मित्र** (अरि की सीमा से सटे राज्य वाला राजा), **अरिमित्र** (अरि का वह मित्र जो विजिगीषु के मित्र की सीमा का हो), **मित्र-मित्र** (मित्र का मित्र) तथा **अरिमित्रमित्र** (शत्रु के मित्र का मित्र) आते हैं। जब **अरि** विजिगीषु के सम्मुख रहता है तो विपरीत दिशा के राज्य का शासक पश्चात् होता है और उसे **पार्ष्णिग्राह** (वह जो पीछे से पकड़ सके या आक्रमण कर सके) कहा जाता है।[६] वह वास्तव में शत्रु है, किन्तु यह उपाधि केवल उसी के लिए है। ऐसा शत्रु अभियान के समय या जब विजिगीषु कहीं आक्रमण करने जा रहा हो, तब विपत्ति खड़ी कर देता है। पार्ष्णिग्राह के आगे के राज्य के राजा को **आक्रन्द** (जिसकी सहायता प्राप्त करने के लिए विजिगीषु प्रार्थना कर सकता है या उभाड़ सकता है) कहा जाता है। आक्रन्द वह मित्र है, जो पार्ष्णिग्राह की सीमा से सटा रहता है। पार्ष्णिग्राह के मित्र (जो आक्रन्द से सटा रहेगा) को **पार्ष्णिग्राहासार** कहा जाता है। इसी प्रकार आक्रन्द के मित्र को **आक्रन्दासार** कहा जाता है। उसे **मध्यम** कहा जाता है जिसका राज्य विजिगीषु तथा अरि की राज्य-सीमा से सटा हुआ हो, और जो दोनों अर्थात् विजिगीषु तथा उसके शत्रु (अरि) को सहायता दे सकता हो, या

५. **अरिसम्पद्युक्तः सामन्तः शत्रुः। व्यसनी यातव्य अनपाश्रयो दुर्बलाश्रयो वोच्छेदनीयः। विपर्यये पीडनीयः कर्शनीयो वा। कौटिल्य ४।२; अरिः पुनश्चतुर्विधः। यातव्योच्छेत्तव्यपीडनीयकर्शनीयभेदेन। तत्र यातव्योऽनन्तर-भूमिपतिः व्यसनी हीनबलो विरक्तप्रकृतिः। विदुर्गो मित्रहीनो दुर्बलश्चोच्छेत्तव्यः। पीडनीयो मन्त्रबलहीनः। प्रबल-मन्त्रबलयुक्तः कर्शनीयः। निर्मूलनात्समुच्छेदं पीडनं बलनिग्रहम्। कर्शनं तु पुनः प्राहुः कोशदण्डापकर्शनात्॥ मिताक्षरा (याज्ञ० १।३४५)।** ये भेद सरस्वतीविलास (पृ० ३६) में उद्धृत हैं।

६. **यो विजिगीषौ प्रस्थितेऽपि प्रतिष्ठमाने वा पश्चात्कोपं जनयति स पार्ष्णिग्राहः। पार्ष्णिग्राहाद्यः पश्चिमः स आक्रन्दः पार्ष्णिग्राहमित्रमासार आक्रन्दमित्रं च। नीतिवाक्यामृत (पृ० ३१९)।**

दोनों से भिड़ सकता हो। उदासीन राजा वह है जो विजिगीषु के राज्य की सीमा से बहुत दूर राज्य करता हो, जो राज्य तत्त्वों से सम्पन्न हो और उपर्युक्त तीनों प्रकारों को सहायता दे सकता हो या उनसे भिड़ सकता हो।[७] कुल्लूक (मनु ७।१५३) उपर्युक्त विवेचन को नहीं मानते। उनके अनुसार उदासीन वह शक्तिशाली राजा है जिसका राज्य विजिगीषु के राज्य के सम्मुख हो, पीछे हो या दूर हो और जो किसी कारणवश या विजिगीषु के कार्य-कलापों के कारण उदासीन हो उठा हो। मिताक्षरा (याज्ञ० १।३४५) का कथन है कि उदासीन भी तीन प्रकार का होता है और प्राकृत उदासीन उस राज्य का स्वामी होता है जो विजिगीषु के राज्य से दो राज्यों द्वारा पृथक् हो, मध्यम (नीतिवाक्यामृत पृ० ३१८ के अनुसार मध्यस्थ) वह है जो विजिगीषु तथा उसके अरि का पड़ोसी हो, किन्तु कुछ कारणों से दोनों के आपसी मतभेद या युद्ध से तटस्थ रहना चाहता हो।

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि विजिगीषु, अरि, मध्यम एवं उदासीन स्वतन्त्र श्रेणियों के द्योतक हैं और अन्य शेष चार, यथा--मित्र, मित्रमित्र, आक्रन्द, आक्रन्दासार विजिगीषु की श्रेणियों के तथा आगे वाले शेष चार, यथा--अरिमित्र, अरिमित्रमित्र, पार्ष्णिग्राह एवं पार्ष्णिग्राहासार अरि की श्रेणियों के द्योतक हैं।[८] इसी लिए मनु (७।१५५-१५६) ने मण्डल-सिद्धान्त के मूल में चार प्रकृतियों, यथा--विजिगीषु, शत्रु, मध्यम एवं उदासीन को रखा है और कामन्दक (८।२०) ने मय के उद्घोष का उल्लेख किया है कि मण्डल में ये ही चार पाये जाते हैं। कामन्दक (८।८६) के अपने मत से मण्डल में मित्र, उदासीन एवं रिपु पाये जाते हैं। कौटिल्य के मत से उपर्युक्त बारह प्रकृतियाँ मण्डल में पायी जाती हैं। उशना का भी यही मत है (काम० ८।२२ एवं ८।४१); उन्होंने बारह प्रकृतियों को माना है और अन्य शास्त्रियों के विभिन्न मतों की ओर संकेत भी किया है। कामन्दक (८।२०-४१) ने मण्डल के तत्त्वों एवं राज्य के तत्त्वों के विभिन्न सम्मिलनों के आधार पर विभिन्न ग्रन्थकारों के मत प्रकाशित किये हैं और कहा है कि इस प्रकार के सम्मिलनों से मण्डल में १८, २६, ५४, ७२, १०८ प्रकृतियों एवं अन्य सदस्यों का समावेश हो जाता है। सरस्वतीविलास (पृ० ३७-४१) ने भी उशना द्वारा प्रकाशित विभिन्न मतों का उल्लेख किया है और लिखा है कि इस प्रकार प्रकृतियों की संख्या १, २, ३, १०, २१, १०८ हो जाती है। अन्य ग्रन्थकारों ने भी ४, ५, ६, १४, १८, ३०, ३६, ४४, ६०, ७२ प्रकृतियों का उल्लेख किया है। मनु (७।१५७) ने भी राज्यतत्त्वों को मण्डल के बारह सदस्यों से मिलाकर ७२ संख्या बतायी है।[९] दशकुमारचरित (८, पृ० १४४) में भी ७२ प्रकृतियों

७. अरिविजिगीष्वोर्भूम्यनन्तरः संहतासंहतयोरनुग्रहसमर्थो निग्रहे चासंहतयोर्मध्यमः। अरिविजिगीषुमध्यानां बहिः प्रकृतिभ्यो बलवत्तरः संहतासंहतानामरिविजिगीषुमध्यमानामनुग्रहे समर्थो निग्रहे चासंहतानामुदासीनः। कौटिल्य (६।२, पृ० २६१); देखिए अग्नि० (२४०।३-५) एवं विष्णुधर्मोत्तर (२।१४५।११-१२।)--मण्डलाद् बहिरेतेषामुदासीनो बलाधिकः। अनुग्रहे संहतानां व्यस्तानां च वधे प्रभुः॥ अग्नि० (२४०।४-५)। यही बात सरस्वती-विलास (पृ० ३९) में भी उद्धृत है।

८. देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० १।३४५) 'पार्ष्णिग्राहाक्रन्दासारादयस्त्वरिमित्रोदासीनेष्वेवान्तर्भवन्ति संज्ञाभेदमात्रं ग्रन्थान्तरे दर्शितमिति योगीश्वरेण न पृथगुक्ताः।' इतिप्रकारं बहुधा मण्डलं परिचक्षते। सर्वलोकप्रतीतं तु स्फुटं द्वादशराजकम्॥ काम० ८।४१। यही बात सरस्वतीविलास (पृ० ४१) में उशना के श्लोक के रूप में उद्धृत है।

९. एवं चतुर्मण्डलसंक्षेपः। द्वादश राजप्रकृतयः षष्टिर्द्रव्यप्रकृतयः सङ्क्षेपेण द्विसप्ततिः। तासां यथास्वं सम्पदः शक्तिः सिद्धिश्च। बलं शक्तिः, सुखं सिद्धिः। शक्तिस्त्रिविधा। कौटिल्य ६।२, पृ० २६१; मण्डलस्था च या चिन्ता राजन् द्वादशराजिका। द्विसप्ततिमतिश्चैव प्रोक्ता या च स्वयम्भुवा॥ शान्ति० (५९।७०-७१)।

की ओर संकेत किया गया है (द्विसप्ततिप्रकृतिपत्रः. . .नयवनस्पतिः)। मण्डल के मूल में राज्यों के बीच शक्ति-सन्तुलन स्थापित करने की बात निहित है, कुछ राज्यों के बीच में मित्रता रहेगी तो स्वभावतः कुछ राज्य विरोधी भावों से प्रेरित हो एक गुट में मिल जायँगे। कौटिल्य (६।२) ने भी ७२ संख्या की ओर संकेत किया है, जिसमें १२ तो राजाओं द्वारा व्यवस्थित (**राज-प्रकृति**) हैं और ६० (१२ के साथ प्रत्येक में ५ राज्य-तत्त्वों के समावेश) को **द्रव्य-प्रकृति** कहा जाता है। शान्तिपर्व (५९।७०-७१) में भी १२ राजाओं के मण्डल एवं ७२ की संख्या की ओर संकेत है। इस विषय में विशेष अध्ययन के लिए देखिए श्री एन्० एन्० ला की प्रसिद्ध पुस्तक 'स्टडीज़ इन ऐंश्येण्ट हिन्दू पालिटी', पृष्ठ १९५-२०८। सम्भावनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है किसी राजा के पड़ोसी राजा लोग उसके अरि होते हैं और दूर-दूर के राजा लोग साथी। इससे यह निर्देश मिलता है कि स्थान एवं सम्भावनाओं के आधार पर ही कूटनीति का भवन खड़ा होता है। (वाम भाग की सूची से मण्डल-सिद्धान्त और स्पष्ट हो जायगा।)

	अरिमित्रमित्र	
	मित्रमित्र	उदासीन
	अरिमित्र	
	मित्र	
मध्यम	अरि	
	विजिगीषु	
	पार्ष्णिग्राह	
	आक्रन्द	
	पार्ष्णिग्राहासार	
	आक्रन्दासार	

मनु (७।१७७ एवं १८०) ने घोषित किया है कि राजा को चाहिए कि वह अपने साधनों को इस प्रकार व्यवस्थित कर दे कि उसके मित्र, उदासीन एवं शत्रु उसकी हानि न कर सकें या उससे उच्च न हो जायँ। मेधातिथि (मनु ७।१७७) ने लिखा है कि स्वार्थ आ पड़ने पर मित्र भी शत्रु हो जाता है (स्वार्थगतिवशाच्च मित्रमप्यरिर्भवति)।[१०]

कौटिल्य (७।३) ने मण्डल-सिद्धान्त को शक्ति-सिद्धान्त एवं षाड्गुण्य से सम्बन्धित किया है। राजा अपनी शक्तियों को जिस सीमा तक कार्यान्वित करेगा उसी सीमा तक उसका एवं उसके राज्य का कल्याण होगा। महत्त्वाकांक्षी राजा को अपनी शक्तियों के साथ षड्-गुणों (नीति की विधियों) का उपयोग करना चाहिए। बारह राजाओं का मण्डल षड्-गुणों को उनके उपयोग की ओर अग्रसर करता है। व्यातव्याधि (जिन्होंने केवल सन्धि एवं विग्रह को ही महत्ता दी है) से मतभेद प्रकट करते हुए तथा एक बार अन्य आचार्यों से मतैक्य स्थापित करते हुए कौटिल्य ने षड्-गुणों को मान्यता दी है और उनकी व्याख्या उपस्थित की है। सरस्वतीविलास (पृ० ४२) ने गौतम का एक सूत्र उद्धृत किया

१०. **विजिगीषुः शक्त्यपेक्षः षाड्गुण्यमुपयुञ्जीत। कौटिल्य (७।३); षाड्गुण्यस्य प्रकृतिमण्डलं योनिः। सन्धिविग्रहासनयानसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यमित्याचार्याः। कौटिल्य (७।१); मण्डलानि समाचक्ष्व विजिगीषोर्यथाविधि। यान्याश्रित्य नृपैः कार्यं सन्धिविग्रहचिन्तनम्॥ विष्णुधर्मोत्तर (२।१४५।६)।**

है जो मुद्रित संस्करण में नहीं मिलता।[11] कौटिल्य ने ६ गुणों की व्याख्या की है—[12] "**सन्धि** का अर्थ है व्यवस्था अथवा ऐक्य (मेल) स्थापित करना; **विग्रह** का अर्थ है विरोध कर लेना; **आसन** का तात्पर्य है उदासीनता का भाव; **यान** का अर्थ (आक्रमण के लिए) तैयारी करना; **संश्रय** का तात्पर्य है (किसी शक्तिशाली राजा के यहाँ) आश्रय लेना तथा **द्वैधीभाव** का अर्थ है एक राजा से सन्धि करना तथा दूसरे से शत्रुता स्थापित करना।" कौटिल्य ने यह भी कहा है कि पड़ोसी राजा से हीन होने पर उससे सन्धि कर लेनी चाहिए, जो राजा उन्नति कर रहा हो उसे पड़ोसी से शत्रुता कर लेनी चाहिए, जो यह सोचे कि शत्रु मेरी हानि नहीं कर सकता और न मैं ही उसकी हानि कर सकता हूँ, तो उसे अपने राज्य में ही उदासीन बैठा रहना चाहिए, जो सब प्रकार से सुविधाजनक स्थिति में है वह अपने शत्रु पर आक्रमण कर सकता है, जो शक्तिहीन है उसे शक्तिशाली राजा का आश्रय ले लेना चाहिए तथा वह व्यक्ति द्वैधीभाव रख सकता है जिसकी कार्यसिद्धि मित्र द्वारा नहीं हो सकती।

कुछ ग्रन्थों ने अधिक स्पष्ट परिभाषा दी है और द्वैधीभाव का अर्थ और ही बताया है, यथा—**द्वैधीभाव** का अर्थ है अपनी सेना को दो भागों में बाँट देना। देखिए विष्णुधर्मोत्तर (२।१५०-३-५) एवं मिताक्षरा (याज्ञ० १। ३४६)।[13] कुछ लोगों के मत से संश्रय का तात्पर्य है उदासीन या मध्यम (मध्यस्थ) राजा की शरण जाना। कौटिल्य (७) ने छः गुणों की विशद व्याख्या की है और यही बात मनु (७।१६०), काम० (९-१६), विष्णुधर्मोत्तर (२।१४५-१५०), अग्नि० (२४०), मानसोल्लास (पृ० ९४-११६), राजनीतिप्रकाश (पृ० ३२४-४१३) में भी पायी जाती है। मनु (७।१६२-१६८) ने लिखा है कि प्रत्येक गुण दो प्रकार का होता है। काम० (९।२-१८) एवं अग्नि० (२४०) ने सन्धि के १६ प्रकार बताये हैं और उनकी परिभाषा दी है। कामन्दक की व्याख्या का आधार कौटिल्य (७।३) है। कौटिल्य (७।३) का कहना है कि यदि दुर्बल राजा पर सबल राजा (मण्डल का नेता) आक्रमण कर दे तो पहले को तुरन्त झुक जाना चाहिए और अपनी सेना, कोष, राज्य और स्वयं को उसे सौंप देना चाहिए। सेना उसके अधीन कर देने की बात पर सन्धि तीन प्रकार की होती है—**आत्मामिष** (अपनी सेना की उत्तम टोली लेकर स्वयं उपस्थित होना अर्थात् स्वयं अपने को शिकार की भाँति उपस्थित कर देना), **आत्मरक्षण** (अपनी रक्षा करना, अर्थात् स्वयं न जाना, सेनापति या युवराज के साथ अपनी सेना भेज देना) तथा **अदृष्टपुरुष** (जिसमें किसी विशिष्ट व्यक्ति की चर्चा न हो, जिसमें यह तय पाया हो कि कोई भी राजा की ओर से या स्वयं राजा आक्रामक के इच्छानुसार कहीं भी सेना लेकर चला आये)। इन संधियों को **दण्डप्रणत** (जिसमें सेना के साथ सन्धि की जाती है) सन्धि

११. तथा च गौतमसूत्रम्। चतुरुपायानवलम्ब्य सन्धिविग्रहयानासनद्वैधीभावसमाश्रयाख्यान्गुणान् परिकल्पयेत्। सरस्वतीविलास पृ० ४२।

१२. पणबन्धः सन्धिः, अपकारो विग्रहः, उपेक्षणमासनम्, अभ्युच्चयो यानम्, परार्पणं संश्रयः, सन्धिविग्रहोपादानं द्वैधीभावः। इति षड्गुणाः। परस्माद्धीयमानः सन्दधीत। अभ्युच्चीयमानो विगृह्णीयात्। न मां परो नाहं परमुपहन्तुं शक्त इत्यासीत। गुणातिशययुक्तो यायात्। शक्तिहीनः संश्रयेत्। सहायसाध्ये कार्ये द्वैधीभावं गच्छेत्। इति गुणावस्थापनम्। कौटिल्य ७।१। और देखिए रघुवंश (८।२१) जहाँ कालिदास ने लिखा है—'पणबन्धमुखान् गुणानजः षडुपायुङक्त समीक्ष्य तत्फलम्।'

१३. पणबन्धः स्मृतः सन्धिरपकारस्तु विग्रहः। जिगीषोः शत्रुविषये यानं यात्रा विधीयते।। विग्रहेऽपि स्वके देशे स्थितिरासनमुच्यते। बलार्धेन प्रयाणं तु द्वैधीभावं तदुच्यते।। उदासीने मध्यमे वा संश्रयात्संश्रयः स्मृतः। विष्णुधर्मोत्तर २।१५०।३-५; द्वैधीभावः स्वबलस्य द्विधाकरणम्। मिता० (याज्ञ० १।३४६)।

कहते हैं। वे संधियाँ जो कोष देने की शर्त पर की गयी हों, **परिक्रय** (जिसमें कोष दे देने पर राज्य के अन्य तत्त्व सुरक्षित रह जाते हैं), **उपग्रह** (जिसमें एक मनुष्य के कंधों पर ढोने के बराबर कोष दिया जाय) एवं **कपाल** (शाब्दिक अर्थ--किसी भाण्ड का टूटा अर्ध भाग, अर्थात् जहाँ प्रभूत धन दिया जाय) नामों से पुकारी जाती हैं। इन संधियों को **कोशोपनत** संधियों की संज्ञा प्रदान हुई है। **देशोपनत** संधियों (जिनमें राज्य-भूमि देने की शर्त रहती है) के प्रकार हैं--**आदिष्ट** (जिसमें एक भाग देकर सारी राज्य-भूमि बचा ली जाती है), **उच्छिन्न** (जिसमें सारी राज्य-भूमि ले ली जाती है, केवल राजधानी छोड़ दी जाती है और वह भी धनहीन), **अपक्रय** (जिसमें राज्य छोड़ दिया जाता है, किन्तु उपज ली जाती है) तथा **परिभूषण** (जिसमें उपज से अधिक देने की बात निश्चित हो)।

कामन्दक (९।२१-२२) ने कुछ और प्रकार जोड़े हैं और कहा है कि केवल **उपहार** (भेंट देना) ही संधि है, अन्य सन्धियाँ इसके प्रकार (हेर-फेर) मात्र हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी कहा है कि केवल **मित्र-सन्धि** (बिना भूमि, धन आदि दिये मित्रता की सन्धि) उपहार के अन्तर्गत नहीं आती। काम० (९-२०) एवं मानसोल्लास (२।११, पृ० ९४-९५) में अन्य चार सन्धियों का उल्लेख हुआ है, यथा--**मैत्र, परस्परोपकार** (एक-दूसरे को सहायता देने की सन्धि), **सम्बन्धज** (कन्या देकर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना) एवं **उपहार**। इस विषय में एक उदाहरण मिलता है; सन् १२३२ ई० (संवत् १२८८) में वैसाख पूर्णिमा के दिन सोमवार को देवगिरि के यादव राजा सिंघण ने (जिन्हें महाराजाधिराज की उपाधि दी गयी है) बाघेल राजा लावण्यप्रसाद (लवणप्रसाद, जिन्हें **राणक** एवं **महामण्डलेश्वर** की उपाधि मिली है) से संधि की और तय पाया कि वे एक-दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे और किसी अन्य के आक्रमण करने पर एक-दूसरे की सहायता करेंगे। यह बात लेखपंचाशिका में लिखित है (देखिए, बाम्बे गजेटियर, जिल्द १, भाग १, पृ० २००)। काम० (९।२३-२६) एवं अग्नि० (२४०।१०-१३) ने ऐसे दस लोगों के प्रकार बताये हैं जिनके साथ सन्धि नहीं करनी चाहिए। कामन्दक (९।४२-५२) ने ऐसे सात लोगों के भी नाम बताये हैं, जिनके साथ सन्धि करनी चाहिए। इन बातों के लिए कामन्दक ने कारण भी बताये हैं। अपने से बराबर वालों के साथ (न केवल अपने से अधिक शक्तिशाली के साथ) भी सन्धि करनी चाहिए, क्योंकि रण-क्षेत्र में विजय संदिग्ध रहती है (काम० ९-५९)। कौटिल्य ने एक सुन्दर उपमा दी है; जब दो समान राजा एक-दूसरे से भिड़ जाते हैं तो वे कच्चे घड़े की भाँति टूट जाते हैं। जब अधिक शक्तिशाली राजा सन्धि के लिए उद्यत न हो तो दुर्बल राजा को अपनी सेना लेकर शक्तिशाली राजा की सहायता के लिए चल देना चाहिए। कौटिल्य (७।१२) ने सन्धियों एवं दुर्ग-निर्माण, सिंचाई के विषय में तथा अन्य बातों की चर्चा करते समय महत्त्वपूर्ण निर्देश दिये हैं; स्थल-मार्ग जल-मार्ग से अच्छा है, दक्षिणी एवं उत्तरी मार्गों में प्रथम अच्छा है।[१४] कामन्दक (१०।१५=अग्नि० २४०।१९) के मत से वैर के पाँच प्रकार हैं; विमाता से उत्पन्न भाई का, भूमि (भूमि या घर पर अधिकार कर लेने से) का, स्त्री से उत्पन्न (स्त्री को भगा ले जाने या एक ही स्त्री को प्यार करने के कारण), शब्दों के कारण (गाली या व्यंग्यात्मक ढंग अपनाने से) तथा त्रुटियाँ या अपकार करने से।

कामन्दक (१०।२-५=अग्नि० २४०।२०-२४) ने उन सोलह विधियों का वर्णन किया है जिनसे **विग्रह** उत्पन्न होता है, यथा--राज्य पर अधिकार कर लेना, स्त्री, जनपद, वाहन (हाथी, घोड़ा), दूसरे का धन आदि छीन लेना, गर्व करना, उत्पीड़ित करना आदि। जब कोई राजा यह जान ले कि उसकी सेना का भली भाँति पालन-पोषण हो रहा

१४. स्थलपथेऽपि हैमवतो दक्षिणापथाच्छ्रेयान् हस्त्यश्वगन्धदन्ताजिनरूप्यसुवर्णपण्याः सारवत्तरा इत्याचार्याः। नेति कौटिल्यः। कम्बलाजिनाश्वपण्यवर्जाः शङ्खवज्रमणिमुक्ताः सुवर्णपण्याश्च प्रभूततरा दक्षिणापथे। कौटिल्य ७।१२।

है, उसकी प्रजा सन्तुष्ट है तथा दूसरे राजा की प्रजा एवं सेना असन्तुष्ट है, और जब उसे इसका ज्ञान हो जाय कि उसे विग्रह के तीन फल (भूमि, मित्र एवं धन, काम० १०।२६-२८) प्राप्त हो रहे हैं, तो उस (दूसरे राजा) पर आक्रमण कर देना चाहिए। कौटिल्य (७।१५) ने विजयी को सेना समर्पित किये जाने पर विजित की मनःस्थिति तथा **दण्डोपनायी** (जो सैन्यबल से दूसरे राजा को झुका देता है) की मनःस्थिति का वर्णन किया है (७।१६)। **यान** का तात्पर्य है उस विजिगीषु का आक्रमण-प्रयाण जिसकी प्रजा उसके गुणों के कारण अति सन्तुष्ट हो (काम० ११।१)। मत्स्यपुराण (२४०।२) एवं अग्निपुराण (२२८।१-२) का कथन है कि जब शत्रु-पृष्ठभाग **आक्रन्द** द्वारा अभिभूत कर लिया जाय या जब शत्रु विपत्तियों से आक्रान्त हो जाय तो विजिगीषु को आक्रमण के लिए प्रयाण करना चाहिए। किन्तु **यातव्य** पर (जिस पर आक्रमण करना निश्चित हो चुका है) आक्रमण करने के पूर्व एक दूत (काम० १२।१) यह जानने के लिए भेज देना चाहिए कि वह (यातव्य) मुठभेड़ करना चाहता है या झुक जाना चाहता है। इससे स्पष्ट है कि बिना बातचीत किये या अन्तिम बात कहे (यथा––यदि यह बात नहीं मानी जायगी तो लड़ाई छिड़ जायगी) लड़ाई नहीं की जाती थी। महाभारत (उद्योगपर्व ८३।५-७) में आया है कि श्री कृष्ण पाण्डवों की ओर से दूत के रूप में कौरवों के यहाँ पहुँचे थे।

पुराणों एवं मध्यकाल के निबन्धों में आक्रमण करने के पूर्व-भावी धार्मिक एवं आराधनापूर्ण कृत्यों के विषय में बहुत-से नियम हैं। विष्णुधर्मोत्तर (२।१७६) एवं अग्नि० (२३६।१-१८) के मत से आक्रमण के सात दिन पूर्व से ही आक्रामक राजा को देवी-देवों की पूजा करनी पड़ती थी। गणपति, दिक्पालों, नवग्रहों, आश्विनौ, विष्णु, शिव तथा राजधानी के मन्दिरों के देवों की पूजा की जाती थी। आक्रामक को उन दिनों के स्वप्नों का अर्थ लगाना पड़ता था और बुरे स्वप्नों के लिए मार्जन आदि की व्यवस्था करानी पड़ती थी। अच्छे एवं शुभ शकुनों तथा स्वप्न-विचार के विषय में बहुत पुरानी परम्परा रही है। छान्दोग्योपनिषद् (५।२।८-९) में आया है कि जब कोई किसी कार्य की सिद्धि के लिए पवित्र यज्ञों में संलग्न रहने पर स्वप्न में किसी स्त्री को देखता है तो उसे यह अनुभव करना चाहिए कि उसका कार्य अवश्य हो जायगा। इसी प्रकार ऐतरेय आरण्यक (३।२।४) में आसन्न मृत्यु के संकेतों के विषय में लिखा है कि जब कोई व्यक्ति स्वप्न में किसी काले दाँत वाले काले व्यक्ति को देखे तो उसकी मृत्यु हो जायगी, ऐसा समझना चाहिए।[१५] शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्रभाष्य (२।१।१४) में उपर्युक्त बातों का उद्धरण दिया है। विष्णुधर्मोत्तर (२।१३२-१४४––जो गर्ग पर आधारित है, २।१६४), मत्स्यपुराण (२२८-२४१), अग्नि० (२३०-२३२) आदि ने स्वर्ग एवं आकाश में तथा पृथिवी और क्रियाओं में उत्पन्न अशुभ लक्षणों एवं शकुनों तथा उन्हें दूर करने के उपायों के विषय में लिखा है। मानसोल्लास (२।१३, पृ० ९७-११२) एवं राजनीतिप्रकाश (पृ० ३३१-३५१) ने भी ये सब बातें कही हैं और ज्योतिष-सम्बन्धी चर्चा भी की है। उनमें कुछ बहुत ही मनोरंजक हैं, यथा––विष्णुधर्मोत्तर (२।२३५) ने मूर्तियों के रोने एवं नाचने की बात कही है। पूजा के छठे दिन अर्थात् आक्रमण-प्रयाण के एक दिन पूर्व राजा **जयाभिषेक** नामक स्नान करता है। इसका प्रभूत वर्णन राजनीतिप्रकाश (पृ० ३५१-३९५) में मिलता है, जहाँ लिंगपुराण से बहुत-से उद्धरण दिये गये हैं। **जय-स्नान** के कृत्य राज्याभिषेक के कृत्यों से बहुत अंशों में मिलते हैं। विशद चर्चा के लिए देखिए मत्स्य० (२४३।१५-१६) एवं विष्णुधर्मोत्तर २।१६३।१८-३१)। मत्स्य० (२४३।२-१४) में अशुभ दर्शनों की भी एक सूची दी गयी है।

१५. स यदि स्त्रियं पश्येत्समृद्धं कर्मेति विद्यात्। तदेष श्लोकः। यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने॥ छान्दोग्य० ५।२।८-९; न चिरमिव जीविष्यतीति विद्यात्... अथ स्वप्नाः। पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति। ऐत० आर० ३।२।४।

प्रयाण के कुछ शुभ शकुन ये हैं--श्वेत पुष्प, जलपूर्ण घट, गायें, घोड़े, हाथी, अग्नि की ज्वाला, वेश्या, दूब, सोना, चाँदी, ताँबा, सभी रत्न, तलवार, छाता, ध्वजा, शव (जिसके साथ रुदन करते हुए लोग न हों), फल एवं स्वस्तिक चिह्न। अशुभ शकुन ये हैं--काला अनाज, रुई, सूखा गोबर, ईंधन, मुण्डित सिर या नंग-धड़ंग मनुष्य या बिखरे बालों वाला या लाल वस्त्रधारी व्यक्ति, पागल, चाण्डाल, गर्भवती नारी, टूटा घट, भूसा या चोकर, राख एवं हड्डियाँ। मानसोल्लास (२।१३, श्लोक ८११-८२३, पृ० १०२-१०३) एवं नीतिमयूख (पृ० ५८-५९) ने भी अशुभ एवं शुभ वस्तुओं एवं घटनाओं की सूची दी है। मत्स्य० (२४३।२७) एवं विष्णुधर्मोत्तर (२।१६३।३२) ने बड़ी सावधानी से यह बात कही है कि पूर्ण विश्वास एवं प्रसन्न मुद्रा से युक्त मन विजय का सूचक होता है।[16] गौतम (११।१५-१७) ने भी ज्योतिषियों तथा अशुभ लक्षणों को दूर करने में चतुर एवं दक्ष लोगों की बात मानने पर बल दिया है और ग्रहशान्ति, स्वस्त्ययन, जादू आदि की व्यवस्था बतलायी है। कौटिल्य ने भी आसन्न विपत्तियों को दूर करने के लिए देव-पूजा, ब्राह्मण-सत्कार एवं अथर्ववेद द्वारा व्यवस्थित क्रिया-संस्कार करने को कहा है। मनु (७।८२) एवं याज्ञ० (१।३१५) ने लिखा है कि विद्वान् ब्राह्मणों को दी गयी भेंट राजा के लिए अक्षय सम्पत्ति होती है। राजधर्मकाण्ड (पृ० १०९) ने ब्रह्मपुराण का उद्धरण देते हुए लिखा है कि राजा को प्रति वर्ष दो लक्ष-होम एवं कोटि-होम करने चाहिए। राजधर्मकाण्ड (पृ० ११३) एवं राजनीतिप्रकाश (पृ० १४४) ने उद्योगपर्व (३३।९३-९५) का हवाला देते हुए मनुष्य की अवनति के आठ लक्षण बताये हैं; ब्राह्मण-घृणा, ब्राह्मण-विरोध, ब्राह्मण-सम्पत्ति छीन लेना, उन्हें मार डालने या हानि पहुँचाने की इच्छा रखना, उन्हें अपमानित करने में आनन्द लेना, उनकी प्रशंसा से चिढ़ जाना, धार्मिक कृत्यों में उनका स्मरण न करना तथा उनके द्वारा प्रार्थना किये जाने पर आक्रोश प्रकट करना।

प्राचीन काल में रणक्षेत्र में जाने के पूर्व राजा किस प्रकार सजता या सन्नद्ध होता था, इसके विषय में मनोरंजक बातें ज्ञात हैं। आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।१२) का कहना है कि जब लड़ाई होने वाली हो, पुरोहित को चाहिए कि वह राजा को कवच निम्न रूप से पहनाये। राजा के रथ के पश्चिम भाग में खड़े होकर पुरोहित को यह मन्त्र (ऋ० १०।१७३) कहना चाहिए--"मैं तुम्हें ले आया हूँ" आदि। इसके उपरान्त ऋग्वेद (६।७५।१) के मन्त्र के साथ राजा को कवच देना चाहिए। पुनः पुरोहित दूसरे मन्त्र (ऋ० ६।७५।२--"धन्वना गा") के साथ राजा को धनुष देता है और मन्त्र (ऋ० ६।७५।३) का पाठ करने को कहता है एवं स्वयं मन्त्र (ऋ० ६।७४।४) पढ़ता है। इसके उपरान्त वह मन्त्र (ऋ० ६।७५।५) के साथ राजा को तूणीर देता है। जब संग्राम-दिशा की ओर रथ चलने लगता है तो पुरोहित मन्त्र (ऋ० ६।७५।११) पढ़ता है और घोड़ों पर सातवाँ मन्त्र (ऋ० ६।७५।७) पढ़ता है एवं राजा से आठवाँ मन्त्र (ऋ० ६।७५।८) पढ़वाता है। इसी प्रकार मन्त्रों के पाठ के साथ अन्य क्रियाएँ की जाती हैं, जिन्हें हम स्थानाभाव से यहाँ नहीं दे रहे हैं; शेष बातें पाद-टिप्पणी में देखिए।[17] बाण ने हर्षचरित (सातवें उच्छ्वास) में दिग्विजय के लिए हर्ष के प्रस्थान का बहुत ही सुन्दर एवं सच्चा वर्णन किया है।

१६. मनसस्तुष्टिरेवात्र परमं जयलक्षणम्। एकतः सर्वलिंगानि मनसस्तुष्टिरेकतः।। मत्स्य० (२४३। २७= विष्णुधर्मोत्तर २।१६३।३२)।

१७. संग्रामे समुपोढे राजानं संनाहयेत्। आ त्वा हार्षमन्तरेधीति पश्चाद्रथस्यावस्थाय। जीमूतस्येव भवति प्रतीकमिति कवचं प्रयच्छेत्। उत्तरया धनुः। उत्तरां वाचयेत्। स्वयं चतुर्थीं जपेत्। पञ्चम्येषुधिं प्रयच्छेत्। अभिप्रवर्तमाने षष्ठीम्। सप्तम्याश्वान्। अष्टमीमिषूनवेक्षमाणं वाचयति। अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुमिति तलं नह्यमानम्। अथैनं सारयमाणमपारुह्याभीवर्तं वाचयति प्र यो वां मित्रावरुणेति च द्वे। अथैनमन्वीक्षेताप्रतिरथ-

प्रस्थान के पूर्व राजा को नीराजनाविधि करनी पड़ती थी, जिसमें घोड़ों, हाथियों, पताकाओं, सेनाओं आदि के समक्ष दीपक घुमाये जाते थे। कौटिल्य (२।३०) ने लिखा है कि आश्विन के नवें दिन घोड़ों के समक्ष दीपक घुमाये जाने चाहिए और यही बात आक्रमण के आरम्भ एवं अन्त में तथा महामारियों के समय की जानी चाहिए। कौटिल्य (२।३२) ने चातुर्मास्य (आषाढ़ से आश्विन तक) तथा दो ऋतुओं की संधि के समय हाथियों के समक्ष नीराजनाविधि करने को कहा है। कालिदास ने रघुवंश (४।२५) में नीराजनाविधि की ओर संकेत किया है।[१८] इस विषय में और देखिए कामन्दक (४।६६), बृहत्संहिता (अध्याय ४४), शौनकीय (२।८), अग्निपुराण (२६८), विष्णुधर्मोत्तर (२।१५९, राजनीतिप्रकाश, पृ० ४३४-४३८ में विस्तार के साथ उद्धृत), कालिकापुराण (८८।१५), निर्णयसिन्धु (२, पृ० १६९), युक्तिकल्पतरु (पृ० १७८)। विस्तार से जानकारी के लिए पढ़िए वराहमिहिरकृत बृहत्संहिता (अध्याय ४४)।

शत्रु पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त विजयी के कर्तव्यों के विषय में (यथा—मृत राजा की गद्दी पर उसके पुत्र या किसी सम्बन्धी को बैठाना, विजित देश की रूढ़ियों एवं परम्पराओं का आदर करना आदि) बहुत पहले ही कहा जा चुका है (देखिए, इस भाग का अध्याय ३)। विजय हो जाने पर राज्य-भाग की प्राप्ति या सोने, चाँदी, घोड़ों, हाथियों, मोतियों, रत्नों, सुन्दर परिधानों आदि की प्राप्ति होती थी। विशेषतः कम्बोज, बाह्लीक, गन्धार आदि उत्तर-पश्चिमी देशों के घोड़ों का बड़ा मूल्य था। देखिए सभा० (५१।१०, ५३।५), उद्योग० (८६।६), द्रोण० (१५६। ४७), सौप्तिक० (१३।२) और सभा० (२७।२७, २८।६, भेट-स्वरूप घोड़ों के लिए)। सभा० (३०।२८-३०) में उपर्युक्त भेंटें भीम ने म्लेच्छ राजाओं से प्राप्त की थीं।

कौटिल्य ने व्यसन के विषय में भी एक परिच्छेद (सातवाँ) लिख दिया है। 'व्यसन' का तात्पर्य है "गुणप्राति-

शाससौपर्णैः। प्र धारयन्तु मधुनो घृतस्येति सौपर्णम्। सर्वा दिशोऽनुपरियायात्। आदित्यमौशनसं वावस्थाय प्रयोधयेत्। उपश्वासय पृथिवीमुत द्यामिति त्र्यृचेन दुन्दुभिमभिमृशेत्। अवसृष्टा परापतेतीषून्विसर्जयेत्। यत्र बाणाः सम्पतन्तीति युध्यमानेषु जपेत्। संशिष्याद्वा। आश्व० गृ० ३।१२। "आदित्यमौशनसं वा" के साथ मिलाइए शान्तिपर्व (१००। २०)—"यतो वायुर्यतः सूर्यो यतः शुक्रस्ततो जयः। पूर्वं पूर्वं ज्याय एषां संनिपाते युधिष्ठिर॥" इससे स्पष्ट है कि विजयी राजा को सूर्य या औशनस (शुक्र) की ओर मुख नहीं करना चाहिए, प्रत्युत इनको पीछे रखना चाहिए, विजयेच्छुक राजा के सामने तेज हवा भी नहीं होनी चाहिए, उसे उसके पीछे से बहना चाहिए। कुमारसम्भव (३।४३) में कालिदास ने लिखा है—'दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य कामः पुरः शुक्रमिव प्रयाणे', जिसकी व्याख्या में मल्लिनाथ ने उद्धरण दिया है—"प्रतिशुक्रं प्रतिबुधं प्रत्यंगारकमेव च। अपि शक्रसमो राजा हतसैन्यो निवर्तते॥" युक्तिकल्पतरु (पृ० १७६, डा० एन्० एन्० ला द्वारा सम्पादित) में आया है—"शस्तस्तु देवलमतेऽध्वनि पृष्ठतोऽर्कः" (श्लोक ७९)।

१८. राज्ञां यात्राविधिं वक्ष्ये जिगीषूणां परावनीम्। नीराजनाविधिं कृत्वा सैनिकांश्चानयेत्ततः। गजानन्यान् मृगानन्यानिति यात्राक्रमो मतः॥ युक्तिकल्पतरु (पृ० १७८)। नीराजनामाश्वयुजे कारयेन्नवमेऽहनि। यात्रादाववयाने वा व्याधौ वा शान्तिके रतः॥ अर्थशास्त्र २।३०; तिस्रो नीराजनाः कार्याश्चातुर्मास्यर्तुसन्धिषु। अर्थशास्त्र २।३२। उत्पल ने 'नीराजन' का अर्थ यों लगाया है—नीरेण जलेन अजनं स्पर्शनम् (बृहत्संहिता ४३।१ के भाष्य में)। यह शब्द निर्+राजन (राज् से) से भी निकला हो सकता है। तस्मै सम्यग्घुतो वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ। प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ॥ रघुवंश ४।२५।

लोम्यमभावः प्रदोषः प्रसंगः पीडा वा व्यसनं व्यस्यत्येनं श्रेयस इति व्यसनम्"--ऐसा कौटिल्य का कथन है (८।१)। और देखिए काम० (१३।१९) एवं नीतिवाक्यामत (पृ० १७७)। "व्यस्यत्यावर्तयत्येनं पुरुषं श्रेयस इति व्यसनम्" ऐसा नीतिवाक्यामृत में आया है। 'व्यसन' वह है जो मनुष्य को अच्छे कार्य से वंचित कर दे। कौटिल्य के अनसार व्यसन गुणों (यथा कुलीनता, वंश-परम्परागत वीरता) का अभाव है, या अच्छे गुणों का विरोध है, या दोष (यथा—अत्यधिक क्रोध), अत्यन्त प्रसंग (स्त्री आदि से), पीड़ा (आक्रमण या दुर्भिक्ष आदि से) आदि का द्योतक है। इस प्रकार व्यसन मोटे तौर से दो भागों में बाँटा जा सकता है, यथा--**कामजनित** व्याधियाँ एवं दोष तथा **क्रोधजनित** दोष। आचार्यों का कथन है कि राजा, मन्त्रियों, प्रजाजनों, दुर्ग, कोष, सेना एवं मित्र राष्ट्रों के दोषों में पूर्व दल के लोगों के दोष क्रमशः उत्तर दल के लोगों के दोषों से बड़े गिने जाते हैं। कौटिल्य आचार्यों के मत को स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि सभी दोष राजा के मत्थे जाने चाहिए, क्योंकि राजा ही मन्त्रियों, पुरोहित, अध्यक्षों आदि की नियुक्ति करता है। प्रजाजनों की उन्नति एवं अवनति राजा पर ही निर्भर है। इस विषय में कौटिल्य ने भारद्वाज से विरोध प्रकट किया है। कौटिल्य महोदय उच्चाधिकारियों को अधिक उत्तरदायी मानते हैं। उनका कहना है कि अबोध राजा (जिसने शास्त्रों का अध्ययन न किया हो) उस शास्त्रज्ञ राजा से अच्छा है जो जान-बूझकर शास्त्रों के विरोध में जाता है, कष्ट-सहिष्णु राजा विजयी (नयी विजय करने वाले) राजा से अच्छा है, दुर्बल किन्तु कुलीन राजा सबल किन्तु अकुलीन राजा से अच्छा है। कौटिल्य ने राजाओं के बहुत-से दोष गिनाये हैं, जिनकी चर्चा (इस भाग के अध्याय-२ में) पहले ही कर दी गयी है। उन्होंने **जुआ** को **मृगया** से बुरा माना है और इसी प्रकार **काम** को **जुआ** से, **मद्यपान** को **काम** से बुरा कहा है। संघों की तोड़-फोड़ अर्थात् फूट के मूल में जुआ प्रधान कारण माना गया है। दैवी विपत्तियों (यथा--अग्नि, बाढ़, महामारी, दुर्भिक्ष) में बाढ़ सबसे अधिक प्रलयंकरी है (८।४)। इसी प्रकार अग्नि, रोग एवं महामारियाँ दुर्भिक्ष से कम भयंकर हैं तथा थोड़े भी विशिष्ट व्यक्तियों का नाश सहस्रों लोगों के नाश की अपेक्षा अधिक गम्भीर है। कौटिल्य का कथन है कि प्रियतमा रानी के षड्यन्त्र से युवराज का षड्यंत्र कम महत्त्वपूर्ण है। कौटिल्य ने सेना एवं मित्र राष्ट्रों से उत्पन्न कठिनाइयों का विश्लेषण किया है। उन्होंने सेना से उत्पन्न ४३ कठिनाइयों के कारणों पर प्रकाश डाला है, यथा--सैनिकों को उचित आदर न देना, घृणा करना, समय पर वेतन न देना, रोग से रक्षा न करना, अत्यधिक स्त्री-प्रेमी सैनिकों को भर्ती करना आदि। इन बातों पर कौटिल्य ने सविस्तर प्रकाश डाला है, जिसे हम स्थानाभाव से यहाँ उल्लिखित नहीं कर सकते।

राजधर्मकाण्ड, राजनीतिप्रकाश तथा अन्य ग्रन्थों में राजाओं के लिए बहुत-से क्रिया-संस्कारों, उत्सवों आदि के करने की व्यवस्था दी गयी है। ये कृत्य राष्ट्रीय उपद्रवों से रक्षार्थ, प्रजारंजन आदि के लिए किये जाते थे। राजधर्मकाण्ड (पृ० ११५-११६) एवं राजनीतिप्रकाश (पृ० ४१६-४१९) ने ब्रह्मपुराण के ३५ श्लोक उद्धृत करके बताया है कि राजा को वैशाख मास से लेकर एक या अधिक महीनों तक ब्रह्मा, देवताओं, गंगा, विनायक, नागों, स्कन्द, आदित्यों, इन्द्र एवं रुद्र, माताओं (दुर्गा आदि), पृथिवी, विश्वकर्मा, विष्णु, कामदेव, शिव, चन्द्र की पूजा क्रम से प्रतिपदा से लेकर १५ दिनों तक करनी होती थी। इसको देवयात्रा कहा जाता है। उपर्युक्त ग्रन्थों ने स्कन्द-पुराण से १८ श्लोक उद्धृत करके कौमुदी-उत्सवों, इन्द्र-ध्वज को फहराने आदि के कृत्यों का वर्णन किया है। देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय २४। इन ग्रन्थों ने देवीपुराण का हवाला देकर आश्विन की अष्टमी एवं नवमी तिथियों में देवी की पूजा का वर्णन किया है। इन तिथियों में पशु-हनन होता था। कार्तिक की अमावस्या को गो-पूजन या दान होता था। **वसोर्धारा** (सम्पत्ति की धारा) का कृत्य भी होता था। स्थानाभाव से यहाँ इनका वर्णन नहीं किया जायगा।

—

अध्याय १०

राजधर्म के अध्ययन का उद्देश्य एवं राज्य के ध्येय

इस भाग के गत अध्यायों में हमने प्राचीन एवं मध्य कालीन धर्मशास्त्रकारों एवं अर्थशास्त्रकारों द्वारा प्रतिपादित शासन-पद्धति के सिद्धान्तों एवं उनके प्रयोगों का चित्र उपस्थित किया है। अब हम राजधर्म के अध्ययन के उद्देश्य एवं राज्य के ध्येयों पर प्रकाश डालेंगे। पाठकों को गत पृष्ठों के अध्ययन से ज्ञात हुआ होगा कि राजधर्म-सम्बन्धी सभी सिद्धान्तों एवं आदर्शों पर धर्म का रंग बड़ा गहरा था। दूसरी बात यह स्पष्ट हुई होगी कि राजाओं एवं उनके कर्मचारियों के समक्ष जो आदर्श रखा गया है, वह उच्च नैतिकता की भावना से परिपूर्ण है। ग्रन्थकारों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं प्रयोगों में कतिपय दोष देखे गये हैं। ईसा के जन्म के पूर्व एवं पश्चात्, कुछ शताब्दियों को छोड़कर, एकराजतन्त्रात्मक व्यवस्था ही विद्यमान थी और भारतीय ग्रन्थकारों ने सामान्यतः एकराजतन्त्र व्यवस्था का ही प्रतिपादन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि राजा अन्त में शासन एवं राज्य का पर्यायवाची हो गया, यद्यपि उसके समक्ष उसके कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों के उच्च आदर्श रख दिये गये थे। दूसरी त्रुटि यह है कि राजनीतिज्ञों ने प्रजातन्त्रात्मक एवं अल्पजनशासित व्यवस्था की व्याख्या भी कहीं उपस्थित नहीं की। इसके अतिरिक्त नये राजनीतिक विचारों की शून्यता भी देखी गयी; एक बार कुछ राजनीतिज्ञों ने जो कुछ प्रतिपादित कर दिया, वही चल पड़ा। लगभग दो सहस्र वर्षों तक, न तो नये-नये राजनीतिक विचारों की सृष्टि की गयी, न नयी-नयी धारणाओं की चर्चा की गयी और न विरोधी मान्यताओं पर सांगोपांग उल्लेख किया गया। एक प्रकार की प्राचीन परिपाटी के यथावत् चलते रहने की व्यवस्था मात्र कर दी गयी। इस प्रकार सतत प्रवहमान विचारों एवं क्रान्तियों के लिए कोई स्थान न बचा, समाज को केवल उसी प्राचीन ढर्रे पर चलाने का आग्रह किया गया। राजा एवं सामान्य प्रजा के बीच में न तो कोई शक्तिशाली एवं विरोधी वर्ग था और न कोई शक्तिशाली धार्मिक संस्था। ब्राह्मणों की एक पवित्र जाति थी, किन्तु वे किसी एक सूत्र में नहीं बँधे थे, उनकी शक्ति केवल पुस्तकों में बन्द थी, जिनमें यह प्रतिपादित किया गया था कि राजाओं पर उनका प्रभाव रहेगा। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह बात केवल भारत में ही पायी जाती थी, वास्तव में, वैसी स्थिति सम्पूर्ण संसार में विद्यमान थी। यूरोप में १५वीं या १६वीं शताब्दी तक छोटी-छोटी राजतन्त्रात्मक शक्तियों में मुठभेड़ होती रहती थी और आये दिन वे एक-दूसरे पर आक्रमण किया करते थे। अतः केवल भारतीय ग्रन्थकारों की न्यूनता दिखाने से काम न चलेगा। किन्तु इतना तो कहना ही पड़ेगा कि ईसा के जन्म के उपरान्त की प्रथम शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक सिथियनों, हूणों एवं मुस्लिमों के लगातार आक्रमणों, लूट-पाट एवं धार्मिक अत्याचारों के कटु अनभव रहते हुए भी भारतीय विचारकों, योद्धाओं एवं राजनीतिज्ञों की आँखें नहीं खुलीं और उन्होंने चतुर्दिक् बिखरे हुए छोटे-मोटे राज्यों को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न नहीं किया। यदि विचारकों में यह चेतना होती तो वे सारे भारत के विभिन्न भागों के राजा-महाराजाओं को उभाड़ कर बाह्य आक्रमणों, अत्याचारों, लूट-पाट एवं व्यभिचारों को रोकते। सबमें समान संस्कृति के मन्त्र का फूँकना उनका कर्तव्य था। विजयनगर एवं महाराष्ट्र में कुछ प्रयत्न अवश्य हुए, किन्तु उन्हें भी व्यापकता नहीं प्राप्त हो सकी। यदि विचारकों ने चाहा होता तो सामान्य जनता में राष्ट्रीयता की भावना भर उठी होती। उन्होंने केवल अपने सिद्धान्त

दुहराने में ही अपनी विद्वत्ता की इतिश्री समझी, देश-भक्ति की अग्नि सुलगायी नहीं जा सकी। इन कतिपय दोषों के रहते हुए भी भारतीय शासन-पद्धति के सिद्धान्तों एवं प्रयोगों की अपनी गुरुतर विशेषताएँ हैं।

इस परिच्छेद के अन्त में यह पूछा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय राज्य के क्या उद्देश्य या ध्येय थे? अथवा यों भी पूछा जा सकता है; धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र के लेखकों ने राज्य के समक्ष क्या उद्देश्य रखे थे? यूरोपीय विद्वानों ने राज्य के उद्देश्य के विषय में विभिन्न समयों में विभिन्न बातें कही हैं? दो-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे। प्लेटो एवं अरिस्टॉटिल (अफलातून एवं अरस्तू) के शब्दों में नागरिकों का अच्छा जीवन ही राज्य का ध्येय था। किन्तु अच्छा जीवन क्या है, यह कहना कठिन है। ब्लण्ट्श्ली ने अपनी पुस्तक 'थ्योरी आव दी स्टेट' (आक्सफोर्ड, १८८५, पुस्तक ५, अध्याय ४, पृ० ३००) में लिखा है कि राज्य का ध्येय होना चाहिए--राष्ट्रीय समर्थताओं का विकास, राष्ट्रीय जीवन का परिमार्जन तथा अन्त में उसकी पूर्णता, किन्तु नैतिक एवं राजनीतिक गति का मानव की नियति से विरोध न हो। यह परिभाषा न तो सुस्पष्ट है और न सटीक। मानव की नियति या भाग्य के विषय में अभी मतैक्य नहीं है; राष्ट्र एवं राष्ट्रीय जीवन के विषय की मान्यताएँ भी अभी यूरोप में कुछ ही शताब्दी पुरानी हैं। 'राष्ट्र' शब्द के लिए कोई भी 'देश' या 'राज्य' शब्द का व्यवहार कर सकता है; और तभी यह भारत के विषय में कुछ अर्थ रख सकता है। एक या कुछ शब्दों में राज्य के ध्येय पर प्रकाश डालना कठिन है। राजत्व के आदर्शों की व्याख्या करते समय हमने इस विषय में कुछ चर्चा कर दी है। धर्मशास्त्रकारों की दृष्टि में मानव-स्वभाव गर्हित-सा प्रतीत होता है, उनका विश्वास-सा था कि साधारण व्यक्ति कलुषित होते हैं, स्वभाव से पवित्र व्यक्ति कठिनता से प्राप्त होते हैं, केवल दण्ड के भय से व्यक्ति सीधे मार्ग पर आते हैं (मनु ७।२२, शान्ति० १५।३४)।[1] याज्ञ० (१।३६१) ने लिखा है कि जब वर्ण एवं श्रेणियाँ अपने धर्म से च्युत हों तो राजा को चाहिए कि वह उन्हें दण्डित करे और उचित मार्ग पर ले आये। कामन्दक (२।४० एवं ४२-४३) ने भी यही बात कही है और जोड़ दिया है कि बिना दण्ड के विश्व में **मात्स्यन्याय** (बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा डालती हैं अर्थात् सबल निर्बल को समाप्त कर देते हैं) की उत्पत्ति हो जाती है। यही बात शुक्रनीति (१।२३) में भी कही गयी है। पश्चिमी लेखकों ने भी यही बात दूसरे ढंग से कही है। प्राचीन लेखकों ने मानव की सहज वृत्तियों पर विश्वास नहीं किया और न यही कहा कि उसकी उचित कार्य करने की इच्छा पर विश्वास करना चाहिए। जेरेमी टेलर का कहना है कि "मानवों की अपेक्षा भेड़ियों का झुण्ड अधिक शान्त होता है...।" सेलमाण्ड (जुरिसप्रूडेंस, पृ० ६५) का कहना है कि "मानव स्वभाव से ही युद्धालु है, शक्ति केवल राजाओं की ही चरम स्थिति नहीं है, प्रत्युत वह सम्पूर्ण मानव में समाहित है।"

हमें तत्कालीन एवं चरम उद्देश्यों के अन्तर को भी समझ लेना होगा। भारतीय दार्शनिक जीवन में मोक्ष ही

१. सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः। दण्डस्य हि भयाद् भीतो भोगायैव प्रवर्तते।। शान्ति० १५।३४; इदं प्रकृत्या विषयैर्वशीकृतं परस्परं स्त्रीधनलोलुपं जगत्। सनातने वर्त्मनि साधुसेविते प्रतिष्ठते दण्डभयोपपीडितम्।। काम० २।४२; राजदण्डभयाल्लोकः स्वस्वधर्मपरो भवेत्। शुक्र १।२३। यह मान्यता प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ एवं कूटनीतिज्ञ मैकियावेली की मान्यता से शत-प्रति-शत मिलती है (डिसकोर्स, १।३, श्री एच्० बटरफील्ड द्वारा "स्टेटक्रैफ्ट आव् मैकियावेली", १९४०, पृ० १११ में उदधृत), जिन्होंने नागरिक जीवन की समस्याओं की व्याख्या की है वे प्रदर्शित करते हैं--और इतिहास में इसकी पुष्टि के लिए अनेक उदाहरण हैं--कि जो लोग राज्य-व्यवस्था करते हैं और शासन चलाने के लिए नियम बनाते हैं, उन्हें यह मान लेना होगा कि मानव प्रकृति से ही दुष्ट होते हैं, और वे अवसर पाने पर अपनी सहज दुष्टता दिखाने से चूकेंगे नहीं, भले ही कुछ काल के लिए वे उसे छिपा रखें।

परम लक्ष्य है। राजधर्म का भी यही अन्तिम लक्ष्य है। किन्तु प्राचीन भारत में राज्य का तात्कालिक ध्येय था ऐसी दशाएँ एवं वातावरण उत्पन्न कर देना कि सभी लोग शान्ति एवं सुखपूर्वक जीवन-यापन कर सकें, अपने-अपने व्यवसाय कर सकें, अपनी परम्पराओं, रूढ़ियों एवं धर्म का पालन कर सकें, निर्विरोध अपने कर्मों एवं अपनी अर्जित सम्पत्ति का फल भोग सकें। वास्तव में, राजा शान्ति, सुव्यवस्था एवं सुख की दशाओं को उत्पन्न करने का साधन था जो ईश्वर से सहज रूप में प्राप्त माना जाता था। यदि राजा निष्पक्ष होकर सब पर, चाहे वह अपना पुत्र हो या शत्रु हो, समान रूप से शासन करता है और उन्हें अपराध के अनुपात से ही दण्डित करता है, तो वह अपने तथा अपने प्रजाजनों के लिए इह एवं पर दोनों लोक सुरक्षित रखता है। राजा एवं प्रजा का कर्तव्य पालन स्वर्ग का द्वार खोल देता है। राज्य (या राज्य के प्रतिनिधि राजा) का कार्य था व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति के अधिकारों की अवहेलना करने वाले को धमकी देकर या शक्ति से रोकना, जनता के परम्परागत रीति-नियमों को प्रतिपालित करने के लिए नियम बनाना तथा सद्गुणों एवं धर्म की रक्षा करना। ये विचार कौटिल्य (३।१) के थे।[२] कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही कहा है—"अतः राजा को यह देखना चाहिए कि लोग कर्तव्य-च्युत न हों, क्योंकि जो अपने धर्म में तत्पर रहता है और आर्यों के लिए जो नियम बने हैं उनका पालन करता है, तथा वर्णों एवं आश्रमों के नियमों का सम्मान करता है वह इहलोक एवं परलोक दोनों में प्रसन्न रहता है।"

कामन्दक (१।१३) एवं शुक्र (१।६७) का कहना है कि जो राजा न्याय एवं नियमों का सम्यक् पालन करता है, वह अपने एवं प्रजाजन को त्रिवर्ग अर्थात् तीन पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ एवं काम) देता है, यदि वह ऐसा नहीं करता है तो वह अपना एवं प्रजा का सत्यानाश कर देता है।[३] यही बात शान्ति० (८५।२) एवं मार्कण्डेयपुराण (२७।२९-३०)[४] में भी पायी जाती है। अतः स्पष्ट है कि राजा को प्रजा द्वारा वर्णाश्रम धर्म पालन करवाना पड़ता था, यदि कोई वर्णाश्रम-धर्म से च्युत होता था तो उसे दण्डित करना भी राजा का कर्तव्य था। शुक्र (४।४।३९) का कहना है कि प्रत्येक जाति को परम्परागत नियमों का पालन करना पड़ता था, यदि कोई ऐसा नहीं करता था तो उसे दण्ड का भागी होना पड़ता था। सभी मुख्य ग्रन्थों का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण एवं आश्रम तथा स्वयं अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए, सभी को सामान्य धर्म, यथा—अहिंसा, सत्य आदि का पालन करना चाहिए (देखिए इस ग्रन्थ के भाग २ का अध्याय १)। राज्य का उद्देश्य था प्रत्येक व्यक्ति को उपर्युक्त कर्तव्य करने देना तथा उन लोगों को रोकना जो उसके कर्तव्य पालन में बाधा डालते हैं। जो पीढ़ियों से सम्पूज्य है और आदर्श है उसकी रक्षा करना भी राज्य का कर्तव्य था। किन्तु ग्रन्थकारों ने यह नहीं कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति सक्रिय रूप से पूरे समाज के लिए कार्य करे। अन्तिम लक्ष्य था मोक्ष, अतः परलोक की चिन्ता अधिक की जाती थी, व्यक्तिगत अर्जना (निपुणता) एवं संन्यास या विरक्ति को अधिक महत्त्व दिया जाता था।

२. राज्ञः स्वधर्मः स्वर्गाय प्रजा धर्मेण रक्षितुः।...दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति। राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथादोषं समं धृतः॥ कौटिल्य ३।१; तस्मात्स्वधर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत्। स्वधर्मं सन्दधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति॥ व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः। त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति॥ कौटिल्य १।३; चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालितः। स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मसु॥ कौटिल्य १।४।

३. न्यायप्रवृत्तो नृपतिरात्मानमपि च प्रजाः। त्रिवर्गेणोपसन्धत्ते निहन्ति ध्रुवमन्यथा॥ काम० १।१३ एवं शुक्र० १।६७।

४. वर्णधर्मा न सीदन्ति यस्य राज्ये तथाश्रमाः। वत्स तस्य सुखं प्रेत्य परत्रेह च शाश्वतम्॥ मार्कण्डेयपुराण २७।२९।

इसी लिए राज्य का ध्येय था व्यक्तियों को इस योग्य बनाना कि वे पुरुषार्थों, विशेषतः प्रथम तीन की (अर्थ, धर्म, काम, क्योंकि मोक्ष केवल कुछ व्यक्तियों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, उसके लिए व्यक्तिगत अनुभूति एवं आध्यात्मिक शक्ति का होना अनिवार्य है) प्राप्ति कर सकें। यहाँ तक कि बार्हस्पत्य सूत्र (२।४३) का कहना है कि नीति का फल है धर्म, अर्थ एवं काम की प्राप्ति।[५] सोमदेव ने अपने ग्रन्थ नीतिवाक्यामृत का शुभारम्भ उस राज्य को प्रणाम करके किया है, जो धर्म, अर्थ एवं काम नामक तीन फल देता है।[६] कामन्दक (४।७७) ने राज्य के सातों अंगों की व्याख्या का अन्त इस उद्घोष के साथ किया है कि सम्पूर्ण राज्य का उच्च स्थायित्व धन (कोष) एवं बल (सेना) पर निर्भर है और जब वह निपुण मन्त्रियों द्वारा सँभाला जाता है तो त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ एवं काम की प्राप्ति होती है।[७] कौटिल्य (१।७) ने कहा है कि हमें काम अर्थात् जीवनानन्द सर्वथा छोड़ नहीं देना है, प्रत्युत उसे इस प्रकार प्राप्त करना या भोगना है कि उससे धर्म एवं अर्थ की प्राप्तियों में विरोध न हो। कौटिल्य ने यह भी जोड़ दिया है कि मनुष्यों को इन तीनों ध्येयों की प्राप्ति बराबर मात्रा में करनी चाहिए, क्योंकि वे एक-दूसरे पर निर्भर हैं और एक के आधिक्य से अन्य की एवं स्वयं उसकी हानि होती है।[८] धर्मशास्त्रकारों का कहना है कि धर्म राज्य की परम शक्ति है और वह राजा के ऊपर की शक्ति है; राजा तो केवल एक यन्त्र या साधन है, जिसके द्वारा धर्म की प्राप्ति होती है। इन ग्रन्थकारों के मतानुसार राज्य स्वयं साध्य नहीं है, प्रत्युत वह साधन मात्र है जिसके द्वारा साध्य की प्राप्ति होती है। कौटिल्य अर्थशास्त्री थे, अतः उन्होंने अन्त में यही कहा है कि तीनों ध्येयों अर्थात् पुरुषार्थों में अर्थ प्रमुख है और अन्य दो अर्थात् काम एवं धर्म अपनी प्राप्ति में अर्थ पर ही निर्भर रहते हैं।

५. नीतेः फलं धर्मार्थकामावाप्तिः। धर्मेणार्थक.मौपरीक्ष्यौ। बार्हस्पत्यसूत्र २।४३-४४।

६. अथ धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः। नीतिवाक्यामृत (पृ० ७)।

७. इति स्म राज्यं सकलं समीरितं परा प्रतिष्ठास्य धनं ससाधनम्। गृहीतमेतन्निपुणेन मन्त्रिणा त्रिवर्गनिष्पत्तिमुपैति शाश्वतीम्॥ काम० ४।७७।

८. धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत। न निःसुखः स्यात्। समं वा त्रिवर्गमन्योन्यानुबन्धम्। एको ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति। अर्थ एव प्रधानम् इति कौटिल्यः। अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति॥ कौटिल्य १।७।

व्यवहार (न्याय पद्धति)

अध्याय ११

'व्यवहार' का अर्थ, व्यवहारपद, न्यायालयों के प्रकार आदि

हमने इस भाग के तीसरे अध्याय में देख लिया है कि निष्पक्ष न्याय करना एवं अपराधी को दण्ड देना राजा के प्रमुख कार्यों में था। राजा न्याय का स्रोत माना जाता था। कौटिल्य (१।१९) ने लिखा है कि दिन के दूसरे भाग में (दिन को आठ भागों में बाँटा गया था) राजा को पौर-जानपदों (नगरवासियों एवं ग्रामवासियों) के झगड़ों को निपटाना चाहिए।[1] मनु (८।१-३) ने भी लिखा है कि लोगों के झगड़ों को निपटाने की इच्छा से राजा को ब्राह्मणों एवं मन्त्रियों के साथ **सभा** (न्याय-भवन) में प्रवेश करना चाहिए और प्रति दिन झगड़ों के कारणों को तय करना चाहिए। शुक्रनीति-सार (४।५।४५), मन (८।१), वसिष्ठ० (१६।२), शंखलिखित, याज्ञ० (१।३२७ एवं २।१), विष्णुधर्मसूत्र (३।७२), नारद (१।२), शुक्र० (४।५।५), मानसोल्लास (२।२०, श्लोक १२४३) का कहना है कि न्याय-शासन राजा का व्यक्तिगत कार्य या व्यापार है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१) का कहना है कि प्रजा-रक्षण राजा का सर्वोच्च कर्तव्य है, यह कर्तव्य बिना अपराधियों को दण्डित किये पूर्ण नहीं हो सकता, अतः राजा को न्याय (व्यवहारदर्शन) करना चाहिए। मेधातिथि (मनु ८।१) का भी कहना है कि लौकिक एवं पारलौकिक (अदृष्ट) कष्टों को दूर करना ही प्रजा-रक्षण है। मनु (८।१२ एवं १४=नारद ३।८९, पृ० ४२) ने न्याय-शासन को धर्म का प्रतीक माना है और कहा है कि जब न्याय होता है तो धर्म के शरीर से उसे वेधनेवाला अधर्म नाम का बाण निकल जाता है। याज्ञ० (१।३५९-३६०) ने घोषित किया है कि निष्पक्ष न्याय से वही फल मिलता है जो पवित्र वैदिक यज्ञों से मिलता है। स्पष्ट है, न्यायानुशासन एक बहुत ही पवित्र कर्तव्य था। मनु (८।१२८=वृद्ध हारीत ७।१९४) ने कहा है कि जो राजा निरपराध को दण्डित करता है और अपराधी को छोड़ देता है वह पाप करता है, निन्दा का भागी होता है और नरक में जाता है। वसिष्ठ० (१९।४०-४३) ने अपराधी के छूट जाने पर राजा को एक दिन तथा पुरोहित को तीन दिन उपवास करने को कहा है तथा निरपराधी को दण्डित करने पर राजा को तीन दिन उपवास तथा पुरोहित को कृच्छ्र प्रायश्चित्त करने को कहा है। महाभारत (अनुशासन ६।३८ एवं अध्याय ७०) एवं रामायण (उत्तरकाण्ड ५३।१८, १९, २५) ने लिखा है कि जो राजा आनन्द-भोग में लिप्त रहता है और प्रजा के झगड़ों का निपटारा नहीं करता, वह नृग की भाँति दुःख भोगता है (जब दो ब्राह्मणों के गाय-सम्बन्धी झगड़े का निपटारा नहीं हुआ तो उन्होंने राजा नृग को गिरगिट हो जाने का शाप दिया था—रामायण)।[2] शुक्रनीतिसार (४।५।८) ने भी यही बात कही है। मेगस्थनीज़ (फ्रैगमेण्ट २७, पृ० ७०-७१) ने लिखा है—

१. द्वितीये पौरजानपदानां कार्याणि पश्येत्। कौटिल्य (१।१९)।

२. अर्थिनामुपसन्नानां यस्तु नोपैति दर्शनम्। सुखे प्रसक्तो नृपतिः स तप्येत नृगो यथा॥ महाभारत—दण्डविवेक द्वारा उद्धृत, पृ० १३; अर्थिनां कार्यसिद्ध्यर्थं यस्मात्त्वं नैषि दर्शनम्। अदृश्यः सर्वभूतानां कृकलासो भविष्यसि॥...कार्यार्थिनां विमर्दो हि राज्ञां दोषाय कल्पते। रामायण, उत्तरकाण्ड ५३।१८, १९, २५; पौरकार्याणि यो

"राजा दिन भर कचहरी में रहता है और उसके काम में कोई बाधा नहीं आने देता।" कौटिल्य (१।१९) ने भी इस विषय में लिखा है—"जब राजा कचहरी में रहे तो कार्यार्थियों (निपटारा कराने के लिए आये हुए लोगों अर्थात् मुवक्किलों) को द्वार पर बहुत देर तक नहीं खड़ा रहने दे, क्योंकि राजा तक पहुँच न हो सकने के कारण, राजा के आस-पास के लोग उचित एवं अनुचित कार्यों में गड़बड़ी उत्पन्न कर देंगे और प्रजा में असन्तोष होगा, फलतः राजा शत्रु के हाथ में चला जायगा।"[3] राजा की कचहरी या न्यायालय को **धर्मासन** (शंखलिखित) या **धर्मस्थान** (नारद १।३४, मनु ८।२३ एवं शुक्र ४।५।४६) या **धर्माधिकरण** (कात्यायन एवं शुक्र ४।५।४४) कहा जाता था।[4] कालिदास (शाकुन्तल ५) एवं भवभूति (उत्तररामचरित १) ने **धर्मासन** शब्द का प्रयोग किया है।

स्मृतिकारों का कहना है कि अति प्राचीन काल में स्वर्णयुग था, लोग नीतियुक्त आचरण करते थे, आगे चलकर उनके जीवन में बेईमानी घुस आयी, इसी से विद्वानों एवं राजा ने नियमों का निर्माण किया और कानूनों (व्यवहारों) का प्रचलन हुआ (मिलाइए गौतम ८।१)। मनु (१।८१-८२=शान्तिपर्व २३१।२३-२४) ने लिखा है कि कृतयुग (सत्ययुग) में धर्म अपनी पूर्णता के साथ विराजमान था, किन्तु आगे चलकर चोरी, झूठ एवं धोखाधड़ी के कारण क्रमशः तीनों युगों (त्रेता, द्वापर एवं कलियुग) में धर्म की अवनति होती चली गयी। इस विषय में और देखिए शान्ति० (५९। १३)। किन्तु इस प्रकार के कथन में कहीं-कहीं विरोध भी पाया गया है। मनुस्मृति एवं महाभारत में ही **मात्स्यन्याय** की भी चर्चा हुई है। इन बातों का तात्पर्य यही है कि स्मृतिकार चाहते थे कि जनता राजा के एकाधिकारों के समक्ष झुके। ऋग्वेद (१०।१०।१०) के काल से लेकर आगे तक के सभी लेखकों ने यही विश्वास किया है कि धार्मिकता एवं नैतिकता में लगातार अवनति होती चली गयी है। कुछ ग्रन्थों में **मात्स्यन्याय** का जो वर्णन है वह केवल राजतन्त्रात्मक शासन की उच्चता घोषित करने के लिए है। नारद (१।१) का कहना है कि जब लोग धार्मिक एवं सत्यवादी थे उस समय न तो व्यवहार (कानून) की आवश्यकता थी और न द्वेष या मत्सर था। जब मनुष्यों में धर्म का ह्रास होने लगा तब धर्म एवं न्याय का प्रवर्तन हुआ और राजा झगड़ों को दूर करने वाला एवं दण्डधर (अपराधी को दण्ड देने वाला) घोषित हुआ। यही बात बृहस्पति ने भी कही है।[5] प्राचीन काल के **ऋत** की धारणा अब **धर्म** की भावना ने ले ली। **ऋत** शब्द

राजा न करोति सुखे स्थितः। व्यक्तं स नरके घोरे पच्यते नात्र संशयः।। शुक्र ४।५।८; देखिए उत्तरकाण्ड ५३।६, जहाँ ऐसे ही शब्द हैं; शंखलिखितौ--राजा स्वाधीनवृत्तिरात्मप्रत्ययकोशः स्वयं कृत्यानुदर्शी विप्रस्वनिवृत्तश्चिरं भद्राणि पश्यति। राजनीतिप्रकाश, पृ० १३४।

३. उपस्थानगतः कार्यार्थिनामद्वारासङ्गं कारयेत्। दुर्दर्शो हि राजा कार्याकार्यविपर्यासमासन्नैः कार्यते। तन प्रकृतिकोपमरिवशं वा गच्छेत्। अर्थशास्त्र (१।१९)।

४. धर्मस्थानं प्राच्यां दिशि तच्चाग्न्युदकैः समवेतं स्यात्। शङ्ख (स्मृतिचन्द्रिका, अध्याय २, पृ० १९ में उद्धृत); धर्मशास्त्रविचारेण मूलसारविवेचनम्। यत्राधिक्रियते स्थाने धर्माधिकरणं हि तत्।। कात्यायन (स्मृतिचन्द्रिका, अध्याय २, पृ० १९ में उद्धृत), पराशरमाधवीय (३।१, पृ० २२); व्यवहारप्रकाश (पृ० ८) में आया है--"धर्मशास्त्रानुसारेण अर्थशास्त्रविवेचनम्।" यही बात शुक्रनीतिसार (४।५।४४) में भी यथावत् है। और देखिए सरस्वतीविलास (पृ० ६३) --"यत्र स्थाने आवेदितव्यतत्त्वनिष्कर्षः धर्मशास्त्रविचारेण निर्णेतृभिः क्रियते इति धर्मस्थानम्। अस्यैव धर्माधिकरणमिति नामान्तरम्।"

५. धर्मैकतानाः पुरुषा यदासन् सत्यवादिनः। तदा न व्यवहारोऽभून्न द्वेषो नापि मत्सरः।। नष्टे धर्मे मनुष्याणां व्यवहारः प्रवर्तते। द्रष्टा च व्यवहाराणां राजा दण्डधरः स्मृतः।। नारद १।१।२; धर्मप्रधानाः पुरुषाः पूर्वमासन्न-

ऋग्वेद में परमोच्च या सर्वातिशायी नियम या व्यवहार (कानून) अथवा अखिल ब्रह्माण्ड की व्यवस्था का द्योतक है, जिसके द्वारा अखिल विश्व और यहाँ तक कि देवगण भी शासित होते हैं और जो यज्ञों से अविच्छेद्य रूप से संबन्धित है (देखिए ऋग्वेद १।६८।२; १।१०५।१२; १।१३६।२; १।१४२।७; १।१६४।११; २।२८।४; ४।२३।८-१०, जहाँ ऋत दस बार आया है एवं १०।१९०।१)। इस विषय में विशेष अध्ययन के लिए देखिए श्री वेरोल्झीमीर कृत पुस्तक 'दी वर्ल्ड्स लीगल फिलॉसफीज़' (जास्ट्रो द्वारा अनूदित, न्यूयार्क, १९२९) एवं प्रो० वी० एम० आप्टे का ऋत सम्बन्धी लेख (भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट की रजतजयन्ती जिल्द, पृ० ५५-६०)।

'व्यवहार' शब्द सूत्रों एवं स्मृतियों द्वारा कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इसका एक अर्थ है **लेन-देन** (उद्योगपर्व ३७।३०, आपस्तम्बधर्मसूत्र २।७।१६।१७, १।६।२०।११ एवं १६)। इसका एक अन्य अर्थ है झगड़ा या मुक़दमा (अर्थ, कार्य, व्यवहारपद) जिसकी ओर संकेत हमें शान्तिपर्व (६९।२८), मनु (८।१), वसिष्ठ० (१६।१), याज्ञ० (२।१), विष्णुधर्मसूत्र (३।७२), नारद (१।१) एवं शुक्रनीतिसार (४।५।५) में मिलता है। इसका तीसरा अर्थ है लेन-देन में प्रविष्ट होने से सम्बन्धित न्याय्य (क़ानूनी) सामर्थ्य (गौतम १०।४८, वसिष्ठ० १६।८, शंखलिखित)।[६] इसका चौथा अर्थ है 'किसी विषय को तय करने का साधन' (गौतम १०।१९, यथा--तस्य व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राणि अंगानि, आदि-आदि)। इस अध्याय में 'व्यवहार' शब्द को हम **मुकदमा या कचहरी में गये हुए झगड़े एवं न्याय-सम्बन्धी** विधि के अर्थ में प्रयुक्त करेंगे। यह तात्पर्य बहुत प्राचीन भी है। अशोक के दिल्ली-तोपरा स्तम्भ के प्रथम अभिलेख में '**वियोहालसमता**' (व्यवहार-समता) तथा खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख (एपी० इण्डि०, जिल्द २२, पृ० ७९) में '**व्यवहार-विधि**' शब्द आये हैं। महावग्ग (१।४०।३) एवं चुल्लवग्ग (६।४।९) में '**वोहारिक-महामत्त**' शब्द आया है। मध्य काल के निबन्धों में क़ानून एवं क़ानून-विधि (लॉ एवं प्रोसीड्योर) कभी-कभी एक ही ग्रन्थ में लिखित हैं, यथा--वरदराजकृत व्यवहारनिर्णय तथा एक अन्य पुस्तक व्यवहारमयूख में। कहीं-कहीं व्यवहार की विभिन्न बातें (विवाद आदि) एक ग्रन्थ में तथा न्याय-विधि दूसरे ग्रन्थ में वर्णित हैं। किसी-किसी पुस्तक में 'व्यवहार' शब्द केवल न्याय्य विधि (जुडीशियल प्रोसीड्योर) के लिए प्रयुक्त हुआ है, यथा--जीमूतवाहनकृत **व्यवहारमातृका** एवं रघुनन्दन-कृत **व्यवहारतत्त्व**। **विवाद** शब्द, जिसका अर्थ है झगड़ा (मुक़दमा), कभी-कभी व्यवहार या व्यवहार-विधि के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।११।२९।५) एवं नारद० (१।५) में 'विवाद' का अर्थ है मुक़दमा (लॉ--सूट)। मिसरू मिश्र के **विवादचन्द्र** एवं कमलाकर के **विवादताण्डव** में व्यवहार एवं न्याय्य विधि (लॉ एवं जुडिशियल प्रोसीड्योर) दोनों का वर्णन हुआ है। याज्ञवल्क्य (२।८ एवं ३०५) ने संभवतः **विवाद** (लॉ--सूट) एवं व्यवहार (जुडिशियल प्रोसीड्योर) में भेद किया है।

कतिपय स्मृतियों एवं टीकाकारों ने 'व्यवहार' शब्द की परिभाषा की है। कात्यायन ने दो परिभाषाएँ की हैं, जिनमें एक व्युत्पत्ति के आधार पर है और विधि की ओर प्रमुख रूप से संकेत करती है तथा दूसरी परम्परा के आधार पर झगड़े या मुक़दमे या विवाद से सम्बन्धित है। "उपसर्ग **वि** का प्रयोग 'बहुत' के अर्थ में, **अव** का 'सन्देह' के अर्थ में तथा **हार** का 'हटाने' के अर्थ में प्रयोग हुआ है; अर्थात् 'व्यवहार' नाम इसलिए पड़ा क्योंकि यह बहुत से सन्देहों को

हिंसकाः। लोभद्वेषाभिभूतानां व्यवहारः प्रकीर्तितः।। बृहस्पति० (स्मृतिचन्द्रिका, अध्याय २, पृ० १ एवं व्यवहार-प्रकाश, पृ० ४ में उद्धृत)।

६. रक्षेद् राजा बालानां धनान्यप्राप्तव्यवहाराणाम्...आदि-आदि--शंखलिखित (चण्डेश्वर का विवाद-रत्नाकर, पृ० ५९९ में उद्धृत)।

हटाता या दूर करता है।"[७] यह परिभाषा न्याय-शासन को बहुत उच्च पद दे देती है। भारतीय दर्शन-शास्त्र की शाखाओं का उद्देश्य है सत्य या परम सत्य की खोज करना। उसी प्रकार कात्यायन का कथन है कि क़ानून का उद्देश्य है झगड़े के बीच सत्य का उद्घाटन करना। किन्तु कुछ अन्तर भी है। सत्य की खोज में दार्शनिक मनमाना समय ले सकता है, किन्तु न्याय यथासम्भव शीघ्रता से किया जाता है। इतना ही नहीं, न्याय्य विधि अपने ढंग से सत्य की खोज करती है, इसे वाचिक एवं लेख्य प्रमाण पर आधारित होना पड़ता है। किन्तु सत्य की खोज में दार्शनिक अपनी बौद्धिकता एवं आत्मपरकता पर निर्भर रहता है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१), शुक्र (४।५।४) एवं व्यवहारमयूख ने व्यवहार को अपने-अपने ढंग से समझाया है।

व्यवहारपद का अर्थ है झगड़े, विवाद या मुकदमे का विषय।[८] कौटिल्य (३।१६ एवं ४।७) एवं नारद० (दत्ता-प्रदानिक १, अभ्युपेत्याशुश्रूषा १) ने 'व्यवहारपद' के स्थान पर 'विवादपद' का प्रयोग किया है। मनु (८।८) से पता चलता है कि 'पद' का अर्थ है 'स्थान'। याज्ञ० (२।५) ने इसका अर्थ यों बताया है--'यदि कोई व्यक्ति जो दूसरों द्वारा स्मृति-नियमों एवं रूढ़ियों के विरोध में तंग किया जाता है, वह राजा या न्यायाधिकारी को सूचित करता है तो इसे **व्यवहारपद** कहते हैं।' बहुत प्राचीन काल से १८ व्यवहारपदों की गणना होती आयी है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यों के बहुत-से झगड़े १८ शीर्षकों में बाँटे जा सकते हैं। स्वयं मनु (८।८) ने लिखा है कि यह संख्या कोई आदर्श नहीं है। हाँ, इसमें विशेषतः सभी मुख्य झगड़े आ जाते हैं। मेधातिथि एवं कुल्लूक ने यह बात और स्पष्ट कर दी है।

मनु एवं अन्य स्मृतिकारों में व्यवहारपदों की संख्या एवं संज्ञा को लेकर पर्याप्त भिन्नता है। निम्नलिखित तालिका इस कथन को स्पष्ट करती है। सब लोग एक ही तारतम्य भी नहीं रखते। मनु एवं नारद की भाँति याज्ञवल्क्य ने सभी व्यवहारपदों को एक स्थान पर दिया भी नहीं है।

७. वि नानार्थेऽव सन्देहे हरणं हार उच्यते। नानासन्देहहरणाद् व्यवहार इति स्मृतः॥ कात्या०, (व्यवहार-मयूख पृ० २८३, कुल्लूक, मनु ८।१, दीपकलिका पृ० ३६ में उद्धृत)। दीपकलिका, पृ० ३६ में आया है--'ऋणादानादिनानाविवादपदविषयः निराक्रियतेऽनेनेति नानासंशयहारी विचारः व्यवहारः।' प्रयत्नसाध्ये विच्छिन्ने धर्माख्ये न्यायविस्तरे। साध्यमूलस्तु यो वादो व्यवहारः स उच्यते॥ अपरार्क पृ० ५९६, स्मृतिचन्द्रिका, २, पृ० १, पराशरमाधवीय, ३, पृ० ५-७, व्यवहारप्रकाश, पृ० ३-४। मदनरत्न ने यों लिखा है--'प्रयत्नसाध्ये कष्टसाध्ये गृहक्षेत्रादिके विषये विच्छिन्ने स्वेच्छया भोक्तुमशक्ये सति न्यायविस्तरे न्यायः प्रमाणं विस्तीर्यते प्रपञ्च्यते निर्णीयते यस्मिंस्तस्मिन् धर्माख्ये धर्मनामके धर्माधिकरणमिति प्रसिद्धे सभालक्षणे स्थले साध्यमूलको यो गृहक्षेत्रादिविषयो वादः स व्यवहार इति।' स्वधनस्य यथा प्राप्तिः परधर्मस्य वर्जनम्। न्यायेन यत्र क्रियते व्यवहारः स उच्यते॥ हारीत, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १ में उद्धृत।

८. व्यवहारः तस्य पदं विषयः। मिता० (याज्ञ० २।६); पदं स्थानं निमित्तमिति यावत्। और देखिए इसी पर अपरार्क की टीका।

मनु	कौटिल्य	याज्ञवल्क्य (मिताक्षरा)	नारद	बृहस्पति (स्मृ० च० २, पृ० ९)
१. ऋणादान	५. ऋणादान	१. ऋणादान	१. ऋणादान	१. कुसीद
२. निक्षेप	६. उपनिधि	२. उपनिधि	२. निक्षेप	२. निधि
३. अस्वामिविक्रय	११. अस्वामिविक्रय	६. अस्वामिविक्रय	७. अस्वामिविक्रय	८. अस्वामिविक्रय
४. सम्भूय-समुत्थान	८. सम्भूय-समुत्थान	१७. सम्भूय-समुत्थान	३. सम्भूय-समुत्थान	४. सम्भूय-समुत्थान
५. दत्तस्यानपाकर्म	१०. दत्तस्यानपाकर्म	७. दत्ताप्रदानिक	४. दत्ताप्रदानिक	३. अदेयाद्य
६. वेतनादान	७. कर्मकरकल्प	११. वेतनादान	६. वेतनस्यानपाकर्म	५. भृत्यदान
७. संविद्-व्यतिक्रम	४. समयस्यानपाकर्म	१०. संविद्-व्यतिक्रम	१०. समयस्यानपाकर्म	१०. समयातिक्रम
८. क्रयविक्रयानशय	९. विक्रीत-क्रीतानशय	८. क्रीतानुशय } १६. विक्रीयासंप्रदान }	९. क्रीतानुशय } ८. विक्रीयासंप्रदान }	९. क्रयविक्रयानुशय
९. स्वामिपालविवाद	+	५. स्वामिपालविवाद	+	+
१०. सीमाविवाद	३. सीमाविवाद	४. सीमाविवाद	११. क्षेत्रजविवाद	७. भूवाद
११. वाक्पारुष्य	१३. वाक्पारुष्य	१३. वाक्पारुष्य	१५. वाक्पारुष्य	१५. वाक्पारुष्य
१२. दण्डपारुष्य	१४. दण्डपारुष्य	१४. दण्डपारुष्य	१६. दण्डपारुष्य	१६. दण्डपारुष्य
१३. स्तेय	+	१८. स्तेय	+	१२. स्तेय
१४. साहस	१२. साहस	१५. साहस	१४. साहस	१७. वध
१५. स्त्रीसंग्रहण	संग्रहण (४।१२)	१९. स्त्री-संग्रहण	+	१८. स्त्री-संग्रह
१६. स्त्रीपुंधर्म	१. बिना नाम दिये व्याख्या (३।२४)	+	१२. स्त्रीपुंसयोग	११. स्त्रीपुंसयोग
१७. विभाग	२. दायभाग	३. दायविभाग	१३. दायभाग	१३. दायभाग
१८. द्यूतसमाह्वय	१५. द्यूतसमाह्वय	१२. द्यूतसमाह्वय	१७. द्यूतसमाह्वय	१४. अक्षदेवन
+	+	९. अभ्युपेत्याशुश्रूषा	५. अभ्युपेत्याशुश्रूषा	६. अशुश्रूषा
+	१६. प्रकीर्णक	२०. प्रकीर्णक	१८. प्रकीर्णक	१९. प्रकीर्णक

उपर्युक्त तालिका से व्यक्त होता है कि याज्ञवल्क्य ने पति-पत्नी के कर्तव्यों को व्यवहार के १८ विषयों के अन्तर्गत नहीं रखा है, क्योंकि उन्होंने आचार वाले परिच्छेद में उसका उल्लेख कर दिया है, उन्होंने अभ्युपेत्याशुश्रूषा एवं प्रकीर्णक (मिले-जुले अथवा अन्य दोष) जोड़ दिये हैं, क्रय-विक्रयानुशय को दो भागों में कर दिया है और इस प्रकार सूची में २० विषय आ गये हैं। नारद (१।१६-१९) में मनु के समान (कुछ के नामों में अन्तर भी है) ही १५ विषय हैं, उसमें स्वामिपालविवाद, स्तेय एवं स्त्रीसंग्रहण छोड़ दिये गये हैं, अभ्युपेत्याशुश्रूषा, प्रकीर्णक आदि जोड़ दिये गये हैं और क्रयविक्रयानुशय को क्रीतानुशय एवं विक्रीयासम्प्रदान में बाँट दिया गया है। इसी प्रकार उपर्युक्त तालिका के अन्य भेद भी समझे जा सकते हैं। हम यह कह सकते हैं कि सर्वप्रथम मनुस्मृति ने १८ विषयों अर्थात् व्यवहारपदों के नाम गिनाये थे। गौतम (१२।१, १२।२-३, १२।१२-१३, १२।३९ एवं २८० का सम्पूर्ण), आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।९।२४, १।९।२५।१-२, १।१०।२८।१५-२०, २।१०।२६, १८, १।९।२५।४-११, २।६।१४, २।१०।२७।१४), वसिष्ठ० (२७।४०, २६।१३।१५, २६।३१, २७।१२-३९) ने भी अपने-अपने ढंग से विषयों की तालिका दी है और वर्णन किया है।

याज्ञवल्क्य (२।५=शुक्र० ४।५।६८) में व्यवहारपद की जो परिभाषा दी है (जब कोई राजा को सूचित करता है या आवेदन देता है=आवेदयति चेद् राज्ञे) उससे व्यक्त होता है कि व्यवहारपद के अन्तर्गत वे झगड़े आते हैं जो वादियों या प्रतिवादियों की ओर से कचहरी में आरम्भ किये जाते या लाये जाते हैं। मनु (८।४३) का कहना है कि न तो राजा को और न किसी राजकर्मचारी को मुकदमा आरम्भ करना चाहिए और न राजा को किसी वादी द्वारा लाये गये मुकदमे को दबा देना चाहिए या उस पर मौन रह जाना चाहिए। गौतम (१३।२७) ने कहा है कि प्रतिवेदन करने वाले को विनम्रतापूर्वक अपने परिवेदन (अभियोग) को न्यायाधिकारी के समक्ष रखना चाहिए। कात्यायन (२७) का कहना है कि यदि वादी या प्रतिवादी न्यायालय में न आना चाहें तो राजा को अपने प्रभाव या लोभ के कारण उनके झगड़ों को निपटाने के लिए स्वयं सन्नद्ध नहीं होना चाहिए।[९] यही बात मानसोल्लास (२।२०।१२७४) एवं शुक्र० (४।५।६९) में भी पायी जाती है। कुछ ऐसे भी विषय रहे होंगे, जिनके विषय में जनता के लोग मौन ही रहते रहे होंगे, केवल राजा ही अपनी ओर से कुछ करता रहा होगा। मनु अठारहों व्यवहारपदों के विषय में कह लेने के उपरान्त (८।१—९।२५१) कहते हैं कि राजा को बहुत-से कण्टकों (काँटे, हानिकारक व्यक्तियों) को दूर करना चाहिए (९।२५२-२५३)। नारद ने उन सभी विषयों को , जिनमें राजा अपनी ओर से हाथ बटाता है, एक विशिष्ट कोटि में रखा है, जिसे प्रकीर्णक कहा जाता है। ऐसे विषय कुछ निम्नलिखित हैं; राजा की आज्ञा का उल्लंघन, पुरप्रदान, प्रकृतियों (मन्त्रियों आदि) में परस्पर-विभेद, पाखण्डियों, नैगमों, श्रेणियों, गणों के धर्म (कर्तव्य) एवं विपर्यय, पिता-पुत्र के झगड़े, प्रायश्चित्त में व्यतिक्रम (गड़बड़ी), सुपात्रों को दी गयी भेटों का प्रतिग्रह, श्रमणों के कोप, वर्णसंकर-दोष आदि-आदि, तथा वे सभी विषय जो पहले (व्यवहारपदों की व्याख्या में) छूट गये हों—सभी प्रकीर्णक में सम्मिलित हैं।[१०] नारद के समान ही बृहस्पति ने प्रकीर्णक की परिभाषा की है। कौटिल्य ने व्यवहारपदों की चर्चा अपने धर्मस्थीय (३)

९. न राजा तु वशित्वेन धनलोभेन वा पुनः। स्वयं कार्याणि कुर्वीत नराणामविवादिनाम्।। कात्यायन (मनु ८।४३ की व्याख्या में कुल्लूक द्वारा एवं व्यवहारमयूख पृ० २८५ में उद्धृत); स्वयं नोत्पादयेत्कार्यं समर्थः पृथिवीपतिः। नाददीत तथोत्कोचं दत्तं कार्याथिना नृपः।। मानसोल्लास २।२०।१२७४।

१०. प्रकीर्णके पुनर्ज्ञेयो व्यवहारो नृपाश्रयः। राज्ञामाज्ञाप्रतीघातस्तत्कर्मकरणं तथा।। पुरप्रदानं संभेदः प्रकृतीनां तथैव च। पाखण्डिनैगमश्रेणीगणधर्मविपर्ययः।। पितापुत्रविवादश्च प्रायश्चित्तव्यतिक्रमः। प्रतिग्रहविलोपश्च कोपश्चाश्रमिणामपि।। वर्णसंकरदोषश्च तद्वृत्तिनियमस्तथा।। न दृष्टं यच्च पूर्वेषु सर्वं तत्स्यात्प्रकीर्णकम्।। नारद (प्रकीर्णक १-४)। इसे मिताक्षरा (याज्ञ० २।२९५) में उद्धृत किया गया है। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ३३१) ने 'पुरप्रमाण' पढ़ा है और इस प्रकार व्याख्या की है—'पौरचरितलेख्यप्रमाणम्। तत्र बृहस्पतिः—एष वादिकृतः प्रोक्तो व्यवहारः समासतः। नृपाश्रयं प्रवक्ष्यामि व्यवहारं प्रकीर्णकम्।।

पाँच संस्कृत-काव्यों के विख्यात टीकाकार कोलाचल मल्लिनाथ द्वारा लिखित 'वैश्यवंशसुधाकर' की चर्चा डा० वी० राघवन ने की है (सर डेनिसन रॉस वाल्यूम आव् पेपर्स, पृ० २३४-२४०)। वैश्यवंशसुधाकर नामक ग्रन्थ एक कमीशन की रिपोर्ट है जिसके अध्यक्ष थे मल्लिनाथ। यह रिपोर्ट जाति-सम्बन्धी झगड़े के ऊपर है और विद्यानगर के देवराय द्वितीय (१४२२-१४६० ई०) के काल में लिखी गयी थी। वैश्यों को राज्य के २४ नगरों एवं १०८ तीर्थस्थानों में व्यापार करने की आज्ञा मिली थी। कोमटी नामक उपजाति ने भी अपने को वैश्य घोषित किया और व्यापार करना चाहा। इसी पर मुकदमा चला। मल्लिनाथ ने बड़ी खोजों एवं प्रामाणिक ग्रन्थों के परीक्षण के उपरान्त तय किया कि वैश्य, वणिक्, नागर, ऊरुज, तृतीयजातीय पर्यायवाची हैं और कोमटी लोग भी, जिन्हें विरोधी गण विजाति

में की है और **कण्टकशोधन** नामक परिच्छेद में ऐसे विषयों की चर्चा की है जो प्रदेष्टा (आजकल के कोरोनरों एवं पुलिस मजिस्ट्रेटों के समान) द्वारा फैसल होते थे। कौटिल्य ने लिखा है कि व्यवहारपदों का फैसला (निर्णय) **धर्मस्थ** (न्यायाधीश) लोग करते थे। 'कण्टक' का तात्पर्य है हानिकारक व्यक्ति (मनु ९।२५२ एवं कौटिल्य ४)। कण्टकशोधन में राजकर्मचारियों के अन्तर्गत निम्नलिखित बातें आती थीं--बढ़ई एवं लोहार जैसे शिल्पकारों को सामान्य श्रेणियों में कार्य करना पड़ता था और उन्हें लोगों से काम करने के लिए सामग्री मिला करती थी, यदि वे समय के भीतर बनाकर सामग्री नहीं देते थे तो उन्हें पारिश्रमिक का $\frac{1}{4}$ भाग कम मिलता था और पारिश्रमिक का दुगुना अर्थ-दण्ड देना पड़ता था। इसी प्रकार के नियम जुलाहों के लिए भी बने थे। धोबियों को लकड़ी के तख्तों या चिकने पत्थरों पर कपड़ा धोना पड़ता था, यदि वे इस नियम का उल्लंघन करते थे तो उन्हें क्षतिपूर्ति के अतिरिक्त ६ पण अर्थ-दण्ड देना पड़ता था, उन्हें किसी अन्य को भाड़े पर कपड़ा देने पर या बेचने पर १२ पण अर्थ-दण्ड देना पड़ता था। इसी प्रकार दर्जियों, सोनारों, वैद्यों, संगीतज्ञों, अभिनेताओं आदि के विषय में कानून बने थे। और देखिए कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अध्याय ४ जहाँ विभिन्न अपराधों के दण्डों की चर्चा है। यदि कोई सोनार किसी से (नौकर या दास से) बिना राजकर्मचारी को सूचित किये सोना-चाँदी क्रय करता है, उसे दूसरे रूप में नहीं बदल देता है या बदलता है या किसी चोर से सामग्री खरीदता है, तो उसे क्रम से १२, २४ या ४८ पण दण्ड-रूप में देने पड़ते थे। किसी **सुवर्ण** (सोने के सिक्के) से एक माषक (एक सुवर्ण का $\frac{1}{16}$वाँ भाग) चुराने पर २०० पण दण्ड तथा एक **धरण** (चाँदी के सिक्के) से एक माषक चुराने पर १२ पण दण्ड देना पड़ता था। ताँबा, सीसा, पीतल, काँसे के बरतन बनाने आदि में उचित से कम तोल करने पर दण्ड देना पड़ता था। जाली सिक्का बनाने, लेने या दूसरों को देने में १००० पण का दण्ड लगता था और राज्यकोष में जाली सिक्का डालने पर मृत्यु-दण्ड मिलता था। यदि कोई वैद्य किसी रोगी के भयंकर रोग की सूचना (राजकर्मचारी को) दिये बिना इलाज करता और रोगी मर जाता था तो उसे कठोर दण्ड मिलता था, यदि वैद्य की असावधानी से रोगी मर गया तो उसे मध्यम दण्ड मिलता था। किन्तु यदि रोगी किसी भयंकर कष्ट से आक्रान्त हो गया तो यह विषय **दण्डपारुष्य** (आक्रमण के अभियोग) के अन्तर्गत गिना जाता था। संगीतज्ञों एवं अभिनेताओं (भाणों) को वर्षा ऋतु में एक स्थान पर रहना पड़ता था, उन्हें अत्यधिक दान लेना अथवा किसी एक ही संरक्षक की प्रशंसा करना मना था; यदि वे इन सब नियमों का उल्लंघन करते थे तो उन्हें १२ पण दण्ड देना पड़ता था। ये ही नियम कठपुतली नचाने वालों तथा अन्य भिक्षुओं के लिए थे, किन्तु भिक्षुओं को पण-दण्ड के स्थान पर उतने ही कोड़े लगते थे। कौटिल्य (४।२) ने कूट तुलामान आदि (ग़लत बटखरे, तराजू आदि) रखने पर दण्ड-व्यवस्था दी है। जो लोग बरी लकड़ी, लोहे, रत्नों, रस्सियों, कपड़ों को बहुत अच्छा कहकर बेचते थे, जो व्यापारिक वस्तुओं के विक्रय में गड़बड़ी उत्पन्न करते थे, जो लोग अनाजों, तेलों, दवाओं आदि में मिलावट करते थे तथा जो लोग स्थानीय एवं बाह्य देशों की सामग्रियों की बिक्री में वाणिज्य के अध्यक्ष द्वारा निर्धारित दाम से अधिक लेते थे, उन्हें दण्डित होना पड़ता था। कौटिल्य (४।३) ने अग्नि, बाढ़ों, महामारियों, दुर्भिक्षों, चूहों, व्याघ्रों, सर्पों से सम्बन्धित आधियों, व्याधियों तथा विपत्तियों से बचने के लिए व्यवस्था दी है; यदि कोई चूहों को नष्ट करने के लिए रखे गये बिलावों (बिल्लियों) एवं नेवलों को पकड़ता या घायल कर देता था, उसे १२ पण देना पड़ता था। कौटिल्य (४।४) ने जनता की दुष्ट जनों से रक्षा **समाहर्ता** द्वारा करने की व्यवस्था दी है, क्योंकि कुछ लोग गुप्त रीति से लोगों को तंग कर सकते थे। समाहर्ता अपने गुप्तचरों द्वारा ऐसे लोगों का पता लगाता रहता

की संज्ञा देते हैं, वैश्य हैं और उन्हें भी वे अधिकार मिलने चाहिए। यह निर्णय या तो "पाखण्ड...विपर्ययः" या "तद्-वृत्तिनियमः" के अन्तर्गत आयेगा।

था। वेश परिवर्तित कर गुप्तचर लोग ग्रामों के राजकर्मचारियों की सचाई एवं बेईमानी का पता लगाते थे। इसी प्रकार वे अध्यक्षों, न्यायाधीशों, धर्माध्यक्षों, साक्षियों (गवाहों) की सचाई एवं बेईमानी का पता लगाते थे। इन विषयों में अपराधी सिद्ध होने पर सामान्यतः देश-निष्कासन का दण्ड मिलता था। गुप्तचरों द्वारा तथा साधुओं-महात्माओं के वेश में एजेण्टों द्वारा उन नवयुवकों का पता लगाया जाता था जो चोरी एवं डकैती करने की ओर झुकाव रखते थे। कौटिल्य (४, ६ एवं ७) ने सन्देह में अपराध करते हुए पकड़े गये अपराधियों तथा अचानक हो गयी मृत्युओं की जाँच-पड़ताल के विषयों पर लिखा है। कौटिल्य (४।८) ने प्रतिवादी के गवाहों की जाँच वादी की उपस्थिति में करने की व्यवस्था दी है। गवाहों से यह पूछा जाता था कि वे प्रतिवादी के सम्बन्धी तो नहीं हैं या वे पूर्णरूपेण अजनबी हैं, इतना ही नहीं, उनसे उनके देश, जाति, वंश, नाम, वृत्ति, सम्पत्ति एवं प्रतिवादी के मित्रों एवं उसके निवास स्थान के विषय में पूछा जाता था। कभी-कभी अपराध स्वीकार कराने के लिए यन्त्रणा दी जाती थी। यह कहा जाता है कि केवल उन्हीं को यन्त्रणा दी जाती थी जिनका अपराध एक प्रकार से सिद्ध हो चुका रहता था (**पहली दृष्टि** में, आप्त-दोषं कर्म कारयेत्)। जब अपराध गुरुतर नहीं होता अर्थात् हलका होता है, या अपराधी छोटी अवस्था का होता है, बूढ़ा या बीमार होता है, नशे के वश में रहता है, पागल रहता है, भूख या प्यास या यात्रा की थकावट से व्याकुल रहता है, अधिक खाया हुआ है या अजीर्ण से बीमार है या दुर्बल है, या वह ऐसी नारी है जिसने अभी एक मास के भीतर ही बच्चा जना है, तो यन्त्रणा नहीं दी जाती थी। अन्य नारियों को पुरुष की अपेक्षा आधी यन्त्रणा दी जाती थी या केवल प्रश्न ही पूछा जाता था। विद्वान् ब्राह्मणों एवं साधुओं को अपराधी बताये जाने पर उनके पीछे केवल गुप्तचर लगा दिये जाते थे। जो इन नियमों का उल्लंघन करते या औरों को वैसा करने को उद्दीप्त करते, या जो यन्त्रणा से किसी को मार डालते थे उन्हें कड़ा-से-कड़ा दण्ड दिया जाता था। अपराध करने पर चार प्रकार की यन्त्रणाएँ दी जाती थीं--(१) छः डण्डे, (२) सात कोड़े, (३) दो प्रकार से लटकाना तथा (४) नाक में नमकीन पानी डालना। कौटिल्य ने लिखा है कि जो किसी निर्दोष व्यक्ति को चोर बनाता है या जो चोर को छिपाकर रखता है, वह चोर के समान ही दण्ड पाता है। कभी-कभी चोरी न करने वाला भी यन्त्रणा के डर से अपराध स्वीकार कर लेता है, जैसा कि माण्डव्य ने किया था।[११] कौटिल्य (४।९) ने लिखा है कि **समाहर्ता एवं प्रदेष्टा** को सभी विभागों के अध्यक्षों एवं उनके अधीन राजकर्मचारियों के ऊपर नियन्त्रण रखना चाहिए। जो लोग राज्य की खानों की सामग्रियों एवं रत्नों को चुराते थे या ले लेते थे उन्हें फाँसी का दण्ड मिलता था। इसी प्रकार अन्य प्रकार के सामानों की चोरी या उन्हें हटाने-बढ़ाने पर भाँति-भाँति के दण्डों की व्यवस्था थी। कौटिल्य ने लिखा है कि ऐसे न्यायाधीशों को दण्ड दिया जाता है जो आवे-दकों या प्रतिवेदकों (वादियों या प्रतिवादियों) को धमका कर, टेढ़ी भौंहें दिखाकर चुप कर देते हैं या गाली देते हैं। जो न्यायाधीश ठीक से प्रश्न नहीं पूछते हैं, व्यर्थ में देरी करते हैं या सुने-सुनाये मुकदमे को व्यर्थ में पुनः सुनते हैं या जो

११. माण्डव्य की कथा आदिपर्व (६३।९२-९३, १०७-१०८), अनुशासनपर्व (१८।४६-५०), नारद० (१।४२) एवं बृहस्पति० (अपरार्क द्वारा उद्धृत, पृ० ५९९) में पायी जाती है। माण्डव्य एक निर्दोष व्यक्ति था। उसके पास ही चोरी की सामग्री मिली थी और वह मौनव्रत में लीन था। प्रश्न पूछे जाने पर उसने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। उसे लोगों ने चोर सिद्ध किया--शूले प्रोतः पुराणर्षिरचोरश्चोरशंकया। अणीमाण्डव्य इत्येवं विख्यातः सुमहायशाः॥ आदि० (६३।९२-९३)। कौटिल्य (४।८) ने माण्डव्य की कथा दूसरे ढंग से दी है। मार्कण्डेयपुराण (अध्याय १६) में अणीमाण्डव्य की कथा पायी जाती है। लगता है, दण्ड-विधि (क्रिमिनल लॉ) में माण्डव्य की गाथा एक प्रसिद्ध गाथा रही है। मृच्छकटिक (अंक ९।३६) में भी यन्त्रणा की ओर संकेत मिलता है।

अपराधी को जेल से छुड़ाने के लिए या नारी से बलात्कार करने वाले अपराधी को अर्थ-दण्ड देकर छोड़ देते हैं, उन्हें दण्डित किया जाता है। कौटिल्य (४।१०) ने चोरी, मार-पीट, गाली-गलौज, मान-हानि करने, घोड़े या किसी अन्य सवारी पर चढ़कर राजा के प्रति अश्रद्धा प्रकट करने, स्वयं राज्यानुशासन निकालने आदि अपराधों में शरीरांग काटने के स्थान पर अर्थ-दण्ड देने की भी व्यवस्था दी है। उन्होंने मनुष्य-मांस बेचने पर मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था दी है, मूर्तियों एवं पशुओं की चोरी पर मृत्यु-दण्ड की चर्चा की है तथा मनुष्यों को लुप्त कर देने, बलवश किसी की भूमि छीन लेने, घर, सोना, सोने के सिक्के, रत्नों एवं अन्न के पौधों की चोरी पर मृत्यु-दण्ड या अधिकाधिक दण्ड देने की व्यवस्था दी है। किसी को झगड़े में मार डालने पर यन्त्रणा या बिना यन्त्रणा के मृत्यु-दण्ड दिया जाता था (किन्तु यदि घायल व्यक्ति झगड़े के १५ दिन या एक मास के उपरान्त मर जाता था तो अधिकाधिक अर्थ-दण्ड या ५०० पण या चिकित्सा में लगे धन के बराबर दण्ड लगता था)। किसी हथियार से घायल कर देने पर कई प्रकार के दण्ड दिये जाते थे। पुरुषों या नारियों को मार डालने पर शूली पर चढ़ाया जाता था, जो व्यक्ति राज्य-हरण करने के अपराधी होते थे या अन्तःपुर में बलपूर्वक प्रवेश करते पाये जाते थे, या जो आटविकों (जंगल में रहने वालों) को या शत्रुओं को आक्रमण करने के लिए उभाड़ते थे या देश, राजधानी या सेना में असन्तोष उत्पन्न करते थे, उन्हें जीवित जलाया जाता था। इस प्रकार के अपराध में पकड़े गये ब्राह्मण को जल में डुबा दिया जाता था या अँधेरे कमरे में अकेला बन्दी रखा जाता था। माता-पिता, गुरु या साधु को अपशब्द कहने पर जिह्वा काट ली जाती थी; बाँध, जलाशय को नष्ट करने वाले को जल में डुबा दिया जाता था; जो स्त्री अपने पति या बच्चे को या गुरुजन को मार डालती थी, विष दे देती थी या उन्हें आग में जला डालती थी, उसे बैल द्वारा फड़वा दिया जाता था (कौटिल्य ४।११)। कौटिल्य ने परनारी के साथ बलात्कार करने, अविकसित या विकसित लड़की के साथ संभोग करने पर दण्ड की व्यवस्था दी है। यदि कोई पुरुष किसी विकसित अथवा युवती लड़की के साथ उसकी इच्छा के साथ संभोग करता है तो पुरुष को ५४ पण तथा लड़की को २७ पण दण्ड देना पड़ता था। अपनी ही जाति की लड़की के साथ, जो तीन वर्ष पूर्व से यौवन प्राप्त कर चुकी है, किन्तु अभी अविवाहित है, संभोग करना बड़ा अपराध नहीं माना जाता था। दिखाने के समय कोई और, किन्तु विवाह के समय कोई अन्य कन्या प्रकट करने पर दण्डित होना पड़ता था। यदि प्रवासी व्यक्ति की पत्नी व्यभिचार करती है और उसका कोई सम्बन्धी या नौकर उसे नियन्त्रित रखकर उसके पति को उसके आने पर सौंप देता है तथा उसका पति उसे क्षमा कर देता है तो उसके प्रेमी के ऊपर अभियोग नहीं चलाया जाता, किन्तु यदि पति क्षमा नहीं करता है तो स्त्री के कान एवं नाक काट लिये जाते हैं और प्रेमी को मृत्यु-दण्ड दिया जाता है--कौटिल्य (४।१२)। इसी प्रकार कौटिल्य (४।१३) ने अन्य प्रकार के अपराधों की भी चर्चा की है जिन्हें स्थानाभाव से यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

कौटिल्य ने बड़े विस्तार के साथ अपराधों का वर्णन किया है, उनकी तालिका की विशालता आधुनिक 'भारतीय दण्डविधान' की विशालता से कम नहीं है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अध्याय ४ के बहुत-से नियम एवं व्यवस्थाएँ याज्ञ० (२।२७३-३०४), नारद० (प्रकीर्णक तथा अन्य स्थानों में), मनु (८।३६५-३६८, ३९६-३९७; ९।२२५-२२६, २३१-२३२, २६१-२६७) में भी पायी जाती हैं। कौटिल्य ने बहुत-से अभियोगों की चर्चा **कण्टकशोधन** के अन्तर्गत की है न कि **धर्मस्थीय** परिच्छेद के अन्तर्गत। ऐसा क्यों किया गया है, इसका उत्तर देना कठिन है। यह सम्भव है कि कौटिल्य ने धर्मस्थीय के अन्तर्गत केवल उन्हीं अभियोगों, प्रतिवेदनों आदि को रखा, जो दो दलों के बीच के झगड़ों से सम्बन्धित थे। बहुत-से प्रतिवेदन, जिन्हें **वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, संग्रहण एवं स्तेय** के अन्तर्गत रखा गया है, झगड़ों से सम्बन्धित थे और वैसे ही थे जो विशेषतः कण्टकशोधन परिच्छेद में रखे गये हैं। कण्टकशोधन वाले अभियोग राजा अथवा राजकर्मचारियों द्वारा उपस्थित किये जाते थे और वे राज्य से सम्बन्धित होने के कारण फौजदारी (क्रिमिनल) माने जाते थे, क्योंकि उसका सीधा लगाव विशेषतः अपराधों के नष्ट करने से था। कौटिल्य (३।२०) ने प्रकीर्णक के अन्तर्गत

कुछ अन्य बातें भी सम्मिलित कर ली हैं, यथा उधार ली हुई वस्तु को न लौटाना, ब्राह्मण होने के बहाने से झाट का किराया न देना, दूसरे की रखैल से सम्बन्ध रखना, कर एकत्र कर स्वयं हड़प लेना, चाण्डाल का आर्य नारी को दूषित करना, देवों एवं पितरों के सम्मान में किये गये भोज में बौद्ध, आजीवक या शूद्र साधु को निमन्त्रित करना, गम्भीर पाप न करने पर भी माता-पिता, बच्चे, पत्नी या पति, भाई या बहिन, गुरु या शिष्य को त्याग देना, किसी को अवैधानिक रूप से बन्दी बनाना आदि। कौटिल्य ने नारद, बृहस्पति एवं कात्यायन के समान उन सभी बातों को, जिन्हें राजा अपनी ओर से उठाता है, **प्रकीर्णक** के अन्तर्गत नहीं रखा है, बल्कि उन्हें **कण्टकशोधन** के अन्तर्गत रखा है। कौटिल्य ने स्वयं लिखा है (४।१ एवं १३) कि **कण्टकशोधन** के अन्तर्गत दिये गये विषय उन विषयों के समान ही हैं जो **दण्डपारुष्य**-जैसे हैं और **धर्मस्थीय** के अन्तर्गत वर्णित हैं। उदाहरणार्थ हम ४।१ को देख सकते हैं, यथा--यदि वैद्य असावधानीवश किसी रोगी के किसी मर्मस्थल की हानि कर देता है तो वह **दण्डपारुष्य** समझा जायगा। इससे स्पष्ट है कि नारद एवं बृहस्पति (जिन्होंने राजा द्वारा चलाये गये अभियोगों को प्रकीर्णक के अन्तर्गत रखा है) के बहुत पहले ही कौटिल्य ने न्याय्य शासन (जुडिशिएल एडमिनिस्ट्रेशन) की कल्पना कर ली थी।

माल और फौजदारी अभियोग

व्यवहारपदों का उल्लेख बहुत प्राचीन एवं प्रामाणिक है, किन्तु उनका वर्गीकरण वैज्ञानिक सिद्धांत पर कदाचित् ही आधारित है। सरस्वतीविलास (पृ० ५१) में उल्लिखित एक लेखक यानी निबन्धकार के अनुसार **ऋणादान** से लेकर **दायविभाग** तक के सारे व्यवहारपदों में जो माँग प्रस्तुत रहती है, वह न्याय-सिद्ध होने पर दूसरे दल द्वारा देय मानी जाती है; किन्तु **वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, साहस, द्यूत** एवं **बाजी लगाने** आदि में दण्ड के रूप में ही प्रमुख माँग की पूर्ति होती है। यहाँ पर माल (सिविल) एवं फौजदारी (क्रिमिनल) से सम्बन्धित मुकदमों की ओर संकेत मिल जाता है।[१२] इसी से बृहस्पति ने व्यवहारों को दो प्रकारों में बाँटा है, यथा--(१) धन-सम्बन्धी एवं (२) हिंसा-सम्बन्धी। याज्ञवल्क्य (२।२३) ने **अर्थविवाद** (सिविल झगड़े) का उल्लेख किया है, अतः स्पष्ट है कि उन्होंने अर्थ-सम्बन्धी एवं मार-पीट सम्बन्धी झगड़ों को दो भागों में बाँटा है। धन या अर्थ से सम्बन्धित मुकदमे चौदह भागों में तथा हिंसा से उत्पन्न मुकदमे चार भागों में बँटे हुए हैं।[१३] अन्तिम प्रकार के मुकदमों को **वाक्पारुष्य** (मानहानि अर्थात् अपमान तथा गाली-गलौज से सम्बन्धित), **दण्डपारुष्य** (आक्रमण अर्थात् मार-पीट करना या मर्दन करना), **साहस** (हत्या तथा अन्य प्रकार की हिंसाएँ) एवं **स्त्रीसंग्रहण** (व्यभिचार या परभार्यालंघन) के नाम से पुकारा जाता है। यहाँ पर **अर्थमूल** या **धनमूल** (सिविल) तथा **हिंसामूल** (क्रिमिनल) नामक झगड़ों का अन्तर स्पष्ट हो गया है। कात्यायन ने भी कहा है कि झगड़ों

१२. तथा च गौतमसूत्रम्--द्विरुत्थानतो द्विगतिरिति। व्यवहार इत्यनुषज्यते। तत्र निबन्धनकारेणोक्तम्--ऋणादानादिदायविभागान्तानां देयनिबन्धनत्वं साहसादिपञ्चकस्य दण्डनिबन्धनत्वमिति द्विरुत्थानतेत्यर्थ इति। सरस्वतीविलास, पृ० ५१।

१३. द्विपदो व्यवहारः स्याद्धनहिंसासमुद्भवः। द्विसप्तकोऽर्थमूलस्तु हिंसामूलश्चतुर्विधः॥....एवमर्थसमुत्थानि पदानि तु चतुर्दश। पुनरेव प्रभिन्नानि क्रियाभेदादनेकधा। पारुष्ये द्वे साहसं च परस्त्रीसंग्रहस्तथा। हिंसोद्भवपदान्येवं चत्वार्याह बृहस्पतिः॥ स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ९); व्यवहारमयूख (पृ० २७७); पराशरमाधवीय (३, पृ० २०-२१); साध्यं वादस्य मूलं स्याद्वादिना यन्निवेदितम्। देयाप्रदानं हिंसा चेत्युत्थानद्वयमुच्यते॥ कात्यायन (३०), स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० १३) में उद्धृत।

के मूल दो हैं; (१) जो देय है उसे न देना तथा (२) हिंसा। यद्यपि इस रीति से १८ प्रकार के अर्थमूल एवं हिंसामूल झगड़े थे, किन्तु उन्हें निपटाने के नियमादि एक-साथ ही थे, वे एक ही प्रकार की कचहरियों में सुने-सुनाये जाते थे। आधुनिक काल की भाँति दो प्रकार की कचहरियों की परम्परा नहीं थी। बृहस्पति ने कहा है कि झगड़ों का निर्णय केवल शास्त्र-वर्णित नियमों के आधार पर ही नहीं होना चाहिए, प्रत्युत तर्क एवं विवेक को भी महत्ता मिलनी चाहिए।

नारद० (१।८-२९), बृहस्पति, कात्यायन, अग्निपुराण (२५३।१-१२, जहाँ नारद के श्लोक ज्यों-के-त्यों उद्धृत हैं) तथा अन्य ग्रन्थों ने व्यवहार के विषय में कई एक निर्देश दिये हैं, यथा-यह द्विफल है, यह चतुष्पाद है आदि।--

(१) चतुष्पाद--चतुष्पाद का अर्थ है चार पाद अर्थात् **धर्म, व्यवहार, चरित्र** एवं **राजशासन** (नारद १।१०) वाला। याज्ञवल्क्य (२।८) एवं बृहस्पति के अनुसार चतुष्पाद हैं--**अभियोग, उत्तर, क्रिया** एवं **निर्णय**। किन्तु कात्यायन (३१, अपरार्क पृ० ६१६ में उद्धृत) के अनुसार चतुष्पाद हैं **अभियोग, उत्तर, प्रत्याकलित** एवं **क्रिया**।[१४]

धर्म तथा अन्य तीन, वास्तव में अन्तिम निर्णय के चार पाद हैं। अन्तिम निर्णय व्यवहार की चार स्थितियों में एक स्थिति या दशा है, अतः गौण अर्थ में या खींचातानी करने से ये व्यवहार के चतुष्पाद हैं। इनमें प्रत्येक के दो प्रकार हैं (देखिए, स्मृतिचन्द्रिका पृ० १०-११, पराशरमाधवीय ३, पृ० १९८-१९९, व्यवहारप्रकाश पृ० ८७-८८, जहाँ बृहस्पति के श्लोकों की पूर्ण व्याख्या उपस्थित की गयी है)।

धर्म के अनुसार निर्णय का तात्पर्य यह है कि अपराधी अपना दोष मान ले और वादी को उसका धन मिल जाय या उसकी माँग की पूर्ति हो जाय। इसमें मुकदमा आगे नहीं चलता, अर्थात् साक्ष्य, लेख-प्रमाण आदि की क्रियाएँ नहीं होतीं। इसी प्रकार दिव्य (आर्डिएल) द्वारा प्रमाण एकत्र करके निर्णय देना भी धर्मपाद माना जाता है। दिव्य को सत्य भी कहा जाता है और दोनों को एक ही माना जाता है। इसमें अपराधी सत्य कहता है और इस प्रकार के निर्णय को धर्म का निर्णय कहा जाता है (देखिए, बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१४)। जब कचहरी में साक्षियों द्वारा मुकदमा लड़ा

१४. अर्थशास्त्र (४।१) के अन्त में दो श्लोक आये हैं--धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्। विवादार्थश्चतुष्पादः पश्चिमः पूर्वबाधकः॥ तत्र सत्ये स्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिषु। चरित्रं संग्रहे पुंसां राज्ञामाज्ञा तु शासनम्॥ यही बात कुछ हेर-फेर के साथ नारद० (१।१०-११) एवं हारीत (सरस्वतीविलास पृ० ५८ में उद्धृत) में भी है। इन श्लोकों की व्याख्या विस्तारपूर्वक अपरार्क (पृ० ५९७), स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० १०-११), व्यवहारप्रकाश (पृ० ७, ८८-८९) तथा अन्य निबन्धों में की गयी है। इन श्लोकों में व्यवहार-सम्बन्धी विवादों के निर्णय के साधनों का वर्णन है। बृहस्पति का कहना है--धर्मेण व्यवहारेण चरित्रेण नृपाज्ञया। चतुष्प्रकारोऽभिहितः सन्दिग्धेऽर्थे विनिर्णयः॥ (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १०; पराशरमाधवीय ३, पृ० १६; व्यवहारप्रकाश पृ० ६); व्यवहारोऽपि चरित्रेण बाध्यते यथा--साक्षिभिः साधितेऽप्याभीरस्त्रियाः पुरुषान्तरोपभोगे तद्दण्डे च व्यवहारतः प्राप्तेऽपि राजकुलाधिगतलिखितान्निवर्तते। एवं हि तत्र लिखितम्--आभीरस्त्रीणां व्यभिचारेऽपि सति दण्डो न ग्राह्य इति। अपरार्क, पृ० ५९७ (याज्ञ० २।१७)।

अपरार्क (पृ० ६१६) के अनुसार प्रत्याकलित का अर्थ है न्यायाधीश एवं सभ्यों का विचार-विमर्श, जिसके द्वारा प्रमाण एवं प्रमाणों की विधि का पता चलाया जाता है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।८) के अनुसार इस अर्थ में प्रत्याकलित व्यवहारपाद नहीं है, क्योंकि मुकदमेबाजों से इसका सीधा सम्पर्क नहीं है। नारद (२।११) के मत से प्रत्याकलित का अर्थ है अभियोग या उसके उत्तर (अर्थात् लिखित पूरक वक्तव्य) में जोड़ा हुआ भाग--वादिभ्यां लिखिताच्छेषं यत्पुनर्वादिना स्मृतम्। तत्प्रत्याकलितं नाम स्वपादे तस्य लिख्यते॥

जाता है तब उसे **व्यवहार** कहा जाता है। 'साक्षियों' का उल्लेख उदाहरणस्वरूप किया गया है और इसमें लेख-प्रमाण, स्वत्व या कब्जा तथा अन्य प्रमाण भी सम्मिलित हैं। जब प्रतिवादी (डेफेण्डेण्ट) सीधे ढंग से उत्तर न देने का अपराधी सिद्ध होता है अथवा उसके उत्तर दोषपूर्ण होने से स्वीकृत नहीं होते और निर्णय उसके विपक्ष में जाता है, तब भी ऐसा निर्णय **व्यवहार** द्वारा ही किया गया माना जाता है। **चरित्र** से तात्पर्य है 'देश, ग्राम या कुल की परम्परा या रूढि (देश-स्थितिः पूर्वकृता चरित्रं समुदाहृतम्--व्यास, जैसा कि स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ११ एवं व्यवहारनिर्णय पृ० १३८ ने उद्धृत किया है)। और देखिए नासिक अभिलेख सं० १२ (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृ० ८२--'फलकवारे चरित्रतोति')। नारद ने प्रकीर्णक २४ में यही संकेत दिया है, यथा--'स्थित्यर्थं पृथिवीपालैश्चरित्रविषयाः कृताः।' चरित्र का अर्थ 'अनुमान' (अधिकार एवं पूर्वधारणा) भी है; 'अनुमानेन निर्णीतं चरित्रमिति कथ्यते' (बृहस्पति--व्यवहारनिर्णय, पृ० १३९ एवं पराशरमाधवीय ३, पृ० १९८ में उद्धृत)। रूढियों एवं परम्पराओं के आधार पर भी निर्णय दिया जाता था और वैसी स्थिति में स्मृतिसम्मत नियमों का विचार नहीं होता था। "चरित्रं पुस्तकरणे" का अर्थ है कि ऐसी रूढियाँ जो राजा द्वारा लिखित कर ली गयी हों, निर्णय के लिए प्रामाणिक मान ली जाती हैं। "चरित्रं तु स्वीकरणे" का तात्पर्य है ऐसे प्रयोग या रूढियाँ जो प्रजा एवं न्यायालयों द्वारा निर्णय के लिए प्रामाणिक मान ली गयी हों। **राजशासन** वह है जो राजा द्वारा दिया जाता है, किन्तु वह स्मृतिविरुद्ध नहीं होता और न स्थानीय रूढियों के विरुद्ध होता है। वह राजा की मेधा का परिचायक होता है और तभी कार्यान्वित होता है जब कि दोनों पक्ष प्रबल हों और उनके पक्ष में जो प्रमाण हों वे शास्त्रीय एवं अकाट्य हों। उपर्युक्त चारों अर्थात् **धर्म, व्यवहार, चरित्र** एवं **राजशासन** का विवेचन बृहस्पति (पराशरमाधवीय ३, पृ० १४८) एवं कात्यायन (श्लोक ३५-३८, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १०; पराशरमाधवीय ३, पृ० १६-१७ एवं सरस्वतीविलास पृ० ७ में उद्धृत) में हुआ है। बृहस्पति ने **चरित्र** के दो अर्थ दिये हैं; (१) वह जो अनुमान द्वारा निर्णीत है तथा (२) देश की परम्परा या रूढि। ऐसा कहना कि इन चारों में एक के उपरान्त आने वाला दूसरा अपने पूर्व वाले का महत्त्व कम कर देता है, ठीक नहीं है। देखिए कात्यायन (४३, व्यवहारप्रकाश पृ० ९० द्वारा उद्धृत)। यदि कोई विवादी (मुकदमा लड़ने वाला) यह कहे कि वह अपना मुकदमा 'दिव्य' द्वारा तय कराना चाहता है और दूसरा कहे कि वह मानवीय साधनों (साक्षियों, लेखप्रमाणों आदि) द्वारा तय कराना चाहता है, तो 'दिव्य' का प्रयोग नहीं किया जाता, प्रत्युत साधारण ढंग अपनाया जाता है। इसके लिए देखिए कात्यायन २१८ (याज्ञ० २।२२ की व्याख्या में मिताक्षरा द्वारा उद्धृत)। यहाँ पर **व्यवहार** के पक्ष में **धर्म** की अवहेलना की गयी है। एक अन्य उदाहरण के लिए देखिए, पराशरमाधवीय ३ (पृ० १८)। चारों वर्णों में किसी एक वर्ण का एक व्यक्ति राजद्रोह करता है और कायरतावश अपना अपराध स्वीकार कर लेता है (यह **दिव्य या सत्य** है), किन्तु साक्षीगण (मनु के १०।१३० वचन पर विश्वास करके कि मृत्यु-दण्ड होते समय साक्षीगण झूठ बोल सकते हैं) का कहना है कि उसने राजद्रोह नहीं किया और अपराधी छूट जाता है। यहाँ पर भी व्यवहार (साक्षियों के कथन पर भी मुकदमा चलता है) के पक्ष में धर्म की अवहेलना हुई है। इसी के समान अन्य उदाहरण के लिए देखिए, स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ११)। केरल में वेश्या के यहाँ जाना परम्परा से गर्हित नहीं माना जाता था। अतः यदि यह साक्षियों द्वारा प्रमाणित हो जाय कि केरल में किसी ने ऐसा किया तो स्थानीय राजा उसे अर्थ-दण्ड नहीं भी दे सकता था। या कल्पना कीजिए कि किसी ने किसी आभीर की पत्नी के साथ व्यभिचार किया और उस पर अभियोग चला और साक्षियों द्वारा यह सिद्ध भी हो गया। तब अभियोगी यह कह सकता है कि आभीरों में ऐसा नियम है कि उनकी स्त्रियों के साथ व्यभिचार करने पर दण्ड नहीं मिलता। इस प्रकार के मुकदमों में **चरित्र** (परम्परा या रूढि या देश-प्रयोग) **व्यवहार** की अवहेलना कर देता है। किन्तु मान लीजिए कि अपनी प्रजा के कुछ लोगों के नैतिक उत्थान के लिए राजा आज्ञा निकालता है कि अमुक तिथि से जो किसी आभीर की पत्नी से व्यभिचार करता पाया जायगा उसे दण्ड दिया जायगा, तो यहाँ पर कहा जायगा कि **राजशासन** द्वारा **चरित्र**

की अवहेलना की गयी। ऐसी स्थिति में **राजशासन** ही निर्णय का क़ानून या निर्णय माना जायगा। इसी प्रकार जहाँ न साक्षी हों, न लेख-प्रमाण हो, न अधिकार हो, न दिव्य (सत्य) की ही गुंजाइश हो और न शास्त्रीय अथवा परम्परा की बातें या नियम हों, वहाँ राजा ही अपने ढंग से निर्णय करता है। देखिए, पितामह (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २८ में उद्धृत) तथा अन्य ग्रन्थ। कात्यायन (श्लोक ३९-४३, व्यवहारप्रकाश, पृ० ८९ में उद्धृत) ने उपर्युक्त बातों पर अपने ढंग से प्रकाश डाला है।

तो ये सब **चतुष्पाद**-सम्बन्धी बातें हुईं। अब हम व्यवहार के सम्बन्ध में आने वाले अन्य नियमों एवं अंगों पर प्रकाश डालेंगे।

(२) **चतुःस्थान**--अर्थात् चार आधार वाला, यथा-- **सत्य, साक्षी, पुस्तकरण** एवं **राजशासन**।

(३) **चतुस्साधन**--चार साधन, यथा--साम, दान, भेद एवं दण्ड वाला।

(४) **चतुर्हित**--अर्थात् चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों को लाभ पहुँचाने वाला।

(५) **चतुर्व्यापी**--यह वह है जो चारों, अर्थात् विवादियों, साक्षियों, सभ्यों तथा राजा पर छाया रहे।

(६) **चतुष्कारी**--जो चार फल उत्पन्न करे, यथा धर्म (न्याय), लाभ, ख्याति एवं जनता के लिए प्रेम या आदर का भाव।

(७) **अष्टांग**--इसके आठ अंग या सदस्य हैं, यथा राजा, उसके अच्छे अधिकारी (उच्च न्यायाधीश), सभ्य (प्यूनी जज अर्थात् अवर न्यायाधीश), शास्त्र (क़ानून की पुस्तकें अथवा न्याय या व्यवहार-सम्बन्धी स्मृति-ग्रन्थ), गणक, लिपिक, अग्नि एवं जल।

(८) **अष्टादश-पद**--इसमें अठारह अधिकारों या स्वत्वों (ऋणादान तथा अन्य, जिनकी सूची ऊपर दी जा चुकी है) का वर्णन है।

(९) **शतशाख**--इसकी सौ शाखाएँ हैं। यह संख्या अनुमानतः है। नारद (१।२०-२५) का कहना है कि १८ स्वत्वों में १३२ उपशीर्षक (ऋणादान २५, उपनिधि ६, सम्भूयसमुत्थान ३, दत्ताप्रदानिक ४, अशुश्रूषा ९, वेतन ४, अस्वामिविक्रय २, विक्रीयादान १, क्रीतानुशय ४, समयस्यानपाकर्म १, क्षेत्रवाद १२, स्त्रीपुंसयोग २०, दाय-भाग १९, साहस १२, वाक्पारुष्य एवं दण्डपारुष्य ३, द्यूतसमाह्वय १, प्रकीर्णक ६) हैं।

(१०) **त्रियोनि**--जिसके तीन स्रोत या प्रेरणाएँ हों, यथा काम, क्रोध एवं लोभ।

(११) **द्व्यभियोग**--दो प्रकार के अभियोगों पर आधारित, यथा सन्देह या सच्ची घटना पर। नारद (१।२७) का कहना है कि ऐसे लोगों पर, जो कुख्याति वाले लोगों, यथा चोरों, जुआरियों, व्यभिचारियों आदि के साथ घूमते रहते हैं, सन्देहवश अभियोग लगाया जाता है तथा उन पर, जिनके पास चोरी गयी वस्तु पायी गयी (तत्त्वाभियोग) हो। यह अन्तिम प्रकार भी दो प्रकार का है; अभियोग ऋणात्मक (अभावात्मक) तथा धनात्मक (भावात्मक) हो सकता है। पहले में प्रतिवादी (डिफ़ेण्डेण्ट्) ने धन उधार लिया, किन्तु लौटाया नहीं, ऐसा भी अभियोग सम्भव है और दूसरे प्रकार के अभियोग में प्रतिवादी ने वादी (प्लेंटिफ) के स्वत्व को छीन लिया हो, ऐसा अभियोग लगा रहता है।[15] और देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० २।५)।

१५. न्यायं स नेच्छते कर्तुमन्यायं वा करोति च। न लेखयति यस्त्वेवं तस्य पक्षो न सिध्यति॥ कात्यायन (विश्वरूप द्वारा याज्ञ० २।६ में उद्धृत); स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ३९); मिताक्षरा (याज्ञ०, २।५)। 'न्यायागतं मदीयं धनं गृहीत्वा न ददादीतिवत् प्रतिषेधरूपेण मदीयं क्षेत्रादिकमपहरतीति विधिरूपेण वा यो न लेखयतीत्यर्थः।' स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ३९)।

(१२) **द्विद्वार**---जिसमें दो द्वार हों, अर्थात् यह (व्यवहार) अभियोग में वर्णित कथनों तथा उत्तर पर आधारित है।

(१३) **द्विगति**---इसकी दो गतियाँ होती हैं, अर्थात् निर्णय सत्य या झूठ पर आधारित हो सकता है।

(१४) **द्विपद**---इसके दो पैर हैं, यथा **धनमूल** (सिविल या माल) तथा **हिंसामूल** (क्रिमिनल या फ़ौजदारी)। यह कात्यायन (२९) के मत से है।

(१५) **द्विरुत्थान**---इसके दो स्रोत हैं (देखिए ऊपर संख्या १४)। हारीत एवं कात्यायन (३०) ने इसे उल्लिखित किया है।

(१६) **द्विस्कन्ध**---इसके दो स्कन्ध हैं, यथा धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र। यह मत कात्यायन (३२) का है।

(१७) **द्विफल**---इसके दो फल हैं; जीत या हार (कात्यायन ३२)।

(१८) **एकमूल**---हारीत एवं कात्यायन ने इसे उल्लिखित किया है। इसका तात्पर्य है कि व्यवहार का मूल या जड़ एक ही है अर्थात् जो निर्णीत होने वाला है वह एक ही होता है।

(१९) **सपण एवं अपण**---जब दोनों दल या केवल एक (वादी या प्रतिवादी) हार होने पर कुछ धन देने का वचन (गर्व, घमण्ड या क्रोध या अपने मुक़दमे की सचाई पर विश्वास होने के कारण) दे तो इसे **सपण** (याज्ञ० २।१८) कहा जाता है। देखिए, विष्णुधर्मोत्तर (३।३२४।४४)। मुक़दमा बिना बाज़ी का (**अपण**) भी हो सकता है। नारद (१।४) ने **सपण** एवं **अपण** के स्थान पर क्रम से **सोत्तर** एवं **अनुत्तर** शब्दों का प्रयोग किया है।

स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २७-२८), पराशरमाधवीय (३, पृ० ४२-४५), सरस्वतीविलास (पृ० ७३-७४) एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० ३६-३८) का कथन है कि पितामह के मत से बिना किसी व्यक्ति द्वारा अभियोग या अर्जी उपस्थित किये राजा कुछ विषयों (मामलों) की छानबीन स्वयं कर सकता है और ऐसे मामलों को **अपराध**, **पद** एवं **छल** की संज्ञाएँ मिलती हैं।[१६] इन ग्रन्थों में अपराधों की संख्या १०, पदों की २२ एवं छलों की ५० कही गयी है। स्वयं राजा ऐसे विषयों को जान सकता है, या **सूचक** नामक अधिकारी बता सकता है, या कोई व्यक्ति, जिसे **स्तोभक** कहा जाता है, राजा को सूचित कर सकता है।[१७] **स्तोभक** धन की लिप्सा से व्यक्तिगत रूप से सूचना देने का कार्य करता है। नारद के मत से दस **अपराध** ये हैं---राजा की आज्ञा का उल्लंघन, स्त्रीवध, वर्णसंकर, परस्त्रीगमन, चौर्य, बिना पति के गर्भधारण, वाक्पारुष्य (मानहानि), अश्लीलता (अवाच्य), दण्डपारुष्य (मार-पीट) एवं गर्भपात।[१८] इनके करने से अर्थदण्ड लगता है, अतः ये अपराध नाम से घोषित हैं। यहाँ यह जान लेना परमावश्यक है कि इनमें कतिपय व्यवहारपदों में उल्लिखित हैं और कुछ, यथा वर्णसंकर आदि, नारद द्वारा प्रकीर्णक में संकलित हैं। यदि व्यक्तिगत

१६. छलानि चापराधांश्च पदानि नृपतेस्तथा। स्वयमेतानि गृह्णीयान्नृपस्त्वावेदकैर्विना॥ पितामह (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २७ एवं पराशरमाधवीय २, पृ० ४२ में उद्धृत)।

१७. शास्त्रेण निन्दितं त्वर्थमुख्यो राज्ञा प्रचोदितः। आवेदयति यत्पूर्वं स्तोभकः स उदाहृतः॥ नृपेणैव नियुक्तो यः परदोषमवेक्षितुम्। नृपस्य सूचयेज्ज्ञात्वा सूचकः स उदाहृतः॥ कात्यायन (देखिए स्मृतिचन्द्रिका ३, पृ० २८, पराशरमाधवीय ३, पृ० ४५ एवं व्यवहारप्रकाश, पृ० ३८)।

१८. आज्ञालंघनकर्तारः स्त्रीवधो वर्णसंकरः। परस्त्रीगमनं चौर्यं गर्भश्चैव पतिं विना॥ वाक्पारुष्यमवाच्यं यद्दण्डपारुष्यमेव च। गर्भस्य पातनं चैवेत्यपराधा दशैव तु॥ नारद (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २८; पराशरमाधवीय ३, पृ० ४४; सरस्वतीविलास, पृ० ७३, केशव के दण्डनीतिप्रकरण, १२ पृ० में उद्धृत)।

रूप से कोई आवेदन न करे तब भी राजा ऐसे मामलों में अपनी ओर से तहकीकात (अनुसंधान) कर सकता है। संवर्त (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० २८, पराशरमाधवीय ३, पृ० ४४-४५ में उद्धृत) ने भी अपराधों की एक सूची दी है, जो उपर्युक्त सूची से कुछ भिन्न है। देवपाल देव के नालन्दा ताम्रपत्र (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १७, पृ० ३१०, पृ० ३२१) में 'दशापराधिक' नामक अधिकारी का उल्लेख हुआ है। सातवीं शताब्दी के उपरान्त के सभी प्रकार के करों की माफी के विषय में जो भी दानपत्र आदि निकलते रहे हैं उनमें 'दशापराधों' का भी उल्लेख हुआ है (एपि० इण्डि०, जिल्द १, पृ० ८५, ८८; वही, जिल्द १७, पृ० ३१०, ३२१; गुप्ताभिलेख, सं० ३९, पृ० १७९ में 'सदशापराधः' का उल्लेख; एपि० इण्डि० जिल्द ७, पृ० २६, ४० में 'दशापराधादिसमस्तोत्पत्तिसहितो दत्तः' का तथा एपि० इण्डि०, जिल्द ३, पृ० ५३; वही, जिल्द ३, पृ० २६३, २६६ में 'सदण्डदशापराधः' का उल्लेख हुआ है)।

अब हम पदों की व्याख्या करें। ऊपर वर्णित २२ पद 'व्यवहारपदों' से भिन्न हैं। २२ पदों में कुछ ये हैं—तीक्ष्ण हथियार से किसी पशु का शरीर विदीर्ण करना, उपजती हुई खेती का नाश करना, अग्नि लगाना, कुमारी कन्या के साथ बलात्कार करना, गड़े हुए धन को पाकर छिपाना, सेतु, कण्टक आदि को नष्ट करना आदि।[१९] राजा की उपस्थिति में सभ्य व्यवहार के विरोधी कार्य छल कहे जाते हैं और ये ५० हैं। पितामह ने इनके भी नाम गिनाये हैं। कुछ छल ये हैं—मार्गावरोध, धमकी देते हुए हाथ उठाना, दुर्ग की दीवारों पर बिना आज्ञा के कूदकर चढ़ जाना, जलाशय नष्ट करना, मन्दिर तोड़ना, खाईं बन्द करना आदि। शुक्र० (४।५।७३-८८) ने अपराधों, पदों एवं छलों से सम्बन्धित नारद एवं पितामह के श्लोक उद्धृत किये हैं और एक स्थान (३।६) पर दस पापों की सूची दी है, जिसमें कहे गये पाप इन अपराधों से भिन्न हैं।

न्याय-कार्य मुख्यतः राजा के अधीन था। राजा प्रारम्भिक एवं अन्तिम न्यायालय था। स्मृतियों एवं निबन्धों का कहना है कि अकेला राजा न्याय-कार्य नहीं कर सकता, उसे अन्य लोगों की सहायता से न्याय करना चाहिए। मनु (८।१-२) एवं याज्ञ० (२।१) का मत है कि राजा को बिना भड़कीले वस्त्र धारण किये, विद्वान् ब्राह्मणों एवं मन्त्रियों के साथ सभा (न्याय-कक्ष) में प्रवेश करना चाहिए तथा उसे क्रोधपूर्ण मनोभाव एवं लालच से दूर हटकर धर्मशास्त्रों के नियमों के आधार पर न्याय करना चाहिए। यही बात कात्यायन (जीमूतवाहन की व्यवहारमातृका, पृ० २७८ एवं याज्ञ० २।२ की व्याख्या में मिताक्षरा द्वारा उद्धृत) ने भी कही है और जोड़ा है कि जो राजा न्यायाधीश, मन्त्रियों, विद्वान् ब्राह्मणों, पुरोहित एवं सभ्यों की उपस्थिति में विवाद-निर्णय करता है, वह स्वर्ग का भागी होता है। और देखिए शुक्र० (४।५।५)। राजा को स्वयं अपने से निर्णय नहीं करना होता था, प्रत्युत उसे न्यायाधीश से सम्मति लेकर ऐसा करना पड़ता था, किन्तु सम्मति लेने के उपरान्त भी वास्तविक उत्तरदायित्व उसी का माना जाता था। (नैकः पश्येच्च कार्याणि, शुक्र० ४।५।६)। नारद ने लिखा है कि राजा को न्यायाधीश की सम्मति के अनुसार चलना चाहिए (प्राड्विवाकमते स्थितः)। ऐसा कहना कि बहुत समझदार होने पर भी न्याय अकेले नहीं करना चाहिए,

१९. उत्कर्ता सस्यघाती चाप्यग्निदश्च तथैव च। विध्वंसकः कुमार्याश्च निधानस्योपगोपकः।। सेतुकण्टकभेत्ता च क्षेत्रसंचारकस्तथा। आरामच्छेदकश्चैव गरदश्च तथैव च।। राज्ञो द्रोहप्रकर्ता च तन्मुद्राभेदकस्तथा। तन्मन्त्रस्य प्रभेत्ता च बद्धस्यैव च मोचकः।। भोगदण्डौ च गृह्णाति दानमुत्सेकमेव (? मुत्सर्गमेव) च। पटहाघोषणाच्छादी द्रव्यमस्वामिकं च यत्।। राजावलीढं द्रव्यं यच्चैवाङ्गविनाशनम्। द्वाविंशति पदान्याहुर्नृपज्ञेयानि पण्डिताः।। ये पद्य पितामह के हैं, जिन्हें स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २८; पराशरमाधवीय ३, पृ० ४५; सरस्वतीविलास, पृ० ७३; व्यवहारप्रकाश पृ० ३७ ने उद्धृत किया है।

ऐसा रूढ़िगत हो गया था कि कालिदास ने भी इसकी ओर संकेत किया है (देखिए मालविकाग्निमित्र, अंक १, 'सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय')। रघुवंश (१७।३९) में आया है कि राजा अतिथि धर्मस्थ के साथ विवाद-निर्णय किया करता था।[२०] पितामह का कथन है कि विधिज्ञ होने पर भी अकेले निर्णय नहीं देना चाहिए।[२१] शुक्र० (४।५।६-७) का कहना है कि राजा, न्यायाधीश या सभ्यों को एकान्त में विवाद नहीं सुनना चाहिए, क्योंकि पक्षपात के पाँच कारण हो सकते हैं; राग (क्रोध), लोभ, भय, द्वेष तथा एकान्त में वादियों की बातें सुनना।[२२] न्याय-सम्बन्धी कार्य दो विभागों में बँटे थे; व्यवहार (क़ानून) एवं वास्तविकता, अर्थात् क़ानून-सम्बन्धी एवं तथ्य-सम्बन्धी। वास्तविकता या वस्तु से सम्बन्धित बातों के निर्णय के लिए नियमों का निर्धारण असम्भव है। तथ्यों के विषय में निर्णय देने के लिए राजा तथा न्यायाधीश को बहुत बड़ी परिधि मिली थी। इसी से धर्मशास्त्रों में ऐसा आया है कि राजा तथा न्यायकर्ता को पक्षपातरहित होना चाहिए और उसे एकान्त में नहीं, प्रत्युत जनता के सम्मुख राग-भय-लोभ आदि से रहित होकर न्याय करना चाहिए; और अकेले नहीं प्रत्युत मन्त्रियों, विद्वान् ब्राह्मणों एवं सभ्यों के साथ निर्णय देना चाहिए। क़ानून-सम्बन्धी मामलों में राजा या न्यायाधीश को धर्मशास्त्र के नियमों के अनुसार चलना चाहिए (मनु ८।३, याज्ञ० २।१, नारद १।३७, शुक्र० ४।५।११), किन्तु जहाँ क़ानून मौन हो, राजा को देश की परम्परागत रूढ़ियों के अनुसार निर्णय देना चाहिए। कात्यायन ने धर्मशास्त्र द्वारा निर्धारित नियमों के विरोध में नियम बनाने अथवा निर्णय देने वाले राजाओं को सावधान किया है।[२३] शुक्र० (५।५।१०-११) ने भी ऐसा ही कहा है। पितामह ने कहा है कि बहुत-सी बातों में राजा का निर्णय ही प्रमाण माना जाता है।[२४]

राजा निर्णय किस प्रकार करता था, इस विषय में गौतम (१२।४०-४२) एवं मनु (८।३१४-३१६) द्वारा निर्धारित नियम द्रष्टव्य हैं। यदि कोई चोर ब्राह्मण के घर सोने की चोरी करे तो उसे हाथ में लोहे की गदा या खदिर

२०. स धर्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम्। ददर्श संशयच्छेद्यान्व्यवहारानतन्द्रितः॥ रघुवंश १७।३९। न्यायाधीश या जज के लिए यहाँ धर्मस्थ शब्द प्रयुक्त हुआ है। कौटिल्य (३।१) ने भी यही शब्द लिखा है। रघुवंश के विस्तृत अनुशीलन से ऐसा लगता है कि कालिदास ने अर्थशास्त्र का ध्यानपूर्वक अनुशीलन किया था।

२१. 'तस्मान्न वाच्यमेकेन विधिज्ञेनापि धर्मतः।' इति पितामहेन एकस्य धर्मकथननिषेधात्। सरस्वतीविलास, पृ० ६७।

२२. नैकः पश्येच्च कार्याणि वादिनोः शृणुयाद्वचः। रहसि च नृपः प्राज्ञः सभ्याश्चैव कदाचन॥ पक्षपाताधिरोपस्य कारणानि च पञ्च वै। रागलोभभयद्वेषा वादिनोश्च रहःश्रुतिः॥ शुक्र० ४।५।६-७।

२३. अस्वर्ग्या लोकनाशाय परानीकभयावहा। आयुर्बीजहरी राज्ञां सति वाक्ये स्वयंकृतिः॥ तस्माच्छास्त्रानुसारेण राजा कार्याणि कारयेत्। वाक्याभावे तु सर्वेषां देशदृष्टेन तन्नयेत्॥ कात्या० (अपरार्क द्वारा पृ० ५९९ में, स्मृतिचन्द्रिका द्वारा २, पृ० २५–२६ में, पराशरमाधवीय द्वारा ३, पृ० ४१ में उद्धृत)। यही बात शुक्र (४।५।१०–११) ने भी कही है--यस्य देशस्य यो धर्मः प्रवृत्तः सार्वकालिकः। श्रुतिस्मृत्यविरोधेन देशदृष्टः स उच्यते॥ देशस्यानुमतेनैव व्यवस्था या निरूपिता। लिखिता तु सदा धार्या मुद्रिता राजमुद्रया॥ कात्यायन (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २६, पराशरमाधवीय ३, पृ० ४१ में उद्धृत)। "देशदृष्टः" के लिए देखिए मनु (८।३)।

२४. यत्र चैते हेतवो न विद्यन्ते तत्र पार्थिववचनान्निर्णय इत्याह स एव (पितामह एव)। लेख्यं यत्र न विद्येत न भुक्तिर्न च साक्षिणः। न च दिव्यावतारोऽस्ति प्रमाणं तत्र पार्थिवः॥ निश्चेतुं ये न शक्याः स्युर्वादाः सन्दिग्धरूपिणः। तेषां नृपः प्रमाणं स्यात् स सर्वस्य प्रभुर्यतः॥ स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २६।

वृक्ष की लाठी लेकर बाल बिखेरे हुए दौड़कर राजा के पास पहुँच कर अपना पाप स्वीकार करना चाहिए और राजा से दण्ड माँगना चाहिए। राजा को ऐसी स्थिति में गदा या लाठी से अपराधी को मारना चाहिए। अपराधी उस चोट से मर जाय या जीवित रहे; वह पाप से मुक्त हो जाता है। राजा ही न्याय की सबसे बड़ी कचहरी या अदालत था। इस विषय में कई उदाहरण राजतरंगिणी काव्य में भी मिलते हैं (६।१४-४१, ६।४२-६९, ४।४२-१०८)।

यदि अन्य आवश्यक कामों के कारण राजा न्याय-कार्य देखने में अपने को असमर्थ पाये तो उसे तीन सभ्यों के साथ किसी विद्वान् ब्राह्मण को इस कार्य में लगा देना चाहिए। इस विषय में देखिए, मनु (८।९-१०), याज्ञ० (२।३), कात्यायन आदि। न्यायाधीश के गुणों का वर्णन बहुधा मिलता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।११।२९-५) के अनुसार न्यायाधीशों में विद्या, कुलीन वंशोत्पत्ति, वृद्धावस्था, चातुर्य तथा धर्म के प्रति सावधानी होनी चाहिए। नारद के अनुसार न्यायाधीश को अठारहों सम्पत्ति-विवाद-सम्बन्धी क़ानूनों में, उनके ८००० उपभेदों, आन्वीक्षिकी (तर्क आदि), वेद एवं स्मृतियों में पारंगत होना चाहिए। जिस प्रकार वैद्य (शल्य-चिकित्सा में पारंगत होने के कारण) शल्य-प्रयोग से शरीर में घुसे लोहे के टुकड़े को निकाल लेता है, उसी प्रकार कुशल न्यायाधीश को पेचीदे मामले में से धोखे की बातें अलग निकाल लेनी चाहिए।[२५] इस विषय में और देखिए, कात्यायन, मृच्छकटिक नाटक (९।४) एवं मानसोल्लास (२।२, श्लोक ९३।९४)। न्यायाधीश को **प्राड्विवाक** या कभी-कभी **धर्माध्यक्ष** (राजनीतिरत्नाकर, पृ० १८) या **धर्मप्रवक्ता** (मनु ८।२०) या **धर्माधिकारी** (मानसोल्लास २।२, श्लोक ९३) कहते थे। 'प्राड्विवाक' अति प्राचीन नाम है (गौतम १३।२६, २७ एवं ३१, नारद १।३५, बृहस्पति)। 'प्राड्' शब्द 'प्रच्छ' धातु से बना है और 'विवाक' 'वाक्' से; क्रम से इनका अर्थ है (मुकदमेबाज़ों से) प्रश्न पूछना तथा (सत्य) बोलना या (सत्य का) विश्लेषण करना। इसी प्रकार 'प्रश्नविवाक' शब्द बना है। 'प्रश्नविवाक' शब्द वाजसनेयी संहिता एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण में आया है। स्पष्ट है कि अति प्राचीन काल में भी न्याय-संबंधी बातें कार्यकारिणी एवं अन्य राजनीतिक बातों से पृथक् अस्तित्व रखती थीं।

प्रमुख न्यायाधीश प्रायः कोई विद्वान् ब्राह्मण ही होता था (मनु ८।९, याज्ञ० २।३)। कात्यायन (६७) एवं शुक्र० (४।५।१४) ने व्यवस्था दी है कि यदि कोई विद्वान् ब्राह्मण न मिले तो प्रमुख न्यायाधीश के पद पर धर्मशास्त्रों में पारंगत किसी क्षत्रिय या वैश्य को नियुक्त करना चाहिए, किन्तु राजा को इस पर ध्यान देना चाहिए कि कोई शूद्र इस पद का उपयोग न कर सके। मनु (८।२०) ने यहाँ तक कहा है कि भले ही अविद्वान् ब्राह्मण इस पद पर नियुक्त हो जाय, किन्तु शूद्र धर्माध्यक्ष कभी न होने पाये, यदि कोई राजा शूद्र को नियुक्त करेगा तो उसका राज्य उसी प्रकार नष्ट हो जायगा जिस प्रकार कीचड़ में गाय फँस जाती है। यही बात व्यास (सरस्वतीविलास में उद्धृत, पृ० ६५) ने भी कही है। मनु (८।१०-११), याज्ञ० (२।३), नारद (३।४) एवं शुक्र० (४।५।१७) के अनुसार कम-से-कम तीन सभ्यों (प्यूनी जजों) की नियुक्ति करनी चाहिए जो प्रमुख न्यायाधीश से सहयोग कर सकें। कौटिल्य (३।१) ने लिखा है कि **धर्मस्थीय** (कचहरियों) में धर्मस्थ नामक तीन न्यायाधीशों की नियुक्ति करनी चाहिए। इन न्यायाधीशों को अमात्य की शक्ति प्राप्त थी और इनकी कचहरियाँ प्रान्तों की सीमाओं में तथा दस ग्रामों के समूह (संग्रहण) के लिए, जनपद (द्रोणमुख या ४०० ग्रामों) के लिए और प्रान्तों (स्थानीय या ८०० ग्रामों) के लिए अवस्थित थीं। बृह-

२५. विवादे विद्याभिजनसम्पन्ना वृद्धा मेधाविनो धर्मेष्वविनिपातिनः। आप० धर्मसूत्र (२।११।२९।५)। अष्टादशपदाभिज्ञस्तद्भेदाष्टसहस्रवित्। आन्वीक्षिक्यादिकुशलः श्रुतिस्मृतिपरायणः॥ यथा शल्यं भिषक्कायादुद्धरेद् यन्त्रयुक्तिभिः। प्राड्विवाकस्तथा शल्यमुद्धरेद् व्यवहारतः॥ नारद (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १४ में उद्धृत)।

स्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १५) के मत से सभ्यों की संख्या ७, ५ या ३ हो सकती है। सभ्य भी प्रमुखतः ब्राह्मण ही होते थे, किन्तु क्षत्रिय एवं वैश्य भी नियुक्त हो सकते थे। मनु (८।११) एवं बृहस्पति का कहना है कि जब किसी सभा में मुख्य न्यायाधीश के साथ वेद में पारंगत तीन ब्राह्मण बैठते हैं तो वह ब्रह्मा की सभा या यज्ञ के समान है। याज्ञ० (२।२), विष्णुधर्मसूत्र (३।७४), कात्यायन (५७), नारद (३।४-५), शुक्र० (४-५।१६-१७) तथा अन्य ग्रन्थकारों के अनुसार सभ्यों के गुण-शील ये हैं—वेदज्ञ होना, धर्मशास्त्र में पारंगत होना, सत्यवादी होना, मित्रामित्र के प्रति पक्षपातरहित होना, स्थिर होना, कार्यदक्ष होना, कर्तव्यशील होना, बुद्धिमान् होना, वंशपरम्परा से चला आना, अर्थशास्त्र में पारंगत होना आदि।[२६] ग्रन्थकारों ने राजा एवं सभ्यों में पक्षपातरहित होने के गुण पर बहुत बल दिया है (देखिए, वसि० १६।३-५, नारद १।३४, ३।५)। जो लोग देशाचारों से अनभिज्ञ होते थे, नास्तिक होते थे, शास्त्रों में पारंगत नहीं होते थे, घमण्डी, क्रोधी, लोभी एवं दरिद्र होते थे उन्हें सभ्य नहीं बनाया जाता था। राजा द्वारा नियुक्त एवं सभ्यों से युक्त प्राड्विवाक को **न्यायालय** कहा जाता था। हमने ऊपर देख लिया है कि राजा मुख्य न्यायाधीश, सभ्यों एवं ब्राह्मणों के साथ न्यायकक्ष में प्रवेश करता था। सभ्य लोग राजा द्वारा नियुक्त होते थे, अन्य ब्राह्मण धर्मशास्त्रों में पारंगत होते थे, किन्तु वे अनियुक्त होते थे, केवल कठिन बातों में न्यायाधीश लोग उनकी बातों का सम्मान करते थे। सभी प्रकार के ब्राह्मणों को न्यायालय में बोलने का अधिकार नहीं था, केवल धर्मशास्त्रपारंगत ब्राह्मण ही कठिन-कठिन बातों पर अपनी सम्मति दे सकते थे। मनु (८।१-१४) का कहना है कि या तो व्यक्ति को सभा में जाना ही नहीं चाहिए, यदि वह सभा में प्रवेश करे तो उचित बात उसे कहनी ही चाहिए; वह व्यक्ति, जो सभा में उपस्थित रहने पर भी मौन रहता है या झूठ बोलता है, पाप का भागी होता है। जहाँ कुछ या सभी सभ्यों की सम्मति के रहते हुए राजा द्वारा न्याय नहीं हो पाता वहाँ सभी राजा के साथ पाप के भागी होते हैं। यदि राजा अन्याय कर रहा हो तो सभासदों का कर्तव्य है कि वे राजा को क्रमशः न्यायपक्ष की ओर ले आयें (कात्या०, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २१ में तथा राजनीतिरत्नाकर पृ० २४-२५ में उद्धृत)। ब्राह्मणों के कर्तव्य की इतिश्री धर्मशास्त्रों में वर्णित नियमों को कह देने में है, वे सभ्यों के समान राजा को न्यायपक्ष की ओर लाने के अधिकारी नहीं हैं। सभा में उपस्थित अन्य लोगों को न्यायकार्य में किसी प्रकार की सम्मति देने का अधिकार नहीं है। किन्तु विद्वान् ब्राह्मण लोग अनियुक्त होने पर भी न्याय के विषय में अपनी राय दे सकते हैं, ऐसा नारद एवं शुक्र का कहना है।[२७] नारद (३।१७) का कहना है कि सभी सभ्यों को एकमत होकर निर्णय देना चाहिए, तभी वादियों एवं प्रतिवादियों में किसी प्रकार की शंका नहीं रहेगी। व्यवहारप्रकाश (पृ० २७) ने जैमिनीयसूत्र (१२।२।२२) का अनुसरण करते हुए कहा है कि बहुमत को मान्यता मिलनी चाहिए। अपरार्क (पृ० ५९९) की व्याख्या के अनुसार गौतम (११।२५) का कहना है कि यदि न्यायाधीशों में मतभेद हो तो राजा को अन्य विद्याओं में पारंगत होने के साथ त्रयी में विज्ञ लोगों से सम्मति लेनी चाहिए और मामले को अन्तिम रूप से तय कर देना चाहिए। कात्यायन (५८-५९) का कहना है कि अच्छे कुल वाले, श्रेणी वाले, अच्छे चरित्र

२६. स तु सभ्यैः स्थिरैर्युक्तः प्राज्ञैर्मौलैर्द्विजोत्तमैः। धर्मशास्त्रार्थकुशलैरर्थशास्त्रविशारदैः।। कात्या०, मिताक्षरा द्वारा उद्धृत (याज्ञ० २।२), व्यवहारमयूख, पृ० २७५, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १५; अलुब्धा धनवन्तश्च धर्मज्ञाः सत्यवादिनः। सर्वशास्त्रप्रवीणाश्च सभ्याः कार्या द्विजोत्तमाः।। कात्या० (अपरार्क द्वारा उद्धृत, पृ० ६०१), राजनीतिरत्नाकर पृ० २३। सभ्यगुणों की जानकारी के लिए देखिए शान्तिपर्व (८३।२)।

२७. नियुक्तो वानियुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तुमर्हति। दैवीं वाचं स वदति यः शास्त्रमुपजीवति।। नारद ३।२ (=शुक्र ४।५।२८)।

वाले, लम्बी अवस्था-वाले, धनी एवं लोभरहित वणिकों से न्यायकार्य में सम्मति लेनी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि क्रमशः धनिकों एवं वणिकों का प्राबल्य बढ़ रहा था।[२८] मृच्छकटिक नाटक में न्यायाधीश के साथ श्रेष्ठी (सेठ) एवं कायस्थ का सहयोग वर्णित है।

मुख्य न्यायाधीश तथा सभ्य लोग मुकदमा चलते समय मुकदमेबाजों से किसी प्रकार की बातचीत नहीं कर सकते थे। ऐसा करने पर वे दण्ड के भागी होते थे (कात्या०, ७०)। कौटिल्य (४।९) ने तो ऐसे धर्मस्थों (न्यायाधीशों) एवं प्रदेष्टाओं को अर्थ-दण्ड एवं शरीर-दण्ड देने की व्यवस्था दी है जो भ्रामक एवं ग़लत न्याय करते या निर्णय देते थे और हानि या शरीर-दण्ड के कारण बनते थे। यदि सभ्य लोग स्मृति एवं लोकाचार के विरुद्ध मित्रता, लोभ या भय के कारण निर्णय दें तो उन पर हारने वालों पर लगे दण्ड का दुगुना दण्ड लगना चाहिए (याज्ञ० २।४; नारद १।६७; कात्या० ७९-८०)। विष्णुधर्मसूत्र (५।१८०) एवं बृहस्पति के अनुसार अनुचित न्याय करने वाले एवं घूसखोर सभ्यों को देशनिष्कासन का दण्ड देना चाहिए या उनकी सारी सम्पत्ति हर लेनी चाहिए। कात्यायन (८१) का कथन है कि सभ्यों की त्रुटि के फलस्वरूप हारने वाले की जो हानि होती है उसे सभ्यों को ही देना चाहिए, किन्तु उनका निर्णय ज्यों-का-त्यों रह जायगा। इस विषय में शुक्र० (४।५।६३-६४) की बातें अवलोकनीय हैं। प्राचीन काल में न्यायाधीशों में कुछ लोग घूसखोर हो जाया करते थे, ऐसा ऐतिहासिक एवं साहित्यिक प्रमाण मिलता है। इस विषय में देखिए दशकुमारचरित (८, पृ० २३१)। ऐसा विश्वास किया जाता था कि उचित न्याय करने से राजा एवं सभ्य लोग पापमुक्त होते थे और अपराधी पापमय, किन्तु जहाँ निर्णय अन्यायपूर्ण होता था, वहाँ पाप का एक चौथाई भाग वादी या प्रतिवादी को तथा अन्य शेष तीन चौथाई भाग साक्षियों, सभ्यों एवं राजा को भुगतना पड़ता था। यही बात बौधायनधर्मसूत्र (१।१०।३०-३१), मनु (८।१८-१९) एवं नारद (३।१२-१३) में भी पायी जाती है। व्यवहारतत्त्व (पृ० २००) के कथनानुसार हारीत में भी ये ही शब्द ज्यों-के-त्यों पाये जाते हैं। मत्तविलासप्रहसन (पृ० २३-२४) में भी घूस देने की ओर संकेत मिलता है। कौटिल्य (४।४) ने समाहर्ता के लिए यह कर्तव्य निर्धारित किया है कि वह गुप्तचरों द्वारा धर्मस्थों (न्यायाधीशों), प्रदेष्टाओं (मजिस्ट्रेटों) की सचाई (ईमानदारी) की परख किया करे और दोष मिलने पर उनके लिए दण्ड की व्यवस्था करे।

सभा या न्यायालय

सभा के विषय में इस भाग के तीसरे अध्याय में हमने पढ़ लिया है। ऋग्वेद (१।१२४।७) के "गर्तारुगिव सनये धनानाम्" की व्याख्या में निरुक्त (३।५) ने लिखा है कि **गर्ता** वह काठ का तख्ता है जो सभा में रखा रहता है और जिस पर पुत्रहीन विधवा खड़ी होकर अपने पति के धन का अधिकार माँगती है।

न्यायालय के चार प्रकार थे; **प्रतिष्ठित** (जो किसी पुर या ग्राम में प्रतिष्ठित हो), **अप्रतिष्ठित** (जो एक स्थान पर प्रतिष्ठित न हो, प्रत्युत नाना ग्रामों में काल-काल पर अवस्थित हो सके), **मुद्रित** (जो राजा द्वारा नियुक्त हो और जो राजा की मुहर प्रयोग में ला सके) तथा **शासित या शास्त्रित** (सरस्वतीविलास, पृ० ६८ एवं पराशरमाधवीय ३, पृ० २४), अर्थात् वह न्यायालय जहाँ का न्याय स्वयं राजा करे। शंख एवं बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १९

२८. कुलशीलवयोवृत्तवित्तवद्भिरमत्सरैः। वणिग्भिः स्यात्कतिपयैः कुलभूतैरधिष्ठितम्॥ श्रोतारो वणिजस्तत्र कर्तव्या न्यायदर्शिनः। कात्या० मिताक्षरा (याज्ञ०, पृ० २) द्वारा उद्धृत; स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १७; पराशरमाधवीय ३, पृ० ३१; व्यवहारप्रकाश, पृ० ३१।

में उद्धृत) के अनुसार राजप्रासाद के पूर्व में न्यायालय होना चाहिए और उसका मुख पूर्व ओर होना चाहिए। न्याय-कक्ष भाँति-भाँति के फूलों, मूर्तियों, चित्रों, देवमूर्तियों आदि से सुसज्जित होना चाहिए, उसमें धूप, बीज, अग्नि, जल आदि रखे रहने चाहिए।[२९] **सभा** को **धर्माधिकरण** या केवल **अधिकरण** (मृच्छकटिक, ९ एवं कादम्बरी, ८५) कहा जाता था। इसे **धर्मस्थान** या **धर्मासन** या **सदस्** भी कहा गया है (वसिष्ठ० १६।२)। कादम्बरी (८५) ने राजप्रासाद का वर्णन किया है, जहाँ न्यायालय होता था, जिसमें धर्माधिकारी लोग बेंत के उच्च आसन पर बैठते थे। न्यायालय के कार्य का समय प्रातःकाल होता था (मनु ७।१४५, याज्ञ० १।३२७)। कौटिल्य का कहना है कि राजा को दिन के दूसरे भाग में जनता के मामलों को देखना चाहिए और इसी लिए उसने दिन को आठ भागों में बाँटा है। यही बात दशकुमारचरित में भी पायी जाती है (८, पृ० १३१)। कात्यायन के अनुसार प्रातः साढ़े सात बजे से दोपहर तक का समय उचित माना गया है। उसने भी दिन को आठ भागों में बाँटा है (६१-६२)। छुट्टियों के दिन न्याय-कार्य नहीं होता था, यथा--अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा अमावस्या के दिनों में। बृहस्पति के अनुसार सभा के दस अंग थे--राजा, राजा द्वारा नियुक्त मुख्य न्यायाधीश, सभ्य, स्मृति, गणक (एकाउण्टेण्ट), लेखक, सोना, अग्नि, जल तथा स्वपुरुष (साध्यपाल)। मुख्य न्यायाधीश व्यवहार (कानून) का उद्घोष करता है; राजा दण्ड देता है; सभ्य लोग मामलों की जाँच करते हैं; स्मृति अर्थात् धर्मशास्त्र निर्णय, हार एवं दण्ड की विधि बताता है; सोना एवं अग्नि शपथ के लिए होते हैं, जल प्यास लगने पर पीने के लिए होता है, गणक धन या मामले के विषय की गणना करता है; लिपिक (लेखक) कार्यवाही लिखता है, यथा--कथनोपकथन, निर्णय आदि; पुरुष सभ्यों, प्रतिवादी, साक्षियों को बुलाता है और जमानत न देने वाले वादी एवं प्रतिवादी की देख-रेख करता है। सभा के दस अंगों को क्रम से सिर, मुख, बाहु, हाथ, जंघाएँ (गणक एवं लेखक), आँखें (सोना एवं जल), हृदय एवं पैर कहा गया है (बृहस्पति, व्यवहारप्रकाश, पृ० ३१; हारीत, राजनीतिरत्नाकर, पृ० २०)। न्याय-कक्ष में राजा पूर्वाभिमुख बैठता है, सभ्य, गणक एवं लेखक क्रम से उत्तर, पश्चिम एवं दक्षिण में बैठते हैं। कुछ ग्रन्थों में राजा एवं मुख्य न्यायाधीश की गणना नहीं की गयी है और सभा के केवल आठ अंग कहे गये हैं (सरस्वतीविलास, पृ० ७२)। मुख्य न्यायाधीश, सभ्य एवं विद्वान् ब्राह्मण लोग वृद्ध व्यक्ति होते थे (नारद, १८; उद्योगपर्व ३५।५८)।

प्राचीन भारतीय व्यवहार-पद्धति का परिचय मृच्छकटिक नाटक (अंक ९) में मिल जाता है। इस नाटक का काल ईसा के उपरान्त चौथी या पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। इस नाटक में वर्णित बातों की तुलना नारद, बृहस्पति एवं कात्यायन की बातों से की जा सकती है, क्योंकि ये स्मृतिकार उक्त नाटक-काल के आसपास ही हुए थे। सामान्य बातें बहुत अंशों में मिलती हैं, केवल छोटी-मोटी बातों में ही कुछ हेर-फेर पाया जाता है। बातें निम्नोक्त हैं। न्यायालय-कक्ष को **अधिकरण** कहा जाता था; मुख्य न्यायाधीश का नाम **अधिकरणिक** था; उसे श्रेष्ठी (प्रसिद्ध व्यापारी एवं वणिक लोग) एवं **कायस्थ** सहायता देते थे; इन तीनों को **अधिकृत** या **नियुक्त** (राजा द्वारा नियुक्त) भी कहा जाता था; यदि राजा निरंकुश होता था तो न्यायाधीश की स्थिति डावाँडोल रहती थी, वह उसकी इच्छा पर निर्भर रहता था। एक भृत्य होता था जो आसन ठीक करता था और मुकदमेबाजों की टोह लेता था। यह भृत्य शास्त्रों में वर्णित

२९. माल्यधूपासनोपेतां बीजरत्नसमन्विताम्। प्रतिमालेख्यदेवैश्च युक्तामग्न्यम्बुना तथा।। बृहस्पति (राजधर्मकाण्ड, पृ० ३०), स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १९ एवं व्यवहारनिर्णय, पृ० ५१। सम्भवतः ऐसे ही प्रतिमा-चित्रसुशोभित कक्ष का वर्णन कुन्दमाला नामक नाटक में आया है। देखिए कादम्बरी (८५)--अधिकरणमण्डपगतश्चार्यवेषैरत्युच्चवेत्रासनोपविष्टैर्धर्मसमयैरिव धर्माधिकारिभिर्महापुरुषैरधिष्ठितम् (राजकुलम्)।

पुरुष या साध्यपाल ही है। न्यायाधीश मुकदमों के विषय में पूछताछ करते थे। मुख्य न्यायाधीश **श्रेष्ठी** तथा **कायस्थ** से वादी के मुकदमे की महत्त्वपूर्ण बातें लिख लेने को कहता था। कोई भी व्यक्ति (जो रिश्तेदार नहीं होता था) किसी हत्या का समाचार ला सकता था। बूढ़े तथा अन्य सम्मानित व्यक्ति आसन ग्रहण कर सकते थे। न्यायालय के पास ही मन्त्री, दूत, गुप्तचर, एक हाथी, एक अश्व (समाचार लाने के लिए, यथा--मरा हुआ व्यक्ति कथित स्थान पर है कि नहीं) एवं कायस्थ लोग रहते थे। परिस्थितिजन्य साक्षी मिल जाने पर अपराधी से अपराध स्वीकार करने को कहा जाता था, ऐसा न करने पर उसे कोड़ा मारा जा सकता था, न्यायाधीश को निर्णय की घोषणा करनी पड़ती थी और तदनुकूल दण्ड-विधान करना होता था एवं राजा को उचित दण्ड के विषय में अन्तिम निर्णय देना पड़ता था। मनुस्मृति को ही सर्वोच्चता प्राप्त थी। ब्राह्मण अपराधी को फाँसी का दण्ड नहीं मिलता था, किन्तु उसे धन के साथ निष्कासित किया जा सकता था। कुछ राजा इस नियम का पालन नहीं भी करते थे। चांडाल फाँसी देते थे। अग्नि, जल, विष एवं तुला द्वारा निर्दोषिता सिद्ध की जा सकती थी, किन्तु साक्षियों एवं परिस्थितिजन्य बातों की पुष्टि के रहते इन विधियों का सहारा नहीं भी लिया जा सकता था।

ऊपर जिस न्यायालय का वर्णन हुआ है वह सबसे बड़ा न्यायालय था। स्मृतियों एवं निबन्धों में अन्य न्यायालयों का वर्णन भी मिलता है। याज्ञ० (२।३०) एवं नारद (१।७) का कहना है कि मुकदमों का फैसला **कुलों** (गाँव की पंचायतों), **श्रेणियों**, सभाओं (**पूगों**) तथा **गणों** द्वारा भी होता था। उच्च से निम्न न्यायालयों का क्रम यों था--राजा, न्यायाधीश, गण, पूग, श्रेणी एवं कुल। इन शब्दों की व्याख्या के लिए देखिए मेधातिथि (मनु ८।२), मिताक्षरा एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० २९), स्मृतिचन्द्रिका, अपरार्क, मनु (७।११९ पर कुल्लूक) गुप्त संवत् १२४ वाला दामोदरपुर पत्रक (एपिग्रैफिया इण्डिका १५, पृ० १३०), एपिग्रैफिया इण्डिका (१७, पृ० ३४८), व्यवहारमातृका (पृ० २८०), स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० १८), पराशरमाधवीय (३, पृ० ३५२) आदि। मेधातिथि के अनुसार 'कुलानि' का अर्थ है 'रिश्तेदारों का दल', कुछ लोग इससे 'मध्यस्थ पुरुष' समझते हैं। 'गण' का अर्थ है 'गृह-निर्माण करने वाले या मठों में रहने वाले ब्राह्मण।' मिताक्षरा एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० २९) के मत से 'कुलानि' का तात्पर्य है 'रिश्तेदारों, एक ही कुल के लोगों एवं सम्बन्धियों या मुकदमेबाजों की सभा या संघ।' स्मृतिचन्द्रिका के मत से इसका अर्थ है 'दलों (मुकदमा लड़ने वाले दलों) के कुटुम्ब (एक ही कुल या खानदान) के लोग। अपरार्क के अनुसार इसका अर्थ है 'कृषिकर्म करने वाले'। यह भी सम्भव है कि 'कुलानि' का तात्पर्य उन राजकर्मचारियों से हो, जो आठ या दस ग्रामों पर शासन करते थे और उन्हें वेतन के रूप में भूमि से उत्पन्न उपज का एक कुल प्राप्त होता था। मनु (७।११९), मनु के टीकाकार कुल्लूक एवं दामोदरपुर पत्रक (गुप्त संवत् १२४) के अनुसार 'विषयपति' अर्थात् जिले के मालिक को 'नगरश्रेष्ठी', 'प्रथमकुलिक' एवं 'प्रथम-कायस्थ' (एपिग्रैफिया इण्डिका १५, पृ० १३०) सहायता देते थे। इस विषय में और देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, १७, पृ० ३४५ एवं ३४८ जहाँ कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल में 'ग्रामाष्ट-कुलाधिकरणम्' नामक वाक्यांश के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय (गुप्त संवत् ९३ अर्थात् ४१२-१३ ई० सन्) के साँची वाले शिलालेख से प्रकट होता है कि 'पंचायत' को उन दिनों 'पंचमण्डली' (गुप्ताभिलेख, पृ० २९, ३१) कहा जाता था। बहुत-से टीकाकारों के मत से 'श्रेणी' का अर्थ है वह संघ या समुदाय जो एक ही प्रकार की वृत्ति (पेशा) या शिल्प करने वालों का हो, यथा--घोड़ों का व्यापार करने वालों, बरइयों (पान बेचने वालों), जुलाहों, खाल बेचने वालों का संघ। जीमूतवाहन कृत व्यवहारमातृका (पृ० २८०) के अनुसार 'श्रेणी' शिल्पकारों एवं व्यापारियों का संघ है। 'पूग' एक ही ग्राम या बस्ती में रहने वाली विभिन्न जातियों एवं विभिन्न वृत्तियाँ करने वालों के समुदाय को कहते हैं। कात्यायन (२२५ एवं ६८२) ने 'गण' एवं 'पूग' में भेद किया है और उन्हें क्रम से 'कुलों का संघ' तथा 'व्यापारियों का संघ' कहा है। व्यवहारप्रकाश (पृ० ३०) ने 'गण' एवं 'पूग' को एकार्थक (पर्याय) माना है।

राजा अन्तिम न्यायकर्ता था और उसके नीचे का न्यायालय उसके द्वारा नियुक्त न्यायाधीशों का न्यायालय था। बृहस्पति का कहना है कि साहस नामक मामलों के अतिरिक्त सभी प्रकार के मुकदमों का फैसला कुल, श्रेणी एवं गण कर सकते थे, किन्तु निर्णयों को कार्यान्वित करने का अधिकार राजा को ही प्राप्त था।[३०] पितामह (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १९, पराशरमाधवीय ३, पृ० ४२) ने तीन प्रकार के न्यायालयों की ओर संकेत किया है, किन्तु याज्ञ० एवं नारद ने दो न्यायालयों की चर्चा की है; (१) मुख्य न्यायाधीश का न्यायालय एवं (२) स्वयं राजा का न्यायालय। पितामह ने लिखा है—ग्राम में किया गया निर्णय नगर में पहुँचता है और नगर वाला निर्णय राजा के पास जाता है; राजा का निर्णय गलत है या सही, वही अन्तिम होता है।[३१] बृहस्पति ने स्पष्ट लिखा है कि 'सभ्य' लोग कुलों (कुलानि) तथा अन्य लोगों से श्रेष्ठ होते हैं, मुख्य न्यायाधीश सभ्यों से तथा राजा सबसे श्रेष्ठ होता है। उपर्युक्त न्यायालयों के अतिरिक्त कौटिल्य ने ग्रामिक (ग्रामकूट) का भी नाम लिया है। ग्रामिक लोगों को ग्राम से चोरी या मिलावट करने वालों (३।१०) को बाहर कर देने का अधिकार था, और वे छोटे-मोटे अपराधों को देख सकते थे (ग्रामकूटमध्यक्षं वा सत्री ब्रूयात्... आदि, ४।४)। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० १८) में उद्धृत भृगु के मत तथा अन्य निबन्धों के मत से पता चलता है कि सामान्य लोगों के लिए दस प्रकार के न्यायालय थे—ग्राम-जन, राजधानी के नागरिकों की सभा, गण, श्रेणि, चारों वेदों या विद्याओं (आन्वीक्षिकी आदि) के पण्डित, 'वर्गों वाले' लोग, कुल, कुलिक, राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधीश एवं स्वयं राजा। 'वर्ग वाले' लोगों के दल में गणों, पूगों, व्रातों, श्रेणियों आदि के लोग सम्मिलित रहते थे। 'कुलिक' लोग वादी एवं प्रतिवादी के कुलों के श्रेष्ठ जन होते थे। दामोदरपुर पत्रक (एपिग्रैफिया इण्डिका, १५, पृ० १३०) में धृतिमित्र नामक 'प्रथम कुलिक' का उल्लेख हुआ है।

राजा को स्मृतियों के अनुसार ही झगड़ों का निर्णय करना होता था। उसे वर्णों एवं १८ हीन जातियों (मनु ८।४१ एवं हारीत) के कर्तव्यों एवं परम्पराओं पर ध्यान देना पड़ता था। वर्णाश्रमों के अतिरिक्त अठारह हीन जातियों के नाम पितामह द्वारा गिनाये गये हैं—रजक (धोबी), चर्मकार, नट, बुरुड (बाँस के सामान बनाने वाली जाति), कैवर्त (केवट या मछुआ), म्लेच्छ, भिल्ल, आभीर, मातंग तथा अन्य नौ जातियाँ (इनके नाम नहीं दिये जा रहे हैं, क्योंकि पितामह की स्मृति में उपलब्ध यह अंश अशुद्ध रूप में प्राप्त है)।

उपर्युक्त न्यायालय-कोटियाँ प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में सदा एक-समान नहीं पायी जाती थीं। किन्तु एक बात स्पष्ट है कि राजा द्वारा नियुक्त मुख्य न्यायाधीश तथा स्वयं राजा के न्यायालय सदैव पाये जाते रहे हैं। अन्य न्यायालय-कोटियों के विषय में परम्पराओं में अन्तर पाया जाता था।

न्याय-कार्यविधि

मनु (८।२३) के अनुसार राजा को भली भाँति सज्जित होकर, शांत रूप से न्यायालय में आना पड़ता था और देवों एवं आठ दिक्पालों को प्रणाम करने के उपरान्त न्याय-सम्बन्धी कार्य करना होता था। न्याय-कार्य के चार स्तर

३०. वाग्दण्डो धिग्दमश्चैव विप्रायत्तावुभौ स्मृतौ। अर्थदण्डवधावुक्तौ राजायत्तावुभावपि।। राज्ञा ये विदिता सम्यक्कुलश्रेणिगणादयः। साहसन्यायवर्ज्यानि कुर्युः कार्याणि ते नृणाम्।। बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, २०; पराशरमाधवीय ३, पृ० ३२; सरस्वतीविलास, पृ० ६८; व्यवहारसार, पृ० २२)।

३१. ग्रामे दृष्टः पुरं यायात्पुरे दृष्टस्तु राजनि। राज्ञा दृष्टः कुदृष्टो वा नास्ति तस्य पुनर्भवः।। पितामह (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १९; पराशरमाधवीय ३, पृ० ४२)।

होते थे; किसी व्यक्ति से सूचना प्राप्त करना, उस सूचना को व्यवहारपदों के अनुकूल किसी एक में रखना, दोनों दलों की बहसों एवं साक्षियों पर विचार करना तथा निर्णय करना (नारद १।३६)। जब वादी समय पर उपस्थित होता है और प्रणाम करता है तो राजा या न्यायाधीश पूछता है—"क्या कार्य है? तुम्हें किस प्रकार की पीड़ा दी गयी है? बिल्कुल न डरो, बोलो किसने, कब और क्यों पीड़ा दी?" इस प्रकार पूछे जाने पर जो कुछ प्रत्युत्तर मिलता है उस पर न्यायाधीश सभ्यों एवं ब्राह्मणों के साथ विचार करता है। यदि यह न्याय के भीतर रखे जाने योग्य समझा जाता है तो न्यायाधीश वादी को मुहरबन्द आदेश देता है या पुरुष द्वारा प्रतिवादी को बुला भेजता है। जो कुछ वादी द्वारा कहा जाता है, भले ही वह स्नेह, क्रोध या लोभ के आवेश में आकर कहा गया हो, लिख लिया जाता है (नारद २।१८)। निम्नलिखित लोगों को न्यायालय में नहीं बुलाया जाता था—'रोगी, नाबालिग, अत्यधिक वृद्ध (७० वर्षीय व्यक्ति), विपत्तिग्रस्त, धार्मिक कृत्य में संलग्न व्यक्ति, जिसके आने से सम्पत्ति की हानि हो, दुर्भाग्य (मृत्यु आदि) ग्रस्त, राजकर्म में लिप्त, नशे में चूर, पागल, नौकर, स्त्री (नवयुवती, जिसका परिवार विपत्ति-ग्रस्त हो, जो उच्च कुल की हो या जिसने अभी हाल में बच्चा जना हो या जो वादी की जाति से ऊँची जाति की हो)। नारद (१।५३) के मत से गाय चराने की ऋतु में गोरखियों (गोरक्षकों या गाय चराने वालों), बोने के समय कृषकों, शिल्पकारों (जब कि वे कार्य-संलग्न हों) एवं युद्धसंकुल योद्धाओं को स्वयं उपस्थित होने के लिए नहीं बुलाना चाहिए। इन लोगों के स्थान पर उनके प्रतिनिधियों से काम चल जाता था। हत्या, चोरी, बलात्कार, निषिद्ध भोजन करने, सिक्का बनाने आदि के अपराधों में अपराधियों को सुरक्षापूर्वक लाया जाता था। किन्तु वे नारियाँ जो अपने परिवार का भरण-पोषण स्वयं करती थीं, वे जो भ्रष्टचरित थीं अथवा अकेली थीं या जो जातिच्युत थीं उन्हें कचहरी में स्वयं आना पड़ता था। बुलाये जाने पर आने योग्य व्यक्तियों के न आने पर झगड़े वाली सम्पत्ति के अनुसार उसे दण्ड भरना पड़ता था (देखिए कात्यायन १००-१०१, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३४ एवं अपरार्क पृ० ६०७)। जुर्माना लेने के पश्चात् एक मास तक प्रतीक्षा करने के उपरान्त प्रतिवादी के दोष के कारण वादी के पक्ष में निर्णय दे दिया जाता था। किन्तु यदि निश्चित या नियत तिथि के उपरान्त प्रतिवादी उपस्थित होता था तो मुकदमा पुनः खुल सकता था। इतना ही नहीं, शत्रु के आक्रमण, दुर्भिक्ष, महामारी या किसी रोग के समय राजा पुनः बुलाने की सूचना देता था, न कि अनुपस्थित रहने पर दण्डित करता था। गम्भीर अपराधों में अपराधी को स्वयं उपस्थित होना पड़ता था।

वकील—क्या प्राचीन भारत में वकील होते थे? स्मृतियों से तो यह बात नहीं प्रकट हो पाती, किन्तु यह स्पष्ट है कि स्मृति-विधानों में पारंगत लोग कचहरी में नियुक्त रहते थे और वे किसी दल के मुकद्दमे की पैरवी अवश्य करते रहे होंगे। नारद, बृहस्पति एवं कात्यायन द्वारा उपस्थापित विधान इतना नियमबद्ध था कि बिना दक्ष अथवा स्मृति-पारंगत लोगों की सहायता के मुकदमे का कार्य नहीं चल सकता था। शुक्र० (४।५।११४-११७) में निम्नलिखित बात पायी जाती है—जो व्यक्ति किसी पक्ष का प्रतिनिधित्व करता था उसे झगड़े की सम्पत्ति का $\frac{१}{१६}$, $\frac{१}{२०}$, $\frac{१}{४०}$, $\frac{१}{८०}$, या $\frac{१}{१६०}$ भाग मिलता था....। प्रतिनिधि की नियुक्ति किसी पक्ष द्वारा ही होती थी, न कि यह राजा की इच्छा पर निर्भर रहती थी। यदि प्रतिनिधि के लोभ के कारण मुकदमे में असफलता मिलती थी तो उसे अर्थ-दण्ड मिलता था। मिलिन्द पञ्हो (जिल्द ३६, पृ० २३८) से भी प्रकट होता है कि प्राचीन काल में वकील (धम्मपणिक) होते थे।

वादी चाहे तो प्रतिवादी की गतिविधि पर व्यवधान उपस्थित कर सकता था, क्योंकि ऐसा न करने से प्रतिवादी भाग सकता है, कोई बहाना ढूँढ़कर झगड़े वाली सम्पत्ति का दुरुपयोग कर सकता है। इस प्रकार के प्रतिरोध की आसेध संज्ञा थी। मिताक्षरा (याज्ञ० २।५) में आसेध के चार प्रकार बताये गये हैं; (१) **स्थानासेध** (घर या मन्दिर से अन्यत्र न जाने की आज्ञा), (२) **समयासेध** (किसी नियत तिथि पर उपस्थित होने की आज्ञा), (३) **प्रवासासेध** (किसी प्रकार की यात्रा करने पर निषेध) तथा (४) **कार्यासेध** (यथा सम्पत्ति के बेचने या खेत जोतने का निषेध)। ये आसेध विवाद

चलते समय तक रहते थे। इस विषय में देखिए नारद (१।४७-५४), बृहस्पति (व्यवहारप्रकाश, पृ० ४२, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३०-३१ में उद्धृत), कात्यायन (१०३-११०)। किन्तु उन लोगों पर, जिन्हें नियमानुकूल उपस्थित होना कोई आवश्यक नहीं था, आसेध के नियम लागू नहीं होते थे।

जब प्रतिवादी बुला लिया जाता था तो वादी के साथ उसे न्यायाधीश के समक्ष खड़ा कर दिया जाता था। तब दोनों की ओर से जमानतें (प्रतिभूति) होती थीं। प्रतिवादी के जमानतदार को प्रतिवादी पर लगा अर्थदण्ड देना पड़ता था (यदि प्रतिवादी अर्थ-दण्ड न दे और कहीं भाग जाय तभी ऐसा होता था)। यदि वादी का दावा झूठा सिद्ध हो जाय तो उसके जमानतदार को झगड़े की सम्पत्ति का दूना अर्थ-दण्ड देना पड़ता था (याज्ञ० २।१०-११)। यदि जमानतदार न मिले तो वादी या प्रतिवादी को न्यायालय के साध्यपाल की हिरासत में रहना पड़ता था और उसे साध्यपाल को उसकी प्रति दिन की वेतन-रकम देनी पड़ती थी।[३२] निम्नलिखित व्यक्ति जमानतदार नहीं हो सकते थे——स्वामी (यदि वादी या प्रतिवादी उसका नौकर हो), शत्रु, स्वामी द्वारा अधिकृत व्यक्ति, बन्दी, दण्डित व्यक्ति, बड़े-बड़े पापों एवं अपराधों के दोषी, कुटुम्ब-सम्पत्ति का साझीदार, मित्र, नैष्ठिक ब्रह्मचारी, जो राजा का कार्य करने के लिए नियुक्त किया गया हो, संन्यासी, जो उतना अर्थ-दण्ड न दे सके, जीवित पिता वाला व्यक्ति, वह जो जमानत वाले व्यक्ति को उभाड़े तथा जिसके विरोध में बहुत-सी बातें ज्ञात हों। यदि कोई व्यक्ति जमानत न मिलने पर हिरासत में रखा जाता तो उसे दिनचर्या-सम्बन्धी आवश्यक कार्य (यथा——स्नान, सन्ध्या, वन्दन आदि) करने दिये जाते थे। यदि वह हिरासत से भाग जाय तो उसे आठ पण दण्ड के रूप में देने पड़ते थे (कात्यायन ११९, पराशरमाधवीय द्वारा उद्धृत ३, ५८)।

जब प्रतिवादी न्यायालय में उपस्थित होता है तो वादी द्वारा दी गयी सूचना उसकी उपस्थिति में वर्ष, मास, पक्ष, दिन, दलों के नाम, जाति आदि के साथ लिखी जाती है (याज्ञ० २।६)। जब वादी प्रथम बार कचहरी में आता है तो केवल विवाद का विषय मात्र लिखा जाता है; जब प्रत्यर्थी अथवा प्रतिवादी आता है तो सारी बातें ब्यौरेवार लिखित होती हैं। इस कार्य को स्मृतियों में **पक्ष, भाषा, प्रतिज्ञा** आदि की संज्ञा से बोधित किया जाता है।[३३] कहीं-कहीं पक्ष के लिए 'पूर्वपक्ष' लिखा जाता है (कात्यायन १३१, नारद २।१)। 'वादी' एवं 'प्रतिवादी' शब्द सामान्यतः क्रम से 'प्लेंटिफ' एवं 'डिफेण्डेण्ट' के लिए प्रयुक्त होते थे, किन्तु कभी-कभी 'वादी' शब्द मुकदमेबाजों ('प्लेंटिफ' या 'डिफेण्डेण्ट' दोनों) के लिए भी प्रयुक्त होता था। 'अर्थी' (जो न्यायालय की सहायता की माँग करता है) एवं 'अभियोक्ता' 'वादी' के पर्याय शब्द हैं। इसी प्रकार 'प्रत्यर्थी' एवं 'अभियुक्त' 'प्रतिवादी' के पर्याय शब्द हैं। उपर्युक्त 'पक्ष', 'भाषा' एवं 'प्रतिज्ञा' शब्द 'प्लैण्ट' के द्योतक हैं। कात्यायन (१३०-१३१) के अनुसार न्यायाधीश पक्ष (भाषा, प्रतिज्ञा या प्लैण्ट) को बड़ी सावधानी से लिखित कराता है। इस विषय में विशेष वर्णन के लिए देखिए, कात्यायन (१३०-१३१), व्यवहारतत्त्व (पृ० २०५), मृच्छकटिक (अंक ९), नारद (२।७), कौटिल्य (३।१); और देखिए, कात्यायन (१२७-१२८), मिताक्षरा (याज्ञ० २।६), अपरार्क (पृ० ६०८), बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका पृ० ३६ एवं व्यवहारमयूख पृ० २९४)। ये नियम इण्डियन प्रोसीड्योर कोड, आर्डर ७ नियम-१-५ में भी पाये जाते हैं।

३२. अथ चेत्प्रतिभूर्नास्ति कार्ययोग्यस्तु वादिनः। स रक्षितो दिनस्यान्ते दद्याद् भृत्याय वेतनम्।। कात्यायन (मिताक्षरा द्वारा उद्धृत, याज्ञ० २।१०, एवं व्यवहारप्रकाश द्वारा उद्धृत, पृ० ४४)।

३३. आवेदनसमये कार्यमात्रं लिखितं प्रत्यर्थिनोऽग्रतः समामासादिविशिष्टं लिख्यते इति विशेषः। भाषा प्रतिज्ञा पक्ष इति नार्थान्तरम्। मिताक्षरा (याज्ञ० २।६)।

शुल्क या फीस

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि प्राचीन भारत में मारपीट या फौजदारी के विवादों में कोई न्यायालय-शुल्क नहीं देना पड़ता था। जो अपराधी सिद्ध होता था उसे स्मृतियों द्वारा निर्धारित एवं निर्णीत दण्ड भरना पड़ता था। यही बात माल के विवादों में भी लागू होती थी और आरम्भ में कुछ भी नहीं देना पड़ता था। कौटिल्य (३।१), याज्ञ०, विष्णु-धर्मसूत्र, नारद आदि के कुछ नियमों द्वारा यह प्रकट होता है कि विवाद के निर्णय के उपरान्त कुछ ऐसा धन देना पड़ता था जिसे हम न्यायालय-शुल्क की संज्ञा दे सकते हैं। मनु (८।५९ एवं १३९) ने भी इस विषय में नियम दिये हैं। और भी देखिए, याज्ञ० (२।३३, १७१ एवं १८८) तथा कौटिल्य (३।१)। आजकल न्यायालय-शुल्क आदि इतना अधिक है और विवाद-निर्णय में इतना अधिक समय लगता है कि वादी एवं प्रतिवादी नष्टप्राय हो जाते हैं। आजकल उचित रसीदी टिकट न लगने पर आवेदन अस्वीकृत हो जाते हैं। प्राचीन भारत में इस विषय में सुविधाएँ प्राप्त थीं और विवादों के निर्णय में अधिक समय नहीं लगता था। इस विषय में देखिए, कौटिल्य (३।१), मनु (८।५८), याज्ञ० (२।१२), नारद (१।४५), पितामह (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ४२) जहाँ विवाद के स्थगन आदि के समय की ओर संकेत है। गौतम (१३।२८-३०), अपरार्क (पृ० ६१९), स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ४२), पराशरमाधवीय (३, पृ० ६९-७२) ने विवाद-स्थगन के विषय में नियम दिये हैं। देरी करने से न्याय की मृत्यु हो जाती है।[३४]

किसी भी मुकदमे का अनुक्रम निम्नलिखित प्रकार का है--सर्वप्रथम वादी, अर्थी या अभियोक्ता अपना आवेदन प्रस्तुत करता है; तब प्रतिवादी, प्रत्यर्थी या अभियुक्त प्रत्युत्तर उपस्थित करता है। इन दोनों क्रियाओं के उपरान्त न्यायालय के सदस्य विचार-विमर्श करते हैं और इसके उपरान्त न्यायाधीश बोलता है (कात्यायन १२१, अपरार्क पृ० ६११, पराशरमाधवीय ३, पृ० ५८)। ये ही **चार पाद** कहे जाते हैं। इन्हीं को याज्ञ० (२।६-८) एवं बृहस्पति ने **भाषापाद** (प्लैण्ट), **उत्तरपाद** (प्रत्युत्तर), **क्रियापाद** (साक्षी या प्रमाण उपस्थित करना) तथा **साध्यसिद्धि** या **निर्णय** के नामों से पुकारा है। कात्यायन (३१) ने इन्हें क्रम से **पूर्वपक्ष, उत्तर, प्रत्याकलित** एवं **क्रिया** कहा है। प्रत्याकलित का अर्थ है प्रमाण या साक्षी के विषय में सभ्यों के बीच विचार-विमर्श। यदि कई आवेदन एक साथ उपस्थित हो जाते हैं तो वर्ण के क्रम से उन पर विचार होता है, अर्थात् सर्वप्रथम ब्राह्मण के आवेदन पर विचार होता है (मनु ८।२४))। कौटिल्य (१।१९) ने यह क्रम दिया है--मन्दिर या मूर्ति, संन्यासी, वेदज्ञ ब्राह्मण, पशु एवं तीर्थस्थान, नाबालिग, बूढ़े, रोगग्रस्त या विपत्तिग्रस्त या असहाय एवं स्त्री के मुकदमे इसी क्रम से देखे जाने चाहिए, या जिसकी अत्यधिक गुरुता हो। किन्तु कात्यायन (१२२) ने उस विवाद को प्राथमिकता दी है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक अनिष्ट हो अथवा जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो। इस विषय में और देखिए कौटिल्य (३।२०)।

सभी प्रकार के **भाषापाद** नहीं भी उपस्थित हो सकते थे। समय, स्थान, द्रव्य आदि के स्पष्ट विवरण के अभाव में बहुत-से दावे विचार के विषय नहीं बन सकते थे। देखिए कात्यायन (१३६, अपरार्क पृ० ६०९), मिताक्षरा (याज्ञ० २।६) एवं पराशरमाधवीय (३,६१)। नारद (२।८) ने भी भाषापाद (प्लैण्ट) के दोष गिनाये हैं और उनकी व्याख्या की है (२।९-१४)। बृहस्पति ने लिखा है कि गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, पति-पत्नी तथा स्वामी-सेवक के बीच मुकदमे नहीं हो सकते। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन जोड़ियों में मुकदमे नहीं होते, भाव केवल इतना ही है कि जहाँ

३४. न कालहरणं कार्यं राज्ञा साधनदर्शने। महान् दोषो भवेत्कालाद् धर्मव्यापत्तिलक्षणः।। दद्याद्देशानुरूपं तु कालं साधनदर्शने। उपाधिं वा समीक्ष्यैव दैवराजकृतं सदा।। शुक्र० ४।५।१६७ एवं २०९। यही बात कात्यायन (३३९) में भी पायी जाती है (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ९२, व्यवहारमातृका, पृ० ३०६, सरस्वतीविलास, पृ० १४८)।

तक सम्भव हो इन्हें टाल देना चाहिए। किन्तु यदि मनाने पर वे न मानें तो उनके झगड़ों का निपटारा होना ही चाहिए। ऐसे मुकदमे श्रेयस्कर नहीं माने जाते, प्रत्युत वे निन्दा के योग्य ठहरते हैं। निरर्थक विवादों को दोषयुक्त कहा गया है। स्वल्प अपराध या स्वल्प अर्थ वाले विवाद निरर्थक कहे जाते हैं (बृहस्पति, जैसा कि सरस्वतीविलास पृ० ८७ एवं स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३७ में उद्धृत है)।

जब भाषापाद (प्लैण्ट) अन्तिम रूप पकड़ लेता है तब प्रतिवादी वादी की उपस्थिति में लिखित रूप से **उत्तर** देता है या प्रतिपक्ष उपस्थित करता है (याज्ञ० २।७ एवं नारद २।२)। इसके लिए प्रतिवादी को समय मिलता है। प्रतिपक्ष स्पष्ट, विरोधरहित शब्दों से गुम्फित होना चाहिए। उत्तर या प्रतिपक्ष के चार प्रकार होते हैं; **मिथ्या** (पक्ष या भाषापाद को न स्वीकार करना), **सम्प्रतिपत्ति या सत्य** (भाषापाद को स्वीकार कर लेना), **कारण** या **प्रत्यवस्कन्दन** (सकारण उत्तर देना या विकल्प देना) तथा **प्राङ्न्याय** या **पूर्वन्याय** (पूर्व निर्णय उपस्थित करना)।

शासकीय आलेख्य

प्रमाण-पत्र कई प्रकार के होते थे। विष्णुधर्मसूत्र (७।२) में इसके तीन प्रकार हैं--(१) वह जो राजा के समक्ष लिखा जाय (अर्थात् राजकर्मचारियों के सम्मुख लिखा हुआ), (२) वह जिस पर साक्षियों के हस्ताक्षर हों तथा (३) वह जो बिना साक्षियों के हस्ताक्षर का हो। प्रथम प्रकार आजकल के रजिस्टर्ड डाकूमेण्ट के समान था। बृहस्पति (व्यवहारप्रकाश पृ० १४१ एवं व्यवहारमयूख पृ० २४) ने भी तीन प्रकार बतलाये हैं, यथा--राजकीय लेख्यप्रमाण (राज्यलेख्य), किसी निश्चित स्थान पर लिखा हुआ (स्थानकृत) तथा अपने हाथ का लिखा हुआ (स्वहस्त-लिखित)। नारद (४।१३५) ने केवल दो प्रकार दिये हैं--स्वहस्त-लिखित एवं दूसरे के हाथ से लिखित; जिनमें प्रथम प्रकार बिना साक्ष्य के भी प्रमाणयुक्त माना जाता है, किन्तु दूसरे पर साक्ष्य होना आवश्यक माना जाता है। संग्रह के लेखक, मिताक्षरा (याज्ञ० २।८४) आदि ने प्रमाण-पत्रों को दो भागों में बाँटा है; **राजकीय** एवं **जानपद**। इन दोनों में प्रथम तो **पब्लिक** और दूसरा **प्राइवेट** कहा जा सकता है। व्यवहारमयूख (पृ० २४) के मत से **लौकिक** एवं **जानपद** पर्यायवाची हैं। जानपद लेखप्रमाण दो प्रकार का होता है--**स्वहस्त-लिखित** तथा **अन्य-हस्तलिखित**, जिनमें प्रथम के लिए साक्षियों के प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, किन्तु दूसरे पर साक्षियों का प्रमाण अनिवार्य है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२२) में दो प्रकार हैं; **शासन** एवं **चिरक**। **शासन** याज्ञ० (१।३१८-३२०) द्वारा वर्णित **राजकीय** ही है तथा **चिरक जानपद** के समान है। याज्ञ० (२।८९) की टीका में मिताक्षरा का कथन है कि राजकीय लेखप्रमाण सुन्दर संस्कृत में लिखित होना चाहिए, किन्तु साधारण जनता द्वारा प्रस्तुत लेखप्रमाण (डीड) जनभाषा या स्थानीय भाषा में भी प्रस्तुत किया जा सकता है।

राजकीय लेखप्रमाण तीन प्रकार के होते हैं; **शासन** (राजकीय भूमि अर्थात् राजा द्वारा दी गयी भूमि का ब्यौरा) अर्थात् राजप्रदत्त भूमि का पत्रक, **जयपत्र** (किसी मुकदमे की जीत का फैसला), **प्रसाद-पत्र** (बहादुरी के इनाम एवं भक्तवत्सलता पर राजा द्वारा दिये गये पुरस्कार का लेखप्रमाण)। वसिष्ठ (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ५५ एवं व्यवहारमयूख पृ० २८) ने राजकीय लेखप्रमाण के चार स्वरूप बताये हैं--**शासन**, **जयपत्र**, **आज्ञापत्र** (सामन्तों तथा अन्य कर्मचारियों को दी गयी आज्ञाएँ) तथा **प्रज्ञापनापत्र** (यज्ञ कराने वालों, पुरोहित, गुरु, वेदज्ञ ब्राह्मणों तथा अन्य श्रद्धास्पद लोगों के लिए लिखित प्रार्थना)। सरस्वतीविलास (पृ० १११-११३) में पाँच प्रकार बताये गये हैं--**शासन, जयपत्र, आज्ञापत्र, प्रज्ञापनापत्र** तथा **प्रसादपत्र**। कौटिल्य (२।१०) ने कई प्रकार की राजाज्ञाओं के नाम दिये हैं; **प्रज्ञापना** (किसी की प्रार्थना का आवेदन), **आज्ञापत्र**, **परिदान** (सुपात्र को समादर या विपत्ति में भेंट), **परिहार** (राजा द्वारा कुछ जातियों अथवा ग्रामों की मालगुजारी या कर की माफी करना), **निसृष्टिलेख** (वह लेख जिसके द्वारा राजा किसी विश्वासपात्र व्यक्ति की क्रियाओं अथवा शब्दों को अपना लेता है), **प्रावृत्तिक** (किसी होने वाली घटना की सूचना या

शत्रु आदि के विषय में समाचार देना), **प्रतिलेख** (किसी से प्राप्त सन्देश पर राजा से विचार-विमर्श कर उत्तर देना) तथा **सर्वत्रग** (यात्रियों के कल्याण के लिए राजकर्मचारियों को आज्ञा देना)।

जानपद लेख के कई प्रकार होते हैं; बृहस्पति (अपरार्क पृ० ६८३, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ६०) के अनुसार सात, व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ५९) के अनुसार आठ प्रकार हैं। स्मृतिचन्द्रिका का कहना है कि इसके अन्य प्रकार भी सम्भव हैं, अतः किसी विशिष्ट संख्या पर बल देना ठीक नहीं है। बृहस्पति, कात्यायन (२५४-२५७) तथा अन्य लोगों ने जानपद लेखों का विवरण दिया है--**भाग या विभागपत्र** (बँटवारे का लेखप्रमाण), **दानपत्र**, **क्रयपत्र** (सेलडीड), **आधानपत्र** (बंधकपत्र), **स्थितिपत्र या संवित्पत्र** (किसी ग्राम, नगर या श्रेणी, पूग आदि के सदस्यों द्वारा निर्णीत परम्पराओं का लेखप्रमाण), **दासपत्र** (भोजन-वस्त्र के अभाव से गुलामी करने का लेखप्रमाण), **ऋणलेख या उद्धारपत्र** (ब्याज के साथ भविष्य में किसी तिथि तक लौटा देने वाले ऋण का लेख), **सीमापत्र** (तय हो जाने पर सीमा-निर्धारण का लेख), **विशुद्धिपत्र** (शुद्धि हो जाने पर साक्षियों के साथ लिखा गया लेख), **सन्धिपत्र** (अपराध स्वीकृति पर विशिष्ट लोगों की उपस्थिति में समझौते का लेख), **उपगत** (ऋण दे देने पर मिली रसीद), **अन्वाधिपत्र** (बंधक रखने वाले की ओर से लिखा गया पत्र)। निजी तौर से लिखा गया प्रमाणपत्र (जानपद) दो कोटियों का होता है; चिरक और चिरकहीन। **चिरक** वह प्रमाणपत्र है जिसे पुश्तैनी लिपिक लिखते हैं। ये पुश्तैनी लिपिक राजधानी में रहते हैं और उनके पास दोनों पक्ष के लोग साक्षियों, पिताओं के हस्ताक्षर के साथ पहुँचते हैं। इस विषय में देखिए, संग्रह (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ५९; पराशरमाधवीय ३, पृ० १२७; शुक्र० २।२९९-३१८, ४।५।१७२-१७७)। व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ५९) के अनुसार जानपद के आठ प्रकार हैं; **चिरक**, **उपगत** (रसीद), **स्वहस्त** (अपने हाथ से लिखित पत्र), **आधिपत्र**, **क्रयपत्र**, **स्थितिपत्र**, **सन्धिपत्र** तथा **विशुद्धिपत्र**। कुछ ग्रन्थों में 'चीरक' एवं 'चिरक' दोनों प्रकार के प्रयोग हुए हैं। लगता है, यह पत्र भोजपत्र की छाल (भोज या भूर्ज के पत्र) या किसी अन्य वृक्ष की छाल पर लिखा जाता था। यदि यह शब्द **चिरक** है तो यह 'चिर' से बना होगा, क्योंकि यह राजा द्वारा नियुक्त लिपिकों द्वारा लिखित होता था और **चिर काल** तक चलता था। इस अर्थ में **चिरक** शब्द 'स्थानकृत' के समान ही है।

नारद (४।१३६), विष्णुधर्मसूत्र (७।११) एवं कात्यायन के अनुसार वही लेख-प्रमाण अखंड्य या सिद्ध माना जाता है जो देशाचार के विरुद्ध न हो, जो नियमानुकूल लिखित हो और हो संदेहहीन एवं अर्थयुक्त शब्दों से पूर्ण। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ५९) के अनुसार उसे **पञ्चारूढ** होना चाहिए, अर्थात् उस पर **ऋणी**, **ऋणदाता**, **दो साक्षियों** एवं **लिपिक** के हस्ताक्षर हों। सामान्यतः दो साक्षियों का होना आवश्यक माना गया है, किन्तु अति महत्त्वपूर्ण लेख-प्रमाणों पर दो से अधिक साक्षियों का होना आवश्यक है। यदि साक्षी आसव या मद पीने वाला हो, अपराधी या स्त्री हो, नाबालिग हो या बीमार या पागल हो या बलपूर्वक लिख रहा हो तो लेख-प्रमाण उचित नहीं माना जाता। देखिए नारद (४।१३७), विष्णुधर्मसूत्र (७।६-१०), कात्यायन (२७१)।

अध्याय १२

भुक्ति (भोग)

गौतम (१०।३९) के मत से स्वामित्व की प्राप्ति कई प्रकार से होती है, यथा—पैतृक रिक्थप्राप्ति (वसीयत), क्रय, विभाजन (बँटवारा), आत्मसात्करण (विनियोग, अर्थात् जंगल के वृक्ष आदि तथा अन्य वस्तुओं की प्राप्ति जब कि उनका कोई स्वामी न हो) तथा उपलब्धि (स्वामी के ज्ञात न रहने पर छूटी हुई सम्पत्ति पर स्वाधिकार या उसका आत्मसात्करण)। गौतम (१०।४०-४१) के अनुसार स्वामित्व की अतिरिक्त रीतियाँ भी हैं, यथा—दानग्रहण (ब्राह्मणों के विषय में), विजय (क्षत्रियों के विषय में) तथा लाभ (वैश्यों या शूद्रों के विषय में; व्यापार या पारिश्रमिक के रूप में)। वसिष्ठ (१६।१६) ने स्वामित्व की अपर आठ रीतियाँ घोषित की हैं। बृहस्पति (व्यवहारप्रकाश पृ० १५३, अपरार्क पृ० ६३५) ने अचल सम्पत्ति के सात रूप माने हैं—विद्या, क्रय, बंधक, विजय, दहेज, वसीयत तथा सन्तानहीन सम्बन्धी की सम्पत्ति। नारद (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ७०) ने इस सूची में बन्धक छोड़ दिया है। इन स्मृतियों ने चिरकाल से चली आती हुई प्राप्ति (आधिपत्य) को स्वामित्व की कोटियों में नहीं गिना है।

भोग या भुक्ति के विषय में (समय-निर्धारण एवं स्वामित्व-प्राप्ति से सम्बन्धित अन्य बातों के बारे में) प्राचीन काल से ही स्मृतिकारों एवं निबन्धकारों में बड़ा मतभेद रहा है। **भुक्ति सागमा** (साधिकार) या **अनागमा** दोनों प्रकार की हो सकती है। आगम का अर्थ है 'उद्गम' या 'निकास', अर्थात् अधिकार, स्वामित्व या स्वत्व का मूल, यथा—क्रय या दान-प्राप्ति आदि।[1] इसी अर्थ में मनु (८।२००), याज्ञ० (२।२७), नारद (४।८४) ने अपनी बातें कही हैं। और देखिए कात्यायन (३१७)। यदि सम्पत्ति उपर्युक्त रीतियों में किसी एक रीति से ग्रहण की गयी है और उस पर स्वामित्व भी है तो यह अधिकार लुप्त नहीं हो सकता (नारद ४।८५; बृहस्पति, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ७० में उद्धृत); किन्तु बिना स्पष्ट स्वामित्व या भोग के वह सम्पत्ति पक्की नहीं भी हो सकती। व्यास एवं पितामह ने घोषित किया है कि उपयुक्त भोग के लिए पाँच बातें आवश्यक हैं—इसके पीछे आगम (स्वत्व-प्रमाण) होना चाहिए, दीर्घकाल से उसे चलते आना चाहिए, वह टूट न सका हो, उसका विरोध न हुआ हो तथा वह विरोधी की जानकारी में भी स्थिर रहा हो (मिताक्षरा, याज्ञ० २।२७ एवं अपरार्क पृ० ६३५)।[2] वह आगम जो थोड़े से भी भोग से हीन है, शक्तिशाली नहीं माना जाता, किन्तु वंशपरम्परा से न आने पर भी स्वामित्व वाला आगम शक्तिशाली ठहरता है (याज्ञ० २।२७)। नारद (४।८५) का कथन है कि स्पष्ट आगम से भोग शक्तिशाली होता है। इन कथनों से कठिनाई उत्पन्न होती है और आगम

१. स्वत्वहेतुः प्रतिग्रहक्रयादिः आगमः। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२७); आ सम्यग्गम्यते प्राप्यते स्वीक्रियते येन स आगमः क्रयादिरिति व्यवहारमातृका। आगमः साक्षिपत्रादिकमिति दीपकलिका। आगमो धनार्जनोपायः क्रयादिरिति मैथिलाः। व्यवहारतत्त्व, पृ० २२३।

२. सागमो दीर्घकालश्चाविच्छेदोऽपरवोज्झितः। प्रत्यर्थिसंनिधानश्च पञ्चाङ्गो भोग इष्यते ॥ स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ७१) द्वारा उद्धृत।

एवं भोग एक-दूसरे पर अवलम्बित हो जाते हैं। नारद (४।७७) का कहना है कि आगम के पक्ष में लेखप्रमाण एव साक्षियों के रहने पर भी भोग का अभाव, विशेषतः अचल सम्पत्ति के विषय में, उसे उपयुक्त नहीं ठहराता। इसका तात्पर्य यह है कि बिना भोग के स्थानान्तर, भले ही वह लिखित हो तथा साक्षीयुक्त हो, संशयात्मक माना जाता है; और आगम एवं भोग एक-दूसरे को बल देते हैं (नारद ४।८४-८६, बृहस्पति, हारीत एवं पितामह)।[3] नारद (४।८६-८७) का कथन है कि जो व्यक्ति बिना आगम के केवल भोग सिद्ध करता है उसे चोर कहना चाहिए, क्योंकि वह भोग-सम्बन्धी त्रुटिपूर्ण तर्क देता है (जैसा कि एक चोर भी कर सकता है); राजा को चाहिए कि वह ऐसे व्यक्ति को चोर का दण्ड दे जो बिना आगम के सौ वर्षों तक भोग करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भोग करने वाले व्यक्ति को उसकी वैधानिकता सिद्ध करनी चाहिए, उसे यह बताना चाहिए कि भोग का उद्गम उसके वंश में त्रुटिपूर्ण ढंग से नहीं हुआ। प्राचीन काल में स्वामित्व के स्थानान्तर की मुख्य विधि भोग से सम्बन्धित थी और भोग पर ही स्वामित्व की सिद्धि के लिए अधिक बल दिया जाता था।

याज्ञवल्क्य स्मृति (२।२७) की टीका मिताक्षरा ने इस स्थिति को और स्पष्ट किया है। दान एवं क्रय के विषय में स्थानान्तर करने वाले का स्वामित्व (भोग) समाप्त हो जाना चाहिए और दान पाने वाले तथा क्रय करने वाले के स्वामित्व (भोग) का उदय होना चाहिए; किन्तु यह तभी होना चाहिए जब कि दान लेनेवाला तथा क्रय करने वाला सम्पत्ति को स्वीकार कर ले, अन्यथा नहीं। स्वीकृति मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक होती है, अर्थात् स्वीकार करने वाले को मन से स्वीकृति देनी चाहिए, कहकर स्वीकार करना चाहिए तथा वास्तविक रूप में ग्रहण करना चाहिए। ये तीनों सोना, वस्त्र आदि चल सम्पत्ति के विषय में लागू होती हैं। किन्तु खेत के मामले में शरीर-स्वीकृति सम्भव नहीं होती जब तक उसके फल एवं लाभ का उपभोग नहीं होता। अतः दान एवं क्रय को पूर्ण करने के लिए थोड़ा-बहुत भोग का होना परमावश्यक है। स्पष्ट है कि भोग के अभाव में आगम शक्तिहीन हो जाता है। किसी भोग करने वाले के विरोध में आगम सफल हो सकता है जब कि उसके पास आगम का अधिकार न हो। इतना ही नहीं, जो तीन पीढ़ियों तक भोग का अधिकारी नहीं रहा है उसके विरोध में भी आगम सफल हो सकता है। यदि भोगकर्ता तीन पीढ़ियों तक के स्वामित्व को सिद्ध कर देता है तो वह भोगहीन किन्तु आगम वाले के विरोध में सफल हो जाता है। याज्ञ० (२।२३) के अनुसार यदि यह सिद्ध हो जाय कि एक व्यक्ति ने श्री क से कुछ क्रय किया, किन्तु स्वामित्व या भोग नहीं प्राप्त किया और आगे चलकर किसी अन्य व्यक्ति ने श्री क से क्रय किया और स्वामित्व भी प्राप्त कर लिया (किन्तु वह कालावधि तक लगातार भोग न कर सका) तो पूर्व का आगम भोगरहित होने पर भी उत्तरकालीन आगम से अच्छा माना जायगा। किन्तु यदि यह सिद्ध हो सके कि कौन-सा आगम पूर्वकालीन है और कौन-सा उत्तरकालीन, तो भोगकर्ता को ही सिद्धि प्राप्त होती है। जहाँ लगातार तीन पीढ़ियों तक स्वामित्व स्थापित रहता है वहाँ किसी प्रकार का आगम बलहीन हो जाता है। अत-

३. पित्र्यलब्धक्रयाधानरिक्थशौर्यप्रवेदनात्। प्राप्ते सप्तविधे भोगः सागमः सिद्धिमाप्नुयात्॥ बृहस्पति (व्यवहारनिर्णय, पृ० १२६, व्यवहारप्रकाश, पृ० १५३; न मूलेन बिना शाखा अन्तरिक्षे प्ररोहति। आगमस्तु भवेन्मूलं भुक्तिः शाखा प्रकीर्तिता॥ हारीत; नागमेन विना भुक्तिर्नागमो भुक्तिवर्जितः। तयोरन्योन्यसम्बन्धात् प्रमाणत्वं व्यवस्थितम्॥ पितामह (दोनों स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ७० एवं सरस्वतीविलास, पृ० १३१ में उद्धृत हैं)। व्यवहार-निर्णय ने, जिसने त्रिपुरुषभोग को ६० वर्ष के बराबर माना है, आगम एवं भोग के बल को इस प्रकार व्यक्त किया है; आद्यविंशतावागमप्राबल्यं भोगस्य तदानुगुण्यात्। द्वितीये भोगागमयोः साम्यम्। तृतीये भुक्तेः प्राबल्यम्। चतुर्थे पुरुषे पञ्चांगभोग एव प्रमाणं नागमापेक्षेति सिद्धम्। पृ० १३२।

एव मिताक्षरा तथा अन्य ग्रन्थों के अनुसार भी भोग स्थानान्तर के लिए सर्वथा अपरिहार्य नहीं माना जाता, किन्तु भोग-रहित आगम त्रुटिपूर्ण होता है, अतः भोग पर अधिक बल दिया गया है और इसे कानून के अधिकतर अनुकूल माना गया है। मिताक्षरा के मत से निष्कर्ष यों है——

(१) जब भोग अपेक्षाकृत अल्प समय का होता है और उसका सहायक कोई आगम नहीं है तो भोग पर अधिक बल नहीं दिया जाता और आगम ही उसके विरोध में प्रबलतर सिद्ध होता है, (२) तीन पीढ़ियों तक का लगातार भोग (यद्यपि उसे स्पष्ट करने के लिए कोई आगम न भी हो) लेखप्रमाण से युक्त आगम से प्रबलतर होता है तथा (३) तीन पीढ़ियों से कम भोग वाला पूर्वकालीन आगम (किन्तु कुछ भोग होना चाहिए) उत्तरकालीन भोग सहित आगम से प्रबलतर होता है। दीर्घकालीन भोग को बहुधा वैधानिक उद्गम वाला समझा जाता था, यद्यपि समय के व्यवधान के कारण उसे सिद्ध करना सम्भव नहीं है। दीर्घकालीन भोग के विषय में बड़ा विवाद रहा है। याज्ञ० (२।२४) का कहना है——"भूमि की हानि २० वर्षों में हो जाती है, यदि उस पर उसके स्वामी की आँखों के समक्ष बिना उसके किसी प्रकार के विरोध के किसी अन्य व्यक्ति का भोग स्थापित हो; और चल सम्पत्ति की हानि (उन्हीं दशाओं में) दस वर्ष में हो जाती है।" मनु (८।१४७-१४८) एवं नारद (४।७९-८०) के दो श्लोक समान ही हैं और उनका तात्पर्य है——"किसी वस्तु का स्वामी यदि किसी प्रकार का विरोध न उपस्थित करे और कोई उसकी वस्तु का भोग करता रहे एवं यह दस वर्षों तक चलता रहे तो उसका स्वामित्व समाप्त हो जाता है। यदि स्वामी मूर्ख नहीं है और न नाबालिग है और उसकी सम्पत्ति पर उसकी दृष्टि के समक्ष किसी अन्य व्यक्ति का भोग है तो अन्त में वह भोग वाले की हो जाती है।" यही बात गौतम (१२।३४) में भी पायी जाती है।[४] (शंख, विवादरत्नाकर, पृ० २०८) ने भी दस वर्ष की अवधि दी है। उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि २० या १० वर्ष तक किसी व्यक्ति द्वारा वैधानिक ढंग से स्वामित्व स्थापित कर लेने पर वास्तविक स्वामी का अधिकार समाप्त हो जाता है और अवास्तविक व्यक्ति वास्तविक स्वामी बन बैठता है।

किन्तु कुछ स्मृतियों के मत से सौ वर्षों तक अवास्तविक स्वामित्व-स्थापन से आगम प्राप्त नहीं हो जाता, प्रत्युत स्वामित्व-हानि के लिए अति दीर्घ अवधि अपेक्षित है। देखिए नारद (४।८६-८७)। नारद (४।८९) ने यह भी कहा है कि भोग के लिए **स्मार्त काल** (मानव-स्मरण) के भीतर ही आगम अपेक्षित है, किन्तु स्मार्त काल के बाहर तीन पीढ़ियों तक का भोग पर्याप्त है, भले ही उसके लिए लेखप्रमाण या कोई अन्य आगम न हो। यही बात विष्णुधर्मसूत्र (५।१८७) में भी कही गयी है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२७) के अनुसार स्मार्त काल १०० वर्षों का होता है, क्योंकि वेद ने मनुष्य-जीवन की अवधि १०० वर्षों तक मानी है। १०० वर्षों तक साक्षियों के लिए भोग के विषय में कह देना सम्भव है। अतः स्पष्ट है कि सौ वर्षों से कम भोग के उद्गम के लिए मौखिक साक्ष्य लिया जा सकता है और भोगकर्ता को आगम सिद्ध करना पड़ेगा, किन्तु यदि आगम के लिए कोई मौखिक साक्षी नहीं मिलेगा तो यह समझा जायगा कि आरम्भ से ही कोई आगम नहीं था। गौतम जैसे ऋषियों ने केवल भोग को ही स्वामित्व के लिए पर्याप्त साधन नहीं माना है। सरस्वती-विलास (पृ० १२४) में आया है कि दीर्घकालीन भोग से अनुमान लगाया जा सकता है कि इसका आरम्भ क्रय, दान आदि के आगम से हुआ होगा, अर्थात् ऐसी स्थिति से वैधानिक उद्गम का आभास मिल जाता है।[५] अतः मिताक्षरा के

४. अजडापोगण्डधनं दशवर्षभुक्तं परैः सन्निधौ भोक्तुः॥ गौतम (१२।३४); ग्रामनगरवृद्धश्रेणिविरोधे दशवर्षभुक्तमन्यत्र राजविप्रस्वात्। शंख (चण्डेश्वर का विवादरत्नाकर, पृ० २०८)।

५. भुक्तिरपि कैश्चिद्विशेषणैर्युक्ता स्वत्वहेतुभूतक्रयदानादिकमव्यभिचारादनुमापयति। अन्यथानुपपद्यमाना

अनुसार केवल भोग का आश्रय लेने के लिए १०० वर्ष का स्वामित्व पर्याप्त है। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ७२) ने १०० वर्ष के स्थान पर १०५ वर्ष अधिक युक्तिसंगत माना है, क्योंकि तीन पीढ़ियों (नारद के अनुसार) तक के लिए प्रति पीढ़ी को ३५ वर्षों तक चलना चाहिए और इस प्रकार १०० वर्ष के स्थान पर १०५ वर्ष होना चाहिए। विष्णुधर्मसूत्र (५।१८७) एवं कात्यायन (३२७) ने लगातार तीन पीढ़ियों तक के भोग को चौथी पीढ़ी के लिए स्वामित्व का परिचायक माना है। इस विषय में और देखिए कात्यायन (३२१, याज्ञ० २।२७ की टीका मिताक्षरा द्वारा उद्धृत), अपरार्क (पृ० ६३६), बृहस्पति (२६-२८) आदि। "तीन पीढ़ियों तक" की अवधि सन्दिग्ध है। प्रपितामह, पितामह एवं पिता दस वर्षों के भीतर भी मर सकते हैं। ऐसी स्थिति में यदि पितामह गलत ढंग से किसी सम्पत्ति पर अधिकार कर ले और वह, उसका पुत्र तथा उसका पौत्र दस वर्षों के भीतर ही एक-दूसरे के पश्चात् स्वामित्व ग्रहण करके दिवंगत हो जायँ तो चौथी पीढ़ी वाला व्यक्ति अर्थात् प्रपौत्र यह कह सकता है कि तीन पीढ़ियों तक स्वामित्व स्थापित था और अब वह उस सम्पत्ति का वैधानिक रूप से स्वामी है। इसी से कात्यायन ने पृथक् रूप से अन्यत्र (३१८, अपरार्क पृ० ६३६ एवं व्यवहारप्रकाश पृ० १५५ द्वारा उद्धृत) कहा है कि ६० वर्षों तक चलती हुई तीन पीढ़ियों का भोग स्थिर हो जाता है, अर्थात् उसे स्वामित्व का स्वतंत्र प्रमाण मिल जाता है। याज्ञ० (२।२७) के **त्रिपुरुष-भोग** या **पूर्वक्रमागत भोग** का भी यही अर्थ है।

अस्मार्त काल (मानव-स्मरण से ऊपर) का भोग कात्यायन, व्यास आदि के अनुसार ६० वर्ष तक का माना जाता है। नारद (अपरार्क, पृ० ६३६) के मत से भोग के सम्बन्ध में एक पीढ़ी २० वर्षों तक तथा बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका, २, पृ० ७२) के मत से ३० वर्षों तक चलती है। स्पष्ट है कि पूर्वकालीन स्मृतिकार, यथा--गौतम, मनु एवं याज्ञवल्क्य ने २० वर्षों तक के अवैधानिक भोग को स्वामित्व के लिए पर्याप्त माना है तथा उत्तरकालीन स्मृतियों के लेखकों, यथा--नारद, कात्यायन आदि ने ६० वर्षों के भोग को। इस विरोधाभास को दूर करने के लिए टीकाकारों एवं निबन्धकारों ने मनु (८।१४८), याज्ञ० (२।२४) एवं अन्य स्मृतियों की बातों के विभिन्न अर्थ किये हैं। कम-से-कम तीन व्यवस्थाएँ अति प्रसिद्ध हैं। कुछ लोगों ने भोग पर बल दिया है तो कुछ लोगों ने आगम पर। अपरार्क (पृ० ६३१-६३२), कुल्लूक एवं रघुनन्दन ने शाब्दिक अर्थ लिया है और कहा है कि २० वर्ष के नाजायज भोग से स्वामित्व की हानि हो जाती है अर्थात् **स्वत्वहानि** हो जाती है। दूसरी व्याख्या याज्ञ० (२।२४) के कथन की एक व्याख्या है; किसी व्यक्ति द्वारा बीस वर्षों तक भोग करने के उपरान्त यदि स्वामी विवाद खड़ा करता है और अपने पक्ष में लेखप्रमाण का सहारा लेता है तो वह अपना स्वामित्व नहीं भी सिद्ध कर सकता, क्योंकि उसके विपक्ष में यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि यद्यपि उसके पास लेखप्रमाण था किन्तु अपने मौन से उसने भोग करने वाले को अवसर दिया और मौनरूप से स्वीकृति भी दी। याज्ञवल्क्य के कहने का तात्पर्य यह है कि स्वामी को **उपेक्षा** नहीं दिखानी चाहिए और जब कोई अजनबी नाजायज़ भोग करता है तो उसे मौन नहीं रह जाना चाहिए। यह मत सर्वप्रथम विश्वरूप द्वारा घोषित किया गया और आजकल के सिद्धान्त "अपने अधिकारों के प्रति जागरूक रहना चाहिए" की ओर संकेत करता है।

तीसरी व्याख्या या मत यह है जिसे मिताक्षरा ने स्पष्ट किया है और जिसे व्यवहारमयूख, मित्रमिश्र तथा अन्य लोगों ने भी माना है कि स्वामित्व की हानि नहीं होती, प्रत्युत **फलहानि** होती है, अर्थात् यदि स्वामी अपनी दृष्टि के समक्ष किसी अन्य व्यक्ति को २० वर्षों तक भोगते देखता है और अन्त में विवाद खड़ा करता है तो वह अपनी सम्पत्ति

कल्पयतीत्यनुमानेऽर्थापत्तौ वान्तर्भवतीति प्रमाणमेव। सरस्वतीविलास, पृ० १२४; ये वाक्य स्पष्टतः व्यवहारनिर्णय, पृ० ७३ से लिये गये हैं।

पा जायगा किन्तु वह भूमि के लाभ से हाथ धो देगा। मिताक्षरा, व्यवहारमातृका एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० १५७-१६५) ने लम्बा विवेचन प्रस्तुत किया है, किन्तु स्थानाभाव से उसे हम यहाँ नहीं प्रस्तुत करेंगे।

कुछ थोड़े-से ग्रन्थों ने बहुत छोटी अवधियों की चर्चा की है, यथा अचल सम्पत्ति के लिए तीन वर्ष (यदि आज्ञापित उद्गम या क्षमालिंग न हो) या चल सम्पत्ति, जैसे अन्न, पशु आदि के लिए एक वर्ष की अवधि। ये मत केवल भोग की महत्ता मात्र प्रकट करते हैं। मरीचि का कहना है कि गायों, भारवाही पशुओं, आभूषणों को चार या पाँच वर्ष के भीतर लौटा लेना चाहिए, नहीं तो उनके स्वामित्व की हानि हो जाती है। यह मत मनु (८।१४६) एवं अन्य ग्रन्थों के विरोध में पड़ जाता है और इसकी व्याख्या इस प्रकार कर दी गयी है कि यह इसलिए दिया गया है जिससे स्वामी किसी शक्तिशाली कारण के न रहने पर अपनी वस्तुएँ शीघ्र से शीघ्र लौटा ले। प्राचीन रोम का कानून भी ऐसा ही था।

बृहस्पति एवं कात्यायन (३३५) दोनों को उद्धृत करके अपरार्क (पृ० ६३७) एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० १६६) ने कहा है कि जो सम्पत्ति किसी के अपने सम्बन्धियों एवं सजातियों द्वारा भोगी गयी है वह यों ही भोग के कारण उनकी नहीं हो सकती। पितामह का कहना है कि अजनवी का भोग शक्तिशाली होता है, किन्तु अपनी कुटुम्ब-सम्पत्ति का भोग उतना शक्तिशाली नहीं होता। गौतम (१२।३५) का कथन है कि किसी श्रोत्रिय, संन्यासी या राजकर्मचारी द्वारा भोगी गयी सम्पत्ति देने वाले के स्वामित्व का लोप नहीं करती। मिलाइए बृहस्पति।[६] मनु (८।१४९), नारद (४।८१), वसिष्ठ (१६।१८), याज्ञ०, बृहस्पति, कात्यायन (३३०) ने दीर्घकालीन भोग के नियम के सम्बन्ध में निम्नोक्त अपवाद दिये हैं; बंधक सम्पत्ति, सीमा, नाबालिग की सम्पत्ति, खुली प्रतिभूति, मुहरबन्द प्रतिभूति (धरोहर), स्त्रियाँ (दासियाँ), राजा का धन, श्रोत्रियसम्पत्ति दूसरे के भोग से समाप्त नहीं हो जातीं (बीस वर्ष या दस वर्ष तक जैसा कि मनु ८।१४७ एवं याज्ञ० २।२४ ने लिखा है)। मनु (८।१४५) ने व्यवस्था दी है कि बन्धक एवं प्रतिभूति (धरोहर) समय के व्यवधान से समाप्त नहीं हो जाते, बहुत लम्बे काल के उपरान्त भी उन्हें लौटाया जा सकता है। याज्ञ० (२।२५) ने उपर्युक्त सूची में मूर्खों एवं स्त्रियों की सम्पत्ति की भी गणना कर दी है। नारद (४।८३) का कहना है कि यदि भोगकर्ता बिना किसी आगम (अधिकार) के भोग कर रहा हो तो स्त्रीधन एवं राज्य-सम्पत्ति सैकड़ों वर्षों के उपरान्त भी लौटायी जा सकती है। कात्यायन (३३०) ने उपर्युक्त सूची में मन्दिर-धन एवं पिता तथा माता से प्राप्त धन को भी जोड़ दिया है। व्यवहारशास्त्र-सम्बन्धी सभी सिद्धांतों ने नाबालिगों, पागलों तथा इसी प्रकार के अन्य लोगों की सम्पत्ति की रक्षा की है और उनकी अधिकार-हानि के लिए लम्बी अवधियाँ दी हैं। इस विषय में देखिए याज्ञवल्क्यस्मृति के २।२५ की टीका मिताक्षरा। कात्यायन (३३१-३३४), स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ६९) तथा पराशरमाधवीय (३, पृ० १४८) ने व्यवस्था दी है कि उस ब्रह्मचारी की, जो ३६ वर्षों तक विद्याध्ययन में लगा हो तथा उस व्यक्ति की, जो ५० वर्षों तक विदेश में रहता आया हो, सम्पत्तियाँ भोगकर्ता द्वारा हड़प नहीं ली जा सकतीं। बन्दीगृह चले जाने पर बन्दी को भी समय की छूट मिलती है।

६. धर्मोऽक्षयः श्रोत्रिये स्याद् भयं स्याद् राजपुरुषे। स्नेहः सुहृद्बान्धवेषु भुक्तमेतैर्न हीयते।। बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ६९ एवं पराशरमाधवीय ३, पृ० १४९)।

अध्याय १३

साक्षी गण

'साक्षी' शब्द श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।११) में आया है जहाँ यह अखिल विश्व के एक मात्र द्रष्टा के लिए प्रयुक्त हुआ है।[1] पाणिनि (५।२।९१) ने इसका अर्थ किया है "वह जिसने साक्षात् देखा है।"[2] गौतम (१३।१), कौटिल्य (३।११), नारद (४।१४७) का कथन है कि जब दो व्यक्ति विवाद करते हैं और जब सन्देह या कोई विरोध उपस्थित होता है तब सत्य का उद्‌घाटन साक्षियों द्वारा ही सम्भव है। मनु (८।७४), सभापर्व (६८।८४), नारद (४।१४८), विष्णुधर्मसूत्र (८।१३), कात्यायन (३४६, व्यवहारमातृका पृ० ३१७ एवं व्यवहारप्रकाश पृ० १६ में उद्धृत) के अनुसार वही साक्ष्य उचित है जो ऐसे व्यक्ति द्वारा दिया जाय जिसने या तो देखा हो या सुना हो, या विवाद या मामले में जिसने अनुभव प्राप्त किया हो। इसका तात्पर्य यह है कि साक्षी-प्रमाण साक्षात् किया हुआ या समक्ष वाला हो न कि सुना-सुनाया हो। मेधातिथि (मनु ८।७४) का कथन है कि जब कोई किसी ऐसे व्यक्ति से, जिसने स्वयं सुना हो, कुछ सुनता है और आकर साक्ष्य देता है तो वह वैधानिक साक्ष्य नहीं कहा जाता। और देखिए मनु (८।७६)। किन्तु विष्णुधर्मसूत्र (८।१२) ने एक अपवाद दिया है--यदि नियुक्त साक्षी मर जाय या विदेश चला जाय तो उसने जो कुछ कहा हो उससे सुननेवाला साक्ष्य दे सकता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि राजा को साक्षी-परीक्षा में देर नहीं करनी चाहिए। कात्यायन (३४०-३४१, अपरार्क पृ० ६७५, ६७७; स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ९२ तथा व्यवहारमातृका पृ० ३३१ में उद्धृत) का कथन है कि स्वयं राजा (या मुख्य न्यायाधीश) को न्यायालय में उपस्थित साक्षी की जाँच करनी चाहिए, सभ्यों के साथ उसके कथनों पर विचार करना चाहिए और जब किसी विवाद में वास्तविक साक्षी के विषय में सन्देह उत्पन्न हो जाय तो आगे का समय देखकर वास्तविक साक्षी को बुलाकर प्रमाण ग्रहण करना चाहिए और जब वास्तविक साक्षी मिल जाय तो मामला चलने देना चाहिए। कात्यायन (३५२) का कथन है कि जब विदेश में रहने के कारण साक्षी को बुलाना असम्भव हो तो किसी त्रिवेदज्ञ के समक्ष उसका दिया हुआ लिखित प्रमाण काम में लाना चाहिए। गौतम (१३।२), मनु (८।६०), याज्ञ० (२।६९), नारद (४।१५३) आदि के मत से साधारणतः किसी मुक़दमे में कम-से-कम तीन साक्षी होने चाहिए। बृहस्पति का कथन है कि साक्षियों की संख्या ९, ७, ५, ४ या ३ हो सकती है अथवा केवल दो ही विद्वान् ब्राह्मण पर्याप्त हैं। विष्णुधर्मसूत्र (८।५) एवं बृहस्पति ने बल देकर कहा है कि किसी विवाद के निर्णय में किसी एक ही साक्षी का सहारा नहीं लेना चाहिए। किन्तु याज्ञ० (२।७२), विष्णुधर्मसूत्र (८।९) एवं नारद (४।१९२) का कथन है कि एक व्यक्ति भी, यदि वह नियमित रूप से धार्मिक कृत्य करता रहता हो और दोनों पक्षों को स्वीकार हो तो साक्षी का कार्य कर सकता है। बृहस्पति ने दूतक, गणक या उसे, जिसने अचानक साक्षात् देखा हो, राजा

१. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः...साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च। श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।११)।

२. साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्। पाणिनि (५।२।९१)।

या मुख्य न्यायाधीश को अकेले साक्षी के रूप में स्वीकार किया है।[3] व्यास का कथन है कि विशेषतः साहस नामक अपराधों में एक व्यक्ति भी, यदि वह शुचि, क्रियावान्, धार्मिक एवं सत्यवादी हो और पहले भी जिसकी सत्यता प्रमाणित हो चुकी हो, साक्षी का कार्य कर सकता है।[4] कौटिल्य (३।११) का कहना है कि गुप्तरूप से लेन-देन के मामले में एक व्यक्ति भी (स्त्री या पुरुष) साक्षी हो सकता है, किन्तु राजा एवं तपस्वी ऐसा नहीं कर सकते।[5] कात्यायन (३५३-३५५, व्यवहारमातृका पृ० ३१९-३२०, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ७६ एवं व्यवहारप्रकाश पृ० ११२-११३ में उद्धृत) का मत है कि प्रतिभूति (धरोहर) रखते समय किसी विश्वस्त व्यक्ति का साक्ष्य हो सकता है; इसी प्रकार उस दूत का भी साक्ष्य हो सकता है जो आभूषण उधार लेने के लिए भेजा गया हो; सामान बनाने वाली स्त्री का साक्ष्य भी पहचान के लिए हो सकता है; यदि निर्णय हो चुका हो तो राजा या मुख्य न्यायाधीश, लिपिक या कोई सभ्य अकेले भी वादी या प्रतिवादी के कथन की पुष्टि कर सकता है।

साक्ष्य देने वालों की विशेषताओं का उल्लेख बहुत-से ग्रन्थों में हुआ है, यथा––गौतम (१३।२), कौटिल्य (३। ११), मनु (८।६२-६३), वसिष्ठ (१६।२८), शंखलिखित (सरस्वतीविलास, पृ० १३८ में उद्धृत), याज्ञ० (२।६८), नारद (४।१५३-१५४), विष्णुधर्मसूत्र (८।८), बृहस्पति, कात्यायन (३४७, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ७६ एवं व्यवहार-प्रकाश पृ० १११ में उद्धृत)। प्रमुख विशेषताएँ ये हैं––कुलीनता, वंशपरम्परा से देशवासी होना, सन्तानयुक्त गृहस्थ होना, धनी होना, चरित्रवान् होना, विश्वासपात्रता, धर्मज्ञता, लोभहीनता तथा दोनों दलों द्वारा स्वीकार किया जाना। कुछ स्मृतिग्रन्थों, यथा––कौटिल्य (३।११), मनु (८।६८=कात्यायन ३५१ एवं वसिष्ठ १६।३०), कात्यायन (३४८) ने व्यवस्था दी है कि सामान्यतः साक्षी को पक्ष के वर्ण या जाति का होना चाहिए, स्त्रियों के विवाद में स्त्रियों को ही साक्ष्य (गवाही) देना चाहिए, अन्त्यजों के विवाद में अन्त्यजों को साक्ष्य देना चाहिए, हीन जातिवालों को उच्च जाति के लोगों या ब्राह्मण को साक्षी बनाकर अपने मुकदमे की सिद्धि का प्रयत्न नहीं करना चाहिए (हाँ, जब ब्राह्मण किसी आगम में साक्षी रहा हो तो बात दूसरी है)। किन्तु बहुधा सभी स्मृतियों ने (यहाँ तक कि गौतम एवं मनु ने भी) कहा है और विकल्प बतलाया है कि सभी जाति के लोग (यहाँ तक कि शूद्र भी) सभी के लिए साक्षी हो सकते हैं। देखिए गौतम (१३।३), मनु (८।६९), याज्ञ० (२।६९), नारद (४।१५४), वसिष्ठ (१६।२९); 'सर्वे सर्व एव वा'। नारद (४। १५५) एवं कात्यायन (३४९-३५०, अपरार्क पृ० ६६६ में तथा व्यवहारप्रकाश, पृ० १११-११२ में उद्धृत) ने व्यवस्था दी है कि ऐसे लोगों के दलों में जो अपने लिए विशिष्ट चिह्न (लिंग) रखते हैं, श्रेणियों (वणिकों के समाजों), पूगों (संस्थाओं), व्यापारियों के व्रातों (कम्पनियों) तथा अन्य लोगों में, जो दलों में रहते हैं और इस प्रकार वर्गों की संज्ञा पाते हैं, तथा दासों, चारणों (भाटों), मल्लों (कुश्ती वालों), हाथी की सवारी करने वालों, घोड़ों को प्रशिक्षण देने वालों एवं सैनिकों (आयधजीवियों, अर्थात् अस्त्र-शस्त्र धारण करके सैनिक रूप में जीविका चलाने वालों) में उनके नायक लोग (वर्गी लोग) उचित साक्षी कहे जाते हैं।[6] गौतम (९।२१) का कहना है कि खेतिहरों, व्यापारियों, चरवाहों, महाजनों

३. 'दूतक' वह है जो भद्र व्यक्ति हो और जिसे दोनों पक्षों ने स्वीकार किया हो और जो दोनों पक्षों की बात सुनने को उस स्थान पर आ गया हो।

४. शुचिक्रियश्च धर्मज्ञः साक्षी यत्रानुभूतवाक्। प्रमाणमेकोऽपि भवेत्साहसेषु विशेषतः॥ व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ७६ एवं व्यवहारप्रकाश, पृ० ११२)।

५. रहस्यव्यवहारेष्वेका स्त्री पुरुष उपश्रोता उपद्रष्टा वा साक्षी स्याद्राजतापसवर्जम्। कौटिल्य (३।११)।

६. लिंगिनः श्रेणिपूगाश्च वणिग्व्रातास्तथापरे। समूहस्थाश्च ये चान्ये वर्गास्तानब्रवीद् गुरुः॥ दासचारण-

(ऋणदाताओं), शिल्पकारों (बढ़इयों एवं धोबियों) के वर्गों के सदस्यों के बीच विवादों में उसी वृत्ति वाले सदस्य साक्षी होते एवं मध्यस्थता का कार्य कर सकते हैं।

साक्ष्य देने में अयोग्य ठहराये गये लोगों की सूचियाँ निम्न ग्रन्थों में पायी जाती हैं--कौटिल्य (३।११), मनु (८।६४-६७), उद्योगपर्व (३५।४४-४७), याज्ञ० (२।७०-७१), नारद (४।१७७-१७८), विष्णुधर्मसूत्र (८।१-४), बृहस्पति (२९-३०), कात्यायन (३६०-३६४)। मनु (८।११८) ने इस विषय में तर्क उपस्थित किया है कि मौखिक साक्ष्य क्योंकर झूठे ठहराये जा सकते हैं; लोभ, विमोह, भय, आनन्देच्छा, क्रोध, मित्रता, अबोधता एवं अल्पवयस्कता से गवाही झूठी पड़ सकती है। नारद द्वारा उपस्थापित सूची विस्तृत है, अतः हम उसे ही उद्धृत करते हैं। ये लोग साक्ष्य के लिए अयोग्य ठहराये गये हैं--अर्थ से सम्बन्धित लोग (साझेदार), मित्र (या सम्बन्धी, यथा--चाचा), साथी (काम-धाम के), जिसने पहले झूठी गवाही दी हो, पापी, दास, छिद्रान्वेषी, अधार्मिक, बहुत बूढ़ा (अस्सी वर्षीय व्यक्ति), अल्प-वयस्क, स्त्री, चारिक (तेली या भाट), शराबी, पागल, असावधान व्यक्ति, दुःखित व्यक्ति, जुआरी, ग्राम-पुरोहित, लम्बी यात्रा करने वाला (लम्बी सड़कों पर), समुद्रयात्रा वाला वणिक्, संन्यासी, रुग्ण, अंगभंगी, जो अकेला साक्षी हो, वेदज्ञ ब्राह्मण, जो धार्मिक कृत्य न करता हो, नपुंसक, अभिनेता, नास्तिक, व्रात्य (जिसका उपनयन संस्कार न हुआ हो), स्त्री-परित्यागी, जिसने अग्निहोत्र छोड़ दिया हो (श्रौत एवं स्मार्त अग्नियों में जिसने यज्ञ करना बन्द कर दिया हो), वैदिक यज्ञ के लिए अयोग्य लोगों की पुरोहिती करने वाला, जो उसी बरतन में खाये जिसमें भोजन पकाया जाता है (जो किसी दल से संलग्न हो), पूर्व शत्रु (अरिचर), गुप्तचर, सम्बन्धी, सहोदर, प्राग्दृष्ट-दोष (जिसके पूर्व जन्म का पाप किसी रोग के रूप में प्रकट हो गया हो), नर्तक (शैलूष या जो अपनी स्त्रियों से अभिनय कराता है), विषविक्रेता, सर्प पकड़ने वाला, विष देने वाला, गृहदाही (आग लगाने वाला), कीनाश (कृपण एवं दुष्ट व्यक्ति), किसी उच्च जाति के व्यक्ति से जनमा शूद्रा-पुत्र, उपपातकी, थका हुआ व्यक्ति, साहसिक, वीतराग, निर्धन (जुआ एवं अन्य दोषों के कारण), शूद्र, दुष्ट जीवन बिताने वाला, ब्रह्मचारी जो अभी गुरु-गेह से लौट न सका हो, मूर्ख (जड़), तेल-विक्रेता, जड़-मूल बेचनेवाला, जिस पर भूत-प्रेत की सवारी होती हो, जिसे राजा घृणा की दृष्टि से देखता हो, ऋतु-सम्बन्धी भविष्यवाणी करनेवाला, ज्योतिषी, जो दूसरों के पापों की जनता में घोषणा करे, जिसने धन के लिए अपने को बेच दिया हो, जिसके छोटे अंग हों (यथा--चार अँगुलियों वाले हाथ का व्यक्ति), जो अपनी स्त्री के अनैतिक व्यवहार से अपनी जीविका चलाये, खराब नाखून वाला, काले दाँतों वाला, मित्रद्रोही, धूर्त, आसव-विक्रेता, मदारी, लोभी, क्रोधी, किसी श्रेणी या गण का विरोधी, कसाई, खाल विक्रेता, जालसाज (लेखप्रमाण, सिक्का या बटखरों के साथ जो कूट-व्यवहार करे), लूला-लँगड़ा, ब्रह्महत्यारा, जो मन्त्र या दवा-दारू से अन्य को प्रभावित करे, जो संन्यास-मार्ग से च्युत हो (प्रत्यवसित), लुटेरा, राजभृत्य, मनुष्यों, पशुओं, मांस, अस्थि, मधु, दुग्ध, जल, घी की बिक्री करनेवाला ब्राह्मण, तीनों उच्च जातियों वाले व्यक्ति जो रुपयों का लेन-देन करें, जिसने अपनी जाति का कर्तव्य छोड़ दिया हो, कुलिक (राजा द्वारा नियुक्त व्यक्ति जो विवाद आदि में निर्णय दे), भाट, नीच जाति की नौकरी करने वाला, पिता से लड़ाई करने वाला तथा वह जो झगड़ा खड़ा करे। कौटिल्य (३।११), मनु (८।६५), विष्णुधर्मसूत्र (८।१) तथा अन्य स्मृतिकारों ने लिखा है कि राजा साक्ष्य का कार्य नहीं कर सकता (सम्भवतः उस मामले को छोड़कर जिसमें उसके समक्ष बातें हुई हों)।

उपर्युक्त अयोग्य साक्षियों की लम्बी सूची प्रकट करती है कि स्मृतिकार साक्षियों के विषय में बड़े ही सतर्क थे।

मल्लानां हस्त्यश्वायुधजीविनाम्। प्रत्येकैकं समूहानां नायका वर्गिणस्तथा।। तेषां वादः स्ववर्गेषु वर्गिणस्तेषु साक्षिणः। कात्यायन (अपरार्क, पृ० ६६६ में उद्धृत)।

गौतम (१३।९), कौटिल्य (३।११), मनु (८।७२), याज्ञ० (२।७२), नारद (४।१८८-१८९), विष्णुधर्मसूत्र (३।६), उशना (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ७९), कात्यायन (३६५-३६६) ने इसी से स्पष्ट कहा है कि **अर्थमूल** या **धनमूल** (सिविल) विवादों में साक्षियों की कठिन जाँच आवश्यक है, किन्तु **हिंसामूल** (क्रिमिनल) विवादों में साक्षी-सम्बन्धी अयोग्यता-निर्धारण में शिथिलता प्रदर्शित करनी चाहिए। इसी से दासों एवं छिद्रान्वेषियों को भी, जो उपर्युक्त लम्बी सूची में साक्ष्य के लिए अयोग्य ठहराये गये हैं, गम्भीर हिंसामूलक मामलों में साक्ष्य के लिए उपयुक्त माना गया है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मूर्ख, पागल जैसे लोग भी साक्ष्य दे सकते हैं। मनु (८।७७) ने घोषित किया है कि लोभरहित केवल एक पुरुष साक्ष्य के योग्य ठहराया जा सकता है, किन्तु सच्चरित्र स्त्रियाँ नहीं, क्योंकि उनकी बुद्धि अस्थिर होती है। किन्तु कुछ परिस्थितियों, यथा—गृह के भीतर या जंगल में हुए या हत्या के मामले में स्त्री या अल्पवयस्क या अति बूढ़ा या शिष्य या सम्बन्धी, दास या किराये का नौकर भी योग्य साक्षी सिद्ध हो सकते हैं। यह कथन मनु (८।७०) का ही है। ऐसा ही कात्यायन (३६७) ने भी कहा है। उशना (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ७९ एवं व्यवहारप्रकाश, पृ० १२०) ने व्यवस्था दी है कि **साहस** के मामलों में दास, अन्धा, बहरा, कोढ़ी, स्त्री, अल्पवयस्क तथा अति बूढ़ा व्यक्ति भी साक्षी हो सकता है, बशर्ते वह किसी दल से सम्बन्धित न हो और न किसी का पक्षपात करनेवाला हो। नारद (४।१९०-१९१) का कथन है कि यद्यपि **साहस** के मामलों में साक्षी-सम्बन्धी बन्धन ढीले हो जाते हैं तथापि अल्पवयस्क (नाबालिग), स्त्री, एक ही व्यक्ति, वञ्चक, सम्बन्धी तथा शत्रु को **साहस** के विवादों में साक्षी नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि अल्पवयस्क अबोधता के कारण, स्त्री असत्य भाषण के स्वभाव के कारण, वञ्चक बुरे कार्य में संलग्न रहने के कारण, सम्बन्धी स्नेह के कारण तथा शत्रु प्रतिशोध लेने के कारण झूठ का सहारा ले सकते हैं। मेधातिथि (मनु ८।६८) ने लिखा है कि जब वादी एवं प्रतिवादी दोनों पुरुष हों तो स्त्रियाँ साक्षी के उपयुक्त नहीं होतीं, किन्तु जहाँ विवाद किसी पुरुष एवं स्त्री में अथवा केवल स्त्रियों के बीच में हो तो स्त्री योग्य साक्षी होती है।

नारद (४।१५७-१७२) के अनुसार अनुपयुक्त साक्षी-गण पाँच कोटियों में बाँटे जा सकते हैं—(१) कुछ लोग, यथा—विद्वान् ब्राह्मण (श्रोत्रिय), अति बूढ़े, तापस, संन्यासी **वचन** (प्राचीन ग्रन्थों) के अनुसार अयोग्य ठहराये गये हैं, अन्यथा उनकी अयोग्यता का कोई अन्य कारण नहीं हैं। व्यवहारतत्त्व (पृ० २१४) ने प्रकट किया है कि श्रोत्रिय एवं अन्य लोग साक्षी नहीं बनाये जा सकते, किन्तु वे **अकृत** साक्षी (अर्थात् यदि वे चाहें तो किसी मामले में साक्षी होने योग्य) हैं। वे राजा के समान ही अनुपयुक्त हैं, इसलिए नहीं कि वे विश्वसनीय नहीं हैं, प्रत्युत उन्हें कष्ट नहीं देना चाहिए। ऐसे लोग विशेषाधिकार वाले व्यक्ति कहे जाते हैं। (२) चोर, लुटेरे, भयानक लोग, जुआरी, हत्यारे अनुपयुक्त माने जाते हैं, क्योंकि उनमें असत्य भाषण का **दोष** पाया जाता है। (३) **भेद** के कारण भी साक्षी की अयोग्यता होती है, क्योंकि एक ही प्रकार के मामले में परस्पर विरोधी दो बातें करने से भेद नामक अयोग्यता प्रकट होती है। (४) **सूची** (= **स्वयमुक्ति**, नारद ४।१५७), जो बिना बुलाये स्वयं चला आये, ऐसे लोग भी अयोग्य कहे जाते हैं। (५) **मृतान्तर** अर्थात् ऐसा साक्षी जो पक्ष वाले की मृत्यु के उपरान्त लाया जाय, ऐसे लोग कुछ बताने में पूर्णतया समर्थ नहीं हो पाते, क्योंकि पक्ष की ओर से उन्हें पूरी सूचना नहीं प्राप्त हुई रहती। किन्तु अन्तिम कोटि के लिए नारद (४।९४) ने एक अपवाद दिया है कि जब मरते समय पिता पुत्रों से ऐसा कहे कि "इन-इन मामलों में ये लोग साक्षी हैं" तो मृतान्तर साक्षी भी योग्य माना जा सकता है।

नारद ने साक्षियों के दो प्रकार बताये हैं; **कृत** अर्थात् पक्ष द्वारा नियुक्त तथा **अकृत**, अर्थात् अनियुक्त। प्रथम के पाँच उपप्रकार हैं और दूसरे के छः। कृत साक्षी-गण ये हैं—(१) **लिखित**, (२) **स्मारित** (जिसे लेखप्रमाण के बिना बार-बार स्मरण कराया जाय), (३) **यदृच्छाभिज्ञ** या **यादृच्छिक**, अर्थात् जो लेन-देन के समय अचानक आ जाय और जिसे साक्षी बनने के लिए कह दिया जाय, (४) **गुप्त साक्षी**, अर्थात् वह जो परदे या दीवार की आड़ में बैठा

लेन-देन की बातें सुने रहता है तथा (५) **उत्तर साक्षी**, अर्थात् जो किसी ऐसे व्यक्ति से सुने जो या तो दूर देश जा रहा हो या मरणतुल्य हो। छः प्रकार के **अकृत** ये हैं—(१) सीमा-विवादों में एक ही ग्राम के वासी, (२) मुख्य न्यायाधीश, (३) राजा (जिसके समक्ष कोई मामला चला था), (४) **कार्य-मध्यगत**, अर्थात् वह जो दोनों पक्षों के लेन-देन के समय उपस्थित रहा हो, (५) **दूतक** (वह जो आभूषण लाने या कोई लेन-देन तय करने के लिए भेजा गया हो) तथा (६) बँटवारे जैसे मामलों में कुटुम्ब के अन्य सदस्य। बृहस्पति ने बारह साक्षियों के नाम दिये हैं जो नारद की सूची के समान ही हैं और इसका अतिरिक्त बारहवाँ है **लेखित**, जिसका नाम लेन-देन के समय किसी साक्षी के समक्ष लिख लिया जाता है। **लिखित** एवं **लेखित** में अन्तर यह है कि प्रथम अपना नाम स्वयं लिखता है और दूसरे का नाम किसी पक्ष द्वारा किसी साक्षी के समक्ष लिख लिया जाता है।

साक्ष्य देने के पूर्व विरोधी दल साक्षी की अयोग्यता सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। कात्यायन का कथन है कि विपक्ष को चाहिए कि वह साक्षी के गुप्त अथवा अप्रकट दोषों को व्यक्त कर दे, किन्तु स्पष्ट दोषों का वर्णन तो न्यायालय के सदस्यों द्वारा निर्णय देते समय किया जाता है।[७] इस विषय में व्यास का कथन अवलोकनीय है; "साक्षियों के दोषों को विपक्ष के लोगों द्वारा न्यायालय में लिखित करा देना चाहिए और साक्षियों द्वारा उनका उत्तर दिला देना चाहिए। यदि साक्षी-गण बतलाये हुए दोषों को मान लेते हैं तो साक्षी देने के अयोग्य ठहर जाते हैं। किन्तु ऐसा न होने पर साक्ष्यों द्वारा (अन्य प्रमाणों द्वारा) विपक्ष के लोगों को चाहिए कि वे उन साक्षियों को अयोग्य सिद्ध कर दें। यदि ऐसा नहीं होगा और विपक्ष के लोगों के अन्य साक्षियों द्वारा वे दोष प्रदर्शित होते चले गये तो अनवस्था (कभी भी न समाप्त होने वाला) दोष उत्पन्न हो जायगा, क्योंकि फिर तो दूसरा दल भी अपने विपक्षी के साक्षी-गणों के दोष-प्रदर्शन में ही लग जायगा और इस प्रकार कोई सीमा निर्धारित नहीं हो सकती।"[८] साक्ष्य देना आरम्भ कर देने पर विपक्षी या विरोधी दल साक्षी की अयोग्यता प्रदर्शित नहीं कर सकता; ऐसा करने पर वह दण्ड का भागी होता है। बृहस्पति का कथन है कि यदि वादी द्वारा उपस्थित साक्षी के दोष को प्रतिवादी सिद्ध नहीं कर सकता तो उसे विवाद के धन के बराबर दण्ड देना पड़ता है (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ८३ एवं सरस्वतीविलास, पृ० १४३)।

साक्ष्य देने के पूर्व साक्षी को जूते एवं पगड़ी उतारकर, दाहिना हाथ उठाकर तथा सोना, गोबर या कुश छूकर सत्य भाषण करने की शपथ लेनी पड़ती है (बृहस्पति)। वसिष्ठ एवं कात्यायन ने भी यही बात कही है।[९] आपस्तम्ब-धर्मसूत्र (२।११।२९।७), कौटिल्य (३।११), मनु (८।७९-८०), याज्ञ० (२।७३) आदि ने भी इस विषय में विभिन्न

७. प्रमाणस्य हि ये दोषा वक्तव्यास्ते विवादिना। गूढास्तु प्रकटाः सभ्यैः काले शास्त्रप्रदर्शनात्॥ कात्यायन (अपरार्क, पृ० ६७१ में तथा स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ८३ में उद्धृत)। व्यवहारमयूख (पृ० ३९) का कहना है—"गूढाः शास्त्रप्रदर्शने साक्षिवादात्पूर्वकाले वक्तव्याः।"

८. साक्षिदोषाः प्रयोक्तव्याः संसदि प्रतिवादिना। पत्रेऽभिलेख्य तान् सर्वान् वाच्याः प्रत्युत्तरं तु ते॥ प्रतिपत्तौ न साक्षित्वमर्हति तु कदाचन। अतोऽन्यथा भावनीयाः क्रियया प्रतिवादिना॥ अन्यैस्तु साक्षिभिः साध्ये दूषणे पूर्वसाक्षिणाम्। अनवस्था भवेद्दोषस्तेषामप्यन्यसम्भवात्॥ व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ८३ एवं व्यवहारमयूख, पृ० ३८ में उद्धृत)।

९. विहायोपानदुष्णीषं दक्षिणं बाहुमुद्धरेत्। हिरण्यगोशकृद्दर्भान् समादाय ऋतं वदेत्॥ बृहस्पति; प्राङमुखोवस्थितः साक्षी शपथैः शापितः स्वकैः॥ हिरण्य...दर्भानुपस्पृश्य वदेदृतम्॥ वसिष्ठ (सरस्वतीविलास, पृ० १५७, पराशरमाधवीय ३, पृ० ११२)।

नियम दिये हैं। गौतम (१३।१३) एवं कात्यायन (मिताक्षरा, याज्ञ० २।७३) आदि की बातें भी अवलोकनीय हैं।[10] जनता के समक्ष एवं शपथ लेकर कहने से झूठे साक्षी पर अवरोध अवश्य लग जाता है। शपथ के दो भाग हैं; (१) सत्य कहने की आवश्यकता एवं (२) उपदेशकता तथा अनिष्टावेदनता। मुख्य न्यायाधीश के समक्ष ही दोनों प्रकार की शपथों का ग्रहण होता था। गौतम (१३।१२-१३) ने ब्राह्मण साक्षी के लिए शपथ लेना आवश्यक नहीं माना है, किन्तु मनु (८।११३=नारद ४।१९९) ने ऐसा नहीं कहा है। गौतम (१३।१४-२३), मनु (८।८१-८६ एवं ८९-१०१), विष्णुधर्मसूत्र (८।२४-३७) एवं नारद (४।२०१-२२८) ने शपथ के विषय में लम्बा विवरण उपस्थित किया है, जिसे हम यहाँ नहीं दे सकेंगे। याज्ञ० (२।७३-७५), वसिष्ठ (१६।३२-३४), बौधायनधर्मसूत्र (१०।१९।९-१२), बृहस्पति, कात्यायन (३४३) एवं नारद (४।२००) का विवरण छोटा है; 'न्यायाधीश को प्राचीन ग्रन्थों से उद्धरण देकर सत्य भाषण की महत्ता एवं असत्य भाषण के दोष आदि पर प्रकाश डालकर साक्षी को उचित कथन के लिए प्रेरित करना चाहिए।' इस विषय में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न बातें कही गयी हैं, यथा--ब्राह्मण के लिए "सत्य के लिए सत्य बोलो", क्षत्रिय साक्षी के लिए "जिस पशु की सवारी करते हो तथा जो आयुध ग्रहण करते हो उसकी शपथ लेकर सत्य कहो"--ऐसा विधान था, वैश्यों को अपने अन्न, पशुओं आदि की शपथ लेनी पड़ती थी तथा शूद्र को सभी भयंकर पापों के लिए सिर छूकर शपथ लेनी होती थी। मिताक्षरा (याज्ञ० २।७३ एवं मनु ८।११३ की व्याख्या) में ऐसा आया है कि ब्राह्मण साक्षी को यह कहकर कि यदि 'तुम असत्य कहोगे तो तुम्हारी सचाई नष्ट हो जायगी' शपथ दिलानी चाहिए, 'तुम्हारे वाहन एवं आयुध फलहीन होंगे यदि तुम असत्य बोलोगे', ऐसा क्षत्रिय साक्षी से कहना चाहिए, 'तुम्हारे असत्य कथन से तुम्हारे पशु, अन्न, सोना आदि नष्ट हो जायँगे' ऐसा वैश्य से कहना चाहिए तथा 'सभी पापों की गठरी तुम्हारे सिर पर होगी' ऐसा शूद्र से कहना चाहिए।

स्मृतियों एवं मृच्छकटिक नाटक (अंक ९) से प्रकट होता है कि मुख्य न्यायाधीश तथा न्यायाधीश ही साक्षियों से प्रश्न करते थे और प्रश्न-प्रति-प्रश्न का ढंग, जैसा कि आजकल के न्यायालयों में होता है, उन दिनों नहीं था। केवल साक्षी की अयोग्यता, अनुपयुक्तता या दोषों के प्रतिपादन या उद्घाटन में ही प्रश्न-प्रति-प्रश्न अथवा जिरह की परिपाटी लागू थी। साक्षियों को अनिवार्य रूप से न्यायालय में उपस्थित होना पड़ता था (कौटिल्य ३।११, मनु ८।१०७, याज्ञ० २।७७, बृहस्पति, कात्यायन, विष्णुधर्मसूत्र ८।३७)। कौटिल्य (३।१) ने साक्षियों के खाने-पीने के प्रबन्ध की व्यवस्था बतलायी है। क्या दोनों दलों को अपनी ओर से स्वयं साक्ष्य देने की छूट थी? इस विषय में स्पष्ट बातें नहीं ज्ञात हो पातीं। याज्ञ० (२।१३-१५), कौटिल्य (४।८)[11] एवं मृच्छकटिक (अंक ९) से तो प्रकट होता है कि ऐसी छूट थी। किन्तु शुक्र (४।५।१८४) ने साक्षी की जो व्याख्या की है उससे प्रकट होता है कि मुकदमेबाजों को ऐसी छूट नहीं प्राप्त थी।

सामान्यतः साक्षियों की जाँच खुले न्यायालय में एवं दोनों दलों के समक्ष होती थी, किन्तु कात्यायन (३८७-३८९) का कहना है कि अचल सम्पत्ति के विवाद में सम्पत्ति के स्थान पर मौखिक साक्ष्य लिया जा सकता है और कुछ

१०. पुण्याहे प्रातरग्नाविद्धेऽपामन्ते राजवत्युभयतः समाख्याप्य सर्वानुमते मुख्यं सत्यं प्रश्नं ब्रूयात्। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।११।२९।६); देवब्राह्मणसांनिध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान्। उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्णे वै शुचिः शुचीन्॥ आहूय साक्षिणः पृच्छेन्नियम्य शपथैर्भृशम्। समस्तान् विदिताचारान् विज्ञातार्थान् पृथक्-पृथक्॥ कात्यायन ३४४-४५; मिताक्षरा (याज्ञ० २।७३); मनु (८।८७) एवं नारद (४।१९८)।

११. ततः पूर्वस्याह्नः प्रचारं रात्रौ निवासं चाग्रहणादिति अनुयुञ्जीत। कौटिल्य।

विवादों में न्यायालय एवं अचल सम्पत्ति के स्थान के अतिरिक्त अन्य स्थानों में भी ऐसा किया जा सकता है। पशुओं के शव या उनकी हड्डियों के समक्ष भी साक्ष्य लिया जा सकता है। बृहस्पति एवं मनु (८।२५) के मत से साक्षियों के सत्य भाषण की जाँच उनके कथन के ढंग, कांति-परिवर्तन, आँखों, हाव-भाव आदि से भी करनी चाहिए। शंख-लिखित (व्यवहारप्रकाश, पृ० १२४), नारद (४।१९३-१९६), विष्णुधर्मसूत्र (८।१८), याज्ञ० (२।१३-१५), कात्यायन (३८६) ने झूठ बोलने वाले गवाह (साक्षी) की क्रियाओं एवं व्यवहार-प्रदर्शन को इस प्रकार से व्यक्त किया है—वह परेशान अथवा अस्थिर या अशान्त (व्याकुल) दीख पड़ता है, स्थान-परिवर्तन करता रहता है, अधरों के कोणों को चाटता है, उसके मस्तक पर स्वेद-कण झलकते हैं, चेहरे का रंग उड़ जाता है, वह बहुधा खाँसता है और लम्बी-लम्बी साँसें भरता है, पैर के अँगूठे से पृथ्वी (ज़मीन) कुरेदता है, हाथ एवं वस्त्र हिलाता है, उसका मुख सूख जाता है और अस्त-व्यस्त बोलता है, बिना पूछे अनर्गल बातें करता है, प्रश्न का सीधा उत्तर नहीं देता, प्रश्नकर्ता की आँखों से बचता रहता है। इस प्रकार के साक्षी को झूठा समझा जा सकता है और राजा तथा न्यायाधीश को उसे अनुशासित करना चाहिए (जिससे कि वह झूठ बोलने से डरे)। किन्तु इन व्यवहारों के कारण ही साक्षी को झूठा नहीं कहा जा सकता था या उसे दण्डित नहीं किया जाता था, क्योंकि इन चेष्टाओं से केवल असत्यता की सम्भावना मात्र प्रकट होती है न कि उसकी असंगतता (मिताक्षरा—याज्ञ० २।१५ तथा व्यवहारप्रकाश, पृ० १२४)।

जब बहुत-से साक्षी हों और उनके कथनों में अन्तर पाया जाय तब ऐसी दशा में निर्णय के लिए कई नियम बने हुए थे। देखिए मनु (८।७३), विष्णुधर्मसूत्र (८।३९), याज्ञ० (२।७८), नारद (४।२२९), बृहस्पति एवं कात्यायन (४०८)। वे नियम संक्षेप में ये हैं—बहुमत स्वीकार कर लिया जाता था, यदि आधे लोग एक मत के पक्ष में और आधे दूसरे मत के पक्ष में हों तो उन लोगों के मत जो अधिक चरित्रवान् एवं तटस्थ रहते थे, ग्रहण कर लिये जाते थे; किन्तु यदि ऐसे लोगों में भी अन्तर पड़ता था तो सर्वोच्च लोगों का मत ग्राह्य माना जाता था। याज्ञ० (२।७२) ने संख्या की अपेक्षा गुण को महत्ता दी है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।७८) ने भी यही स्वीकार किया है। कौटिल्य (३।११) ने उपर्युक्त मत स्वीकार करते हुए औसत निकालने को कहा है। नारद (४।१६०) एवं कात्यायन (३५९) का मत है कि यदि तीन में किसी एक साक्षी का मत भिन्न हो तो तीनों के मत विरोधी ठहरा दिये जाने चाहिए। ये मत मौखिक साक्षियों अथवा प्रमाणों के विषय में प्रतिपादित किये गये हैं।

किसी पक्ष द्वारा उपस्थापित साक्षियों की कितनी बातें स्वीकार्य होनी चाहिए? याज्ञ० (२।७९), विष्णुधर्मसूत्र (८।३८), नारद (४।२७) एवं बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ९१) ने एक सामान्य नियम दिया है कि वह दल, जिसका प्रतिवेदन साक्षियों द्वारा पूर्णतः सत्य घोषित किया गया है, सफलता पाता है, और वह दल जिसका कथन सभी साक्षियों द्वारा झूठा कहा गया है, हार जाता है। इस विषय में अन्य बातें देखिए, नारद (४।२३३) एवं कात्यायन (३९९)। याज्ञ० (२।२०) में एक महत्त्वपूर्ण बात कही गयी है; यदि किसी मामले का एक अंश सत्य सिद्ध हो जाय तो सम्पूर्ण को सत्य मानना चाहिए। किन्तु यह तभी तक मान्य है जब तक विरोधी वादी के कथन के सभी अंशों को असत्य मानता है। यह एक अनुमान मात्र है और राजा तथा न्यायाधीश इसका सहारा लेने पर दोषी नहीं ठहरते, यथा—'न्यायाधिगमे तर्कोऽभ्युपायः।...तस्माद्राजाचार्यावनिन्द्यौ।' किन्तु याज्ञ० (२।२०) के कथन से कात्यायन (४७२) का मत उलटा पड़ता है; 'किसी मामले के बहुत-से अंशों में वादी या प्रतिवादी उतने ही पर जय पाता है जितने को वह सिद्ध कर सकता है।' मिताक्षरा (याज्ञ० २।२०), स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० १२०-१२१), व्यवहारमातृका (पृ० ३१०-३१२) एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० ९८-१०२) ने उपर्युक्त मतों में समझौता कराने का प्रयत्न किया है। हम स्थानाभाव के कारण विस्तार में नहीं जा सकते। बलात्कार, **साहस** के

अपराधों एवं चोरी के मामलों में यदि एक अंश भी सिद्ध हो जाय तो सम्पूर्ण सत्य माना जाता है, ऐसा कात्यायन (३९७) ने कहा है।[१२]

नारद (४।१६५) का कथन है कि मुक़दमा लड़ने वाले को विरोधी के साक्षी के पास गुप्त रूप से नहीं जाना चाहिए और न उसे घूस या धमकी देकर अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न करना चाहिए; यदि वह ऐसा करता है तो वह अपने को हीन अर्थात् हारने वाला दल समझे।

देर में साक्षी उपस्थित करने के विषय में भी नियम बने हुए हैं। दुर्बल प्रमाणों के कारण यदि हार हो जाय तो पुनः सबल प्रमाण नहीं उपस्थित किये जा सकते। नारद (१।६२) का कथन है कि यदि मुक़दमा बहुत आगे बढ़ गया हो, तो पूर्व से ही अनुपस्थित किये गये लेखप्रमाण, साक्षियाँ आदि निरर्थक हो जाते हैं। प्रतिवादी द्वारा प्रतिवेदन दे दिये जाने पर वादी को प्रमाण अर्थात् लेखप्रमाण, साक्षी आदि की सूची दे देनी होती है (याज्ञ० २।७)। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि वादी ऐसा नहीं करता और मामला आगे बढ़ा लेता है तथा अन्य आवश्यक साक्षियों को नहीं बुला लेता या सभी प्रमाण नहीं एकत्र कर लेता और मामला जब समाप्तप्राय हो जाता है (किन्तु अभी निर्णय नहीं घोषित रहता) तो उस स्थिति में वह कोई नवीन प्रमाण नहीं उपस्थित कर सकता, क्योंकि ऐसी दशा में कोई नवीन प्रमाण उपस्थित किये जाने पर प्रतिवादी को दिक्कत हो सकती है और वह उसे अप्रमाणित सिद्ध करने के लिए समय की माँग रख सकता है; इतना ही क्यों, तब वादी भी पुनः कोई नवीन प्रमाण उपस्थित कर सकता है और इस प्रकार दोनों पक्षों से लगातार समय की माँगें की जा सकती हैं और मामला अनन्त काल तक चलता जा सकता है। किन्तु यदि पहले से ही सभी साक्षियों की सूची दे दी गयी हो और केवल थोड़े की ही जाँच हुई हो और आगे चलकर वादी यह समझे कि कुछ साक्ष्यों में त्रुटि हो गयी है, तो वह अन्य साक्षियों को बुलाने का अधिकार रखता है। यह छूट याज्ञ० (२।८०) ने दी है जिसके बल पर मिताक्षरा में कहा गया है कि आगे चलकर कुछ प्रतिष्ठित साक्षियों की जाँच की जा सकती है। नियम यह है कि जब तक साक्षी मिलते जायँ, दिव्य ग्रहण (दिव्य परीक्षा, ऑर्डियल) की नौबत न आने पाये। याज्ञ० (२।८०) ने बहुत-सी व्याख्याएँ करने के लिए अवसर दे दिया है। इस विषय में देखिए मिताक्षरा एवं अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ९४), व्यवहारप्रकाश, (पृ० १३०-१३४)।

याज्ञवल्क्य (२।८२) ने व्यवस्था दी है कि यदि कोई साक्षी प्रतिवचन देने के उपरान्त जाँच के समय मुकर जाता है तो उसे हारे हुए दल द्वारा दिये जाने वाले धन का आठ गुना दण्ड रूप में देना पड़ता है। यदि ऐसा अपराध किसी ब्राह्मण ने किया हो और उसके पास उतना धन न हो तो उसे देश-निष्कासन का दण्ड मिलता है या उसका घर गिरा कर मैदान के बराबर कर दिया जाता है। नारद (४।१९७) के अनुसार ऐसा साक्षी असत्यवादी साक्षी से भी गया बीता है। मनु (८।१०७), याज्ञ० (२।७६) एवं कात्यायन (४०५) ने कहा है कि यदि कोई जानकार साक्षी गवाही नहीं करता (मौन रह जाता है) और किसी रोग से पीड़ित या विपत्तिग्रस्त नहीं है तो उसे विवाद का धन दण्ड रूप में तथा उसका दशांश राजा को देना पड़ता है।

साक्ष्य-ग्रहण के उपरान्त मुख्य न्यायाधीश एवं सभ्य लोग साक्षियों पर विचार-विमर्श करते हैं। न्यायालय को इसका पता चलाना पड़ता है कि किन साक्षियों पर विश्वास करना चाहिए और कौन-से साक्षी कूट या कपटी हैं। कूट साक्षी को धर्मशास्त्रकारों ने बहुत बुरा कहा है; इससे लौकिक एवं पारलौकिक हानि होती है (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।११।

१२. साध्यार्थांशेपि गदिते साक्षिभिः सकलं भवेत्। स्त्रीसंगे साहसे चौर्ये यत्साध्यं परिकल्पितम्॥ कात्यायन (मिताक्षरा द्वारा याज्ञ० २।२० में, अपरार्क द्वारा पृ० ६७८ में तथा स्मृतिचन्द्रिका द्वारा २, पृ० ९० में उद्धृत)।

२९१८-९; गौतम १३।७ एवं २३)। मनु (८।११८) का कहना है कि यदि साक्षी-गण लोभ, भ्रामक विचार, भय, मित्रता, काम-पिपासा, क्रोध, अज्ञान एवं अल्पवयस्कता के वशीभूत होकर असत्य साक्ष्य देते हैं तो उन्हें दण्डित होना पड़ता है (८।१२०-१२२)। बृहस्पति ने घूसखोर न्यायाधीश, असत्य बोलने वाले साक्षियों एवं ब्राह्मण-हत्यारे को एक समान ही पापी माना है। इस विषय में और देखिए याज्ञ० (२।८१), कात्यायन (४०७)।[13] मिताक्षरा (याज्ञ० २।८१) ने लिखा है कि मनु (८।३८०) का यह कथन कि अपराधी ब्राह्मण को मृत्यु-दण्ड तथा शारीरिक दण्ड नहीं देना चाहिए, केवल प्रथम बार किये गये अपराधों के विषय में है, न कि अभ्यस्त अपराधी ब्राह्मणों के लिए। मनु (२।१०८) ने कहा है कि जब साक्ष्य देने के सात दिन के भीतर किसी साक्षी को रोग पकड़ लेता है, या उसके घर में आग लग जाती है या उसके किसी सम्बन्धी की मृत्यु हो जाती है, तो उसे कूट साक्षी समझना चाहिए, उसे विवाद की सम्पत्ति के बराबर अर्थदण्ड देना पड़ता है तथा राजा को भी दण्ड-स्वरूप कुछ धन देना पड़ता है। इस विषय में देखिए स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ९४), कात्यायन (४१०)। मनु (८।११७=विष्णुधर्मसूत्र) का कथन है कि यदि यह सिद्ध हो जाय कि किसी मामले में कूट साक्ष्य दिया गया है तो न्यायाधीश को चाहिए कि वह मुक़दमे को पुनः सुने और यदि निर्णय दिया जा चुका हो तो उसकी पुनः जाँच होनी चाहिए।

गौतम (१३।२४-२५), वसिष्ठ (१६।३६), मनु (८।१०४), याज्ञ० (२।८३), विष्णुधर्मसूत्र (८।१५) के मत से, यदि सत्य बोलने से चारों वर्णों का कोई व्यक्ति मृत्यु-दण्ड पा सकता है तो साक्षी असत्य बोल सकता है। मनु (८।१०५-१०६), याज्ञ० (२।८३) एवं विष्णुधर्मसूत्र (८।१६) ने व्यवस्था दी है कि इस प्रकार झूठ बोलने पर उच्च वर्णों के लोगों को प्रायश्चित्त-स्वरूप सरस्वती देवी के लिए अग्नि में कूष्माण्ड (वाजसनेयी संहिता २०।१४-१६ या तैत्तिरीयारण्यक १०।३-५) मन्त्रों के साथ घृत की आहुतियाँ या पके चावल की आहुतियाँ देनी चाहिए। मन्त्रों के विषय में कई विकल्प हैं। विष्णुधर्मसूत्र (८।१७) का कथन हैं कि शूद्र को वैसा करने पर दस गायों को एक दिन में खिलाना पड़ता था। सचमुच, मृत्यु-मुख से बचाने के लिए धर्मशास्त्रकारों ने असत्य साक्ष्य की जो छूट दी है वह आश्चर्यजनक है। शान्तिपर्व (४५।३५, १०९।१९) में जो आया है, सम्भवतः वही भावना स्मृतिकारों के मन में भी काम कर रही थी। शान्तिपर्व (१६५।३०) में आया है कि पाँच बातों में असत्य-भाषण से पाप नहीं लगता; स्त्री से (रति के समय) और विवाह के समय, हँसी-मजाक करते समय, अधिक धन नाश एवं प्राण-रक्षा के समय झूठ बोलना पाप नहीं है। वसिष्ठ (१६।३६) ने इन पाँचों को कुछ भिन्नता के साथ रखा है।[14] मनु (८।११२) में भी ऐसी ही व्यवस्था पायी जाती है। किन्तु प्राचीन ऋषि गौतम (२३।२९) ने इस प्रकार की छूट को ठीक नहीं माना है।[15]

नारद (४।२३५-२३६) का कथन है कि यदि ऋणदाता की असावधानी से लेखप्रमाण एवं साक्षी न हों तो तीन

१३. कूट सभ्यः कूटसाक्षी ब्रह्महा च समाः स्मृताः। बृहस्पति (व्यवहारप्रकाश, पृ० १३३); येन कार्यस्य लोभेन निर्दिष्टाः कूटसाक्षिणः। गृहीत्वा तस्य सर्वस्वं कुर्यान्निर्विषयं ततः।। कात्यायन (४०७, स्मृतिचन्द्रिका २, ९३ एवं अपरार्क पृ० ६७२)।

१४. प्राणत्राणेऽनृतं वाच्यमात्मनो वा परस्य च। गुर्वर्थे स्त्रीषु चैव स्याद्विवाहकरणेषु च।। शान्ति० ३४।२५; न नर्मयुक्तमनृतं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले। न गुर्वर्थं नात्मनो जीवितार्थे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि।। शान्तिपर्व १६५।३०; उद्वाहकाले रतिसंप्रयोगे प्राणात्यये सर्वधनापहारे। विप्रस्य चार्थे ह्यनृतं वदेयुः पञ्चानृतान्याहुरपातकानि।। वसिष्ठ १६।३६।

१५. विवाहमैथुननर्मार्तसंयोगेष्वदोषमेकेऽनृतम्। गौतम २३।२९।

प्रकार की विधियों में कोई एक कार्य में लायी जा सकती है; **चोदना प्रतिकालम्** (बार-बार रुपया चुकाने के लिए तकाजा करना), **युक्तिलेश** (तर्क देना) एवं **शपथ** (विशिष्ट शपथें एवं दिव्य प्रमाण)। कात्यायन (२३३) ने भी ऐसा कहा है। नारद (४।२३८) के अनुसार **युक्ति** ये हैं ; ऋणदाता को ऋणी के प्रति युक्तियाँ देनी चाहिए; स्वयं स्मरण करके तथा ऋणी को समय, स्थान एवं दोनों के सम्बन्ध का स्मरण दिलाकर। युक्ति का अर्थ कई प्रकार से लगाया गया है; न्यायसंगत तर्क (कात्यायन २१४) आदि। बृहस्पति ने **अनुमान** को इस सिलसिले में तीन प्रकार का माना है, किन्तु ये सब साक्षियों की तुलना में हीन हैं। व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ९५) का कथन है कि अनुमान तो हेतु एवं तर्क ही है। व्यवहारप्रकाश (पृ० १६७) का कहना है कि दीर्घकालीन भोग एवं बार-बार ऋणदाता द्वारा प्रेरित करने से आगम (स्वत्वाधिकार) का अथवा ऋण लेने का अनुमान होता है और इसे **युक्ति** के अन्तर्गत मानना चाहिए (कात्यायन)। "गो-बलीवर्द" की कहावत की भाँति कुछ विशिष्ट परिस्थितियों से उत्पन्न अनुमानों के अर्थ में ही **युक्ति** को लेना चाहिए। 'गो-बलीवर्द' की उक्ति का अर्थ 'स्तेय' के अध्याय में किया जायगा। अतः **युक्ति** का अर्थ है परिस्थितिजन्य प्रमाण, जो न्याय-कार्य से उत्पन्न किसी तथ्य के विषय में अनुमान करने से होता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।११।२९।६) का मत है कि सन्देह की स्थिति में न्यायाधीश को लिंगों (संकेतों अर्थात् अनुमान) एवं दैवों या दिव्यों (आर्डियल) से निर्णय करना चाहिए। वसिष्ठ (१९।३९) का अन्य ऋषियों के कथनों के आधार पर मत है कि वह व्यक्ति, जो अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित है या घायल है या चोरी के सामान के साथ पकड़ा गया है, चोर है या अपराधी है। यही बात दूसरे ढंग से मनु (९।२७० =मत्स्यपुराण २२७।१६६) ने भी कही है। शंख-लिखित का कथन है कि जो व्यक्ति किसी स्त्री के बालों के साथ खेलता पकड़ा जाय तो वह व्यभिचारी (परस्त्रीगामी) समझा जाता है, जो किसी घर के पास हाथ में लुकाठी के साथ पकड़ा जाय तो उसे आग लगाने वाला समझा जाना चाहिए, जो व्यक्ति मारे गये व्यक्ति के पास हथियार के साथ पाया जाय तो उसे हत्यारा समझना चाहिए तथा उसे जो चोरी के सामान के साथ पकड़ा जाय चोर समझना चाहिए। कौटिल्य (४।१२) एवं याज्ञ० (२।२८३) ने इसी प्रकार कहा है कि पुरुष एवं स्त्री का व्यभिचार निम्न बातों से प्रमाणित हो जाता है; हाथ में बाल हों, अधरों पर नाखून एवं दाँत के चिह्न हों, स्त्री या दोनों की स्वीकारोक्ति हो।[16] नारद (४।१७२-१७५) ने कहा है कि निम्न छः प्रकार के विवाद लिंगों अथवा परिस्थितियों से प्रमाणित हो सकते हैं, यथा—**आग लगाना**, हाथ में लुकाठी हो; **हत्या**, हत्या-स्थान पर हथियार-बन्द व्यक्ति हो; **बलात्कार**, परस्त्री के बालों के साथ खेलता हुआ व्यक्ति हो; **जलाशय खोल देना या बाँध तोड़ना**, हाथ में कुदाल हो; **वृक्ष काटना**, हाथ में कुल्हाड़ी हो; **आक्रमण**, हाथ में रक्तरंजित तलवार या गदा हो। किन्तु नारद (४।१७६) ने सचेत किया है कि ऐसे विवादों में निर्णय पर पहुँचने के लिए बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है, क्योंकि कभी-कभी कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्ति को विद्वेष के कारण फँसाने के लिए अपने शरीर पर घाव या चोट के चिह्न उत्पन्न कर लेते हैं। कात्यायन (३३७-३३८) ने व्यवस्था दी है कि यदि मुक़दमेबाज़ अपने विरोधी के ख़िलाफ़ घूस देने की बात सिद्ध कर देता है, हस्ताक्षर मिटा दिया गया है (जिससे लेखप्रमाण शुद्ध न सिद्ध हो सके), विरोधी ने साक्षियों एवं सभ्यों को घूस देने का लोभ दिया है, अपने धन को विरोधी ने छिपा लिया है (जिससे हारने पर उसका धन सुरक्षित रह जाय) आदि-आदि यदि सिद्ध हो जायँ तो वादी का प्रतिवेदन मान लिया जा सकता है, भले ही प्रतिवादी इसके विपक्ष में अपने को निर्दोष सिद्ध करने का यत्न करे।

न्यायाधीश बहुधा घोषित करते हैं—"साक्षी-गण झूठ बोल सकते हैं, किन्तु परिस्थितियाँ नहीं।" किन्तु यह कहावत अधिकतर भयानक सिद्ध होती है। परिस्थितियों से उत्पन्न प्रमाणों से ऐसे निर्णय हो जाते हैं जो अधिकतर भ्रामक

१६. केशाकेशिकं संग्रहणम्। उपलिंगनाद्वा शरीरोपभोगानां तज्जातेभ्यः स्त्रीवचनाद्वा॥ कौटिल्य (४।१२)।

एवं असत्य ठहर जाते हैं। इस प्रकार के निर्णयों की भ्रामकता से प्राचीन न्यायाधिकारी एवं स्मृतिकार परिचित थे। नारद के कथन की ओर अभी ऊपर संकेत किया जा चुका है। कौटिल्य (४।८) ने घोषित किया है; जो चोर नहीं है वह भी चोर-मार्ग से अचानक गुजर सकता है, या जाता हुआ दिखाई पड़ सकता है, इसी प्रकार कोई निर्दोष भी चोरों की जमात में उनके वस्त्र, हथियारों एवं सामानों के साथ यों ही अचानक देखा जा सकता है अथवा चोरी के सामान के पास देखा जा सकता है, यथा--माण्डव्य, जो चोर नहीं थे, किन्तु उन्होंने मार-पीट की वेदना से बचने के लिए अपने को भी चोर कहा; अतः राजा को सम्यक् परीक्षा के उपरान्त ही दण्ड देना चाहिए। परिस्थिति-जन्य प्रमाण मात्र (सरकमस्टैंसिएल एविडैन्स) के आधार पर ही स्थित रहने के दोष को माण्डव्य का उदाहरण (लीडिंग केस) स्पष्ट करता है। बिना सम्यक् तर्क-विचार के ऋषि माण्डव्य को चोर सिद्ध किया गया था।[17] मृच्छकटिक नाटक (अंक ९) भी परिस्थिति-जन्य प्रमाणों के आधार पर किये गये निर्णयों की भ्रामकता की ओर संकेत करता है।

नारद (४।२८९) ने व्यवस्था दी है कि जब परिस्थिति जन्य प्रमाण एवं उन पर आधारित अनुमानों से निर्णय करने में सफलता न हो तो न्यायाधीश को स्थान, समय एवं विवादी की शक्ति के अनुकूल दिव्य या शपथ दिलानी चाहिए, यथा--अग्नि, जल, आध्यात्मिक फल-प्राप्ति आदि। यही बात मनु (८।१०९) ने भी कही है। दिव्य प्रमाण को **दैवी क्रिया या समय-क्रिया** कहा जाता है (विष्णुधर्मसूत्र ९।१)। कुछ स्मृतियों ने शपथों और दिव्यों (आर्डियल) में भिन्नता घोषित की है, किन्तु मनु (८।१०९-११४) एवं नारद (४।२३९) ने ऐसा नहीं किया है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।९६) एवं सरस्वतीविलास (पृ० १०६) ने शपथों एवं दिव्य प्रमाण को दैव प्रमाण माना है। छोटे-छोटे विवादों में सामान्यतः शपथों की एवं गम्भीर अपराधों में दिव्य की आवश्यकता पड़ती थी। मिताक्षरा (याज्ञ० २।९६), व्यवहारमयूख (पृ० ४६) एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० १७०) का कथन है कि दिव्यों से सामान्यतः तुरत निर्णय होता है, किन्तु शपथों से देर लगती है, क्योंकि राजा को देखना पड़ता था कि शपथ लेने वाले पर एक सप्ताह या कुछ दिन के उपरान्त विपत्ति पड़ती है कि नहीं। व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ९६) ने शपथों एवं दिव्यों को तुला (तराजू) माना है। शंख-लिखित के अनुसार दिव्य-प्रमाण हैं तुला, विष-पान, अग्नि-प्रवेश, अग्नि में तपे हुए लोहे को पकड़ना, यज्ञ एवं दान से उत्पन्न फलों का त्याग तथा राजा द्वारा अन्य शपथें दिलाना। बृहस्पति का कथन है कि जब साक्षी, अनुमान एवं परिस्थिति-जन्य प्रमाणों में अन्तर पड़ जाय तो मामले का निर्णय दिव्य प्रमाण से करना चाहिए।

शपथ का आश्रय केवल व्यवहार अथवा न्याय-विधियों में ही नहीं लिया जाता, प्रत्युत सामान्य बातों में, यथा अपनी बात सिद्ध करने, अपने चरित्र एवं प्रसिद्धि को भी प्रमाणित करने में इसका आश्रय लिया जाता है। नारद (४।

१७. दृश्यते ह्यचोरोऽपि चोरमार्गे यदृच्छया संनिपाते चोरवेशशस्त्रभाण्डसामान्येन गृह्यमाणो दृष्टः, चोरभाण्डस्योपवासेन वा यथा हि माण्डव्यः कर्मक्लेशभयादचोरश्चोरोऽस्मीति ब्रुवाणः। तस्मात्समाप्तकरणं नियमयेत्। कौटिल्य (४।८); केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो हि निर्णयः। युक्तिहीनविचारे हि धर्महानिः प्रजायते।। चौरोऽचौरः साधुर्जायते व्यवहारतः। युक्तिं विना विचारेण माण्डव्यश्चौरतां गतः।। बृहस्पति (व्यवहारप्रकाश, पृ० १३-१४, पराशरमाधवीय ३, पृ० ३९)। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २५) ने नारद (१।४२) को उद्धृत किया है; यात्यचोरोपि चोरत्वं चोरश्चायात्यचोरताम्। अचोरश्चोरतां प्राप्तो माण्डव्यो व्यवहारतः।। माण्डव्य ने मौनव्रत धारण किया था, अतः कठिन यातना के भय से उन्होंने मौन रूप से चोरत्व स्वीकार कर लिया, क्योंकि वे चोरी की गयी सम्पत्ति के पास पाये गये थे। आगे चलकर उनकी स्वीकारोक्ति का भण्डाफोड़ हुआ। माण्डव्य का यह वृत्तान्त एक प्रसिद्ध दृष्टान्त कहा जाता है और परिस्थितिजन्य प्रमाणों की भ्रामकता की ओर संकेत करता है।

२४३-२४४) ने वसिष्ठ द्वारा **यातुधान** (राक्षस या ऐन्द्रजालिक) कहे जाने तथा सप्त ऋषियों द्वारा कमल-सूत्र चुराने का अपराध लगाये जाने पर शपथ लेने की बात कही है।[१८] इस विषय में और देखिए मनु (८।११०), जहाँ उन्होंने पिजवन के पुत्र सुदास के समक्ष वसिष्ठ द्वारा शपथ लेने की चर्चा की है। वसिष्ठ पर विश्वामित्र द्वारा यह आरोप लगाया गया कि उन्होंने अपने सौ पुत्रों को खा डाला था। देखिए नारद (४।२४३) और मनु (८।११०), जहाँ ऋग्वेद (७।१०४। १५-१६) का हवाला दिया गया है। मनु (८।११३) एवं नारद (४।१९९) ने जातियों के अनुरूप विभिन्न शपथों की ओर संकेत किया है। अपनी स्त्रियों एवं पुत्रों के सिर पर हाथ रखकर भी शपथ लेने की विधि थी (मनु ८।११४)। सत्य का सहारा लेकर शपथ लेने की चर्चा पाणिनि (५।४।६६, सत्याद् अशपथे) ने भी की है। नारद (४।२४९) ने गम्भीर अपराधों में दिव्यों का तथा कम महत्त्व वाले विवादों में शपथों का उल्लेख किया है। नारद (४।२४८) ने वर्णन किया है---जैसा कि मनु ने कहा है, शपथ की घोषणा सत्य, अश्वों, हथियारों, पशुओं, अन्नों, सोना, देव-पादों, पूर्वपुरुषों, दान एवं सद्गुणों के नाम से की जाती है। बृहस्पति ने मनु एवं नारद की बात मान ली है और कहा है कि ये शपथ अर्थमूल एवं हिंसामूल (सिविल एवं क्रिमिनल) छोटे-छोटे विवादों में प्रयुक्त होती हैं। इस विषय में और देखिए विष्णुधर्मसूत्र (९।५-१० एवं ९।११-१२), मनु (८।१११) एवं याज्ञ० (२।२३६)।

आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।११।२) ने कहा है कि जब सन्देह उत्पन्न हो जाय तो अपराधी राजा द्वारा दण्डित नहीं होना चाहिए। इसी को आजकल 'सन्देह का लाभ' (बेनिफिट आव डाउट) कहते हैं। स्पष्ट है, यह सुन्दर उक्ति ईसा के जन्म के शताब्दियों पूर्व घोषित हुई थी।[१९]

१८. अनुशासनपर्व (९५।१३-३५) में आया है कि सात ऋषियों ने एक-दूसरे को कमल-सूत्र चुराने का अपराध लगाया और सभी ने बारी-बारी से शपथ ली। अहल्या के विषय में अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए इन्द्र ने भी शपथ ली थी।

१९. न च सन्देहे दण्डं कुर्यात्। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।११।२)।

अध्याय १४

दिव्य

यहाँ पर दिव्यों का विवरण संक्षिप्त रूप में उपस्थित किया जा रहा है। ऋग्वेद (१।१५८।४-५)[1] में उचथ के पुत्र दीर्घतमा ने प्रार्थना की है कि दसगुनी लकड़ियों अथवा ईंधनों की अग्नि उसे जला न सके, वे नदियाँ, जिनमें वह हाथ-पाँव बाँधकर फेंक दिया गया है, उसे डुबा न सकें। इस कथन में कुछ लोगों ने अग्नि एवं जल के दिव्यों का संकेत पाया है। किन्तु लगता है, ऐसी बात है नहीं, यहाँ पर त्रैतन के नेतृत्व में दासों द्वारा दीर्घतमा को दिये गये कठोर बर्ताव की ओर संकेत मात्र है। इसी प्रकार ऋग्वेद (३।५३।२२)[2] का यह कथन "वह कुल्हाड़ी गर्म कर रहा है", उस दिव्य की ओर संकेत नहीं करता जिसमें गर्म कुल्हाड़ी पकड़ी जाती है।[3] अथर्ववेद (२।१२।८) के कथन में भी पश्चिमी विद्वानों को दिव्य की झलक मिली है, हाँ, आठवें मंत्र से कुछ ऐसा प्रकट होता है।[3] पंचविंश (या ताण्ड्य) ब्राह्मण (१४।६।६) ने वत्स की कथा कही है। वत्स की विमाता ने उसे शूद्रा से उत्पन्न कहा और वत्स ने इसका विरोध कर कहा कि वह ब्राह्मण है। वह अपने कथन की पुष्टि के लिए अग्नि में कूद पड़ा और बिना जले निकल आया। मनु (८।११६) ने भी इस कथा की चर्चा की है। सम्भवतः संस्कृत साहित्य में यह दिव्य का प्राचीनतम उदाहरण है। छान्दोग्योपनिषद् (६।१६।१) में गर्म कुल्हाड़ी पकड़े जाने की चर्चा हुई है, जो दिव्य-सम्बन्धी दूसरा प्राचीन उदाहरण है। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र (२।११।२९।६) में भी दिव्य की चर्चा है। एक अन्य स्थान (२।५।११।३) पर भी आपस्तम्ब ने ऐसा ही कहा है--दिव्य प्रमाण से एवं (साक्षियों से) प्रश्न करके राजा को दण्ड देना चाहिए। शंख-लिखित ने चार प्रकार के दिव्यों के नाम लिये हैं, यथा--तुला, विष, जल एवं जलता हुआ लोह। मनु (८।११४) ने केवल दो के नाम लिये हैं, यथा--हाथ से अग्नि उठाना (अर्थात् जलता हुआ लोह पकड़ना) तथा जल में कूदना। किन्तु नारद (४।२५१) के कथनानुसार मनु ने दिव्य के पाँच प्रकार दिये हैं। याज्ञ० (२।९५), विष्णुधर्मसूत्र (९-१४) एवं नारद (४।२५२) ने पाँच प्रकार दिये हैं, यथा--तुला, अग्नि, जल, विष एवं कोश (पवित्र किया हुआ जल)। किन्तु दो अन्य प्रकार भी ज्ञात थे; तप्त माष (४।३४३) एवं तण्डुल (४।३३७)। बृहस्पति एवं पितामह ने नौ प्रकार दिये हैं (अपरार्क, क्रम से पृ० ६२८ एवं ६९४)।

पितामह द्वारा उपस्थापित दिव्य-सूची के विशद विवरण याज्ञ० (२।९५-११३), विष्णुधर्मसूत्र (९-१४), नारद (४।२३९-३४८), कात्यायन (४११-४६१) एवं शुक्र (४।५।२३३-२७०) में प्राप्त होते हैं। ईसा की आरम्भिक

१. मा मामेधो दशतयश्चितो धाक् प्र यद्वां बद्धस्त्मनि खादति क्षाम्॥ न मा गरन्नद्यो मातृतमा दासा यदीं सुसमब्धमवाधुः॥ ऋग्वेद (१।१५८।४-५)।

२. परशुं चिद्धि तपति शिम्बलं चिद्धि वृश्चति। उखा चिदिन्द्र येषन्ती प्रयस्ता फेनमस्यति॥ ऋग्वेद (३।५३।२२)।

३. आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि। अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु॥ (अथर्ववेद २।१२।८।)

शताब्दियों में दिव्यों का प्रचलन था, जैसा कि मृच्छकटिक (९।४३) नाटक (जहाँ विष, जल, तुला एवं अग्नि का उल्लेख है) एवं बाण की कादम्बरी (४७) से प्रकट होता है। निबन्धों एवं टीकाओं में मिताक्षरा, स्मृतिचन्द्रिका, दिव्यतत्त्व (रघुनन्दनलिखित), व्यवहारमयूख एवं व्यवहारप्रकाश दिव्य-विवेचन में प्रमुख स्थान रखते हैं।

मानुष प्रमाण द्वारा न सिद्ध होने पर विवाद को निर्णय तक पहुँचाने में दिव्य सहायक होते है। इसी से दिव्य की परिभाषा यों दी गयी है--'मानुष-प्रमाण से निश्चित न होने पर जो विवाद को तय करता है, उसे दिव्य कहते हैं' (व्यवहारमयूख) तथा 'जो मानुष-प्रमाण से न हो सके या न सिद्ध किया जा सके उसे जो सिद्ध करता है वह दिव्य कहलाता है' (दिव्यतत्त्व, पृ० ५७४)।[४] मनु (८।११६) की व्याख्या में मेधातिथि ने सत्य के उद्घाटन में दिव्य के आश्रय लेने के प्रश्न पर विचार किया है। यहाँ विरोध खड़ा होता है कि अग्नि एवं जल प्राकृतिक शक्तियाँ हैं जो एक समान रूप में कार्यशील होती हैं, वे ऐसी शक्तियाँ हैं जो जीवों की भाँति ऐसी बुद्धि नहीं रखतीं कि मनुष्यों को अपना मन परिवर्तन करने में प्रेरित कर सकें। अतः विरोधी कहता है कि दिव्य एवं शपथ इन्द्रजाल (जादू) के समान हैं जो लोगों को सत्य बोलने के लिए भयभीत करते हैं। इसका उत्तर यों है--"असफलताओं के उदाहरणों से दिव्य की उपयोगिता नहीं घटती; क्योंकि वे अधिकता से प्रयुक्त नहीं होते और न वे प्रत्यक्ष ही हैं और उनके आधार पर किये गये अनुमान अनिश्चयात्मक प्रतिफल लाते हैं इसी लिए वे अनुपयोगी हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इन दिव्यों पर विश्वास नहीं होना चाहिए, ऐसा कोई नहीं कह सकता। जिस प्रकार साक्षियों पर विश्वास किया जाता है (यद्यपि वे झूठे भी हो सकते हैं) उसी प्रकार दिव्यों पर भी विश्वास किया जा सकता है। यदि दिव्यों से असफलता मिले तो यह समझना चाहिए कि दिव्य लेने वाले के पूर्वजन्म का यह प्रतिफल है।" याज्ञ० (२।२२), नारद (२।२९, ४।२३९), बृहस्पति,[५] कात्यायन (२१७) एवं पितामह ने दिव्यों के विषय में यह सामान्य नियम दिया है कि इनका प्रयोग तभी होना चाहिए जब कि अन्य मनुष्य-प्रमाण (यथा--साक्षी-गण, लेख-प्रमाण, भोग) या परिस्थितिजन्य प्रमाण उपस्थित न हों। कात्यायन (२१८-२१९) का कथन है कि यदि एक दल मानुष प्रमाण में विश्वास करे और दूसरा दिव्य प्रमाण पर, तो राजा (या न्यायाधीश) को मानुष प्रमाण स्वीकार करना चाहिए; यदि मानुष प्रमाण साध्य के किसी एक ही अंश को सिद्ध करे तो उसे ही मानना चाहिए न कि दिव्य प्रमाण का सहारा लेना चाहिए, भले ही दिव्य प्रमाण सम्पूर्ण साध्य से सम्बन्धित हो।[६] नारद (२।३०=४।२४१) का कथन है कि जब लेन-देन जंगल में, एकान्त में, रात्रि में, गृह के भीतर हो तब दिव्य प्रमाण ग्रहण करना चाहिए; यही नहीं, प्रत्युत साहस (हिंसा-कर्म) के वादों में, या जब निक्षेप (धरोहर) से इनकार हो तब भी ऐसा हो सकता है। कात्यायन (२३०) ने एकान्त में (वेष बदल कर) किये गये साहस के वादों में दिव्य ग्रहण की छूट दी है, किन्तु यह भी तभी जब कि मानुष प्रमाण उपस्थित न हो। कात्यायन (२२९) ने अपवाद भी दिये हैं; साहस, आक्रमण,

४. तत्र मानुषप्रमाणानिर्णेयस्यापि निर्णायकं यत्तद्दिव्यमिति लोकप्रसिद्धम्। अपिना मानुषप्रमाणसत्त्वेऽपि यत्र चैव घटाद्यङ्गीकारस्तत्राप्येतद् भवतीति सूचितम्। दिव्यतत्त्व (पृ० ५७४)।

५. प्रमाणहीने वादे तु निर्दोषा दैविकी क्रिया। बृहस्पति (व्यवहारप्रकाश, पृ० १६९); सम्भवे साक्षिणां प्राज्ञो दैविकीं वर्जयेत् क्रियाम्। कात्यायन (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ५१); यस्मिन् यस्मिन् विवादे तु साक्षिणां नास्ति सम्भवः। साहसेषु विशेषण तत्र दिव्यानि दापयेत्।। पितामह (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ९५)।

६. यद्येको मानुषीं ब्रूयादन्यो ब्रूयात्तु दैविकीम्। मानुषीं तत्र गृह्णीयान्न तु दैवीं क्रियां नृपः।। यद्येकदेशव्याप्तापि क्रिया विद्येत मानुषी। सा ग्राह्या न तु पूर्णापि दैविकी वदतां नृणाम्।। कात्यायन (मिताक्षरा, याज्ञ० २।२२; व्यवहारमातृका पृ० ३१५)।

मानहानि तथा अन्य शक्तिप्रयोग के वादों में मानुष प्रमाण अथवा दिव्य प्रमाण का आश्रय लिया जा सकता है।[७] नारद (४।२४२) ने स्त्री की पवित्रता के प्रश्न में, साहस-विवादों, धन या धरोहर से इनकार करने के मामलों में दिव्य की बात चलायी है। नारद के इस नियम से सीता का अग्नि-प्रवेश स्मरण हो आता है। बृहस्पति एवं पितामह ने स्थावर सम्पत्ति के विवादों में दिव्य प्रमाण-ग्रहण मना किया है।[८] यह एक सामान्य नियम था कि प्रतिवादी को ही दिव्य ग्रहण करना पड़ता था (कात्यायन ४११ = विष्णुधर्मसूत्र ९।२१)।[९] किन्तु याज्ञ० (२।९६) ने एक विकल्प दिया है कि दोनों पक्षों में कोई भी पारस्परिक समझौते के फलस्वरूप दिव्य ग्रहण कर सकता है और ऐसा करने पर दूसरे पक्ष को हार जाने पर अर्थ-दण्ड देना पड़ता था या शारीरिक दण्ड सहना पड़ता था। इसका तात्पर्य यह होता है कि मानुष प्रमाण से साध्य का भावात्मक रूप तथा दिव्य प्रमाण से उसका अभावात्मक रूप सिद्ध करना पड़ता था, यथा प्रतिवादी को ऋण न लेने की बात को दिव्य-ग्रहण से सिद्ध करना पड़ता था। अर्थ-दण्ड देना या शारीरिक दण्ड सहना, **शीर्षकस्थ** या **शिरस्थ** कहलाता था (याज्ञ० २।९५; विष्णुधर्मसूत्र ९।२० एवं २२; पितामह; नारद ४।२५७; कात्यायन ४१२-४१३)। याज्ञ० (२।९५) ने व्यवस्था दी है कि तुला, अग्नि, विष एवं जल के दिव्य अधिक धन वाले विवादों में ही लागू होने चाहिए। उन्होंने पुनः कहा है कि १००० पण (ताम्र) को अधिक धन कहा जाता है (२।९९)। राजद्रोह एवं पंच महापातकों में बिना धन की परवाह किये उपर्युक्त दिव्यों में कोई भी ग्रहण किया जा सकता है। जब वादी हार जाने पर दण्ड देने को सन्नद्ध रहे तो प्रतिवादी द्वारा कोई भी दिव्य ग्रहण किया जा सकता है। थोड़े या कम सभी प्रकार के धन के विवादों में **कोश** नामक दिव्य का ग्रहण मान्य था, चाहे वादी हार जाने पर दण्ड देने को प्रतिश्रुत रहे या न रहे।

याज्ञ० (२।९८) के मत से **तुला** नामक दिव्य स्त्रियों, अल्पवयस्कों (१६ वर्ष से नीचे), बूढ़ों (अस्सी वर्ष के), अन्धों, लूले-लँगड़ों, ब्राह्मणों एवं रोगियों के लिए है, **अग्नि** (जलता हुआ हल का फाल या तप्त माष) क्षत्रियों के लिए, **जल** वैश्यों के लिए तथा विष शूद्रों के लिए है। यही बात नारद (४।३३५) ने भी कही है। नारद (४।२५६) ने कहा है कि व्रतधारियों, विपत्ति-ग्रस्त लोगों, तापसों एवं स्त्रियों को दिव्य ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस सूची में पितामह ने नाबालिगों एवं बूढ़ों को जोड़ दिया है। किन्तु इस विषय में स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० १०३) ने कहा है कि यह छूट केवल अग्नि, विष एवं जल के लिए है। एक स्मृति (मिताक्षरा, याज्ञ० २।९८) के मत से तुला एवं कोश नामक दिव्यों का ग्रहण स्त्रियों, नाबालिगों आदि के लिए भी मान्य है। इन उक्तियों में मानव की दुर्बलताओं के प्रति सहिष्णुता, दयालुता एवं अनुराग की गंध मिलती है। कात्यायन (४२३) के मत से उच्च जातियों के चरवाहों (गोरक्षकों या गोरखियों), व्यापारियों, शिल्पकारों, भाटों, नौकरों एवं सूदखोरों को शूद्र वाला दिव्य ग्रहण करना चाहिए। कात्यायन (४२२) ने सभी वर्णों या जातियों के लिए सभी प्रकार के दिव्य की व्यवस्था दी है, केवल ब्राह्मण को **विष** नामक दिव्य से बरी रखा है। कात्यायन (४२४-४२६) के मत से लोहारों या कोढ़ियों के लिए **अग्नि**, मल्लाहों या उनके लिए जो श्वास या

७. गूढसाहसिकानां तु प्राप्तं दिव्यैः परीक्षणम्। कात्यायन (मिताक्षरा, याज्ञ० २।२२ एवं स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ५१)। प्रक्रान्ते साहसे वादे पारुष्ये दण्डवाचिके। बलोद्भूतेषु कार्येषु साक्षिणो दिव्यमेव वा॥ कात्यायन (मिताक्षरा, याज्ञ० २।२२, अपरार्क, पृ० ६२९ एवं स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ५१)।

८. स्थावरेषु विवादेषु दिव्यानि परिवर्जयेत्। पितामह (मिताक्षरा, याज्ञ० २।२२, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ५३); वाक्पारुष्ये महीवादे निषिद्धा दैविकी क्रिया। बृहस्पति (अपरार्क, पृ० ६२९ एवं स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ५३)।

९. न कश्चिदभियोक्तारं दिव्येषु विनियोजयेत्। अभियुक्ताय दातव्यं दिव्यं दिव्यविशारदैः॥ कात्यायन (अपरार्क, पृ० ६९५, पराशरमाधवीय ३।१५३, व्यवहारप्रकाश, पृ० १७२)।

खाँसी से ग्रस्त हैं जल, झाड़-फूंक करने वालों, योगियों, पित्त-ग्रस्त लोगों के लिए विष तथा शराबियों, विषयासक्तों, जुआ-रियों एवं नास्तिकों के लिए कोश वर्जित माना गया है। यही नियम विष्णुधर्मसूत्र (९।२५ एवं २९), नारद (४।२५५ एवं ३३२) में भी पाये जाते हैं। कात्यायन (४२७-४३०) के मत से इन लोगों को स्वयं दिव्य-ग्रहण वर्जित है--पिता, माता, ब्राह्मण, गुरु, नाबालिग, स्त्री एवं राजा के हन्ता; पंचमहापातकी; विशेषतः नास्तिक लोग, जो विशिष्ट सम्प्रदाय-चिह्न रखते हों; महादुष्ट लोग; झाड़-फूंक करने वाले तथा यौगिक क्रियाएँ करने वाले; विभिन्न वर्णों के संयोग से उत्पन्न सन्तान (वर्णसंकर) एवं बार-बार पाप करने वाले। इन लोगों के स्थान पर इनके द्वारा नियुक्त भले लोग या भले लोगों के तैयार न होने पर उनके सम्बन्धी दिव्य ले सकते हैं। शंख-लिखित ने भी मित्रों एवं सम्बन्धियों को प्रतिनिधि-रूप में दिव्य के लिए ग्राह्य माना है। कात्यायन (४३३) का कथन है कि जब अस्पृश्य, हीन जाति के लोग, दास, म्लेच्छ एवं प्रतिलोमप्रसूत लोग (अर्थात् ऐसे लोग जो प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न हों, यथा शूद्र पुरुष तथा वैश्य नारी से या वैश्य पुरुष तथा क्षत्रिय नारी से उत्पन्न व्यक्ति) अपराधी हों, उनके अपराधों का निर्णय राजा द्वारा नहीं होना चाहिए; राजा को चाहिए कि वह प्रचलित दिव्यों की ओर निर्देश कर दे।[१०] स्मृतिचन्द्रिका एवं पराशरमाधवीय का कथन है कि यह उसी मामले में लागू होता है जिसमें कि सम्बन्धी या अन्य व्यक्ति प्रतिनिधि रूप में प्रसिद्ध दिव्यों के लिए उपलब्ध नहीं होते। व्यवहारतत्त्व (पृ० ५७९) का कहना है कि म्लेच्छों एवं अन्य लोगों के लिए घट-सर्प आदि दिव्य लागू होते हैं। घट-सर्प दिव्य में उस घड़े में अँगूठी या सिक्का डालना पड़ता था और उसे निकालना पड़ता था जिसमें सर्प रखा रहता था। यदि सर्प न काटे अथवा काट लेने पर व्यक्ति न मरे तो उसे निरपराधी घोषित कर दिया जाता था (देखिए टिप्पणी सं० १०)। याज्ञ० (२।९७) एवं नारद (४।२६८ एवं ३२०) का कथन है कि सभी प्रकार के दिव्य मुख्य न्यायाधीश के समक्ष सूर्योदय के समय या अपराह्न में राजा, सभ्यों एवं ब्राह्मणों के समक्ष कार्यान्वित होते थे। मिताक्षरा में लिखा गया है कि शिष्ट लोगों की परम्परा से रविवार उचित दिन माना जाता है। पितामह के अनुसार 'जल' दिव्य दोपहर के समय तथा 'विष' दिव्य रात्रि के अन्तिम प्रहर में होना चाहिए (मिताक्षरा, याज्ञ० २।९७)। इसी प्रकार कुछ ऋतुएँ एवं मास भी उपयुक्त या अनुपयुक्त समझे जाते थे, यथा--नारद (४।२५४) के अनुसार अग्नि दिव्य वर्षा ऋतु में उपयुक्त है, तुला शिशिर ऋतु में, जल ग्रीष्म ऋतु में तथा विष शीत ऋतु में। नारद (२।२५९) ने जल के

१०. अस्पृश्याधमदासानां म्लेच्छानां पापकारिणाम्। प्रातिलोम्यप्रसूतानां निश्चयो न तु राजनि ।। तत्प्रसिद्धानि दिव्यानि संशये तेषु निर्दिशेत् ।। कात्यायन (मिताक्षरा, याज्ञ० २।९९; स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १०४; पराशरमाधवीय ३, पृ० १६१; 'तत्प्रसिद्धानि सर्पघटादीनि' व्यवहारतत्त्व (पृ० ५७९); व्यवहारप्रकाश (१८०) 'तत्प्रसिद्धानि सर्पघटादीनि इति स्मृतितत्त्वे।' विक्रमादित्य षष्ठ (१०९८ ई०) के गदग नामक अभिलेख में (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १५, पृ० ३४८, पृ० ३६०) ऐसा आया है--"हम खौलता हुआ जल छूते हैं, हम घट में रखे गये बड़े सर्प को ठोकते हैं या हम तुला पर चढ़ जाते हैं।" महामण्डलेश्वर कार्तवीर्य चतुर्थ के अभिलेख (१२०८ ई०) में (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द १९, पृ० २४२, पृ० २४६) आया है कि सुगन्धवर्ती (सौण्डत्ती) के रट्टों के राजा लक्ष्मीधर की रानी चन्द्रिका (या चन्दलदेवी) पतिव्रता थी और उसे घटसर्प से सफलता मिली--"भाति श्लाघ्यगुणा प्रतिव्रततया देवी चिरं चन्द्रिका संप्राप्ता घटसर्पजातविजयं लक्ष्मीधरप्रेयसी।" बाम्बे गजेटियर (भाग १, परिच्छेद २, पृ० ५५६, टिप्पणी ५) ने एशियाटिक रिसर्चेज (भाग १) का एक उद्धरण दिया है जिससे घटसर्प के दिव्य का परिचय मिलता है; घट में साँप रहता है, उसमें अँगूठी या कोई सिक्का डालकर निकाला जाता है। और देखिए १९२४ सन् वाली रिपोर्ट आव साउथ इण्डियन एपिग्राफी, जहाँ खौलते हुए घी या तेल में अँगुलियाँ डालने के दिव्य का उल्लेख है।

लिए शीत ऋतु, अग्नि के लिए ग्रीष्म, विष के लिए वर्षा एवं तुला के लिए तीक्ष्ण वायु को वर्जित माना है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।९७) एवं पराशरमाधवीय (३, पृ० १६२) ने पितामह का उद्धरण देते हुए लिखा है कि चैत्र, वैशाख, मार्गशीर्ष सभी दिव्यों के लिए उपयुक्त हैं तथा कोश एवं तुला सभी मासों में किये जा सकते हैं।

स्थान के विषय में पितामह ने व्यवस्था दी है कि दिव्य-ग्रहण राजा या राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधीश द्वारा विद्वान् ब्राह्मणों एवं जनता (या मन्त्रियों) के समक्ष होना चाहिए। कात्यायन (४३४-३५ एवं ४३७) ने लिखा है--गम्भीर पापों के मामलों में प्रसिद्ध मन्दिर में, राजद्रोह में राजद्वार के पास, वर्णसंकरों (प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न) के लिए चौराहे पर और इनके अतिरिक्त अन्य मामलों में न्यायालयों में दिव्य प्रयोग किया जाना चाहिए। अनुपयुक्त स्थानों एवं कालों में तथा निर्जन में किये गये दिव्यों को अनुपयुक्त समझा जाता है अर्थात् वे मामलों के निर्णयों में कोई प्रभाव नहीं रखते। नारद (४।२६५) का कथन है कि तुला को न्यायालय में, राजद्वार पर, मन्दिर में या चौराहे पर रखना चाहिए।

दिव्य-विधि, जैसा कि मिताक्षरा (याज्ञ० २।९७ एवं ९९), व्यवहारमयूख (पृ० ५२-५५), व्यवहारप्रकाश (पृ० १८३-१८८), व्यवहारनिर्णय (पृ० १४८-१५३) में उल्लिखित है, इस प्रकार है--जिस प्रकार यज्ञों में अध्वर्यु होता है और उसी का निर्देशन सर्वोच्च एवं सर्वमान्य होता है, उसी प्रकार राजा का आदेश मुख्य न्यायाधीश के लिए दिव्य के विषय में होता है। मुख्य न्यायाधीश एवं दिव्य ग्रहण करने वाला अर्थात् **शोध्य** उपवास करता है। दोनों को प्रातःकाल स्नान करना होता है। शोध्य भींगे कपड़े पहने रहता है। न्यायाधीश देवों की अभ्यर्थना करता है और गाजे-बाजे के साथ पुष्प, चन्दन एवं धूप आदि देता है। वह हाथ जोड़कर पूर्वाभिमुख होकर दिव्य में उपस्थित होने के लिए धर्म की अभ्यर्थना करता है और इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर को पूर्व से लेकर सभी दिशाओं में स्थापित करता है, अग्नि एवं अन्य दिक्पालों को मुख्य कोणों के किनारे रखता है। आठों दिशाओं में आठ देवों पर (विभिन्न रंगों में; इन्द्र का पीत, यम का काला . . .) ध्यान केन्द्रित करता है। वह आठ वसुओं को (उनके नाम लेकर) इन्द्र के दक्षिण, बारह आदित्यों को (उनके नाम लेकर) इन्द्र एवं ईशान के बीच (अर्थात् पूर्व एवं उत्तर-पूर्व के बीच) स्थान देता है, ग्यारह रुद्रों को अग्नि के पूर्व, सात मातृकाओं को यम एवं निर्ऋति के बीच (अर्थात् दक्षिण एवं दक्षिण-पश्चिम के बीच) स्थान देता है, गणेश को निर्ऋति के उत्तर सात मरुतों को वरुण के उत्तर स्थान देता है, दिव्यों के उत्तर दुर्गा का आह्वान करता है। इन सभी देवों का आह्वान उपयुक्त वैदिक मन्त्रों के साथ होता है (सभी मन्त्र व्यवहारमयूख में दिये गये हैं)। इसी प्रकार अन्य पूजा-अर्चन किये जाते हैं जिनका वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है। एक पत्ते पर दिव्य का उद्देश्य लिखकर उसे शोध्य के सिर पर मन्त्र के साथ रख दिया जाता है जिसका अर्थ यह है--सूर्य, चन्द्र, अनिल (वायु), अनल (अग्नि), स्वर्ग, पृथिवी, जल, हृदय, यम, दिन, रात्रि, दोनों सन्ध्याएँ एवं धर्म मानव के कार्यों से परिचित हैं। इस विषय में देखिए आदिपर्व (७४।३०), व्यवहारनिर्णय (पृ० १५३), मनु (८।८६)। अब हम नीचे कतिपय दिव्यों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

तुला या धट का दिव्य

वैदिक मन्त्रों के साथ कोई यज्ञिय वृक्ष, यथा--खदिर या उदुम्बर, काट लिया जाता है। उसी वृक्ष के दो स्तम्भों पर **अक्ष** (तुलाधार) लटका दिया जाता है। स्तम्भों को दो हाथ पृथिवी में गाड़ दिया जाता है और पृथिवी के ऊपर उनकी दूरी चार हाथ रहती है। ये खम्भे उत्तर-दक्षिण रहते हैं। एक हुक लगाकर अक्ष से तुला (तराजू) की डाँड़ी लटका दी जाती है। दो पलड़े लटका दिये जाते हैं। एक में शोध्य को बिठला दिया जाता है और उसे मिट्टी, ईंटों तथा प्रस्तर-खण्डों से तोला जाता है। यह सब विधिपूर्वक किया जाता है। विधियों का वर्णन यहाँ नहीं दिया जा रहा है। एक बार तोलकर शोध्य को उतार दिया जाता है। उसको असत्य-भाषण से उत्पन्न फल सुनाये

जाते हैं। इसके उपरान्त मन्त्रों के साथ वह पुनः बैठाया जाता है। एक ज्योतिषी पाँच पलों की गणना करता है। उसकी दूसरी बार की तोल ले ली जाती है। यदि वह दूसरी बार पहली बार की तुलना में कम ठहरता है तो उसे निरपराधी घोषित कर दिया जाता है। किन्तु यदि वह ज्यों-का-त्यों अथवा कुछ भारी ठहरता है तो अपराधी माना जाता है। बृहस्पति का कथन है कि बराबर तोल आने पर पुनः तोल की जाती है।

अग्नि का दिव्य

अग्नि, वरुण, वायु, यम, इन्द्र, कुबेर, सोम, सविता एवं विश्वेदेवों के नाम पर गोबर के ९ वृत्त पश्चिम से पूर्व बनाये जाते हैं। प्रत्येक वृत्त १६ अंगुल व्यास का होता है और वे एक-दूसरे से १६ अंगुल दूरी पर रहते हैं। प्रत्येक वृत्त में कुश रख दिये जाते हैं और प्रत्येक में शोध्य को अपना पाँव रखना पड़ता है। अग्नि में १०८ बार घृत की आहुतियाँ दी जाती हैं। एक लोहार जाति का व्यक्ति तोल में ५० पल (दुर्बल व्यक्ति के लिए केवल १६ पल) तथा लम्बाई में आठ अंगुल का लोह-खण्ड अग्नि में तप्त करता है और इतना तप्त करता है कि उससे चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। इसके उपरान्त सभी प्रकार के कृत्य, जिन्हें संक्षेप में तुला के सम्बन्ध में बताया गया है, सम्पादित होते हैं और शोध्य के सिर पर पत्र लिखकर रख दिया जाता है। मन्त्रों के साथ अग्नि का आह्वान किया जाता है। शोध्य पूर्वाभिमुख प्रथम वृत्त में खड़ा होता है। शोध्य के दोनों हाथों पर लाल चिह्न बना दिये जाते हैं और उन पर चावल रगड़ दिये जाते हैं। न्यायाधीश उसके हाथों पर अश्वत्थ (पीपल) की सात पत्तियाँ रख देता है और उनके साथ चावल और दही रखा जाता है। सबको सूत से बाँध दिया जाता है। न्यायाधीश चिमटे से तप्त लोहे को शोध्य के पत्तियों से बँधे हाथों पर रख देता है। शोध्य धीरे-धीरे आठ वृत्तों तक चलता है और नवें वृत्त में दोनों हाथों वाले तप्त लोहे को फेंक देता है। इसके उपरान्त न्यायाधीश शोध्य के हाथों को पुनः चावलों से रगड़ता है। यदि शोध्य ऐसा करने देने में कोई हिचकिचाहट नहीं प्रकट करता और उसके हाथों पर दिन के अन्त तक कोई घाव नहीं दीखता तो वह निरपराधी घोषित हो जाता है। कात्यायन (४४१) एवं याज्ञ० (२।१०७) ने व्यवस्था दी है कि यदि लोहखण्ड आठवें वृत्त तक पहुँचने के पूर्व ही गिर जाता है या कोई सन्देह उत्पन्न हो जाता है (उसका हाथ जला है कि नहीं) या वह लड़खड़ा पड़ता है या हाथ में कहीं और जल जाता है तो शोध्य को पुनः यह दिव्य करना पड़ता है।

जल का दिव्य

जल के दिव्य का वर्णन स्मृतियों एवं निबन्धों में जटिल है। स्मृतिचन्द्रिका ने (२, पृ० ११६) जल एवं विष के दिव्यों को अपने काल में अप्रचलित कहकर छोड़ दिया है। किसी जलाशय के पास पहुँचकर न्यायाधीश उसके किनारे शोध्य के कान तक ऊँचा एक तोरण खड़ा करता है। वह वरुण (जल-देवता), मझोले आकार के धनुष एवं तीन बाणों की (जिनकी नोंकें लोहे की नहीं प्रत्युत बाँस की होती हैं) अर्चना चन्दन, धूप, दीप एवं पुष्प से करता है। तोरण से १५०हाथ की दूरी पर एक लक्ष्य निर्धारित कर दिया जाता है। किसी पवित्र वृक्ष का एक स्तम्भ लेकर तीन उच्च वर्णों का कोई व्यक्ति, जो शोध्य का वैरी नहीं होता, पूर्वाभिमुख होकर नाभि तक जल में खड़ा हो जाता है। तब न्यायाधीश शोध्य को जल में खड़ा करता है, और धर्म से लेकर दुर्गा तक के देवताओं की अभ्यर्थना करता है एवं अपराध लिखित कर शोध्य के सिर पर रखता है। इसके उपरान्त एक क्षत्रिय या ब्राह्मण (आयुधजीवी), जो पवित्र हृदय का होता है और उपवास किये रहता है, तोरण से लक्ष्य तक तीन बाण फेंकता है। शोध्य वरुण की उपासना करता है और कहता है—"हे वरुण, सत्य के द्वारा मेरी रक्षा करो।" तब तक फ़ुर्तीला युवक गिरे हुए दूसरे बाण के स्थान पर दौड़ जाता है और बाण को लेकर खड़ा हो जाता है। तोरण के पास दूसरा फुर्तीला व्यक्ति खड़ा हो जाता है। तब न्यायाधीश तीन

बार ताली बजाता है। तीसरी ताली के साथ ही शोध्य जल में खड़े व्यक्ति की जाँघ पकड़ कर डुबकी मारता है और तोरण के पास खड़ा व्यक्ति तेजी से दूसरे बाण वाले व्यक्ति के पास दौड़ जाता है। बाण वाला व्यक्ति तोरण के पास दौड़कर आता है और यदि वह शोध्य को नहीं देखता या केवल उसके सिर का ऊपरी भाग मात्र देखता है तो शोध्य निर्दोष सिद्ध हो जाता है। यदि वह शोध्य का कान या नाक देख लेता है या उसे अन्यत्र बहते हुए देखता है तो शोध्य अपराधी सिद्ध हो जाता है।

विष का दिव्य

धूप, दीप आदि से महेश्वर की मूर्ति के समक्ष पूजा-अर्चना के उपरान्त तथा देवों की मूर्ति एवं ब्राह्मणों के समक्ष विष रखकर विष-दिव्य सम्पादित किया जाता है। विष का चुनाव **शार्ङ्ग** (शृंग पौधे से निकाले हुए) या **वत्सनाभ** (वत्स नामक पौधे से निकाले हुए) या हैमवत से किया जाता है (विष्णुधर्मसूत्र १३।३, नारद ४।३२२ आदि)। वर्षा ऋतु में ६ यव, ग्रीष्म में ५ यव, हेमन्त (एवं शिशिर) में ७ या ८ यव, शरद में लगभग ६ यव के बराबर विष होना चाहिए। रात्रि के अन्तिम प्रहर में विष देना चाहिए किन्तु दोपहर, अपराह्ण या सन्ध्याकाल में कभी नहीं। विष में ३० गुना घी मिला दिया जाता है। ब्राह्मण को छोड़कर किसी को भी यह दिया जा सकता है। मन्त्र आदि से देवों का आह्वान किया जाता है। विष-पान के उपरान्त शोध्य छाया में बिना खाये-पीये सुरक्षा में रहता है। यदि विष का प्रभाव उस पर नहीं होता तो वह निर्दोष सिद्ध हो जाता है। यदि विष अधिक हो और शोध्य ५०० तालियाँ बजाने तक बिना प्रभाव के रह जाता है तो उसे निरपराधी मानकर उसकी दवा की जाती है (मिताक्षरा, याज्ञ० २।१११)। शोध्य को छल से बचाने के लिए (सम्भवतः वह पूर्व उपचार-स्वरूप कुछ खा-पी सकता है) उसे पितामह के मत से, तीन या पाँच रात्रियों तक राज-पुरुषों की अधीक्षकता में रखना चाहिए और उसकी जाँच कर लेनी चाहिए, क्योंकि विष से बचने के लिए गुप्त रूप से वह दवाओं, मन्त्रों अथवा रत्न आदि का उपयोग कर सकता है।

कोश का दिव्य

शोध्य को उग्र देवताओं (यथा रुद्र, दुर्गा, आदित्य) की चन्दन, पुष्प आदि से पूजा करनी पड़ती है और उनकी मूर्तियों को स्नान कराना होता है। न्यायाधीश शोध्य से 'सत्येन माभिरक्ष' (याज्ञ० २।१०८) मन्त्र के साथ पवित्र जल का आह्वान कराता है और उस जल को तीन बार हाथ से उसे पिलाता है। पितामह ने कुछ विशिष्ट नियम दिये हैं। वह जल या तो शोध्य के आराध्यदेव की मूर्ति का स्नान-जल हो सकता है, या यदि शोध्य सभी देवों को समान मानता है तो सूर्य की मूर्ति का स्नान-जल हो सकता है। दुर्गा के शूल को स्नान कराया जाता है, सूर्य के मण्डल तथा अन्य देवों के अस्त्रों को स्नान कराया जाता है। दुर्गा का स्नान-जल चोरों को तथा आयुधजीवियों को दिव्य के रूप में दिया जाता है। किन्तु सूर्य का स्नान-जल ब्राह्मणों को नहीं दिया जाता। अन्य दिव्यों का फल शीघ्र ही घोषित होता है किन्तु कोश दिव्य के फल के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है और यह अवधि विवाद की सम्पत्ति तथा अपराध की गुरुता पर निर्भर रहती है। याज्ञ० (२।११३), विष्णुधर्मसूत्र (१४।४-५) एवं नारद (४।३३०) के मत से कोश दिव्य के चौदह दिनों के उपरान्त यदि शोध्य पर राजा की व्यवस्था या देवों के क्रोध के कारण कोई विपत्ति नहीं घहराती, या उसका पुत्र या स्त्री नहीं मरती, वह गम्भीर रूप से बीमार नहीं पड़ता, उसका धन नष्ट नहीं होता, तो वह निर्दोष सिद्ध हो जाता है। थोड़ी बहुत हानि से कुछ नहीं होता, क्योंकि इस संसार में यह अपरिहार्य है। बीमारी का स्वरूप महामारी नहीं हो सकती, केवल उस पर गिरी आपत्ति, रोग आदि पर ही विचार किया जाता है। पवित्र जल का पान (**कोश-पान**) केवल निर्दोषिता सिद्ध करने के लिए ही नहीं किया जाता, यह अन्य लोगों के समक्ष अपनी सचाई एवं सद्विचार प्रकट करने के लिए भी किया जाता है (राजतरंगिणी, श्लोक ३२६)।

तन्दुल का दिव्य

यह दिव्य चोरी, ऋण या अन्य धन-सम्बन्धी विवादों में लागू होता है। एक दिन पूर्व धान से चावल निकाले जाते हैं। उसी दिन न्यायाधीश सभी कृत्य सम्पादित कर लेता है। मिट्टी के बरतन में चावल रखकर धूप में सुखाये जाते हैं। सूर्य के स्नान का जल उन पर छोड़ा जाता है। चावल जल के साथ रात भर रखे रहते हैं। दूसरे दिन प्रातः-काल शोध्य चावलों को तीन बार निगलता है। उसे पीपल या भूर्ज (भोज वृक्ष) की पत्ती पर थूकना पड़ता है। यदि उसके थूक में रक्त पाया जाय तो उसे अपराधी घोषित किया जाता है।

तप्त माष का दिव्य

तप्त माष का अर्थ है गर्म स्वर्ण-खण्ड। सोलह अंगुल व्यास वाले तथा चार अंगुल गहरे ताम्र, लोहे या मिट्टी के बरतन में न्यायाधीश बीस पल घृत या तेल डलवा कर उसे खौलाता है। इसके उपरान्त उस बरतन में एक मासा तोल का स्वर्ण-खण्ड डलवाता है। शोध्य को अँगूठे एवं पास वाली दो अँगुलियों (तर्जनी एवं मध्यमा) से उसे निकालना होता है। यदि उसकी अँगुलियों में कम्पन न हो और वे जलें नहीं तो शोध्य निर्दोष सिद्ध हो जाता है। एक दूसरी विधि भी है। किसी सोने, चाँदी, ताम्र, लोहे या मिट्टी के बरतन में गाय का घृत इतना खौलाया जाता है कि यदि उसमें कोई हरी पत्ती डाली जाय तो वह पकती हुई कड़कड़ाहट का स्वर उत्पन्न कर दे। उस घृत में सोने, चाँदी, ताम्र या लोहे की अँगूठी (मोहर) एक बार धोकर डाल दी जाती है। न्यायाधीश कहता है--"हे घृत, तुम यज्ञों में पवित्रतम वस्तु हो, तुम अमृत हो, यदि शोध्य पापी है तो उसे जला दो, यदि वह निरपराधी है तो हिम के समान शीतल हो जाओ।" तब शोध्य खौलते हुए घृत में से अँगूठी निकालता है। यदि तर्जनी पर जलने का चिह्न न दिखाई पड़े तो शोध्य निर्दोष सिद्ध हो जाता है।

फाल का दिव्य

इसका विवरण बृहस्पति, स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ११९), व्यवहारप्रकाश (पृ० २१८) आदि में मिलता है। तोल में बारह पलों वाला, आठ अंगुल लम्बा एवं चार अंगुल चौड़ा लोहे का फाल (हल का फाल) तपाकर लाल किया जाता है जिसे शोध्य को एक बार अपनी जीभ से चाटना पड़ता है। यदि वह नहीं जलता तो वह निर्दोष सिद्ध हो जाता है। व्यवहारतत्त्व (पृ० ६०८) ने लिखा है कि मैथिल लेखकों के अनुसार यह दिव्य पशु-चोरों के लिए प्रचलित था। छान्दोग्योपनिषद् में इसे फाल-दिव्य कहा गया है।

धर्म का दिव्य

इसमें धर्म की मूर्तियाँ या चित्र काम में लाये जाते हैं। यह दिव्य उन लोगों के लिए है जो शारीरिक चोट उत्पन्न कर देते हैं या जो धन-सम्बन्धी विवादी हैं या जो पापमोचन के लिए प्रायश्चित्त करना चाहते हैं। धर्म की एक रजतमूर्ति तथा अधर्म की सीसे या लोहे की मूर्ति बनवायी जाती है या न्यायाधीश स्वयं भूर्ज (भोज) पत्र या वस्त्र-खण्ड पर धर्म एवं अधर्म के चित्र क्रमशः श्वेत एवं कृष्ण वर्ण के बनाता है। वह उन पर **पंचगव्य** छिड़ककर क्रमशः श्वेत एवं कृष्ण पुष्पों से उनकी पूजा करता है। ये मूर्तियाँ या चित्र मिट्टी या गोबर के दो पिण्डों पर रखे जाते हैं। देवों की मूर्तियों एवं ब्राह्मणों की उपस्थिति में दोनों पिण्ड गोबर से लिपे-पुते स्थान पर एक नये मिट्टी के बरतन में रखे जाते हैं। इसके उपरान्त न्यायाधीश धर्म के आह्वान से लेकर अपराध लिखकर शोध्य के सिर पर रखे जाने तक के सारे कृत्य संपादित करता है। शोध्य कहता है--"यदि मैं निरपराधी हूँ तो धर्म की मूर्ति या चित्र मेरे हाथों में आ जाय।"

ऐसा कहकर शोध्य मिट्टी के बरतन से एक पिण्ड निकलता है। यदि धर्म का पिण्ड निकल जाता है तो वह निर्दोष सिद्ध हो जाता है। यह दिव्य भाग्य-परीक्षा के समान है।

अधिकतर सभी प्राचीन देशों में दिव्य का कोई-न-कोई रूप प्रचलित था। इंग्लैण्ड में तप्त लोह-खण्ड को पकड़ना तथा खौलते हुए पानी में हाथ डालना प्रचलित था। पानी में डूबे रहना निर्दोषिता का तथा ऊपर तैरते रहना अपराध का चिह्न माना जाता था। स्टीफेंस (हिस्ट्री आव क्रिमिनल ला आव इंग्लैण्ड, जिल्द १, पृ० ७३) ने लिखा है कि जल का दिव्य सम्मानपूर्वक आत्महत्या समझा जाता था। नार्थेम्पटन के असाइज़ (११७६ ई०) ने जल-दिव्य को हत्या, डकैती, चोरी, वंचकता एवं आग लगाने के अपराध में लागू करने को कहा है। किन्तु सन् १२१५ ई० में दिव्य अवैधानिक करार दे दिये गये (वही, जिल्द १, पृ० ३००)। भारत में दिव्यों की प्रथा अठारहवीं शताब्दी तथा बहुत कम अंशों में आगे तक प्रचलित थी, जैसा कि शिलालेखों, अभिलेखों तथा अन्य प्रमाणों से प्रकट होता है।[11] देखिए किट्टूर स्तम्भ अभिलेख (जे० बी० बी० आर० ए० एस०, जिल्द ९, पृ० ३०७-३०९), सिलिमपुर प्रस्तर-खण्ड-अभिलेख (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १३, पृ० २८३, पृ० २९१-२९२) आदि। सातवीं शताब्दी में विष्णुकुण्डिराज माधववर्मा ने बहुत-से दिव्य कराये थे, यथा "अवसित-विविध-दिव्यः" (जर्नल आव आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी, जिल्द ६, पृ० १७, २०,

११. बील के 'बुद्धिस्ट रेकर्ड्स् आव दी वेस्टर्न वर्ल्ड' (जिल्द १, पृ० ८४) एवं वाटर्स के 'युवान् च्वांग की यात्रा' (जिल्द १, पृ० १७२) नामक ग्रन्थों में चार प्रकार के दिव्य प्रचलित कहे गये हैं, यथा--जल, अग्नि, तुला एवं विष। जल के दिव्य में अपराधी को पत्थर के बरतन के साथ एक गठरी में रखकर जल में फेंक दिया जाता था। यदि व्यक्ति डूब जाता और पत्थर तैरता रहता तो वह अपराधी कहा जाता था, किन्तु यदि व्यक्ति तैरता रहता और पत्थर डूब जाता तो वह निर्दोष सिद्ध हो जाता था। अग्नि का दिव्य इस प्रकार का था; लोग लोहे की चद्दर को गर्म करते थे, अभियुक्त को उस पर बैठाते थे और पुनः उस पर उसका पाँव रखाते थे, फिर उस पर उसकी हथेलियाँ रखाते थे; इतना ही नहीं, अभियुक्त को उस पर अपनी जिह्वा भी रखनी पड़ती थी। यदि वह न जलता था तो वह निर्दोष माना जाता था, यदि उसके शरीर पर जलने के दाग़ आ जाते थे तो वह अपराधी सिद्ध होता था। तुला के दिव्य में एक व्यक्ति और उसी के बराबर पत्थर तराजू में रखे जाते थे। यदि अभियुक्त निरपराधी है तो पत्थर उठ जाता था, यदि वह अपराधी है तो व्यक्ति उठ जाता था और पत्थर झुक जाता था। विष के दिव्य में एक भेड़ की दाहिनी जाँघ में छेद कर दिया जाता था जिसमें सभी प्रकार के विषों के साथ अभियुक्त के भोजन का एक अंश भर दिया जाता था। यदि अभियुक्त दोषी है तो विष प्रभाव करता था और भेड़ मर जाती थी; यदि नहीं तो विष का कोई प्रभाव नहीं होता था और पशु जी जाता था। इस विवरण से प्रकट होता है कि इस प्रकार के दिव्यों की बहुत-सी बातें स्मृतियों एवं निबन्धों में लिखित बातों से मेल नहीं खातीं। विष दिव्य के सम्बन्ध में दी गयी बील महोदय की बातें स्मृतियों में बिल्कुल नहीं पायी जातीं। अलबेरुनी (सचौ द्वारा अनूदित, जिल्द २, पृ० १५९-१६०) ने सम्भवतः विष दिव्य को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है; "अभियुक्त को ब्राह्मण नामक विष पीने को बुलाया जाता है।" सम्भवतः यहाँ पर अलबेरुनी ने ब्रह्मा की सन्तान विष की ओर संकेत किया है, जैसा कि याज्ञ० (२।११०) एवं नारद (४।३२५) में कहा गया है। जल के दिव्य में अभियुक्त को गहरी और तीक्ष्ण धार वाली नदी में या गहरे कुएँ में फेंक दिया जाता था, यदि वह नहीं डूबता था तो उसे निर्दोष समझा जाता था। उसने कोश एवं तुला दिव्यों का वर्णन यथातथ्य किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि उसके कथन के अनुसार यदि सत्य कहा गया है तो वह (अभियुक्त) पहले की अपेक्षा तुला में अधिक भारी हो जाता था। उसने तप्त-माष (खौलते हुए घृत से सोना-खण्ड निकालना) एवं तप्त-लोह का यथातथ्य वर्णन किया है।

२४)। और देखिए एपिग्रैफिया कर्नाटिका (जिल्द ३, माण्डचा तालुका अभिलेख सं० ७९, पृ० ४७), वही, जिल्द ४, पृ० २७ (येलण्डूर जागीर अभिलेख सं० २, पृ० २७ सन् १५८० ई० के लगभग), सन् १९३१ की इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (जिल्द ६०, पृ० १७९) एवं रिपोर्ट आव साउथ इण्डियन एपिग्रैफी (सन् १९०७, पैरा २७)।

मराठा राजाओं के समय में दिव्यों की प्रथा थी। उदाहरणार्थ देखिए, पेशवा की दिनचर्या (पेशवाज़ डायरीज़, जिल्द २, पृ० १५०, सन् १७६४-६५), श्री पी० वी मावजी एवं श्री डी० बी० परसनिस द्वारा सम्पादित 'वतनपत्रें', 'निवाडपत्रें' आदि (पृ० ४६-५६)। अन्तिम पुस्तक (पृ० ३६-४१) में मुसलमान विवादियों द्वारा किये गये दिव्यों का वर्णन है। मुसलमानों ने १५ दिनों तक दीप जलाकर अपनी मसजिद में दिव्य किये थे (सन् १७४२ ई०)। बहुत-से अन्य वतनपत्रों में भी दिव्यों का वर्णन है।

डा० दिनेशचन्द्र सरकार के एक लेख "दी सकसेसर्स आव दी शातवाहनस" (अपेंडिक्स, पृ० ३५४-३७६, कलकत्ता १९३९) में दिव्यों का वर्णन है। उन्होंने (एशियाटिक रिसर्चेस, जिल्द १) का उद्धरण देते हुए लिखा है कि अली इब्राहीम खाँ नामक मजिस्ट्रेट ने बनारस में किये गये फाल दिव्य (सन् १७८३ ई०) से घोषित दो विवादों की रिपोर्ट गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स को भेजी थी।[१२] श्री भास्कर वामन भट ने 'तृतीय-सम्मेलन-वृत्त' (पृ० १८-२६) एवं 'चतुर्थ-सम्मेलन-वृत्त' (पृ० १००-१५४) में, जो पूना की प्रसिद्ध 'भारत-इतिहास-संशोधक-मण्डल' नामक संस्था से निकले हैं, दो विचारोत्तेजक एवं विद्वत्तापूर्ण लेख दिये हैं, जिनमें (मराठी भाषा में) मराठों के समय की व्यवहार-शासन-विधि में दिव्यों के स्थान एवं प्रयोग का वर्णन है।

१२. यह आश्चर्यजनक बात है कि डा० सरकार ने बृहस्पति को 'दिव्यतत्त्व' का लेखक माना है (सकसेसर्स आव शातवाहनस, अपेंडिक्स, पृ० ३६०)। रघुनन्दन का 'दिव्यतत्त्व' अति प्रसिद्ध है। कहीं भी बृहस्पतिलिखित दिव्यतत्त्व का उल्लेख नहीं मिलता।

अध्याय १५

सिद्धि (निर्णय)

व्यवहार-विधि का अन्तिम (चौथा) स्तर **सिद्धि** (याज्ञ० २।८) अथवा **निर्णय** है। यदि **प्रत्याकलित** को व्यवहार का **पाद** कहा जाय (सर्वसम्मति से चार ही पाद होते हैं) तो **निर्णय (साध्यसिद्धि)** किसी विवाद (ला-सूट, मुकदमे) का पाद नहीं है, प्रत्युत उसका फल है (व्यवहारप्रकाश पृ० ८६)। प्रमाण की उपस्थिति के उपरान्त राजा (या मुख्य न्यायाधीश) **सभ्यों** की सहायता से वादी की जय या पराजय का निर्णय करता है।[1] नारद (२।४२) का कहना है कि सभ्यों को चाहिए कि वे दण्ड-निर्णय करते समय दोनों पक्षों को न्यायालय से बाहर चले जाने को कह दें। व्यास एवं शुक्र (४।५।२७१) के मत से निर्णय के आधार के आठ स्रोत हैं (शुक्र के मत से केवल छः स्रोत हैं)—तीन प्रमाण (भोग, लेखप्रमाण एवं साक्षी), तर्कसिद्ध अनुमान (हेतु), देश-परम्पराएँ (सदाचार), शपथ (शपथ एवं दिव्य), राजा का अनुशासन एवं वादियों की स्वीकारोक्ति (वादिसंप्रतिपत्ति)।[2] पितामह का कथन है कि जिस विवाद में साक्षी, भोग, लेखप्रमाण न हों और दिव्य से निर्णय न हो सके, उसमें राजा की आज्ञा ही निर्णय का रूप धारण करती है, क्योंकि वह सबका स्वामी है।[3]

नारद (२।४१ एवं ४३) में आया है कि चाहे कोई पक्ष स्वीकारोक्ति के कारण या अपने कर्तव्य या आचार (व्यवहार) के कारण (यथा—झूठी गवाही या कूट लेख्य प्रमाण के कारण) हार गया हो, या चाहे पूर्ण व्यवहार-विचार (जाँच, ट्रायल) एवं प्रमाण के उपरान्त हार गया हो; सभ्यों (न्यायाधीशों) के लिए यह उचित है कि वे इसे घोषित कर दें और उपयुक्त ढंग से लिखकर सफल पक्ष को **जयपत्र** दे दें। नारद के कई पद्यों (अपरार्क पृ० ६८४), बृहस्पति, कात्यायन (२५९-२६५), वृद्ध वसिष्ठ (मिताक्षरा, याज्ञ० २।९१, अपरार्क पृ० ६८४) एवं व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ५७) ने निर्णय के विषयों का विवरण दिया है। उसमें पूर्वोत्तर क्रियापाद, प्रमाण, परीक्षा, साक्षी, साक्षियों पर विचार-विमर्श, तर्क-युक्ति, उपयुक्त स्मृति-वचन, सभ्यों की सम्मति, छूट, न्यायाधीश का हस्ताक्षर एवं राजमुद्रा का अंकन

१. उक्तप्रकाररूपेण स्वमतस्थापिता क्रिया। राज्ञा परीक्ष्य सभ्यैश्च स्थाप्यौ जयपराजयौ॥ संग्रहकार (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १२०, पराशरमाधवीय ३, पृ० १९९)।

२. प्रमाणैर्हेतुचरितैः शपथेन नृपाज्ञया। वादिसंप्रतिपत्त्या वा निर्णयोऽष्टविधः स्मृतः॥ व्यास (व्यवहारनिर्णय पृ० १३८, व्यवहारप्रकाश पृ० ८६, शुक्रनीति (४।५।२७१)। शुक्र० में "षड्विधः स्मृतः" ऐसा आया है, स्पष्टतया शुक्र ने प्रमाण को अकेला माना है।

३. लेख्यं यत्र न विद्येत न भुक्तिर्न च साक्षिणः। न च दिव्यावतारोऽस्ति प्रमाणं तत्र पार्थिवः॥ निश्चेतुं येन शक्याः स्युर्वादाः सन्दिग्धरूपिणः। तेषां नृपः प्रमाणं स्यात्स सर्वस्य प्रभुर्यतः॥ पितामह (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २६; पराशरमाधवीय ३, पृ० ९३; व्यवहारसार पृ० ४३; मदनरत्न)।

आदि होने चाहिए। वसिष्ठ (१९।१०) ने पूर्व निर्णयों का हवाला (आगमाद् दृष्टाच्च) भी देने को कहा है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।९१) ने एक स्मृति का हवाला देकर कहा है कि उपस्थित (न्यायाधीश के अतिरिक्त) स्मृतिज्ञ लोगों को भी निर्णय पर हस्ताक्षर कर देना चाहिए, जिससे यह सिद्ध हो जाय कि यह निर्णय उन्हें भी मान्य है। किन्तु ऐसा करना आवश्यक नहीं है, जैसा कि विवादचन्द्र (पृ० १४६) ने कहा है। कात्यायन ने (२५६) **पश्चात्कार** शब्द का प्रयोग उस निर्णय के लिए किया है जिसमें उपर्युक्त बातें पायी जायँ और जो पूर्ण विवाद के उपरान्त दिया गया हो। उन्होंने **जयपत्र** को केवल उस लेख्य (न्यायाधीश द्वारा दिये गये) के लिए प्रयुक्त किया है जो उस वादी को दिया जाता है जो **हीनवादी** (जो अपने विवाद के विचार में परिवर्तन कर देता है) कहलाता है अथवा जब विवाद का पूर्ण व्यवहार-विचार (जाँच) नहीं हुआ हो; ऐसे लेख्य में केवल घटना मात्र का वर्णन रहता है। कौटिल्य (३।१९) ने **पश्चात्कार** शब्द का प्रयोग दूसरे अर्थ में किया है; हत्या के अपराध में व्यक्ति यदि अभियुक्त होने पर उसी दिन उत्तर नहीं देता तो वह अपराधी सिद्ध हो जाता है, यही **पश्चात्कार** है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।९१) ने कात्यायन से भिन्न मत दिया है। उसमें आया है कि **जयपत्र** में आवेदन, उत्तर, साक्षी एवं निर्णय का निष्कर्ष मात्र होता है और जब वादी अपने आवेदन के विचार में कोई परिवर्तन करता है और उसका बचाव उपस्थित करता है या जो कुछ कहना है उसे नहीं कहता या लेख्य-प्रमाण नहीं उपस्थित कर पाता तो इस प्रकार के लेख्य को **हीनपत्रक** कहा जाता है।

खेद की बात है कि आज तक कोई लिखित (संस्कृत में) प्राचीन **जयपत्र** नहीं प्राप्त हो सका है। प्राचीन जावा की भाषा में लिखित एक जयपत्र का निष्कर्ष डा० जॉली ने प्रकट किया था (कलकत्ता वीकली नोट्स, २५) जो जावा द्वीप में ताम्रपत्र पर लिखित प्राप्त हुआ था और जिसे डा० ब्रैण्डीज ने डच पत्र में प्रकाशित किया था। उस जयपत्र (सन् ९२८ ई०) में एक सुवर्ण के विवाद का उल्लेख है और यह लिखा हुआ है कि व्यवहार-विचार (जाँच) में अनुपस्थित रहने के कारण वादी हार गया था। उस जयपत्र के अन्त में चार साक्षियों के हस्ताक्षर हैं और उसे **जयपत्र** की संज्ञा दी गयी है। इसके विषय में देखिए जे० बी० ओ० आर० एस० (जिल्द ७ पृष्ठ ११७)। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने 'कलकत्ता वीकली नोट्स' (२४) में अनुवाद एवं अपने निरूपण से मिथिला के हिन्दू न्यायालय द्वारा उपस्थापित एक जयपत्र (सन् १७९४ ई०) का उल्लेख किया है (जे० बी० ओ० आर० एस०, जिल्द ६, पृ० २४६-२५८), जो स्मृतियों एवं निबन्धों में उल्लिखित विधि का सम्पूर्ण रूप खड़ा करता है और बहुत ही सुसंस्कृत, पारिभाषिक एवं नियमनिष्ठ ऋजु भाषा में लिखा हुआ है। यह एक दासी से सम्बन्धित स्वामित्व के विवाद के विषय में है। वादी ने सर्वप्रथम उपस्थिति-सम्बन्धी दोष प्रदर्शित किया (अर्थात् वह समय से न्यायालय में उपस्थित नहीं हो सका); जयपत्र में इसका उल्लेख हुआ है और उसमें यह भी लिखा है कि अभियोग या व्यवहार-विचार पुनः खोला गया (अर्थात् मुकदमा पुनः खुला)। प्रतिवादी ने विरोध खड़ा किया कि केवल एक साक्षी से विवाद का निर्णय देना न्यायोचित नहीं है। यह विरोध स्वीकृत हो गया। इसके उपरान्त वादी ने दिव्य-ग्रहण की आज्ञा माँगी, किन्तु यह अनसुनी कर दी गयी क्योंकि मानुष प्रमाण सम्भव था। अन्त में वादी अपना मुकदमा हार गया। जयपत्र पर सकल मिश्र नामक न्यायाधीश का हस्ताक्षर है, वह अन्य सभ्यों को, जिन्हें धर्माध्यक्ष एवं पण्डित की संज्ञा दी गयी है और जिनमें सात ने लेख्य के शीर्षभाग में अपनी सम्मति व्यक्त की है, सम्बोधित किया गया है। अठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी के नौ संस्कृत जयपत्रों के लिए देखिए जर्नल आव दी बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी (जिल्द २८, सन् १९४२)।

मिताक्षरा (याज्ञ० २।९१) एवं व्यवहारमातृका (पृ० ३०९) के मत से **जयपत्र** विशेषतः इसलिए दिया जाता है कि वह विवाद पुनः न खड़ा हो सके, **हीनपत्रक** इसलिए दिया जाता है कि उस पक्ष को आगे चलकर अर्थ-दण्ड

देना पड़े। जब विवाद का निर्णय कुल के न्यायाधिकरण (डोमैस्टिक ट्राइबुनल) द्वारा किया जाता है तो जयपत्र नहीं दिया जाता, केवल **निर्णयपत्र** से काम चल जाता है।[४]

असफल पक्ष को राजा के लिए अर्थ-दण्ड देना पड़ता था और सफल पक्ष राजा तथा न्यायाधीश द्वारा सम्मानित होता था तथा उसे विवाद की वस्तु पर अधिकार प्राप्त हो जाता था। मनु (८।५१) का कहना है कि धन-सम्बन्धी मामलों (अर्थमूल विवादों अर्थात् सिविल झगड़ों) में असफल पक्ष को राजा की आज्ञा द्वारा सफल पक्ष के लिए निर्णय-ऋण (जजमेण्ट डेट्) और शक्ति के अनुसार राजा को जुरमाना देना पड़ता था। मनु (८।१३९) ने यह भी कहा है कि यदि प्रतिवादी न्यायालय में पाँच प्रतिशत दण्ड देने की बात स्वीकार करता है, जिसे उसे राजा को देना है (और आगे चलकर) नकार जाता है और फिर यह बात सिद्ध हो जाती है तो उसे दूना (दस प्रतिशत) दण्ड देना पड़ता है। यही न्यायालय का शुल्क (कोर्ट फी) कहा जाता है। यदि दोनों दलों ने शर्त बदी हो कि यदि हार जायँगे तो इतना (यथा १०० पण) देंगे, तब हारने पर उन्हें उतना धन दण्ड के साथ राजा को देना पड़ता था और विवाद का धन सफल पक्ष को मिलता था (याज्ञ० २।१८ एवं नारद २।५)। ऐसे ही नियम विष्णुधर्मसूत्र (५।१५३।१५९) में भी मिलते हैं। हिंसामूल (क्रिमिनल) विवादों में जो दण्ड दिये जाते थे उनका वर्णन हम आगे करेंगे।

अब हमें यह देखना है कि किन मामलों में निर्णयों का पुनरवलोकन किया जाता था। सामान्य नियम मनु (९।२३३) द्वारा दिये गये हैं--"जब कोई व्यवहार-सम्बन्धी विधि सम्पन्न हो चुकी हो (तीरित) या वहाँ तक जा चुकी हो जब कि असफल पक्ष से दण्ड लिया जा सकता है, तब बुद्धिमान् राजा उसे काट नहीं सकता।" तीरित एवं अनुशिष्ट शब्दों की व्याख्या कई प्रकार से की गयी है।[५] तीरित शब्द बहुत पुराना है और अशोक के दिल्ली स्तम्भाभिलेख (४) में भी आया है (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द २, पृ० २५३), यथा--'तिलित-दण्डानम्'। इसका अर्थ है 'ऐसे पुरुष जो बन्दीगृह में बन्द हैं।' मेधातिथि एवं कुल्लूक ने इसका अर्थ क्रम से यों दिया है--'शास्त्रीय नियमों के अनुसार निर्णीत' तथा 'सफल पक्ष से दण्ड लेने के रूप में।' कात्यायन ने कुछ और ही कहा है (४९५)--'जब कोई पक्ष सभ्यों द्वारा बिना साक्षियों पर विचार किये सत्य या असत्य रूप में निर्णीत होता है तो उसे तीरित कहा जाता है और जो साक्षियों के आधार पर निर्णीत होता है उसे अनुशिष्ट कहा जाता है।' वैजयन्ती कोश ने कात्यायन का अनुसरण किया है--'जब सभ्यों द्वारा कोई पक्ष हरा दिया जाता है तो वह तीरित कहा जाता है, और जब साक्षियों के बल पर असत्य एवं सत्य का निर्धारण होता है तो वह अनुशिष्ट कहलाता है।' (भूमिकाण्ड, वैश्याध्याय, श्लोक ११-१२)। नारद (२।६५) ने इन शब्दों का प्रयोग किया है जिन्हें मिताक्षरा (याज्ञ० २।३०६) ने क्रम से यों समझाया है--'जब विवाद उपलब्ध प्रमाण एवं साक्षियों से निर्णीत होता है किन्तु दण्ड उगाहने का निर्णय नहीं हुआ रहता तो यह तीरित है, और जब असफल पक्ष से दण्ड उगाह लेने तक का निर्णय होता है तो वह अनुशिष्ट कहलाता है।' अन्य व्याख्याओं के लिए देखिए अपरार्क (पृ० ८६६) एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० ९०)।

४. **कुलादिभिर्निर्णये जयपत्राभावान्निर्णयपत्रं तत्र कार्यं परत्तपत्रमिति यावत्। व्यवहारनिर्णय, पृ० ८५।**

५. **तीरितं समापितं निर्णयपर्यन्तं प्रापितमिति यावत्।...अनुशिष्टं अर्थि-प्रत्यर्थिनौ प्रति कथितं जयपत्रे चारोपितम्। व्यवहारप्रकाश (१०९०); तीरितं समाप्तम् अनुशिष्टं साक्षिभिरुक्तम्। दीपकलिका (याज्ञ० २।३०६); तीरितं समापितं निर्णीतमिति यावत्। अनुशिष्टं साक्षिभिरुक्तम्। मदनरत्न; सदेवासत्कृतं सभ्यैस्तीरितं साक्षिणा तु चेत्। अनुशिष्टमथो लेखो लेख्यं दिव्यं तु दैविकम्॥ वैजयन्तीकोश।**

कात्यायन (व्यवहारसार पृ० १०१) के अनुसार जयपत्र में सफल पक्ष की चल एवं अचल सम्पत्ति का ब्याज एवं उत्पन्न फल प्राप्त करने के लिए (जब तक विवाद समाप्त न हो जाय) किसी मध्यस्थ को रखने की बात लिखी रहनी चाहिए।[६] कात्यायन (४७७-४८०) ने जय-सम्बन्धी राजाज्ञा को कई विधियों से कार्यान्वित करने को कहा है। राजा को चाहिए कि वह ब्राह्मण-ऋणी से अनुराग-भरे शब्दों में जयी ऋणदाता को ऋण लौटाने के लिए कहे, अन्य लोगों से देशाचार के अनुसार देने को कहे तथा दुष्ट लोगों को बन्दी बनाकर सफल पक्ष को सन्तुष्ट करे। राजा को चाहिए कि वह साझेदार या मित्र द्वारा ऋण लौटाने के लिए किसी बहाने का सहारा ले (यथा--किसी उत्सव के अवसर पर उससे कोई आभूषण या कोई अन्य सामान लेकर उसे ऋणदाता को दे दे)। इसी प्रकार के साधनों द्वारा राजा को चाहिए कि वह व्यापारियों, कृषकों एवं शिल्पकारों द्वारा भी ऋण लौटाने की व्यवस्था करे। यदि ऐसा न हो सके तो ऋणी को बन्दीगृह में भेज देना चाहिए। किन्तु ब्राह्मण ऋणी के साथ ऐसा व्यवहार वर्जित था। मनु (९।२२९) ने कहा है कि ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य तीनों वर्णों के लोग यदि दण्ड न दे सकें तो उन्हें राजा के लिए कोई कार्य करना चाहिए, किन्तु ब्राह्मणों को थोड़ा-थोड़ा लौटाने के लिए आज्ञापित करना चाहिए। यदि ब्राह्मण ऋण न दे सके तो उसके विरुद्ध अन्य कार्य नहीं किया जा सकता, केवल उसे किसी अन्य को प्रतिभू (जामिन) बनाने को उद्वेलित करे। आजकल भी हार जाने पर ऋणी को पकड़ लिया जाता है और उसे जेल भेज दिया जाता है (किन्तु धन देने की डिग्री में स्त्रियों के साथ ऐसा व्यवहार नहीं होता), देखिए इण्डियन सिविल प्रोसीज़र कोड (नियम ५५-५८)। स्त्रियों के लिए कात्यायन (४८८-४८९) ने कुछ विवेकपूर्ण नियमों की व्यवस्था दी है; "जो स्त्रियाँ स्वतन्त्र नहीं होतीं उन्हें व्यभिचार के मामलों में बन्दी नहीं बनाया जाता, केवल पुरुष को ही अपराधी सिद्ध किया जाता है; स्त्रियाँ अपने स्वामी द्वारा (जिस पर वे आश्रित होती हैं) दण्डित होनी चाहिए, किन्तु राजा द्वारा पुरुष दण्ड-स्वरूप बन्दी बना लिया जाना चाहिए। यदि पति विदेश में हो तो स्त्री को बन्दी बना लेना चाहिए। किन्तु पति के लौटने पर उसे मुक्त कर देना चाहिए।" स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २३३) ने कात्यायन के प्रथम अंश को इस प्रकार समझाया है कि यदि किसी हीन जाति के पुरुष के साथ स्त्री ने व्यभिचार किया है और वह आश्रित है तो उसे व्यभिचार के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए।

नारद (२।४०) का कथन है कि यदि कोई पक्ष अपने आचार से (अपने व्यवहार या असत्य साक्षी या कूट लेख्य प्रमाण देने से) हार गया है तो विवाद का पुनरवलोकन (रीट्रायल या रेव्यू आव जजमेण्ट) नहीं होता, किन्तु जब साक्षियों अथवा सभ्यों की बेईमानी के कारण वह हार गया है तो फिर से मुकदमा चलाया जा सकता है। राजा के न्यायालय के निर्णयों के चार अपवाद माने गये हैं--(१) यदि विवादी मूर्खता या अविनीतता के कारण निर्णय को अनुपयुक्त समझता है तो उसके मुकदमे का पुनरुद्धार अथवा पुनरवलोकन हो सकता है, किन्तु ऐसी स्थिति में उसे हारने पर हारने वाले पक्ष पर लगने वाले दण्ड का दुगुना देना पड़ता है (याज्ञ० २।३०६; नारद १।६५; कात्यायन ४९६)। (२) यदि पूर्व निर्णय कूट विधि या बलवश हुआ है तो वह समाप्त किया जा सकता है (याज्ञ० २।३१)। (३) यदि विवादी अयोग्य हो अर्थात् अल्पवयस्क हो, स्त्री हो या पागल या मद्यपी हो, गम्भीर रूप से बीमार हो, विपत्तिग्रस्त हो; और जब बिना नियुक्त किये किसी अन्य द्वारा (जो किसी प्रकार भी सम्बन्धित न हो) या शत्रु द्वारा विवाद लड़ा जाय तो निर्णय स्थगित किया जा सकता है और पुनरवलोकन हो सकता है (नारद १।४३, याज्ञ० २।३१-३२)। (४) राजा

६. मध्यस्थस्थापितं द्रव्यं चलं वा यदि वा स्थिरम्। पश्चात्तत्सोदयं दाप्यं जयिने पत्रमुत्तरम्॥ कात्यायन (व्यवहारसार पृ० १०१)। इस श्लोक को स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० १२०) ने नारद का माना है।

अपने पूर्ववर्ती के निर्णय को, जब वह न्यायानुकूल न हुआ हो अथवा अबोधता का परिचायक हो, फिर से दुरुस्त कर सकता है (याज्ञ० २।३०६)।

याज्ञ० (२।४ एवं ३०५) ने व्यवस्था दी है कि यदि पक्षपात, लोभ या भय से सभ्यों ने निर्णय किया हो तो विवाद का राजा द्वारा पुनरवलोकन होना चाहिए और यदि सन्देह की पुष्टि हो जाय तो सभ्यों एवं पूर्व-जयी पक्ष पर उस दण्ड का दूना दण्ड लगाना चाहिए जो विजित दल पर लगता है। यही बात नारद (१।६६) ने भी कही है। मनु (९।२३१ = मत्स्यपुराण २२७।१५८ एवं २३४) ने व्यवस्था दी है कि न्यायाधिकारीगण घूस लेकर विवादियों को हरा दें तो राजा द्वारा उनकी सारी सम्पत्ति छीन ली जानी चाहिए, और यदि अमात्य लोग या मुख्य न्यायाधीश किसी विवाद का निर्णय ठीक से न करें (किन्तु घूस न लें) तो राजा को चाहिए कि वह विवाद को फिर से देखे और ठीक निर्णय देकर उन अमात्यों या मुख्य न्यायाधीश पर १००० पण का दण्ड लगाये।

यद्यपि किसी स्मृति में एक न्यायालय या न्यायाधीश से दूसरे न्यायालय या न्यायाधीश के पास विवाद को स्थानान्तरित करने का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु व्यवहार में यह पद्धति अवश्य लागू की जाती रही होगी (किन्तु इसका व्यवहार बहुत कम होता था)। 'सेलेक्शन्स फ्राम पेशवाज़ दफ्तर' (जिल्द ४३, पृष्ठ १०८) नामक ग्रन्थ में एक पत्र का हवाला दिया गया है जिसे प्रसिद्ध मन्त्री नाना फड़नवीस ने पेशवा माधवराव को लिखा था। नाना फड़नवीस ने माधवराव से स्थानान्तरण के लिए दिये गये आदेश को लौटाने के लिए आग्रह किया था। रामशास्त्री एक अत्यन्त पक्षपातरहित एवं कठोर जीवन के व्यक्ति थे। उन्हीं के न्यायालय से विवाद उठाकर किसी अन्य न्यायाधीश के न्यायालय में ले ज़ाने का आदेश माधवराव ने दिया था, क्योंकि विवादियों में एक को भय था कि रामशास्त्री किसी एक विवादी का पक्ष करेंगे। मनु (८।१७४-१७५) का कथन है कि जो राजा अपनी प्रजा के विवादों को अन्यायपूर्वक तय करता है वह शत्रुओं द्वारा शीघ्र ही विजित हो जाता है और वह राजा, जो अपने मनोभाव को रोककर पक्षपातरहित झगड़ों का निपटारा करता है और शास्त्रविहित नियमों का पालन करता है, वह प्रजा के मन से उसी प्रकार मिल जाता है जिस प्रकार नदियाँ समुद्र से मिल जाती हैं। उचित न्याय करने एवं सम दृष्टि रखने से राजा को लौकिक एवं पारलौकिक लाभ प्राप्त होता है, अर्थात् शास्त्रानुकूल निर्णय देने से उसे इस लोक में यश और परलोक में स्वर्ग प्राप्त होता है (बृहस्पति एवं नारद १।७४)।

अपराध वह क्रिया या अतिक्रम है जिससे कानून टूटता है और जन-दण्ड प्राप्त होता है। किन्तु सभी प्रकार के व्यवहार-भंगों से दण्ड नहीं मिलता; केवल थोड़े ही ऐसे होते हैं। जो अतिक्रम अथवा भंग समाज की प्रचलित दशाओं में गड़बड़ी उत्पन्न करते हैं, जिन्हें समाज, राजा या व्यवहार-विधि रोकना चाहती है, उन्हें ही अपराधों की संज्ञा दी जाती है। गड़बड़ी अथवा अपकार किसी विशिष्ट क्रिया में नहीं, प्रत्युत उस क्रिया में निहित परोक्ष अथवा अप्रत्यक्ष व्यवहार में पाया जाता है। एक अतिक्रम कभी अपराध घोषित हो सकता है और वही किसी दूसरे समय अथवा किसी देश में अपराध नहीं भी कहा जा सकता। यथा भारतीय व्यवहार-विधि (इंडियन पेनल कोड, परिच्छेद ४९७) में व्यभिचार अथवा बलात्कार अपराध माना जाता है, किन्तु वही इंग्लैंड के कानून की दृष्टि में अपराध न होकर मात्र गलत आचार (सिविल रांग) है।

बहुत-से अपराध एवं दोष पापों की श्रेणी में आते हैं और उनसे लौकिक दण्ड एवं धार्मिक अनुशासन (प्रायश्चित्त) प्राप्त होते हैं। इस विषय में देखिए मनु (९।२३६ एवं २४०), बृहस्पति एवं पैठीनसि (दण्डविवेक, पृ० ७६)। मेन ने अपनी पुस्तक 'एंश्येण्ट लॉ' (अध्याय १०, सन् १८६६ का संस्करण) में यूनान एवं रोम की व्यवहार-पद्धतियों की जाँच करके एक सामान्य बात कह देनी चाही है—"प्राचीन जातियों की दण्डविषयक विधि या कानून अपराध-सम्बन्धी कानून नहीं है, प्रत्युत वह अपकारों या दुष्टताओं से सम्बन्धित कानून है जिसे अंग्रेजी में टार्ट्स कहा जाता है। जिस

व्यक्ति का अपकार हुआ रहता है वह अपकारी के विरुद्ध एक साधारण आचार-सम्बन्धी क्रिया के रूप में विवाद खड़ा करता है और जयी होने पर क्षतिपूर्ति के रूप में धन पाता है। डा० प्रियानाथ सेन ने 'हिन्दू जूरिस्प्रूडेंस' पर अपने 'टैगोर ला लेक्चर्स' (सन् १९१८, व्याख्यान १२) में एक तथ्य उपस्थित किया है कि मेन महोदय का यह सामान्यीकरण भारत के प्राचीन व्यवहार-शास्त्र पर नहीं लागू होता। हमने बहुत पहले ही देख लिया है कि राजा स्वयं अपनी ओर से **छलों, पदों** एवं **अपराधों** की छानबीन करा सकता है और यह स्पष्ट है कि चोरी, आक्रमण, व्यभिचार, बलात्कार, नर-हत्या के अपराधों में केवल धन देकर अन्याय-ग्रस्त व्यक्ति की क्षतिपूर्ति नहीं की जाती, प्रत्युत उसके साथ शारीरिक दण्ड भी दिया जाता है। इस विषय में देखिए मनु (८।२८७), याज्ञ० (२।२२२), बृहस्पति, कात्यायन (७८७), जहाँ यह व्यवस्था दी हुई है कि शरीर को घायल करने या अंगभंग करने के जुर्म में अपराधी को दण्ड के साथ घाव अच्छा करने के लिए व्यय करना पड़ता था और पीडित को सन्तोष देना पड़ता था। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।९।२४।१ एवं ४) का कथन है कि क्षत्रिय के हंता को शत्रुता दूर करने के लिए (उसके सम्बन्धियों को क्षतिपूर्ति के रूप में) एक सहस्र गौएँ देनी पड़ती थीं और प्रायश्चित्त-स्वरूप एक बैल भी देना पड़ता था। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार उन दिनों चोरी के अपराध में मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। तैत्तिरीय संहिता (२।६।१०।१) में आया है कि वह जो ब्राह्मण को धमकी देता है उसे एक सौ देना पड़ता है, जो उसे पीट देता है उसे एक सहस्र देना पड़ता है। किन्तु यहाँ यह प्रकट नहीं हो पाता कि ये सौ या सहस्र की संख्याएँ दण्ड के रूप में थीं या केवल तुष्टि-प्रदान के लिए। ऋग्वेद (२।३२।४, तैत्तिरीय संहिता ३।३।११।५) में कवि राका (पूर्णमासी के प्रतीक) की अभ्यर्थना करता है कि वह प्रसन्न होकर ऐसा वीर पुत्र दे जो शतदाय हो। सायण ने शतदाय को "प्रचुर दाय-युक्त या प्रचुर सम्पत्ति-युक्त" के अर्थ में लिया है, जो उपयुक्त जँचता है। तैत्तिरीय संहिता (३।३।११।५) के 'शतदायं वीरम्' का अर्थ प्रो० कीथ यों लगाते हैं—'वह वीर जो हत्या किये जाने पर सौ मुद्राएँ दिला सके।' किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि यह विचित्र-सा लगता है कि देवी से पुत्र के लिए अभ्यर्थना की जाय तो साथ-ही-साथ यह भी अभिलाषा कि उसकी हत्या होने पर इतना धन क्षतिपूर्ति में मिले।

अपराधों के लिए दण्ड की व्यवस्था के उपयोगों के विषय में स्मृतिकार सतर्क थे, किंतु उन्होंने किसी दण्ड-शास्त्र का निर्माण नहीं किया। जिसका अपकार होता है वह प्रतिशोध लेने की प्रबल इच्छा रखता है और अन्य लोग भी उसके साथ सहानुभूति रखते हैं। सभ्य देशों के लोग कानून को अपने हाथ में नहीं लेते, अतः राज्य का कर्तव्य होता है कि वह यथासम्भव अपराधी को उचित दण्ड देकर उन्हें अपकार के बदले में सन्तोष दे। याज्ञ० (२।१६) एवं नारद (१।४६) ने लिखा है कि जब कोई व्यक्ति अपनी हानि के विषय में बिना न्यायानुकूल आवेदन किये अपकारी से कुछ वसूल करना चाहता है या सन्देह कर रहा है तो उसे दण्ड मिल सकता है और वह अपनी चाही हुई वस्तु भी नहीं प्राप्त कर सकता। सभी प्राचीन समाजों में प्रतिशोध की भावना पायी गयी है, और प्रतिशोध (दण्ड-उद्देश्य) का कानून भी पाया जाता है, यथा आँख के बदले आँख लेना एवं दाँत के बदले दाँत लेना। मनु (८।२८०), नारद (पारुष्य, श्लोक २५), याज्ञ० (२।२१५), विष्णुधर्मसूत्र (५।१९) एवं शंख-लिखित ने व्यवस्था दी है कि यदि हीन जाति का कोई व्यक्ति ब्राह्मण के किसी अंग को चोट पहुँचाता है तो उसका चोट पहुँचाने वाला अंग काट लेना चाहिए।

एक अन्य दण्ड-उद्देश्य यह था कि वैसा अपराध पुनः न होने पाये। अपराधी को दण्ड देकर अन्य लोगों के समक्ष उदाहरण रखा जाता था कि वे वैसी हिंसा अथवा अपराध करने से हिचकें। राजधर्म वाले अध्याय में हमने इस विषय में पढ़ लिया है। समाज-रक्षा तथा समाज-सुख की स्थापना ही दण्ड का उद्देश्य था। शान्तिपर्व (१५।५-६) में आया है कि राजदण्ड, यम-यातना एवं जनमत के भय से लोग पाप नहीं करते। यही बात मत्स्यपुराण (२७५।१६-१७) में भी पायी

जाती है।[७] गौतम (९।२८) ने 'दण्ड' शब्द को 'दम्' धातु से निकाला है, जिसका अर्थ होता है रोकना या निवारण करना। मृच्छकटिक (अंक १०) में वसन्तसेना की तथाकथित हत्या के अपराध में चारुदत्त को जो दण्ड मिला उसकी घोषणा जल्लादों ने नागरिकों में की थी। एक अन्य दण्डो उद्देश्य था पहले से ही प्रतिकार करना, अर्थात् यदि अपराधी को बन्दी बना लिया जाता है तो वह पुनः वही अपराध करने से रोक लिया जाता है या कम-से-कम कुछ दिनों तक उसी प्रकार के अपराध में वह लिप्त नहीं होता; किन्तु यदि उसे प्राणदण्ड मिलता है तो उसके अपराधों से छुटकारा मिल जाता है। एक अन्य उद्देश्य था सुधार या अपराधियों से परित्राण पाना। दण्ड एक प्रकार की पाप-निष्कृति भी है जो पापकर्ता को पापकर्म न करने की प्रेरणा देती है और उसका चरित्र सुधर जाता है। मनु (८।३१८=वसिष्ठ १९।४५) ने लिखा है कि जो लोग पाप करने के कारण राजा से दण्ड पाते हैं वे अच्छे कर्म करने वालों के समान पवित्र होकर स्वर्ग जाते हैं। मेधातिथि ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि यह श्लोक केवल शारीरिक दण्ड के लिए ही प्रयोजित है न कि धन-सम्बन्धी दण्ड के लिए। आरम्भिक सूत्रों एवं मनुस्मृति से प्रकट होता है कि प्राचीन हिंसा-संबन्धी व्यवहार (कानून) अत्यन्त कठोर एवं निर्मम था। किन्तु याज्ञवल्क्य, नारद एवं बृहस्पति के कालों से वह अपेक्षाकृत कम कठोर होता चला आया और बहुधा बहुत-से अपराधों में आर्थिक दण्ड मात्र दिया जाने लगा। फाहियान (३९९-४०० ई०) ने भी मध्य देश में ऐसी स्थिति देखी थी। उसके ७०० वर्ष पूर्व प्रचलित कठोर दण्डों का वर्णन मेगस्थनीज ने किया है। इतिहास के विद्यार्थी दोनों कालों के इन विदेशियों के वर्णनों से परिचित होंगे। अशोक ने धौली के प्रस्तर-अभिलेख में कठोर दण्ड न देने की ओर संकेत किया है।

मनु (८।१२९), याज्ञ० (१।३६७) एवं बृहस्पति ने दण्ड की चार विधियाँ बतायी हैं, यथा मधुर उपदेश, कड़ी झिड़की, शारीरिक दण्ड एवं अर्थ-दण्ड। ये विधियाँ पृथक्-पृथक् या अपराध की गुरुता के अनुसार साथ ही प्रयुक्त हो सकती थीं। प्रथम विधि में इस प्रकार कथन होता है—'तुमने उचित नहीं किया है।' दूसरी विधि का रूप यों है—'तुम्हें धिक्कार है, क्योंकि तुम पापी हो और दुष्ट कर्म करने वाले एवं अधर्म के अपराधी हो।' बृहस्पति का कथन है कि गुरुजनों, पुरोहितों एवं पुत्रों को शाब्दिक झिड़की नहीं दी जाती, बल्कि अन्य अभियोगियों को ऐसा कहा जाता है या अर्थ-दण्ड दिया जाता है तथा जो लोग महापातकों के अपराधी होते हैं उन्हें शारीरिक दण्ड दिया जाता है। शाब्दिक उपदेश अथवा झिड़की रूप दण्ड की दो विधियाँ यह स्पष्ट करती हैं कि प्राचीन लेखक इस बात पर ध्यान देते थे कि अति भावुक लोगों के लिए तथा भावुक समाज के बीच में दण्ड के उद्देश्य की सफलता के लिए शाब्दिक धिक्कार पर्याप्त है। बृहस्पति का कथन है कि प्रथम दो विधियों का कार्यान्वित करना ब्राह्मण (न्यायाधीश के पद पर नियुक्त) का विशेषाधिकार था, किन्तु अर्थ-दण्ड एवं शारीरिक दण्ड देना राजा का कार्य था (न्यायाधीश के कहने पर, 'प्राड्विवाक-मते स्थितः')। मृच्छकटिक (९) से यह बात स्पष्ट होती है—'हमें केवल निर्णय की घोषणा करने का अधिकार है, अन्य बातों के विषय में राजा ही अन्तिम अधिकारी है' (निर्णये वयं प्रमाणं शेषे तु राजा)। गौतम (१२।५१), वसिष्ठ (१९।९), मनु (७।१६, ८।१२६), याज्ञ० (१।३६८=वृद्ध-हारीत ७।१९५-१९६), बृहत्पराशर (पृ० २८४) एवं कौटिल्य (४।१०) ने व्यवस्था दी है कि दण्ड देना अपराधी की मनोवृत्ति, अपराध-स्वरूप, काल एवं स्थान, शक्ति, अवस्था, आचार (कर्तव्य), विद्वत्ता एवं धन-स्थिति पर निर्भर रहता था (अर्थात् इन बातों पर विचार करके दण्ड-

७. राजदण्डभयादेके पापाः पापं न कुर्वते। यमदण्डभयादेके परलोकभयादपि॥ परस्परभयादेके पापाः पापं न कुर्वते।....दण्डस्यैव भयादेते मनुष्या वर्त्मनि स्थिताः॥ शान्तिपर्व (१५।५-६)। और देखिए मत्स्यपुराण (२२५।१६-१७)।

निर्धारण होता था) और यह भी देखा जाता था कि अपराध की पुनरावृत्ति तो नहीं हुई है। इसका अर्थ यह है कि धर्मशास्त्र की दृष्टि में एक ही प्रकार का दण्ड एक ही प्रकार के अपराध में सबके लिए समान नहीं था, प्रत्युत यह देखा जाता था कि अपराधी के पिछले कार्य कैसे हैं, उसकी विशेषताएँ क्या हैं, उसकी शारीरिक एवं मानसिक स्थिति क्या है। धर्मशास्त्र सदैव पापमार्जन की परिस्थितियों पर ध्यान देता था। किन्तु कौटिल्य (१।४) का कुछ और ही मत है; 'वह राजा जिसका नियन्त्रण एवं दण्ड बहुत कठोर है उससे उसकी प्रजा घृणा करती है, जो राजा मृदु दण्ड देता है उसे लोग अवमानना की दृष्टि से देखते हैं, किन्तु जो राजा अपराधियों की पात्रता के अनुसार दण्ड देता है वह आदर का पात्र होता है। कुछ धर्मशास्त्रकारों ने, जो मृदु दण्ड के पक्षपाती हैं, कर्मविपाक का सिद्धांत निर्धारित किया है (अर्थात् जो व्यक्ति पापी होते हैं वे दूसरे जन्म में रोगों, शारीरिक अंग-भंग के दोषों, नीच या गन्दे पशु-पक्षियों की योनि को प्राप्त होते हैं)। देखिए मनु (९।४९-५२), याज्ञ० (३।२०७-२१६), विष्णुधर्मसूत्र (४४-४५)। इस सिद्धांत के विषय में हम **पातकों एवं प्रायश्चित्तों** के प्रकरण में पढ़ेंगे। गौतम (१२।४८) ने दण्ड देते समय उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त विद्वान् ब्राह्मणों की सभा से भी पूछ लेने की सम्मति दी है। दण्डविवेक (पृ० ३६) ने (एक उद्धरण द्वारा) दण्ड देने के समय विचार करने के लिए ये बातें कही हैं--अपराधी की जाति (मनु ८।३३७-३३८, चोरी में), विवाद का मूल्य, सीमा या मात्रा (मनु ८।३२०), अपराध के अनुरूप उपयोग या उपयोगिता (मनु ८।२८५), वह व्यक्ति जिसके प्रति अपराध हुआ हो (मूर्ति, मन्दिर, राजा या ब्राह्मण), अवस्था, (दण्ड देने की) योग्यता, गुण, काल, स्थान, अपराध-स्वरूप (वह कितनी बार हुआ है)। और देखिए राजतरंगिणी (८।१५८)।

आजकल अपराध-शास्त्र संबंधी कई विवाद हैं। कुछ लोगों का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति अपराध करने या न करने में स्वतन्त्र है, वह अपने कार्य का स्वयं उत्तरदायी है। किन्तु कुछ लोगों का कथन है (और ये लोग सीमातिरेक-वादी हैं) कि अपराध-कार्य के कारण हैं जैव (बॉयोलॉजिकल), शारीरिक (फिजियोलॉजिकल), मानसिक (पैथोलॉजिकल) तथा सामाजिक (सोशियोलॉजिकल) दशाएँ। वे लोग निश्चिततावाद या भाग्यवाद के पोषक हैं। प्राचीन भारतीय लेखक इन पचड़ों में नहीं पड़ते। जब वे ऐसा कहते हैं कि काल, स्थान तथा अन्य परिस्थितियों पर ध्यान देना चाहिए तो वे उपर्युक्त दूसरे मत की ओर संकेत करते हैं।

अर्थ-दण्ड नियत या अनियत (परिवर्तनशील) होता है। वह काकिणी से लेकर सम्पूर्ण धन के जब्त करने तक हो सकता है। नियत अर्थ-दण्ड या जुरमाना तीन प्रकार का था--**प्रथम साहस, मध्यम साहस** एवं **उत्तम साहस** (सबसे अधिक)। इनकी व्याख्या कई प्रकार से की गयी है। शंख-लिखित के अनुसार उसकी सीमाएँ ये हैं--(१) २४ पणों से ९१ पणों तक, (२) २०० से ५०० तक तथा (३) ६०० से १००० तक; किन्तु यह विवाद-धन या क्षति के अनुपात में होता है। मनु (८।१३८=विष्णुधर्मसूत्र ४।१०) के मत से वे क्रमशः ये हैं--२५०, ५०० तथा १००० पण। याज्ञ० (१। ३६६) में उनका क्रम यों हैं--२७०, ५४० एवं १०८० पण। मिताक्षरा का कथन है कि मनु की कम संख्याएँ बिना किसी निश्चित उद्देश्य के किये गये अपराधों के लिए हैं। नारद (साहस, ७-८) के अनुसार सबसे कम कठोर साहस के लिए १०० पणों, सबसे कम मध्यम साहस के लिए ५०० पणों तथा सबसे कम गम्भीर साहस के लिए १००० पणों का दण्ड लगना चाहिए (अन्तिम में मृत्यु-दण्ड, सम्पूर्ण सम्पत्ति की जब्ती, देश-निष्कासन, दाग से जलाना अथवा अंगविच्छेद तक हो सकता है)। कात्यायन (४९०।४९३) का निम्न कथन है--'स्मृतिकारों ने जो अर्थदण्ड लगाया है वह ताम्रपणों में या उनके बराबर अन्य सिक्कों में दिया जा सकता है; जब दण्ड १/४ या १/२ माष है तो यह सोने का माष है, जब वह माषों (बहु०) में है तो उसे चाँदी में समझना चाहिए और जब वह कृष्णलों में घोषित किया जाय तब भी उसे चाँदी में समझना चाहिए। एक माष बराबर होता है १/२० कार्षापण

के।[८] स्त्रियों पर अपेक्षाकृत कम दण्ड लगता था। कात्यायन (४८७) ने लिखा है--एक ही प्रकार के अपराध में पुरुष की अपेक्षा स्त्री को आधा दण्ड देना पड़ता है। मृत्यु-दण्ड न देकर उसका कोई अंग काट लिया जाता है। कौटिल्य (३।३) के मत से स्त्री १२ वर्षों में तथा पुरुष १६ वर्षों में वयस्क हो जाते हैं और लेन-देन कर सकते हैं। यदि वे वयस्क होने पर नियम का उल्लंघन करते हैं तो स्त्री को १२ पण तथा पुरुष को उसका दूना दण्ड देना पड़ता है। अंगिरा (मिताक्षरा द्वारा याज्ञ० ४।२४३ में उद्धृत) का कहना है कि अस्सी वर्षीय बूढ़े, सोलह वर्ष से नीची अवस्था वाले बच्चे, स्त्रियों एवं रोगग्रस्त पुरुषों को आधा प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इसी स्थान पर शंख का उद्धरण है कि पाँच वर्ष से कम अवस्था का बच्चा किसी क्रिया द्वारा न तो अपराध करता है और न पाप; उसे न तो दण्ड मिलता है और न प्रायश्चित्त करना पड़ता है।[९] आधुनिक भारतीय दण्ड-विधान में सात वर्ष तक के बच्चे द्वारा अपराध नहीं माना जाता। दण्ड की गम्भीरता जाति पर भी निर्भर थी।

चोरी के मामलों में वैश्य, क्षत्रिय एवं ब्राह्मण को शूद्र की अपेक्षा क्रम से दूना, चौगुना तथा अठगुना दण्ड देना पड़ता था, क्योंकि उन्हें अपेक्षाकृत अपराध की गुरुता अधिक ज्ञात रहती है (गौतम १२।१५।१६; मनु ८।३३८-३३९)। इसे कात्यायन (४८५) एवं व्यास ने सभी अपराधों में सामान्य नियम के रूप में माना है। मानहानि के मामलों में दण्ड के लिए उच्चतर जातियों के साथ पक्षपात पाया जाता है। गौतम (१२।१, ८-१२), मनु (८।२६७-२६८=नारद, पारुष्य १५-१६), याज्ञ० (२।२०६।२०७) का मत है कि क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र जब ब्राह्मण की अवमानना (मानहानि) करते हैं तो उन्हें क्रम से १००, १५० पणों का दण्ड तथा शारीरिक दण्ड (जीभ काट लेना) मिलता है, जब ब्राह्मण किसी क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र की मानहानि करता है तो उसे क्रम से ५०, २५ या १२ पण देने पड़ते हैं (गौतम १२।१३ के अनुसार अन्तिम के लिए कुछ भी नहीं देना पड़ता)। व्यभिचार एवं बलात्कार के मामले में अपराधी की जाति एवं तत्सम्बन्धी नारी पर ध्यान दिया जाता था। अपनी जाति की नारी के साथ व्यभिचार करने पर याज्ञ० (२।२८६) ने सबसे अधिक दण्ड-व्यवस्था दी है, यदि अपराधी ऊँची जाति का है तो दण्ड मध्यम होता है, किन्तु यदि पुरुष नीच जाति का हो तो मृत्यु-दण्ड होता है और स्त्री के कान काट लिये जाते हैं। पीड़ा देने, अंग-भंग करने या मार डालने पर शारीरिक दण्ड कई विधियों से दिये जाते थे। प्रथम प्रकार के अपराध में निम्नांकित दण्डों की व्यवस्था थी; बन्दी बनाना, पीटना, हथ-

८. दण्ड वाले सिक्कों की धातु के विषय में कई मत हैं। विज्ञानेश्वर के मत से मनु (८।३७८) के दण्ड-संबंधी पण ताम्र के हैं। भारुचि (सरस्वतीविलास, पृ० १५०) के अनुसार ये सिक्के सोने के हैं। सरस्वतीविलास ने इस विषय में लोकाचार को श्रेष्ठता दी है। व्यवहारमयूख (पृ० २५५) का कथन है कि जहाँ सिक्के का नाम नहीं है वहाँ उसे पण समझना चाहिए एवं चाँदी का मानना चाहिए और उसे एक कर्ष की तोल का समझना चाहिए तथा एक कर्ष बराबर होता है १/४ पल के। बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ९९) का कथन है कि मनु (८।१३२-१३६) की तालिका डाँड़ी में संलग्न धूलि-कण से लेकर कार्षापण तक दिव्यों एवं दण्ड के संबन्ध में लागू होती है। अपराधों एवं दण्डों के विषय में चालुक्य विक्रमादित्य चतुर्थ (शक सं० ९३४) के गदग अभिलेख ने प्रकाश डाला है, जिसके अनुसार मान-हानि, आक्रमण, छुरा निकालने, छुरा भोंकने एवं व्यभिचार (कुमार द्वारा) के मामले में क्रम से २ पण, १२ पण, ३ गद्याण, १२ गद्याण एवं ३ गद्याण दण्ड-रूप में देने पड़ते थे (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द २०, पृ० ६४)।

९. नारद (४।८५) के अनुसार बच्चा शिशु कहलाता है और वह आठ वर्ष तक गर्भस्थ-जैसा माना जाता है तथा १६ वर्षों तक बाल या पोगण्ड कहलाता है।

कड़ी या बेड़ी पहनाना, उपहास कराना (सिर मुड़ा देना, अपराधी को साथ लेकर डोंड़ी पिटवाना, गधे पर चढ़ाकर चारों ओर घुमाना, उस पर अपराधों के चिह्न गोद देना। मनु (८।१२५) ने तीन उच्च जातियों के दस अंगों पर दण्ड देने की व्यवस्था दी है, यथा—गुप्तांगों, पेट, जिह्वा (पूरी या आधी), हाथ, पाँव, आँखें, नाक, कान, धन एवं सम्पूर्ण शरीर पर; किन्तु ब्राह्मण को इस प्रकार के दण्ड न देकर देश से निकाल देते थे। बृहस्पति ने इस सूची में गरदन, अँगूठा एवं तर्जनी, मस्तक, अधर, पिछला भाग, नितम्ब एवं आधा पाँव भी जोड़ दिया है और सम्पत्ति एवं सम्पूर्ण शरीर को छोड़ दिया है। गौतम (१२।४३), कौटिल्य (४।८), मनु (८।१२५, ३८०-३८१), याज्ञ० (२। २७०), नारद (साहस, ९-१०), विष्णु (४।१-८), बृहस्पति, वृद्ध-हारीत (५।१९१) ने व्यवस्था दी है कि किसी भी अपराध में ब्राह्मण को मृत्यु-दण्ड या शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए; यदि वह मृत्यु-दण्ड वाला अपराध करे तो उसका सिर मुड़ा देना चाहिए, उसे देश-निकाला (नगर-निष्कासन, नारद के मत से) देना चाहिए, उसके मस्तक पर उसके द्वारा किये गये अपराध-चिह्न का दाग लगाकर गधे पर चढ़ाकर उसे घुमाना चाहिए। यम (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३१७) एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० ३९३) ने व्यवस्था देते हुए कहा है कि ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड नहीं देना चाहिए, उस अपराधी को किसी एकान्त स्थान में बन्द रखना चाहिए और उसे केवल साधारण जीविका का साधन प्रदान करना चाहिए, या राजा उसे एक मास या एक पक्ष तक चरवाहे का कार्य करने को आज्ञापित करे या उससे ऐसा कार्य ले जो भद्र ब्राह्मण के लिए योग्य न हो। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२७०) ने कहा है कि यदि अपराधी (चाहे वह ब्राह्मण हो या अन्य कोई) ने महान् अपराधों के कारण प्रायश्चित्त न किया हो तो उसके मस्तक पर स्त्री के गुप्तांगों (गुरु की शय्या अपवित्र करने के कारण) का चिह्न, कलवरिया (सुरा पीने के कारण) का चिह्न, कुत्ते के पैर का चिह्न (चोरी के अपराध में) तथा शिरहीन शव का चिह्न (ब्रह्महत्या के अपराध में) दाग देना चाहिए। इस विषय में देखिए राजतरंगिणी (४।९६-१०६)। और भी देखिए गौतम (१२।४४) एवं मनु (९।२४१)। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१०।२७।१६-१७) का कथन है कि यदि ब्राह्मण हत्या, चोरी करता तथा किसी की सम्पत्ति बलवश छीन लेता था तो जीवन-भर उसे वस्त्र-खण्ड से आँखें बन्द रखनी पड़ती थीं (किन्तु इन अपराधों में शूद्र को मृत्यु-दण्ड मिलता था)। और देखिए वृद्ध-हारीत (७।२०९-२१०)। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि ब्राह्मण के मृत्यु-दण्ड के सम्बन्ध में सभी स्मृतिकार समान बातें कहते हैं। कात्यायन (८०६) का कहना है कि भ्रूण-हत्या (गर्भपात कराना), सोने की चोरी, ब्राह्मण स्त्री की किसी तीक्ष्ण हथियार से हत्या या पतिव्रता स्त्री की हत्या के अपराधों में ब्राह्मण को भी मृत्यु-दण्ड दिया जा सकता है। कौटिल्य (४।११) ने कहा है कि राज्य-कामुक, अन्तःपुरदूषक, राजा के विरोध में जंगली जातियों एवं शत्रुओं को उभाड़ने वाले, क्रान्ति करने वाले ब्राह्मण को जल में डुबा देना चाहिए। मृच्छकटिक नाटक में ब्राह्मण चारुदत्त को राजा पालक ने मृत्यु-दण्ड की आज्ञा दी थी। जातकों में ब्राह्मण के मृत्यु-दण्ड का उल्लेख मिलता है (फिक, 'सोशल ऑर्गनाइज़ेशन', पृ० २१२)।

शान्तिपर्व (अध्याय २६८) में राजा द्युमत्सेन एवं उनके पुत्र राजकुमार सत्यवान् के बीच मृत्यु-दण्ड के विषय में हुए मनोरंजक कथनोपकथन की चर्चा पायी जाती है। इस बातचीत में मृत्यु-दण्ड के विरोधियों का मत अंकित है। राजकुमार ने मृत्यु-दण्ड का विरोध करते हुए तर्क दिये हैं कि गम्भीर अपराधों में भी दण्ड हलका होना चाहिए, क्योंकि जब डाकुओं को मृत्यु-दण्ड दिया जाता है तो बहुत-से निरपराधियों की हानि होती है, यथा—उनकी स्त्री, बच्चे, माँ आदि की; अतः जो अपराधी पुरोहितों के समक्ष पुनः अपराध न करने की सौगन्ध खा लेते हैं तो प्रायश्चित्त के उपरान्त उन्हें छोड़ देना चाहिए; यदि बड़े व्यक्ति कुमार्ग में जायँ तो उनको दण्ड उनकी महत्ता के अनुसार ही देना चाहिए। राजा ने प्रत्युत्तर दिया कि प्राचीन काल में जब लोग सत्यवादी एवं मृदु स्वभाव के थे तो 'धिक्कार' शब्द ही दण्ड-रूप में पर्याप्त था और शाब्दिक प्रतिरोध एवं भर्त्सना से काम चल जाता था, किन्तु

कलियुग में मृत्यु-दण्ड एवं अन्य शारीरिक दण्ड आवश्यक हो गया है, यहाँ तक कि कुछ लोग मृत्यु-दण्ड से भी भय नहीं खाते।

प्रत्येक दण्ड-विधि के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। बड़े-बड़े गम्भीर अपराधों में भी मृत्यु-दण्ड का भर-सक त्याग किया जाता था (कामन्दकीय नीतिशास्त्र (१४।१६, शुक्र ४।१।९३), किन्तु राज्य उलट देने के मामले में ऐसा नहीं होता था। महापातकों में ब्राह्मणों के अतिरिक्त सभी को मृत्यु-दण्ड मिलता था (विष्णुधर्मसूत्र ५।१)। किन्तु मनु (९।२३६) के अनुसार प्रायश्चित्त न करने पर ही ऐसा किया जाना चाहिए। तीक्ष्ण हथियार से मार डालने पर ही मृत्यु-दण्ड देना चाहिए, ऐसा कौटिल्य (४।११) ने कहा है। वृद्ध-हारीत (७।१९०) ने आग लगाने वाले, विष देने वाले, हत्यारे, डकैतों, दुराचारियों, शठों, महापातकियों के लिए मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था दी है। कई प्रकार से मृत्यु-दण्ड दिया जाता था; विष देकर, हाथी के पैर से कुचलवा कर, तीक्ष्ण हथियार (तलवार) से, जलाकर या डुबाकर। रात्रि में सेंध लगाकर चोरी करने पर पहले चोर के हाथ काटकर शूली पर चढ़ा दिया जाता था (मनु ९।२७६)। यही बात याज्ञ० (२।२७३) ने उनके लिए कही है जो किसी दूसरे को बन्दी बनाते हैं, घोड़ा या हाथी चुराते हैं या बलपूर्वक किसी को मार डालते हैं। हारीत (७।२०३) ने ब्रह्म-हत्या करने, स्त्री, बच्चों या गाय को मारने पर शूली देने की बात कही है। मराठों के काल तक हाथी के पाँवों तले कुचलकर मार डालने की प्रथा प्रचलित थी। दण्डविवेक (पृ० २०) के अनुसार शुद्ध मृत्यु-दण्ड दो प्रकार का था; **अविचित्र** (जब अपराधी का सिर काट लिया जाता था) तथा **चित्र** या **विचित्र** (जब अपराधी जला दिया जाता था या उसे शूली पर चढ़ा दिया जाता था); वह मृत्यु-दण्ड, जिसमें हाथ या पैर या अंगभंग करके तब मारा जाता था, **मिश्र** कहलाता था। मनु ने शुद्ध मृत्यु-दण्ड उन लोगों के लिए प्रयुक्त माना है जो चोरों की जीविका चलाकर उनकी सहायता करते थे या उन्हें सेंध लगाने के यन्त्र देते थे या उन्हें छिपाकर रखते थे (९।२७१)। यदि हीन जाति का कोई व्यक्ति ऊँची जाति की स्त्री के साथ उसकी सहमति से या असहमति से व्यभिचार करता है या किसी युवती को ले भागता है तो उसे मृत्यु-दण्ड मिलता था (मनु ८।३६६, याज्ञ० २।२८६-२८८-२९४)। वसिष्ठ (२१।१-५) ने उस शूद्र, वैश्य या क्षत्रिय के लिए, जो ब्राह्मण स्त्री के साथ व्यभिचार करता है, भयानक मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था दी है; उन्हें क्रमशः **वीरण** घास, लाल **दर्भ** घास एवं **सरकंडे** के पत्रों से ढककर जला डालना चाहिए। इसी प्रकार उन्होंने शूद्र को क्षत्रिय या वैश्य स्त्री के साथ व्यभिचार करने तथा वैश्य को क्षत्रिय स्त्री के साथ व्यभिचार करने पर जलाकर मार डालने की व्यवस्था दी है। सहमति वाली स्त्री को वसिष्ठ (२१।१-३) ने माथा मुंड़वा और सिर में घृत लगवा कर, गधे पर नंगा करके बैठाने एवं घुमाकर मृत्यु-यात्रा के लिए भेज देने की व्यवस्था दी है। गौतम (२३।१४) एवं मनु (८।३७१) ने अपने से छोटी जाति के व्यक्ति से व्यभिचार करने पर उस स्त्री को, जिसे रूप का गर्व है या जो माता-पिता के धन पर गर्व करती है, कुत्तों से कटवा कर मार डालने को कहा है। शंख ने हीन जाति के पुरुष को उसी प्रकार मार डालने को कहा है तथा इस प्रकार की स्त्रियों को जलाकर मार डालने की व्यवस्था दी है। वृद्ध-हारीत (७।१९२) ने व्यभिचारिणी या गर्भपात-कारिणी स्त्री को पति द्वारा नाक-कान या अधर कटवा कर निकाल देने को कहा है; श्लोक २२०-२२१ में आया है कि व्यभिचारिणी नारी को कटाग्नि (सरपत की अग्नि) में जला डालना चाहिए। आगे चलकर ये भयानक दण्ड कुछ हलके कर दिये गये। मनु (९।२७९) ने जलाशय, झील या बाँध तोड़ देने (जिससे कि वे सूख जायँ) वाले को डुबाकर मृत्यु-दण्ड देने को कहा है और किसी स्त्री ने अपना बच्चा मार डाला हो, या किसी पुरुष को मार डाला हो, या बाँध या जलाशय तोड़ दिया हो, उसे गरदन में पत्थर बाँध कर डुबा देने को कहा है (यदि वह गर्भवती न हो तो)। यही बात याज्ञ० (२।२७८) ने भी कही है। जो स्त्री विष से किसी को मार डालने या आग लगाने की अपराधिनी है, या जिसने पति, गुरुजनों एवं अपने बच्चे को मार डाला है, (यदि वह उस समय गर्भवती नहीं है तो) याज्ञ० (२।२७९=मत्स्यपुराण २२७।२००) के अनुसार उसे नाक, अधर,

कान काटकर बैलों के सींगों में बाँधकर लहू-लुहान करते हुए मार डालना चाहिए।[10] याज्ञ० (२।२८२) ने खड़ी खेती, घरों, जंगलों, गाँव, चरागाहों को जला डालने तथा सम भूमि को तोड़ डालने वालों या राजपत्नी-दूषकों को फूस में रखकर जला डालने को कहा है। नारद (पारुष्य, ३१) के मत से जो राजा पर, भले ही उसी का दोष हो, हथियार से चोट करता है, उसे काटकर आग में भून डालना चाहिए। मनु (८।२७२), नारद (पारुष्य, २४), विष्णुधर्मसूत्र (५।२४) ने व्यवस्था दी है कि यदि कोई शूद्र ब्राह्मणों को धर्म की शिक्षा देने की अहंमन्यता प्रदर्शित करे तो उसके मुँह एवं कानों में खौलता हुआ तेल डाल देना चाहिए।

चोरों, जेबकतरों एवं गाँठ-कतरों के विषय में हाथों, पाँवों या अंगुलियों को काटकर दण्ड देने की व्यवस्था थी (मनु ९।२७६-२७७; नारद-परिशिष्ट ३२; याज्ञ० २।२७४)। जब कोई शूद्र गम्भीर आरोप लगाकर ब्राह्मण या क्षत्रिय की अवमानना करता था (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।१०।२७।१४; मनु ८।२७० एवं नारद-पारुष्य २२) या जब वह द्विजों के साथ वेद का उच्चारण करता था (गौतम १२।४) या जब वह राजा को गाली देता था (नारद-पारुष्य ३०) या जब राजा को न पसन्द आने वाली बात बार-बार कहता था या राजा की गुप्त नीति का भेद खोल देता था, तब उसकी जीभ काट ली जाती थी (याज्ञ० २।३०२)। जब कोई शूद्र उच्च जाति की स्त्री के पास मैथुन के लिए पहुँचता था (गौतम १२।२) या कोई व्यक्ति पर-नारी से बलात्कार करता था (वृद्ध-हारीत ७।२०१) तो उसकी जननेन्द्रिय काट ली जाती थी। इसी प्रकार उसके साथ भी किया जाता था जो माता, मौसी, चाची, बहिन, मित्र या शिष्य की स्त्री, बेटी, पतोहू, गुरु-स्त्री, शरणार्थी स्त्री, रानी, संन्यासिनी, दाई (शिशुपालिनी) या किसी भी पतिव्रता नारी या किसी उच्च वर्ण की नारी के साथ बलात्कार करता था (नारद, स्त्रीपुंसयोग ७३-७५)। यदि कोई बनावटी सोना या वर्जित मांस (यथा--कुत्ते का मांस) बेचता था तो उसके कान, नाक, हाथ काट लिये जाते थे (याज्ञ० २।२९७)। दागने के बारे में देखिए गौतम (१२।४४), बौधायनधर्मसूत्र (१।१०।१९), नारद (साहस १०), मनु (९।२३७= मत्स्यपुराण २२७। १६), विष्णुधर्मसूत्र (५।३-७)। दण्डविवेक (पृ० ६७) के मत से जब प्रायश्चित्त नहीं किया जाता था या जान-बूझकर अपराध किया जाता था तो दाग लगाया जाता था। इस विषय में और देखिए याज्ञ० (२।२०२; २।२९४) एवं दक्ष (७।३३), राजतरंगिणी (६।१०८-११२)। दण्डनीतिप्रकरण में केशव पंडित ने (पृ० ६) नन्द पण्डित की वैजयन्ती का उद्धरण देते हुए बताया है कि ब्राह्मणों के लिए भिलावे के रस से तथा अन्य लोगों के लिए लोह-शलाका को लाल करके दाग़ लगाया जाता था।

मनु (७।३७०) ने सिर मुंडन उस स्त्री के लिए उचित माना है जो किसी कुमारी को अपवित्र कर देती है।

१०. यह एक सामान्य नियम था कि किसी भी प्रकार स्त्रियों को नहीं मारना चाहिए। हमने इस विषय में इस ग्रंथ के द्वितीय भाग में पढ़ लिया है । किन्तु इस विषय में स्त्रियों के कुछ अपराध अपवाद थे और उनके विषय में भी वसिष्ठ (२१।१०) एवं याज्ञ० (१।७२) ने मृदु विकल्प दिया है, यथा--त्याग, जब कि स्त्री किसी नीच जाति के पुरुष के संसर्ग से गर्भवती हो जाय या पति को मार डाले या गर्भपात करे। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२८६) के मत से स्त्री को मृत्यु-दण्ड देने के कारण राजा को प्रायश्चित्त करना पड़ता था। अठारहवीं शताब्दी में पेशवा के प्रसिद्ध न्यायाधीश रामशास्त्री ने ब्रह्म-हत्या की अपराधिनी एक स्त्री को तीर्थ-यात्रा एवं नासिक के पास त्र्यम्बकेश्वर पर्वत की परिक्रमा करने के प्रायश्चित्त की न्यायालय-आज्ञा दी थी। इण्डियन क्रिमिनल प्रोसीजरकोड (परिच्छेद ३८२) में भी आया है--यदि मृत्यु-दण्ड की अपराधिनी गर्भवती है तो हाईकोर्ट समय को स्थगित कर सकता है और यदि वह उचित समझे तो, मृत्यु-दण्ड के बजाय आजन्म कारावास दण्ड दे सकता है।

नारद (साहस १०) ने ऐसा उस ब्राह्मण के लिए लिखा है जो जाति के कारण मृत्यु-दण्ड नहीं पाता तथा शंख-लिखित ने (अपरार्क पृ० ८०७) उसके लिए, जो राजपुरुषों, ब्राह्मणों एवं गुरुजनों की अवमानना करता है। और देखिए मेगस्थनीज़ (फ्रैगमेण्ट्स २७, पृ० ७२)।

आजीवन बन्दीगृह-सेवन का दण्ड किसी की आँखें निकाल लेने (विष्णु० ५।७१) या तीन बार से अधिक वही अपराध करने (शुक्र ४।१।८८) पर मिलता था। विष्णुधर्मसूत्र (५।१०५) ने उस स्त्री को, जो जान-बूझकर ऋतुमती की अवस्था में उच्च वर्णवालों को छूती है, कोड़ा लगाने को कहा है। यह दण्ड दासों, आश्रितों, स्त्रियों, अल्पवयस्कों, पागलों, बूढ़ों, दरिद्रों तथा रोगियों को भी अपराध करने पर दिया जाता था।

देश-निष्कासन का दण्ड मृत्यु-दण्ड पाने वाले ब्राह्मणों को दिया जाता था (गौतम १२।४४; मनु ९।२४ एवं ८।३८०; विष्णुधर्मसूत्र ५।३ एवं ८; बौधायनधर्मसूत्र १।१०।१९; याज्ञ० २।२७०)। देश-निष्कासन के साथ कभी-कभी दाग भी लगा दिया जाता था। देश-निष्कासन घूस लेने पर (याज्ञ० २।२३९), ब्राह्मणों द्वारा कूट साक्ष्य (झूठी गवाही) देने पर (याज्ञ० २।८१), व्यापारियों के धन का ग़बन करने तथा किसी संघ या ग्राम के स्वीकृत नियमों का उल्लंघन करने पर (याज्ञ० २।१८७, मनु ८।२१९, वि० ध० सू० ५।१६७-१६८), गलत पासा फेंकने पर (याज्ञ० २।२०२, नारद, द्यूतसमाह्वय ६), ब्राह्मण द्वारा गम्भीर अपराध किये जाने पर (शान्तिपर्व १४।११६) किया जाता था। शुक्र (४।१।९८-१०८) में इसकी लम्बी सूची है।

सम्पूर्ण सम्पत्ति की ज़ब्ती निम्न अपराधों में होती थी; ब्राह्मणों के अतिरिक्त (जब वे अनजाने ऐसा करते थे) अन्य लोगों द्वारा महापातक करने पर (मनु ९।२४२), कूट साक्ष्य देने पर एवं सभ्यों द्वारा घूस लेने पर (वि० ध० सू० ५।१७९-१८०)। नारद (प्रकीर्णक, १०-११) ने व्यवस्था दी है कि सम्पूर्ण सम्पत्ति की जब्ती पर अपराधियों के यन्त्र, यथा सैनिकों के हथियार, शिल्पकारों के औज़ार, नर्तकियों के आभूषण, संगीतज्ञों के वाद्ययन्त्र आदि नहीं छीनने चाहिए। यही बात शंख-लिखित (व्यवहाररत्नाकर पृ० ६५६) में भी दी हुई है। दण्ड की वृद्धि एक से अधिक बार अपराध करने पर होती थी। वि० ध० सू० (३।९३) ने लिखा है कि दूसरी बार अपराधी को नहीं छोड़ना चाहिए (पहली बार झिड़की देकर छोड़ा भी जा सकता था)। कौटिल्य (४।१०), मनु (९।२७७), याज्ञ० (२।२७४), वि० ध० सू० (५।१३६) में जो आया है वह एक समान ही है। कौटिल्य का कहना है कि यदि अपराधी ने किसी पवित्र स्थान में पहली बार चोरी की है या वह जेबकतरा है या उसने छत तोड़कर चोरी की है तो उसकी तर्जनी एवं अँगूठा काट लेना चाहिए या उस पर ५४ पण दण्ड लगाना चाहिए; दूसरी बार ऐसा करने पर सब अँगुलियाँ काट ली जायँ या १०० पण दण्ड दिया जाय; तीसरी बार का दण्ड है दाहिना हाथ काट लिया जाना या ४०० पण अर्थ-दण्ड लगाना तथा चौथी बार मृत्यु-दण्ड, जिस रूप में राजा उचित समझे। देखिए व्यभिचार के लिए ऐसा ही आपस्तम्बधर्मसूत्र में। यदि कोई व्यक्ति किसी को मारने या घायल करने की दुरभिसंधि करे तो किसी एक व्यक्ति द्वारा किये जानेवाले अपराध का दूना दण्ड लगता है (कौटिल्य ३।९, याज्ञ० २।२२१ एवं वि० ध० सू० ५।७३)।

कौटिल्य (४।४) ने जादू-टोने द्वारा धर्मविरुद्ध प्रेम-स्थापन के मामले का पता चलाने के लिए गुप्तचरों के प्रयोग की व्यवस्था दी है। उनका कहना है कि ऐसा जादू-टोना करने वाले को देश-निष्कासन का दण्ड देना चाहिए और यही व्यवहार उनके साथ भी होना चाहिए जो इस क्रिया द्वारा अन्य लोगों को क्लेश या चोट पहुँचाते हैं। पेशवाओं के काल में भी डाइनों, भूत-प्रेत करने वालों को मृत्यु-दण्ड, सम्पति की जब्ती, अंगुली काट लेने के दण्ड दिये जाते थे (सेलेक्शंस फ्राम पेशवाज रेकर्ड्स, जिल्द ४३, पृष्ठ २५-२६ एवं पेशवाज डायरी, जिल्द २, पृ० ७)। इंग्लैण्ड में भी १८वीं शताब्दी के आरम्भ तक (डाइनों के रूप में) दुष्ट प्रकृति वाली स्त्रियों को मृत्यु-दण्ड दिया जाता रहा है। मनु (९। २९० = मत्स्यपुराण २२७।१८३) ने मन्त्र-बल से मारने वालों, जादू एवं भूत-प्रेत करने वालों पर केवल २०० पण

का हलका दण्ड लगाया है। मेधातिथि एवं कुल्लूक का कहना है कि यदि जादू सफल हो जाय तो दण्ड मृत्यु-दण्ड तक पहुँच सकता है। बृहस्पति ने जड़ी-बूटियों से मन्त्रयोग सिद्ध करनेवालों के लिए देश-निष्कासन के दण्ड की व्यवस्था दी है।

कौटिल्य (२।५) ने व्यवस्था दी है कि राजधानी में स्त्रियों एवं पुरुषों के लिए अलग-अलग एवं सुरक्षित प्रवेशद्वार वाले बन्दीगृहों की योजना होनी चाहिए। उन्होंने (२।३६) यह भी कहा है कि **नागरक** राजा के जन्म-दिन के उपलक्ष्य में तथा प्रति मास पूर्णिमा को नवयुवकों, बूढ़ों, रोगियों एवं असहायों को छोड़ दे, या वे लोग जो दयालु हैं उनका अर्थ-दण्ड दे दें या अन्य लोग उन बन्दियों को छुड़ाने के लिए ज़ामिन हो जायँ। बन्दियों को प्रति दिन काम करने या पाँच दिनों में एक दिन काम करने या कोड़े आदि शारीरिक दण्ड पा लेने पर छोड़ देना चाहिए। वे नया देश जीतने, राजकुमार के जन्म अथवा राज्याभिषेक के दिन छोड़ दिये जा सकते हैं। ये छूटें कौटिल्य द्वारा ही दी गयी हैं। कौटिल्य की ये बातें बहुत अंशों में अशोक ने कार्यान्वित की थीं (दिल्ली, टोपरा स्तम्भाभिलेख सं० ४, ५, कार्पस इंस्क्रिप्संस इण्डिकेरम, जिल्द १, पृ० १२३, पृ० १२६-१२८ एवं एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द २, पृ० २५३-५४ एवं पृ० २५८-२५९)।

मनु (९।२८८) ने कहा है कि बन्दीगृह राजमार्ग पर बनाना चाहिए, जिससे लोग क्लेश एवं दुर्दशा में पड़े अपराधियों को देखकर स्वयं अपराध करने से बचें। कालिदास (मालविकाग्निमित्र, अंक ४७; रघुवंश १७।१९) ने बन्दियों के छोड़ने एवं मृत्यु-दण्ड की क्षमा के लिए राज्याभिषेक आदि का दिन शुभ माना है। और देखिए बृहत्संहिता (४७।८१), मृच्छकटिक (१०), हर्षचरित (२), जहाँ बन्दियों की मुक्ति का उल्लेख है।

मनु (९।२४३) ने लिखा है कि राजा को महापातकी की सम्पत्ति नहीं लेनी चाहिए, अन्यथा लोभ के कारण ऐसा करने से अपराध का प्रभाव उस पर भी पड़ जायगा। ऐसे दण्ड-धन को वरुण की अभ्यर्थना के लिए जल में डाल देना चाहिए या गुणी एवं विद्वान् ब्राह्मणों को दान कर देना चाहिए, क्योंकि वरुण राजाओं का राजा है, और ऐसे ब्राह्मण अखिल विश्व के स्वामी हैं (मनु ९।२४४-२४५)। मनु (९।२४६-२४७) ने आगे कहा है कि जिस देश के राजा दुष्ट पापियों की सम्पत्ति लेना नहीं चाहते, उसके निवासी दीर्घ आयु वाले होते हैं, वहाँ अन्न उपजते हैं, शिशु-मृत्यु नहीं होती, आदि।

ऋण के पुनर्लाभ के अतिरिक्त (इसका वर्णन आगे होगा) किसी अन्य विषय में कानून अपने हाथ में न लेना एक सामान्य नियम था। किन्तु नारद (पारुष्य ११-१४) में आया है--'यदि श्वपाक (कुत्ता खाने वाला), मेद (एक वर्णसंकर जाति), चण्डाल, अंग-भंगी, वध-वृत्ति (पशु मारकर जीविका चलानेवाला), हस्तिप (हाथीवान), व्रात्य (उपनयन संस्कार न करने पर जातिच्युत), दास, गुरुजनों एवं आध्यात्मिक गुरु की अवमानना करनेवाला आदि अपनी सीमा के बाहर जायँ तो उन्हें वे लोग (जिनके प्रति ऐसे लोग मर्यादाहीन रहते हैं) उसी समय दण्डित कर सकते हैं। ऐसे मामलों में राजा कुछ नहीं कहता। ऐसे लोग मानवता के मल हैं और उनकी सम्पत्ति भी अपवित्र है। राजा उन्हें शारीरिक दण्ड दे सकता है (कोड़ा मारना आदि), किन्तु उन पर अर्थ-दण्ड नहीं लगा सकता। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२७०) ने वृद्ध-मनु का इसी अर्थ में उद्धरण देकर कहा है कि गम्भीर अपराधों में राजा को अर्थ-दण्ड लेने से दूर रहना चाहिए।

लेन-देन आदि के **अवधि-सम्बन्धी** व्यवहार (कानून) के विषय में भी कुछ कहना चाहिए। अनेक कारणों से स्मृतियों एवं निबन्धों में अवधि-सम्बन्धी नियमों को उतनी प्रधानता नहीं मिली है। ऋणी के अतिरिक्त उसके पुत्रों, पौत्रों एवं प्रपौत्रों को भी ऋण चुकाना पड़ता था। इसका एक धार्मिक पहलू भी था, जिसे हम आगे पढ़ेंगे (ऋणादान वाले प्रकरण में)। ऋणादान के सिलसिले में किसी निश्चित अवधि का निर्धारण नहीं होता था। बिना धन दिये क्रय

करना ऋण लेने के बराबर था। केवल समय के व्यवधान से ही कोई अपने उत्तरदायित्व से बच जाय, ऐसा नहीं होता था; प्रत्युत अधिकांश स्मृतियों एवं धर्मशास्त्रों ने, धार्मिक एवं अन्य पारलौकिक बातों के कारण, ऋण चुकाने अथवा ऋणोद्धार के लिए समय की कोई अवधि नहीं मानी है। किन्तु कुछ लेखकों ने सीमा निर्धारित कर दी है। कौण्डिन्य (व्यवहारमातृका, पृ० ३४१) के अनुसार दस वर्षों के उपरान्त ऋणोद्धार नहीं हो सकता; केवल अल्पवयस्क, अति बूढ़े, स्त्री, रोगी, शत्रु के आक्रमण (यदि ऋणी कहीं चला गया) के मामले में ऋणावधि नहीं होती थी। कुछ अवधि-सम्बन्धी नियम इस प्रकार हैं--

(१) मनु (८।१४८), याज्ञ० (२।२४), गौतम (१२।३५), वसिष्ठ (१६।१७), नारद (४।७९) आदि ने कहा है कि वास्तविक स्वामी की दृष्टि में अथवा बिना विरोध के यदि कोई अचल सम्पत्ति का उपभोग करे तो स्वामित्व टूट जाता है और यही बात इस स्थिति में चल सम्पत्ति के दस वर्षों के उपभोग से होती है।

(२) किन्तु अपवाद भी है। पण (करार), सीमाओं, निक्षेपों (धरोहरों), अल्पवयस्कों, मूर्खों, राज्य, स्त्रियों एवं श्रोत्रियों (वेदज्ञ ब्राह्मणों) की सम्पत्ति के विषय में उपर्युक्त नियम नहीं लागू होता। देखिए गौतम (१२।-२५-३६), वसिष्ठ (१६।१८), मनु (८।१४९), याज्ञ० (२।२५), नारद (४।८१), बृहस्पति आदि।

(३) नारद (उपनिधि, १४) के मत से शिल्पकारों को दी गयी सामग्रियों (उधार या बनाने के लिए), अन्वाहित (स्त्रीधन), न्यास (ट्रस्ट), प्रतिन्यास के मामलों में भी कोई अवधि नहीं थी। देखिए मनु (८।१४५-१४६), याज्ञ० (२।५८), वि० ध० सू० (४।७-८)। किन्तु यहाँ भी कुछ अपवाद हैं; मरीचि (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ६९) के मत से गायों, भारवाही पशुओं, गहनों आदि के मामलों में जब कि वे मित्रता के रूप में दिये गये हों, चार या पाँच वर्ष की अवधि पर्याप्त है और इसके उपरान्त उनकी हानि मान ली जानी चाहिए। व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ६७) के मत में इस नियम का प्रयोग मित्रों, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों तथा प्रार्थना पर राजपुरुषों को दिये गये पदार्थों के लिए नहीं होता।

(४) कात्यायन (२९८-३००) के मत से २० वर्षों तक किसी अशुद्ध लेख-प्रमाण (जब कि उसे लिखनेवाले ने देखा हो, जाना हो) की अवधि हो सकती है। इसी प्रकार २० वर्षों तक भोगी हुई सम्पत्ति का लेख अपरिहार्य माना जाता है जब कि विरोधी द्वारा जान-बूझकर किसी प्रकार का विरोध न खड़ा किया गया हो (भले ही सभी साक्षी मर गये हों तथा मिलाने के लिए कोई अन्य लेख आदि न हो)।

(५) सीमा-निर्धारण-सम्बन्धी लेख भी २० वर्षों के उपरान्त अमिट हो जाता है (कात्यायन ३०१)।

(६) भले ही साक्षी-गण जीवित हों, किन्तु ३० वर्षों के ऊपर वाले लेख का विवाद टिक नहीं सकता, जब कि वह उतने दिनों तक किसी को दिखाया नहीं गया, और न ऋणदाता ने किसी को पढ़कर सुनाया। देखिए बृहस्पति (३०८)।

गत पृष्ठों में हमने न्याय-विधि, प्रमाण एवं समयावधि के विषय में अवलोकन किया। कोई भी निष्पक्ष पाठक कह सकता है कि भारतीयों ने गत शताब्दियों के भीतर अपनी निजी न्याय-विधि का एक महत्तर रूप खड़ा किया है। भारतीय वस्तु-संबन्धी व्यवहार के विषय में नारद, बृहस्पति एवं कात्यायन ने बहुत सम्मानार्ह कार्य किया। ये लेखक ६०० ई० के पूर्व हुए थे और प्रथम दो तो इस काल के कई शताब्दियों पूर्व हुए थे। इन्होंने न्यायाधीश की नियुक्ति, उसके कर्तव्यों, उपयुक्त न्याय-विधि-कार्य, प्रमाण एवं कालावधि-सम्बन्धी कानून, जयपत्र और उसका कार्यान्वयन, अपराध एवं दण्ड के विषय में बड़ा सुन्दर अनुक्रम उपस्थित किया है। भारतीय व्यवहार-शास्त्र संसार में १८वीं शताब्दी तक प्रचलित सभी व्यवहार-विधियों के समकक्ष आता है।

अध्याय १६

समय (संविदा, करार)

व्यवहार के तीन मुख्य पद (विषय, शीर्षक या स्थान) हैं--**ऋणादान** (ऋण की भरपाई), **स्त्रीपुंसंयोग** (स्त्री एवं पुरुष के सम्बन्ध) एवं **दायभाग** (सम्पत्ति का विभाजन), जो आज भी भारत में बहुत सीमा तक टीकाकारों के विश्लेषण के अनुसार लागू हैं। हम इन पर विस्तार के साथ लिखेंगे और अन्य शीर्षकों को संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे। सभी स्मृतियों एवं निबन्धों में **ऋणादान** को सर्वप्रथम स्थान मिला है। पत्नी एवं पति के सम्बन्ध के शीर्षक पर हमने बहुत कुछ प्रथम भाग में ही पढ़ लिया है। दायभाग का वर्णन अन्त में किया जायगा और अन्य के वर्णन में हम मनु के अनुक्रम का अनुसरण करेंगे। बहुत-से **व्यवहार-पद** समयों (संविदा, करार, कांट्रैक्ट) के कानून से सम्बन्धित हैं, यथा--ऋण, बन्धक, प्रतिभू या लग्नक (जामिन), क्रय, साझा, नौकरी एवं वेतन-सम्बन्धी **समय** (करार)

प्राचीन लेखकों ने व्यवहार में संलग्न व्यक्तियों द्वारा एक-दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करने के विषय में बहुत कुछ कहा है। अर्थशास्त्र (३।१) ने इस विषय में विस्तार के साथ लिखा है जो संक्षेप में नीचे दिया जा रहा है। आश्रित, अल्पवयस्क, अति बूढ़े, महापातकी, अंग-भंगी, बुरे व्यसन (शराब एवं वेश्या-गमन) में लिप्त लोग अयोग्य हैं और इनके साथ किया गया **समय** (करार) या व्यवहार-सम्बन्धी समझौता अवैधानिक माना जाता है। आश्रित लोगों में निम्न की गणना होती है--पिता के रहते पुत्र, पुत्र के व्यवस्थापक (घर के मालिक) होने पर पिता, घर छोड़ा हुआ भाई, छोटा भाई, जिसकी सम्पत्ति का अभी विभाजन न हुआ हो, पति एवं पुत्र के रहते स्त्री, दास एवं वेतनग्राही व्यक्ति। किन्तु ये आश्रित लोग यदि आश्रयदाता चाहे तो, **बन्धक समयों** (बाइंडिंग एग्रीमेण्ट) में सम्मिलित हो सकते हैं। जो लोग समय करते समय क्रोध में हों, उन्मत्त हों, आर्त (दुःखित) हों या पागल हों, वे अयोग्य कहे जाते हैं, अर्थात् उनका प्रतिज्ञा-पत्र (इकरारनामा) या समय अवैधानिक माना जाता है। याज्ञ० (२।३१-३२) ने भी ऐसी ही बातें अपने ढंग से कहीं हैं--जो समय बलवश या कूटनीति अथवा प्रवंचना से किये गये हों उन्हें राजा द्वारा अयोग्य अथवा अवैधानिक सिद्ध कर देना चाहिए; ऐसे समय जो स्त्रियों द्वारा (या अन्य व्यक्तियों द्वारा, जैसा कि ऊपर कहा गया है), या रात्रि में, घर के भीतर, नगर या ग्राम के बाहर (जंगल आदि में) किये गये हों, या शत्रु द्वारा किये गये हों या विपक्षियों द्वारा, अनधिकृत या ऐसे लोगों द्वारा किये गये हों जो वास्तविक व्यक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं रखते, तो ऐसे समय अवैधानिक कहे जाते हैं। मनु (८।१६५ एवं १६८) ने भी कहा है कि क्रय, बन्धक, दान आदि यदि बलवश एवं कूटनीति से किये गये हों तो वे अवैधानिक सिद्ध हो जाते हैं। नारद ((४।२६-४२) ने इस विषय का निरूपण विस्तार से किया है। नारद के ये वचन मनोरंजक हैं; संसार में तीन व्यक्ति स्वतन्त्र हैं--'राजा, वैदिक गुरु एवं घर का मालिक (३२)। पत्नियाँ, बच्चे एवं दास पराधीन हैं; पैतृक सम्पत्ति के विषय में घर का मालिक स्वतन्त्र है (३४)।' कात्यायन (४९७) ने कहा है कि स्त्रियों, अल्पवयस्कों एवं दासों को ऋण नहीं देना चाहिए। स्त्रियों से करार करने का तात्पर्य यह है कि उनका यह कार्य उनके पतियों, कुटुम्ब एवं गृह-सम्पत्ति पर वैधानिक अधिकार नहीं रखता। यों तो स्त्रियाँ अपनी सम्पत्ति पर अधिकार रखती हैं और उसका लेन-देन कर सकती हैं, किन्तु पतियों का कुछ नियंत्रण रहता ही है (इस विषय में हम स्त्रीधन वाले प्रकरण में सविस्तर लिखेंगे)। याज्ञ० (२।२३), नारद (४।९७), कात्यायन (५१७) आदि ने

कहा है कि ऋण-सम्बन्धी अथवा अन्य व्यवहार-विषयों के समयों में अन्तिम क्रिया ही निर्णायक कहाती है, किन्तु दान बन्धक या क्रय में प्रथम समय अधिक महत्त्व रखता है।[1]

ऋण चुका देने की भावना का उदय भारत में बहुत प्राचीन काल में ही हो चुका था। ऋग्वेद (८।४७।१७) में ऋषि ने कहा है--जिस प्रकार हम ऋण चुकाते हैं उसी प्रकार बुरे स्वप्नों के बुरे प्रभावों को हमें दूर भगाना चाहिए। ऋग्वेद (१०।३४।१०) में आया है कि जुआरी छिप-छिपकर (क्योंकि उसने बहुतों से ऋण ले रखा है) रात्रि में अन्य लोगों के यहाँ धन-प्राप्ति के लिए जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण (३३।१) ने 'सन्नयति' शब्द का प्रयोग किया है जो ऋग्वेद (८।४७।१७) में आया है, यथा--'ऋणं सन्नयामसि।' अथर्ववेद (६।११७।३) एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।७।९।८) में इस लोक, परलोक (अर्थात् पितृ-ऋण) एवं देव-लोक (देव-ऋण) के ऋणों से मुक्त होने की चर्चा है।[2] तैत्तिरीय संहिता (३।३।८।१-२) ने 'कुसीद' शब्द का प्रयोग किया है जो धर्मशास्त्रों एवं स्मृतियों में 'ऋण देने-वाले' या ब्याज पर लेन-देन करने वाले के लिए प्रयुक्त हुआ है। शतपथ ब्राह्मण (१३।४।३।११) के पारिप्लव प्रकरण में 'कुसीदी' को अभिचार कर्म से सम्बन्धित कहा गया है। निरुक्त (६।३२) ने ऋग्वेद (३।५३।१४) पर टिप्पणी करते हुए वहाँ प्रयुक्त 'प्रमगन्द' शब्द का अर्थ यों लगाया है--'वह जो अति सूदखोर कुल में उत्पन्न हो।'[3] पाणिनि ने 'उत्तमर्ण' (ऋण-दाता) (१।४।३५), 'आधमर्ण्य' (ऋणलेने वाले की स्थिति) (२।३।७०), 'प्रतिभू' (जामिन) (२।३।३९), 'वृद्धि' (ब्याज) (५।१।४७) का प्रयोग किया है। पाणिनि (६।४।३१) ने 'कुसीदिक' एवं 'कुसीदिकी' की व्युत्पत्ति बतायी है। पाणिनि ने वार्धुषिक शब्द का प्रयोग नहीं किया है, जैसा कि आपस्तम्बधर्मसूत्र, बौधायनधर्मसूत्र ने किया है तथा कात्यायन ने पाणिनिसूत्र (४।४।३०) के वार्तिक में किया है। पाणिनि ने 'द्वैगुणिक' या 'त्रैगुणिक' का, जो दुगुना या तिगुना सूद लेने की ओर संकेत करते हैं, प्रयोग किया है। ऋग्वेद (२।२४।१३) में **ब्रह्मणस्पति** को **ऋणमादधि** (ऋण लौटा लेनेवाला) कहा गया है और **आदित्यों** को, जो ऋत (अखिल नियम) के रक्षक हैं, ऋण इकट्ठा करने वाले कहा गया है (२।२७।४)। ऋग्वेद (८।३२।१६) में आया है कि सोमरस निकालनेवाले पुरोहितों को देव-ऋण नहीं देना पड़ता। और भी देखिये ऋग्वेद (६।६१।१)।

इन बातों से स्पष्ट है कि ऋग्वेदिक काल में **देव-ऋण** एवं **पितृ-ऋण** की बृहत् कल्पना निर्धारित हो चुकी थी और इन ऋणों को क्रम से **यज्ञ** एवं **पुत्रोत्पत्ति** से चुकाया जा सकता है, ऐसा एक सामान्य विचार उत्पन्न हो गया था। **देव-ऋण, ऋषि-ऋण** एवं **पितृ-ऋण** को क्रम से यज्ञाराधना, अध्ययनाध्यापन एवं सन्तानोत्पत्ति से चुकाना चाहिए, इसकी परिकल्पनाएँ स्पष्ट रूप से ऋग्वेद, तैत्तिरीय संहिता (६।३।१०।५), शतपथ ब्राह्मण (१।७।२।११), ऐतरेय ब्राह्मण

१. उदाहरणार्थ, यदि क यह सिद्ध करता है कि उसने ख को ऋण दिया, किन्तु यदि ख यह सिद्ध करता है कि उसने ऋण लौटा दिया है तो यह पश्चात्कालीन कार्य निर्णयात्मक होगा। यदि क ऋण पर कोई खेत ख को बन्धक-स्वरूप देता है और पुनः वही खेत ग को बन्धक रूप में देता है, तो ख के साथ किया गया बन्धक-कार्य अपेक्षाकृत न्याय-सिद्ध माना जायगा। यह नियम आज के ट्रांस्फर आव प्रापर्टी एक्ट (४, सन् १८८२) के ४८वें परिच्छेद के समान ही है।

२. अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम। ये देवयाना उत पितृयाणाः सर्वान्पथो अनृणा आक्षीयेम।। तै० ब्रा० ३।७।९।८; अथर्ववेद (६।११७।३) में भी यह आया है थोड़े-से अन्तर के साथ।

३. मगन्दः कुसीदी मागन्दो मामागमिष्यतीति ददाति तदपत्यं प्रमगन्दः अत्यन्तं कुसीदिकुलीनः। निरुक्त (६।३२)।

(३३।१) में विद्यमान हैं। इस प्रकार के आध्यात्मिक ऋणों के साथ आगे चलकर अन्य सार्वभौमिक ऋणों की परम्पराएँ बँधती चली गयीं। आदिपर्व (१२०।१७।२०) में चार ऋणों की चर्चा की गयी है; तीन वैदिक ऋण एवं चौथा मनुष्य-ऋण, (जो सबकी भलाई से संबन्धित है)। अनुशासन पर्व में पाँच ऋणों की चर्चा है; देव-ऋण, ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण, विप्र-ऋण एवं अतिथि-ऋण।[४]

इन्हीं ऋणों के आधार पर अन्य लौकिक ऋणों के लेन-देन की परम्पराएँ बँधीं, ऐसा लगता है। 'ऋण' शब्द आध्यात्मिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के ऋणों में प्रयुक्त हो गया। इसी से पुत्र अपने पूर्व पुरुषों के आध्यात्मिक एवं लौकिक ऋणों को चुकाने का उत्तरदायी माना गया। देखिए नारद (४।५-९ एवं ४।६ तथा ९)।[५] कात्यायन (५५१-५९१) का कहना है कि यदि कोई ऋणी बिना ऋण चुकाये मर जाता है तो वह ऋणदाता के घर में दास, नौकर, स्त्री या पशु रूप में जन्म लेकर रहता है। इसी भावना से आगे चलकर वह सिद्धान्त उत्पन्न हुआ जिसके अनुसार पुत्र को अपने पिता का ऋण चुकाने का उत्तरदायी ठहराया गया। भले ही उसे अपने पिता से किसी प्रकार की सम्पत्ति वसीयत रूप में न मिली हो।[६]

नारद (४।९८) ने **कुसीद** की परिभाषा यह बतलायी है कि मूल धन के फलस्वरूप निश्चित लाभ (जैसा कि पहले तय किया गया हो) की प्राप्ति करने को कुसीद कहा जाता है, और वे लोग, जो इस प्रकार की वृत्ति करते हैं, **कुसीदी** कहे जाते हैं। बृहस्पति का कथन कुछ और है; जो चार गुने या अठगुने के रूप में किसी दुःखित व्यक्ति से, बिना किसी संकोच या अनुताप (यह सोचकर कि यह दुखी है, इससे नहीं ग्रहण करना चाहिए) के ग्रहण किया जाय, उसे **कुसीद** कहा जाता है।[७] नारद (४।११०) ने **वार्धुष** शब्द को अनाज के व्याज के रूप में ग्रहण किया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।६।१८।२२) एवं बौधायनधर्मसूत्र ने **वार्धुषिक** शब्द का और पुनः आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।९२७।१०) ने **वृद्धि** शब्द का प्रयोग किया है। वसिष्ठ (२।४१-४२=बौधायनधर्मसूत्र १।५।९३-९४) ने लिखा है कि वार्धुषिक (सूदखोर) वह है जो सस्ते भाव में खरीदा हुआ अन्न देकर बदले में अधिक मूल्य वाला अन्न ग्रहण करता है। ब्राह्मण-हत्या और सूदखोरी को एक ही तराजू में तोलने पर ब्रह्म-हत्यारे का पलड़ा ऊपर चला जाता है और सूदखोर का झुकता

४. ऋणैश्चतुर्भिः संयुक्ता जायन्ते मानवा भुवि। पितदेवर्षिमनुजैर्देयं तेभ्यश्च धर्मतः॥....यज्ञैस्तु देवान् प्रीणाति स्वाध्यायतपसा मुनीन्। पुत्रैः श्राद्धैः पितॄंश्चापि आनृशंस्येन मानवान्॥ आदिपर्व (१२०।१७-२०), ऋणमुन्मुच्य देवानामृषीणां च तथैव च। पितृणामथ विप्राणामतिथीनां च पञ्चकम्॥ अनुशासनपर्व (३७।१७)।

५. पूजनीयास्त्रयोऽतीता उपजीव्यास्त्रयोऽग्रतः। एतत्पुरुषसन्तानमृणयोः स्याच्चतुर्थके॥ तपस्वी चाग्निहोत्री च ऋणवान् म्रियते यदि। तपश्चैवाग्निहोत्रं च सर्वं तद्धनिनां धनम्॥ नारद ४।६ एवं ९; पितृणां सूनुभिर्जातैर्दनिनैर्बाधमादृणात्। विमोक्षस्तु यतस्तस्मादिच्छन्ति पितरः सुतान्॥ उद्धारादिकमादाय स्वामिने न ददाति यः। स तस्य दासो भृत्यः स्त्री पशुर्वा जायते गृहे॥ कात्यायन ५५१, ५९१ (स्मृतिचन्द्रिका पृ० १६८; पराशरमाधवीय ३, पृ० २६१ एवं २६३; व्यवहारप्रकाश पृ० २७७)।

६. स्थानलाभनिमित्तं हि दानग्रहणमिष्यते। तत्कुसीदमिति प्रोक्तं तेन वृत्तिः कुसीदिनाम्॥ नारद (४।९८); विवादचिन्तामणि ने व्याख्या की है--"स्थानमवस्थानं मूलधनस्य तस्मिन्सत्येव लाभो वृद्धिस्तदर्थं दानग्रहणम्।" 'देयद्रव्यं दीयत इति दानमिति व्युत्पत्तेः तस्य ग्रहणमधर्मेण।' विवादचन्द्र (पृ० २)।

७. कुत्सितात्सीदतश्चैव निर्विशंकैः प्रगृह्यते। चतुर्गुणं चाष्टगुणं कुसीदाख्यमतः स्मृतम्॥ बृहस्पति (व्यवहारमयूख द्वारा उद्धृत, पृ० १६७)।

है (वसिष्ठ २।४१)। स्पष्ट है, यहाँ इसे एक पातक रूप में माना गया है। किन्तु यदि प्रति मास व्याज (सूद) मूल का १/८० भाग लिया जाय तो वह धर्म्य (उचित) ठहराया गया है (गौतम १२।२६; वसिष्ठ २।५०; कौटिल्य ३।२ एवं मनु ८।१४०-१४१)।[८]

मेगस्थनीज़ (फ्रे० २८, पृ० ७२) ने लिखा है--'भारतीय न तो व्याज लेते हैं और न यही जानते हैं कि ऋण कैसे लिया जाता है।' किन्तु उसे इस विषय में भ्रम हो गया है, क्योंकि वह पुनः लिखता है (पृ० ७३) 'जो अपना ऋण या धरोहर नहीं प्राप्त कर पाता उसे न्याय से सहायता नहीं मिलती। ऋणदाता को किसी दुष्ट पर विश्वास करने पर अपने को दोषी ठहराना चाहिए।'

नारद (४।१) ने **ऋणदान** के सात प्रमुख रूप दिये हैं--**(१) कौन-सा ऋण दिया जाना चाहिए, (२) कौन-सा नहीं, (३) किसके द्वारा, (४) कहाँ, (५) किस रूप में, (६) ऋण देते समय एवं (७) लौटाते समय के नियम।** इनमें प्रथम पाँच का सम्बन्ध **ऋणदाता** से है और अन्तिम दो का **ऋणी** से। बृहस्पति का कहना है कि कुछ लोगों ने **वृद्धि** (व्याज या सूद) के चार प्रकार, कुछ ने पाँच तथा कुछ ने छः प्रकार दिये हैं। नारद (४।१०२-१०४) ने ये चार प्रकार दिये हैं--(१) **कारिता** (जो ऋणदाता द्वारा निश्चित की जाय); (२) **कालिका** (प्रति मास दी जानेवाली वृद्धि); (३) **कायिका** (एक पण या चौथाई पण जो प्रति दिन दिया जाय किन्तु मूल ज्यों-का-त्यों पड़ा रहे) एवं (४) **चक्रवृद्धि** (वह वृद्धि जो व्याज पर भी लगती है)। मनु (८।१५२) ने भी इन चारों का उल्लेख किया है, किन्तु टीकाकारों ने इन्हें विभिन्न रूपों में लिया है। बृहस्पति एवं व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १५४) ने **कायिका** को ऐसा व्याज माना है जो शरीर से ग्रहण किया जाय, यथा--ऋण में दी हुई गाय का दूध, अथवा दास या बैल से काम लेना। बृहस्पति ने अन्य प्रकार भी जोड़े हैं, यथा--**शिखावृद्धि** (शिखा की भाँति बढ़ने वाला सूद, अर्थात् जिस प्रकार सिर की शिखा प्रति दिन बढ़ती जाती है) एवं **भोगलाभ** (यथा--गृह का उपयोग, भूमि का अन्न-ग्रहण, जैसा कि **बन्धक** में होता है)। गौतम (१२।३१।३२) ने छः प्रकार दिये हैं, किन्तु **भोगलाभ** के स्थान पर **आधिभोग** लिखा है, जिसे कात्यायन (५०१) ने बन्धक में दी हुई सम्पत्ति के पूर्ण उपभोग के ऋण के रूप में लिया है।[९] कात्यायन (४९८-५००) ने कारिता, शिखावृद्धि एवं भोगलाभ की व्याख्या की है।

बृहस्पति का कहना है कि ऋणदाता को चाहिए कि वह प्रतिज्ञापत्र या बन्धक (किसी परस्पर-मित्र के पास)

---

८. **कुसीदवृद्धिर्धर्म्या विंशतिः पञ्चमाषिकी मासम्। गौतम (१२।२६); सपादपणा धर्म्या मासवृद्धिः पणशतस्य। कौटिल्य (३।२)।**

९. **वृद्धिश्चतुर्विधा प्रोक्ता पञ्चधान्यैः प्रकीर्तिता। षड्विधास्मिन् समाख्याता तत्त्वतस्तां निबोधत॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १५४, व्यवहारनिर्णय पृ० २२४); कायिका कर्मसंयुक्ता मासग्राह्या तु कालिका। वृद्धेर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिः कारिता ऋणिना कृता॥ प्रत्यहं गृह्यते या तु शिखावृद्धिस्तु सा स्मृता॥ गृहात्तोषः (स्तोमः ५।१) शदः क्षेत्राद् भोगलाभः प्रकीर्तितः॥ बृहस्पति (अपरार्क पृ० ६४२, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १५४, पराशर-माधवीय ३, पृ० २२०-२२१)। व्यवहारनिर्णय (पृ० २२५) ने इसे नारद की उक्ति माना है--शिखेव वर्धते नित्यं शिरश्छेदान्निवर्तते। मूले दत्ते तथैवैषा शिखावृद्धिस्ततः स्मृता॥ हरदत्त (गौतम १२।३२) एवं सरस्वतीविलास (पृ० २३३) में कात्यायन की उक्ति इस प्रकार है--आधिभोगस्त्वशेषो यो वृद्धिस्तु परिकल्पितः। प्रयोगो यत्र चैवं स्यादाधिभोगः स उच्यते॥ कात्यायन (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १५४, विवादरत्नाकर पृ० १२, विवादचिन्तामणि पृ० ४)।**

अथवा कोई निक्षेप या प्रतिभूति लेकर ही लेख्यप्रमाण के साथ या साक्षियों की उपस्थिति में ऋणी को ऋण दे।[१०] ब्याज या तो ऋण देते समय लिखित होना चाहिए (**कृत**) या (**अकृत**) अलिखित होना चाहिए, जैसा कि विष्णुधर्मसूत्र (४।४) में आया है। याज्ञवल्क्यस्मृति (२।२८) एवं विष्णु० (६।३) में एक सामान्य नियम आया है कि सभी जातियों के ऋणियों को चाहिए कि वे सभी जातियों के ऋणदाताओं को ब्याज दें जो पारस्परिक समझौते से तय किया जाय और जिसमें प्रतिज्ञापत्र एवं ब्याज-दर आदि सम्मिलित हों। यद्यपि यह एक सामान्य नियम था, किन्तु मनु (८।१५२) एवं बृहस्पति ने पूर्वनिश्चित ब्याज-दर से अधिक अथवा एक वर्ष से अधिक समय तक अधिक ब्याज लेने, चक्रवृद्धि ब्याज लेने या मूल धन के दुगुने से अधिक धन लेने आदि की भर्त्सना की है।

स्पष्ट है कि स्मृतिकारों ने ब्याज लेने की प्रवृत्ति की भर्त्सना की है और उसे ब्रह्म-हत्या से अधिक पापमय कृत्य माना है (देखिए बौधायनधर्मसूत्र १।५।९३; वसिष्ठ २।४०-४२; विवादचिन्तामणि पृ० ६; गृहस्थरत्नाकर पृ० ४४५; विवादरत्नाकर पृ० १४)। कई दृष्टिकोणों के आधार पर ब्याज-दर के विषय में स्मृतियों ने नियम दिये हैं। गौतम (१२।२६), याज्ञ० (२।३७), बौधायन० (१।५।९०-९१), मनु (८।१४०=नारद ४।९९), बृहस्पति, वृद्ध-हारीत (७।२३५) आदि ने सर्वप्रथम वसिष्ठ द्वारा उपस्थित किये गये नियम की ओर संकेत किया है और कहा है कि प्रति मास मूल धन का १/८० भाग लेना चाहिए, जिससे छः वर्ष आठ महीने में मूलधन दूना हो जाय। वृद्ध-हारीत का कथन है कि दूना ब्याज तभी लिया जाना चाहिए जब कि ऋण उगाहने के लिए कुछ प्रतिज्ञा न की गयी हो। याज्ञवल्क्य एवं व्यास ने व्यवस्था दी है कि यह नियम तभी उचित है जब कि प्रतिभूति के रूप में कोई वस्तु प्रतिज्ञापित हो चुकी हो। याज्ञ० (२।३७), मनु (८।१४२=नारद ४।१००), विष्णु० (६।२) ने विकल्प भी दिया है कि वर्णों के अनुसार २,३,४ या ५ प्रतिशत प्रति मास ब्याज के रूप में लिया जाना चाहिए (अर्थात् ब्राह्मण से २ प्रतिशत, क्षत्रिय से ३ प्रतिशत आदि)।[११] याज्ञ० (२।३७) ने लिखा है कि ये ब्याज-दरें तभी मान्य हैं जब कि प्रतिभूति (जमानत) के रूप में कुछ प्रतिज्ञापित न हो। व्यास (पराशरमाधवीय ३, पृ० २२१) ने लिखा है कि मासिक दर मूलधन की १/८० तब होनी चाहिए जब कि ऋण के लिए कुछ बन्धक रखा गया हो और १/६० तब होनी चाहिए जब कि प्रतिभूति के रूप में कुछ रखा गया हो, और दो प्रतिशत प्रति मास तब होनी चाहिए जब कि केवल व्यक्तिगत प्रतिभूति हो। अनुशासनपर्व (११७।२०) ने अधिक ब्याज लेनेवाले को नरक का भागी माना है। कौटिल्य (३।२) ने अधिक ब्याज लेनेवाले पर दण्ड लगाया है।

१०. परिपूर्णं गृहीत्वाधिं बन्धं वा साधुलग्नकम्। लेख्यारूढं साक्षिमद्वा ऋणं दद्याद्धनी सदा।। (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १३५; पराशरमाधवीय ३, पृ० २२०); परिपूर्णं सवृद्धिकमूलद्रव्यपर्याप्तमित्यर्थः। स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १३५। अमरकोश एवं बृहस्पति ने आधि एवं बन्ध को समानार्थक माना है। कुछ लोगों ने दोनों में अन्तर बताया है; आधि चलद्रव्य या अचल सम्पत्ति का प्रतिज्ञापत्र या बन्धक (भोग या बिना भोग का) है तथा बन्ध वह है जो विश्वास उत्पन्न करने के लिए किसी परस्पर-मित्र के पास ऋणी की कोई वस्तु रख देने से सम्बन्धित है। 'विवक्षितं बन्धशब्दस्यार्थमाह नारदः। निक्षेपो मित्रहस्तस्थो बन्धो विश्वासकः स्मृतः।।' इति। नारद (व्यवहारप्रकाश पृ० २२४)। व्यवहारमयूख (पृ० १६६) के अनुसार बन्ध एक प्रकार का वह अंगीकार है जो ऋणी द्वारा किया जाता है कि वह तब तक अपनी भूमि, घर या कोई सम्पत्ति नहीं बेच सकता जब तक वह ऋणदाता को ऋण चुका न दे। और देखिए मदनरत्न।

११. याज्ञवल्क्य (२।३९) की टीका में विश्वरूप ने बृहस्पति को उद्धृत करते हुए लिखा है कि वर्णों के अनुसार ब्याज-दर बढ़नी चाहिए। यथा--पादोपचयात्क्रमेणेतरेषाम्।

और देखिए कात्यायन (४९८)। ब्याज-दर देश-काल पर भी निर्भर थी। मनु (८।१४१=नारद ४।१००) का कहना है कि प्रति मास दो प्रतिशत ब्याज लेना अनुचित है। मध्यकाल में ब्याज अधिक लिया जाता था। येवूर अभिलेख (एपिग्रैफिया इण्डिका १२, पृ० २७३) में २५ प्रतिशत ब्याज का उल्लेख है। याज्ञ० (२।३८) ने घने वनों एवं समुद्र से होकर जानेवाले ऋणियों पर क्रमशः १० प्रतिशत एवं २० प्रतिशत ब्याज लगाने की छूट दी है, क्योंकि ऐसे ऋणी जलपोतों की हानि या डाकुओं की लूट से सब कुछ खो सकते हैं और ऋणदाताओं का मूल धन भी समाप्त हो सकता है। मनु (८।१५७) ने ऐसे विषयों में ऋण लगाने की बात चतुर ऋणदाताओं पर ही छोड़ दी है। इस विषय में और देखिए कौटिल्य (३।२)।[12]

स्मृतियों में ऋण-सम्बन्धी अन्य नियमों का भी प्रतिपादन हुआ है। इस विषय में सभी एकमत हैं कि ऋण-दाता ऋणी से ऋण का दुगुना (मूल धन और ब्याज दोनों के रूप में) एकबारगी नहीं प्राप्त कर सकता। देखिए कौटि-ल्य (३।२), मनु (८।१५१), गौतम (१२।२८), याज्ञ० (२।३९), विष्णु० (६।११), नारद (४।१०७) एवं कात्या-यन (५०९)। इस नियम को द्वैगुण्य की संज्ञा दी गयी है। आजकल इसे 'दामदुपट' कहा जाता है। इसके विषय में हम नीचे पढ़ेंगे। वस्तुओं के ब्याज के रूप में सामग्री आदि के विषय में मतैक्य नहीं है। इस विषय में विस्तार के साथ कहने की आवश्यकता नहीं है। मनु (८।१५१) का कथन है कि अनाज, फल, ऊन, भारवाही पशुओं तथा घृत-दूध आदि के ऋणों में पाँच गुने से अधिक नहीं लिया जा सकता। याज्ञ० (२।३९) के अनुसार पशुओं एवं दासियों के विषय में उनकी सन्तानें लाभ रूप में ली जाती हैं; तेल, घृत के ऋण में अधिक-से-अधिक आठ गुना प्राप्त किया जा सकता है; किन्तु परिधानों एवं अन्नों के ऋण में क्रमशः चौगुना एवं तिगुना लिया जा सकता है। वसिष्ठ (२।४४-४७) का कहना है कि अन्नों, पुष्पों, जड़ों (कन्दों या मूलों), फलों एवं तेलों में तिगुना तथा तोलकर दी जाने वाली वस्तुओं में आठ गुना लिया जा सकता है। और देखिए विष्णु० (६।१२-१५)। विष्णु० (६।१७) का कथन है कि जहाँ कोई नियम न हो वहाँ ऋण का अधिक से अधिक दुगुना लिया जा सकता है (अनुक्तानां द्विगुणा)। कात्यायन (५७०-५७२) के अनुसार बहुमूल्य रत्नों, मोतियों, सीपियों, सोना, चाँदी, फलों, रेशम, ऊन पर ऋण के रूप में दुगुना तथा तैलों, पेय पदार्थों, घृत, खाँड़, नमक तथा भूमि पर आठ गुना तथा साधारण धातुओं पर पाँच गुना लाभ लिया जा सकता है। और देखिए बृहस्पति एवं व्यवहारनिर्णय (पृ० २२९)।

आधुनिक 'दाम-दुपट' के विषय में मनु (८।१५१) एवं गौतम (१२।२८) ने इस प्रकार कहा है--'एक बार ही मूल धन एवं ब्याज के रूप में जो कुछ लिया जाता है वह ऋण के दूने से अधिक नहीं हो सकता।' ऋण केवल ऋणी से ही नहीं बल्कि उसकी तीन पीढ़ियों से भी प्राप्त किया जा सकता है, अतः ऋण चुकाने की कोई अवधि नहीं थी और ऋणदाता स्वभावतः चाहता था कि ब्याज बढ़ता जाय। इसी से ऋषियों ने यह नियम बना दिया कि ऋण की वसूली दूने से अधिक नहीं हो सकती। इस नियम से ऋणदाता के अति लोभ पर नियन्त्रण लग गया। इस विषय में छूट के लिए देखिए मनु (८।१५१) की विभिन्न टीकाएँ एवं अन्य निबन्ध, यथा मिताक्षरा (याज्ञ० २।३९), व्यवहारमयूख तथा मनु (८।१५४-१५५) एवं याज्ञ० (२।३९)। एक मत यह है कि (१) यदि ब्याज प्रति दिन, प्रति मास या प्रति वर्ष लिया जाय और एकबारगी न माँगा जाय तो ब्याज की अधिकता मूल धन से कई गुनी बढ़ जायगी। (२) यदि ब्याज कुछ समय तक बढ़ता जाय और एक नया समझौता हो कि अब से मूल धन के साथ ब्याज मिलकर ऋण माना

१२. सपादपणा धर्म्या मासवृद्धिः पणशतस्य। पञ्चपणा व्यावहारिकी। दशपणा कान्तारकाणाम्। विंशति-पणा सामुद्राणाम्। ततः परं कर्तुः कारयितुश्च पूर्वः साहसदण्डः। श्रोतृणामेकैकं प्रत्यर्धदण्डः। अर्थशास्त्र (३।२)।

जायगा, तो आगे चलकर ऋण के दुगुने से अधिक मिल सकता है। मनु (८।१५४-१५५) एवं बृहस्पति ने ऐसा समझौता मान लिया है। किन्तु यदि ऋणी ऐसा समझौता नहीं करता तो दामदुपट का नियम लागू होगा। (३) यदि ऋण दूना हो जाय और ऋणी के स्थान पर कोई दूसरा व्यक्ति ऋण चुकाने का भार ले ले तो ऋणदाता को दूने से अधिक प्राप्त हो सकता है। (४) यदि ऋणी ऋण का कुछ भाग दे देता है और ऋणदाता कुछ छूट दे देता है, जिसे मिताक्षरा (याज्ञ० २।३९) ने **रेक** कहा है, और सम्पूर्ण प्राप्ति को कम कर देता है, यों ऋणदाता कुछ अतिरिक्त धन पाता है, जिसे मिताक्षरा ने **सेक** कहा है, और वह मौलिक ऋण में जोड़ दिया जाता है और एक नवीन समझौता हो जाता है, तब 'दामदुपट' का नियम नहीं लागू होता।

यदि काल निश्चित न हो, या पहले से निश्चित काल व्यतीत हो गया हो या ब्याज बढ़कर मूल के बराबर हो गया हो तो माँगने पर ऋण लौटा देना पड़ता है। यदि लौटाने पर ऋणदाता ऋण न स्वीकार करे तो ब्याज का बढ़ना बन्द हो जाता है और ऋणी उसे किसी तीसरे व्यक्ति के पास रख देता है (गौतम १२।३०, याज्ञ० २।४४)। वसिष्ठ (२।४९) का मनोरंजक कथन है कि राजा के मरने पर ब्याज रुक जाता है किन्तु उत्तराधिकारी के राज्याभिषेक के उपरान्त पुनः बढ़ना आरम्भ कर देता है।[13] नारद (२।३९) का कथन है कि विशेष या स्पष्ट समझौता न हुआ हो तो सामग्रियों के मूल्यों, पारिश्रमिकों, प्रतिभूति, अर्थ-दण्ड, भाट-चारणों को दिये जाने वाले धन तथा जुए पर लगी बाजी पर ब्याज नहीं लगता। यही बात कात्यायन (५०८) ने भी कही है, किन्तु उन्होंने इस सूची में खालों, अन्नों, पेयों, वधू-मूल्य एवं प्रतिभूति को जोड़ दिया हैं। कौटिल्य (३।२) के अनुसार जब ऋणी दीर्घकालीन वैदिक यज्ञ में लगा हो या किसी रोग से ग्रस्त हो या अल्पावस्था का (नाबालिग) हो या निर्धन हो (अर्थात् जीविका के साधन से विहीन हो) तो उस पर ब्याज नहीं लगता। नारद (४।१०८) के मत से मित्रता के बल पर दिये गये ऋण पर ब्याज नहीं लगता, जब तक कि कुछ लिखित न हो, किन्तु छः मास बीत जाने पर ब्याज लग जाता है। यही बात कात्यायन (५०५) में भी पायी जाती है। और देखिए नारद (४।१०९)। ऐसी स्थिति में यदि ऋणी ऋण न लौटाये तो पाँच प्रतिशत ब्याज लगने लगता है। कात्यायन (५०२-५०४) ने याचितक (अल्पकाल के लिए लिये गये धन या वस्तु के ऋण) के विषय में तीन व्यवस्थाएं दी हैं--(१) जब कोई याचितक को बिना चुकाये दूसरे देश चला जाता है तो बिना माँगे ही एक वर्ष के उपरान्त ब्याज बढ़ने लगता है; (२) ऐसी स्थिति में माँगने पर भी जब ऋणी दूसरे देश में चला जाता है तो माँगने के तीन मास उपरान्त ब्याज बढ़ने लगता है; (३) यदि माँगने पर ऋणी धन न लौटाये तो राजा को चाहिए कि माँगने के दिन से लगाकर ब्याज की वसूली कराये, भले ही ऋणी अपने देश में हो और ब्याज के विषय में पहले से कुछ न लिखित हो। इस विषय में मदनरत्न का कथन है कि ब्याज-दर याज्ञ० (२।३७) एवं विष्णु० (६।४) के अनुसार होगी अर्थात् प्रति मास १/८० भाग (अकृतामपि वत्सरातिक्रमेण यथाविहिताम्)।

आधि का तात्पर्य है चल सम्पत्ति के विषय में न्यास (धरोहर) या अचल सम्पत्ति के विषय में बन्धक। नारद (४।११७) का कथन है कि ऋण देने में **आधि** एवं **प्रतिभूति** दो प्रकार के विश्वसनीय हेतु हैं तथा साक्षी एवं लेख्य दो प्रमाण हैं। **आधि** नाम इसलिए पड़ा है कि ऋणदाता को उस पर अधिकार मिल जाता है (नारद ४।१२४ एवं याज्ञ० २।५८ पर मिताक्षरा)। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।६।१८।२०), गौतम (१२।२९), कौटिल्य (३।१२) ने **आधि** का उल्लेख किया है। मनु (८।१६५) ने बन्धक के अर्थ में **आधमन** का प्रयोग किया है। बृहस्पति के मत से **आधि** के चार प्रकार हैं--**जंगम, स्थावर, गोप्य** (प्रतिज्ञा कराने वाले के पास रखा जानेवाला) एवं **भोग्य** (जिसका भोग किया जाय)।

१३. राजा तु मृतभावेन द्रव्यवृद्धिं विनाशयेत। पुना राजाभिषेकेण द्रव्यमूलं च वर्धते॥ वसिष्ठ (२।४९)।

नारद (४।१२४) ने प्रथमतः **आधि** को दो भागों में बाँटा है; (१) जो कुछ काल तक ही रखा जाय एवं (२) जो पूरा ऋण चकाये जाने तक रहे। नारद ने पुनः इन दोनों को पृथक्-पृथक् **गोप्य** एवं **भोग्य** दो भागों में बाँटा है। इस अन्तिम विभाजन को गौतम (१२।३२), मनु (८।१४३), याज्ञ० (२।५९) एवं कात्यायन (५७६) भी मानते हैं। इस विषय में विस्तार के साथ देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० २।५८), मेधातिथि (८।१४३), कुल्लूक (मनु ८।१४३) एवं प्रजापति (पराशरमाधवीय ३, पृ० २४२)।

आधि के विषय में सामान्य नियम यह है कि चाहे वह जंगम हो या स्थावर, यदि वह **भोग्य** है तो उस पर ब्याज नहीं लगता और ऋणी को धन (ऋण) लौटा देने पर अपनी सम्पत्ति पुनः प्राप्त हो जाती है। व्यास एवं भरद्वाज (सरस्वतीविलास, पृ० २३२-२३४) के अनुसार **भोग्य आधि** के विषय में सम्पत्ति की आय पूर्ण ब्याज तथा मूल के कुछ भाग के रूप में ग्रहण कर ली जाती है। इसी को **सप्रत्यय भोग्याधि** कहते हैं। जहाँ सम्पत्ति-आय केवल ब्याज के रूप में ली जाती है उसे **अप्रत्यय भोग्याधि** कहा जाता है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।६४) का कथन है कि **अप्रत्यय भोग्याधि** को **क्षयाधि** भी कहा जाता है।

वसिष्ठ (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १४५) के मत से यदि कोई अपनी सम्पत्ति बन्धक रखकर उसे पुनः बेच देता है तो क्रयकर्ता को बन्धक का उत्तरदायित्व ग्रहण करना पड़ता है, अर्थात् वह ऋण का देनदार होता है। यदि कोई बन्धक रखे और उसी दिन उसे बेच दे या किसी को भेंट रूप में भी दे दे तो प्रतिग्रहण करने वाले को एक तिहाई मिलता है और बन्धक रखने वाले तथा क्रयकर्ता को शेष दो-तिहाई में बराबर-बराबर मिलता है। भरद्वाज (व्यवहारनिर्णय पृ० २४५) के मत से यदि किसी को कई ऋण देने हों, यथा--कुछ **आधि** या बन्धक वाले और कुछ प्रतिभूति या व्यक्तिगत न्यास वाले को, तो अन्तिम को सबसे पहले मिलता है और बन्धक वाले को कालान्तर में।

कात्यायन (५५२) के मत से यदि भूमि या घर या गाँव की सीमा के विषय की (चौहद्दी आदि) सारी बातें उल्लिखित हो जायँ तो आधि सबल हो उठती है। केवल साक्षी-गण के समक्ष की अपेक्षा लिखित प्रमाण प्रबलतर होता है (कात्यायन ५१८)। यदि पृथक रूप से एक ही वस्तु कई जगह बन्धक रखी जाय तो जो पहले अधिकार कर लेता है उसको प्रमुखता मिलती है (विष्णु० ५।१८५ एवं बृहस्पति, पराशरमाधवीय ३, पृ० २३३)। इससे स्पष्ट है कि हिन्दू न्याय के अनुसार स्वामित्व या भोग अधिक प्रबल था। इस विषय में देखिए याज्ञ० (२।६०), नारद (४।१३९)। यदि कोई बन्धक किसी एक के पास साक्षी-गण के सामने रखा जाय और दूसरे के पास लिखित रूप में, तो दूसरे को पहले की अपेक्षा प्रामाणिकता दी जाती है (कात्यायन ५१८; पराशरमाधवीय ३, २३५; स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १४४; सरस्वतीविलास पृ० २३७)। यदि ऋणी एक ही वस्तु किसी दूसरे को बन्धक रूप में दे और पहले का ऋण न चुकाये तो विष्णु० (५।१८०-१८२) के मत से उसे शरीर-दण्ड या कैद की सजा दी जा सकती है और यदि बन्धक वाली भूमि **गोचर्म** हो या अति विस्तृत हो तो भी यही दण्ड दिया जाता है, किन्तु भूमि कम हो तो १६ सुवर्ण का दण्ड दिया जाता है। इन स्थितियों में कात्यायन (५१७) ने उसे चोर की सज़ा देने की व्यवस्था दी है। अन्य बातों के लिए देखिए कात्यायन (५१९-५२१)।

यदि **आधि** का मूल्य कम हो जाय और वह मूल एवं ब्याज के बराबर हो या नष्ट-भ्रष्ट हो जाय तो ऋणी को दूसरी वस्तु बन्धक में रखनी पड़ती है या ऋण लौटा देना पड़ता है (याज्ञ० २।६०, कात्यायन ५२४)। ऋणदाता को प्रतिभूत या बन्धक की वस्तु बड़ी सावधानी से रखनी चाहिए (मिताक्षरा, याज्ञ० २।६०; बृहस्पति)। यदि रखी हुई वस्तु को समझौते के प्रतिकूल उपयोग में लाया जाय तो ब्याज बन्द हो जाता है और यदि वह नष्ट हो जाय तो ऋणदाता को उसे उसी रूप में लौटाना पड़ता है या उसके मूल्य की दूसरी वस्तु देनी पड़ती है। इसी प्रकार उपयोग में लायी जानेवाली बन्धक-वस्तु नष्ट या खराब हो जाय तो ऋणदाता का ब्याज बन्द हो जाता है और उसे उस वस्तु को लौटाना

पड़ता है या ऋण समाप्त हो जाता है। इस विषय में देखिए याज्ञ० (२।५९) एवं उसी पर मिताक्षरा एवं नारद (४।१२५,-१२७)। अन्य बातों के लिए देखिए कात्यायन (५२३); नारद (४।१२६, १३०); याज्ञ० (३।५९); विष्णु (६।६); गौतम (१२।३९) एवं बृहस्पति। **निक्षेप** को सावधानी से रखने के विषय में देखिए नारद (निक्षेप १४); याज्ञ० (२।६७); मनु (८।१९)। निक्षेप का अर्थ है धरोहर या बन्धक जो ऋण लेने के लिए रखा जाय।

पारस्परिक समझौता या निर्णय हो जाने के उपरान्त ऋणी समय से पूर्व **आधि** या बन्धक माँग नहीं सकता, हाँ, पुनः नये समझौते से प्राप्त कर सकता है। किन्तु यदि ऋणदाता समय के उपरान्त उसे नहीं लौटाता है तो उसे चोर वाला दण्ड मिल सकता है (याज्ञ० २।६२)। ऐसी स्थिति में कौटिल्य (३।१२) ने १२ पण का अर्थ-दण्ड घोषित किया है। जब **गोप्य आधि** हो या मूल धन एवं व्याज मिलकर दूना धन हो गया हो और समय की छूट के उपरान्त भी किसी प्रकार की देन न हुई हो या निश्चित समय बीत गया हो और व्याज आदि न दिया गया हो (चाहे धन दूना हुआ हो या नहीं) तब बन्धक का स्वामित्व ऋणदाता को प्राप्त हो जाता है (मिताक्षरा, याज्ञ० २।५८)। किन्तु यदि लिखा-पढ़ी में स्वामित्व के नष्ट होने की बात न लिखित हो, केवल धन तथा व्याज के मिलने की बात हो तो स्वामित्व बना रहता है। ऐसी स्थिति में ऋणी को बन्धक बेच देने का अधिकार रहता है। यही बात **भोग्याधि** में भी है, और इस स्थिति में ऋणी या उसके उत्तराधिकारी किसी भी समय धन देकर बन्धक की वस्तु प्राप्त कर सकते हैं और बन्धक-वस्तु का स्वामित्व समाप्त नहीं हो सकता। याज्ञ० (२।६३) एवं बृहस्पति के मत से ऋणदाता ऋणी के सम्बन्धियों तथा साक्षियों के समक्ष **आधि** बेच सकता है, जब कि धन दूना हो चुका हो या निश्चित समय बीत चुका हो या ऋणी मर गया हो या अनुपस्थित हो या धन लौटा न सका हो। कात्यायन (५२९) के मत से ऐसी स्थिति में ऋणदाता अपना धन लेकर शेष राजा को (सम्भवतः पास के न्यायालय में) लौटा देता है। कौटिल्य (३।१२) का कथन है कि यदि ऋणदाता को अपने धन की हानि की सम्भावना हो और **आधि** के व्यापार-मूल्य से वह अधिक हो तो धर्मस्थों की आज्ञा से वह ऋणी की उपस्थिति में उसे बेच सकता है या वह विश्वास के लिए धरोहर या प्रतिभूति या प्रत्यय की माँग कर सकता है। उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में न्यायालय के द्वारा अथवा व्यक्तिगत रूप में बन्धक की बिक्री न्यायानुकूल थी।

याज्ञ० (२।६१) ने **आधि** के दो अन्य प्रकार भी लिखे हैं; **चरित्रबन्धक** एवं **सत्यंकार**। प्रथम आधि में यदि ऋणदाता अच्छे चरित्र (ईमान) का हो तो अधिक मूल्य की आधि भी दी जा सकती है या यदि ऋणी अच्छे चरित्र का हो तो कम मूल्य वाली आधि भी स्वीकृत हो सकती है। इन स्थितियों में दी हुई सम्पत्ति की हानि नहीं होती और राजा या न्यायालय केवल व्याज का दूना दिला सकता है। दूसरा अर्थ यह है कि इसमें **अपूर्व** या **पुण्य प्रत्यय** होता है, अर्थात् गंगा-स्नानयात्रा या अग्निहोत्र यज्ञ करने के फल का ही विश्वास या प्रत्यय पर्याप्त है। ऐसी स्थिति में ऋणदाता को दूना मिल जाता है और **आधि** की हानि नहीं होती। दूसरे प्रकार की **आधि** अर्थात् **सत्यंकार** में लिखते समय केवल यह लिखा जाता है--"मैं केवल दूना दूँगा। आधि की हानि नहीं होगी।" इसका दूसरा अर्थ यह है--जब केवल कोई चिह्न (अँगूठी आदि) दिया जाय और ऋणी अपना प्रतिवचन न निबाहे तो उसे उस प्रतिभूति का दूना देना पड़ता है।

यदि ऋणदाता मर जाय या विदेश में हो और ऋणी धन लौटाना चाहता हो तो वह उसके कुटुम्ब को देकर आधि प्राप्त कर सकता है। यदि ऐसी स्थिति में ऋणदाता का कोई सम्बन्धी न हो तो धन किसी ब्राह्मण (यदि ऋण-दाता ब्राह्मण हो) को दिया जा सकता है और यदि कोई ऐसा ब्राह्मण न मिले तो धन जल में फेंका जा सकता है (याज्ञ० २।६२; नारद ४।११२-११३)। कौशिक-सूत्र (४६।३६-४७) में आया है कि ऐसी स्थिति में अर्थात् जब ऋणदाता मर गया हो और उसका कोई उत्तराधिकारी न हो तो धन श्मशान में या चौराहे पर रख दिया जा सकता है। संग्रह का कथन है कि ऐसी स्थिति में धन पलाश के पत्ते पर रखकर तैत्तिरीय संहिता के ३।३।४।१-२ मन्त्र पाठ के साथ जल

में बहाया जा सकता है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।६३) में लिखा है कि जब ऋणदाता अनुपस्थित हो तो ऋणी को चाहिए कि वह आधि का मूल्य निर्धारण करके ऋणदाता के यहाँ रहने दे और आगे का ब्याज न दे और ऋणदाता के आने पर उसे ले ले तथा उसके नष्ट हो जाने पर उसका मूल्य ले ले।

प्रतिभू--प्रतिभू या **लग्नक** (बृहस्पति एवं कात्यायन ५३०) का अर्थ है औपनिधिक या जामिन। गौतम (१२।३८) में **प्रातिभाव्य** एवं पाणिनि (२।३।३९) में प्रतिभू आया है। प्रतिभू में तीन व्यक्ति आते हैं; ऋणदाता, ऋणी (मुख्य ऋणी) तथा वह व्यक्ति जो जामिन होता है, अर्थात् विश्वास दिलाता है कि यदि ऋणी नहीं देगा तो वह देगा। मनु (८।१६०) ने प्रतिभू का उल्लेख उपस्थित होने तथा ऋण देने के सिलसले में किया है। प्रतिभू के तीन उद्देश्य हैं; समय पर उपस्थित होना, धन देना तथा ईमानदारी का प्रदर्शन, अर्थात् ऋणी को उपस्थित कराने के लिए, ऋणी के धन न देने पर स्वयं धन देने के लिए तथा यह विश्वास दिलाने के लिए कि ऋणी पर विश्वास किया जा सकता है। इन बातों के अर्थ के लिए देखिए याज्ञ० (२।५३) पर मिताक्षरा, स्मृतिचन्द्रिका २ (पृ० १४८)। बृहस्पति ने याज्ञवल्क्य द्वारा उपस्थापित उपर्युक्त तीन प्रतिभूओं के अतिरिक्त एक और बतलाया है; वह व्यक्ति जो ऋणी का विभव (यथा--आभूषण तथा अन्य सामान आदि) दिला देने की जिम्मेदारी ले। कात्यायन (५३०) ने लिखा है कि लग्नक (प्रतिभू) ऋणी द्वारा ऋण लौटाने, उसकी उपस्थिति (उपस्थान), उसकी ईमानदारी तथा शपथ (या दिव्य) दिलाने आदि में काम आता है। हारीत के मत से प्रतिभू के पाँच उद्देश्य होते हैं; **अभय** या शान्ति रखने के लिए, ईमानदारी के लिए, ऋण दिलाने के लिए, ऋणी की सम्पत्ति दिला देने के लिए तथा उसकी उपस्थिति के लिए।[१४] आजकल इन पाँचों प्रकारों को कार्यान्वित किया जाता है। व्यवहारप्रकाश (पृ० २४८) ने व्यास द्वारा कथित सात प्रकारों को तीन ही प्रकारों में रख दिया है। किन्तु ईश्वर या राजा द्वारा उपस्थापित बाधाओं में प्रतिभू होनेवाले को छूट भी मिली है (मनु ८।१५८ एवं कात्यायन ५३२-५३३)।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रतिभू बनने वाले को ऋणी का उत्तरदायित्व ग्रहण करना पड़ता था, किन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त उसकी सन्तानों को ऋणी की उपस्थिति या प्रत्यय (ईमानदारी) का भार नहीं ढोना पड़ता था। किन्तु यदि प्रतिभू होनेवाला व्यक्ति ऐसा करने के लिए ऋणी से कुछ प्रतिभूति स्वयं ग्रहण कर लेता था तो उसकी सन्तान को उसे लौटाना पड़ता था। पुत्रों एवं पौत्रों द्वारा चुकाये जानेवाले प्रतिभू-उत्तरदायित्वों के विषय में हम आगे लिखेंगे। यदि प्रतिभू होनेवाले कई व्यक्ति हों, तो उन्हें अनुपात के अनुसार ही चुकाना पड़ता था। किन्तु यदि सभी प्रतिभू व्यक्तियों ने सम्मिलित रूप से जिम्मेदारी ली हो तो ऋणदाता किसी एक पर भी सम्पूर्ण धन का दावा कर सकता है (याज्ञ० २।५५ एवं नारद ४।१२०)। अन्य बातों के लिए देखिए कात्यायन (५३८-५३९), याज्ञ० (२।५६), नारद (४।१२१) एवं विष्णु० (६।४४)।

ऋण चुकाने के कई प्रकार थे। मनु (८।४७-४८) के मत से राजा किसी भी प्रकार से ऋणी द्वारा ऋणदाता को धन दिलाने की व्यवस्था कर सकता है। यदि ऋण लेने की बात अस्वीकार हो तो एक मात्र ढंग था न्यायालय में मुकदमा चला देना। किन्तु ऋण स्वीकार कर लेने पर मनु (८।४९=नारद ४।१२२) एवं बृहस्पति ने ऋण उगाहने के पाँच प्रकार बताये हैं--(१) धर्म (अनुरोध, अनुनय करना, समझाना-बुझाना), (२) व्यवहार (न्यायालय की शरण जाना), (३) छल या उपधि (चालाकी), (४) आचरित (धरना, ऋणी के द्वार पर बैठ जाना) तथा (५)

१४. अभये प्रत्यये दाने उपस्थाने प्रदर्शने। पञ्चस्वेव प्रकारेषु ग्राह्यो हि प्रतिभूर्बुधैः॥ हारीत (स्मृतिचन्द्रिका २, १४८; व्यवहारप्रकाश २४८)।

बल (बलवश काम कराना या बन्दी बनाना)। द्वार पर बैठ जाने की बात आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।५।१९।१) में भी आयी है और ऐसे ऋणदाता को **प्रत्युपविष्ट** कहा गया है। मरवड़-शिलालेख (सन् ११४१-४२ ई०) में (एपिग्रैफिया इण्डिका ११, पृ० ३७) इस कार्य को **काय-व्रत** (यदि ब्राह्मणः कायव्रतं कृत्वा म्रियते) कहा गया है। **व्यवहार** को छोड़कर अन्य प्रकारों का वर्णन बृहस्पति में आया है। **धर्म** प्रकार में मित्रों एवं सम्बन्धियों द्वारा संदेश भेजकर बार-बार समझाया-बुझाया जाता था या प्रार्थनाएँ की जाती थीं। **छल** या **उपधि** में ऋणदाता द्वारा किसी बहाने किसी वस्तु (आभूषण आदि) को किसी उत्सव या विवाह-आदि में उपयोग के लिए लेकर न लौटाना या किसी को देने के लिए कोई वस्तु लेकर उसे न देना होता था। **बल** में ऋणी को ऋणदाता के यहाँ बुलाकर बन्द करना या मारना-पीटना होता था। **आचरित** में ऋणदाता ऋणी के द्वार पर अपनी पत्नी या पुत्र या पशु को बाँध देता या वहीं बैठकर उपवास करना आरम्भ कर देता था। किन्तु ये सभी विधियाँ सभी प्रकार के ऋणियों के साथ नहीं सम्भव थीं। कात्यायन (४७७-४८०) ने भी कुछ विधियाँ बतायीं हैं। यदि व्यवहार को छोड़कर अन्य विधियाँ ऋणदाता द्वारा अपनायी जाती थीं और ऋणी को कष्ट दिया जाता था तो वह ऋणी न्यायालय की शरण ले सकता था और जब सन्देह उत्पन्न हो जाता या मूल धन, व्याज, पात्रता आदि के विषय में झगड़ा खड़ा हो जाता था और अन्त में ऋणदाता हार जाता तो उसे दण्डित किया जाता था और उसे निर्धारित धन लेना पड़ता था। किन्तु यदि ऋणी अपनी जिम्मेदारी स्वीकार कर लेता और फिर भी ऋण नहीं देता तथा ऋणदाता व्यवहार को छोड़ अन्य विधियाँ अपनाता था, जो ऋणी की जाति एवं वृत्ति के अनुरूप होती थीं और तब भी ऋणी ऋणदाता के विरुद्ध राजा के यहाँ आवेदन करता था तो राजा उसे दण्डित करता था और उसे ऋण-धन एवं अनावश्यक आवेदन करने का अर्थ-दण्ड देने के लिए उद्वेलित करता था (याज्ञ० २।४०; मनु ८।१७६; विष्णु० ६।१९)। इस विषय में और देखिए कात्यायन (५८०-५८४)। मनु (८।१७७), याज्ञ० (२।४३) एवं नारद (४।१३१) का कथन है कि यदि ऋणी ऋण लौटाने में असमर्थ हो तो ऋणदाता द्वारा उससे उसकी जाति के अनुरूप तब तक अपने घर में काम कराया जा सकता है जब तक ऋण पूरा न हो जाय; किन्तु ऐसी स्थिति में ब्राह्मण ऋणी से हलकी किश्त में ऋण उगाहा जा सकता है। कौटिल्य (३।२) का कथन है कि ऋणी कृषकों एवं राजकर्मचारियों को फसल के समय नहीं पकड़ना चाहिए; उन स्त्रियों को, जो अपने पतियों का ऋण चुकाने के लिए प्रतिश्रुत नहीं हुई हों, नहीं बन्दी बनाना चाहिए; किन्तु उन चरवाहों की पत्नियों को, जिन्होंने आधे अनाज पर भूमि जोतने-बोने को ली हो, निर्धारित धन या अनाज न देने पर पकड़ा जा सकता है। यदि कई ऋणदाता हों तो पहले को पहले देना चाहिए, ब्राह्मण ऋणदाता को क्षत्रियों की तुलना में ऋण का भुगतान पहले मिलना चाहिए (याज्ञ० २।४१, कात्या० ५४१)। कौटिल्य (३।२) के मत से राजा एवं श्रोत्रियों को प्रमुखता मिलनी चाहिए। किन्तु कात्यायन (५१३) के मत से यदि एक ही दिन कई प्रकार के **समय** (करार) किये गये हों तो सबको बराबर-बराबर मिलना चाहिए। और देखिए भरद्वाज।[15]

यदि ऋणी पूरा ऋण एक बार चुकाने में असमर्थ हो तो वह जो कुछ समय-समय पर दे सके उसे ऋण के लेख्य-प्रमाण के पृष्ठभाग पर लिखित कर देना चाहिए। यदि ऋणदाता चाहे तो रसीद (**उपगत** या **प्रवेशपत्र**, मिताक्षरा) भी

१५. ऋणिकस्य धनाभावे देयोन्योर्थस्तु तत्क्रमात्। धान्यं हिरण्यं लोहं वा गोमहिष्यादिकं तथा।। वस्त्रं भूर्दासवर्गं च वाहनादि यथाक्रमम्। धनिकस्य तु विक्रीय प्रदेयमनुपूर्वशः।। क्षेत्राभावे तथारामस्तस्याभात्रे गृहक्रयः। द्विजातीनां गृहाभावे कालहारो विधीयते।। भरद्वाज (व्यवहारनिर्णय पृ० २५४; पराशरमाधवीय ३, २५९; व्यवहारसार पृ० ११६)।

दे सकता है (याज्ञ० २।९३; नारद ४।११४; विष्णु० ६।२६)। यदि ऋणदाता ऋणी की प्रार्थना पर रसीद न दे, तो वह अपने शेष ऋण से हाथ धो सकता है। नारद (४।११५, बृहस्पति) के मत से यदि ऋणदाता **धर्म** आदि प्रकारों से प्राप्त धन को प्रमाणपत्र पर या पृथक् रूप से नहीं लिखित करता तो स्वयं ऋणी को ब्याज मिलने लगता है। ऋण चुक जाने पर प्रमाणपत्र फाड़ दिया जाता था या एक दूसरा प्रमाणपत्र लिख दिया जाता था कि ऋण समाप्त हो गया। साक्षियों के समक्ष दिया गया ऋण उनके ही समक्ष लौटाया जाता था (याज्ञ० २।९४; विष्णु० ६।२४-२५; नारद ४।११६)।

अब यह देखना है कि ऋण चुकाने का उत्तरदायित्व किन लोगों पर पड़ता है। तीन स्थितियों पर ध्यान दिया जाता था--(१) धार्मिक, (२) न्याय्य एवं नैतिक तथा (३) व्यावहारिक (कानूनी)। धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार पुत्रों एवं पौत्रों को पितृ-ऋण चुकाना पड़ता है (कौटिल्य ३।२; याज्ञ० २।५०; नारद ४।४; बृहस्पति; कात्यायन ५६०; वृद्ध-हारीत ७।२५०-५१; विष्णु० ४।२७)। क्या यह उत्तरदायित्व प्रपौत्रों पर भी है? बृहस्पति ने स्पष्ट लिखा है कि प्रपौत्रों को प्रपितामह का ऋण नहीं चुकाना पड़ता। यही बात विष्णु० (६।२८) ने दूसरे ढंग से कही है। नारद (४।४), कात्यायन आदि के मत से चौथी पीढ़ी के उपरान्त ऋण देने का उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है। किन्तु 'चौथी पीढ़ी' का तात्पर्य क्या है? इसमें प्रथम ऋणी (मौलिक ऋणी) सम्मिलित है अथवा नहीं? सम्भवतः चार पीढ़ियों में मौलिक ऋणी सम्मिलित है, क्योंकि अधिकांश स्मृतियों में 'प्रपौत्र' स्पष्ट रूप से उल्लिखित नहीं है। मनु (९।१३७), बौधायन (२।९।६) एवं वसिष्ठ (१५।१६) के मत से पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र अपने पूर्वपुरुषों को सर्वोत्तम आध्यात्मिक लाभ देते हैं। मनु (९।१८६) एवं नारद (४।६) के अनुसार श्राद्ध में तीन पीढ़ियों के लोग पिण्डदान करते हैं। गौतम (१२।३७), याज्ञ० (२।५१), नारद (४।२३) एवं विष्णु० (१५।४० एवं ६।२९) के मत से जो वसीयत पाता है वह पिण्डदान करता है और पितृ-ऋण चुकाता है। स्पष्ट है, सम्पत्ति-अधिकार के साथ पिण्डदान करना एवं ऋण चुकाना एक सामान्य नियम-सा रहा है। जो सन्तान या संतति वसीयत नहीं पाती उसका उत्तरदायित्व क्योंकर रहेगा? इस विषय में देखिए याज्ञ० (२।५०) की टीका मिताक्षरा; स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १७१; वीरमित्रोदय (व्यवहार-प्रकाश) आदि। स्मृतियों में निम्नलिखित सिद्धान्त प्रकट होते हैं। (१) वंशानुक्रम से प्राप्त सम्पत्ति वाली तीन पीढ़ियों (पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र) को ऋण चुकाना चाहिए (मिताक्षरा, याज्ञ० २।५१; स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १७१; व्यवहार-प्रकाश पृ० २६४)। (२) यदि आगे की पीढ़ियों को वसीयत न मिली हो तो पुत्र को मूलधन तथा ब्याज चुकाना चाहिए, पौत्र को केवल मूलधन तथा प्रपौत्र को, यदि वह न देना चाहे, कुछ नहीं देना पड़ता (विष्णु० ६।२७-२८; बृहस्पति; कात्यायन ५५६)। वीरमित्रोदय में ये दोनों सिद्धान्त बड़ी सूक्ष्मता से दिये गये हैं।[१६] (३) तीसरा सिद्धान्त उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों का अपवाद है; पिता के अनैतिक एवं अवैधानिक ऋण को पुत्र भी नहीं दे सकता। इस सिद्धान्त के विषय में हम आगे कहेंगे। (४) चौथा सिद्धान्त यह है--पिता के रहते कुछ परिस्थितियों में पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र को पिता तथा वंशानुक्रम से आते हुए ऋण को चुकाना चाहिए। याज्ञ० (२।५०) का कथन है कि पुत्रों एवं पौत्रों को पिता के मरने या विदेश चले जाने या न अच्छे होनेवाले रोग से पीड़ित होने पर ऋण चुकाना चाहिए। नारद (४।१४), विष्णु० (६।२७), कात्यायन (५४८-५५०)[१७] का कथन है कि यदि पास में रहता एवं जीवित पिता संन्यासी (विष्णु० के मत से) हो जाय, रोग-

१६. पुत्रेण रिक्थग्रहणाग्रहणयोः सवृद्धिकमेव देयम्। पुत्राभावे पौत्रेण रिक्थग्रहणे सोदयं देयम्। अग्रहणे मूलमेव। प्रपौत्रेण तु रिक्थाग्रहणे मूलमपि न देयम्। व्यवहारप्रकाश, पृ० २६४।

१७. धनग्राहिणि प्रेते प्रव्रजिते द्विदश समाः प्रवसिते वा तत्पुत्रपौत्रैर्धनं देयम्। विष्णु० (६।२७); विद्यमानेपि रोगार्ते स्वदेशात्प्रोषितेपि वा। विंशात्संवत्सराद्देयमृणं पितृकृतं सुतैः।। व्याधितोन्मत्तवृद्धानां तथा दीर्घप्रवा-

ग्रस्त हो, या आजन्म अन्धा हो, पाप के कारण जातिच्युत हो जाय, पागल हो जाय, क्षय या कोढ़ से ग्रस्त हो जाय, या देश छोड़ जाय, या लम्बी यात्रा में चला जाय या अति वृद्ध (८० वर्ष) हो, तो पुत्र को (बाहर जाने के बीस वर्षों के उपरान्त) ऋण चुकाना चाहिए। विवादरत्नाकर (पृ० ५०) के अनुसार यदि पिता न अच्छे होनेवाले रोग से पीड़ित हो या यदि यह निश्चित हो कि वह यात्रा से न लौटेगा, तो पुत्र को तत्काल ऋण चुकाना चाहिए; न कि बीस वर्षों तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। और देखिए कात्यायन (५५२-५५३)।[१८]

सभी स्मृतियों में ऐसा आया है कि यदि न्यायालय द्वारा यह निर्णय हो जाय कि पिता ने अनैतिक कार्यों के लिए ऋण लिया है, तो वसीयत मिलने पर भी पुत्र पर ऋण का उत्तरदायित्व नहीं होता। गौतम (१२।३८), कौटिल्य (३।१६), मनु (८।१५९-१६०), वसिष्ठ (१६।३१), याज्ञ० (२।४७ एवं ५४), नारद (४।१०), बृहस्पति, कात्यायन (५६४-५६५), उशना एवं व्यास का कथन है कि निम्नलिखित ऋणों के लिए पुत्र उत्तरदायी नहीं है——प्रत्यय या उपस्थिति के लिए किया गया प्रतिभूत्व (जमानत); आसव पीने या जुआ खेलने के लिए लिया गया ऋण; भाट-चारणों, पहलवानों आदि को दिया गया दान; क्रोधावेश में या स्त्रियों से अनैतिक सम्बन्ध के कारण वचनबद्ध होकर लिया गया ऋण; अर्थ-दण्ड या चुंगी का शेष तथा वे ऋण जो व्यावहारिक (कानूनी) नहीं हैं। कात्यायन (५३४) का कथन है कि यदि पिता प्रत्यय या उपस्थिति के लिए बन्धक (जामिन) हुआ हो, तो उसका पुत्र देनदार होता है।[१९]

याज्ञ० (२।५२) एवं कौटिल्य (३।२) के अनुसार पति-पत्नी, पिता-पुत्र तथा भाई जब तक एकत्र रहते हों अर्थात् जब तक उनकी सम्पत्ति अविभक्त हो, एक-दूसरे के लिए बन्धक नहीं हो सकते, एक-दूसरे के ऋणी या ऋणदाता नहीं हो सकते और न एक-दूसरे के लिए साक्षी हो सकते हैं। मिताक्षरा (याज्ञ० २।५२) ने एक लम्बी टिप्पणी दी है,[२०] इससे स्पष्ट है कि यदि पति चाहे तो सम्पत्ति के मामले में पत्नी अलग हो सकती है और वैसी स्थिति में वे एक-दूसरे के ऋणी या ऋणदाता हो सकते हैं। मिताक्षरा ने आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।६।१४।१६-१९) की व्याख्या यों की है——जाया एवं पति में विभाग (अलगाव) नहीं होता। पाणिग्रहण के उपरान्त वे दोनों धार्मिक कर्मों में, पुण्यफल प्राप्ति एवं धनोपलब्धि में एक-दूसरे के साथी होते हैं; इसी से पति के विप्रवास (विदेश जाने) में स्त्री नैमित्तिक दान या अवसर पड़ने पर जो कुछ सम्पत्ति व्यय करती है वह चोरी नहीं कही जाती। मिताक्षरा का कथन है कि पति-पत्नी की अविभक्तता केवल धार्मिक कृत्यों (श्रौत तथा स्मार्त कृत्यों) में तथा पुण्यफल प्राप्ति में होती है, न कि अन्य कृत्यों या सम्पत्ति के विषय

सिनाम्। ऋणमेवविधं पुत्रान् जीवतामपि दापयेत्॥ सानिध्येपि पितुः पुत्रैर्ऋणं देयं विभावितम्। जात्यन्धपतितोन्मत्तक्षयश्वित्रादिरोगिणः॥ कात्यायन ५४८-५५०, अपरार्क पृ० ६५०, विवादरत्नाकर पृ० ५०-५१, पराशरमाधवीय ३, पृ० २६४, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १६९, व्यवहारनिर्णय पृ० २५५-५६।

१८. नाप्राप्तव्यवहारेण पितर्युपरते क्वचित्। काले तु विधिना देयं वसेयुर्नरकेन्यथा॥ अप्राप्तव्यवहारश्चेत् स्वतन्त्रोपि हि नर्णभाक्। स्वातन्त्र्यं हि स्मृतं ज्यैष्ठ्ये ज्यैष्ठ्यं गुणवयःकृतम्॥ कात्यायन ५५२-५५३ (स्मृतिचन्द्रिका, २, पृ० १६४, व्यवहारप्रकाश पृ० २६३ एवं नारद ४।३१)।

१९. गृहीत्वा बन्धकं यत्र दर्शनस्य स्थितो भवेत्। विना पित्रा धनं तस्माद् दाप्यः स्यात्तदृणं सुतः॥ कात्यायन ५३४ (मिताक्षरा द्वारा याज्ञ० २।५४ में उद्धृत एवं अपरार्क पृ० ६५६)।

२०. भ्रातॄणामथ दम्पत्योः पितुः पुत्रस्य चैव हि। प्रातिभाव्यमृणं साक्ष्यमविभक्ते न तु स्मृतम्॥ याज्ञ० २।५२; दम्पत्योः पितापुत्रयोः भ्रातॄणां चाविभक्तानां परस्परकृतमृणमसाध्यम्। कौटिल्य (३।२)।

में। अतः अन्य दान-कर्मों में जहाँ होमाग्नि नहीं जलायी जाती (यथा कूप-दान या वाटिका-दान आदि में), उनके पृथक्-पृथक् अधिकार हैं। और देखिए सरस्वतीविलास, (पृ० ३५३)।

पुत्र के व्यक्तिगत ऋण के लिए पिता देनदार नहीं होता, और न पत्नी के ऋण के लिए पति; उसी तरह पति तथा पुत्रों के ऋण के लिए पत्नी देनदार नहीं होती। किन्तु यदि ऋण कुटुम्बार्थ लिया गया हो तो पुत्र, पति तथा पत्नी एक-दूसरे के ऋण के उत्तरदायी होते हैं (याज्ञ० २।४७, नारद ४।१०-११ एवं कात्यायन ५४५ तथा ५७९)।[२१] किन्तु यदि पिता पुत्र का ऋण चुकाने के लिए प्रतिश्रुत हो या उसकी स्वीकृति दे तो वह देनदार होता है। मनु (८।१६७), याज्ञ० (२।४५), नारद (४।१२), बृहस्पति तथा कात्यायन (५४५) का कथन है कि यदि कुटुम्ब के लिए घर के मालिक की अनुपस्थिति में पुत्र, भाई, चाचा, पत्नी, माता, शिष्य, नौकर या दास द्वारा ऋण लिया जाय तो घर का मालिक उसका देनदार होता है। कौटिल्य (३।२) का कथन है कि यदि पति, पत्नी द्वारा लिये गये ऋण को लौटाने की व्यवस्था किये बिना विदेश-यात्रा करना चाहता है तो उसे पकड़ लेना चाहिए (उससे काम लेना चाहिए)।

याज्ञ० (२।४८), विष्णु० (६।३७) एवं नारद (४।१९) के मत से यदि पतियों की आय एवं गृह-व्यय पत्नियों पर निर्भर रहे तो पति ग्वालों, कलालों, अभिनेताओं, धोबियों एवं शिकारियों आदि के निमित्त गृहीत ऋण के देनदार होते हैं। यह एक अपवाद है, क्योंकि सामान्यतः पति पत्नी के ऋण का देनदार नहीं होता। इसी प्रकार इस नियम के कि पत्नी पति के ऋण की देनदार नहीं होती, अपवाद भी हैं; जहाँ वह प्रतिश्रुत हुई हो, यथा--पति के मरते समय, उसके विदेश जाते समय तथा जहाँ दोनों ने सम्मिलित रूप से ऋण लिया हो।

व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त किन व्यक्तियों को किस क्रम से ऋण लौटाना पड़ता है, इसके विषय में याज्ञ० (२।५०), नारद (४।२३), बृहस्पति, कात्यायन (५६२ एवं ५७७) एवं विष्णु० (६।२९-३०) की घोषणाएँ हैं।[२२] जो भी कोई (पुत्र या सपिण्ड उत्तराधिकारी) मृत व्यक्ति का धन पाता है उसे उसके ऋण चुकाने पड़ते हैं; किन्तु यदि बिना सम्पत्ति छोड़े ऋणी मर जाता है तो जो उसकी पत्नी को ग्रहण करे उसे ऋण चुकाने पड़ते हैं; किन्तु यदि सम्पत्ति न हो और न उसकी पत्नी को ग्रहण करने वाला कोई हो, तो उक्त ऋण का पुत्र को देनदार होना पड़ता है। यह सिद्धान्त नैतिकता पर आधारित है। यदि कई पुत्र हों और उनमें कोई जन्मान्ध हो तो उसके बिना अन्यों को देनदार होना पड़ता है। "मृत की पत्नी के ग्रहणकर्ता को ऋण चुकाना पड़ता है", इस कथन से यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि पुरातन ऋषि-महर्षि विधवा-विवाह के पक्षपाती थे। मनु (५।१६२) ने विधवा-विवाह की भर्त्सना की है। किन्तु मिताक्षरा (याज्ञ० २।५१) में उल्लिखित है कि कुछ जातियों में विधवाओं का पुनर्ग्रहण परम्परा से प्रचलित है और विधवा रखैलों को रख लेने में किसी को मना नहीं किया जा सकता। पत्नी पति की अर्धांगिनी होती है अतः वह पति की सम्पत्ति है

२१. प्रोषितस्यापतेनापि कुटुम्बार्थमृणं कृतम्। दासस्त्रीमातृशिष्यैर्वा दद्यात्पुत्रेण वा भृगुः।। कात्यायन ५४५ (अपरार्क पृ० ६४८, पराशरमाधवीय पृ० २६८, विवादरत्नाकर ५६)। पितृव्यभ्रातृपुत्रस्त्रीदासशिष्यानुजीविभिः। यद् गृहीतं कुटुम्बार्थे तद् गृही दातुमर्हति।। बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १७४)।

२२. धनस्त्रीहारिपुत्राणामृणभाग्यो धनं हरेत्। पुत्रोऽसतोः स्त्रीधनिनोः स्त्रीहारी धनिपुत्रयोः।। नारद ४।२३; पूर्वं दद्याद्धनग्राहः पुत्रस्तस्मादनन्तरम्। योषिद्ग्राहः सुताभावे पुत्रो वात्यन्तनिर्धनः।। कात्यायन (५७७, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १७२, व्यवहारप्रकाश पृ० २७१); रिक्थहर्त्रा ऋणं देयं तदभावे च योषिता। पुत्रैश्च तदभावेऽन्यै रिक्थभाग्भिर्यथाक्रमम्।। कात्यायन (५६२, विश्वरूप--याज्ञ० २।४७); धनस्त्रीहारिपुत्राणां पूर्वाभावे यथोत्तरमाधमर्ण्यं तदभावे क्रमशोन्येषां रिक्थभाजाम्--बृहस्पति (विश्वरूप, याज्ञ० २।४७)।

(नारद ४।२२) और इसलिए उसको ग्रहण करनेवाले को ऋण का देनदार माना गया है। वैजयन्ती में विष्णुधर्म-सूत्र (६।३०) की व्याख्या के सिलसिले में याज्ञ० (२।५१) एवं नारद (४।२३) का विश्लेषण किया गया है। इसके मत से 'पुत्र' शब्द **रिक्थग्राह** (जिसे वसीयत मिली हो), **योषिद्ग्राह** (विवाहित) एवं **अनन्याश्रितद्रव्य** (बिना पत्नी एवं पुत्र वाला, तथा वह जिसे वसीयत न मिली हो, क्योंकि उसने या तो नहीं चाही या सम्पत्ति थी ही नहीं) नामक तीन विशेषणों से युक्त है। अतः पुत्रों में जिसे रिक्थ (वसीयत) मिलता है, वह ऋण का देनदार होता है, ऐसे पुत्र के अभाव में विवाहित को ऋण देना पड़ता है तथा विवाहित के अभाव में जो पत्नीहीन या पुत्रहीन होता है या सम्पत्तिहीन होता है वह ऋण का देनदार होता है।

निक्षेप (धरोहर)––'निक्षेप', 'उपनिधि' एवं 'न्यास' शब्द कभी-कभी पर्यायवाची माने जाते रहे हैं, जैसा कि अमरकोश में आया है।[२३] अन्य प्राचीन ग्रन्थों में इनके विभिन्न अर्थ दिये गये हैं। याज्ञ० (२।६५) के मत से किसी मंजूषा (बक्स) में कुछ रखकर तथा उसे बताकर जो किसी के पास रख दिया जाता है उसे उपनिधि कहा जाता है। याज्ञ० (२।६७) में **न्यास** एवं **निक्षेप** को **उपनिधि** से भिन्न माना गया है। नारद को उद्धृत करते हुए मिताक्षरा (याज्ञ० २।६५) ने **उपनिधि** को ऐसी धरोहर माना है जो किसी मुहरबन्द बरतन में बिना गिने किसी व्यक्ति की उपस्थिति में रखी जाती है और यह नहीं बताया जाता कि क्या रखा गया है; किन्तु उसने **निक्षेप** को उस रूप में वर्णित किया है जब कि वस्तु गिन कर व्यक्ति की उपस्थिति में रखी जाती है। मनु (८।१४९=वसिष्ठ १६।१८), कौटिल्य (३।१२) ने **निक्षेप** एवं **उपनिधि** को पृथक्-पृथक् घोषित किया है। क्षीरस्वामी ने न्यास को खुली धरोहर तथा निक्षेप को किसी शिल्पकार को बनाने के लिए दी गयी सामग्री ठहराया है। नारद (५।१ एवं ५) ने प्रत्यय (विश्वास) के रूप में रखी गयी सामग्रियों को **निक्षेप** कहा है तथा याज्ञ० (२।६५) के समान **उपनिधि** की व्याख्या की है। विश्वरूप (याज्ञ० २।६९) ने सुरक्षा के निमित्त दिये गये खुले सामान को **न्यास** कहा है और एक व्यक्ति द्वारा तीसरे को देने के लिए दूसरे को दिये गये सामान को **निक्षेप** की संज्ञा दी है। कात्यायन (५९२) ने **उपनिधि** को जमानत देने का एक सामान्य रूप माना है, यथा––क्रय की गयी वस्तु को विक्रेता के हाथ में रख छोड़ना, धरोहर रखना, प्रतिज्ञा-पत्र देना, एक के लिए दूसरे को जमानत देना, अल्प काल के उपयोग के लिए किसी वस्तु को उधार रूप में लेना, किसी प्रतिनिधि को बिक्री के लिए सामान देना। याज्ञ० (२।६७) में मिताक्षरा ने **न्यास** की परिभाषा घर के मालिक (गृहस्वामी) की अनुपस्थिति में घर के किसी अन्य सदस्य को उसे दे देने के लिए देने के रूप में की है और **निक्षेप** को निक्षेप करने वाले की उपस्थिति में रखी जानेवाली धरोहर के रूप में स्वीकार किया है। व्यवहारप्रकाश (पृ० २८०) ने **निक्षेप, उपनिधि** एवं **न्यास** का अन्तर्विभेद बताया है।[२४]

निक्षेप या **उपनिधि** प्रत्यय (विश्वास) के लिए जमानत मात्र है और **आधि** ऋण के लिए धरोहर या ब्याज एकत्र करने के लिए प्रतिभूति है। प्रथम दोनों केवल सुरक्षा से रखे जाने का प्रत्यय मात्र हैं।[२५] बृहस्पति का कथन है कि इस

२३. पुमानुपनिधिर्न्यासः प्रतिदानं तदर्पणम्। अमरकोश; स्मार्ते त्वेषां भेदोस्ति। वासनस्थ. . . .न्यस्य यदर्पितम्। द्रव्यमुपनिधिर्न्यासः प्रकाश्य स्थापितं तु यत्। निक्षेपः शिल्पिहस्ते तु भाण्डं संस्कर्तुमर्पितम्॥ क्षीरस्वामी।

२४. ग्राहकस्य समक्षं गणयित्वा स्थापितं निक्षेपः। गृहस्वामिनोऽसमक्षं गणितमगणितं वा तस्मिन्नागते एतद्दातव्यमित्युक्त्वान्यस्य तत्पुत्रादेर्हस्ते दत्तं न्यासः। मुद्रांकितं समक्षमगणितं स्थापितमुपनिधिरिति। व्यवहार-प्रकाश (पृ० २८०)।

२५. पूर्वमुपचयापेक्षया परहस्ते दत्तमृणं तदनपेक्षया रक्षणार्थमेवान्यहस्ते द्रव्यमुपनिधिरिति ऋणादानानन्तरमुपनिधेरवसरः। सरस्वतीविलास (पृ० २६५)।

प्रकार की धरोहर किसी दूसरे को तब दी जाती है जब कि कोई अपना घर छोड़कर कहीं जाता है या राजा से डरता है या अपने सम्बन्धियों को वंचित करना चाहता है।[२६] मनु (८।१७९, नारद ५।२) का कहना है कि धरोहर कुलीन, चरित्रवान्, धार्मिक, सत्यवादी, दीर्घकुटुम्बी, धनी एवं ऋजु व्यक्ति के पास रखनी चाहिए। जो धरोहर को अपने यहाँ रखता है वह सामान्यतः कुछ पाता नहीं, अतः स्मृतियों में उसे पुण्यभागी माना गया है और उसे सोने आदि धातुओं के दान का फल मिलता है। किन्तु जो व्यक्ति धरोहर का दुरुपयोग करता है या प्रमाद या अनवधानता के कारण उसे खो बैठता है वह पापी कहा गया है। धरोहर रखने वाले को अपनी सम्पत्ति के समान ही उसकी रक्षा करनी होती है। यदि वह दैवसंयोग से, राजा के कारण या चोरी के कारण नष्ट हो जाय तो उसे रखने वाला देनदार नहीं होता (मनु ८।१८९; याज्ञ० २।६६; नारद ५।९ एवं १२; बृहस्पति एवं कात्यायन ५९३--स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १७९ एवं व्यवहार-प्रकाश पृ० २८३)। नारद (५।६) एवं बृहस्पति के मत से धरोहर (निक्षेप, उपनिधि या न्यास) साक्षियों के समक्ष भी रखी जा सकती है, यद्यपि यह कोई नियम नहीं है, और उसे उसी दशा में लौटा दिया जाता है। किन्तु यदि कोई विवाद उत्पन्न हो जाय तो साक्षियों के अभाव में दिव्य ग्रहण किया जा सकता है।[२७] धरोहर सील (मुहर) या मुद्रांक के साथ ही लौटानी चाहिए (याज्ञ० २।६५)। और देखिए मनु (८।१८५), बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १८१, पराशर-माधवीय ३, पृ० २८१)। यदि धरोहर देनेवाला मर जाय तो धरोहर रखनेवाले (महाजन) को उसे उसके अन्य सम्बन्धियों को बिना माँगे दे देना चाहिए (मनु ८।१८६=नारद ५।१०)। कभी-कभी धरोहर रखनेवाला उसका दुरुपयोग या स्वयं उपयोग कर सकता है या प्रमाद या असावधानता के कारण उसे खो सकता है। ऐसी स्थिति में उसे पूरा-पूरा लौटाना पड़ता है। किन्तु कात्यायन (५९०) ने कुछ अन्तर बताया है; यदि उसका उपभोग हो जाय तो मूल तथा ब्याज के साथ लौटाना चाहिए, यदि असावधानी के कारण नष्ट हो जाय तो उसका मूल्य देना चाहिए ब्याज नहीं, किन्तु यदि अज्ञान के कारण नष्ट हो जाय तो मूल्य से कुछ कम (एक चौथाई कम) देना चाहिए। देखिए नारद (५।८), बृहस्पति (पराशरमाधवीय ३, पृ० २८३)। यदि धरोहर देनेवाला जान-बूझकर किसी असावधान व्यक्ति को महाजन चुनता है, तो धरोहर रखने वाला (महाजन) देनदार नहीं है (कात्यायन ५९९)। यदि धरोहर को तुरत माँगा जाय और महाजन उसे लौटा न सके, या वह किसी कारण नष्ट हो जाय तो उसे उसका मूल्य देना पड़ता है और ऐसा न करने पर उसे अर्थ-दण्ड भी देना पड़ सकता है (याज्ञ० २।६६, नारद ५।७)। और देखिए याज्ञ० (२।६७) एवं नारद (५।८)।

कात्यायन (५०६) का कथन है कि यदि कोई धरोहर, ब्याजावशेष, क्रय-धन (क्रय कर लेने पर सामग्री का मूल्य), विक्रय-धन (बेच देने पर भी सामान न देना) माँगने पर न दे तो उस पर पाँच प्रतिशत ब्याज लगना आरम्भ हो जाता है। और देखिए इस विषय में मनु (८।१९१), नारद (५।१३) एवं कात्यायन (७०१)।

याज्ञवल्क्य (२।६७), नारद (५।१४), बृहस्पति आदि ने निक्षेप-सम्बन्धी इन नियमों को अन्य प्रकार की अमानतों के लिए भी लागू किया है यथा---**याचितक** (किसी उत्सव के अवसर पर माँगी गयी वस्तु, यथा--आभूषण

२६. स्थानत्यागाद्राजभयाद् दायादानां च वञ्चनात्। स्वद्रव्यमर्प्यतेन्यस्य हस्ते निक्षेपमाह तम्।। बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १७८); राजचौरारातिभयाद् दायादानां च वञ्चनात्। स्थाप्यतेऽन्यगृहे द्रव्यं न्यासः स परिकीर्तितः।। बृहस्पति (व्यवहारप्रकाश पृ० २७९)।

२७. रहो दत्ते निधौ यत्र विसंवादः प्रजायते। विभावकं तत्र दिव्यमुभयोरपि च स्मृतम्।। बृहस्पति (अपरार्क पृ० ६६४ एवं व्यवहारप्रकाश पृ० २८४)।

आदि), **अन्वाहित** (जो तीसरे को दी जाय, जब कि वह दूसरे की हो और प्रतिश्रुत हो चुकी हो), **न्यास, उपनिधि, शिल्पन्यास** (बनाने के लिए दिया गया सामान, यथा आभूषण बनाने के लिए सुनार को दिया गया सोना आदि), **प्रतिन्यास** (एक-दूसरे को दिया गया सामान)। इस विषय में देखिए कौटिल्य (३।१२)। यदि दैवसंयोग से राजा या चोरी के कारण **याचितक या अवकृत** (उधार दिया गया सामान) नष्ट हो जाय तो लेनेवाला उत्तरदायी नहीं होता। कात्यायन (६१०) के मत से यदि उधार ली हुई वस्तु माँगने पर न लौटायी जाय तो वह जोर-जबरदस्ती से ली जा सकती है, अपराधी को अर्थ-दण्ड देना पड़ता है या ब्याज के साथ वस्तु का मूल्य देना पड़ता है। समय के भीतर माँगने पर मूल्य नहीं दिया जा सकता किन्तु समय के उपरान्त न देने पर मूल्य तथा नष्ट हो जाने पर ब्याज सहित मूल्य देना पड़ता है। और देखिए कात्यायन (६०९)।

शिल्पिन्यास के विषय में भी विशिष्ट नियम हैं। कात्यायन (६०३-६०४) का कथन है कि यदि शिल्पकार समय के उपरांन्त सामग्री रख लेता है और दैवसंयोग से वह नष्ट हो जाती है तो वह मूल्य का देनदार होता है; यदि सामग्री दोषपूर्ण होने के कारण नष्ट हो जाय तो वह देनदार नहीं होता; किन्तु यदि सामग्री दोषरहित हो और शिल्पकार द्वारा नष्ट हो जाय, उसकी चमक आदि भ्रष्ट हो जाय, तो वह मूल्य देने का उत्तरदायी होता है।

अल्पवयस्क के धन के संरक्षक को भी सावधानी रखनी पड़ती है। ऐसा न करने पर वह धन का देनदार होता है। देखिए नारद (५।१५)।[२८]

२८. प्रतिगृह्णाति पोगण्डं यश्च सप्रधनं नरः। तस्याप्येष भवेद्धर्मः षडेते विधयः समाः।। नारद (५।१५)। नारद (४।३५) ने पोगण्ड को सोलह वर्ष के भीतर का बालक माना है---बाल आ षोडशाद्वर्षात्पोगण्ड इति शस्यते। गौतम (१२।३४) एवं मनु (८।१४८) ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है।

अध्याय १७

अस्वामिविक्रय

स्वामित्व की विविध विधियों के विषय में हमने इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग, अ० ९ में पढ़ लिया है और इस विषय में **दायभाग** के अन्तर्गत पुनः पढ़ेंगे। यहाँ हम संक्षेप में अस्वामिविक्रय का विवेचन उपस्थित करेंगे। नारद (७।१) एवं बृहस्पति के मतानुसार गुप्त रूप से निम्नलिखित की बिक्री **अस्वामिविक्रय** के अन्तर्गत आती है, यथा—खुला निक्षेप, मुद्रांकित निक्षेप (मुहरबन्द धरोहर), दूसरे को दी जानेवाली सामग्री, चोरी की वस्तु, किसी उत्सव के लिए ली गयी वस्तु, प्रतिभूति, किसी की छूटी हुई वस्तु आदि।[1] इस प्रकार की बिक्री करनेवाला व्यक्ति अधिकारी विक्रेता नहीं कहा जाता। यही बात व्यास ने भी लिखी है। इस प्रकार के विक्रय में दूसरे के धन को गुप्त रूप से दान रूप में देना या उस पर प्रतिश्रुत होना या उत्तरदायी (देनदार) होना भी सम्मिलित है। ऐसी बिक्री यदि खुले आम भी की जाय तब भी उसे अस्वामिविक्रय की ही संज्ञा मिलती है। कात्यायन (६१२) के मत से यदि अस्वामी विक्रय, दान आदि करता है तो उसे राजा अथवा न्यायाधीश द्वारा विनिवर्तन कराना (लौटवा देना) चाहिए। यही बात मनु (८।१९९), नारद (स्मृ० च० २, पृ० २१३, व्य० प्र० पृ० २९१) में भी पायी जाती है। याज्ञ० (२।१६८) एवं नारद (७।२) का कथन है कि अस्वामी द्वारा विक्रय की हुई वस्तु पर स्वामी का अधिकार हो सकता है। यदि खरीद करनेवाला व्यक्ति अस्वामी का माल चोरी से (गुप्त रूप से) खरीदता है तो वह दण्ड का भागी होता है, यदि वह ऐसे लोगों से खरीद करता है जिनके पास सामान बेचने के साधन न हों (यथा—नौकर से, जो बिना स्वामी की आज्ञा के बेचता है) या बहुत कम दाम में खरीदता है या अर्ध रात्रि में या ऐसे समय खरीद करता है जब कि लोग ऐसा नहीं करते, या दुश्चरित्र लोगों से खरीद करता है, तो उसे चोरी के दण्ड का भागी होना पड़ता है (याज्ञ० २।१६८; विष्णु० ५।१६६; नारद ७।३; मनु ८।२०२ आदि)। इस प्रकार की बिक्री छद्म-व्यवहार या बेईमानी की संज्ञा पाती है। यदि कोई व्यक्ति अज्ञानवश प्रकाश में ऐसी खरीद करता है तो वह क्षम्य हो जाता है, किन्तु उसे सामान लौटाना पड़ता है (विष्णु०५।१६४-१६६)। यदि खरीद करनेवाला पूरा भेद खोल देता है तो वह बच जाता है। किन्तु ऐसा न करने पर उसे चोर का दण्ड भुगतना पड़ता है। (मनु ८।२०२, नारद ७।४)। बृहस्पति, मनु (८।३०१) एवं याज्ञ० (२।१७०) का कथन है कि यदि क्रेता द्वारा विक्रेता उपस्थित कर दिया जाय तो वह कानून के पंजे से छूट जाता है और विक्रेता पर कार्रवाई होने लगती है और जब उसके विपक्ष में फैसला होता है तो उसे क्रेता को वस्तु का मूल्य, राजा को अर्थ-दण्ड तथा वस्तु के स्वामी को उसकी वस्तु

१. निक्षिप्तं वा परद्रव्यं नष्टं लब्ध्वापहृत्य वा। विक्रीयतेऽसमक्षं यद् विज्ञेयोऽस्वामिविक्रयः।। नारद (७।१); निक्षेपान्वाहितन्यासहृतयाचितबन्धकम्। उपांशु येन विक्रीतमस्वामी सोभिधीयते।। बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २१३, व्यवहारप्रकाश पृ० २९०); याचितान्वाहितन्यासं हृत्वा चान्यस्य यद्धनम्। विक्रीयते स्वाम्यभावे स ज्ञेयोऽस्वामिविक्रयः।। व्यास (व्यवहारमयूख पृ० १९५, व्यवहारप्रकाश पृ० २९०)।

लौटानी पड़ती है।[2] यदि विक्रेता विदेश चला गया हो तो उसे उपस्थित करने के लिए क्रेता को पर्याप्त समय देना चाहिए (कात्यायन ६१५)। अपने अपराध से बरी होने के लिए क्रेता को चाहिए कि वह विक्रेता को उपस्थित करे, ऐसा न करने पर उसे यह सिद्ध करना चाहिए कि उसने खुले बाजार में खरीद की थी (मनु ८।२०२, बृहस्पति, कात्यायन ६१५, ६१८-६१९)। यदि वह ऐसा नहीं कर पाता तो उसे वस्तु के स्वामी को मल्य तथा राजा को अर्थ-दण्ड देना पड़ता है। मनु (८।१९८) ने लिखा है कि विक्रेता स्वामी के कुटुम्ब का हो किन्तु वस्तु का स्वामी न हो तो उस पर ६०० पणों का दण्ड लगता है, किन्तु यदि विक्रेता वस्तु के स्वामी से सम्बन्धित न हो तो उसे चोर समझा जाता है। यही बात उस विक्रेता के साथ भी लागू होती है जो अज्ञानवश या गलती से किसी की वस्तु बेचता है और जो पूरी जानकारी के साथ ऐसा करता है। जो व्यक्ति अपनी अस्थावर सम्पत्ति खो देता है और पानेवाले से माँगता है, तो उसे **नाष्टिक** कहा जाता है। **नाष्टिक** शब्द **नष्ट** (जो खो गया हो) से बना है (कौटिल्य ३।१६; मनु ८।२०२; कात्यायन ६१४)। बात यह है कि जब कोई बहुत-से व्यक्तियों के समक्ष चोरी का सामान खरीदता है और पता चलने पर लौटा देता है तो उस पर अपराध नहीं लगता। जिसकी वस्तु इस प्रकार नष्ट हो जाती है उसे प्रमाण के साथ सिद्ध करना पड़ता है कि उसने उसे कभी बेचा नहीं; इसी प्रकार क्रेता को भी सिद्ध करना पड़ता है कि उसने अमुक व्यक्ति से उचित मूल्य देकर वह वस्तु खरीदी थी (कात्यायन ६१३ एवं याज्ञ० २।१७०)। ऐसा करने पर क्रेता अपराध से बरी हो जाता है और उसे क्रीत वस्तु वास्तविक स्वामी को लौटानी पड़ती है।

कात्यायन (६१६) का कथन है कि **अस्वामिविक्रय** में साक्षियों एवं सम्बन्धियों के प्रमाणों के अतिरिक्त किसी अन्य मानुष या दैविक प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।[3] व्यवहारप्रकाश (पृ० २०३) के मत से **अस्वामिविक्रय** में अन्य प्रमाण, यहाँ तक कि दिव्य (आर्डियल) भी उपयुक्त हो सकता है। किन्तु स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २१६) एवं मदनरत्न ने कात्यायन की बात को ही मान्यता दी है। यदि स्वामी अपने नष्ट सामान के अधिकार को सिद्ध नहीं कर पाता तो उस पर अर्थ-दण्ड लगता है, जो वस्तु के मूल्य के पाँचवें भाग तक जा सकता है। कात्यायन (६२०) एवं कौटिल्य (३।१६) ने ऐसे व्यक्तियों को चोर कहा है, जिससे अन्य लोग इस प्रकार के असत्य व्यवहार से दूर रहें। कौटिल्य (३।१६) एवं याज्ञ० (२।१६९) के मत से यदि स्वामी अपनी वस्तु किसी अन्य के पास देखे तो उसे राजकर्मचारियों (मिताक्षरा के अनुसार **चौरोद्धरणिक**) के पास ले जाय, किन्तु यदि वह समझता है कि ऐसा करने में अधिक समय लगेगा या उसे बहुत दूर जाना पड़ेगा तो वह उसे न्यायालय में स्वयं पकड़कर ला सकता है। ऐसी स्थिति में क्रेता को चाहिए कि वह विक्रेता को उपस्थित करे, किन्तु यदि विक्रेता मर गया हो या विदेश चला गया हो तो वास्तविक स्वामी को वह वस्तु लौटा दे। यदि क्रय व्यापारियों, राजकर्मचारियों के समक्ष किया गया हो, किन्तु विक्रेता अजनवी व्यक्ति हो, या मर गया हो, तो वास्तविक स्वामी अपनी वस्तु आधा मूल्य देकर प्राप्त कर सकता है, क्योंकि अजनवी व्यक्ति से सामान खरीदना तथा अपनी सम्पत्ति की रक्षा न करना दोनों दोषपूर्ण आचरण हैं।[4] यही बात मरीचि (अपरार्क

२. मूले समाहृते क्रेता नाभियोज्यः कथंचन। मूलेन सह वादस्तु नाष्टिकस्य विधीयते॥ बृहस्पति (मिताक्षरा—याज्ञ० २।१७०, पराशरमाधवीय ३, पृ० २९५, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २१५)। विक्रेता दर्शितो यत्र हीयते व्यबहारतः। क्रेत्रे राज्ञे मूल्यदण्डौ प्रदद्यात्स्वामिने धनम्॥ बृहस्पति (वही)।

३. प्रकाशं च क्रयं कुर्यात्साधुभिर्ज्ञातिभिः स्वकैः। न तत्रान्या क्रिया प्रोक्ता दैविकी न च मानुषी॥ कात्यायन (६१६)। इसके लिए देखिए अपरार्क (पृ० ७१७), पराशरमाधवीय (पृ० १०४) एवं विवादरत्नाकर (पृ० १०६)।

४. वणिग्वीथीपरिगतं विज्ञातं राजपूरुषैः। अविज्ञाताश्रयात् क्रीतं विक्रेता यत्र वा मृतः॥ स्वामी दत्त्वार्ध-

पृ० ७७५ एवं स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २१७) में भी लिखित है। बृहस्पति का कथन है कि यदि मुकदमे में प्रमाण न हों तो राजा वादियों एवं प्रतिवादियों के कथनों के अधिक, सम या न्यून रूपों पर विचार करके निर्णय देता है।[5] राजकर्मचारियों द्वारा नष्ट एवं प्राप्त वस्तुओं के विषय में पहले लिखा जा चुका है (देखिए इस भाग के अध्याय ५ के अन्तिम पृष्ठ)।

मूल्यं तु प्रगृह्णीत स्वकं धनम्। अर्धं द्वयोरपहृतं तत्र स्याद् व्यवहारतः।। अविज्ञातक्रयो दोषस्तथा चापरिपालनम्। एतद् द्वयं समाख्यातं द्रव्यहानिकरं बुधैः।। बृहस्पति (अपरार्क पृ० ७७५; कुल्लूक, मनु ८।२०२; कात्यायन, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २१६-२१७; पराशरमाधवीय ३, पृ० २९७ एवं ३००; व्यवहारप्रकाश पृ० २९५-२९६)।

"कानून जागरूक की सहायता करता है।"

५. प्रमाणहीनवादे तु पुरुषापेक्षया नृपः। समन्यूनाधिकत्वेन स्वयं कुर्याद्विनिर्णयम्।। बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २१६ एवं विवादरत्नाकर पृ० १०८)।

अध्याय १८

सम्भूय-समुत्थान[1] (साझेदारी, सहकारिता)

जब अनेक व्यापारी अथवा अन्य लोग (यथा अभिनेता, संगीतज्ञ या शिल्पकार आदि) परस्पर मिलकर कोई व्यापार करते हैं तो वह कार्य या व्यवसाय सहकारिता, सम्भूयकारिता या सम्भूयसमुत्थान की संज्ञा पाता है (नारद ६११ एवं कात्यायन ६२४)।[2] बृहस्पति का कथन है कि कुलीन, दक्ष, अनलस, प्राज्ञ, नाणकवेदी (सिक्कों की जानकारी रखने वाले), आय-व्ययज्ञ, शुचि (ईमानदार), शूर (साहसी होकर व्यापार करनेवाले) व्यक्तियों के साथ साझा करना चाहिए, न कि इनके विपरीत लोगों के साथ।[3] भले ही ये समस्त गुण सब में विद्यमान न हों किन्तु कुछ गुणों का होना सम्भय-समुत्थान के लिए आवश्यक है। आय, व्यय, हानि, लाभ, परिश्रम के आधार पर ही जिसने सोना, अन्न या पेय पदार्थ दिया हो उसके आधार पर बँटवारा होना चाहिए (बृहस्पति––स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १२५; व्यवहार-प्रकाश पृ० २०८; अपरार्क पृ० ८३२)। प्रत्येक साझेदार का यह कर्तव्य है कि वह अन्य साझेदारों के साथ चाहे वे उपस्थित हों या अनुपस्थित, खरीद-फरोख्त (क्रय-विक्रय) में ईमानदारी बरते।[4] बृहस्पति का कथन है कि अन्य लोगों द्वारा अधिकृत होने पर एक साझेदार जो कुछ सम्पत्ति बेचता है या परिवर्तित करता है या जो कुछ प्रमाण या लेख-पत्र लेन-देन के रूप में कार्यान्वित करता है वह सभी साझेदारों द्वारा किया हुआ माना जाता है; किसी संदिग्ध परिस्थिति में स्वयं साझेदार ही आपस में निर्णय करते हैं और धोखाधड़ी या कपटाचरण में निपटारा करते हैं।[5] जब यह सन्देह

१. 'सम्भूय' शब्द 'सम्' के साथ 'भू' से बना है, जिसका तात्पर्य है "एक साथ होना"। 'समुत्थान' का तात्पर्य है "व्यवसाय या व्यापार या कर्म"। अतः दोनों का सम्मिलित अर्थ हुआ वह कार्य या व्यापार या व्यवसाय जिसमें साझा (परिश्रम, धन या दोनों) हो।

२. समवेतास्तु ये केचिच्छिल्पिनो वणिजोऽपि वा। अविभज्य पृथग्भूतैः प्राप्तं तत्र फलं समम्॥ कात्यायन (६२४, अपरार्क पृ० ८३२ एवं पराशरमाधवीय ३, पृ० ३०४)।

३. कुलीनदक्षानलसैः प्राज्ञैर्नाणकवेदिभिः। आयव्ययज्ञैः शुचिभिः शूरैः कुर्यात्सहक्रियाम्॥ अशक्तालस-रोगार्तमन्दभाग्यनिराश्रयैः। वाणिज्याद्या सहैतैस्तु न कर्तव्या बुधैः क्रिया॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १८४, अपरार्क पृ० ८३१-८३२)।

४. समक्षमसमक्षं वाऽवञ्चयन्तः परस्परम्। नानापण्यानुसारात्ते प्रकुर्युः क्रयविक्रयौ॥ व्यास (स्मृति-चन्द्रिका २, पृ० १८५, अपरार्क पृ० ८३२)।

५. बहूनां संमतो यस्तु दद्यादेको धनं नरः। करणं कारयेद्वापि सर्वैरपि कृतं भवेत्॥ परीक्षकाः साक्षिणस्तु त एवोक्ताः परस्परम्। सन्दिग्धेर्थे वञ्चनायां न चेद्विद्वेषसंयुताः॥ यः कश्चिद्वञ्चकस्तेषां विज्ञातः क्रयविक्रये। शपथैः सोपि शोध्यः स्यात् सर्ववादेष्वयं विधिः॥ बृहस्पति (व्यवहारमयूख पृ० २००, विवादरत्नाकर पृ० ११६, व्यवहार-प्रकाश पृ० २९९)। इसका तात्पर्य यह है कि जब कोई साझेदार कोई विरोध उपस्थित करता है तब वह बहुमत से निर्णीत होता है, मानो अपने व्यापार में सभी साझेदार न्यायाधीश हैं।

उत्पन्न होता है कि किसी ने वञ्चना या कपटाचरण किया है तो उसे किसी विशिष्ट शपथ या दिव्य की शरण लेनी पड़ती है। याज्ञ० (२।२६०), नारद (६।५) एवं बृहस्पति का कथन है कि जब कोई अनधिकृत रूप से या बिना किसी सलाह-मशविरे के अज्ञानवश कोई ऐसा कार्य कर बैठता है जिससे हानि होती है, तो उसे हरजाना देना पड़ता है। यदि कोई साझेदार दुर्दैव, राजा या चोरों आदि से साझे के सामान की रक्षा करता है तो उसे विशेष पुरस्कार उसके विशिष्ट अंश के रूप में दिया जाता है, जो बचायी गयी सम्पत्ति के दसवें भाग के रूप में होता है (याज्ञ० २।२६०; कात्यायन ६३१; नारद ६।६)।[६] यदि कोई साझेदार दुष्टता करे या छल-प्रपंच करे तो बिना लाभांश दिये उसे साझे से पृथक् किया जा सकता है। यदि कोई साझेदार स्वयं कार्य न कर सके तो वह दूसरे द्वारा साझे में कार्य करा सकता है (याज्ञ० २।२६५)। याज्ञ० (२।२६४) एवं नारद (६।७ एवं १७-१८) के मत से यदि कोई साझेदार विदेश चला जाता है और मर जाता है तो उसका भाग उसके उत्तराधिकारियों (पुत्र आदि) या सम्बन्धियों या सजातियों को दिया जा सकता है। यदि कोई उत्तराधिकारी अधिकार न जताये तो दस वर्षों तक प्रतीक्षा करने के उपरान्त उसका भाग स्वयं साझेदार ले सकते हैं और उनके ऐसा न करने पर स्वयं राजा उसे प्राप्त कर सकता है।

कात्यायन (६३२) का कथन है कि शिल्पियों के साझे में जो नयी विधियों के नियामक होते हैं उन्हें चार भाग, जो दक्ष या कुशल होते हैं उन्हें तीन भाग, जो आचार्य होते हैं उन्हें दो भाग तथा जो शिष्य होते हैं उन्हें एक भाग मिलता है।[७] बृहस्पति के मत से नर्तकों, संगीतज्ञों, गायकों में संगीतज्ञों को बराबर भाग मिलता है, केवल लय मिलाकर बाजा बजाने वालों को आधा भाग मिलता है। इसी प्रकार किसी भवन या मन्दिर के निर्माण में राजों को दो भाग मिलते हैं। शिल्पी उनको कहते हैं जो सोना, चाँदी, सूत, लकड़ी, पत्थर, खाल आदि से सामान बनाते हैं या ६४ शिल्प-कलाओं में किसी एक के आचार्य होते हैं।[८] यदि राजा ने अपने प्रजाजनों में कुछ लोगों के दल को शत्रु-देश में जाकर लूटपाट करने की आज्ञा दी हो तो राजा को लूट के धन का छठा भाग (बृहस्पति), शेष के चार भाग नेताओं को, वीरों को तीन भाग, अधिक योग्य लोगों को दो भाग तथा अन्यों को एक भाग मिलता है। यदि कोई पकड़ा जाय तो उसे छुड़ाने में जो व्यय होता है उसे सबको वहन करना पड़ता है (विवादरत्नाकर पृ० १२५, कात्यायन ६३३-६३५)। यदि व्यापारियों, कृषकों, चोरों एवं शिल्पियों में पहले से कोई समझौता न हुआ हो तो वे परस्पर निर्णय कर सकते हैं।

यह एक मनोरंजक बात है कि गौतम, आपस्तम्ब एवं बौधायन आदि प्राचीन सूत्रकारों ने सम्भूयसमुत्थान के विषय में कुछ नहीं लिखा है। मनु (८।२०६-२११) ने पुरोहितों की दक्षिणा के विभाजन के विषय में नियम बनाये हैं और लिखा है कि अन्य साझे के कार्यों में भी ये ही नियम लागू होते हैं, यथा--प्रत्येक को उसकी महत्ता एवं कार्य-परिमाण के अनुसार मिलना चाहिए। पुरोहितों की दक्षिणा के विषय में मनु ने विस्तार के साथ नियम दिये हैं, जिन्हें हम यहाँ नहीं लिख रहे हैं। नारद (६।१०) एवं बृहस्पति (विवादरत्नाकर पृ० १२०) ने पुरोहितों के तीन

६. चोरतः सलिलादग्नेर्द्रव्यं यस्तु समाहरेत्। तस्यांशो दशमो देयः सर्वद्रव्येष्वयं विधिः॥ कात्यायन ६३१ (पराशरमाधवीय ३, ३०५ एवं विवादरत्नाकर पृ० ११४)।

७. शिष्यकाभिज्ञकुशला आचार्याश्चेति शिल्पिनः। एकद्वित्रिचतुर्भागान् हरेयुस्ते यथोत्तरम्॥ कात्यायन ६३२ (व्यवहारमयूख पृ० २०१, अपरार्क पृ० ८३८, विवादरत्नाकर पृ० १२४)।

८. हिरण्यरूप्यसूत्राणां काष्ठपाषाणचर्मणाम्। संस्कर्ता च कलाभिज्ञः शिल्पी चोक्तो मनीषिभिः॥ बृहस्पति (विवादरत्नाकर पृ० १२३, व्यवहारप्रकाश पृ० ३०४)।

प्रकार किये हैं---(१) वह जो पुश्तैनी हो और यज्ञ करनेवाले के पूर्वजों द्वारा पूजित हो, (२) वह जो यज्ञ करनेवाले द्वारा नियुक्त हो तथा (३) वह जो मित्रतावश अपने से ही धार्मिक कृत्य कर दे। यदि पुरोहित दोषरहित यजमान को छोड़ देता है या यजमान दोषरहित पुरोहित का परित्याग करता है तो दोनों को दण्ड मिलता है, किन्तु तीसरे प्रकार के पुरोहितों के साथ यह नियम नहीं लागू होता। इस विषय में और देखिए शंख-लिखित (विवादरत्नाकर पृ० ११७ एवं १२०-१२१), स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० १८८) एवं व्यवहारनिर्णय (पृ० २८४-२८५)। कौटिल्य (३।१४) ने भी नियम दिये हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन कल्पसूत्रों के काल में लौकिक कार्यों के साझियों की महत्ता कम थी। यही बात मनुस्मृति के काल तक भी पायी जाती है, जहाँ मनु ने यज्ञों की दक्षिणा के विभाजन को लौकिक समवेत कार्यों तक विस्तारित किया है। याज्ञवल्क्य (२।२६५) ने व्यापारियों के सामान्य नियमों को पुरोहितों, कृषकों, शिल्पकारों (बढ़इयों, नर्तकों आदि) तक बढ़ाया है। स्पष्ट है कि याज्ञवल्क्य के समय में जटिल यज्ञ बहुत कम होते थे और तब व्यापारियों एवं शिल्पियों के सम्भूयसमुत्थान बहुत महत्त्व रखने लग गये थे।[९]

९. ज्योतिष्टोम-जैसे पूत यज्ञों में चार प्रमुख पुरोहित होते थे (होता, अध्वर्यु, उद्गाता एवं ब्रह्मा) और उनमें प्रत्येक के तीन सहायक पुरोहित होते थे। यदि १०० गौएँ दक्षिणा में मिली हों तो प्रत्येक चार प्रमुख पुरोहितों को १२-१२ गौएँ मिलती थीं। प्रथम चार सहायकों को, जिन्हें 'अर्धिनः' कहा जाता है (यथा---मैत्रावरुण, प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणाच्छंसी एवं प्रस्तोता), ४८ की आधी अर्थात् २४ (प्रत्येक को ६) गौएँ मिलती थीं। बाद के चार पुरोहितों को, जिन्हें 'तृतीयिनः' कहा जाता है, १६ अर्थात् प्रत्येक को चार गौएँ मिलती थीं और ये चार पुरोहित थे, अच्छावाक्, नेष्टा, आग्नीध्र एवं प्रतिहर्ता। अन्तिम चार पुरोहितों को जिन्हें 'पादिनः' कहा जाता है (ग्रावस्तुत्, उन्नेता, पोता, सुब्रह्मण्य), १२ गौएँ (प्रत्येक को तीन) मिलती थीं। और देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० २।२६५, कुल्लूक (मनु० ८।२१०), विवादरत्नाकर (पृ० ११९) एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० ३०१)।

अध्याय १९

दत्तानपाकर्म

इस अध्याय के शीर्षक को दत्ताप्रदानिक भी कहा जाता है। नारद (७।१) ने इसकी यह परिभाषा दी है कि जब कोई व्यक्ति कुछ देने के उपरान्त उसे पुनः लौटा लेना चाहता है, क्योंकि उसने ऐसा करके नियम का अतिक्रमण किया था (अर्थात् वह कार्य न्यायानुकूल न होने के कारण अनुचित था) तो इसे **दत्तानपाकर्म** कहा जाता है।[1] नारद (७।२) ने इसे चार भागों में बाँटा है--(१) जो न दिया जा सके, (२) जो दिया जा सके, (३) जो देना न्यायानुकूल हो तथा (४) जो देना न्यायानुकूल न हो। नारद (७।३-५) एवं बृहस्पति के मत से निम्न आठ वस्तुएँ नहीं दी जा सकतीं (अदेय)--अन्वाहित, धरोहर, याचितक, निक्षेप, साझे की सम्पत्ति, पुत्र एवं स्त्री, सन्तान वालों की सम्पूर्ण सम्पत्ति तथा प्रतिश्रुत वस्तु। अधिक विस्तार के लिए देखिए कौटिल्य (३।१६), याज्ञ० (२।१७५) एवं कात्यायन (६३८)। ये वस्तुएँ नहीं दी जा सकतीं, क्योंकि इन पर सम्पूर्ण अधिकार नहीं रहता और इनका दान ऋषियों द्वारा वर्जित है।[2] पुत्र एव पत्नी नहीं दी जा सकती, क्योंकि स्मृतियों ने यह वर्जित किया है। जो **देय** है उसके विषय में सामान्य नियम याज्ञ० (२।१७५), नारद (७।६), बृहस्पति एवं कात्यायन (६४०) ने दिये हैं--जो सम्पत्ति अपनी है, कुटुम्ब के भरण-पोषण का अंश छोड़कर, उसको दिया जा सकता है।[3] मनु (९।९-१०), नारद (७।६), बृहस्पति ने उन लोगों की भर्त्सना की है जो अन्य लोगों के प्रति दयाशील होने के लिए अपने कुटुम्ब या नौकरों को निर्धन बना देते हैं।

१. मेधातिथि (मनु ८।२१४) ने लिखा है--'अपक्रिया क्रियापायः तस्य तत्राप्रतिषेधः। दानमेवं न चलितं भवति। एवैव दाने स्थितिरिति यावत्। कथं प्रतिश्रुत्यादीयमाने धर्मो न नश्यतीति नैषा शंका कर्तव्या। एष एवात्र धर्मो यत्र दीयते दत्तं च प्रत्यादीयते।' अतः इसके अनुसार दत्तस्यानपाकर्म का तात्पर्य है--जो कुछ दिया गया है या दिये जाने के लिए प्रतिश्रुत-सा है उसका उचित आदान या अपहरण। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१७५) ने दत्ताप्रदानिक तथा दत्तानपाकर्म की भी व्याख्या की है--'दत्तस्य अप्रदानं पुनर्हरणं यस्मिन्दानाख्ये तद् दत्ताप्रदानिकं नाम व्यवहार-पदम्।....दत्तस्य अनपाकर्म अपुनरादानं यत्र दानाख्ये विवादपदे तद्दत्तानपाकर्म।' इसके अनुसार दत्तानपाकर्म का तात्पर्य यह है--वह जिसमें जो दिया गया है पुनः नहीं लौटाया जा सकता, क्योंकि दान न्यायानुकूल है (इसका विपरीत अर्थ भी स्पष्ट है)।

२. सर्वस्वं पुत्रदारमात्मानं प्रदायानुशयिनः प्रयच्छेत। अर्थशास्त्र (३।१६)। सामान्यपुत्रदाराधिसर्वस्व-न्यासयाचितम्। प्रतिश्रुतं तथान्यस्येत्यदेयं त्वष्टधा स्मृतम्॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १८९, व्यवहार-प्रकाश पृ० ३०६), नारद (७।४-५) एवं दक्ष (३।१९-२०)।

३. सर्वस्वं गृहवर्जं तु कुटुम्बभरणाधिकम्। यद् द्रव्यं तत्स्वकं देयमदेयं स्यादतोन्यथा॥ कात्यायन ६४० (पराशरमाधवीय ३, पृ० २१४, विवादरत्नाकर पृ० १२९, सरस्वतीविलास पृ०२८३)। कात्यायन ने उस मनुष्य को, जिसके पास एक ही घर हो, घर बेचने से मना किया है।

जो ऐसा करते हैं वे पापी होते हैं। और देखिए मनु (९।७=नारद ७।७), वसिष्ठ (८।१०), याज्ञ० (१।१२४), विष्णु० (५९।८)।

नारद (७।८) के मत से **दत्त** दान सात प्रकार के हैं। दत्त वे हैं जिन्हें लौटाया नहीं जा सकता तथा जिन पर देनेवाले का पूर्ण अधिकार है और जो देय माने गये हैं। ये हैं क्रीत वस्तुओं का मूल्य, पारिश्रमिक, आनन्दोत्सव (नृत्य, संगीत, मल्लयुद्ध) के लिए जो दिया जाय, स्नेह-दान, श्रद्धा-दान, वधू के सम्बन्धियों को दिया गया धन, आध्यात्मिकता या दानशीलता के उपयोग का धन। बृहस्पति के अनुसार **दत्त** धन आठ प्रकार के हैं।[४]

नारद (७।९-११) ने **अदत्त** (जो न्यायानुकूल न हो) दान के १६ प्रकार किये हैं, जिनके विषय में हमने इस ग्रन्थ के दूसरे भाग में पढ़ लिया है। और देखिए कात्यायन (६४७)। **अदेय** एवं **अदत्त** में अन्तर यह है कि प्रथम प्रकार में वर्जित होने के कारण वे दान हैं जो पूर्णरूपेण अवैध हैं, दूसरे प्रकार (अदत्त) में वे दान हैं जो परित्यक्तव्य हैं और दाता के आवेदन पर न्यायालय द्वारा निषिद्ध ठहराये जा सकते हैं, क्योंकि वे दाता की अयोग्यता के परिणाम मात्र हैं; यथा—उन्मत्तता, पागलपन, वृद्धता, अल्पवयस्कता, त्रुटि आदि के कारण। कात्यायन (६४६) एवं कौटिल्य (३।१३) का कथन है कि यदि प्राण-संशय में कोई व्यक्ति अपने रक्षक को सम्पूर्ण सम्पत्ति दान कर देता है तो वह आगे चलकर दक्ष लोगों की सम्मति से केवल पुरस्कार मात्र देकर अपने पूर्व पण को तोड़ सकता है।

कात्यायन (६५०-६५१) ने **उत्कोच** (घूस) को निम्न रूप से व्यक्त किया है; किसी व्यक्ति को चोर या आततायी कहकर प्रत्युत्तर देने के द्वारा, या किसी को व्यभिचारी कहकर, या बदमाशों की ओर संकेत कर या किसी के विषय में भ्रामक अफवाह उड़ाकर जो धन लिया जाय वह उत्कोच है। कात्यायन ने आगे कहा है कि घूस लेनेवाले को दण्डित नहीं करना चाहिए, बल्कि मध्यस्थ को दण्डित करना चाहिए। यदि घूस लेनेवाला राजा का कर्मचारी हो तो उसे घूस लौटानी पड़ती है और उसका ग्यारह गुना अर्थ-दण्ड देना पड़ता है। यदि कोई राजकर्मचारी न होते हुए घूस (उत्कोच) लेता है तो उसे दण्डित नहीं किया जाता, क्योंकि उसे जो कुछ मिलता है वह पुरस्कार या कृतज्ञता-प्रकाशन के रूप में मिलता है।

हारीत का कथन है कि प्रतिश्रुत होने पर यदि दान नहीं दिया जाता तो नरक में गिरना होता है और इस लोक एवं परलोक में ऋणी बनकर रहना पड़ता है। अतः राजा को चाहिए कि वह प्रण-कर्ता को प्रतिश्रुत दान देने को उद्वेलित करे और ऐसा न करने पर उसे दण्डित करे।[५] कात्यायन (६४२) का कथन है कि यदि कोई ब्राह्मण को दान देने का वचन देकर उसे पूरा न करे तो वह दान ऋण रूप में देना पड़ता है, और यदि कोई किसी धार्मिक कार्य के लिए निरोग या रुग्ण अवस्था में दान करने का वचन देता है, किन्तु उसे पूरा करने के पहले ही मर जाता है तो उसके पुत्र या उत्तराधिकारी को वह देना पड़ता है (५६६)।[६] स्पष्ट है, प्राचीन न्यायालयों द्वारा ब्राह्मणों एवं धार्मिक कृत्यों के लिए किये गये दान

४. भृत्या तुष्ट्या पण्यमूल्यं स्त्रीशुल्कमुपकारिणे। श्रद्धानुग्रहणं प्रीत्या दत्तमष्टविधं विदुः॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १९३)।

५. प्रतिश्रुतार्थादानेन दत्तस्याच्छेदनेन च। विविधान्नरकान् याति तिर्यग्योनौ च जायते॥ वाचैव यत्प्रतिज्ञातं कर्मणा नोपपादितम्। ऋणं तद्धर्मसंयुक्तमिहलोके परत्र च॥ हारीत (व्यवहारप्रकाश पृ० ३१०, विवादचन्द्र पृ० ३६, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १९२)।

६. स्वेच्छया यः प्रतिश्रुत्य ब्राह्मणाय प्रतिग्रहम्। न दद्यादृणवद्दाप्यः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम्॥ कात्यायन (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १९२, सरस्वतीविलास पृ० २८५, व्यवहारप्रकाश पृ० ३१०); स्वस्थेनातन वा देयं श्राविंत

दिलाये जाते थे। गौतम (५।२१) का कथन है कि यदि दानपात्र अधार्मिक हो तो दाता के द्वारा प्रतिश्रुत दान नहीं भी दिया जा सकता, अर्थात् उसके उत्तराधिकारी उसे नहीं भी दे सकते। नारद (७।१२) एवं बृहस्पति का कथन है कि जो अदत्त दान ग्रहण करते हैं अथवा जो वर्जित दान करते हैं, दोनों को राजा द्वारा दण्डित होना पड़ता है।[7]

दान का तात्पर्य है दाता का उसके प्रति अस्वामित्व तथा लेनेवाले का उस दान के प्रति स्वामित्व हो जाना (जब वह दान को **स्वीकार** कर ले)। **स्वीकार** मानसिक, शाब्दिक एवं शारीरिक रूप से होता है। इस विषय में जीमूतवाहन जैसे लेखकों के विचार अवलोकनीय हैं (दायभाग १।२१-२४, पृ० १३-१५)।

धर्मकारणात्। अदत्त्वा तु मृते दाप्यस्तत्सुतो नात्र संशयः॥ कात्यायन (विवादचिन्तामणि पृ० १६, व्यवहारप्रकाश पृ० ३१३, सरस्वतीविलास पृ० २८७, विवादचन्द्र पृ० ३७); प्रतिश्रुत्याप्रदातारं सुवर्णं दण्डयेन्नृपः। मत्स्यपुराण (२२७।८, व्यवहारप्रकाश पृ० ३१०)।

७. प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यात्। गौतम (५।२१)। अदत्तभोक्ता दण्ड्यः स्यात्तथादेयप्रदायकः। बृहस्पति (सरस्वतीविलास पृ० २२८)।

अध्याय २०

वेतनस्यानपाकर्म, अभ्युपेत्याशुश्रूषा एवं स्वामिपालविवाद

इस अध्याय में वेतन पर रखे गये भृत्यों (नौकरों) का पारिश्रमिक देने या न देने के विषय में चर्चा होगी। बृहस्पति ने इस विषय में **अभ्युपेत्याशुश्रूषा, वेतनस्यानपाकर्म** एवं **स्वामिपालविवाद** के प्रश्नों को उठाया है।[1] मनु एवं कौटिल्य ने इनमें प्रथम की चर्चा नहीं की है। यहाँ **वेतनस्यानपाकर्म** की चर्चा सबसे पहले की जायगी और बाद को अन्य दो की पृथक्-पृथक् चर्चा होगी। ये तीनों स्वामियों एवं नौकरों या नियोजकों एवं नियुक्तों से सम्बन्ध रखते हैं। नौकरी की अवधियों एवं पारिश्रमिकों तथा उनसे सम्बन्धित कार्यों के विषय में विभिन्न नियम बने हुए हैं। ये नियम ईसापूर्व छठी शताब्दी से लेकर ईसा के उपरान्त पाँचवीं शताब्दी तक की कालावधि में बिखरे पड़े हैं (अर्थात् गौतम एवं आपस्तम्ब से लेकर बृहस्पति एवं कात्यायन तक)। इन नियमों में स्वामियों एवं नौकरों के उत्तरदायित्वों का वर्णन है।

नारद (९।२) के मत से पहले से निश्चित पारिश्रमिक कार्य करने के आरम्भ में, मध्य में या अन्त में दिया जा सकता है। किन्तु यदि पहले से कुछ तय न पाया हो तो नारद (९।३), याज्ञ० (२।१९४) एवं कौटिल्य (३।१३) के अनुसार व्यापारी के प्रतिनिधि, ग्वाला एवं कर्षक को क्रम से लाभ, दूध एवं अन्न का दशांश मिलना चाहिए। स्मृति-चन्द्रिका (२, २०१) के मत से यह नियम तभी लागू होता है जब कि अन्न सरलता से उत्पन्न हो जाता है। किन्तु बृहस्पति का कथन है कि यदि नियोजक नौकर को भोजन-वस्त्र देता है तो पारिश्रमिक निश्चित न रहने पर कर्षक नौकर को अन्न का पाँचवाँ भाग तथा जिसे भोजन-वस्त्र नहीं मिलता उसे तिहाई भाग मिलता है।[2] यदि वेतन या पारिश्रमिक पूर्व से निश्चित न हो तो वृद्ध-मनु के मत से कुशल व्यापारियों (यदि विवाद व्यापार से सम्बन्धित है) की सम्मति से काल, स्थान एवं उद्देश्य के अनुसार उसे तय करना चाहिए। यदि पारिश्रमिक या वेतन पूर्व से निश्चित भी हो तो कुछ बातों में कुछ कम या अधिक दिया जा सकता है, यथा--यदि भृत्य काल एवं स्थान से सम्बन्धित नियमों का उल्लंघन करे जिससे घाटा हो जाय तो कम तथा यदि अधिक लाभ हो जाय तो अधिक दिया जा सकता है (याज्ञ० २।१९५)।

यदि दो या इससे अधिक भृत्य रोग या किसी अन्य कारण से कम काम करें तो मध्यस्थ द्वारा तय करके कार्य के अनुरूप वेतन दिया जाना चाहिए, और यदि सम्पूर्ण कार्य समाप्त हो जाय तो सम्मिलित रूप से दिया जाना चाहिए (याज्ञ० २।१९६)। काम करने के बरतन, औजार आदि की रक्षा अपने बरतनों के समान ही करनी चाहिए, ऐसा न

१. अदेयादिकमाख्यातं भृतानामुच्यते विधिः। अशुश्रूषाभ्युपेत्यैतत्पदमादौ निगद्यते।। वेतनस्यानपाकर्म तदनु स्वामिपालयोः। क्रमशः कथ्यते वादो भृतभेदत्रयं त्विदम्।। बृहस्पति (विवादरत्नाकर पृ० १३९, विवाद-चिन्तामणि पृ० ४१)।

२. भक्ताच्छादभृतः सीराद् भागं गृह्णीत पञ्चमम्। जातसस्यात् त्रिभागं तु प्रगृह्णीयादथाभृतः।। बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०२, व्यवहारप्रकाश पृ० ३२४ एवं सरस्वतीविलास पृ० २९८)।

करने पर पारिश्रमिक में कटौती हो सकती है (नारद ९।४)। यदि नौकर पारिश्रमिक ले लेने के उपरान्त कार्य करने के योग्य होने पर भी कार्य न करे तो उसे वह लौटाना पड़ता है और उसका दूना दण्ड देना पड़ता है। इसी प्रकार यदि पारिश्रमिक न भी मिला हो किन्तु भृत्य बिना किसी कारण के कार्य न करे तो उसे पारिश्रमिक के अनुरूप दण्ड देना पड़ता है (याज्ञ० २।१९३, नारद ९।५ एवं बृहस्पति)। कौटिल्य (३।१४) के मत से काम करने का प्रण करके तथा वेतन पाकर यदि भृतक उसे सम्पादित न करे तो उसे १२ पण का दण्ड देना पड़ता है और कार्य करना पड़ता है।[3] और देखिए नारद (९।५), कात्यायन (६५७), वृद्ध-हारीत, मनु (८-२१५, २१७), बृहस्पति, मत्स्यपुराण (२२७।९) आदि, जहाँ अर्थ-दण्ड के विभिन्न नियम दिये गये हैं। यदि भृतक बीमार हो या संकट-ग्रस्त हो तो उसको छूट दी जा सकती है अथवा वह अपना प्रतिनिधि दे सकता है (कौटिल्य ३।१४)। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।११।२८।२-४) के मत से यदि नौकर, कर्षक या ग्वाला काम न करे तो उसे शरीर-दण्ड देना चाहिए और उससे पशु आदि छीन लेने चाहिए। किन्तु इस नियम का आगे चलकर बहिष्कार हुआ। कौटिल्य (३।१३) का कथन है कि यदि स्वामी या नियोजक वेतन न दे तो उस पर छः पण का, या उचित पारिश्रमिक के दसवें भाग का या पूर्वनिश्चित वेतन का अर्थ-दण्ड लगता है। यदि भृतक वेतन ले लेने पर न पाने का अभियोग लगाये तो उस पर १२ पण का या वेतन के पाँचवें भाग का अर्थ-दण्ड लगता है।[4] कौटिल्य (३।१४) का कथन है कि समझौता हो जाने पर अवधि के भीतर स्वामी को न तो दूसरा नौकर रखना चाहिए और न नौकर को दूसरा स्वामी।

याज्ञ० (२।१९७), नारद (९।९), कात्यायन (६५९), विष्णु० (५।१५५-१५६) के मत से यदि ढोनेवाले की असावधानी से (दैवसंयोग या राजा के कारण नहीं) सामान नष्ट हो जाय या खराब हो जाय तो उसे हरजाना देना पड़ता है।[5] वृद्ध-मनु का कथन है कि यदि असावधानी के कारण नौकर से सामान नष्ट हो जाय तो सामान का मूल्य देना पड़ता है, किन्तु यदि द्रोह से नष्ट हो जाय तो दूना मूल्य देना पड़ता है। अन्य समझौतों के लिए देखिए याज्ञ० (२।१९७), नारद (९।८), कात्यायन (६५८), वृद्ध-मनु (विवादरत्नाकर पृ० १६३)।

यदि किसी अवधि के भीतर कार्य समाप्त करने के समझौते के आधार पर एक बार ही वेतन लेना निश्चित करके भृतक पहले ही काम छोड़ देता है तो वह वेतन से हाथ धो बैठता है, किन्तु यदि स्वामी की झिड़कियों के फलस्वरूप (अपना दोष न रहने पर) वह कार्य करना छोड़ देता है तो उसे जितना कार्य हो गया है उसके अनुरूप वेतन मिल जाता

३. गृहीतवेतनः कर्म न करोति यदा भृतः। समर्थश्चेद् दमं दाप्यो द्विगुणं तच्च वेतनम्॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०२, विवादरत्नाकर पृ० १५९); कर्मारम्भं तु यः कृत्वा सिद्धं नैव तु कारयेत्। बलात्कारयितव्योऽसावकुर्वन् दण्डमर्हति॥ कात्यायन ६५७ (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०३, विवादरत्नाकर पृ० ११०); गृहीत्वा वेतनं कर्माकुर्वतो भृतकस्य द्वादशपणो दण्डः। संरोधश्चाकारणात्। अर्थशास्त्र (३।१४)।

४. वेतनादाने दशबन्धो दण्डः षट्पणो वा। अपव्ययमाने द्वादशपणो दण्डः पञ्चबन्धो वा। अर्थशास्त्र (३।१३)।

५. भाण्डं व्यसनमागच्छेद्यदि वाहकदोषतः। स दाप्यो यत्प्रणष्टं स्याद्दैवराजकृतादृते॥ नारद (९।९); न तु दाप्यो हृतं चौरैर्दग्धमूढं जलेन वा। कात्यायन (६५७, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०३, अपरार्क पृ० ७९९, सरस्वतीविलास पृ० ३००)। प्रमादान्नाशितं दाप्यः समं द्विर्द्रोहनाशितम्। वृद्ध-मनु (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०३, विवादरत्नाकर पृ० १६२); तद्दोषेण यद्विनश्येत् तत्स्वामिने। अन्यत्र दैवोपघातात्। विष्णुधर्मसूत्र (५।१५५-१५६); विघ्नयन् वाहको दाप्यः प्रस्थाने द्विगुणं दमम्। कात्यायन (६५८, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०३, पराशरमाधवीय ३, पृ० ३२७)।

है (नारद, विवादरत्नाकर पृ० १६१, कात्यायन ६६०, अपरार्क पृ० ८०० एवं विवादरत्नाकर पृ० ६६५)। विष्णु० (५।१५३-१५४ एवं १५७-१५८) के मत से उपर्युक्त परिस्थितियों में भृतक को १०० पण तथा स्वामी को वेतन तथा १०० पण दण्ड रूप में देने पड़ते हैं। कात्यायन (६६०) के मत से यदि स्वामी नौकर को यात्रा में बीमार पड़ जाने या थक जाने के कारण छोड़कर आगे बढ़ जाता है तो उसे ग्राम में तीन दिन तक प्रतीक्षा न करने के कारण अर्थ-दण्ड देना पड़ता है। नारद (९।७) के मत से यदि व्यापारी किसी गाड़ी या भारवाही पशु को लेने के लिए समझौता करके उन्हें नियुक्त नहीं करता तो उसे निश्चित किराये का चौथाई देना पड़ता है और यदि वह उन्हें नियुक्त कर यात्रा के कुछ भाग में ही छोड़ देता है, तो उसे पूरा किराया देना पड़ता है। यदि व्यापार का सामान राजकर्मचारी द्वारा पकड़ लिया जाय या चोरी चला जाय तो उसे ढोनेवाले नौकर को पूर्वनिश्चित पारिश्रमिक का (यात्रा के अनुपात से) कुछ भाग मिल जाता है (कात्यायन ६६१)। बृहस्पति के अनुसार यदि स्वामी काम लेकर भृतक को वेतन न दे तो उसे राजा द्वारा दण्डित होना पड़ता है और निश्चित वेतन देना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति हाथी, घोड़ा, बैल, गदहा एवं ऊँट किराये पर लेकर और काम कराकर उन्हें नहीं लौटाता है तो उसे किराये के साथ लौटाना पड़ता है।[६] ये नियम किराये के घर तथा जलाशय या हाट के विषय में भी लागू हैं (कात्यायन ६६२)। नारद (९।२०-२१) का कथन है कि यदि कोई **स्तोम** (किराया) तय कर किसी की भूमि पर गृह-निर्माण करता है तो वह रुपये देकर तथा ईंट, लकड़ियाँ आदि लेकर उसे छोड़ सकता है, किन्तु यदि बिना किराया दिये और स्वामी की इच्छा के प्रतिकूल कोई इस प्रकार गृह-निर्माण करता है तो उसे उस गृह को छोड़ते समय सारा सामान भी छोड़ना पड़ता है। बृहस्पति का कथन है कि यदि किसी का नौकर किसी दूसरे के साथ अनुचित व्यवहार (चोरी) करता है तो स्वामी को हरजाना देना पड़ता है। मत्स्यपुराण (२२७।६) का कथन है कि यदि गुरु किसी को कोई शिल्प आदि सिखाने के लिए धन लेता है किन्तु सिखाता नहीं तो उसे पूरा धन दण्ड रूप में देना पड़ता है।[७]

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट होता है कि स्मृतियों में नौकरी से सम्बन्धित करार तथा किराये पर वस्तुओं के लेन-देन आदि के नियम एक-साथ ही दिये हुए हैं।

कौटिल्य (३।१४) के मत से भृतकों के संघों के सदस्यों को वेतन संघ ही देते थे। जैसा पूर्व निश्चित रहता था उसी के अनुसार सारी कमाई बराबर-बराबर बाँट दी जाती थी। याज्ञ० (२।२६५) का भी कथन है कि साझेदारी के नियम कर्षकों एवं शिल्पिकों के लिए भी यथावत् प्रयुक्त होते हैं।

नारद (९।१८), याज्ञ० (२।२९१) एवं मत्स्यपुराण (२२७।१४४-१४६) में वेश्याओं एवं वेश्यागामियों के धन-सम्बन्धी उत्तरदायित्वों का वर्णन है। मत्स्यपुराण (२२७।१४४-१४६) में आया है कि ब्राह्मण वेश्यागामियों

६. हस्त्यश्वगोखरोष्ट्रादीन् गृहीत्वा भाटकेन यः। नार्पयेत्कृतकृत्यार्थः स तु दाप्यः सभाटकम्॥ गृहवार्यापणादीनि गृहीत्वा भाटकेन यः। स्वामिने नार्पयेद्यावत्तावद्दाप्यः सभाटकम॥ कात्यायन (६६२–६६३, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०५; विवादरत्नाकर पृ० १६८–१६९; पराशरमाधवीय ३, पृ० ३३०–३३१)। 'भाटक' शब्द 'भृति' का ही प्राकृत रूपान्तर है जो स्वयं संस्कृत हो गया है। संस्कृत में वेतन और वृत्ति शब्द पारिश्रमिक के लिए प्रयुक्त होते हैं तथा भाटक या स्तोम गृह या भूमि आदि के किराये के रूप में।

७. प्रभुणा विनियुक्तः सन् भृतको विदधाति यत्। तदर्थमशुभं कर्म स्वामी तत्रापराध्नुयात्॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०४, विवादरत्नाकर पृ० १६२)। मूल्यमादाय यो विद्यां शिल्पं वा न प्रयच्छति। दण्ड्यः स मूलं सकलं धर्मज्ञेन महीभृता॥ मत्स्यपुराण (२२७।६, विवादरत्नाकर पृ० १६३)।

पर वेश्याओं को दिये गये धन के बराबर अर्थ-दण्ड लगता है और यदि कोई वेश्या शुल्क लेने के उपरान्त किसी अन्य आगन्तुक से सम्बन्ध रखती है या कहीं और चली जाती है तो उसे अपने शुल्क का दूना पहले से निश्चित व्यक्ति को और उतना ही राजा को देना पड़ता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी वेश्या को किसी व्यक्ति के यहाँ ले जाने का निश्चय करके किसी अन्य व्यक्ति के यहाँ ले जाता है तो उस पर एक स्वर्ण-माषक का अर्थ-दण्ड लगता है।

मत्स्यपुराण (२२७।१४७) के मत से यदि वेश्यागामी किसी वेश्या के साथ रमण करने के उपरान्त उसे निश्चित शुल्क नहीं देता है तो उसे उसका दूना वेश्या को तथा राजा को देना पड़ता है। नारद का कथन है कि मुख्य वेश्याओं एवं उनकी अन्य भोग-निरत सहयोगिनियों को वेश्या-सम्बन्धी लेन-देन के विवाद सुलझाने चाहिए (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०६; विवादरत्नाकर पृ० १६७ एवं व्यवहारप्रकाश पृ० ३३०)। और देखिए नारद (२२७।१४७)।

अभ्युपेत्याशुश्रूषा

सेवा करने का करार कर लेने के उपरान्त वैसा न करने को अभ्युपेत्याशश्रूषा कहते हैं।[८] प्राचीन धर्मसूत्रों में सेवकों के दो प्रकार बताये गये हैं; खेती के नौकर तथा पशुपालक (आपस्तम्ब० २।२।२८।२-३ एवं गौतम १२।१६-१७)। नारद (८।२ एवं ३) के मत से सेवा करने वालों के पाँच प्रकार हैं--चार कर्मकर, यथा शिष्य, अन्तेवासी, भृतक एवं अधिकर्मकृत् (भृतकों के अधीक्षक या मेठ) तथा १५ प्रकार के दास। इन पाँच प्रकार के सेवकों को अपनी इच्छा से कुछ करने का अधिकार नहीं है, किन्तु उनकी जाति, विशेषताओं एवं उनके रहन-सहन के अनुसार उनमें अन्तर पाया जाता है (नारद ८।४)। **शिष्य** वह है जो अपने गुरु से वैदिक शिक्षा की आकांक्षा करता है; **अन्तेवासी** वह है जो सुनारी या किसी अन्य शिल्प में, यथा नृत्य आदि में शिक्षा ग्रहण करता है; **भृतक** वह है जो पारिश्रमिक पर रखा गया नौकर है तथा **अधिकर्मकृत्** भृतकों का अधीक्षक है। कार्य (कर्म) के दो प्रकार हैं; **शुभ** (स्वच्छ कर्म जो चार प्रकार के **कर्मकर** करते हैं) एवं **अशुभ** (गंदे), जिन्हें दास करते हैं।

अशुभ कर्म ये हैं--गृह-द्वार बुहारना, सड़क, गन्दे स्थल आदि स्वच्छ करना, स्वामी के अंगों को रगड़ना या मलना-दबाना, उच्छिष्ट भोजन, जूठन कणों को एकत्र कर फेंकना, मल-मूत्र फेंकना, हाथ आदि से स्वामी के गुप्तांग स्वच्छ करना। इसके अतिरिक्त अन्य कार्य **शुभ** हैं।

शुभ कर्मकर वैदिक विद्या या विज्ञान (कला या शिल्प) के लिए कार्य करते हैं। वैदिक **शिष्यों** के कर्तव्य ये हैं--गुरु, गुरु-पत्नी, गुरु-पुत्र की सेवा करना, भिक्षाटन करना, भूमि पर सोना, गुरु की आज्ञा पालना, वेदाध्ययन, विद्याध्ययनोपरान्त गुरु-दक्षिणा देना (नारद ८।८-१५)। शिष्यों के कर्तव्यों से अन्तेवासियों के कर्तव्य एवं उनकी जीविका-विधियाँ भिन्न हैं। याज्ञ० (२।१८४), नारद (८।१६-२१), बृहस्पति एवं कात्यायन (७१३) के अनुसार **अन्तेवासी** सुनारी, गाना, नृत्य, गृह-निर्माण आदि सीखने की इच्छा से अपने शिल्पी गुरु के साथ रहता है और कुछ अवधि के लिए उसके साथ कार्य करता है। शिल्पी उसे अपने पास रखकर सिखाता है, भोजन देता है और कोई अन्य कार्य नहीं कराता। यदि शिल्पी उसे सिखाना चाहता है किन्तु वह उसे छोड़कर चला जाना चाहता है तो शिल्पी उसे कोड़े मार सकता है और बन्दी करके रख सकता है। भले ही शिष्य दक्ष हो गया हो किन्तु उसे अवधि तक रहना पड़ता है और शिल्पी उसके

८. आज्ञाकरणं शुश्रूषा तामङ्गीकृत्य पश्चाद्यो न सम्पादयति तद्विवादपदमभ्युपेत्याशुश्रूषाख्यम्। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१८२)।

किये हुए कार्य का प्रतिफल भोगता है। यदि अन्तेवासी को सिखाने वाला उसे सिखाता नहीं तथा अन्य कार्य कराता है तो उसे दण्डित होना पड़ता है और अन्तेवासी उसे छोड़ सकता है।[९]

कर्म, वेतन एवं अवधि के अनुरूप **भृतकों** की कई श्रेणियाँ होती हैं। वे इन्हीं के अनुसार **अन्तेवासियों** से भिन्न होते हैं, अन्यथा जाति एवं जीविका के रूप में उनमें कोई विशिष्ट अन्तर नहीं होता। नारद (८।२२-२३) एवं बृहस्पति के अनुसार भृतक के तीन प्रकार हैं और उनके वेतन उनके कार्यों एवं योग्यताओं के अनुसार विभिन्न होते हैं। वे प्रकार हैं—**उत्तम** (सैनिक आदि), **मध्यम** (खेती करने वाले) एवं **हीन** (द्वारपाल आदि)।[१०] एक भृतक एक दिन, एक पक्ष, एक मास या अधिक समय तक के लिए रखा जा सकता है और उसे तय किया हुआ कार्य करके पूर्वनिश्चित वेतन ग्रहण करना होता है। उसे सिक्कों के रूप में या अन्न के रूप में या दुग्ध के रूप में (यदि पशु पालन करता हो) वेतन मिलता है।

नारद (८।२४) के मत से वह व्यक्ति जो अन्य नौकरों की अधीक्षकता के लिए रखा जाता है या जो घर के आय-व्यय-निरीक्षण के लिए नियुक्त किया जाता है, **अधिकर्मकृत्** कहलाता है। ये चार प्रकार के कर्मकर (शिष्य, अन्तेवासी, भृतक एवं अधिकर्मकृत्) **शुभ** (पवित्र) कार्य करते हैं, किन्तु पन्द्रह प्रकार के **दास** हीन एवं गन्दे-से-गन्दा कार्य करते हैं (नारद ८।२५)। कर्मकरों एवं दासों में अन्तर यह है कि प्रथम प्रकार के सेवक कुछ स्वतन्त्रता रखते हैं किन्तु दास पूर्णरूपेण अपनी स्वतन्त्रता खो बैठते हैं। ब्राह्मण को दास नहीं बनाया जा सकता था। अति प्राचीन काल में सेवकों के कार्यों का उत्तरदायित्व स्वामी पर नहीं होता था। गौतम (१२।१७) ने लिखा है कि यदि पशुपालक द्वारा किसी के खेत की हानि हो जाय तो उसका उत्तरदायित्व स्वामी पर नहीं होता। किन्तु मनु (८।२४३), याज्ञ० (२।१६१), नारद (१४।-२९) एवं बृहस्पति का कथन है कि ऐसी स्थिति में स्वामी का उत्तरदायित्व होता है और उसे हरजाना देना पड़ता है।

हमने दासों एवं दास-प्रथा के विषय में बहुत पहले, द्वि० भाग अ० ५ में लिख दिया है। कुछ बातें यहाँ भी दी जा रही हैं। राइस डेविड्स ने अपनी पुस्तक 'बुद्धिस्ट इण्डिया' (पृ० ५६) में लिखा है कि यूनान के समान भारत में दासों की अवस्था अत्यन्त शोचनीय नहीं थी। राजतरंगिणी (४।३९) में आया है कि राजा वज्रादित्य ने (८वीं शताब्दी) बहुत-से व्यक्तियों को दास रूप में म्लेच्छों को बेच दिया। आधुनिक काल में अंग्रेज सरकार ने भारत के आसाम, बंगाल तथा अन्य प्रान्तों के चाय-कर्मकरों के लिए बड़े कठिन कानून बनाये थे, जिनके फलस्वरूप उन्हें बहुत कम वेतन पर अस्वास्थ्यकर स्थानों एवं परिस्थितियों में काम करना पड़ता था। यह एक काला दाग है जिसे उक्त शासकों ने अपने माथे पर लगाया था (आसाम लेबर एण्ड एमिग्रेशन एक्ट ६, सन् १९०१, सेक्शन १६८-१६९)।

९. अनेकधा तेऽभिहिता जातिकर्मानुरूपतः। विद्याविज्ञानकामार्थनिमित्तेन चतुर्विधाः। एकैकः पुनरेतेषां क्रियाभेदात्प्रपद्यते॥ विद्या त्रयी समाख्याता ऋग्यजुःसामलक्षणा। तदर्थं गुरुशुश्रूषां प्रकुर्याच्छास्त्रदेशिताम्॥ विज्ञान-मुच्यते शिल्पं हेमकुप्यादिसंस्कृतिः। नृत्यादिक च तच्छिक्षन् कुर्यात् कर्म गुरोर्गृहे॥ बृहस्पति (विवादरत्नाकर पृ० १४०-१४१); स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १९५; व्यवहारप्रकाश पृ० ३१४; व्यवहारसार पृ० १५५)। यस्तु न ग्राहयेच्छिल्पं कर्माण्यन्यानि कारयेत्। प्राप्नुयात्साहसं पूर्वं तस्माच्छिष्यो निवर्तते॥ कात्यायन (अपरार्क पृ० ७९०; पराशरमाधवीय ३, ३३८; विवादरत्नाकर पृ० १४१)।

१०. बहुधार्थभृतः प्रोक्तस्तथाभागभृतोऽपरः। हीनमध्योत्तमत्वं च सर्वेषामेव चोदितम्॥ दिनमासार्धषण्मासत्रिमासाब्दभृतस्तथा। कर्म कुर्यात्प्रतिज्ञातं लभते पारिभाषितम्॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १९६, पराशरमाधवीय ३, पृ० ३३९-४०)।

कात्यायन (७२५) का कथन है कि यदि कोई स्त्री किसी दास से विवाह करती है तो वह अपने पति के स्वामी की दासी हो जाती है।[11] यदि कोई व्यक्ति किसी ब्राह्मण नारी को बेचता है या खरीदता है तो उस लेन-देन में सभी लोगों को राजा द्वारा दण्ड मिलता है और वह व्यापार या कार्य कानून द्वारा तोड़ दिया जाता है। यही नियम उस कुलीन कुटुम्ब की नारी के विषय में भी है जो किसी के यहाँ आश्रय ग्रहण करती है और आश्रयदाता उसे दासी बना लेता है या किसी दूसरे को उसे दासी रूप में दे देता है (कात्यायन ७२६-७२७)। उस व्यक्ति पर दण्ड लगता है जो अपने बच्चे की दाई के साथ सम्भोग करता है या किसी अन्य नारी से जो दासी नहीं है, या अपने नौकर की पत्नी से (मानो वह उसकी दासी है) ऐसा करता है। जो व्यक्ति कष्ट में न रहने पर और प्रचुर सम्पत्ति के रहते हुए अपनी विश्वासपात्र रोती हुई दासी (क्योंकि वह उसे छोड़ना नहीं चाहती) को बेच देना चाहता है, उस पर २०० पण का दण्ड लगता है (कात्यायन, अपरार्क पृ० ७८७; विवादरत्नाकर पृ० १५४-१५५; व्यवहारप्रकाश पृ० ३२३)।[12] नारद (८।४०) के मत से कोई दास अपने स्वामी को छोड़कर किसी अन्य का दास नहीं बन सकता। उशना का कथन है कि कोई गुरुजन (वृद्ध व्यक्ति), सपिण्ड, ब्राह्मण, चाण्डाल या किसी हीन जाति का व्यक्ति दास नहीं बनाया जा सकता और न किसी उच्च जाति के विद्वान व्यक्ति को उससे हीन जाति का व्यक्ति अपना दास बना सकता है।[13]

११. दासेनोढा त्वदासी या सापि दासीत्वमाप्नुयात्। यस्माद् भर्ता प्रभुस्तस्याः स्वाम्यधीनः प्रभुर्यतः॥ कात्यायन (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०१, व्यवहारप्रकाश पृ० ३२२, सरस्वतीविलास पृ० २९४)।

१२. आदद्यात् ब्राह्मणीं यस्तु विक्रीणीत तथैव च। राज्ञा तदकृतं कार्यं दण्ड्याः स्युः सर्व एव ते॥ कामात्तु संश्रितां यस्तु दासीं कुर्यात्कुलस्त्रियम्। संक्रामयेत वान्यत्र दण्ड्यस्तच्चाकृतं भवेत्॥ बालधात्रीमदासीं च दासीमिव भुनक्ति यः। परिचारकपत्नीं वा प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम्॥ विक्रोशमानां यो भक्तां दासीं विक्रेतुमिच्छति। अनापदिस्थः शक्तः सन् प्राप्नुयाद् द्विशतं दमम्॥ कात्यायन (अपरार्क पृ० ७८९, विवादरत्नाकर पृ० १५४-१५५, व्यवहारप्रकाश पृ० ३२२)।

१३. न गुरुर्न सपिण्डश्च न विप्रो नान्त्ययोनयः। दासभावं न तेऽर्हन्ति नच विद्याधिको द्विजः॥ उशना (सरस्वतीविलास पृ० २९६)।

अध्याय २१

संविद्-व्यतिक्रम एवं अन्य व्यवहार-पद

इस अध्याय में हम समयों (संविदभ्युपगमों, समझौतों) अथवा नियमपत्रों तथा अन्य परम्पराओं के व्यतिक्रम के विषय में लिखेंगे। नारद (१३।१) ने इसके लिए **समयस्यानपाकर्म** का प्रयोग किया है, मनु (८।५) ने प्रथम शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु मनु (८।२१८-२१९) में दोनों नामों की ओर संकेत मिलता है, यथा—"अब मैं उन नियमों की व्यवस्था दूँगा जो समयों (परम्पराओं या रूढ़ियों) के व्यतिक्रम-कर्ताओं के लिए प्रयुक्त होते हैं। जो किसी ग्राम के या जिले के निवासियों या व्यापारियों के किसी दल या किसी अन्य प्रकार के लोगों के साथ शपथ लेकर संविद् में आता है और (आगे चलकर) उसका लोभवश अतिक्रमण करता है, वह राजा द्वारा देश-निष्कासन का दण्ड पाता है।' आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।१।१।२० एवं २।४।८।१३) में 'समय' शब्द रूढ़ि या अंगीकृत सिद्धान्त के अर्थ में आया है (**न्यायवित्समय**)।[1] यह शब्द समझौते (एग्रीमेण्ट) के अर्थ में भी लिया गया है (याज्ञ० १।६१), यथा '**गान्धर्वः समयान्मिथः**।' जैसी कि मेधातिथि (मनु ८।२१९) ने व्याख्या की है, इसका अर्थ है "बहुत से लोगों द्वारा किसी विशिष्ट नियम या रूढ़ि या परम्परा का अंगीकार करना।" इससे संकेत मिलता है कि वह नियम किसी दल (संघ या गण) द्वारा अंगीकृत स्थानीय या जातीय प्रचलन से सम्बन्धित होना चाहिए जो दल के सभी सदस्यों को मान्य हो या उन्हें एक सूत्र में बाँध रखता हो। अमरकोश ने **आचार** एवं **संविद्** को **समय** के पर्यायों में गिना है (समयाः शपथाचारकालसिद्धान्त-संविदः)। मेधातिथि (मनु ८।२१९-२२०) ने लिखा है कि यदि किसी ग्राम के वासी यह निर्णय करें कि यदि पड़ोसी ग्राम के लोग उनके खेतों या चरागाहों में अपने पशु लायें या नहरों को अपनी ओर घुमा लें तो वे उनको रोकेंगे तथा ऐसा करने पर यदि मारपीट हो जाय या राजा के यहाँ मुकदमा चलना आरम्भ हो जाय तो सभी एकमत रहेंगे तथा उस व्यक्ति को दण्ड देंगे जो दूसरे ग्राम के मुखिया की ओर मिल जाय तथा विपक्षी की सहायता करे।

नारद (१३।१) के मत से नास्तिकों, नैगमों आदि द्वारा निश्चित नियम (परम्पराएँ) **समय** के उदाहरण हैं। याज्ञ० (२।१९२), नारद (१३।२) का कथन है कि राजा द्वारा पुरों एवं जनपदों के संघों, नैगमों, नास्तिकों, श्रेणियों, पूगों, गणों के नियमों (परम्पराओं या रूढ़ियों) की रक्षा होनी चाहिए और उन्हें कार्यान्वित करना चाहिए। इस भाग के पाँचवें अध्याय ५ में हमने संघों आदि के विषय में कुछ संकेत किया है। हमने दूसरे भाग के दूसरे अध्याय में **श्रेणी, पूग, गण** आदि के अर्थ भी बताये हैं। कुछ अन्य बातें यहाँ दी जा रही हैं।

संघों की मान्यताएँ (समय-क्रिया)

स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २२३) ने विभिन्न समूहों के समयों पर मनोरंजक प्रकाश डाला है जिसे व्यवहार-

१. धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।१।१।२); अङ्गानां तु प्रधानैरव्यपदेश इति न्याय-वित्समयः॥ आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।४।८।१३)।

प्रकाश (पृ० ३३२-३३३) ने ज्यों-का-त्यों ले लिया है।[२] उसका कहना है कि नास्तिक (पाषण्डी) लोग भी अपने मठों के लिए नियम बनाते हैं। **नैगमों** में एक नियम ऐसा है कि जो लोग किसी विशिष्ट वस्त्र से युक्त नौकरों के सन्देश की परवाह नहीं करते वे दण्डित होते हैं। **श्रेणी** शब्द जुलाहों के समान अन्य शिल्पियों के समूह का द्योतक है। उनके ऐसे नियम हैं कि कुछ वस्तुएँ केवक एल दल बेच सकता है अन्य नहीं। **पूग** हाथियों एवं घोड़ों के सवारों के दल को कहते हैं। कात्यायन ने **व्रात** को विभिन्न प्रकार के हथियारों से लैस व्यक्तियों का समूह कहा है। महाभाष्य (पाणिनि ५।२। २१ '**व्रातेन जीवति**') ने इसे उन लोगों का दल माना है जो विभिन्न जातियों एवं वृत्तियों के होते हैं और अपने शक्तिशाली (बलिष्ठ) शरीर पर आश्रित होते हैं। मिताक्षरा के अनुसार वे लोग बौद्धों के समान हैं जो वेद को प्रमाण नहीं मानते। मिताक्षरा के अनुसार **गण** का तात्पर्य उन लोगों से है (अर्थात् उनके दल या समूह से है) जो किसी एक वृत्ति से अपनी जीविका चलाते हैं। कात्यायन (६८०) ने **गण** को ब्राह्मणों का संघ माना है। राजतरंगिणी (२।१३२) में मन्दिरों एवं तीर्थों के पुरोहितों के संघ की ओर संकेत आया है। स्मृतिचन्द्रिका के मत से **पूगों** एवं **व्रातों** में एक ऐसी परम्परा या नियम या समय है कि उन्हें एक साथ समर में जाना चाहिए पृथक्-पृथक् नहीं। **गणों** में एक ऐसी परम्परा है कि बच्चों के कान पाँचवें दिन या पाँच वर्षों के उपरान्त छेदे जाने चाहिए। ब्राह्मणों की एक पुरी (बस्ती) के **महाजनों** में एक ऐसा नियम (परम्परा या समय) है कि यदि कोई ब्राह्मण वैदिक शिक्षा के उपरान्त गुरु-दक्षिणा का धन एकत्र करने के लिए उनके यहाँ जाय तो उसका सम्मान करना चाहिए (अर्थात् उसे चन्दा देना चाहिए)। कुछ जनपदों में ऐसा समय (प्रचलन) है कि क्रेता या विक्रेता अपने हाथ में मूल्य का दशांश रख लेता है (सम्भवतः यह जानने के लिए कि वस्तु उपयोगी है या नहीं और अनुपयोगी सिद्ध होने पर वह वस्तु को लौटा देता है)। दुर्गों या राजधानियों में एक समय ऐसा है कि बाहर जाते समय यदि कोई साथ में अन्न ले जाय तो उसे बेचे नहीं। ग्रामों में ऐसा समय है कि चरागाह न खोदे जायँ। आभीरों के ग्रामों में ऐसा समय है कि स्त्री या पुरुष के व्यभिचार के लिए दण्ड न लगे।

धर्मशास्त्रकार इतने उदार थे कि उन्होंने पाषण्डियों के समयों के पालन के लिए भी राजा को उद्वेलित किया था। केवल इस बात का ध्यान रखा गया था कि समयों का पालन राज्य या राजधानी के विरोध में न जाय और क्रान्ति न उत्पन्न होने पाये और न अनैतिकता प्रदर्शित हो सके (नारद १३।४-५ एवं ७, मेधातिथि, मनु ८।२२०)। याज्ञ० (२।१८८-१९२) ने नियम दिये हैं--संघों, श्रेणियों आदि के व्यापार-कार्य को देखने के लिए कोई सभा (बृहस्पति के अनुसार दो, तीन या पाँच व्यक्तियों की) होनी चाहिए। इन सभाओं के सदस्य धार्मिक, पवित्र, अलोभी होते थे और जो कुछ तय पाता था उसके अनुसार कार्य करते थे। इन्हें **कार्यचिन्तक** की संज्ञा मिली है। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि यदि कार्यचिन्तक लोग संघ के किसी कार्य को लेकर राजा के पास जायँ तो उनको उपहार देकर सम्मानित करना चाहिए। जब कोई व्यक्ति व्यापार के लिए बाहर जाय तो उसे जो कुछ प्राप्ति हो उसे गणों के मुखियों को समर्पित कर देना चाहिए।

२. पूगव्राते चान्योन्यमुत्सृज्य समरे न गन्तव्यमित्यादयः सन्ति समयाः। गणे तु पञ्चमेह्नि पञ्चमे वाब्दे कर्णवेधः कर्तव्य इत्येवमादिरस्ति समयः। गणादिष्वत्रादिशब्देन ब्रह्मपुरीमहाजनः परिगृहीतः। तत्र गुरुदक्षिणाद्यर्थमागतो माननीय इत्यादिसमयोस्ति। दुर्गे तु धान्यादिकं गृहीत्वा अन्यत्र यास्यतो न तद्विक्रेयमित्यस्ति समयः। जनपदे तु क्वचिद्विक्रेतृहस्ते दशबन्धग्रहणं कार्यं क्वचित्क्रेतृहस्ते इत्यादिकोस्त्यनेकविधः समयः। जनपदे तथेत्यत्र तथाशब्दोऽनुक्तग्रामघोषपुरादीनां प्रदर्शनार्थः। तत्र गोप्रचारणस्थाने न खातव्यमित्यादिकोस्ति ग्रामे समयः। आभीरस्त्रीपुरुषव्यभिचारे न दण्ड इत्यादिकोस्ति घोषे समयः। स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २२३ (नारद १३।२--'पाषण्डिनैगमश्रेणीपूगव्रातगणादिषु। संरक्षेत् समयं राजा दुर्गे जनपदे तथा॥)।

यदि वह ऐसा न करे तो उसको उस प्राप्ति का ग्यारह गुना दण्ड रूप में देना पड़ता है।[3] स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २२४) का कथन है कि गण के लाभ में लगे हुए मुख्यों के विरोध में जो जाता है उसे गण द्वारा दण्डित होना पड़ता है। कात्यायन (६७७) ने व्यवस्था दी है कि गण के लिए सभा या सलाहकारों द्वारा जो ऋण लिया जाय, प्राप्त किया जाय, रक्षित किया जाय, राज प्रसादस्वरूप जो कुछ प्राप्त किया जाय, वह सब बराबर-बराबर सभी सदस्यों में बँट जाना चाहिए। कात्यायन (६४४-६४५) का कथन है कि गण के लिए सभा के लोग जो कुछ ऋण लें और उसका दुरुपयोग कर दें या अपने कामों में लगा दें, तो वह सब उन्हें लौटाना पड़ता है; और जो लोग आगे चलकर गण में सम्मिलित होते हैं उन्हें गण के सभी पुराने हानि-लाभों में हाथ बँटाना पड़ता है। मनु (८।२२०) और बृहस्पति ने संघ के साथ कपट करने वाले पर चार सुवर्णों के छः निष्कों (या छः निष्कों तथा चार सुवर्णों) का दण्ड बतलाया है। कात्यायन (६७१) का कथन है कि उस व्यक्ति (सदस्य) को, जो उचित बात का विरोध करता है, जो बोलने वाले को बार-बार टोकता है, या जो व्यर्थ में बक-बक करता है, अर्थ-दण्ड देना पड़ता है। याज्ञ० (२।१८७) के अनुसार गण की सम्पत्ति के दुरुपयोगी तथा नियमों को तोड़ने वाले की सम्पत्ति छीनकर देश-निष्कासन का दण्ड देना चाहिए। मिताक्षरा के अनुसार इस प्रकार के तथा अन्य दण्ड अपराधी के अपराध एवं योग्यता पर निर्भर रहने चाहिए।[4]

क्रयविक्रयानुशय (क्रय-विक्रय के उपरान्त पछतावा या पश्चात्ताप)

मनु (८।२२२) एवं कौटिल्य (३।१५) ने इसे व्यवहार का एक पद या शीर्षक (पूर्वोक्त १८ पदों के अन्तर्गत) माना है। किन्तु नारद (११ एवं १२) ने इसे दो शीर्षकों में विभक्त कर दिया है; **विक्रीयासमादान** (बेच देने के उपरान्त सामान न देना) एवं **क्रीत्वानुशय** (क्रय करने के उपरान्त पश्चात्ताप)। मनु का कथन है कि जब क्रय या विक्रय करने के उपरान्त पछतावा होने लगे तो दस दिनों के भीतर सामान लौटाया जा सकता है। नारद (११।२) के मत से सम्पत्ति दो प्रकार की है; **चल** एवं **अचल**। सभी सम्पत्ति **पण्य** (बिक्री करने योग्य) मानी गयी है। याज्ञ० (२।२५४), नारद (११।४-५) एवं विष्णु (५।१२७) के मत से यदि कोई व्यक्ति सम्पत्ति बेचकर उसे क्रेता को नहीं देता, तो उसे उतने समय (बेचने और देने के बीच की अवधि) तक के हरजाने के साथ उसे देना पड़ता है, यदि वह सम्पत्ति जंगम (चल) हो तो लाभ का मूल्य भी देना पड़ता है।[5] विष्णु० (५।१२८) ने ऐसे विक्रेता पर १०० पणों का दण्ड भी लगाया है। कौटिल्य (२।१५) ने लिखा है कि यदि बिक्री करने के उपरान्त विक्रेता सामान न दे या क्रेता क्रय के उपरान्त उसे न ले जाय तो दोनों को १२-१२ पणों का दण्ड देना चाहिए, किन्तु यदि वस्तु दोषपूर्ण हो या राजा, चोरी, अग्नि या जल द्वारा नष्ट हो जाय, या लेन-देन कम में हुआ हो या कष्ट की स्थिति में क्रय-विक्रय हुआ हो, तो दण्ड नहीं लगता।

३. यत्तैः प्राप्तं रक्षितं वा गणार्थे वा ऋणं कृतम्। राजप्रसादलब्धं च सर्वेषामेव तत्समम्॥ गणमुद्दिश्य यत्किञ्चित्कृत्वर्णं भक्षितं भवेत्। आत्मार्थं विनियक्तं वा देयं तैरेव तद् भवेत्॥ गणानां श्रेणिवर्गाणां गताः स्युर्ये तु मध्यताम्। प्राक्तनस्य धनर्णस्य समांशाः सर्व एव ते॥ कात्यायन (सरस्वतीविलास, पृ० ३३०-३३१; विवादरत्नाकर पृ० १९७; स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २२७; व्यवहारप्रकाश पृ० ३३८)।

४. मनुप्रतिपादितदण्डानां निर्वासनचतुःसुवर्णनिष्कशतमानानामन्यतमो जातिशक्त्याद्यपेक्षया कल्पनीयः। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१८७)।

५. विक्रीय पण्यं मूल्येन क्रेतुर्यो न प्रयच्छति। स्थावरस्योदयं दाप्यो जंगमस्य क्रियाफलम्॥ नारद (११।४)।

यदि बिक्री की हुई वस्तु क्रेता माँगे और विक्रेता न दे तथा वह नष्ट हो जाय, अग्नि में जल जाय, चोरी चली जाय तो विक्रेता को ही हानि उठानी पड़ती है (नारद ११।६, विष्णु ५।१२९, याज्ञ० २।२५६)। ये नियम तभी लागू होते हैं जब कि विक्रेता को बेचने का पश्चात्ताप न हो, किन्तु यदि पश्चात्ताप हो तो मनु (८।२२२) के नियम से दस दिनों के भीतर वह बेची हुई वस्तु लौटा ले सकता है। यही बात कात्यायन (६८४) में भी पायी जाती है।[६] दस दिनों के उपरान्त क्रेता एवं विक्रेता क्रम से लौटा नहीं सकता एवं माँग नहीं सकता, ऐसा करने पर उन्हें ६०० पण अर्थ-दण्ड के रूप में देने पड़ेंगे। मनु ने इन नियमों को सभी प्रकार के लेन-देन तक विस्तारित किया है (८।२२८)। किन्तु कात्यायन (६८५) ने दस दिनों की छूट केवल भूमि के विक्रय एवं क्रय के विषय में दी है; सपिण्डों में इस प्रकार के क्रय-विक्रय के लिए १२ दिनों की छूट है, किन्तु अन्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय में अवधि छोटी होती है।[७] याज्ञ० (२।२५७), नारद (११।७-८) एवं बृहस्पति के मत से यदि कोई विक्रेता मूल्य लेकर किसी को कुछ बेच देता है या किसी सदोष वस्तु को दोषरहित कहकर बेच देता है तो उसे दूना मूल्य देकर वस्तु पुनः ले लेनी पड़ती है और मूल्य के बराबर राजा को अर्थ-दण्ड देना पड़ता है। यह नियम तभी लागू होता है जब कि मूल्य ले लिया गया हो, किन्तु यदि अभी समझौता मात्र हुआ है, मूल्य नहीं दिया गया है तो क्रेता एवं विक्रेता दोषमुक्त माने जायँगे, अन्यथा नहीं (नारद ११।१०)। यदि बिक्री के पूर्व क्रेता कुछ धन अग्रिम (सत्यंकार रूप में, बयाना) दिये रहता है और विक्रेता के दोष से सामान बिक जाता है, तो उसे क्रेता को सत्यंकार धन का दूना लौटाना पड़ता है, किन्तु यदि क्रेता उस सामान को आगे चलकर नहीं खरीदता है तो वह सामान तथा सत्यंकार (बयाना) दोनों खो बैठता है।[८] नारद (१२।१) का कथन है कि यदि क्रेता मूल्य दे देने के उपरान्त क्रय का पश्चात्ताप करता है तो इसे 'क्रय का निरसन' शीर्षक कहा जाता है। नारद (१२।२) ने व्यवस्था दी है कि उसी दिन उसी रूप में क्रीत वस्तु लौटायी जा सकती है, किन्तु यदि दूसरे या तीसरे दिन लौटायी जाय तो क्रम से मूल्य का तीसवाँ या पचासवाँ भाग कट जाता है, और तीसरे दिन के उपरान्त तो द्रव्य (वस्तु) लौटाया ही नहीं जा सकता (नारद १२।३)। किन्तु याज्ञ० (२।१७७) एवं नारद (१२।५-६) ने द्रव्य-परीक्षण के लिए निम्नलिखित अवधियाँ दी हैं--लोहे (एवं वस्त्र), दुधारू पशु, भारवाही पशु, रत्न (बहुमूल्य प्रस्तर, मोती एवं मूँगा), सभी प्रकार के अन्न, दास एवं दासी के लिए क्रम से १, ३, ५, ७, १० दिन, आधा मास एवं एक मास। ये उल्लेख मनु (८।२२२) द्वारा प्रतिपादित सामान्य नियम के अपवाद हैं। कौटिल्य (३।१५) ने व्यापारियों, कर्षकों, चरवाहों एवं वर्णसंकरों तथा उच्चवर्णों को वस्तु लौटाने के लिए क्रम से एक, तीन, पाँच एवं सात रात्रियों की छूट दी है। नारद (१२।४) एवं बृहस्पति ने लिखा है कि क्रेता को चाहिए कि वह क्रय की जानेवाली वस्तु का स्वयं निरीक्षण कर ले और अन्य लोगों को दिखाकर उसके गुण-दोषों की परख कर ले, क्योंकि अत्यन्त परीक्षण के उपरान्त क्रीत वस्तु

६. एवं धर्मो दशाहात्तु परतोऽनुशयो न तु। कात्यायन ६८४ (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २१८; विवादरत्नाकर पृ० १९२; पराशरमाधवीय ३, पृ० ३६७)।

७. भूमेर्दशाहे विक्रेतुरायस्तत्क्रेतुरेव च। द्वादशाहः सपिण्डानामपि चाल्पमतः परम्॥ कात्यायन (६८५, पराशरमाधवीय ३, पृ० ३६४)।

८. सत्यंकारकृतं द्रव्यं द्विगुणं प्रतिदापयेत्। याज्ञ० (२।६१); और देखिए इस पर मिताक्षरा। सत्यंकारं च यो दत्त्वा यथाकालं न दृश्यते। पण्य भवेन्निसृष्टं तद्दीयमानमगृह्णतः॥ व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २२०; पराशरमाधवीय ३, पृ० ३७०)। क्लीबे सत्यापनं सत्यंकारः सत्याकृतिः स्त्रियाम्। अमरकोश, जिस पर क्षीरस्वामी ने कहा है--'अवश्यं मयैतद् विक्रेयमिति सत्यस्य करणं सत्यापनम्' (दे० पाणिनि ६।३।७०)।

लौटायी नहीं जा सकती। व्यास का कथन है कि चर्म, काष्ठ, ईंटें, सूत, अन्न, आसव, रस, सोना, कम मूल्य की धातुएँ (राँगा आदि) एवं अन्य सामान जब अति परीक्षण के उपरान्त क्रीत कर लिये जाते हैं तो आगे चलकर उनमें दोष रहने पर भी वे लौटाये नहीं जा सकते।[९] नारद के उपर्युक्त (१२।५-६) वचन इस नियम के अपवाद हैं। नारद (१२।७) का कहना है कि यदि कोई सदोष वस्तु जान-बूझकर निरीक्षण के उपरान्त खरीदी जाय तो वह लौटायी नहीं जा सकती। यदि क्रीत वस्तु दुकान से न उठायी जाय तो विक्रेता उसे पुनः बेच सकता है और यदि क्रीत वस्तु दैवसंयोग या राजा के कारण नष्ट हो जाय तो क्रेता को हानि उठानी पड़ती है (याज्ञ० २।२५५ एवं नारद ११।९)। कात्यायन (६९२) के अनुसार यदि कोई वस्तु मत्त, उन्मत्त, अस्वतन्त्र, मुग्ध लोगों से खरीदी जाय तो उसे लौटाना पड़ता है और वह विक्रेता की ही मानी जाती है। उचित एवं अनुचित मूल्य के विषय में कात्यायन (७०५-७०६) ने एक विचित्र नियम दिया है--जो एकत्र हुए पड़ोसियों द्वारा निश्चित एवं निर्णीत हो (भूमि एवं उसका मूल्य) और जो पापभीरु लोगों द्वारा निर्णीत भूमि, वाटिका, घर, पक्षी एवं चौपाये का मूल्य हो वह उचित मूल्य कहलाता है; जो मूल्य उसके आठवें भाग के बराबर कम या अधिक हो वह अनुचित कहलाता है। जो वस्तु अनुचित मूल्य पर बेची जाय वह सौ वर्षों के उपरान्त भी लौटायी या लौटा ली जा सकती है। कात्यायन (७०४) का कथन है कि यदि भूमि का स्वामी कर-प्रतिभू (कर देने के लिए जामिन) के साथ भाग जाता है तो न्यायाधीश कर-प्राप्ति के लिए भूमि को बक्री पर चढ़ा सकता है, किन्तु यह बिक्री दस वर्षों के भीतर रद्द की जा सकती है और तीन पीढ़ियों तक मध्यस्थावलम्बन नियम द्वारा आदान-प्रदान किया जा सकता है। भारद्वाज का कथन है कि यदि करदाता एवं प्रतिभू द्वारा कर न दिया जाय तो राजा उस भूमि से या उसकी बिक्री से कर वसूल कर सकता है।[१०]

उक्तलाभ--यह वह बिक्री है जो समय (करार) युक्त या सोपाधिक कही जाती है। जब कोई व्यक्ति किसी भूमि को मूल्य का केवल एक अंश देकर उधार लेता है और प्रतिज्ञा करता है कि बाकी मूल्य किसी निश्चित तिथि को लौटा देगा। वह आगे चलकर यदि ऐसा नहीं कर पाता, तब उसका उस भूमि पर स्वामित्व समाप्त हो जाता है।[११] कात्यायन (७११) के मत से **उक्तलाभ** के प्रकार की बिक्री तभी नियमानुकूल है जब कि भूमि के उचित मूल्य का आधा दिया जाय और दस वर्षों का समय किया गया हो।

अवक्रय--तीन पीढ़ियों के भोग के उपरान्त **अवक्रय** नियमानुकूल हो जाता है और परस्पर समझौते के अनुसार किया गया **रुचिक्रय** तुरत नियमबद्ध हो जाता है।[१२] **अवक्रय** शब्द कई प्रकार से समझाया गया है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।-

९. **चर्मकाष्ठेष्टकासूत्रधान्यासवरसस्य तु। वसुकुप्यहिरण्यानां सद्य एव परीक्षणम्॥ व्यास** (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २२०; विवादरत्नाकर पृ० १९८; व्यवहारप्रकाश पृ० ३३९)।

१०. **पलायिते तु करदे करप्रतिभुवा सह। करार्थं करदक्षेत्रं विक्रीणीयुः सभासदः॥ सन्धिश्च परिवृत्तिश्च विषमा वा त्रिभोगतः। आज्ञयापि क्रयश्चापि दशाब्दं विनिवर्तयेत्॥ कात्यायन एवं वृद्ध कात्यायन** (सरस्वतीविलास पृ० ३२४, व्यवहारनिर्णय पृ० ३४८); **आज्ञाधिस्तत्क्रयश्चैव करे दण्डो विधीयते। उभावन्यत्र न स्यातामिति धर्मविदो विदुः॥ भारद्वाज** (सरस्वतीविलास, पृ० ३२४)।

११. **किञ्चिच्च द्रव्यमादाय काले दास्यामि ते क्वचित्। नो चेन्मूलमिदं त्यक्तं केदारस्यति यः क्रयः। स उक्तलाभ इत्युक्त उक्तकालेऽप्यनर्पणात्॥ भारद्वाज** (व्यवहारनिर्णय पृ० ३५१; सरस्वतीविलास पृ० ३२४)।

१२. **अर्धाधिके क्रयः सिध्येदुक्तलाभो दशाब्दिकः। अवक्रयस्त्रिभोगेन सद्य एव रुचिक्रयः॥ कात्यायन** (७११, व्यवहारनिर्णय पृ० ३४९; सरस्वतीविलास पृ० ३२६)।

२३८) के मत से अवक्रय वह है जिसमें एक अमानतदार अपनी अमानत की वस्तु किसी दूसरे को किराये पर दे देता है। पाणिनि (४।४।५०) ने अवक्रय का प्रयोग दूसरे अर्थ में किया है; किसी बाजार आदि से राजा द्वारा लिया जानेवाला धन। गौतम (१२।३९) के 'अवक्रीत' शब्द को हरदत्त ने यों समझाया है--'जो खरीदा गया हो, किन्तु मूल्य न दिया गया हो या केवल कुछ अंश ही दिया गया हो।' सम्भवतः कात्यायन ने इसी अर्थ की ओर संकेत किया है। सुमन्तु (सरस्वती-विलास, पृ० ३२१) ने अवक्रय को यों समझाया है--'यदि क्रय के उपरान्त केवल आधा मूल्य दिया गया हो तो अवधि के भीतर न देने से अवक्रय रद्द हो जाता है।' कात्यायन (७१२) के मत से यदि अवधि निश्चित न हो तो माँगने पर बिक्री के न दिये हुए धन पर चक्रवृद्धि ब्याज लग जाता है। किन्तु निश्चित अवधि पर समय के भीतर केवल शेष धन दिया जाता है। बृहस्पति के अनुसार बिक्री में कूप, वृक्ष, अन्न, फल, जलाशय आदि लिखित होने चाहिए, अन्यथा ये वस्तुएँ विक्रेता की हो जायँगी। हारीत के अनुसार ये नियम आदान-प्रदान (विनिमय) के विषय में भी लागू होने चाहिए।[13] राजतरंगिणी (६।४१) में आया है कि जब अधिकृत लिपिक ने १००० दीनार घूस लेकर गृह के क्रय-लेख में कूप भी सम्मिलित कर दिया तो उसे राजा द्वारा देश-निष्कासन का दण्ड मिला और उसकी सम्पत्ति छीनकर वंचित दल को दे दी गयी।

व्यवहारनिर्णय ने बृहस्पति एवं व्यास के उद्धरण देते हुए बिक्री, खरीद, आदान-प्रदान (विक्रय, क्रय, विनिमय) आदि के विषय में सुन्दर विवेचन उपस्थित किया है--सोना जैसी वस्तुएँ **मूल्य** के रूप में ली या दी जाती हैं और भूमि, गृह जैसी वस्तुएँ **पण्य** (क्रय-विक्रय के योग्य) कही जाती हैं। **क्रय** का तात्पर्य है किसी वस्तु की उसके मूल्य (दिये गये अथवा देने के लिए केवल प्रतिश्रुत होने पर) देने के पूर्व की स्वीकृति। **विक्रय** का तात्पर्य है किसी मूल्य की पण्य देने के पूर्व की स्वीकृति। **परिवृत्ति** या **परिवर्तना** (अदल-बदल) का तात्पर्य है एक ही प्रकार (सजातीय) की वस्तुओं के अदले-बदले की स्वीकृति। जब दो वस्तुओं के परिवर्तन के मूल्य में अन्तर हो तो उसे **अवक्रय** कहा जाता है। जब दो भिन्न प्रकार की (विजातीय) वस्तुओं का (मूल्य समान होने पर) परिवर्तन हो तो उसे **विनिमय** कहा जाता है।[14]

कर न देने पर राजा की आज्ञा से भूमि की बिक्री सम्भव है। प्रजापति का उद्धरण देकर व्यवहारनिर्णय (पृ०

१३. विक्रयेषु च सर्वेषु कूपवृक्षादि लेखयेत्। जलमार्गादि यत्किञ्चिदन्यच्चैव बृहस्पतिः।। क्षेत्राद्युपेतं परिपक्वसस्यं वृक्षं फलं वाप्युपभोगयोग्यम्। कूपं तटाकं गृहमुन्नतं च क्रीतेपि विक्रेतुरिदं वदन्ति।। बृहस्पति (व्यवहारनिर्णय पृ० ३४९; सरस्वतीविलास पृ० ३२६)। मत्तमूढानभिज्ञातभीतैर्विनिमयः कृतः। यच्चानुचितमूल्यं स्यात्सर्वं तद् विनिवर्तते।। हारीत (सरस्वतीविलास पृ० ३२६)।

१४. स (बृहस्पतिः) एवाह--आत्मीयस्य विजातीयं द्रव्यमादाय चान्यतः। क्रयोत्थस्य (क्रयोर्थस्य ?) परित्यागः साम्ये तु परिवर्तना।। इति। व्यास। आत्मीयस्य विजातीयं द्रव्यमादाय चान्यतः। क्रयो मूल्यस्य संत्यागः स्वत्वहेतुः परस्परम्।। परिवृत्तिः सजातीयद्रव्ये विनिमयः स्मृतः। वैषम्ये विक्रयः प्रोक्तो मिश्रे विनिमयः स्मृतः।। इति। स्वत्वहेतुफलजनका एते क्रयविक्रयपरिवर्तनविनिमया इति। तत्र लोके जिहासितं सुवर्णादि मूल्यमुच्यते। उपादित्सितं क्षेत्रगृहादि पण्यमित्युच्यते। तत्र मूल्यत्यागपूर्वकपण्यस्वीकारः क्रयः। पण्यत्यागपूर्वको मूल्ये स्वत्वजनको मूल्यस्वीकारो विक्रयः। सजातीयत्यागपूर्वकः सजातीयस्य स्वीकारः परिवर्तना। वैषम्ये सति परिवर्तनैवावक्रयशब्देनोच्यते। विजातीयसजातीयमिश्रपरिवर्तनायां विजातीयाधिक्येऽवक्रयो भवति, सजातीयाधिक्ये परिवर्तना भवति। सजातीयविजातीययोः साम्ये विनिमयो भवति। व्यवहारनिर्णय, पृ० ३४७-३४८। क्रय की यह परिभाषा बिल्कुल आधुनिक-सी लगती है।

३५०) ने बताया है कि ऐसी भूमि का आधा या एक-चौथाई मूल्य देकर उसे कोई क्रय कर सकता है, किन्तु वास्तविक स्वामी पूरा मूल्य तीन पीढ़ियों तक देकर उस भूमि को पुनः प्राप्त कर सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि भूमि पर प्रजा का अधिकार था और राजा को केवल कर प्राप्त होता था। इस विषय में हमने इस ग्रंथ के द्वितीय भाग में विस्तार के साथ पढ़ लिया है। पूर्वमीमांसा, व्यवहारमयूख तथा कात्यायन के कथनों से प्रकट होता है कि सामान्य रूप से भूमि पर राज्य का ही अधिकार था, किन्तु जहाँ व्यक्ति या व्यक्तियों के दल भूमि को जोतते थे और बहुत काल से उसका उपभोग करते थे वहाँ राज्य का स्वामित्व सीमित या नियत था और वह केवल कर-प्राप्ति या अन्न-ग्रहण तक मर्यादित था एवं कर्षण करने वालों को ही भूमि का स्वामित्व प्राप्त था; राज्य को कर देना पड़ता था किन्तु कर न देने पर उस भूमि को राज्य बेच सकता था। व्यवहारनिर्णय ने बृहस्पति आदि का हवाला देकर लिखा है कि शूद्र, पतित, चाण्डाल, एवं आततायी को ब्राह्मण की भूमि खरीदने का अधिकार नहीं था, वे न तो उसे प्राप्त कर सकते थे और न पारिश्रमिक (वेतन) के रूप में ग्रहण कर सकते थे। व्यवहारनिर्णय ने पुनः व्यास, बृहस्पति एवं भारद्वाज का उद्धरण देकर कहा है कि जब भूमि बेच दी जाती थी तो भाइयों, सपिण्डों, समानोदकों, सगोत्रों, पड़ोसियों, ऋणदाताओं एवं ग्रामवासियों को क्रम से उसका पूर्व क्रयाधिकार (हकसफा) प्राप्त था, अर्थात् वे उसे प्राप्त कर सकते थे।[१५]

अति प्राचीन काल में अचल सम्पत्ति का दान अच्छा नहीं माना जाता था, किन्तु उपनिषदों के काल में भी ऐसा होता पाया गया है। किन्तु पितृसत्तात्मक एवं संयुक्त कुटुम्ब की स्थिति के कारण भूमि-विक्रय बहुत ही कम सम्भव था। मिताक्षरा (याज्ञ० (२।११४) ने स्थावर सम्पत्ति के विक्रय को वर्जित माना है[१६], किन्तु बहुत से ताम्रपत्रों में भूमि-विक्रय का उल्लेख मिलता है (देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका २०, पृ० ५९; १७, पृ०३४५; १५, पृ० ११३; इण्डियन ऐण्टिक्वेरी ३९, पृ० १९३; एपिग्रैफिया इण्डिका १४, ७४--जहाँ पर क्रम से पहाड़पुर, दामोदरपुर, फरीदपुर आदि के अभिलेखों में भूमि-दान का वर्णन है)। पाँचवीं एवं छठी शताब्दियों के अभिलेखों से प्रकट होता है कि भूमि पर व्यक्तियों या संयुक्त परिवारों या ग्राम-संघों या राजा का स्वामित्व था और उसे बेचने की एक विशिष्ट विधि थी। क्रयकर्ता पहले जनपद के राजपुरुषों के यहाँ पहुँचता था और पुस्तपालों (जो भूमि का लेखा-जोखा रखते थे) एवं ग्राम-मुख्यों से पूछ-ताछ करता था जो क्रय की भूमि पर चिह्न लगा देते थे। ऐसा लगता है कि स्मृतियों ने दान के रूप में ही क्रय को बाँध रखा है, क्योंकि उन दिनों क्रय की अपेक्षा दान ही अति प्रचलित था। मिताक्षरा (याज्ञ० २।११४) ने एक स्मृति का हवाला देकर कहा है कि ग्रामवासियों, सजातियों (अपने सम्बन्धियों), पड़ोसियों एवं दायादों की सम्मति से ही सोना एवं जल के अर्पण के साथ भूमि दी जाती थी।[१७] मिताक्षरा का कथन है कि ये बातें बहुत आवश्यक नहीं हैं, केवल सहूलियत एवं सुरक्षा की दृष्टि से ही ये दे दी गयी हैं, क्योंकि ग्रामवासियों आदि की स्वीकृति से आगे के सीमा-

१५. व्यासः--ज्ञातिसामन्तधनिकाः क्रमेण क्रयहेतवः। तत्रासन्नतराः पूर्वं सपिण्डाश्च क्रये मताः।। बृहस्पति। सोदराश्च सपिण्डाश्च सोदकाश्च सगोत्रिणः। सामन्ता धनिका ग्राम्याः सप्तैते भूक्रये मताः।। व्यवहारनिर्णय (पृ० ३५५-५६)।

१६. स्थावरे विक्रयो नास्ति कुर्यादाधिमनुज्ञया। मिताक्षरा (याज्ञ० २।११४) द्वारा उद्धृत।

१७. यदपि--स्वग्रामज्ञातिसामन्तदायादानुमतेन च। हिरण्योदकदानेन षड्भिर्गच्छति मेदिनी।। इति तत्रापि ग्रामानुमतिः 'प्रतिग्रहः प्रकाशः स्यात् स्थावराय (स्थावरस्य ?) विशेषतः' इति स्मरणाद् व्यवहारप्रकाशनार्थं सैवापेक्ष्यते न पुनर्ग्रामानुमत्या विना व्यवहारासिद्धिः।... विक्रयेपि कर्तव्ये सहिरण्यमुदकं दत्त्वा दानरूपेण स्थावरविक्रयं कुर्यादित्यर्थः। मिताक्षरा (याज्ञ० २।११४ एवं २।१७६)।

विवाद आदि अन्य झगड़े नहीं उत्पन्न होंगे। बिना इनके भी भू-क्रय उचित एवं पूर्ण माना जाता है। जल एवं सोना इसलिए दिये जाते हैं कि क्रय को दान की धार्मिकता भी प्राप्त हो जाय।

स्वामि-पाल विवाद

स्वामि-पालविवाद का मतलब है पशुओं के स्वामी एवं उनके रक्षक नौकरों के बीच के झगड़े। कृषिप्रधान देश भारत के अंदर आदि काल में स्वामि-पालविवाद बहुधा हुआ करता था। नारद ने इसको संभवतः **वेतनस्यानपाकर्म** नामक शीर्षक के अन्तर्गत रखा है। याज्ञ० (२।१६४) एवं नारद (९।११) ने व्यवस्था दी है कि पशुपाल को प्रातःकाल प्राप्त पशुओं को चराकर तथा उन्हें पानी पिलाकर सायंकाल लौटा देना चाहिए। मनु (८।२३०) के मत से पशुओं की सुरक्षा का उत्तरदायित्व दिन में पशुपाल पर तथा रात्रि में स्वामी पर रहता है (यदि पशु रात्रि में स्वामी के यहाँ बाँधे जाते हों)। यदि वेतन पूर्व से निश्चित न हो तो पशुपाल सौ गायों पर प्रति आठवें दिन सब दूध तथा प्रति वर्ष एक बछड़ा (दो वर्ष का) पाता है और दो सौ गायों पर एक दुधारू गाय (बछड़े के साथ) पाता है (नारद ९।१० एवं बृहस्पति)। मनु (८।२३१) ने कुछ और ही कहा है—यदि वेतन न तय हो तो पशुपाल दस गायों में एक सर्वोत्तम गाय का दूध स्वामी की आज्ञा से दुह सकता है। पशुपाल को पशुओं की सुरक्षा का ध्यान रखना पड़ता था और उन्हें आपत्तियों एवं दुर्घटनाओं से बचाने के लिए अपनी ओर से सब कुछ करना पड़ता था और असमर्थ होने पर स्वामी को तुरंत सूचना देनी पड़ती थी, यथा—कीड़ों (सर्प आदि), चोरों, व्याघ्रों, गड्ढों, कन्दराओं से भली भाँति बचाना होता था (नारद ९।१२, बृहस्पति)।[१८] यदि वह ऐसा नहीं करता था तो उसे नष्ट हुए पशु का हरजाना तथा अर्थ-दण्ड (राजा द्वारा व्यवस्थित) देना पड़ता था (नारद ९।१३)। और देखिए मनु (८।२३२ एवं २३५), याज्ञ० (२।१६४-१६५), विष्णु० (५।१३७-१३८), नारद (९।१४-१५)। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।२।२८।६) ने भी इसी प्रकार की दण्ड-व्यवस्था दी है।[१९] उपर्युक्त नियमों के कुछ अपवाद भी हैं, यदि चोरों का आक्रमण हो और पशु उठा लिये जायँ या भेड़ियों के आक्रमण से कुछ पशु मृत हो जायँ और पशुपाल समय एवं स्थान के अनुसार सूचना दे दे तो उसे दण्डित नहीं होना पड़ता (मनु ८।२३३-२३६, नारद ९।१६ एवं व्यास)। कुछ स्थितियों में पशुपाल को विपत्ति-ग्रस्त दशाओं के चिह्न प्रदर्शित करने पड़ते थे, यथा—उसे मृत पशु के बाल, सींग, अस्थिपंजर, कान, पूँछ आदि लाकर स्वामी को दिखाने पड़ते थे, तभी उसे दण्ड से छुटकारा मिलना संभव था (मनु ८।२३४, नारद ९।१७)। व्यास का कथन है कि वेतन ले लेने पर यदि पशुपाल पशुओं को निर्जन वन में अरक्षित छोड़कर ग्राम में घूमता पाया जाय तो उसे राजा द्वारा दण्डित होना पड़ता है।[२०]

याज्ञ० (२।१६६) के मत से ग्रामवासियों एवं राजा को चाहिए कि वे अपनी इच्छा के अनुकूल चरागाह

१८. **कृमिचोरव्याघ्रभयाद्दरीश्वभ्राच्च पालयेत्। व्यायच्छेच्छक्तितः क्रोशेत्स्वामिने वा निवेदयेत्॥ बृहस्पति (विवादरत्नाकर पृ० १७२, व्यवहारप्रकाश पृ० ३४७; स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०८)।**

१९. **दिवा पशूनां वृकाद्युपघाते पाले त्वनायति पालदोषः। विनष्टपशुमूल्यं च स्वामिने दद्यात्। विष्णुधर्मसूत्र (५।१३७-१३८); अवरुध्य पशून् मारणे नाशने वा स्वामिभ्योऽवसृजेत्। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।२।२८।६)।**

२०. **पालग्राहे ग्रामघाते तथा राष्ट्रस्य विभ्रमे। यत्प्रणष्टं हृतं वा स्यान्न पालस्तत्र किल्विषी॥ व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०७, विवादरत्नाकर पृ० १७२ एवं अपरार्क पृ० ७७२); मृतेषु च विशुद्धिः स्याद् बालशृंगादिदर्शनात्। नारद (९।१७); गृहीतमूल्यो गोपालस्तांस्त्यक्त्वा निर्जने वने। ग्रामचारी नृपैर्बाध्यः शलाकी च वनेचरः॥ व्यास (व्यवहारप्रकाश पृ० ३४७), यहाँ 'शलाकी' का तात्पर्य है नाई (नापित)।**

छोड़ें जिसमें पशु आदि चर सकें। मनु (८।२३७) एवं याज्ञ० (२।१६७) ने व्यवस्था दी है कि गाँव, खर्वट एवं नगर के चारों ओर क्रम से १००, २०० एवं ४०० धनुओं के विस्तार में बिना जोती हुई भूमि चरागाह के लिए छोड़ दी जाय।[२१] कात्यायन (६६६) ने लिखा है कि जंगल के पास की भूमि के स्वामी को खेतों को बाड़ से घेर देना चाहिए, अन्यथा हरिण आदि पशु एक बार सुस्वादु अन्न खाकर परच सकते हैं और तब खेतों की रक्षा कठिनाई से होगी।[२२] गाँव या सड़क के पास की भूमि (जहाँ खेती हो) को इतनी ऊँची खाई या इतने ऊँचे बाड़ों से घेर देनी चाहिए कि ऊँट ऊपर से, घोड़े कूद कर, कुत्ते या सूअर छेदों से उसकी उपज को नष्ट न कर सकें (मनु० ८।२३८=मत्स्यपुराण २२७।२५; नारद १४। ४१)। यदि ऐसा नहीं किया जाय तो गोपाल (चरवाहा या गोरखिया) का कोई दोष नहीं समझा जाय (मनु ८। २३८=मत्स्यपुराण २२७।२६; याज्ञ० २।१६२ एवं नारद १४।४०)। यदि बाड़ के रहते हुए पशु खेतों में प्रविष्ट होकर उसकी उपज नष्ट कर दें तो गोरखिये को दण्डित होना पड़ता है (आपस्तम्ब० २।२।२८।५; मनु ८।२४०; नारद १४।२८ एवं कात्यायन ६६४-६६५)। ऐसी स्थिति में पशुओं को मारकर खदेड़ा जा सकता है और गोपाल (चरवाहे) को १०० पण दण्ड देना पड़ता है। विशेष अध्ययन के लिए देखिए याज्ञ० (२।१५९-१६१) मनु (८।२४१), नारद (१४।२८-२९), कात्यायन (६६७)। गौतम (१२।१९-२२) एवं कौटिल्य (३।१०) ने भी इस पर व्यवस्था दी है। जो लोग जान-बूझकर खेतों को चरा लेते थे उन्हें चोरों का दण्ड मिलता था (नारद १४।३४)।

प्राचीन भारत में कुछ पशुओं के प्रति कुछ परिस्थितियों में बड़ी सुकुमार भावनाएँ थीं। नारद (१४।३०), याज्ञ० (२।१६३), मनु (८।२४२), कौटिल्य (३।१०) उशना आदि ने व्यवस्था दी है कि बच्चा देने के दस दिनों के भीतर की गायों, बैलों, अश्वों, हाथियों, देवों एवं पूर्वपुरुषों के सम्मान में छोड़े गये पशुओं, खूँटा से तुड़ाये हुए घरेलू पशुओं अथवा अरक्षित तथा घायल पशुओं को खेत से हाँक देना चाहिए और उनके स्वामियों को दण्डित नहीं करना चाहिए। उशना का कथन है कि अश्वों एवं हाथियों के प्रति मधुर भाव इसलिए रखना चाहिए कि वे प्रजापाल कहे जाते हैं।[२३] अपरार्क (पृ० ७७१) का कथन है कि यह छूट केवल राजाओं के घोड़ों एवं हाथियों के लिए है। उशना के अनुसार उत्सवों एवं श्राद्धों के समय में हानि करने वाली गायों के स्वामियों को दण्डित नहीं करना चाहिए। उन्होंने पुनः कहा है कि जो लोग खेती नष्ट करने वाली गायों के स्वामियों से हरजाना माँगते हैं उनके पितरों एवं देवों को उनके द्वारा दी गयीं आहुतियाँ नहीं प्राप्त होतीं।[२४] पराशरमाधवीय (३, पृ० ३८५) की व्याख्या से प्रकट होता है कि यहाँ पर ऐसे चरे गये खेतों की ओर संकेत है जो ग्राम के पास होते हैं और मदनरत्न ने श्राद्ध के समय चरे गये खेतों की ओर संकेत किया है। बृहस्पति, याज्ञ० (२।१६१) एवं नारद (१४।३८) ने ऐसी स्थिति में पड़ोसियों द्वारा निर्णीत बात को मान्य ठहराया है।

२१. एक धनु बराबर होता है चार हाथ या ६ फुटों के।

२२. अजातेष्वेव सस्येषु कुर्यादावरणं महत्। दुःखेनेह निवार्यन्ते लब्धस्वादुरसा मृगाः।। कात्यायन (६६६, अपरार्क पृ० ७७०; स्मृतिचन्द्रिका, २ पृ० २०९)।

२३. ग्रामदेववृषा वा अनिर्दशाहा वा धेनुरुक्षाणो गोवृषाश्चादण्ड्याः। अर्थशास्त्र (३।१०)। अदण्ड्या हस्तिनो ह्यश्वाः प्रजापाला हि ते स्मृताः। अदण्ड्यौ काणकुब्जौ च ये शश्वत्कृतलक्षणाः।। अदण्ड्यागन्तुकी गौश्च सूतिका वाभिसारिणी। अदण्ड्याश्चोत्सवे गावः श्राद्धकाले तथैव च।। उशना (मिताक्षरा, याज्ञ० २।१६३; विवादरत्नाकर पृ० २४०)। मिलाइए नारद (१४।३१-३२)। मनु (८।२४२) ने 'देवपशून्' की चर्चा की है जिसे स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २१२) ने यों समझाया है--देवपशवो हि देवताप्रतिमादीनां क्षीरस्नानाद्यर्थं तदुद्देशेन दत्ताः।

२४. गोभिर्विनाशितं धान्यं यो नरः प्रतियाचते। पितरस्तस्य नाश्नन्ति नाश्नन्ति त्रिदिवौकसः।। उशना (अपरार्क पृ० ७७०; विवादरत्नाकर पृ० २३२)।

अध्याय २२

सीमाविवाद

नारद (१४।१) ने ऐसे झगड़ों को, जिनमें सेतु या बाँध, खेतों की सीमा, उर्वर एवं अनुर्वर खेत के झगड़े सम्मिलित हों, **क्षेत्रज विवाद** की संज्ञा दी है।[1] नारद ने सम्भवतः मनु के **सीमाविवाद** शब्द को सभी प्रकार के खेत-सम्बन्धी झगड़ों के अर्थ में लिया है। कात्यायन (७३२) ने भूमि-सम्बन्धी विवादों के कारणों के छः प्रकार दिये हैं--अधिक भूमि माँगना, दूसरे को कम भूमि देने का अधिकार जताना, अंश (भाग) का अधिकार जताना, दूसरे के अंश या भाग को न मानना, न भोगी हुई भूमि पर भोग जताना तथा सीमा।[2] इन सभी कारणों में 'सीमा' के झगड़े परोक्ष या प्रत्यक्ष ढंग से आ जाते हैं, अतः इनको 'सीमाविवाद' शीर्षक के अन्तर्गत रखा जाना उपयुक्त ही है। सीमाविवाद का सम्बन्ध जनपद (जिला), ग्राम, खेत या गृह की सीमाओं से है। नारद के अनुसार सीमाएँ पाँच प्रकार की होती हैं--**ध्वजिनी** (डण्डों के समान वृक्षों वाली), **मत्स्यिनी** (मछलियों वाली अर्थात् तालाबों तथा जलाशयों के घेरे वाली), **नैधानी** (गुप्त चिह्नों वाली, यथा--भूसा, ईंटों, हड्डियों आदि से पूर्ण मृद्भाण्डों वाली), **भयवर्जिता** (जो दलों द्वारा निर्णीत हो), **राजशासननीता** (राजा द्वारा निर्णीत)। मनु (८।२४६-२४७) ने लिखा है कि अश्वत्थों, सेमलों, शालों, ताड़ों, उदुम्बरों, बाँसों, झाड़ियों आदि से सीमाएँ व्यक्त होती हैं। नदियों के प्रवाहों, जिनमें मछलियाँ, कछुए आदि होते हैं, तालाबों एवं जलाशयों से प्राकृतिक सीमाएँ बनती हैं (मनु ८।२४८)। मिट्टी के बरतनों में भूसा, कोयला, ईंट-पत्थर, हड्डियाँ आदि रखकर, उन्हें भूमि में गाड़ दिया जाता है जिससे पानी से कटकर भूमि नदी-नालों के रूप में परिवर्तित न हो जाय। इन वस्तुओं से भूमि-सीमा भी बन जाती है और इसी से ऐसी सीमा को **नैधानी** या **उपच्छन्न** (मनु।२५०-२५१) कहा जाता है, क्योंकि ये वस्तुएँ पृथिवी में गड़ी रहती हैं और सीमा निर्धारण भी करती हैं। बृहस्पति का कथन है कि ग्राम-स्थापना के समय **प्रकाश** (सुस्पष्ट एवं लक्षित) एवं **उपांशु** या **उपच्छन्न** (गुप्त या छिपे हुए) लक्षणों से युक्त सीमाएँ निर्धारित होनी चाहिए और स्मृतिचन्द्रिका के अनुसार प्रस्तरों की पंक्तियों से सीमाएँ बनानी[3]

१. सेतुकेदारमर्यादाविक्रुष्टाकृष्टनिश्चये। क्षेत्राधिकारो यस्तु स्याद्विवादः क्षेत्रजस्तु सः॥ नारद (१४।१)। विवादरत्नाकर (पृ० २०१) ने 'सेतुकेदार' को एक शब्द माना है, किन्तु व्यवहारप्रकाश (पृ० ३५३) ने 'केदार' एवं 'मर्यादा' को अलग-अलग माना है। विक्रुष्टो लांगलप्रहतो देशः, अकृष्टस्तद्रहितः। व्यवहारप्रकाश (पृ० ३५३)।

२. आधिक्यं न्यूनता चांशे अस्तिनास्तित्वमेव च। अभोगभुक्तिः सीमा च षड् भूवादस्य हेतवः॥ कात्यायन (७३२, मिताक्षरा, याज्ञ० २।१५०; विवादरत्नाकर पृ० २०१; अपरार्क पृ० ७५९; व्यवहारप्रकाश पृ० ३५३)।

३. निवेशकाले कर्तव्यः सीमाबन्धविनिश्चयः। प्रकाशोपांशुचिह्नैश्च लक्षितः संशयावहः॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २२७--ग्रामादिप्रवेशकाले तत्सीमानियामकस्थूलगुडकः प्रकाशगुप्तलिंगोपेतः सीमासन्धौ स्थापनीय इति)।

चाहिए। बृहस्पति का कथन है कि गुरुजनों को चाहिए कि वे सीमाओं के संकेतों, लक्षणों (प्रकाश एवं गुप्त) आदि को अन्य बच्चों को दिखला दें और वे बच्चे भी आगे चलकर अपनी संततियों को दिखला दें। इस प्रकार सीमा-ज्ञान की परम्परा बँधती जायगी। और देखिए मनु (८।२५०-२५३, २५५), याज्ञ० (२।१५१), नारद (१४।४-६)।[४] वसिष्ठ (१६।१३), कौटिल्य (३।९), मनु (८।२५८, २६०), नारद (१४।२-३) के मत से साक्षियों के अभाव में सामन्तों (पड़ोसियों), वृद्धों, गोपालों, खेतिहरों (जो विवादी खेत के पास भूमि जोतते हैं), शिकारियों, व्याधों, मछली मारने वालों, मदारियों एवं जंगल में रहने वालों द्वारा राजा के समक्ष सीमा-विवाद का निपटारा होना चाहिए।[५] मिताक्षरा (याज्ञ० २।१५३) ने कात्यायन (७४३–७४५, ७५३) को उद्धृत किया है––साक्षी क्रमशः उच्चता अथवा वरिष्ठता में यों विभाजित हैं; **सामन्त, मौल, वृद्ध** एवं **उद्धृत**। मिताक्षरा में आया है कि पड़ोसियों को साक्षी के रूप में कमल-दलों के स्तर के रूप में स्थापित करना चाहिए, यथा––**संसक्तक** (बहुत पास वाले) को वरीयता देनी चाहिए, यदि इनमें दोष हो तो उनके बाद वालों को जो बहुत दूर के न हों वरीयता देनी चाहिए और इनके बाद अन्य दूर के दलों से जाँच करानी चाहिए। शंख-लिखित एवं व्यास (१६।१३-१५) ने व्यवस्था दी है कि सीमाविवाद में साक्षियों में भेद पड़ने पर पड़ोसियों पर ही निर्णय निर्भर रहता है और उसके बाद पुर, ग्राम एवं संघों के वृद्ध जनों पर।[६] याज्ञ० (२।१५२) एवं मनु (८।२५८) के मत से सीमानिर्धारण के लिए भरसक उसी गाँव के चार, आठ या दस (सम-संख्यक) पड़ोसी होने चाहिए। बृहस्पति का कथन है कि साक्षियों को भूमि के आगम (स्वत्वप्राप्ति) का मूल, भूमि-परिमाण, भोगकाल (कब से उस पर कब्जा या स्वामित्व रहा है), भोगकर्ता के नाम तथा उस भूमि का भूगोल आदि लक्षण ज्ञात रहने चाहिए।[७] नारद (१४।९) के कथन से सीमाविवाद जैसे महत्त्वपूर्ण एवं कठिन विवाद में एक साक्षी पर्याप्त नहीं है, कई साक्षियों का सहारा लेना चाहिए। किन्तु इस सामान्य

४. विवादरत्नाकर (पृ० २११) ने 'सुकृतैः शापिताः' का यह अर्थ लिखा है––धर्मा अस्माकं क्षीणा भवन्ति यदि मिथ्या वदामः इति वादिताः। अर्थशास्त्र (३।९) में आया है––सीमाविवादं ग्रामयोरुभयोः सामन्ताः पंचग्रामी दशग्रामी वा सेतुभिः स्थावरैः कृत्रिमैर्वा कुर्यात्। कर्षकगोपालवृद्धकाः पूर्वभुक्तिका वा अबाह्याः सेतूनामभिज्ञा बहव एको वा निर्दिश्य सीमासेतून् विपरीतवेषाः सीमानं नयेयुः। क्षेत्रविवादं सामन्तग्रामवृद्धाः कुर्युः।

५. समन्ताद् भवाः सामन्ताः, चतसृषु दिक्ष्वनन्तरग्रामादयस्ते च प्रतिसीमं व्यवस्थिताः; ग्रामो ग्रामस्य सामन्तः क्षेत्रं क्षेत्रस्य कीर्तितम्। गृहं गृहस्य निर्दिष्टं समन्तात् परिरभ्य हि॥ इति कात्यायनवचनात्। ग्रामादिशब्देन तत्स्थाः पुरुषा लक्ष्यन्ते। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१५१)।

६. तेषामभावे सामन्तमौलवृद्धोद्धृतादयः। स्थावरे षट्प्रकारेपि कार्या नात्र विचारणा॥ कात्यायन (७३७, मिताक्षरा––याज्ञ० २।१५२, विवादरत्नाकर पृ० २०६); गृहक्षेत्रविरोधे सामन्तप्रत्ययः। सामन्तविरोधे लेख्यप्रत्ययः। प्रत्यभिलेखविरोधे ग्रामनगरवृद्धश्रेणीप्रत्ययः॥ वसिष्ठ० १६।१३-१५; गृहक्षेत्रयोर्विरोधे सामन्तप्रत्ययः। सामन्तविरोधे अभिलेख्यप्रत्ययः। अभिलेख्यविरोधे ग्रामनगरवृद्धश्रेणिप्रत्ययः। ग्रामनगरवृद्धश्रेणिविरोधे दशवर्षभुक्तमन्यत्र राजविप्रस्वात्। शंख लिखित (विवादरत्नाकर पृ० २०८)। स्वार्थसिद्धौ प्रदुष्टेषु सामन्तेष्वर्थगौरवात्। तत्संसक्तैस्तु कर्तव्य उद्धारो नात्र संशयः॥ संसक्तसक्तदोषे तु तत्संसक्ताः प्रकीर्तिताः। कर्तव्या न प्रदुष्टास्तु राज्ञा धर्मं विजानता॥ कात्यायन (मिताक्षरा, याज्ञ० २।१५२)।

७. आगमं च प्रमाणं च भोगकालं च नाम च। भूभागलक्षणं चैव ये विदुस्तेऽत्र साक्षिणः॥ बृहस्पति (मिताक्षरा––याज्ञ० २।१५२; पराशरमाधवीय ३, पृ० ३९२; व्यवहारप्रकाश पृ० ३५५)।

नियम के विरोध में मिताक्षरा (याज्ञ० २।१५२) का कहना है कि यदि दोनों दल किसी एक साक्षी पर विश्वास करें तो वह मान्य हो सकता है। नारद (१४।१०) एवं बृहस्पति के अनुसार यदि दोनों दलों ने किसी एक ही व्यक्ति को चुना है (अन्य साक्षियों, प्रमाणयुक्त लक्षणों तथा प्रकाश या गुप्त प्रमाणों के अभाव में) तो उसे उपवास कर, अपने सिर पर मिट्टी रख, लाल वस्त्र धारण कर तथा लाल फूलों की माला पहनकर साक्ष्य देना चाहिए।[८] यदि साक्ष्य देनेवाला शूद्र हो तो विश्वरूप (याज्ञ० २।१५६) ने बृहस्पति को उद्धृत करते हुए लिखा है कि उसे लाल वस्त्र धारण करना चाहिए, उसके मुख पर श्मशान की राख लगी रहनी चाहिए, उसकी छाती पर बकरे के रक्त वाली पाँच अंगुलियों की छाप रहनी चाहिए, यज्ञ के काम में लाये गये बकरे की लादी (अंतड़ियाँ) गले में बँधी रहनी चाहिए और उसके दाहिने हाथ में मिट्टी रहनी चाहिए।[९] इन सब बातों से निष्पक्षता एवं कार्य-गुरुता की ओर संकेत मिलता है। यदि कोई जानकार साक्षी न मिले तो राजा गाँवों के बीच की सीमा स्वयं निर्धारित करता है (याज्ञ० २।१५३, नारद १४।११, मनु ८।२६५)। यदि झगड़े की सीमा किसी एक गाँव के लिए अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण हो तो राजा पूरी भूमि उसे दे सकता है। राजा नवीन चिह्नों से नयी सीमाएँ खींच सकता है, या आधी-आधी भूमि दे सकता है। मनु (८।२४५) का कथन है कि यह कार्य ज्येष्ठ मास में जब कि चिह्न स्पष्ट रहते हैं राजा द्वारा किया जाना चाहिए। यदि दैवयोग या राजा द्वारा उपस्थित कोई आपत्ति या विपत्ति न आये तो साक्षियों या पड़ोसियों द्वारा निर्धारित सीमा तीन सप्ताहों के उपरान्त सुनिश्चित (अन्तिम) रूप ले लेती है (कात्यायन ७५१)। मनु (८।२६१) के अनुसार साक्षियों द्वारा निर्धारित सीमा राजा द्वारा या लेख्य द्वारा (जिसमें साक्षियों के नाम अंकित हों) प्रमाणित हो जानी चाहिए। सीमा-निर्धारण सम्बन्धी शिलालेखों के लिए देखिए फ्लीट का 'गुप्त इंस्क्रिप्शंस' (सं० २४, पृ० ११०) एवं एपिग्रैफिया इण्डिका (२४, पृ० ३२-३४) जहाँ धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में वर्णित बातों का यथावत् पालन किया गया है। पड़ोसियों द्वारा भ्रामक साक्ष्य देने पर दण्ड की व्यवस्था दी गयी है (मनु ८।२६३; याज्ञ० २।१५३; नारद १४।७ एवं पुनः मनु ८।२५७ एवं नारद १४।८)। यदि मित्रतावश, लोभ या भय से कोई सच्ची बात कहने के लिए नहीं आता तो उसे सबसे बड़ा दण्ड मिलता था (कात्यायन ७५०)।

बृहस्पति का कथन है कि यदि दो गाँवों के बीच में कोई नदी बहती हो और संयोगवश बाढ़ में एक गाँव की कुछ भूमि दूसरे गाँव में चली जाय तो पहला गाँव उससे हाथ धो बैठता है, किन्तु ऐसा तभी होता है जब कि भूमि में अनाज न उग रहा हो। जब अन्न बोयी हुई भूमि इस प्रकार बाढ़ में कटकर दूसरे गाँव में चली जाय तो पहले गाँव को अन्न प्राप्त होता है और भूमि दूसरे की हो जाती है।[१०]

८. ज्ञातृचिह्नैर्विना साधुरेकोप्युभयसंमतः। रक्तमाल्याम्बरधरो मृदमादाय मूर्धनि। सत्यव्रतः सोपवासः सीमानं दर्शयेन्नरः॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका ३, पृ० २२१; पराशरमाधवीय ३, पृ० ३९३; व्यवहारप्रकाश पृ० ३५९)

९. शूद्राणां तु यथाह बृहस्पतिः। यदि शूद्रो नेता स्यात्तं क्लैब्येनालंकारेणालंकृत्य शवभस्मना मुखं विलिप्याग्नेयस्य पशोः शोणितेनोरसि पञ्चांगुलानि कृत्वा ग्रीवायामान्त्राणि प्रतिमुच्य सव्येन पाणिना सीमालोष्टं मूर्धनि धारयेदिति। रक्तकर्पटवसनादिः क्लैब्योलंकारः। विश्वरूप।

१०. ग्रामयोरुभयोर्यत्र मर्यादा कल्पिता नदी। कुरुते दानहरणं भाग्याभाग्यवशान्नृणाम्॥ एकत्र कूलपातं तु भूमेरन्यत्र संस्थितिम्। नदी तीरे प्रकुरुते तस्य तां न विचालयेत्॥ क्षेत्रं ससस्यमुल्लंघ्य भूमिश्छिन्ना यदा भवेत्। नदीस्रोतःप्रवाहेण पूर्वस्वामी लभेत ताम्॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २३४; पराशरमाधवीय ३, पृ० ३९८; विवादरत्नाकर २१७; व्यवहारप्रकाश पृ० ३६२)। व्यवहारप्रकाश का कथन है—तस्य नदीवशात्प्राप्तभूमिकस्य

मनु (८।२६२), याज्ञ० (२।१५४), नारद (१४।१२) एवं कात्यायन (७४९) का कथन है कि भूमियों, कूपों, जलाशयों, कुंजों, वाटिकाओं, महलों, गृहों, कुटीरों (पर्णशालाओं), मन्दिरों एवं जल की निकासी के लिए नालियों की सीमाओं के विवादों को साक्षियों (सामन्तों=पड़ोसियों आदि) से तय कराना चाहिए।

नारद, बृहस्पति एवं कात्यायन ने जल-प्रणालियों एवं मलमूत्र-विसर्जन-प्रणालियों (मोरियों) की सीमाओं के विषय में विस्तृत नियम दिये हैं।

बृहस्पति ने व्यवस्था दी है कि ग्राम एवं गृह की स्थापना (बुनियाद) के काल से चले आते हुए गृहों (द्वारों, वातायनों, अगवाड़ों, चहारदीवारियों आदि) के भोग एवं जल तथा आपणों (हाटों) के भोग के विषय में किसी प्रकार का विरोध नहीं होना चाहिए। यदि इन बातों में नयी व्यवस्थाएँ होने लगें तो विरोध उपस्थित हो सकता है (स्मृति-चन्द्रिका २, पृ० २३४ एवं व्यवहारप्रकाश पृ० २६३)।[11] बृहस्पति का यह भी कथन है कि प्राचीन वातायनों, जल-निकासों, घोरियों (ओरी को थामने के लिए बने लम्बे-लम्बे काठ या बाँस के डण्डे जो भीत में गड़े होते हैं, जिनका आकार घोड़ों की भाँति होता है, कहीं-कहीं ये पक्के मकानों में पत्थर के भी होते हैं), सड़कों के किनारे बने उच्चस्थल, घरों या कुटीरों के आँगन से वर्षा-जल को निकालने वाली नालियों (मोरियों) को जो बहुत दिनों से ज्यों-के-त्यों चले आये हों, नहीं हटाना चाहिए, भले ही उनसे पड़ोस के मकानों को कठिनाई होती हो। यही बात कात्यायन (७५२-७५३) ने भी कही है। पुनः इनका निर्माण नहीं होना चाहिए, क्योंकि इनसे अन्य गृहों को दिक्कत हो सकती है। किसी दूसरे के घर में अपनी खिड़की नहीं खोलनी चाहिए और न इसी प्रकार दूसरे के घर को बिगाड़ने या उसके स्वामी के विरोध में कोई नाली बनानी चाहिए। किसी के घर की दीवार से लगभग दो हाथ हटकर ही घूरा (जहाँ गलीच या गोबर, मल, मूत्र, कतवार आदि फेंके जाते हैं और जिनसे खाद बनती है) बनाना चाहिए, इतना ही नहीं, घूरे को अपने घर से भी दूर ही रखना चाहिए।

जिस स्थान या सड़क या मार्ग से मनुष्य एवं पशु इधर-उधर बिना किसी रुकावट के आ-जा सकें उसे **संसरण**[12] कहा जाता है। कात्यायन (७५५) ने इसे **चतुष्पथ** कहा है और उसे **राजमार्ग** कहा है जहाँ से लोग किसी निश्चित

प्राप्तां भूमिं न विचालयेत् नान्यथा कुर्यात् पूर्वस्वामी नापच्छिन्द्यादित्यर्थः। एतदनुप्तसस्यतीरविषयम्। उप्ततीरविषये पुनः स एव--क्षेत्रम्०। तां ससस्यां भूमिम्। उप्तसस्यफललाभपर्यन्तमेतत्। तत्फललाभानन्तरं तु न पूर्वस्वामी तां भूमिं लभेत इत्यवगन्तव्यम्। विवादरत्नाकर का मत भिन्न है--यत्र तु नदी क्षेत्रादिकं समुल्लङ्घ्य याति तत्र पूर्वग्रामस्यैव सा भूमिरिति।

११. निवेशकालादारभ्य गृहवार्यापणादिकम्। येन यावद्यथा भुक्तं तस्य तन्न विचालयेत्॥ वातायनं प्रणालीं च तथा निर्यूहवेदिकाः (निर्व्यूह ?)। चतुःशालस्यन्दनिकाः प्राङ्निविष्टा न चालयेत्॥ बृहस्पति (अपरार्क पृ० ७६४; स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २३५; व्यवहारप्रकाश पृ० ३६३)। 'एवं निवेशनकाले कल्पितं गवाक्षादिकं प्रातिवेश्या-निष्टकार्यपि न केनचिच्चालनीयमित्याह स एव।' स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २३५); निर्व्यूहो द्वारनिर्गतकाष्ठ-विशेष इति कृत्यकल्पतरौ। निर्व्यूहो गृहकोण (गृहघोणा ?) इति स्मृतिचन्द्रिका। वेदिका रथ्यादिप्रदेशसंस्कृतोत्तरा भूमिः। व्यवहारप्रकाश (पृ० ३६३)। ये शब्द मदनरत्न से लिये गये हैं।

१२. यान्त्यायान्ति जना येन पशवश्चानिवारिताः। तदुच्यते संसरणं न रोद्धव्यं तु केनचित्॥ बृहस्पति (अपरार्क पृ० ७६५; स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २३५; सर्वे जनाः सदा येन प्रयान्ति स चतुष्पथः। अनिषिद्धा यथाकालं राजमार्गः स उच्यते॥ कात्यायन (७५५, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २३५; विवादरत्नाकर पृ० २२१)।

समय में (सदा नहीं) आ-जा सकें। कौटिल्य आदि ने जनमार्गों एवं गृहों के पास मल-मूत्र त्याग के विषय में दण्ड बतलाये हैं। बृहस्पति एवं कात्यायन (७५६) का कथन है कि गाड़ियों आदि से जनमार्ग का अवरोध नहीं करना चाहिए उस पर कोई पेड़-पौधा नहीं लगाना चाहिए। जो लोग ऐसा करते हैं अर्थात गड्ढा खोदते हैं या पेड़ लगाते हैं और जान-बूझकर वहाँ मल-मूत्र त्याग करते हैं उन पर एक **माषक** का अर्थ-दण्ड लगता है और जो लोग मार्ग पर अपने गुरु, वृद्ध-जन या राजा को सबसे पहले नहीं जाने देते उन पर भी अर्थ-दण्ड लगता है। मनु (८।२८२) ने जनमार्ग पर बिना किसी रोग से ग्रस्त होने पर मल-मूत्र त्यागने के दोषी पर दो कार्षापण का दण्ड लगाया है और उसे स्वच्छ करने को कहा है, किन्तु उन लोगों के लिए इसे अपवाद माना है (मनु० ८।२८३) जो बीमारी के कारण, वृद्धता या गर्भधारण के कारण ऐसा करते हैं या बच्चे हैं; उन पर अर्थ-दण्ड नहीं लगता, केवल झिड़की ही उनके लिए पर्याप्त है (देखिए मत्स्य-पुराण २२७।१७५-१७६)। कौटिल्य (३।३६) ने गाड़ियों के मार्ग पर धूलि फेंकने पर १/८ पण, मिट्टी से अवरोध उपस्थित करने पर १/४ पण तथा यही कार्य राजमार्ग पर करने पर दूना दण्ड लगाया है, और पूत स्थलों या जल-स्थानों या मन्दिरों या राजप्रासादों के पास मल-मूत्र करने पर क्रम से २, ३ या ४ पणों का दण्ड निर्धारित किया है तथा मनु द्वारा लिखित लोगों को छूट दी है। कात्यायन (७५८-७५९) का कहना है कि तालाब, वाटिका, घाटों को जो गन्दी वस्तुओं से अपवित्र करता है उसे दण्डित होना पड़ता है और स्वच्छ करना पड़ता है। यही बात पवित्र स्थानों पर गन्दे कपड़े धोने पर भी कही गयी है।

याज्ञवल्क्य (२।१५५) ने (दो या अधिक खेतों के) सीमा-व्यतिक्रम, अपने खेत की सीमा से आगे बढ़कर जोतने तथा अन्य को अपना खेत जोतने से मना करने वाले को क्रम से सामान्य, सर्वाधिक तथा मध्यम दण्ड की सजा कही है। और देखिए विष्णुधर्मसूत्र (५।१७२) एवं शंख-लिखित, जहाँ किसी खेत की सीमा के उल्लंघन पर १००८ पणों के अर्थ-दण्ड की व्यवस्था दी हुई है। और देखिए मनु (८।२६४ = मत्स्यपुराण २२७।३०) जहाँ किसी के खेत, वाटिका, घर आदि को असावधानी से छीनने पर २०० पणों का तथा जान-बूझकर छीनने पर ५०० पणों का अर्थ-दण्ड घोषित किया गया है। नारद (१४।१३-१४) एवं कात्यायन (७६०-७६१) का कथन है कि दो खेतों की सीमा पर उगे फल-फूलों को न्यायाधीश द्वारा दोनों की सम्पत्ति घोषित करनी चाहिए, किन्तु यदि किसी के खेत में उगा पेड़ दूसरे के खेत में अपनी डालियाँ फैला ले तब भी वह उगाने वाले खेत के स्वामी का ही कहा जायगा, अर्थात् उसके फल-फूल दूसरे खेत वाले स्वामी को नहीं मिलेंगे।

नारद (१४।१८) ने **सेतु** के दो प्रकार बतलाये हैं; **खेय** (वह जो अधिक जल निकालने के लिए खोदकर बनाया जाता है) तथा **बन्ध्य** (बाँध, जो पानी रोकने के लिए निर्मित किया जाता है)। यदि सेतु-निर्माण से एक खेत को अपेक्षाकृत अधिक लाभ होता है तो उसे बनने देना चाहिए (याज्ञ० २।१५६ एवं नारद १४।१७)। ऐसा करने के पूर्व सेतु-निर्माता को दूसरे खेत (जहाँ पर वह सेतु बनाना चाहता है) के स्वामी या राजा से आज्ञा ले लेनी चाहिए, नहीं तो उससे उत्पन्न लाभ उसे नहीं प्राप्त हो सकता। इसी प्रकार का नियम दूसरों द्वारा गृहों या तालाबों की मरम्मत करने के विषय में भी दिया हुआ है (कात्यायन ७६२-७६३)। नारद (१४।२३-२५) का कथन है कि यदि कोई व्यक्ति बिना किसी के विरोध के ऐसी भूमि जोतता है जिसका स्वामी उसे स्वयं नहीं सँभाल सकता या मर गया है या लुप्त हो गया है, तो वह उसका भोग कर सकता है, किन्तु यदि पूर्व स्वामी या उसका पुत्र आ जाता है तो उसे लौटा देना पड़ता है। किन्तु ऐसा करते समय उसे खेत के बनाने या बोने में जो कुछ व्यय हुआ रहता है वह मिल जाता है। यदि पूर्व स्वामी यह व्यय न दे सके तो नवीन स्वामी आठ वर्षों तक खेत का १/८ भाग पाता है और आठवें वर्ष के आरम्भ में उस खेत को लौटा देता है। याज्ञ० (२।१५८) एवं व्यास का कथन है कि यदि कोई मालगुजारी पर किसी के खेत को जोतने के लिए लेता है और थोड़ा-बहुत जोतकर उसे बिना बोए छोड़ देता एवं किसी अन्य द्वारा भी उसे पूरा

नहीं कराता, तो उसे उस खेत में उत्पन्न होनेवाली उपज (जितनी वह ठीक से उस खेत के जोते एवं बोए जाने से उत्पन्न होती) का मूल्य देना पड़ता है और उस पर अर्थ-दण्ड भी लगता है। ऐसी स्थिति में उससे खेत छीनकर दूसरे को भी दिया जा सकता है।[१३]

१३. क्षेत्रं गृहीत्वा यः कश्चिन्न कुर्यान्न च कारयेत्। स्वामिने स शतं दाप्यो राज्ञे दण्डं च तत्समम्।। व्यास (विवादचिन्तामणि पृ० ६५; व्यवहारप्रकाश पृ० ३६८; स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २३८)। पराशरमाधवीय (३ पृ० ४०८) ने इसे बृहस्पति का माना है।

अध्याय २३

वाक्पारुष्य एवं दण्डपारुष्य (मानहानि एवं आक्रमण)

आधुनिक काल की फौजदारी के विवाद-पदों के अन्तर्गत ही **वाक्पारुष्य, दण्ड-पारुष्य, स्तेय, स्त्रीसंग्रहण, साहस** नामक पाँच शीर्षक आ जाते हैं। नारद (१८।१) ने वाक्पारुष्य की व्याख्या यों की है--(यह वह है) जो किसी देश, जाति, कुल आदि के विषय में उच्च घोष द्वारा गाली के रूप में कहा जाय और जिससे कहे जानेवाले व्यक्ति को मानसिक कष्ट मिले और उसे अपराध-सा लगे। कात्यायन (७६८) ने इसे यों समझाया है--किसी के सामने हुंकार करना, उसके सामने खाँसना या ऐसी अनुकृति करना या ऐसा उच्चारण करना जो लोक द्वारा गर्हित माना जाय अर्थात् जिसे लोग न करने या न कहने योग्य समझें, वह **वाक्पारुष्य** कहा जाता है।[1] नारद (१८।२-३) के मत से गाली-गलौज अथवा वाक्पारुष्य के तीन प्रकार हैं--**निष्ठुर** (झिड़कियों के रूप में, यथा किसी को मूर्ख या दुष्ट कहना), **अश्लील** (गन्दी या अपमानजनक बात कहना) तथा **तीव्र** (भीषण आरोप लगाना, यथा किसी को ब्रह्म-हत्या या मद्य पीने का अपराधी बतलाना); और क्रम से इन तीनों के लिए अपेक्षाकृत अधिक दण्ड की व्यवस्था दी गयी है। किसी **देश, जाति या कुल** के लिए क्रम से इस प्रकार कहना कि 'गौड़ देश के लोग झगड़ालू हैं', 'ब्राह्मण बड़े लालची हैं' या 'विश्वामित्र गोत्र के लोग क्रूर कार्य करते हैं', ये गालियों के उदाहरण हैं। बृहस्पति ने **वाक्पारुष्य** को तीन प्रकार का कहा है--**सबसे छोटा** (जब किसी देश, जाति या कुल को गाली दी जाती है या किसी विशिष्ट कार्य की ओर संकेत न करके पापकर्म का अपराध लगाया जाता है), **मध्यम** (जब गाली देनेवाला गाली दिये जानेवाले व्यक्ति की माता या बहिन के संभोग की गाली देता है, अर्थात् जब माँ-बहिन की गाली दी जाती है या **उपपातकों**[2] या छोटे-छोटे पापों की गाली दी जाती है) तथा **महान् अपराध** लगाना, अर्थात् निषिद्ध भोजन या पेय ग्रहण करने का या महापातक का अपराध लगाना। स्मृतियों में उपर्युक्त वाक्पारुष्यों तथा वैसा करने वालों की जाति तथा जिनको गाली दी जाती है उनकी जाति के अनुसार दण्ड की व्यवस्था दी हुई है। उदाहरणार्थ मनु (८।२६७=नारद १८।१५=मत्स्यपुराण २२७।६६) ने ब्राह्मण को गाली देने पर गाली देनेवाले क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र को क्रम से १००, १५० एवं २०० पणों का दण्ड लगाया है। इसी प्रकार मनु (८।२६८=नारद १८।१६) ने क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र को गाली देने पर अपराधी ब्राह्मण को क्रम से ५०, २५ एवं १२ पणों के दण्ड की व्यवस्था दी है। समान जातीय को गाली देने पर मामूली अपराध के लिए १२ पणों का दण्ड तथा माँ-बहिन की गाली देने पर इसका दूना दण्ड लगाया गया है (मनु ८।२६९=नारद १८।१७)। और देखिए याज्ञ० (२।२०६-२०७), विष्णु० (५।३५)। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ३२७) एवं मदनरत्न के उद्धरणों

१. **हुंकारः कासनं चैव लोके यच्च विगर्हितम्। अनुकुर्यादनुब्रूयाद् वाक्पारुष्यं तदुच्यते।। कात्यायन (७६८, अपरार्क पृ० ८०५, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ६)।**

२. **उपपातकों (गोवध, व्यभिचार आदि) के लिए देखिए मनु (९।५९-६६)। याज्ञ० (३।२३४-२४२) एवं विष्णुधर्मसूत्र (३७) में इनकी लम्बी सूची दी हुई है।**

से पता चलता है कि लगभग १२वीं शताब्दी में जाति-सम्बन्धी अन्तर तथा छोटे-बड़े अपराध-सम्बन्धी विभेद प्रायः लुप्त हो चुके थे। दो-एक बातें विचारणीय हैं। देखिए मनु (८।२६८-२७२ एवं २७४, नारद १८।१६-१७ एवं २२-२४)। यहाँ तक कि सच्ची गाली (यदि कोई व्यक्ति क्रोध में चोरी में पकड़े गये किसी पूर्व अपराधी को चोर कहे या अन्धे को अन्धा या लँगड़ा कहे) के लिए मनु (८।२७४=नारद १८।१८) ने एक कार्षापण का दण्ड लगाया है। कौटिल्य (३।१८) एवं विष्णु० (५।२७) ने ऐसे अपराधों में क्रम से ३ एवं २ पणों की दण्ड-व्यवस्था दी है। यदि गाली झूठ-मूठ में दी गयी हो तो इस प्रकार की सच्ची बातों के लिए जो दण्ड लगता है उसका दूना दण्ड देना पड़ता है। यदि व्याज-स्तुति की जाय, अर्थात् किसी एक आँख वाले या अन्धे को सुन्दर आखों वाला कहा जाय तो दण्ड लगता है (कौटिल्य ३।१८)। यदि किसी को प्रसिद्ध पतित या चोर के साथ रहने के लिए मना किया जाय तो दण्ड नहीं लगता (कात्यायन ७७६)। यदि गाली देनेवाला यह कहे कि "अबोधता, असावधानी, वैर या मित्रता के कारण मैंने ऐसा कह दिया है और अब ऐसा नहीं करूँगा" तो उसे केवल आधा दण्ड लगता है (कात्यायन ७७५; विवादरत्नाकर पृ० २४६; विवादचिन्तामणि पृ० ७०; स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३२७; व्यवहारप्रकाश पृ० ३८४; कौटिल्य ३।१८)। यदि कोई कर्तव्यरत राजा को गाली दे तो उसकी जीभ काट ली जाती है और उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली जाती है (नारद १८।३० एवं याज्ञ० २।३०२)। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१०।२७।१४) ने धर्मरत तीन उच्च वर्णों को गाली देनेवाले शूद्र की जीभ काट लेने की व्यवस्था दी है।

दण्डपारुष्य

कौटिल्य (३।१९) ने इस शीर्षक के अन्तर्गत स्पर्श करने, धमकी देने या वास्तविक रूप से आहत करने को सम्मिलित किया है।[३] नारद (१८।४) के मत से हाथ, पैर, हथियार या किसी अन्य वस्तु (ढेला आदि) से शरीरांगों पर घाव करने या राख आदि से गंदा कर देने या एक-दूसरे को पीड़ा देने को इसके अन्तर्गत रखा है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२१२) ने तो पशुओं को पीड़ा पहुँचाने तथा पेड़ गिरा देने को भी इसके भीतर ही गिना है। नारद (१८।५-६) के मत से दण्डपारुष्य के तीन प्रकार हैं--प्रथम, मध्यम एवं उत्तम, यथा--आक्रमण करने की तैयारी करना, बिना किसी अनुशय या परिताप के आक्रमण करना और घायल करना। इन तीनों को पुनः तीन भागों में बाँटा गया है, जो व्यक्ति या वस्तु के हीन, मध्यम या उच्च मूल्य पर निर्भर माने गये हैं। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ३२७) एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० ३७०) के परिशिष्ट के श्लोक में आया है--वह व्यक्ति दण्डपारुष्य का अपराधी है जो पीड़ा पहुँचाता है या रक्त निकाल देता है, क्षत करता है, तोड़ता है, काटता है और शरीरादि अंगों को फाड़ देता है। बृहस्पति ने लिखा है कि हाथ, पत्थर, लाठी, राख, पंक, धूलि या हथियार से मारना या चोट पहुँचाना **दण्डपारुष्य** कहलाता है।[४]

मिताक्षरा (याज्ञ० २।२१२) ने **वाक्पारुष्य** एवं **दण्डपारुष्य** के विषय में कुछ सिद्धान्त बनाये हैं। जो व्यक्ति गाली दिये जाने या आक्रमण किये जाने पर अपनी ओर से वैसा ही अपराध नहीं करते उन्हें प्रशंसित करना चाहिए, किन्तु जो स्वयं प्रत्युत्तर दे देते हैं उन्हें भी दण्डित करना चाहिए, किन्तु उन्हें प्रथम गाली देनेवाले तथा मारने-पीटने वाले की अपेक्षा कम दण्ड मिलना चाहिए। किन्तु दो व्यक्ति यदि आपस में उलझ जायँ और यह न प्रकट हो सके कि किसने

३. दण्डपारुष्यं स्पर्शनमवगूर्णनं प्रहतमिति। अर्थशास्त्र (३।१९)।

४. हस्तपाषाणलगुडैर्भस्मकर्दमपांशुभिः। आयुधैश्च प्रहरणं दण्डपारुष्यमुच्यते॥ बृहस्पति (विवादरत्नाकर पृ० २५९)।

पहले आरम्भ किया तो दोनों को बराबर-बराबर दण्ड मिलना चाहिए। यदि दो व्यक्ति लड़ जायँ तो प्रथम आक्रामक को तथा जो आगे बढ़कर लगातार आक्रमण करता रहता है, उसे अपेक्षाकृत अधिक दण्ड मिलना चाहिए। यदि श्वपाक, मेद, चाण्डाल, व्याध, हाथीवान, व्रात्य, दास आदि नीच लोग कुलीनों एवं आचार्यों पर दण्डपारुष्य प्रयुक्त करें तो अच्छे व्यक्तियों द्वारा उन्हें वहीं एवं उसी समय दण्डित करना चाहिए (अर्थात् उन पर कोड़े आदि बरसाने चाहिए !), किन्तु यदि ऐसा न हो सके तो राजा को चाहिए कि वह उन्हें उनके अपराध के अनुरूप शारीरिक दण्ड दे; किन्तु उनसे अर्थ-दण्ड न ले, क्योंकि उनका धन गर्हित माना गया है।[5]

विभिन्न स्मृतियों में विभिन्न दण्डों की व्यवस्था पायी गयी है और हम उनके विस्तार में यहाँ नहीं पड़ेंगे। कात्यायन (७८६) ने व्यवस्था दी है कि जिस प्रकार वाक्पारुष्य में दण्ड गाली देनेवाले एवं जिसे गाली दी जाती है उसकी जाति के अनुसार दिया जाता है, उसी प्रकार दण्डपारुष्य में भी होता है। अर्थात् यदि अपराधी मार खानेवाले से हीन जाति का हो तो उसे अधिक दण्ड दिया जाता है तथा यदि मारने वाला मार खानेवाले से उच्च जाति का हो तो कम दण्ड दिया जाता है। मनु (८।२८६) एवं उशना (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३२८) ने मनुष्य एवं पशु को लगे हुए घाव के अनुसार दण्ड देने की व्यवस्था दी है।[6] संस्कृत साहित्य पर दण्डपारुष्य में दण्ड देने के विषय में प्राचीनतम उल्लेख तैत्तिरीय संहिता (२।६।१०।२) में प्राप्त होता है--"जो ब्राह्मण को मारने की धमकी देता है उसे सौ (गाय या निष्क) का दण्ड, जो ब्राह्मण को पीटता है उसे एक सहस्र का दण्ड तथा जो इस प्रकार आक्रमण कर रक्त निकाल देता है उसे उतने वर्षों तक पितरों को न देखने के (शाप का) दण्ड मिलता है जितने धूलिकण उस रक्त में गिरकर मिल जाते हैं।" इस विषय में देखिए जैमिनि (४।१७), गौतम (२१।२०-२२) एवं मनु (११।२०६-२०७) जहाँ उपर्युक्त कथन की विभिन्न व्याख्याएँ उपस्थित की गयी हैं। कौटिल्य (३।१९) ने विभिन्न दण्डपारुष्यों के लिए भिन्न-भिन्न दण्डों की व्यवस्था दी है।

बृहस्पति का कहना है कि यदि कोई धूल, विभूति (राख) आदि किसी पर फेंके या किसी को हाथ से पीट दे तो उस पर एक **माष** का दण्ड लगता है, यदि वह किसी को छड़ी या पत्थर या ईंट से मारे तो दो **माष** देने पड़ते हैं। किन्तु यह व्यवस्था बराबर की जाति वालों के लिए है। यदि कोई किसी दूसरे की पत्नी या अपने से उच्च जाति वाले को मारे या पीटे तो दण्ड उसी के अनुरूप अधिक लगता है। जो किसी के चर्म को काट देता है या आक्रमण से रक्त निकाल देता है तो उसे **सौ पण** देने पड़ते हैं, जो काटकर मांस निकाल देता है उसे **छः माष** देने पड़ते हैं तथा जो हड्डी तोड़ देता है उसे निष्कासन का दण्ड मिलता है (मनु ८।२८४ = नारद १८।२९)। कात्यायन ने कान, अधर, नाक, पाँव, आँख, जीभ, लिंग, हाथ काटने पर सबसे बड़े दण्ड की तथा घायल करने पर मध्यम दण्ड की व्यवस्था दी है। यदि शूद्र तीन उच्च वर्णों को जिस अंग से पीटे तो उसका वह अंग काट लिया जाना चाहिए (गौतम १२।१, कौटिल्य ३।१९, मनु ८।२७९, याज्ञ० २।२१५ एवं बृहस्पति)। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२१५) ने यही बात क्षत्रिय को पीटने

५. अस्पृश्यधूर्तदासानां म्लेच्छानां पापकारिणाम्। प्रतिलोमप्रसूतानां ताडनं नार्थतो दमः।। कात्यायन (अपरार्क पृ० ८१३, विवादरत्नाकर पृ० २७८); प्रातिलोम्यास्तथा चान्त्याः पुरुषाणां मलाः स्मृताः। ब्राह्मणातिक्रमे वध्या न दातव्या धनं क्वचित्।। विवादरत्नाकर (पृ० २६९)।

६. वाक्पारुष्ये यथैवोक्ताः प्रातिलोम्यानुलोमतः। तथैव दण्डपारुष्ये पात्या दण्डा यथाक्रमम्।। कात्यायन ७८६ (पराशरमाधवीय ३, पृ० ४१८; विवादरत्नाकर २६९)। यत्र नोक्तो दमः सर्वैरानन्त्यान्तु महात्मभिः। तत्र कार्यं परिज्ञाय कर्तव्यं दण्डधारणम्।। कार्यं प्राणिषु प्राण्यन्तरैरुत्पादितं दुःखम्। स्मृ० च० २, पृ० ३२८।

पर वैश्य के लिए लागू की है। मनु (८।२८०) ने यही दण्ड उस शूद्र के लिए दिया है जो किसी उच्च जातीय को मारने के लिए हाथ या लाठी उठाता है। मनु (८।२८१-२८३ = नारद १८।२६-२८) ने कहा है कि यदि कोई नीच ज़ाति का व्यक्ति किसी उच्च जाति के व्यक्ति के साथ एक ही आसन पर उद्धत रूप से बैठे तो उसकी कमर तप्त लोहे से दाग़ कर उसे निष्कासित कर देना चाहिए या उसके चूतड़ पर घाव कर देना चाहिए (इस प्रकार कि वह मरने न पाये)। यदि कोई शूद्र किसी ब्राह्मण पर निर्भय होकर थूक दे तो उसके अधर काट लिये जाने चाहिए, यदि कोई शूद्र किसी ब्राह्मण पर मल-मूत्र फेंके तो अपराधी अंगों को काट लेना चाहिए तथा यदि कोई शूद्र किसी ब्राह्मण के बाल, पैर, दाढ़ी, गरदन, अण्डकोषों को पकड़कर खींचे तो उसके हाथ काट लिये जाने चाहिए। यदि किसी अकेले व्यक्ति को कई लोग मिलकर पीटें तो प्रत्येक को उस अपराध का दूना दण्ड लगता है (याज्ञ० २।२२१; कौटिल्य ३।१९; विष्णुधर्मसूत्र ५।७३)।[7] कौटिल्य (३।१९), मनु (८।२८७), याज्ञ० (२।२२२), बृहस्पति, कात्यायन (७८७) विष्णुधर्मसूत्र (५।७५-७६) ने लिखा है कि घायल कर देने पर अपराधी को दवा, भोजन तथा अन्य व्ययों की व्यवस्था तब तक करनी पड़ती है जब तक कि वह व्यक्ति काम करने के योग्य न हो जाय।

सम्पत्ति नाश करने तथा पशुओं को मारने या अंग-विच्छेद करने पर कौटिल्य, मनु, याज्ञवल्क्य आदि ने विभिन्न दण्डों की व्यवस्था दी है। पशुओं को मार डालने या पीटने पर मनु (८।२९६-२९८) ने कई प्रकार के दण्डों की व्यवस्था दी है जो पशुओं के मूल्य आदि पर निर्भर है। वृक्षों, झाड़ियों एवं लताओं को काट-पीट करने पर भी दण्ड-व्यवस्था है (याज्ञ० २।२२७-२२९, कौटिल्य ३।१९ एवं कात्यायन ७९३)। याज्ञवल्क्य (२।२१४) ने लिखा है कि यदि उन्मत्त होने पर या पागल हो जाने पर या भ्रमवश कोई किसी पर कीचड़, मिट्टी, थूक या मल मूत्र फेंक दे तो वह दण्डित नहीं होता। किन्तु इन मामलों पर कौटिल्य ने वास्तविक दण्ड का आधा लगाया है।

स्वतः दण्डप्रयोग के अवसर

अपनी सम्पत्ति या प्राण की रक्षा के लिए व्यक्ति क्या कर सकता है? इस विषय में धर्मशास्त्रकारों ने विवेचन उपस्थित किया है। **आततायियों** के विषय में चर्चा करते समय इस विषय में हमने इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग के तृतीय अध्याय में कुछ कह दिया है। किसी आततायी ब्राह्मण को मार डालने के विषय में बहुत-से मत-मतान्तर हैं, किन्तु किसी भी जाति के आततायी को मार भगाने या बलपूर्वक हटा देने (भले ही उसकी हत्या हो जाय) के विषय में कोई भेद नहीं है। गौतम (७।२५) ने प्राण-भय के समय ब्राह्मण को भी अस्त्र-शस्त्र से अपनी रक्षा करने को कहा है। बौधायन (२।२।८०), मनु (८।३४८-३४९) आदि ने कहा है कि ब्राह्मण एवं वैश्य भी यदि पातकियों द्वारा धर्म-कार्य में बाधा पायें, या जब बाह्याक्रमण से गड़बड़ी उत्पन्न हो जाय, या जब उनके प्राणों पर आ जाय, या जब उन्हें गायों या सम्पत्ति, स्त्रियों या ब्राह्मणों की रक्षा करनी हो तो बल का प्रयोग कर सकते हैं। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२८६) ने मनु के इस कथन को उसी दशा में उचित माना है जब कि समय से राजा को सूचना न मिल सके और देरी होने से भयंकरता की उपस्थिति हो जाने वाली हो।

कात्यायन (८००) का कथन है कि प्राण लेने पर उद्यत व्यक्ति को मारने में कोई अपराध नहीं है, किन्तु यदि आक्रामक घेर लिये जायँ तो उन्हें बन्दी बना लेना चाहिए और मारना नहीं चाहिए। अपरार्क (याज्ञ० ३।२२७) का कथन है कि जो आग लगाने या मार डालने पर तुला हो या आग लगा रहा हो या मार रहा हो तो उसे **आततायी** कहना

७. महाजनस्यैकं घ्नतः प्रत्येकं द्विगुणो दण्डः। अर्थशास्त्र (३।१९)।

चाहिए; जब उसे ऐसा करने से रोका न जा सके और मार डालना ही एक उपाय रह गया हो; धर्मशास्त्रकार ऐसा करने को अनुचित नहीं कहते। किन्तु यदि उसे घायल करके रोका जा सकता है तो जान से मार डालना अपराध कहा जायगा। मेधातिथि (मनु८।३४८) ने अपनी व्याख्या में स्पष्ट किया है कि ऐसे आततायी को मार डालना चाहिए, भले ही वह अपने दुष्कर्म में लगा हुआ हो या उसे सम्पादित कर चुका हो। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२२) का कथन है कि अपने प्राणों की रक्षा, स्त्रियों, दुर्बलों आदि की रक्षा में विरोध करने एवं मार डालने का अधिकार है और यदि ऐसा करने पर ब्राह्मण की हत्या हो जाय तो राजा द्वारा दण्ड नहीं मिलता और इस प्रकार की ब्रह्म-हत्या का प्रायश्चित्त हलका होता है। इसी प्रकार पंजे एवं सींग वाले पशुओं, फण वाले साँपों या आक्रामक घोड़ों एवं हाथियों को मार डालने में कोई अपराध नहीं है (कात्यायन ८०५; स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३१६)।

अध्याय २४

स्तेय (चोरी)

ऋग्वेद में **तस्कर, स्तेन** एवं **तायु** का बहुधा उल्लेख हुआ है, यथा "गौएँ हमसे न बिछुड़ें, कोई तस्कर (चोर) उन्हें पीड़ा न पहुँचाये" (ऋग्वेद ६।२८।३), "पूषा मार्गों की रक्षा करता है और गुप्त धनों को जानता है, जैसा कि कोई तस्कर जानता है" (ऋ० ८।२९।६)। ऋग्वेद (१०।४।६) से ज्ञात होता है कि चोर लोग साहसी होते हैं तथा लोगों को रस्सियों से बाँध लेते हैं, तथा तस्कर रात्रि में दिखाई पड़ते हैं (ऋग्वेद १।१९१।५)।[1] **तायु** शब्द भारत-पारसी शब्द है (ऋ० १।५०।२, ४।३८।५, ६।१२।५)। **स्तेन** का अर्थ है 'गाय चुराने वाला' (ऋ० ६।२८।७)। स्तेन को पकड़ लेने पर रस्सी से बाँध लिया जाता था (ऋ० ८।६७।१४)। ऋग्वेद (७।५५।३) में कुत्ते को स्तेन एवं तस्कर के पीछे दौड़ने को कहा गया है; लगता है, यहाँ **स्तेन** का अर्थ है वह चोर जो सम्पत्ति को गुप्त रूप से उठा ले जाता है तथा **तस्कर** वह है जो खुले आम चोरी करता है। वाजसनेयी संहिता (११।७९) तथा तैत्तिरीय संहिता (४।१। १०।२) में **स्तेन** तथा **तस्कर** के अतिरिक्त **मलिम्लु** शब्द भी आया है। अथर्ववेद (४।३) में भेड़ियों, व्याघ्रों एवं तस्करों के विरुद्ध मन्त्र कहे गये हैं।

मनु (८।३३२), कौटिल्य (३।१७), नारद (२७।१२) आदि में स्तेय को साहस से पृथक् माना गया है। कात्यायन (८।१०, दायभाग ६।९, पृ० २२४) ने स्तेय के विषय में यों लिखा है--जो परद्रव्य-हरण प्रच्छन्न होता है या प्रकाश में होता है या रात्रि या दिन में होता है, उसे स्तेय कहते हैं। सोते हुए या असावधान या उन्मत्त लोगों के धन को कई साधनों से हर लेने को स्तेय कहते हैं (नारद १७।१७)। चोरी की गयी वस्तु के अनुसार यह तीन प्रकार का होता है--**साधारण** (मिट्टी के बरतन, आसन, खाट, लकड़ी, खाल, घास, दाल, भोजन); **मध्यम** (रेशम के अतिरिक्त अन्य परिधान, गाय-बैल के अतिरिक्त अन्य पशु, सोने के अतिरिक्त अन्य धातु, चावल एवं जौ) तथा **गम्भीर** (जब सोने के जेवर, रेशम के वस्त्र, स्त्रियाँ, पुरुष, पालतू पशु, हाथी, घोड़े तथा ब्राह्मणों या मन्दिरों का धन चोरी में जाता है)। और देखिए नारद (१७।१३-१६) एवं याज्ञ० (२।२७५)।

मनु (९।२५६) एवं बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३१ एवं व्यवहारप्रकाश पृ० ३८६) के अनुसार तस्कर (चोर) या तो **प्रकाश** (प्रकट या खुले रूप वाले) या **अप्रकाश** (गुप्त) होते हैं। ग़लत तराज़ू एवं बटखरे वाले व्यापारी,

१. न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति। ऋ० (६।२८।३); पथ एकः पीपाय तस्करो यथाँ एष वेद निधीनाम्॥ ऋ० (८।२९।६); तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्। ऋ० (१०।४।६); और देखिए निरुक्त (३।१४)।

२. ये जनेषु मलिम्लवः स्तेनासस्तस्करा वने। ये कक्षेष्वघायवस्तांस्ते दधामि जम्भयोः॥ वाजसनेयी सं० (११।७९)। तैत्तिरीय संहिता की टीका में आया है--'स्तेना गुप्तचौराः, तस्कराः प्रकटचौराः, अतिप्रकटा निर्भया ग्रामेषु बन्दिकरा मलिम्लुचः।'

जुआरी, मिथ्याचिकित्सक (क्वैक या नकली वैद्य), 'सभ्यों' के घूसखोर, वेश्याएँ, मध्यस्थता की वृत्ति करने वाले, कमसल (नकली) वस्तुओं के व्यापारी या जादू या हस्तरेखा या सामुद्रिक से भविष्य-वाणी करने वाले, झूठे साक्षी आदि **प्रकाश तस्कर** कहे जाते हैं। मनु (९।२६१-२६६) ने लिखा है कि इस प्रकार के तस्करों का पता लगाने के लिए राजा द्वारा सभा-स्थलों, जलपान-गृहों, वेश्याभवनों, मद्य-शालाओं, नाटकघरों आदि में ऐसे गुप्तचर नियुक्त करने चाहिए जो वेष-परिवर्तन कर सबका पता चलायें। **अप्रकाश तस्कर** वे हैं जो छिपे तौर से सबरी (सेंध मारने वाले हथियार) या अन्य हथियार लेकर घूमते हैं। इनके मुख्य नौ प्रकार हैं--**उत्क्षेपक** (उचक्का, जो किसी अन्य काम में लगे व्यक्ति का सामान उठा लेता है), **संधिभेत्ता** (सेंध मारनेवाला), **पान्थमुट्** (यात्रियों को लूट लेने वाला), **ग्रन्थि-भेदक** (जेब-कतरा या पाकेटमार), **स्त्री-चोर, पुरुषचोर, पशु-चोर, अश्वचोर** तथा अन्य **पशु-चोर**। याज्ञ० (२।२६६-२६८) एवं नारद (परिशिष्ट ९-१२) ने चोरों को पकड़ने एवं उनका पता लगाने की विधियाँ बतायी हैं। यथा--राजकर्मचारी (पुलिस) द्वारा चोरी का कुछ सामान प्राप्त कर, या पद-चिह्न द्वारा, या पुराने चोर को पकड़कर, या ऐसे व्यक्ति को पकड़ कर जो अपना पता न बताये। सन्देह पर भी व्यक्ति पकड़े जा सकते हैं; या पूछने पर अपना नाम या जाति न बताने वाले को पकड़ा जा सकता है; जुआरी, शराबी, वेश्यागामी को चोरी के सन्देह में पकड़ा जा सकता है; यदि पूछे जाने पर मुँह सूख जाय या स्वर बदल जाय तो व्यक्ति पर सन्देह किया जा सकता है; ऐसा व्यक्ति जिसके पास प्रचुर सम्पत्ति न हो, किन्तु पर्याप्त मात्रा में व्यय करता हो तो उस पर भी सन्देह किया जा सकता है; जो व्यक्ति खोयी हुई वस्तु बेचे या पुरानी वस्तु बेचे या वेश धारण कर घूमे या जो दूसरे की सम्पत्ति या घर के विषय में पूछताछ करे उस पर सन्देह किया जा सकता है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२६८) ने नारद का उद्धरण दिया है कि केवल सन्देह पर ही अपराध सिद्ध नहीं होता, अतः राजा को भली प्रकार छानबीन करनी चाहिए, क्योंकि निरपराधी भी उपर्युक्त लक्षण प्रकट कर सकते हैं या अपने पास में वैसी वस्तुएँ (चोरी की) पा सकते हैं। यदि चोरी की वस्तु किसी के पास प्राप्त हो, तो यह सम्भव है कि वह उसके पास किसी अन्य व्यक्ति द्वारा आयी हो, या वह उसे पड़ी मिली हो, या उसकी उसने स्वयं चोरी की हो; झूठे व्यक्ति बहुधा सच्चे व्यक्तियों का चेहरा बनाये रहते हैं। देखिए नारद (१।४२ एवं १।७१), मनु (९।२७०=मत्स्य० २२७।१६६)। चोरी में पकड़ लिये जाने पर केवल अस्वीकार से व्यक्ति बरी नहीं होता, उसे प्रमाणों द्वारा (यथा--वह उस समय अन्यत्र था) या दिव्य द्वारा अपनी सचाई सिद्ध करनी पड़ती है (याज्ञ० २।२६९)।

प्रकाश (प्रकट) चोरों को दण्ड अपराध के हलकेपन या गुरुता के अनुपात में मिलता है न कि उनकी सम्पत्ति के अनुपात में। और देखिए बृहस्पति (पराशरमाधवीय ३, पृ० ४३९-४४० एवं व्यवहारप्रकाश पृ० ३८७-३८८)। मनु (९।२९२) एवं मत्स्यपुराण (२२७।१८४-१८५) के अनुसार कण्टकों (धोखेबाजों) में सुनार सबसे बड़ा कण्टक है, यदि वह धोखा करता हुआ पकड़ा जाय तो उसके अंगों का विच्छेद थोड़ा-थोड़ा करके करना चाहिए।

गुप्त या अप्रकाश या अप्रकट चोरों के विषय में विशिष्ट नियम दिये हुए हैं। पूर्वोक्त तीन प्रकार की चोरी में वे ही दण्ड दिये जाते हैं जो **साहस** के तीन प्रकारों के लिए उल्लिखित हैं (नारद १२।२१)। मनु (८।३२३) ने कुलीन मनुष्यों (विशेषतः स्त्रियों) एवं बहुमूल्य धातुओं की चोरी में मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था दी है। व्यास ने स्त्रियों की चोरी पर जलते लोहे के ऊपर जलाकर मार डालने तथा मनुष्यों की चोरी पर हाथ-पैर काट डालने की दण्ड-व्यवस्था दी है। याज्ञ० (२।२७३) ने दूसरों को बन्दी बना लेने, अश्वों एवं हाथियों की चोरी तथा हिंसावृत्ति से दूसरे पर आक्रमण करने पर शूली पर चढ़ाने को कहा है। मनु (९।२८०) ने राजा के भण्डार में एवं अस्त्रागार में सेंध लगाने या मन्दिर के प्रकोष्ठ में चोरी करने पर या हाथी, घोड़ा एवं रथ चोरी करने पर मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था दी है। रात्रि में सेंध

लगाने (मनु ९।२७६) पर हाथ काटकर शूली पर चढ़ा देने की व्यवस्था दी गयी है।[3] याज्ञ० (२।२७४), मनु (९।२७७) एवं विष्णुधर्मसूत्र (६।१३६) ने जेबकतरों (ग्रन्थिभेदकों) के प्रथम अपराध पर अंगूठा एवं तर्जनी काट लेने की, दूसरे अपराध पर हाथ-पैर काट लेने की तथा तीसरे अपराध पर मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था दी है। चोर को चोरी के सामान की पूर्ति भी करनी पड़ती थी (मनु ८।३२०, याज्ञ० २।२७०, विष्णुधर्मसूत्र ५।८९ एवं नारद, परिशिष्ट २१)। नारद (परिशिष्ट २२–२४) के अनुसार साधारण चोरी के सामान के मूल्य का पाँच गुना देना पड़ता था, किन्तु मनु (८।३२६-३२९) ने केवल दूने की बात कही है।

गौतम (१२।१२-१४), मनु (८।३३७-३३८) एवं नारद (परिशिष्ट ५१-५२) के अनुसार उच्च जातियों को अपेक्षाकृत अधिक दण्ड मिलता है, यथा—शूद्र को चोरी की वस्तु का आठ गुना देना पड़ा तो उसी अपराध में वैश्य, क्षत्रिय एवं ब्राह्मण को क्रम से १६, ३२ एवं ६४ गुना देना पड़ता है, क्योंकि उच्च स्थिति एवं संस्कृति के अनुसार इन्हें अधिक ईमानदार होना चाहिए। मनु (८।३८०) ने लिखा है कि सामान्यतः ब्राह्मण को किसी भी अपराध में मृत्यु-दण्ड नहीं मिलना चाहिए, उसे देश-निर्वासन का दण्ड मिल सकता है, किन्तु वह अपनी सम्पत्ति अपने साथ ले जा सकता है। किन्तु अन्य अपवाद भी मिलते हैं। कात्यायन (८२३) का कथन है कि मानवों (मनु के अनुयायियों या सम्प्रदाय के लोगों) के अनुसार चोरी के सामान के साथ पकड़े गये लोगों को तत्क्षण प्रवासित कर देना चाहिए। किन्तु गौतम सम्प्रदाय के मत से ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस नियम से देश में लोगों की कमी हो जायगी। विवादरत्नाकर (पृ० ३३२) ने कात्यायन के इस कथन को विद्वान् ब्राह्मणों के लिए ही ठीक माना है। विवादरत्नाकर (पृ० ३३२) एवं विवादचिन्तामणि (पृ० ९२) ने कात्यायन के दो पद्य (८२४-८२५) उद्धृत कर व्यक्त किया है कि यदि अविद्वान् ब्राह्मण चोरी के सामान के साथ या बिना सामान पकड़ लिया जाय तो उसे उपयुक्त लक्षणों से दाग देना चाहिए और उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली जानी चाहिए, किन्तु ऐसा करने के पूर्व अपराध निश्चित रूप से सिद्ध हो जाना आवश्यक है। दूसरे पद्य में यह आया है कि यदि चोर ब्राह्मण न तो विद्वान् हो और न धनी तो उसके पैरों में बेड़ी डाल देनी चाहिए, उसे कम भोजन देना चाहिए और मृत्यु-पर्यन्त उससे राजा द्वारा काम कराना चाहिए। गौतम (१२।३६-४८), नारद (परिशिष्ट १३-१४), मनु (९।२७१ एवं २७८), कात्यायन (८२७) आदि के मत से जो लोग जान-बूझकर चोरों को भोजन, अग्नि (जाड़े में तापने के लिए) जल या शरण देते हैं या चोरी की वस्तु ग्रहण करते हैं या क्रय करते हैं या छिपाते हैं, उन्हें चोरों के समान ही दण्ड मिलता है। इस विषय में देखिए याज्ञवल्क्य (२।२७६)।

कुछ विषयों में बिना आज्ञा लिये वस्तुओं का उपयोग अपराध नहीं माना जाता। गौतम (१२।२५), मनु (८।३३९=मत्स्यपुराण २२७।११२-११३), याज्ञ० (२।१६६) ने तीन उच्च जातियों के लोगों को घास, ईंधन, पुष्प, गाय को खिलाने के लिए पत्ते आदि तथा देवपूजा के लिए पुष्प आदि ले लेने पर तथा अरक्षित फल तोड़ने पर अपराधी नहीं ठहराया है। ऐसा करने पर न तो दण्ड मिलता है और न पाप ही लगता है (कुल्लूक, मनु ८।३३९)। एक स्मृति में आया है कि बिना माँगे ऐसा करने पर हाथ काट लिये जाने चाहिए, किन्तु मिताक्षरा (याज्ञ० २।१६६) एवं अपरार्क (पृ० ७७४) आदि ने ऐसा केवल उन लोगों के लिए माना है जो द्विज नहीं हैं और जो किसी कठिनाई में नहीं हैं या जो गाय को खिलाने या पूजा के लिए ऐसा नहीं करते हैं।

यह विषय आदि काल से ही विचाराधीन रहा है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१०।२८।१-५) में आया है कि कौत्स,

३. सन्धिच्छेदकृतो ज्ञात्वा शूलमाग्राहयेत्प्रभुः। बृहस्पति (व्यवहारप्रकाश पृ० ३८८)।

हारीत, काण्व एवं पौष्करसादि के मत से चाहे थोड़ा हो या कोई भी परिस्थिति हो, बिना आज्ञा के किसी का कुछ लेना चोरी है, किन्तु वार्ष्यायणि के मत से कुछ अपवाद हैं, यथा--स्वामी को, थोड़ी मात्रा में मुद्ग (मूंग) या माष (उरद) या घास गाड़ी में जुते हुए बैलों को खिलाते समय मना नहीं करना चाहिए, किन्तु यदि इन वस्तुओं को खिलाने वाला अधिक मात्रा में खिलायेगा तो वह चोर समझा जायगा। शान्तिपर्व (१।१६५।११-१३), मनु (११।१६-१८) एवं याज्ञ० (३।४३) में आया है कि यदि बिना अन्न के कोई ब्राह्मण या कोई अन्य व्यक्ति तीन दिनों तक उपवास किये हो तो चौथे दिन वह कहीं से भी, चाहे किसी का खलिहान हो या खेत हो या घर हो, एक दिन के भोजन के लिए वस्तु ग्रहण कर सकता है, किन्तु प्रश्न पूछने पर उसे वास्तविक कारण बता देना चाहिए। किन्तु हीन जाति का व्यक्ति ऐसा तभी कर सकता है जब कि स्वामी (जिसका सामान वह बिना कहे उठा लेता है) पापी हो और अपनी जाति के धर्म का पालन नहीं करता हो। व्यास (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १७५) ने आपत्ति के समय भोजन के लिए चोरी करना अपराध नहीं माना है, किन्तु यह चोरी प्रथमतः अपने से किसी हीन जाति वाले के यहाँ, तब बराबर वाले के यहाँ और अन्त में अपने से उच्च-जाति के यहाँ की जा सकती है। मनु (८।३४१, मत्स्यपुराण २२७।११०,११४), नारद (प्रकीर्णक ३९), शंख एवं कात्यायन (८२२ क) के मत में भोजन कम पड़ जाने पर यात्री द्वारा बिना माँगे किसी के खेत से दो ईखों, दो मूलियों, दो तरबूजों (तरबूज), पाँच आमों या दाड़िमों, एक मुट्ठी खजूर, बेर या चावल या गेहूँ या चना ले लेना अपराध नहीं माना गया है।[४]

साहस (गुंडई, लूट-मार, डाका)

मनु (८।३२२), कौटिल्य (३।१७), नारद (१७।१), याज्ञ० (२।२३०) एवं कात्यायन (७९५-७९६) ने **साहस**[५] को ऐसा कर्म माना है जो राजकर्मचारियों या रक्षकों या अन्य लोगों की उपस्थिति में भी बलपूर्वक किया जाय। 'साहस' शब्द 'सहस्' अर्थात् बल (नारद १७।१) से निकला है। कभी-कभी **साहस स्तेय** से पृथक् माना जाता है (मनु ८।३३२, कौटिल्य ३।१७ एवं नारद १७।१२), क्योंकि **स्तेय** (चोरी) बिना बल प्रयोग किये गुप्त रूप से किसी का धन ले लेना है और **साहस** में बल या हिंसा का प्रयोग निहित है। साहस के चार प्रकार हैं--**मनुष्यमारण, चौर्य** (चोरी), **परदाराभिमर्शन** (दूसरे की स्त्री को छीन लेना) एवं **पारुष्य** (इसके दो प्रकार हैं)। देखिए बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३१२ एवं व्यवहारप्रकाश पृ० ३९२), नारद (१७।२) आदि। साहस करने वाले को चोरों आदि की

४. तिलमुद्गमाषयवगोधूमादीनां सस्यमुष्टिग्रहणेषु न दोषः पथिकानाम्। शंख (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १७६); त्रपुषे वारुके द्वे तु पञ्चाम्रं पञ्चदाडिमम्। खर्जूरबदरादीनां मुष्टिं गृह्णन्न दुष्यति।। बृह० एवं कात्या० (गृहस्थरत्नाकर पृ० ५२०); चणकव्रीहिगोधूमयवानां मुद्गमाषयोः। अनिषिद्धैर्ग्रहीतव्यो मुष्टिरेकः पथि स्थितैः।। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२७५)।

५. स्यात्साहसं त्वन्वयवत् प्रसभं कर्म यत्कृतम्। निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वापव्ययते च यत्।। मनु (८।३३२); साहसमन्वयवत् प्रसभकर्म। निरन्वये स्तेयमपव्ययने च। अर्थशास्त्र (३।१७); सहसा क्रियते कर्म यत्किञ्चिद् बलदर्पितैः। तत्साहसमिति प्रोक्तं सहो बलमिहोच्यते।। नारद (१७।१); सहसा यत्कृतं कर्म तत्साहसमुदाहृतम्। सान्ववस्त्वपहारो यः प्रसह्य हरणं च यत्।। साहसं च भवेदेवं स्तेयमुक्तं विनिह्नवे।। कात्या० १९५-७९६ (सरस्वतीविलास, पृ० ४५१, ४५७; स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३१६ एवं विवादरत्नाकर पृ० २८७। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ३१६) में आया है--अन्वयो रक्षणकालक्रमप्राप्तपालकनरनैरन्तर्यं, तस्मिन् सति योऽपहारः स सान्वयोऽपहारः।

अपेक्षा अधिक बुरा माना जाता है। मनु (८।३४५), मिताक्षरा (याज्ञ० २।२३०) के मत से ऐसे लोगों को राजा द्वारा कभी न छोड़ा जाना चाहिए।

नारद (१७।३-६) एवं बृहस्पति ने साहस की तीन श्रेणियाँ की हैं; **प्रथम साहस** (नाश करना, वाक्पारुष्य अर्थात् गाली देना, फलों, मूलों, जल, कृषि के औजार आदि को तोड़-फोड़ डालना या कुचल डालना या नष्ट करना), **मध्यम साहस** (वस्त्रों, भोजन, पेय पदार्थ, बरतन-भाण्डों को नष्ट करना) तथा **उत्तम** या बड़ा **साहस** (हथियार या विष से मारना, दूसरे की स्त्री के साथ बल प्रयोग करना तथा चेतन प्राणियों को क्लेश देना)। **साहस** के अन्तर्गत मुख्य अपराध ये हैं डकैती करना, हत्या करना तथा बलात्कार से किसी स्त्री के साथ व्यभिचार करना। बलपूर्वक व्यभिचार का वर्णन **स्त्री-संग्रहण** के अध्याय में होगा। बृहस्पति के मत से हत्या करनेवाले को अर्थ-दण्ड के स्थान पर प्राण-दण्ड मिलना चाहिए। किन्तु मनु (९।२४१) के मत से ब्राह्मण हत्यारे को प्राण-दण्ड न देकर देश-निष्कासन का दण्ड देना चाहिए। यदि ब्राह्मणेतर लोगों द्वारा असावधानी से हत्या हो जाय तो सम्पूर्ण धन छीन लेना चाहिए, किन्तु जान बूझकर हत्या करने पर प्राण-दण्ड देना चाहिए (मनु ९।२४२)। मनु (९।२३२) एवं विष्णु० (५।९-११) के मत से अपनी ओर से नकली राज्यानुशासन बनाने वाले या राज्य के अंगों के प्रति अवज्ञा दिखाने वाले या स्त्री-हत्या या बालहत्या, ब्रह्म-हत्या करने वाले को प्राण-दण्ड मिलना चाहिए। बौधायन० (१।१०।२०।२१), बृहस्पति एवं व्यास ने व्यवस्था दी है कि यदि कोई क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र ब्रह्म-हत्या करे तो उसे विविध प्रकार से प्राण-दण्ड मिलना चाहिए और सारी सम्पत्ति छीन लेनी चाहिए। किन्तु यदि कोई अपनी जाति वाले की या अपने से नीच जाति वाले की हत्या करे तो वह राजा द्वारा अपराध की गुरुता के अनुसार दण्डित होना चाहिए। कौटिल्य (४।११) के मत से पुराने शास्त्रों के नियमों के अनुसार भाँति-भाँति के कष्ट एवं क्लेश देकर प्राण-दण्ड देना चाहिए, किन्तु उन्होंने लिखा है कि यदि हत्यारे ने निर्मम हत्या न की हो तो उसे केवल शुद्ध प्राण-दण्ड मिलना चाहिए।[६] एक विशिष्ट नियम अवलोकनीय है। गौतम (२२।१२), आपस्तम्ब० (१।९।२४।६-९), मनु (११।८७), वसिष्ठ० (२०।३४) एवं याज्ञ० (३।२५१) ने आत्रेयी ब्राह्मणी की हत्या के लिए उसी प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है जो किसी ब्राह्मण पुरुष की हत्या के लिए नियोजित है।[७] आपस्तम्ब० (१।९।२४।१-५) एवं गौतम० (२२) ने मारे गये एवं मारने वाले व्यक्ति की जाति एवं लिंग के आधार पर प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है। हम प्रायश्चित्त वाले अध्याय में इस पर संक्षेप में लिखेंगे। मनु (८।२९१-२९२), याज्ञ० (२।२९८-२९९) एवं कौटिल्य (४।१३) के मत से कभी-कभी हत्या हो जाने या घायल कर देने या सम्पत्ति-नाश पर दण्ड नहीं मिलता, यथा—यदि गाड़ी में जुते बैल की नाथ अकस्मात् भंग हो जाय, जुआ टूट जाय, जब ऊँची-नीची भूमि के कारण गाड़ी एक ओर उलट जाय, जब धुरा या पहिया टूट जाय, यदि गाड़ी के विभिन्न भागों को बाँधने वाले चर्म-बन्धन टूट जायँ, जब रास टूट जाय और जब बहुत जोर से पुकारने पर भी मार्ग से व्यक्ति न हटे और दुर्घटना हो जाय। किन्तु उपर्युक्त स्थितियों से विपरीत दशाओं में गाड़ी के स्वामी को २०० पण दण्ड देना पड़ता था (जब गाड़ीवान दक्ष न हो)। यदि गाड़ीवान दक्ष हो और दुर्घटना हो जाय तो गाड़ीवान को ही दण्डित होना पड़ता है। यदि मार्ग अवरुद्ध

६. एते शास्त्रेष्वनुगताः क्लेशदण्डा महात्मनाम्। अक्लिष्टानां तु पापानां धर्मः शुद्धवधः स्मृतः॥ अर्थशास्त्र (४।११)।

७. आत्रेय्याश्चैवम्। गौतम० (२२।१२); आत्रेयीं च स्त्रियम्। आप० (१।९।२४।९)। आत्रेयी का अर्थ सम्भवतः शतपथब्राह्मण (१।४।५।१२) में रजस्वला स्त्री है। अमरकोश में भी आत्रेयी रजस्वला का पर्याय है। कुछ लोग अत्रि गोत्र वाली स्त्री को आत्रेयी कहते हैं।

हो तो असावधानी से हाँकने पर दुर्घटना होने पर गाड़ीवान को दण्डित किया जाता है (मनु ८।२९३-२९५)। नारद (पारुष्य ३२) के मत से पुत्र के अपराध के कारण पिता दण्डित नहीं होता और न घोड़े, कुत्ते एवं बन्दर के दोष के कारण उनका स्वामी; किन्तु जब स्वामी जान-बूझकर उन्हें उत्तेजित कर किसी को हानि पहुँचाता है तो दण्डित होता है। असावधानी से एवं तेजी से हाँकने वाले गाड़ीवान से यदि किसी मनुष्य की मृत्यु हो जाती है तो उसे चोर के समान दण्डित होना पड़ता है। किन्तु यदि गाय, घोड़ा, ऊँट या हाथी मर जाय तो चोरी का आधा दण्ड देना पड़ता है और छोटे पशुओं की (दुर्घटना से) हत्या होने पर २०० पण दण्ड देने पड़ते हैं। कौटिल्य (३।१९), मनु (८।२८५), याज्ञ० (२।२२७-२२९) एवं विष्णु (५।५५-५९) ने वृक्षों, पौधों, शाखाओं, पुष्पों एवं फलों के नाश पर उनकी उपयोगिता एवं पवित्रता के अनुसार दण्ड लगाया है।

स्मृतियों ने साहस के अपराधों एवं असावधानता से या त्रुटिवश किये गये अपराधों के दण्डों में भेद प्रदर्शित किया है। जान-बूझकर किसी को उसके घर, वाटिका या खेत से वंचित कर देने पर ५०० पणों का दण्ड तथा ग़लती से ऐसा कर देने पर २०० पणों का दण्ड लगता है।

उकसाने या उभाड़ने वाले (प्रोत्साहक) को दण्डित करने के लिए कई नियम बने हुए थे। याज्ञ० (२।२३१) एवं कौटिल्य (३।१७) ने प्रोत्साहक को वास्तविक अपराधी के दण्ड का दूना तथा उसको जो यह कहकर उभाड़ता है कि "जितने धन की आवश्यकता पड़ेगी दूँगा," चौगुना दण्ड देने को कहा है। कात्यायन (७९८) एवं बृहस्पति के मत से यदि कई व्यक्ति किसी की हत्या करें तो उसे जिसने मर्मस्थल पर घात किया है, अर्थात् जो मर्मप्रहारक होता है उसी को हत्या का दण्ड मिलता है।[८] कात्यायन (७९८) एवं बृहस्पति ने लिखा है कि जो अपराध का प्रारम्भ करता है, जो (साहस करने का) मार्ग दिखाता है, जो अपराधी को आश्रय देता है या अस्त्र-शस्त्र देता है, जो अपराधी को खिलाता है, जो प्रहार करने को उभाड़ता है, जो मारे गये व्यक्ति को नष्ट करने का उपाय बताता है, जो अपराध करते समय उपेक्षा प्रदर्शित करता है, जो मारे गये व्यक्ति का दोष अभिव्यक्त करता है, जो अपराध का अनुमोदन करता है, जो योग्य होने पर भी अपराध नहीं रोकता—ये सब अपराध[९] के कर्ता कहे जाते हैं और राजा को चाहिए कि वह उन्हें उनकी योग्यता एवं दोष के अनुसार दण्डित करे। और देखिए आपस्तम्ब० (२।११।२९।१)। जो अपराध का आरम्भ करता है या वैसा करने को उभाड़ता है उसे बृहस्पति के मत से वास्तविक दोषी का आधा दण्ड मिलता है।

याज्ञ० (२।२३२-२४२) ने साहस से संबंधित कई अपराधों का वर्णन किया है और तदनुसार दण्ड-व्यवस्था दी है। यथा—मुहरबंद (तालेबंद) घर में प्रवेश करना, पड़ोसियों एवं कुलिकों (दायादों) को हानि पहुँचाना, पतित न हुए अपने माता-पिता, पुत्रों, भाइयों या बहिनों का परित्याग करना, विधवा के साथ व्यभिचार करना, चाण्डालों द्वारा जान-बूझकर उच्च जाति को अपवित्र करना, जाली सिक्का बनाना या झूठा बटखरा या तराजू बनाना तथा राजकर्मचारियों या अन्य व्यक्तियों की कुचिकित्सा करना। इन पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे।

८. एकस्य बहवो यत्र प्रहरन्ति रुषान्विताः। मर्मप्रहारको यस्तु घातकः स उदाहृतः।। बृहस्पति (विवादरत्नाकर पृ० ३७३, व्यवहारप्रकाश पृ० ३९५); मर्मघाती तु यस्तेषां यथोक्तं दापयेद्दमम्।। बृह० (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३१२, वि० र० पृ० ३७३)।

९. आरम्भकृत् सहायश्च तथा मार्गानुदेशकः। आश्रयः शस्त्रदाता च भक्तदाता विकर्मिणाम्।। युद्धोपदेशकश्चैव तद्विनाशप्रदर्शकः। उपेक्षाकारकश्चैव दोषवक्तानुमोदकः।। अनिषेद्धा क्षमो यः स्यात्सर्वे ते कार्यकारिणः। यथाशक्त्यनुरूपं तु दण्डमेषां प्रकल्पयेत्।। कात्या० (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३१२, पराशरमाधवीय ३, पृ० ४५५, विवादरत्नाकर पृ० ३७५, व्य० प्र० पृ० ३९५)।

अध्याय २५

स्त्रीसंग्रहण (पर-स्त्री के साथ नियमविरुद्ध मिथुनीभाव)

मिताक्षरा (याज्ञ० २।२८३) के मत से मिथुनीभाव (संभोग) के लिए किसी पुरुष एवं स्त्री का एक साथ होना संग्रहण है।[1] बृहस्पति के मत से पापमूल संग्रहण तीन प्रकार का होता है--बल से, धोखे से तथा कामपिपासा से संभोग करना।[2] इनमें प्रथम है बलात्कार से संभोग करना, वह भी स्त्री की इच्छा के विरुद्ध किसी गुप्त स्थान में या ऐसी स्त्री के साथ संभोग करना जो पागल हो या उस स्त्री के साथ जिसकी मानसिक स्थिति अव्यवस्थित हो या जो भ्रमित हो या उसके साथ जो चिल्ला रही हो। दूसरा प्रकार वह है जिसमें कोई स्त्री छद्म या किसी बहाने बुला ली गयी हो या जिसे कोई मद्य (यथा धतूरा आदि) पिला दिया गया हो या जो किसी प्रकार (मन्त्र या वशीकरण आदि उपायों से) वश में कर ली गयी हो और उसके साथ संभोग-कर्म किया जाय। तीसरा प्रकार वह है जिसमें कोई स्त्री आँख मारकर या दूती भेजकर बुला ली गयी हो या दोनों एक-दूसरे के सौन्दर्य या धन से आकृष्ट हो गये हों और संभोग में लिप्त हो गये हों। इनमें तीसरा प्रकार भी तीन प्रकार का होता है--साधारण, मध्यम एवं गम्भीर; जिनमें प्रथम प्रकार में कटाक्ष करना, मुसकराना, दूती भेजना, स्त्री के आभूषणों एवं वस्त्रों को छूना सम्मिलित है; दूसरे में पुष्प, अनुलेपन (अंजन आदि), फल, धूप, भोजन, वस्त्र तथा गुप्त बातचीत करना सम्मिलित हैं और तीसरे में एक ही बिस्तर पर सोना, विहार करना, चुम्बन एवं आलिंगन आदि सम्मिलित हैं।

मदनरत्न, व्यवहारप्रकाश (पृ० ३६९-३९७) आदि ने बलात्कारपूर्वक संभोग को साहस के अन्तर्गत रखा है। बल द्वारा संभोग करने पर बहुत कड़ा दण्ड मिलता था। बृहस्पति के अनुसार समान जातीय से साहसपूर्वक संभोग करने पर सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन ली जानी चाहिए, लिंग एवं अण्डकोष काट लिये जाने चाहिए, गदहे पर चढ़ाकर घुमाना चाहिए; किन्तु यदि संभोग की हुई स्त्री व्यभिचारी से हीन जाति की हो तो उपर्युक्त दण्ड का आधा लगता है; किन्तु यदि स्त्री की जाति पुरुष की जाति से उच्च हो तो पुरुष को मृत्यु-दण्ड मिलता है और उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन ली जाती है। कात्यायन (८३०) के अनुसार बलात्कार करने पर मृत्यु-दण्ड मिलता है, क्योंकि यह उचित आचरण के विरुद्ध है। जब धोखे से संभोग किया जाता है तो सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन ली जाती है, माथे पर स्त्री के गुप्तांग का दाग लगा दिया जाता है और व्यभिचारी को बस्ती के बाहर कर दिया जाता है। किन्तु यहाँ भी जाति-सम्बन्धी छट एवं अधिकता वर्णित है।[3]

१. स्त्रीपुंसयोर्मिथुनीभावः संग्रहणम्। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२८३); संग्रहणं परस्त्रिया सह पुरुषस्य सम्बन्धः। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ८)।

२. अपरार्क पृ० ८५४; स्मृतिच० २, पृ० ८; व्य० प्र० पृ० २९७; वि० र० पृ० ३७९; परा० मा० ३, पृ० ४६२।

३. सहसा कामयेद्यस्तु धनं तस्याखिलं हरेत्। उत्कृत्य लिंगवृषणौ भ्रामयेद् गर्दभेन तु॥ दमो नेयः समायां तु हीनायामर्धिकस्ततः। पुंसः कार्योऽधिकायां तु गमने संप्रमापणम्॥ बृहस्पति (स्मृति च० २, पृ० ३२०; व्य० प्र०

बलात्कार एवं धोखे से संभुक्त नारी को दण्ड नहीं मिलता था, उसे केवल कृच्छ्र या पराक नामक प्रायश्चित्त (व्रत) करना पड़ता था। जब तक वह प्रायश्चित्त से पवित्र नहीं हो जाती थी उसे घर में सुरक्षा के भीतर रहना पड़ता था, शृंगार-बनाव नहीं करना होता था, पृथिवी पर सोना पड़ता था तथा केवल जीवन-निर्वाह के लिए भोजन मिलता था। प्रायश्चित्त के उपरान्त वह अपनी पूर्व स्थिति प्राप्त कर लेती थी। याज्ञ० (२।२८६) एवं बृहस्पति के अनुसार एक-दूसरे की सहमति से व्यभिचार करने पर पुरुष को अपनी ही जाति की नारी के साथ ऐसा करने पर अधिकतम दण्ड, अपने से हीन जाति के साथ ऐसा करने पर उसका आधा दण्ड देना पड़ता था, किन्तु अपने से उच्च जाति वाली नारी के साथ ऐसा करने पर मृत्यु-दण्ड मिलता था और नारी के कान आदि काट लिये जाते थे। कुछ ऋषियों ने नाक, कान आदि काटने का विरोध किया है। यम के मत से यदि नारी की सम्मति से व्यभिचार हुआ हो तो मृत्यु-दण्ड देना या अंग-विच्छेद (सौन्दर्य-भंग) करना या विरूप बनाना अच्छा नहीं, प्रत्युत उसे निकाल बाहर करना श्रेयस्कर माना गया है। कात्यायन (४८७) ने एक सामान्य नियम यह दिया है कि सभी प्रकार के अपराधों में जो दण्ड पुरुष को मिलता है उसका आधा ही नारी को मिलना चाहिए; यदि पुरुष को मृत्यु-दण्ड मिले तो वहाँ नारी का अंग-विच्छेद ही पर्याप्त है।[४]

नारद (१५।७३-७५) के मत से निम्नोक्त नारियों से संभोग करना पाप है और ऐसा करने पर शिश्न-कर्तन से कम दण्ड नहीं मिलता।[५] विमाता, मौसी (माता की बहिन), सास, चाचा या मामा की पत्नी (अर्थात् चाची या मामी), फूफी (पिता की बहिन), मित्रपत्नी, शिष्यपत्नी, बहिन, बहिन की सखी, वधू (पतोहू), पुत्री, गुरु-पत्नी, सगोत्रा (अपने गोत्र वाली स्त्री), शरणागता (शरण में आयी हुई स्त्री), रानी, प्रव्रजिता (संन्यासिनी), धात्री (दूध पिलाने वाली), साध्वी एवं उच्च जाति की स्त्री। और देखिए मनु (११।१७०-१७१), कौटिल्य (४।१३), याज्ञ० (३।२३१-२३३), मत्स्यपुराण (२२७।१३९-१४१), जिनमें अन्तिम तीन में इस प्रकार के अपराध के लिए शिश्न-कर्तन एवं प्रायश्चित्त स्वरूप प्राण-दण्ड (ब्राह्मण को छोड़कर) की व्यवस्था दी हुई है और स्त्री के लिए (यदि उसकी भी सहमति हो तो) मृत्यु-दण्ड देने को कहा गया है। बृहद्-यम (३।७), आपस्तम्ब (पद्य, ९।१) एवं यम (३५) ने लिखा है कि माता, गुरुपत्नी, बहिन या पुत्री के साथ व्यभिचार करने पर अग्नि-प्रवेश से बढ़कर दूसरा प्रायश्चित्त नहीं है। यह विचित्र बात है कि कौटिल्य (४।१३) एवं याज्ञ० (२।२९३) ने प्रव्रजिता-गमन पर केवल २४ पणों का दण्ड लगाया है और नारद (१५।७४) एवं मत्स्य० (२२७।१४१) ने इसे अत्यन्त महान् अपराध माना है। सम्भवतः प्रथम दो ने

पृ० ३९६-३९७; परा० मा० ३, पृ० ४६६)। स्त्रीषु वृत्तोपभोगः स्यात्प्रसह्य पुरुषो यदा। वधे तत्र प्रवर्तेत कार्यातिक्रमणं हि तत्॥ कात्यायन (स्मृतिच० २, पृ० ३२०; व्य० प्र० पृ० ३९७; व्यवहारमयूख पृ० २४४)। छद्मना कामयेद्यस्तु तस्य सर्वहरो दमः। अंकयित्वा भगांकेन पुरान्निर्वासयेत्ततः॥ बृहस्पति (स्मृतिच० २, पृ० ३२०; वि० र० पृ० ३८९)।

४. सर्वेषु चापराधेषु पुंसो योर्थदमः स्मृतः। तदर्धं योषितो दद्युर्वधे पुंसोऽङ्गकर्तनम्॥ कात्यायन (४८७, स्मृति० २, पृ० ३२१; व्यवहारमयूख पृ० २४६)।

५. माता मातृष्वसा श्वश्रूर्मातुलानी पितृष्वसा। पितृव्यसखिशिष्यस्त्री भगिनी तत्सखी स्नुषा॥ दुहिताचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता। राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या॥ आसामन्यतमां गत्वा गुरुतल्पग उच्यते। शिश्नस्योत्कर्तनं तस्य नान्यो दण्डो विधीयते॥ नारद (१५।७३-७५)। विवादरत्नाकर (पृ० ३९२) में आया है-- मातात्र जननीव्यतिरिक्ता पितृपत्नी। गुप्ताविषयमेतत्।

उन प्रव्रजिताओं की ओर संकेत किया है जो नीच कुल की होती थीं और सनातन धर्म को नहीं मानती थीं, तथा अन्तिम दो में ऐसी प्रव्रजिताओं की ओर संकेत है जो उच्च कुल की संन्यासिनी होती थीं। और देखिए मनु (८।३६३)। वेश्या की इच्छा के विरुद्ध संभोग करने से कौटिल्य (४।१३) एवं याज्ञ० (२।२९१) में क्रम से १२ एवं १४ पणों का दण्ड कहा गया है। अप्राकृतिक व्यभिचार के लिए कौटिल्य (४।१३।), याज्ञ० (२।२८९ एवं २९३), विष्णु० (५।४४) एवं नारद (१५।७६) ने क्रम से १२, २४, १०० एवं ५०० पणों का दण्ड लगाया है।

पुरुष एवं स्त्री की जाति, विवाहिता एवं अविवाहिता, गुप्ता (रक्षिता) एवं अगुप्ता के आधार पर दण्ड की विविध कोटियाँ थीं। देखिए गौतम (१२।२), वसिष्ठ० (२१।१।१-५), मनु (८।३५९), विष्णु० (५।४१), याज्ञ० (२।२८६, २९४), नारद (१५।७०) आदि, जहाँ उच्च एवं नीच जाति के अपराधियों के विषय में लिखा हुआ है; गौतम० (१२।३), मनु (८।३७४-३७८, ३८२-३८५), कौटिल्य (४।१३) आदि, जहाँ रक्षित एवं अरक्षित नारियों के साथ व्यभिचार करने के दण्डों के विषय में उल्लेख है; मनु (८।३६४-३७०), याज्ञ० (२।२८५),२८७), कौटिल्य (४।१२), नारद (१५।-७१-७२) आदि, जहाँ अविवाहित नारियों के साथ व्यभिचार करने वालों के दण्डों के विषय में लिखा हुआ है।

अति प्राचीन सूत्रों एवं स्मृतियों में अपेक्षाकृत कठिन दण्ड कहे गये हैं। हम इस प्रकार के विवेचन के विस्तार में यहाँ नहीं पड़ेंगे। दो-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे। गौतम (।३।१४-१५) एवं मनु (८।३७१) ने व्यभिचारियों को कुत्तों से नुचवा डालने को कहा है, किन्तु याज्ञ० (२।२८६) इस विषय में कुछ मृदुल है। आपस्तम्ब० (२१०।२६। २०।२१) ने विवाहित नारी के साथ संभोग करने पर शिश्न एवं अण्ड काट लेने को कहा है किन्तु अविवाहित नारी के साथ ऐसा करने पर केवल सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन लेने की व्यवस्था दी है। किन्तु याज्ञ० (२।२८८), मनु (८।३६६) एवं नारद (१५।७२) ने लिखा है कि यदि कोई पुरुष अपनी ही जाति की अविवाहित नारी के साथ संभो ग करे तो उसे राजा द्वारा दण्ड नहीं मिलना चाहिए, प्रत्युत उसे आभूषण आदि के साथ उस नारी से सम्मानपूर्वक विवाह करने लेने की छूट दी जानी चाहिए।

याज्ञ० (२।२९०) एवं नारद (१५।७९) ने किसी के घर में या बाहर रहनेवाली दासी के साथ संभोग करने को अपराध माना है और याज्ञ० ने ऐसा करने पर ५० पणों का दण्ड लगाया है। और देखिए इस ग्रन्थ का द्वितीय भाग (अध्याय १६) जहाँ वेश्याओं का वर्णन है। मनु (८।३६२) ने जहाँ परनारी से बात करने पर दण्ड-व्यवस्था दी है वहीं अभिनेताओं, संगीतज्ञों एवं अपनी पत्नियों की वृत्ति से जीविका चलानेवालों के लिए छूट दी है और उनकी स्त्रियों से संभोग करने को अपराध नहीं माना है, क्योंकि वे स्वयं गुप्त रहकर अपनी स्त्रियों को अन्य लोगों से मिलने-जुलने की छूट देते हैं।

स्त्रीपुंधर्म (पति-पत्नी का धर्म)

इस विषय में हमने बहुत-कुछ इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग (अध्याय ११) में ही लिख दिया है। **ऋणादान** के विषय में चर्चा करते हुए एक-दूसरे के उत्तरदायित्व पर भी प्रकाश डाला जा चुका है। **दायभाग** के अध्याय में हम सम्पत्ति-विभाजन, वसीयत (रिक्थ) एवं जीविकासाधन के विषय में उल्लेख करेंगे। **स्त्रीपुंधर्म** के अन्तर्गत नारद ने विवाह से संबंधित क्रिया-संस्कारों, वर-वधू के निर्वाचन, वधू-जाति संबंधी नियन्त्रण के नियमों, विवाह के अभिभावकों, चुने गये वरों एवं वधुओं के दोषों, विवाह-प्रकारों, पुनर्भू एवं स्वैरिणी स्त्रियों, नियोग-प्रथा, अवैधानिक संभोग, व्यभिचारिणी स्त्रियों के दण्ड, पुनर्विवाह, वर्णसंकर एवं मिश्रित जातियों के विषय में उल्लेख किया है। मनु (९।१) ने भी पति-पत्नी के कर्तव्य के विषय में लिखने की बात कही है। मनु (९।२) का कथन है कि पति का और पुरुषों का प्रथम कर्तव्य

है स्त्रियों को आश्रित रखना और नारद (१६।३०) का कथन है कि स्वतन्त्रता के कारण अच्छे कुल की नारियाँ भी बिगड़ जाती हैं। मनु (९।५) एवं बृहस्पति के अनुसार सबसे महत्वपूर्ण बात है स्त्रियों की साधारण-से-साधारण अनुचित अनुरागों से रक्षा करना, क्योंकि तनिक पाँव फिसल जाने से वे (पति एवं पिता के) कुलों को दुःख के पारावार में डुबो सकती हैं।[६] हारीत[७], शंख-लिखित[८], मनु (९।७ एवं ९) एवं अन्य स्मृतियों के मत से अपनी संतति की पवित्रता की रक्षा के लिए पति को अन्य लोगों से अपनी पत्नी की रक्षा करनी चाहिए। पत्नी की रक्षा करके पति अपनी प्रसिद्धि, कुल, आत्मा, धर्म की रक्षा करता है, क्योंकि स्त्री जिस पुरुष से संभोग करती है उसी के समान पुत्र की उत्पत्ति करती है और मासिक धर्म के दिनों में जिस पुरुष को ध्यान में रखती है वैसा ही पुत्र जनती है। मनु (९।१०) को यह बात स्पष्ट रूप से ज्ञात थी कि स्त्रियों को बलवश परदे में रखकर उनकी पूरी रक्षा नहीं की जा सकती, प्रत्युत उन्हें गृह-कार्यों में संलग्न रखकर ऐसा किया जा सकता है (देखिए मनु ९।११ एवं बृहस्पति)।[९] पतियों को चाहिए कि वे उनका सम्मान एवं प्रेम प्राप्त करें, उन्हें उनकी इज्ज़त करनी चाहिए (मनु ९।२२-२४-२६ एवं याज्ञ० १।८२)। तलाक के विषय में हमने पहले ही लिख दिया है (देखिए इस ग्रन्थ का द्वितीय भाग, अध्याय १४)।

६. सूक्ष्मेभ्योपि प्रसंगेभ्यो निवार्या स्त्री स्वबन्धुभिः। श्वश्र्वादिभिर्गुरुस्त्रीभिः पालनीया दिवानिशम्॥ बृ० (स्मृति० २, पृ० २२९; व्य० प्र० पृ० ४०५; वि० र० पृ० ४११)।

७. तस्माद्रेतोपघाताज्जायां रक्षेत्। जायानाशे कुलनाशः कुलनाशे तन्तुनाशः तन्तुनाशे देवपितृयज्ञनाशः यज्ञनाशे धर्मनाशः धर्मनाशे आत्मनाशः आत्मनाशे सर्वनाशः। तस्मादेनां धर्मशीलां सुगुप्तां पत्नीं रक्षेत्। हारीत (स्मृतिच०२, पृ० २३९; वि० र० पृ० ४१०; व्य० प्र० पृ० ४०५; मदनरत्न)।

८. यस्मिन्भावोऽर्पितः स्त्रीणामार्तवे तच्छीलं पुत्रं जनयन्ति यथा नीलवृषेण नीलवृषवत्सप्रभवः श्वेतेन श्वेत एव जायते। एवं योनिरेव बलवती यस्माद्वर्णाः संकीयन्ते। शंखलिखित (वि० र० पृ० ४१४; स्मृति० २, पृ० २४१; व्य० प्र० पृ० ४०८)।

९. आयव्ययेऽर्थसंस्कारे गृहोपस्करक्षणे। शौचाग्निकार्ये संयोज्याः स्त्रीणां शुद्धिरियं स्मृता॥ बृ० (व्यवहारप्रकाश पृ० ४०९)।

अध्याय २६

द्यूत और समाह्वय

मनु (९।२२३), नारद (१९।१) एवं बृहस्पति ने द्यूत (जुआ) को वह खेल कहा है जो पासे, चर्म-खण्डों, हस्तिदन्त-खण्डों आदि से खेला जाता है तथा जिसमें कोई बाजी लगी रहती है, और **समाह्वय** को वह खेल माना है जिसमें जीवों, यथा—मुर्गों, कबूतरों, भेड़ों, भैंसों एवं मल्लों (कुश्तीवाजों) की लड़ाई होती है और बाजी लगी रहती है। मनु ने द्यूत को बुरा खेल माना है (९।२२१, २२२, २२४-२२६)। उन्होंने द्यूत एवं समाह्वय को राजा द्वारा वर्जित करने को कहा है, क्योंकि इनसे राज्य का नाश होता है। उन्होंने इसे खुलेआम चोरी की संज्ञा दी है और ऐसा करनेवालों के लिए शरीर-दण्ड की व्यवस्था दी है। क्योंकि उनके द्वारा भले लोग भी वंचनाओं में फँस जाते हैं। मनु (९।२२७=उद्योग-पर्व ३७।१९) ने लिखा है कि प्राचीन काल में द्यूत से वैमनस्य उत्पन्न होता रहा है अतः मनुष्य को आनन्द के लिए भी इसे नहीं खेलना चाहिए, क्योंकि यह बुरी लत है। कात्यायन (९३४) ने भी यही बात कही है। याज्ञ० (२।२०३) एवं कौटिल्य (३।२०) ने राज्य के संरक्षण में किसी केन्द्रस्थान में द्यूत खेलने की छूट दी है, क्योंकि इससे चोरों का पता लग जाता है।[1]

बृहस्पति ने उपर्युक्त विरोधी मतों की ओर संकेत करते हुए कहा है—सत्य (सचाई या ईमानदारी), शौच (पवित्रता) एवं धन की रक्षा के लिए द्यूत मनु द्वारा वर्जित ठहराया गया है, किन्तु अन्य लोगों ने इसे वर्जित नहीं किया, क्योंकि इससे चोरों का पता चलता है। किन्तु उन लोगों ने भी इसे द्यूतभवन के अध्यक्ष की उपस्थिति में ठीक माना है, क्योंकि इससे राज्य को कर मिलता है। इस प्रकार द्यूत खिलाने वाले को **सभिक** तथा बाजी के धन को (जिसे हारने वाले को देना पड़ता है) **पण** या **ग्लह** (याज्ञ० २।१९९) कहा जाता है। नारद (१९।८) ने एक विकल्प भी दिया है; सभिक द्वारा न खिलाये जाने पर यदि खेलनेवाला बाजी का भाग राजा को देकर कहीं अन्य स्थान पर भी द्यूत खेलता है तो उसे दण्ड नहीं मिलता। याज्ञ० (२।१९९) के मत से, जैसी कि पराशरमाधवीय (३, पृ० ५७४) एवं व्यवहार-प्रकाश (पृ० ५६५) ने टीका की है, १०० पणों की या अधिक की बाजी रहने पर सभिक को ५ प्रतिशत या १/२० भाग तथा १०० पणों से कम रहने पर १० प्रतिशत या १/१० भाग देना पड़ता था। अपरार्क (पृ० ८०२) ने टीका की है कि सभिक को विजयी से ५ प्रतिशत तथा हारनेवाले से १० प्रतिशत मिलता था। किन्तु नारद (१९।२) ने सभिक के लिए पूरी बाजी का १० प्रतिशत निर्धारित किया है। कौटिल्य (३।२०) ने ५ प्रतिशत शुल्क लगाया है और सभिक को द्यूत की सामग्री (पासा, चर्म-खण्ड आदि), जल एवं स्थान आदि देने के उपलक्ष्य में किराया लेने की छूट दी है। राजा की ओर से संरक्षण मिलने के कारण सभिक को निश्चित शुल्क देना पड़ता था। उसे हारे हुए व्यक्ति से बाजी

१. द्यूतमेकमुखं कार्यं तस्करज्ञानकारणात्। याज्ञ० (२।२०३); द्यूताध्यक्षो द्यूतमेकमुखं कारयेदन्यत्र दीव्यतो द्वादशपणो दण्डः, गूढाजीविज्ञापनार्थम्। अर्थशास्त्र (३।२०); ध्रुवं द्यूतात्कलिर्यस्माद्विषं सर्पमुखादिव। तस्माद्राजा निवर्तेत विषये व्यसनं हि तत्॥ कात्यायन (विवादरत्नाकर, पृ० ६११)।

का धन लेकर (बन्दी बनाकर या अन्य उपाय से) विजयी को देना पड़ता था और ईमानदारी (प्रत्यय) एवं संयम से काम लेना पड़ता था (याज्ञ० २।२००; कात्यायन ९४०; नारद १९।२)। कात्यायन (९३७) ने लिखा है कि सभिक अपने जेब से जयी को जीत का धन दे सकता था और हारे हुए से तीन पखवारे के भीतर या संदेह होने पर तुरन्त प्राप्त कर सकता था।

कात्यायन (१०००) ने लिखा है कि यदि द्यूत की छूट मिले तो वह खुले स्थान में द्वार के पास खिलाया जाना चाहिए, जिससे भले व्यक्ति धोखा न खायँ और राजा को कर मिले। यदि द्यूत खुले स्थान में खिलाया गया हो और वहाँ सभिक उपस्थित रहा हो तथा उसने राजा को शुल्क दे दिया हो तो उस स्थिति में, जब कि हारा हुआ व्यक्ति विजयी को जीता हुआ धन न दे, तो राजा को चाहिए कि वह जयी को वह धन दिला दे, अर्थात् सभिक जयी को धन दिलाने के उत्तरदायित्व से बरी रहता है (याज्ञ० २।२०१)। नारद (१९।६-७) एवं याज्ञ० (२।२०२) के मत से यदि द्यूत-बाजी गुप्त स्थान में हुई हो, राजा की आज्ञा न रही हो तथा झूठे पासों एवं चालाकियों का सहारा लिया गया हो तो सभिक तथा द्यूत खेलने वाले को धन-प्राप्ति का कोई अधिकार नहीं प्राप्त होता और उसे दण्डित होना पड़ता है (माथे पर कुत्ते के पैर का या अन्य निशान दाग दिया जाता है) तथा निष्कासित हो जाने का दण्ड भी प्राप्त हो सकता है। नारद (१९।६) का कथन है कि निष्कासित जुआरियों के गले में पासों की माला पहना दी जाती है। कात्यायन (९४१) एवं बृहस्पति के मत से अबोध व्यक्ति यदि गुप्त स्थान में जुआ खेले तो वह उत्तरदायित्व से बरी हो सकता है, किन्तु दक्ष जुआरी हार जाने पर ऐसी छूट नहीं पाता, किन्तु यदि दक्ष व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति जुए में हार जाय तो उसे केवल आधा देना पड़ता है। कात्यायन (९४२) के मत से यदि सभिक ईमानदार है तो जुआरियों के झगड़ों, जय घोषित करने एवं धोखे के पासों आदि के निर्णय में उसका फैसला अन्तिम होता है। नारद (१९।४), याज्ञ० (२।२०२), बृहस्पति एवं कात्यायन (९४३) ने व्यवस्था दी है कि यदि जीत एवं हार के विषय में कोई विग्रह हो तो राजा द्यूत खेलने वालों को निर्णय देने एवं साक्ष्य देने के लिए तैनात कर सकता है (यहाँ पर जुआरियों को साक्ष्य देने के लिए छूट है, अन्यत्र नहीं), किन्तु यदि ऐसे द्यूत खेलने वाले विग्रहियों से वैर रखते हों तो राजा को स्वयं झगड़े का निपटारा करना पड़ता है।

याज्ञ० (२।२०३) ने द्यूत-सम्बन्धी सभी नियमों को **समाह्वय** के लिए भी स्वीकार किया है। बृहस्पति का कथन है कि जिसका पशु हारता है उसके स्वामी को बाजी का धन देना पड़ता है (वि० र० पृ० ६१४; सरस्वतीविलास पृ० ४८६)। सरस्वतीविलास (पृ० ४८७) ने विष्णु एवं एक टीका (विष्णुधर्मसूत्र की, सम्भवतः भारुचि-टीका) का उल्लेख करते हुए लिखा है कि राजा को प्रत्येक लड़ने वाले पशु के स्वामी से बाजी के धन का चौथाई भाग मिलता है। हारा हुआ पशु (भैंसा एवं कुश्तीबाज को छोड़कर) चाहे वह जीवित हो या मृत, जयी पशु के स्वामी को प्राप्त हो जाता है। मानसोल्लास (जिल्द ३, पृ० २२९) ने कुश्ती की प्रतियोगिताओं, मुर्गों की लड़ाइयों आदि से सम्बन्धित राजा के आमोद-प्रमोद का विशद वर्णन उपस्थित किया है। दशकुमारचरित में द्यूत की ओर कई संकेत मिलते हैं। द्वितीय उच्छ्वास (पृ० ४७) में द्यूत की २५ कलाओं का उल्लेख मिलता है, जहाँ यह आया है कि सभिक के निर्णय पर ही द्यूत-सम्बन्धी झगड़े तय होते हैं, १६,००० दीनारों की बाजी में जयी को आधा मिलता है और शेष आधा सभिक तथा द्यूत-भवन के वासियों में बँट जाता है।

द्यूत अति प्राचीन दुर्गुणों में एक है। ऋग्वेद (१०।३४) में एक जुआरी का रुदन वर्णित है। वहाँ कई स्थानों पर द्यूत का संकेत मिलता है (ऋग्वेद १।४१।९, ७।८६।६)। अथर्ववेद (४।१६।५, ४।३८) में भी द्यूत के पासों एवं ग्लह का उल्लेख मिलता है। वाजसनेयी संहिता (३०।१८) में "अक्षराजाय कितवम्" शब्द आये हैं। कुछ यज्ञों, यथा राजसूय में, पासा एक महत्त्वपूर्ण विषय माना गया है। देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय ३४। पाणिनि (२।-

१।१०, ४।४।२, ४।४।१९, २।३।५७-५८) ने भी द्यूत से सम्बन्धित शब्दों के निर्माण की बात कही है, यथा---अव्ययीभाव समास के विषय में **अक्षपरि, शलाकापरि; आक्षिक, आक्षद्यूतिक** (वैर) आदि। आपस्तम्ब० (२।१०।२५।१२-१३) ने भी द्यत के विषय में लिखा है। महाभारत (सभापर्व ५८।१६) में युधिष्ठिर ने कहा है कि ललकारने पर वे पासा खेलने से विमुख नहीं होंगे। युधिष्ठिर की द्यूत-क्रिया से प्रकट है कि अच्छे व्यक्ति भी द्यूत खेलने से पथ-भ्रष्ट हो सकते हैं और उनमें मानसिक उद्वेग उत्पन्न हो सकता है, उनकी नैतिकता, कर्तव्यशीलता, प्रेम, श्रद्धा आदि अच्छी वृत्तियाँ नष्ट हो सकती हैं।[२] स्मृतिकारों एवं राजनीतिज्ञों ने राजा के लिए यह एक बड़ा दुर्गुण माना है। ब्रह्मपुराण (१७१।२९-३८) ने इसकी भर्त्सना की है। वेद ने भी भर्त्सना की है (ऋग्वेद १०।३४।१०-११)। द्यूत से किसी अन्य पाप की तुलना नहीं हो सकती। इससे अत्यन्त समझदार व्यक्ति की मति का भी नाश हो जाता है, अच्छा व्यक्ति बुरा हो जाता है और भाँति-भाँति के मतभेद एवं व्यसन उत्पन्न हो जाते हैं।[३]

२. आहूतोऽहं न निवर्ते कदाचित्तदाहितं शाश्वतं वै व्रतं मे॥ सभापर्व (५८।१६)।

३. अक्षद्यूतं महाप्राज्ञ सतां मतिविनाशनम्। असतां तत्र जायन्ते भेदाश्च व्यसनानि च॥ उद्योगपर्व (१२८।६)। द्यूतं निषिद्धं मनुना सत्यशौचधनापहम्। बृहस्पति (स्मृ० च० २, ३३१)।

अध्याय २७

दायभाग (सम्पत्ति-विभाजन)

दाय शब्द अति प्राचीन वैदिक साहित्य में भी प्रयुक्त हुआ है। 'ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्' (ऋग्वेद २।३२।४) में 'शतदाय' शब्द को सायण ने 'प्रभूत दाय' (वसीयत) से युक्त' के अर्थ में लिया है। ऋग्वेद (१०।११४।१०) के 'श्रमस्य **दायं** विभजन्त्येभ्यः' में **दाय** का अर्थ सम्भवतः 'भाग' या 'पुरस्कार' है। तैत्तिरीय संहिता एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों में **दाय** 'पैतृक सम्पत्ति' या केवल 'सम्पत्ति' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। नाभानेदिष्ठ की गाथा में आया है कि मनु ने अपना **दाय** अपने पुत्रों में बाँट दिया (तै० सं० ३।१।९।४)। यहाँ **दाय** का अर्थ 'धन' है, जैसा कि तै० सं० के एक अन्य मन्त्र में कहा गया है, यथा 'अतः वे अपने ज्येष्ठ पुत्र को धन से प्रतिष्ठित करते हैं (२।५।२।७)। ताण्ड्य ब्राह्मण (१६।४।३-४) में आया है—(मानवों के) पुत्रों में जो धन का अधिक भाग या श्रेष्ठ भाग **दाय** के रूप में ग्रहण करता है, उसी को लोग ऐसा पुत्र मानते हैं जो सबका स्वामी होता है।[२] सूत्रों एवं स्मृतियों में **दाय** के रूप में आनेवाला एक दूसरा शब्द 'रिक्थ' भी ऋग्वेद (३।३१।२) में आया है,[३] यथा—शरीर का पुत्र अपनी बहिन को पैतृक सम्पत्ति (रिक्थ) नहीं देता, प्रत्युत उसके पति के पुत्र को उसका पात्र बनाता है।' वैदिक साहित्य में **दायाद** (सह-अंशग्राही अर्थात् अपने साथ धन का भाग पानेवाला) शब्द भी आया है, यथा—'अतः शक्तिहीन होने के कारण स्त्रियाँ (सोम का) भाग नहीं पातीं और एक नीच मनुष्य से भी धीमे बोलती हैं।'[४] अथर्ववेद (५।१८।६) में **सोम** को ब्राह्मणों का दायाद कहा गया है।[५] विश्वामित्र अपने आध्यात्मिक **दाय** का भाग लेने के लिए शुनःशेप को आमन्त्रित करते हैं (ऐतरेय ब्राह्मण ३३।५) और अपने पुत्रों को उसका (शुनःशेप का) अनुसरण करने को कहते हैं एवं यह कहते हैं कि वह (शुनःशेप) उन्हें, उनके दाय (सम्पत्ति) और उनकी विद्या को स्वीकार करेगा।[६] निरुक्त (३।४) ने **दाय** एवं **दायाद** शब्दों को उद्धृत अंशों में दर्शाया है। पाणिनि (२।३।३९ एवं ६।२।५) में **दायाद** शब्द आया है।

१. मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्। तै० सं० (३।१।९।४); तस्माज्ज्येष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्ति। तै० सं० (२।५।२।७)। आपस्तम्ब० (२।६।१४।११-१२) ने दोनों उक्तियों को उद्धृत किया है।

२. तस्माद्यः पुत्राणां दायं धनतममिवोपैति तं मन्यन्ते यमेवेदं भविष्यतीति। ताण्ड्य० (१६।४।३-४)।

३. न जामये तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम्। ऋ० (३।३१।२)। निरुक्त (३।६) ने इसका अर्थ यों कहा है—'न जामये भगिन्यै. . .तान्वः आत्मजः पुत्रः रिक्थं प्रारिचत् प्रादात्। चकार एनां गर्भनिधानीं सनितुर्हस्तग्राहस्य।'

४. तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीरपि पापात्पुंस उपस्तितरं वदन्ति। तै० सं० (४।५।८।२)। दायाद 'दायमादत्ते' (आ के साथ दा युक्त) से निकला है।

५. न ब्राह्मणो हिंसितव्योग्निः प्रियतनोरिव। सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः॥ अथर्व० (५।१८।६)।

६. उपेया दैवं मे दायं तेन वै त्वोपमन्त्रय इति। ऐ० ब्रा० (३३।५); एष वः कुशिका वीरो देवरातस्तमन्वित। युष्मांश्च दायं म उपेता विद्यां यामु च विद्मसि॥ ऐ० ब्रा० (३३।६)।

दायभाग नामक व्यवहार-पद में दो मुख्य विषयों, यथा---**विभाजन** एवं **दाय** का निरूपण किया गया है। लगभग एक सहस्र वर्षों से दो सम्प्रदाय प्रसिद्ध रहे हैं, जो **मिताक्षरा** एवं **दायभाग** संज्ञाओं से द्योतित होते रहे हैं, क्योंकि इन नामों वाले दो ग्रन्थों ने ही प्रमुखता ग्रहण की। **दायभाग** का प्रचलन बंगाल में रहा है और भारत के अन्य भागों में **मिताक्षरा** का प्राबल्य रहा है। किन्तु आधुनिक काल के बंगाल के कुछ कुलों में मिताक्षरा के कानून भी प्रतिष्ठित रहे हैं।

दायभाग सम्प्रदाय के मुख्य संस्कृत-ग्रन्थ तीन हैं। जीमूतवाहन का **दायभाग**, रघुनन्दन का **दायतत्त्व** एवं श्रीकृष्ण तर्कालंकार का **दायक्रम-संग्रह**। मिताक्षरा सम्प्रदाय चार उपसम्प्रदायों में बँटा है, जिनमें प्रमुख ग्रन्थ **मिताक्षरा** के अतिरिक्त कुछ पूरक ग्रन्थ भी हैं जो उसके कुछ सिद्धान्तों को रूपान्तरित भी करते हैं, यथा---**वाराणसी** (काशी) **सम्प्रदाय** (इसका प्रमुख ग्रन्थ है **वीरमित्रोदय**), **मिथिला सम्प्रदाय** (यह **विवादरत्नाकर**, **विवादचन्द्र** एवं **विवादचिन्तामणि** पर आधारित है), **महाराष्ट्र** या **बम्बई सम्प्रदाय** (इसमें गुजरात, बम्बई द्वीप एवं उत्तरी कोंकण के लिए **व्यवहारमयूख** प्रमुख ग्रंथ है और कुछ बातों में मिताक्षरा से इसकी अधिक महत्ता है; अन्य आधार ग्रन्थ हैं **वीरमित्रोदय** एवं **निर्णयसिन्धु**) एवं **द्रविड़** या **मद्रास सम्प्रदाय** (इसके लिए आधार ग्रंथ हैं **स्मृतिचन्द्रिका**, वरदराज का **व्यवहार-निर्णय**, **पराशरमाधवीय** एवं **सरस्वतीविलास**)। कुछ प्रान्तों में नियमों का अन्तर अवश्य है किन्तु बंगाल को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में मिताक्षरा की प्रमुखता रही है।

निबन्धों में **दाय** एवं **विभाग** शब्द कई प्रकार से द्योतित किये गये हैं। नारद (दायभाग, पद्य १) ने **दायभाग व्यवहार-पद** को ऐसा माना है जिसमें पुत्र अपने पिता के धन के विभाजन का प्रबन्ध करते हैं। स्मृतिचन्द्रिका तथा अन्य ग्रन्थों में उद्धृत स्मृतिसंग्रह के मत से दाय वह धन है जो माता या पिता से किसी पुरुष को प्राप्त होता है। निघण्टु ने विभाजित होनेवाले पैतृक धन को दाय कहा है।[7] दायभाग, मिताक्षरा एवं अन्य ग्रन्थों ने नारद के 'पित्र्यस्य' (पिता का) एवं 'पुत्रैः' (पुत्रों द्वारा) को केवल उदाहरण के रूप में लिया है। जहाँ कहीं **दायभाग** शब्द प्रयुक्त होता है उसका वास्तविक अर्थ है सम्बन्धियों (पिता, पितामह आदि) के धन का सम्बन्धियों (पुत्रों, पौत्रों आदि) में विभाजित होना और इसका कारण है मृत स्वामी से उनका सम्बन्ध। यह मनु एवं नारद के कथनों से भी व्यक्त है, क्योंकि इन दोनों ने माता के धन का विभाजन दायभाग के अन्तर्गत ही रखा है। मिताक्षरा ने याज्ञ० (२।११४) की उपक्रमणिका में कहा है कि **दाय** का अर्थ है वह धन जो उसके स्वामी के सम्बन्ध से किसी अन्य की सम्पत्ति (धन) हो जाता है। व्यवहारमयूख (पृ० ९३) ने **दाय** को उस धन की संज्ञा दी है जो विभाजित होता है और जो उन लोगों को नहीं प्राप्त होता जो फिर से एक-साथ हो जाते हैं।[8]

दाय और **दान** शब्द 'दा' धातु से बने हैं, किन्तु दोनों के अर्थ में अन्तर है। **दान** में दो बातें पायी जाती हैं; 'किसी वस्तु पर विद्यमान अपने अधिकार (स्वामित्व) को छोड़ना' और 'उसी वस्तु पर किसी अन्य का अधिकार

७. विभक्तव्यं पितृद्रव्यं दायमाहुर्मनीषिणः। निघण्टु (स्मृतिचन्द्रिका ३, पृ० २५५; व्यवहारमयूख पृ० ९३); पितृद्वारागतं द्रव्यं मातृद्वारागतं च यत्। कथितं दायशब्देन तद्विभागोधुनोच्यते॥ स्मृतिसंग्रह (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २५५; व्य० म० पृ० ९३)।

८. पित्र्यस्येति पुत्रैरिति च द्वयमपि सम्बन्धिमात्रोपलक्षणं सम्बन्धिमात्रेण सम्बन्धिमात्रधनविभागेऽपि दायभागपदप्रयोगात्। दायभाग (१।३); तत्र दायशब्देन यद्धनं स्वामिसम्बन्धादेव निमित्ताद यस्य स्वं भवति तदुच्यते (मिताक्षरा); असंसृष्टविभजनीयं धनं दायः। व्यवहारमयूख (पृ० ९३)।

उत्पन्न करना' (देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय २५)। किन्तु **दाय** में मृत व्यक्ति किसी अन्य का स्वामित्व उत्पन्न करने के लिए अपना स्वामित्व नहीं छोड़ता। किन्तु दोनों में किसी वस्तु के स्वामित्व का त्याग रहता है, यही एक साम्य है। यद्यपि **दाय** शब्द 'दा' धातु से बना है किन्तु इसके अर्थ में परम्परा निहित है।[१]

मिताक्षरा एवं उसका अनुसरण करने वाले ग्रन्थ, यथा पराशरमाधवीय, मदनरत्न, व्यवहारमयूख, व्यवहार-प्रकाश आदि ग्रन्थों ने **दाय** को दो कोटियों में विभाजित किया है--**अप्रतिबन्ध** एवं **सप्रतिबन्ध**। प्रथम में पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र अपने सम्बन्ध से ही अपने पिता, पितामह एवं प्रपितामह द्वारा आगत वंशपरम्परा के धन को प्राप्त करते हैं। इसमें पिता या पितामह की उपस्थिति से पुत्रों एवं पौत्रों की कुल-सम्पत्ति के प्रति अभिरुचि में कोई प्रतिबन्ध नहीं लगता, क्योंकि वे उसी कुल में उत्पन्न हुए रहते हैं। इसी से इसे, **अप्रतिबन्ध दाय** की संज्ञा मिली है। किन्तु जब कोई व्यक्ति अपने चाचा की सम्पत्ति पाता है या कोई पिता जब अपने पुत्र की सम्पत्ति संततिहीन चाचा या संततिहीन पुत्र के मृत हो जाने पर पाता है तो यह **सप्रतिबन्ध दाय** कहलाता है, क्योंकि इन स्थितियों में भतीजा या पिता क्रम से अपने चाचा या पुत्र की सम्पत्ति पर तब तक स्वत्व नहीं पाता जब तक चाचा या पुत्र जीवित रहता है या जब तक चाचा या पुत्र का पुत्र या पौत्र रहता है। स्पष्ट है, स्वामी की जीवितावस्था अथवा अस्तित्व या पुत्र का अस्तित्व भतीजे या पिता के उत्तराधिकार में बाधा उपस्थित करता है। अतः यह **सप्रतिबन्ध दाय** कहलाता है।

किन्तु दायभाग, दायतत्त्व तथा कुछ अन्य ग्रन्थों ने दाय को उपर्युक्त दो भागों में नहीं बाँटा है। इन ग्रन्थों के अनुसार सभी प्रकार के दाय सप्रतिबन्ध हैं, अर्थात् पूर्व स्वामी की मृत्यु या पतित हो जाने या संन्यासी हो जाने के उपरान्त ही किसी अन्य में स्वामित्व उत्पन्न होता है (दायभाग १।३०-३१, पृ० १८; विवादताण्डव ९९)। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त को **उपरम-स्वत्ववाद** (मृत्यु के उपरान्त ही स्वामित्व की उत्पत्ति के सिद्धान्त) की संज्ञा मिली है, और मिताक्षरा के सम्प्रदाय के सिद्धान्त को **जन्म-स्वत्ववाद** के नाम से पुकारा जाता है। यही **दायभाग** एवं **मिताक्षरा** का प्रमुख भेद है। दायभाग के अनुसार पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र पिता या अन्य पूर्वज की सम्पत्ति पर कुल में जन्म हो जाने के कारण ही स्वत्व का अधिकार नहीं पाते।

'स्व' एवं 'स्वामी' एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं, दोनों में एक ही प्रकार की भावना निहित है और दोनों एक ही प्रश्न के दो स्वरूप हैं। 'स्व' का अर्थ है 'जो किसी का है' अर्थात् सम्पत्ति; इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है किसी वस्तु से और अप्रत्यक्ष संकेत है उस वस्तु के स्वामी से। 'स्वामी' का अर्थ है 'मालिक' या 'अधिकारी'; इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है उस व्यक्ति से जो कोई वस्तु रखता है और अप्रत्यक्ष सम्बन्ध उस वस्तु से है। शिरोमणि भट्टाचार्य के मत से **स्वत्व** अपने रूप से पृथक् एक पदार्थ कोटि है, किन्तु अन्य लोग इसे योग्यता (शक्ति) मानते हैं।

दाय की परिभाषा देने में **स्वत्व** की धारणा उत्पन्न हो गयी, अतः बहुत-से निबंधों में यह प्रश्न खड़ा हो गया कि **स्वत्व** का अर्थ हम शास्त्रों में ढूँढ़ें या उसे सामान्य प्रयोग के अर्थ में लें। बहुत-से लेखकों के मन में, अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में, एक अन्य धारणा भी बँध गयी, यथा--केवल जन्म लेने से ही **स्वत्व** की उत्पत्ति नहीं हो जाती। कुछ लोगों ने स्वत्व के अर्थ के लिए केवल शास्त्रों पर ही निर्भर रहना अंगीकार किया, यथा--गौतम (१०।३९-४२) ने

१. दीयते इति व्युत्पत्त्या दायशब्दो ददातिप्रयोगश्च गौणः, मृतप्रव्रजितादिस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोत्पत्ति-फलसाम्यात्। न तु मृतादीनां तत्र त्यागोस्ति। ततश्च पूर्वस्वामिसम्बन्धाधीनं तत्स्वाम्योपरमे यत्र द्रव्ये स्वत्वं तत्र निरूढो दायशब्दः। दायभाग (१।४-५)। और देखिए दायतत्त्व (पृ० १६१ एवं १६३)। व्यवहारप्रकाश (पृ० ४११-४१२) इन शब्दों को उद्धृत कर इनकी आलोचना करता है।

सभी के लिए स्वत्व के पाँच उद्गम या साधन बताये हैं; **रिक्थ** (वसीयत), **क्रय** (खरीद), **संविभाग** (विभाजन), **परिग्रह** (बलवश ली हुई सम्पत्ति) एवं **अधिगम** (अनायास गुप्त धन-कोष आदि पर अधिकार)। गौतम ने आगे यह भी कहा है कि ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के विषय में क्रम से दान, विजय, कृषि-लाभ एवं सेवा स्वत्व के अतिरिक्त साधन हैं। वे लोग जो स्वत्व को शास्त्रानुमोदित मानते हैं, बताते हैं कि गौतम के **रिक्थ** शब्द का अर्थ है दाय और संविभाग का अर्थ है **दाय का विभाजन**, जो दाय के किसी भाग पर किसी व्यक्ति का सर्वथा पृथक् स्वत्व स्थापित करता है।[१०] इन लोगों का कथन है कि गौतम ने **जन्म** को स्वामित्व के साधन के रूप में स्पष्ट रूप से नहीं ग्रहण किया है।

मिताक्षरा तथा उसके अनुयायियों का कहना है कि **स्वत्व** का अर्थ हमें शास्त्र के आधार पर न लेकर सामान्य प्रयोग के अर्थ में लेना चाहिए। उन्होंने कई तर्क दिये हैं; (१) जिस प्रकार चावल भौतिक उपयोग की वस्तु है, उसी प्रकार **स्वत्व** का भी भौतिक आदान-प्रदान, यथा क्रय या विक्रय हो सकता है। जिसके पास भौतिक पदार्थ नहीं होंगे वह बिक्री या बन्धक रखने का कार्य नहीं कर सकता। **आहवनीय** अग्नि का उपयोग शास्त्रीय कर्मों के अतिरिक्त अन्य लौकिक कार्यों में नहीं हो सकता। चावल का भात बनाने में आहवनीय अग्नि का उपयोग किया जा सकता है, किन्तु तब तो वह साधारण अग्नि के उपयोग-जैसा हुआ, न कि आहवनीय अग्नि-सा, जैसा कि शास्त्र में पाया जाता है। (२) शास्त्रों के ज्ञान से शून्य म्लेच्छों एवं नीच लोगों में भी क्रय आदि से उत्पन्न स्वामित्व (स्वत्व) की धारणाएँ पायी जाती हैं। (३) प्रभाकर (जैमिनि ४।१।२) एवं भवनाथ (नयविवेक के लेखक, जो मीमांसा के विद्वान् माने जाते हैं) का कथन है कि स्वामित्व, जो मिश्रित साधनों (यथा क्रय) से उत्पन्न होता है, भौतिक उपयोग या लोकसिद्ध या अनुभूति का विषय है। भवनाथ का कथन है; प्राप्ति के ऐसे साधन, यथा जन्म, क्रय आदि लोकसिद्ध हैं। स्वामित्व के साधनों के विषय की मान्यताएँ शास्त्रों से नहीं उद्भूत हुईं, प्रत्युत वे स्मृतियों आदि के बहुत पहले से ही ज्ञात थीं। इसका तात्पर्य यह है कि स्वामित्व-प्राप्ति के साधन की धारणा शास्त्रों से पुरानी है, केवल शास्त्रों ने उसे आगे चलकर सुव्यवस्थित ढंग से रख दिया है। अतः गौतमस्मृति (१०।३९) ने स्वामित्व के कतिपय ज्ञात साधनों को केवल उनकी उचित सीमाओं एवं क्षेत्रों में बाँध दिया है, जिनमें पाँच तो सभी के लिए समान हैं और दान केवल ब्राह्मणों के लिए है। इस रूप में यह पद्धति पाणिनीय है। पाणिनि ने नये शब्दों को न रखा और न उनकी नवीन उत्पत्ति की, उन्होंने भाषा में प्रयुक्त होनेवाले शब्द ग्रहण किये और उनके निर्माण की विधि बतायी। इसी प्रकार गौतम ने केवल स्वामित्व के उद्गमों के एक निश्चित मिश्रित नियम का निरूपण किया। मिताक्षरा एवं इसके अनुयायियों का कथन है कि लोक में प्रचलित स्वामित्व-साधनों के कतिपय कारणों या साधनों को गौतम ने केवल दुहराया है (व्यवहारमयूख; 'लोकसिद्धकारणा-

१०. जब कोई व्यक्ति मर जाता है तो उसकी सम्पत्ति दाय हो जाती है जिसे बहुत-से व्यक्ति पा सकते हैं। इस रूप में वह सम्पत्ति संयुक्त सम्पत्ति हो जाती है। अतः उसका स्वामित्व, संयुक्त होने के नाते, रिक्थ कहा जाता है। संयुक्त स्वामी लोग विभाजन द्वारा दाय के निश्चित भागों के पृथक्-पृथक् स्वामी हो जाते हैं। इस प्रकार विभाजन स्वत्व का एक साधन हो गया (कई लोगों का स्पष्ट भागों पर स्पष्ट स्वामित्व स्थापित हो जाता है)। किन्तु जब उत्तराधिकारी केवल एक व्यक्ति होता है तो वहाँ संविभाग (विभाजन) नहीं होता और वहाँ स्वामित्व का साधन रिक्थ ही हो जाता है न कि संविभाग। जब उत्तराधिकारी कई होते हैं तो इस दृष्टिकोण से रिक्थ केवल संयुक्त स्वामित्व का साधन हो जाता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि जीमूतवाहन के अनुमान के आधार पर रिक्थ एवं संविभाग एक-दूसरे से मिल-से जाते हैं और भली प्रकार से उनमें वह अन्तर नहीं किया जा सकता, जिसे मिताक्षरा ने अपने सिद्धान्त द्वारा व्यक्त किया है।

नुवाक्रम्')। मिताक्षरा, पराशरमाधवीय (३, पृ० ४८१), सरस्वतीविलास (पृ० ४०२) आदि के मत से **रिक्थ** एवं **संविभाग**, जो गौतम के सूत्र में पाये जाते हैं, क्रम से **अप्रतिबन्ध दाय** एवं **सप्रतिबन्ध दाय** हैं।

स्वत्व (स्वामित्व) लोकसिद्ध है या शास्त्रों के वचनों पर आधारित है, इसके विषय में मिताक्षरा का कथन है--मनु (११।१९३=विष्णुधर्मसूत्र ५४।२८) के मत से जब ब्राह्मण गर्हित कर्मों से धन प्राप्त करते हैं (यथा किसी कुपात्र या पतित व्यक्ति से दान-ग्रहण करना, या ऐसी क्रय-वृत्ति से जो उनकी जाति के लिए निन्द्य है, धन-ग्रहण करना) तो वे उस धन के दान से, पूत मन्त्रों (गायत्री आदि) के जप से तथा तपस्या द्वारा ही पाप से छुटकारा पा सकते हैं। यदि स्वत्व का उद्गम शास्त्र द्वारा ही हो, तो शास्त्रनिन्द्य साधनों से प्राप्त किया हुआ धन व्यक्ति का धन (सम्पत्ति) नहीं कहलायेगा, और न उसके पुत्र उसका विभाजन ही कर सकते हैं, क्योंकि उसे सम्पत्ति की संज्ञा प्राप्त ही नहीं होती। यदि स्वत्व लौकिक है तो उस दशा में गर्हित साधनों से उत्पन्न धन व्यक्ति की सम्पत्ति की संज्ञा पाता है और उस व्यक्ति के पुत्र अपराधी नहीं होते (भले ही प्राप्तिकर्ता को प्रायश्चित्त करना पड़े) और सम्पत्ति (दाय) का विभाजन कर सकते हैं, क्योंकि मनु (१०।११५) ने दाय को अनुमोदित सात कारणों (साधनों) में गिना है। किन्तु मदनरत्न ने इस उक्ति का अनुमोदन नहीं किया है। इसका तर्क संक्षेप में यों है--मनु (११।१९३) ने केवल प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है, किन्तु यह नहीं कहा है कि इस प्रकार का प्राप्त धन प्राप्तिकर्ता की सम्पत्ति नहीं कहलाता, इसी कारण से बुरे दान या साधन से प्राप्त धन पर मनु ने कोई विशिष्ट अर्थ-दण्ड आदि नहीं घोषित किया है, जैसा कि उन्होंने चोरी करने पर चोर के लिए किया है और चोरी के धन को चोर की सम्पत्ति नहीं माना एवं उसके विभाजन पर चोर के पुत्रों को दण्ड देने की बात कही है। व्यवहारप्रकाश (पृ० ४१३-४२४) ने मिताक्षरा एवं मदन-रत्न के सिद्धान्तों की ओर संकेत किया है और प्रथम का अनुमोदन किया है।

उपर्युक्त विवेचन से एक अन्य प्रश्न की ओर हम बढ़ते हैं; क्या स्वामित्व (स्वत्व) विभाजन से उद्भूत होता है या विभाजन किसी व्यक्ति के (जन्म द्वारा) धन से उत्पन्न होता है? अति प्राचीन काल से ही धर्मशास्त्रकार इस प्रश्न पर विचार करते आये हैं। विवाद-भेद के मूल में पुत्रों, पौत्रों एवं प्रपौत्रों का विषय ही रहा है। सभी लेखक इस विषय में एकमत हैं कि पुत्रों, पौत्रों एवं प्रपौत्रों के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति अपने सम्बन्धियों के धन पर जन्म से अधिकार नहीं पाते। जो लोग जन्म से पुत्रों का स्वत्व नहीं मानते वे निम्नोक्त रूप से तर्क करते हैं--

यदि पुत्र पैतृक सम्पत्ति पर जन्म से ही अधिकार रखते हैं तो पुत्रोत्पत्ति पर पिता बिना पुत्र की आज्ञा के धार्मिक कृत्य (वैदिक अग्नियों में) नहीं कर सकता, क्योंकि इन कृत्यों में पैतृक सम्पत्ति का व्यय होता है। और इससे इस उक्ति का कि 'उस व्यक्ति को, जिसके बाल अभी काले हैं और जो पुत्रवान् है, वैदिक अग्नि में यज्ञ करना चाहिए' खण्डन हो जाता है। इतना ही नहीं, इससे स्मृतियों के ऐसे कथन, यथा--"यदि पिता अपने कतिपय पुत्रों में किसी एक को विशेष अनुग्रहवश प्रदान करता है (नारद, दायभाग ६), या पति प्रेमवश अपनी पत्नी को कुछ देता है तो उसका विभाजन नहीं होता," निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि इस प्रकार के प्रदान (इस सिद्धान्त पर कि पुत्र जन्म से ही सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं) बिना पुत्रों की सहमति के नहीं किये जा सकते। इसके अतिरिक्त कुछ स्मृतियों (यथा देवल आदि) ने पिता के रहते पुत्रों के स्वत्व को नहीं माना है।[11] मनु (९।१०४) एवं नारद (दायभाग २) ने व्यवस्था दी है कि पिता के स्वर्गलोक जाने के उपरान्त ही पुत्रों को सम्पत्ति का विभाजन करना चाहिए (क्योंकि मनु का कथन

११. पितर्युपरते पुत्रा विभजेयुर्धनं पितुः। अस्वाम्यं हि भवेदेषां निर्दोषे पितरि स्थिते॥ देवल (दायभाग १-।१८, पृ० १३); दीपकलिका (याज्ञ० २।११४); विवादरत्नाकर (पृ० ४५६); पराशरमाधवीय (३, पृ० ४८०)।

है कि माता-पिता के रहते पुत्र स्वामी नहीं होते), इससे प्रकट है कि पुत्रों को जन्म से अधिकार नहीं प्राप्त होता। और भी, स्वत्व शास्त्रानुमोदित होता है (जैसा कि गौतम ने कहा है)। शास्त्रों ने जन्म को क्रय आदि के लिए स्वामित्व का कारण नहीं माना है। अतः पुत्र या पुत्रों का स्वामित्व पूर्व स्वामी के स्वत्व के हटने से (मृत्यु या पतित होने या संन्यासी हो जाने के उपरान्त) ही उत्पन्न होता है। जब तक एक ही पुत्र है तो वह पिता की मृत्यु के उपरान्त सम्पत्ति का स्वामित्व पाता है और वहाँ विभाजन की आवश्यकता ही नहीं है। किन्तु जब कई पुत्र होते हैं तो उन्हें संयुक्त सम्पत्ति का स्वामित्व मिलता है और विभाजन के उपरान्त ही उन्हें पैतृक सम्पत्ति के पृथक्-पृथक् भागों का स्वामित्व प्राप्त हो पाता है। और अन्तिम स्वरूप ही बहुधा देखने में आता है; अतः विभाजन के उपरान्त ही स्वत्व (विभागात् स्वत्वम्) की प्राप्ति होती है। यदि यह सिद्धान्त कि स्वत्व का उद्गम केवल विभाजन से ही होता है, शाब्दिक रूप में लिया जाय तो इकलौता पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति पाता हुआ भी उस पर स्वामित्व नहीं पा सकता; जैसा कि व्यवहार-निर्णय ने तर्क उपस्थित किया है, क्योंकि उसके विषय में विभाजन का प्रश्न ही नहीं उठता।

जन्म से ही स्वामित्व होता है; ऐसा मानने वाले निम्नोक्त तर्क उपस्थित करते हैं—

ऐसा उपस्थापित किया गया है कि स्वामित्व की धारणा लौकिक है—अर्थात् यह सांसारिक प्रयोगों पर आधारित है, इसी से इसे लोकसिद्ध कहा जाता है। सर्वसाधारण को यह ज्ञात है कि पुत्र जन्म से ही पैतृक सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं। इसके अतिरिक्त गौतम का एक वचन भी है—'आचार्यों के मत से किसी व्यक्ति को स्वामित्व जन्म के कारण ही प्राप्त हो जाता है।' बहुत-सी अन्य स्मृतियों के भी वचन हैं, यथा—याज्ञ० (२।१२१), बृहस्पति, कात्यायन (८३९), व्यास एवं विष्णु (१७।२), जो स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि पितामह की सम्पत्ति में पिता एवं पुत्र के स्वामित्व-सम्बन्धी अधिकार एक-समान हैं (अतः पुत्र का स्वत्व जन्म से ही है)। जो लोग ऐसी धारणा रखते हैं वे विरोधी मत का खण्डन निम्न रूप से करते हैं; वैदिक अग्नियाँ स्थापित करने के सिलसिले में वैदिक वचन स्पष्ट कहते हैं कि कुछ निश्चित अवस्था तक पिता को पुत्र की उत्पत्ति के उपरान्त भी धार्मिक संस्कारों के लिए पैतृक सम्पत्ति व्यय करने का अधिकार है। इसी प्रकार कुल-पति एवं कुल-व्यवस्थापक के रूप में, वेदों एवं स्मृतियों द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार, उसे अपरिहार्य धार्मिक कृत्यों के लिए पैतृक सम्पत्ति (अचल सम्पत्ति को छोड़कर) को व्यय करने का अधिकार है; वह स्नेहोपहार के रूप में दान कर सकता है; कुटुम्ब-पालन एवं विपत्ति में कुटुम्ब की रक्षा के लिए पैतृक सम्पत्ति को व्यय कर सकता है। इतना ही नहीं, वह या कुल-व्यवस्थापक विपत्ति में या कुल के लाभ के लिए या आवश्यक धार्मिक कृत्यों, यथा श्राद्ध आदि) के लिए अचल सम्पत्ति को बन्धक रख सकता है या उसका विक्रय कर सकता है।

भोग एवं **रक्षण** से **स्वत्व** एक पृथक् धारणा है। यह कई प्रकार का होता है, यथा—**सशरीर** एवं **अशरीर**, **पूर्ण स्वामित्व** एवं **संयुक्त स्वामित्व**, **निक्षेपधारी स्वत्व** (स्वामित्व) एवं **कल्याणकारी स्वत्व**, **आयत्त स्वत्व** एवं **दैवायत्त** (संदिग्ध) **स्वत्व**। शास्त्रों के मत से स्वामी के अधिकारों पर नियन्त्रण भी पाये जाते हैं; कुटुम्ब का ध्यान रखकर ही दान-पुण्य किया जा सकता है, ऐसा नहीं है कि स्वामी सब कुछ दान ही कर दे और कुटुम्ब के लोग भूखों मरें (याज्ञ० १७५२', 'स्वं कुटुम्बाविरोधेन देयम्'; स्मृतिसंग्रह, 'न च स्वमुच्यते।)' स्पष्ट है, सम्पत्ति वह नहीं है जिसे जैसा चाहें (अपनी इच्छा के अनुसार) व्यय कर दें या ले-दे लें, प्रत्युत यह वह है जिसे (केवल उचित परिस्थितियों में) लिया-दिया जा सके, अर्थात् यह लेन-देन की योग्यता पर निर्भर रहती है। क्योंकि राजा, शास्त्रनियमों, जनमत, अपने झुकावों एवं आसपास के लोगों के दबाव एवं नियंत्रण से कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का स्वेच्छा से उपयोग नहीं भी कर सकता। किन्तु यह ठीक है कि जिस पर स्वत्व है उसे सिद्धान्ततः स्वेच्छानुसार खर्च किया जा सकता है। मदनरत्न ने एक उदाहरण दिया है—अन्नागार में रखा हुआ सूखा बीज अंकुरित नहीं होता, किन्तु उसमें अंकुरित होने की योग्यता रहती ही है। सम्पत्ति पर सीमाओं की कई कोटियाँ हैं, यथा—पिता का अधिकार, विधवा का अधिकार आदि।

व्यक्ति जो कमाता है, वह उसका है और वह उसकी अपनी सम्पत्ति है। किन्तु मनु (८।४१६), नारद (अभ्युपेत्या शुश्रूषा, ४१) के मत से तीन प्रकार के व्यक्ति सम्पत्तिहीन कहे गये हैं; पत्नी, पुत्र एवं दास, वे जो कुछ कमाते हैं वह पति या पिता या स्वामी का होता है।[१२] किन्तु शबर स्वामी-जैसे प्राचीन लेखक का मत है कि मनु का यह वचन यह नहीं कहता कि पत्नी या पुत्र जो कुछ कमाते हैं उस पर उनका स्वत्व नहीं रहता, बल्कि इस वचन का तात्पर्य यह है कि वे अपने अर्जित धन को स्वतन्त्र रूप से (बिना पति या पिता की सहमति से) नहीं खर्च कर सकते। मनु की इस धारणा को दायभाग एवं मिताक्षरा, दोनों सम्प्रदायों ने स्वीकार कर लिया है। मिताक्षरा ने मनु (८।४१६) की व्याख्या की तुलना में कहा है कि देवल, नारद एवं मनु (९।१०४) ने जो यह कहा है कि पिता के रहते उसके हाथ की सम्पत्ति पर पुत्र का स्वत्व नहीं रहता, उसका यही अर्थ लगाना चाहिए कि पुत्र पिता के रहते, या उसकी अपनी अर्जित सम्पत्ति पर, स्वतन्त्र रूप से व्यय करने का अधिकार नहीं रखता। दूसरी ओर दायभाग एवं दायतत्त्व ने उपर्युक्त कथनों एवं याज्ञ० (२।१२१), विष्णु आदि के मतों को (जो जन्म से ही पुत्र का स्वामित्व ठहराते हैं) अपने ढंग से सिद्ध किया है। दायभाग ने याज्ञ० (२।१२१) की दो व्याख्याएँ की हैं; यदि **क** के **ख** एवं **ग** दो पुत्र हों, जिनमें **ग** अपने **घ** पुत्र को छोड़कर पहले मर जाय और आगे चलकर **क** भी मर जाय, तब याज्ञवल्क्य के मत से दोनों अर्थात **ख** (**क** का पुत्र) एवं **घ** (**क** का पौत्र) क द्वारा छोड़ी गयी सम्पत्ति को बराबर-बराबर पायेंगे, ऐसा नहीं होगा कि सारी सम्पत्ति **ख** को ही मिल जायगी (क्योंकि ऐसा कहा जा सकता है कि वह **घ** की अपेक्षा **क** के अधिक समीप है), क्योंकि **ख** एवं **घ** दोनों पार्वण-श्राद्ध में **क** को पिण्ड-दान करते हैं, अतः दोनों में सम्पत्ति के मामले में कोई अन्तर न होगा। "सदृशं स्वाम्यम्" शब्द पुत्र एवं पौत्र की इसी बराबरी (सादृश्य) की ओर संकेत करते हैं। दूसरी व्याख्या धारेश्वर की है; जब पिता विभाजन का इच्छुक होता है तो वह अपनी स्वार्जित सम्पत्ति अपने पुत्रों में अपनी इच्छा के अनुसार बाँट सकता है, किन्तु जो सम्पत्ति वह अपने पिता से प्राप्त किये रहता है (अर्थात् उसके पुत्रों के पितामह से जो सम्पत्ति उसे प्राप्त होती है) उस पर उसका वही अधिकार होता है जो उसके पुत्रों का होता है और उसे वह स्वेच्छापूर्वक असमान रूप से विभाजित नहीं कर सकता। दायभाग ने इस बात का विरोध किया है कि याज्ञ० (२।१२१) ने ऐसा कहा है कि पुत्र अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध अपने पितामह की सम्पत्ति के विभाजन की माँग कर सकता है या पिता एवं पुत्र का पितामह की सम्पत्ति में बराबर-बराबर अंश है। यही बात विष्णु एवं अन्य ग्रन्थों में भी पायी जाती है, अर्थात् पितामह की सम्पत्ति में पिता एवं पुत्र समान स्वामी हैं, पर "तुल्यं स्वाम्यम्" या "सममंशित्वम्" शब्दों से यह नहीं कहा जा सकता कि पिता एवं पुत्र उसमें समान अंश (भाग) पा सकते हैं (दायभाग २।१८, पृ० ३२)।

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट होता है कि दायभाग एवं मिताक्षरा के सम्प्रदायों का आरम्भ उन्हीं द्वारा सर्वप्रथम नहीं किया गया, प्रत्युत दोनों के पीछे मान्य प्राचीनता भी थी। मनु, नारद एवं देवल की स्मृतियों तथा उद्योत एवं धारेश्वर-जैसे प्रमुख लेखकों ने **उपरम-स्वत्ववाद** का सिद्धान्त घोषित कर दिया था और याज्ञ०, विष्णु० एवं बृहस्पति ने बहुत पहले ही **जन्म-स्वत्ववाद** का सिद्धान्त अपना लिया था। विश्वरूप का, जो याज्ञवल्क्यस्मृति के टीकाकार हैं (९वीं शताब्दी के प्रथम चरण में) का कहना है कि स्वत्व जन्म से ही उत्पन्न हो जाता है (याज्ञ० २।१२४)। गौतम के "उत्पत्त्यैव.......आदि" सूत्र को उद्धृत कर मिताक्षरा ने अपना सिद्धान्त घोषित किया है। यह सूत्र आज कहीं नहीं मिलता और न अपरार्क आदि ने इसका उल्लेख ही किया है; श्रीकृष्ण तर्कालंकार (दायभाग १।२१) ने इसे

१२. भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः। यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्॥ मनु (८।४१६); उद्योगपर्व (३३।६४); नारद (अभ्यु० ४१)।

निर्मूल (अप्रामाणिक) माना है। इसी से डा० जॉली (टैगोर व्याख्यान, पृ० ११०) ने यहाँ तक कह डाला है कि विज्ञानेश्वर (मिताक्षरा के लेखक) ने या उनके पूर्व के लोगों ने उस सूत्र का अपनी ओर से प्रणयन कर डाला है। किन्तु बात ऐसी नहीं है, क्योंकि विश्वरूप पहले से ही जन्म से या विभाजन से उत्पन्न होनेवाले स्वत्व के विषय में जागरूक हो उठे थे एवं प्राचीन टीकाकार मेधातिथि (लगभग ९०० ई०) ने जन्म-स्वत्ववाद की बात का समर्थन किया था और बिना नाम दिये कुछ अन्तर के साथ उस सूत्र को मनु (९।१५६) की व्याख्या करते समय उन्होंने उद्धृत किया था। और देखिए मनु (९।२०९)। स्पष्ट है, विज्ञानेश्वर को किसी नवीन सूत्र को अपनी ओर से गढ़ने की आवश्यकता नहीं थी, इतना ही नहीं; स्वयं याज्ञवल्क्य एवं अन्यों के वचन इस सिद्धान्त को व्याख्यापित करने के लिए पर्याप्त थे। यह भी विचारणीय है कि दायभाग ने यह स्वीकार किया है कि कुछ स्मृतियों में जन्म-स्वत्ववाद की चर्चा हुई है (क्वचिद् जन्मनैवेति), और उसने यह कहा है कि इन शब्दों को उसी रूप में नहीं लेना चाहिए, प्रत्युत अप्रत्यक्ष रूप से ही जन्म को दाय का कारण मानना चाहिए, क्योंकि पिता एवं पुत्र का सम्बन्ध जन्म पर ही आधारित है और पिता की मृत्यु पर ही पुत्र का स्वत्व उदित होता है (अतः यद्यपि स्वत्व प्रत्यक्ष रूप से मत्य के उपरान्त ही उदित होता है, किन्तु जन्म उसका कारण कहा जा सकता है और पुत्र प्रथम उत्तराधिकारी है, क्योंकि यह अपने पिता के पुत्र के रूप में जन्म लेता है)। **दायतत्त्व** यह नहीं कहता कि गौतम का सूत्र अमूल (अप्रामाणिक) है, प्रत्युत वह **दायभाग** के समान ही उसकी व्याख्या करके उसे काट देना चाहता है। संक्षेप में, हम निम्न चार बातों द्वारा **दायभाग** एवं **मिताक्षरा** का अन्तर समझ सकते हैं——

(१) दायभाग जन्म-स्वत्ववाद नहीं स्वीकार करता, किन्तु मिताक्षरा ने इसे स्वीकार किया है।

(२) दायभाग का कथन है कि दाय का उत्तराधिकार तथा उत्तराधिकारियों का क्रम धार्मिक पात्रता या क्षमता के सिद्धान्त से निश्चित होता है। किन्तु मिताक्षरा सम्प्रदाय का कथन है कि इस विषय में रक्त-सम्बन्ध ही नियमन उपस्थित करता है।

(३) दायभाग मानता है कि संयुक्त परिवार (भाई या चचेरे भाई आदि) के सदस्य अपने भाग (अंश) प्रायः पृथग्भाव से रखते हैं और नाप-जोख या सीमा-निर्धारण द्वारा किये गये विभाजन के बिना भी उनका विनिमय कर सकते हैं।

(४) दायभाग की यह मान्यता है कि संयुक्त परिवार में भी पति की मृत्यु पर संततिहीन होने पर भी विधवा अपने पति के अंश (भाग) का अधिकार पाती है। किन्तु मिताक्षरा में यह अधिकार उसे नहीं प्राप्त है।

उत्तराधिकार एवं दाय से सम्बन्धित नियमों के विषय में अन्य भारतीय स्थानों के कानूनों (नियमों या व्यवहारों) से बंगाल में ही इतनी भिन्नता क्यों है? इस कथन के समाधान के लिए कतिपय प्रयत्न किये गये हैं। इस विषय में न्यायमूर्ति शारदाचरण मित्र ने एक अपना ही सिद्धान्त उद्घोषित किया है (ला क्वार्टरली रिव्यू, जिल्द २१, १९०५ ई०, पृ० ३८०-३९२ एवं जिल्द २२, सन् १९०६, पृ० ५०-६३), जिसका तात्पर्य यह है——बंगाल समुद्र के पास था, व्यावसायिक अभिकांक्षा से वह भरपूर था, दूर-दूर के व्यापारीगण यहाँ नयी-नयी मान्यताएँ लाते रहे, यहाँ बौद्ध धर्म शताब्दियों तक राज्यधर्म था, बौद्ध तन्त्रवाद का यहाँ प्राबल्य था। अतः ब्राह्मणवादी सिद्धान्तों को, जिन्हें ऋषियों ने घोषित किया था और जो मिताक्षरा एवं अन्य ग्रन्थों में व्याख्यापित हैं, यहाँ सम्मान नहीं प्राप्त हो सका। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि बौद्ध धर्म ने स्त्रियों को बहुत प्रभावित किया और **महानिर्वाण** के समान अन्य तन्त्र-ग्रन्थों ने प्रकृति के सुकुमार नारी-सुलभ तत्त्व को ऊँचा उठाया, प्राचीन सम्पत्ति-सम्बन्धी व्यवहारों (विशेषतः नारी-सम्बन्धी) में सुधार हुआ, व्यक्तिगत स्वामित्व की धारणाएँ एवं नारियों के स्वत्वाधिकार-सम्बन्धी नियन्त्रणों के निराकरण की भावनाएँ बंगाल में उठ खड़ी हुईं, जिन्हें जीमूतवाहन ने अपने **दायभाग** में सम्मिलित कर लिया। किन्तु इन विद्वान् का कथन

युक्तिसंगत नहीं है। यहाँ पर हम इनके सिद्धान्त की विस्तृत आलोचना नहीं उपस्थित करेंगे, केवल कुछ तर्क उपस्थित किये जायंगे। बंगाल की अपेक्षा पश्चिमी भारत बहिर्देशीय व्यापार में अधिक बढ़ा-चढ़ा था, यूनानी लेखकों ने बरुगज़ (भड़ौंच) एवं कल्लीएने (कल्याण) नामक बन्दरगाहों का उल्लेख किया है, यहाँ **रोमन सिक्के** प्राप्त हुए हैं और सीरिया के लोगों का यहाँ अस्तित्व था। बंगाल एवं आसाम के समान उसी समय (यदि पहले नहीं) मध्य एवं पश्चिमी भारत में बौद्ध धर्म फैला। ईसा के पूर्व एवं उपरान्त मध्य एवं पश्चिमी भारत में बौद्ध धर्म का प्राबल्य था, जैसा कि साँची, **भिलसा, भरहुत,** नासिक एवं कार्ला की गुफाओं से विदित है। इसके अतिरिक्त न्यायमूर्ति मित्र ने स्वयं कहा है कि बौद्ध धर्म में अपना सम्पत्ति-सम्बन्धी व्यवहार (कानून) नहीं था (लॉ क्वार्टरली रिव्यू, जिल्द २१, पृ० ३८८)। बरमा जैसे बौद्ध देशों ने मनुस्मृति से ही उत्तराधिकार एवं दाय के कानून उधार लिये। जीमूतवाहन की अपेक्षा विज्ञानेश्वर स्त्रियों के प्रति अधिक उदार हैं, क्योंकि जब तक स्मृतियों में स्पष्ट रूप से घोषित न हो तब तक जीमूतवाहन स्त्रियों को उत्तराधिकारी के रूप में नहीं ग्रहण करते। महानिर्वाण-तन्त्र ने बहिन एवं विमाता को समीप का उत्तराधिकारी माना है और चाचा की विधवा पत्नी एवं पुत्र की पुत्री को भी उत्तराधिकारी घोषित किया है, किन्तु **दायभाग** के अन्तर्गत ये सब उत्तराधिकारी नहीं माने जाते। मिताक्षरा सम्प्रदाय की एक शाखा, जो पश्चिमी भारत में व्यवहारमयूख की शाखा से द्योतित होती है, अन्य सभी सम्प्रदायों से स्त्रियों के अधिकार के मामले में अधिक उदार है। दक्षिण भारत के कुछ जिलों तथा नम्बूद्री ब्राह्मणों एवं नायर लोगों की जातियों में मरुमक्कटयम् एवं अलियसन्तन् कानून प्रचलित हैं जो स्त्रियों के प्रति अत्यधिक उदार हैं, किन्तु उन पर बौद्ध या तान्त्रिक प्रभाव है ऐसा किसी ने भी प्रतिपादित नहीं किया है। धार्मिक क्षमता वाले सिद्धान्त से सम्बन्धित दायभाग की विशेषता महानिर्वाण-तन्त्र में दिये गये कानूनों से मिताक्षरा सम्प्रदाय द्वारा मान्य सगोत्रता (सपिण्डता या एक शरीरान्वय) के सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक दूर है। न्यायमूर्ति मित्र जीमूतवाहन के काल के विषय में त्रुटिपूर्ण हैं। हमने ऊपर देख लिया है कि जीमूतवाहन ने अपनी मान्यताएँ उद्योत-जैसे लेखकों एवं देवल आदि स्मृतियों पर आधारित की हैं। यह कहा जा सकता है कि दायभाग की विचित्र मान्यता की सन्तोषजनक व्याख्या नहीं दी जा सकती। दायभाग के सिद्धान्त का उद्गम स्थानीय एवं सर्वथा स्वतन्त्र है।

विभाग (विभाजन) की परिभाषा मिताक्षरा ने यों की है––जहाँ संयुक्त स्वामित्व हो वहाँ सम्पूर्ण सम्पत्ति के भागों की निश्चित व्यवस्था ही विभाग है[13]। दायभाग को इस परिभाषा में कई दोष दृष्टिगोचर होते हैं, जिनमें प्रमुख यह है कि कई पुत्रों का संयुक्त स्वामित्व सर्वप्रथम पिता की सम्पूर्ण सम्पत्ति में उत्पन्न कर देना और तब ऐसा कह देना कि आगे चलकर यह संयुक्त स्वामित्व नष्ट हो जाता है, बड़ा ही बोझिल एवं असुविधाजनक है। दायभाग की दी हुई **विभाग** की परिभाषा यह है––यह (किसी निश्चित भूमिभाग या धन पर) गोली या ढेला फेंकने से भाग्यवश-प्राप्त (बहुतों में एक के) स्वामित्व का द्योतक है, जो (स्वामित्व) केवल (भूमि एवं धन के दाय के) एक अंश से मिलकर उदित होता है, किन्तु जो अनिश्चित है, क्योंकि (किसी व्यक्ति के लिए) दाय के किसी विशिष्ट अंश को स्पष्ट रूप से बताना असम्भव है, क्योंकि कौन अंश किसका है, यह कहने के लिए कोई निश्चित बात ज्ञात नहीं रहती। दायभाग यह स्वीकार नहीं करता कि दाय के सभी अंशों पर (विभाजन के पूर्व) सहभागियों में स्वामित्व संयुक्त रूप से उत्पन्न हो जाता है; इसका कथन है कि यह उसके (दाय के) अंशों में उत्पन्न होता है, किन्तु कौन अंश किसका है यह

१३. विभागो नाम द्रव्यसमुदायविषयाणामनेकस्वाम्यानां तदेकदेशेषु व्यवस्थापनम्। मिताक्षरा (याज्ञ० २।११४); व्यवहारसार (पृ० २१२); अपरार्क (पृ० ७२९)।

कहने के लिए कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता, अतः प्रत्येक का अंश किसी भाग पर गुटिका-पात (गेंद या गोली फेंकने) से निश्चित एवं निर्णीत होता है (यथा ऐसा कहना कि यह क का है, आदि)। किन्तु दायतत्त्व ने इस परिभाषा की आलोचना की है। यदि विभाजन के पूर्व प्रत्येक सहभोगी सम्पूर्ण दाय का अंशतः स्वामित्व रखता है तो यह सुनिश्चितता कहाँ है कि गुटिका-पात से सहभोगी का अंश उसी अंश के स्वामित्व से सम्बन्धित होगा जो विभाजन के पूर्व उदित हुआ? यद्यपि जन्म-स्वत्ववाद के विषय में दायतत्त्व मिताक्षरा से विभेद रखता है किन्तु विभाग की परिभाषा में दोनों एक-दूसरे से मिलते हैं[१४]।

दायभाग एवं मिताक्षरा द्वारा उपस्थापित विभिन्न परिभाषाएँ विभिन्न प्रतिफल देती हैं। मिताक्षरा के भीतर पिता और पुत्रों या पौत्रों का जब संयुक्त परिवार रहता है तो सभी सहभोगी (रिक्थाधिकारी) रहते हैं और संसृष्ट सम्पत्ति का स्वत्व सभी समांशियों (रिक्थाधिकारियों) को प्राप्त रहता है, अर्थात् जब तक संयुक्त परिवार रहता है तब तक स्वामित्व की एकता रहती है, और कोई सहभोगी (रिक्थाधिकारी) यह नहीं कह सकता कि वह किसी निश्चित भाग, यथा एक चौथाई या पाँचवें भाग का स्वामी है। अंशहर या सहभागी का अंश या हित घटता-बढ़ता रहता है; मृत्युओं (कई सहभोगियों की मृत्युओं) से बढ़ सकता है और जन्मों से यह घट सकता है। विभाजन के उपरान्त ही सहभागी या अंशहर किसी निश्चित भाग (अंश) का अधिकारी हो पाता।

दूसरी ओर दायभाग के अनुसार जन्म से ही स्वामित्व नहीं उत्पन्न होता, पिता के उपरान्त पुत्र सहभागिता प्राप्त करते हैं, किन्तु परिवार की सम्पत्ति का स्वामित्व सभी पुत्रों के एक गुट को नहीं प्राप्त रहता। पिता की मृत्यु आदि के उपरान्त प्रत्येक पुत्र को एक निश्चित अंश मिल जाता है। इस प्रकार का लिया गया भाग जन्मों एवं मृत्युओं से नहीं घटता-बढ़ता। पुत्र सहभागी इसी लिए कहे जाते हैं कि पिता से प्राप्त सम्पत्ति पर उनकी प्राप्ति संयुक्त रहती है, अर्थात् प्राप्ति की एकता रहती है किन्तु स्वामित्व की एकता नहीं।

मिताक्षरा के अनुसार पुत्र पैतृक सम्पत्ति का रिक्थाधिकारी जन्म से ही हो जाता है। मान लीजिए कोई व्यक्ति पैतृक सम्पत्ति का एक मात्र स्वामी है, किन्तु संततिहीन है। ऐसी स्थिति में सहभागित्व (सहभागिता) का प्रश्न ही नहीं उठता। किंतु ज्यों ही उसे पुत्र उत्पन्न हो जाता है, समांशिता या सहभागिता आरम्भ हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि मिताक्षरा के अनुसार पुत्रोत्पत्ति समांशिता या सहभागिता को उत्पन्न कर देती है, किन्तु दायभाग के अन्तर्गत पिता एवं पुत्रों में समांशिता नहीं पायी जाती, क्योंकि पुत्रों को पैतृक सम्पत्ति पर जन्म से ही अधिकार नहीं प्राप्त होता, यद्यपि पैतृक सम्पत्ति की सत्ता भाइयों या चाचाओं एवं भतीजों के बीच उपस्थित रहती है। दायभाग के अन्तर्गत किसी व्यक्ति की मृत्यु उसके पुत्रों की सहभागिता आरम्भ कर देती है।

विभाजन के दो अर्थ हैं--(१) नाप-जोख एवं सीमा के निर्धारण से बँटवारा, एवं (२) हित का पृथक्त्व

१४. एकदेशोपात्तस्यैव भूहिरण्यादावुत्पन्नस्य स्वत्वस्य विनिगमनाप्रमाणाभावेन वैशेषिकव्यवहारानर्हतया अव्यवस्थितस्य गुटिकापातादिना व्यंजनं विभागः। विशेषेण भजनं स्वत्वज्ञापनं वा विभागः। दायभाग (१।८-९, पृ० ८); तत्र विभागस्तु सम्बन्ध्यन्तरसद्भावेन भूहिरण्यादावुत्पन्नस्य....गुटिकापातादिना अमुकस्येदमिति विशेषेण भजनं स्वत्वज्ञापनमिति वदन्ति तन्न समीचीनम्। यत्र अस्य स्वत्वं तत्रैव गुटिकापात इति कथं वचनाभावान्निश्चेतव्यः। दायतत्त्व (पृ० १६३); वस्तुतस्तु पूर्वस्वामिस्वत्वोपरमे सम्बन्धाविशेषात् सम्बन्धिनां सर्वधनप्रसूतस्वत्वस्य गुटिकापातादिना प्रादेशिकस्वत्वव्यवस्थापनं विभागः। एवं कृत्स्नधनगतस्वत्वोत्पादविनाशावपि कल्प्येते। दायतत्त्व (पृ० १६३)।

या अलगाव। मिताक्षरा के अन्तर्गत इन दोनों अर्थों में विभाजन सम्भव है। समांशिता (सहभागित्व या सहभागिता) के सदस्य किसी भी क्षण अपने अंशों के अधिकारों का निपटारा कर सकते हैं; किन्तु नाप-जोख आदि द्वारा सम्पत्ति-विभाजन आगे के समय के लिए स्थगित किया जा सकता है और तब तक वे पहले की भाँति ही एक-साथ सम्पत्ति का उपभोग कर सकते हैं। देखिए व्यवहारमयूख (पृ० ९४) एवं सरस्वतीविलास (पृ० ३४७)। दायभाग के अन्तर्गत पूर्व स्वामी की मृत्यु के उपरान्त ही उत्तराधिकार आरम्भ होता है और निश्चित भाग निर्धारित होते हैं, अतः विभाजन उपर्युक्त प्रथम अर्थ में ही होता है, अर्थात् प्राप्त दाय के निश्चित भाग सहभागियों को दे दिये जाते हैं। किसी सदस्य के भाग को अलग करने की एक विधि और है जो मनु (९।२०७) एवं याज्ञ० (२।११६) में उल्लिखित है, यथा---यदि परिवार का कोई सदस्य अपना निर्वाह स्वयं करने में समर्थ है और परिवार की सम्पत्ति का कोई भाग नहीं चाहता, तो उसे कोई साधारण वस्तु चिह्न रूप में देकर अलग किया जा सकता है। मिताक्षरा ने जोड़ दिया है कि यह चिह्न इसलिए दिया जाता है कि उसके पुत्र आगे चलकर अपना अधिकार न जताने लगें।

दायभाग या **दायविभाग** के अन्तर्गत **मिताक्षरा** एवं **संग्रह** के अनुसार चार प्रमुख विषय हैं; विभाजन-काल, विभाजन की जानेवाली सम्पत्ति, विभाजन-विधि एवं विभाजन के अधिकारी।

विभाजन-काल---विभाजन-सम्बन्धी पुत्र के अधिकार का विकास युगों की क्रमिक गति में पाया जाता रहा है। हम यहाँ पर संक्षेप में इस विषय पर कुछ कहेंगे। अति प्राचीन काल में जब कि कुलपति-सत्तात्मक परिवार प्रचलित था पिता का पुत्र पर एकसत्तात्मक (सम्पूर्ण) अधिकार था, पिता की आज्ञा का पालन पुत्र का कर्तव्य था, परिवार की सम्पत्ति का विघटन नहीं होता था, सभी की अर्जित सम्पत्तियों पर पिता का शासन था और स्त्रियों को सम्पत्ति रखने का कोई अधिकार नहीं था। इस विषय पर वैदिक साहित्य में भी धुंधला-सा प्रकाश मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण (१३।१) में उल्लिखित शुनःशेप की गाथा में आया है कि अजीगर्त ने वरुण के लिए अपने पुत्र को बेच दिया; विश्वामित्र ने अपने एक सौ एक पुत्रों के रहते शुनःशेप को गोद लिया; उन्होंने अपने पचास पुत्रों को आज्ञा उल्लंघन के अपराध में शाप दिया और उन्हें दाय (रिक्थ) से वंचित कर दिया। इन बातों से स्पष्ट है कि ऐतरेय ब्राह्मण के युग में ऐसा विश्वास था कि प्राचीन काल में पुत्र पर पिता का सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त था। किन्तु यहाँ सावधानी से उपर्युक्त गाथा का मर्म समझना चाहिए। गाथा केवल किंवदती के रूप में है और स्वयं ऐतरेय ब्राह्मण ने अजीगर्त के आचरण की निन्दा की है।[१५] आज कल ऐसे माता-पिता विरल रूप में पाये जाते हैं जो बीमा का धन कमाने के लिए पुत्रों की बीमा-पॉलिसी लेकर उन्हें विष देकर मार डालें। किन्तु कोई भी ऐसा नहीं कहता कि यह अधिकतर होता है और आधुनिक कानून इसकी छूट देता है। ऋग्वेद (१।११७।१७) में आया है कि ऋज्राश्व की आँखें उसके पिता ने निकलवा लीं, क्योंकि उसने (ऋज्राश्व ने) भेड़िये को एक सौ भेड़ें दे डाली थीं। ऐसा केवल एक ही उदाहरण है और लगता है ऋग्वेद के इस मन्त्र में आलंकारिकता की झलक है और दैवी प्रक्रिया की ओर संकेत मात्र है। काठक संहिता (११।४) में आया है कि पिता पुत्र पर राज्य करता है (पिता पुत्रस्येशे)। किन्तु यह जानना चाहिए कि पिता का पुत्र के ऊपर अधिकार ऐतिहासिक कालों में भी परिलक्षित होता रहा है। निरुक्त (३।४) ने अपने पूर्व के लोगों की उक्ति दी है कि पुत्रियाँ पिता के धन का उत्तराधिकार नहीं पातीं, क्योंकि उनका (पुत्रियों का) दान, विक्रय एवं त्याग हो सकता है, किन्तु पुरुषों का ऐसा नहीं होता। किन्तु अन्य लोगों के मत से पुरुषों के साथ भी वैसा व्यवहार किया जा सकता है,

१५. स होवाच शुनःशेपो यः सकृत्पापकं कुर्यात्कुर्यादेनस्ततोऽपरम्। नापागाः शौद्रान्न्यायादसन्धेयं त्वया कृतमिति। ऐ० ब्रा० (३३।५)।

जैसा कि शुनःशेप की गाथा से प्रमाणित है।[१६] वसिष्ठ (१५।२) का कथन है कि माता-पिता को अपने पुत्र का दान, विक्रय एवं त्याग करने का अधिकार है।[१७] हमने ऊपर देख लिया है कि मनु के अनुसार पुत्र का अर्जित धन पिता का होता है। आपस्तम्ब० (२।६।१३।१०।११) ने बलपूर्वक कहा है कि अपनी संतान को छोड़ देने एवं बेच देने का अधिकार मान्य नहीं है और 'विक्रय' शब्द, जो वधू के सिलसिले में व्यक्त होता है, वह आलंकारिक रूप से ही व्यक्त है। 'विक्रय' शब्द की व्याख्या (विवाह के सम्बन्ध में) पहले की जा चुकी है (देखिए भाग २, अध्याय ९)।

दूसरी ओर हम स्वयं ऋग्वेद (१।७०।५) में ऐसा पाते हैं कि पुत्रों ने पिता की वृद्धावस्था में ही (मरने के पूर्व) उसकी सम्पत्ति विभाजित कर ली, यथा--"हे अग्नि, लोग तुम्हें बहुत स्थानों में कई प्रकार से पूजित करते हैं और (तुमसे) सम्पत्ति उसी प्रकार ग्रहण करते हैं जिस प्रकार बूढ़े बाप से।" ऐतरेय ब्राह्मण (२२।९) में मनु के सबसे छोटे पुत्र नाभानेदिष्ठ की कथा से प्रकट होता है कि उसके सभी बड़े भाइयों ने पिता के रहते सारी सम्पत्ति अपने में बाँट ली और उसे वंचित कर दिया, किन्तु उसने कोई विरोध नहीं किया। किन्तु तैत्तिरीय संहिता (३।१।९४-५) में यह बात दूसरे ढंग से कही गयी है; स्वयं मनु ने अपनी सम्पत्ति अन्य पुत्रों में बाँट दी और नाभानेदिष्ठ को कोई भाग नहीं दिया और बेचारा नाभानेदिष्ठ उस समय गुरुकुल में वैदिक विद्यार्थी था! गोपथ ब्राह्मण (४।१७) में आया है--"अतः अपने बचपन में पुत्र अपने पिता पर निर्भर रहते हैं, किन्तु वार्धक्य में पिता पुत्रों पर निर्भर रहता है।" कौषीतकी ब्राह्मण उपनिषद् (२।१५) में आया है कि मृत्यु के मुख में जाते हुए पिता ने अपनी भौतिक एवं मानसिक शक्तियाँ अपने पुत्र को देते हुए कहा कि यदि इस क्रिया-संस्कार के उपरान्त वह जीवित हो उठता है तो उसे या तो पुत्र के अधिकार में रहना होगा या वह यात्री (संन्यासी) के समान घर से बाहर चला जायगा। शतपथ ब्राह्मण (१२।२।३।४) में आया है--"बचपन में पुत्र पिता पर आधारित रहते हैं...आगे चलकर पिता पुत्रों पर आधारित रहता है।" उपर्युक्त कुछ कथनों से व्यक्त होता है कि बहुत ही विरल अवसरों में पुत्र पिता के रहते और उसकी इच्छा के विरुद्ध सम्पत्ति विभाजन करते थे।

इससे स्पष्ट होता है कि डा० जॉली का यह कथन कि "भारतीय व्यवहार के आरम्भिक युगों में सम्पत्ति-विभाजन अज्ञात था" (टैगोर व्याख्यान, पृ० ९०) ठीक नहीं है और यह वैदिक मतों से पुष्ट नहीं होता। तैत्तिरीय संहिता (३।१।९।४) में आया है कि मनु ने अपनी सम्पत्ति अपने पुत्रों में विभाजित कर दी, इसमें यह भी आया है कि ज्येष्ठ पुत्र को पैतृक सम्पत्ति मिली। आपस्तम्ब० (२।६।१४।६ एवं १०-१२) ने तैत्तिरीय संहिता के दोनों कथनों (३।१।९।४ एवं २।५।२।७) को उद्धृत किया है, किन्तु निष्कर्ष यह निकाला है कि पुत्रों में बराबर भागों का विभाजन उचित विधि है और ज्येष्ठ पुत्र को सम्पत्ति का अधिक भाग देना शास्त्रविरुद्ध है।[१८] इससे स्पष्ट है कि बराबर के बँटवारे का नियम-सा था और अधिक अंश देना अपवाद था तथा वैदिक युग में भी ऐसा विरल ही होता था। ऐतरेय ब्राह्मण (१९।३) ने इन्द्र के **ज्यैष्ठ्य** एवं **श्रैष्ठ्य** नामक अधिकार का उल्लेख किया है। विभाजन के समय ज्येष्ठ पुत्र के साथ विशिष्ट व्यवहार करना मनु (९।११२) एवं याज्ञ० (२।११४) के युगों में प्रचलित था, और आधुनिक काल में

१६. स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः। पुंसोपीत्येके शौनःशेपे दर्शनात्। निरुक्त (३।४)।

१७. तस्य (पुरुषस्य) प्रदानविक्रयत्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः। वसिष्ठ० (१५।२); दानक्रयधर्मश्चापत्यस्य न विद्यते। आप० ध० सू० (२।६।१३।१०)।

१८. ज्येष्ठो दायाद इत्येके।....तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम्। मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदित्यविशेषेण श्रूयते। अथापि तस्माज्ज्येष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्त्येकवच्छ्रूयते। आप० (२।६।१४।६, १०-१२)।

भी कुछ विभाजन योग्य रियासतों एवं कुछ साधारण कुलों में यह विधि प्रचलित रही है, क्योंकि उनके पीछे अतीत की परम्परा रही है या राजकीय दानों (जागीर एवं सरंजाम आदि) के बँटवारे की ऐसी विधि रही है। कौटिल्य एवं कात्यायन ने घोषित किया है कि दाय-विभाजन के समय राजा द्वारा देशों, जातियों, ग्रामों एवं श्रेणियों की रूढ़ियों की रक्षा होनी चाहिए (अर्थशास्त्र ३।७ एवं कात्यायन, विवादरत्नाकर पृ० ५०५)। डा० जॉली का कथन है कि आपस्तम्बधर्मसूत्र ने पिता द्वारा व्यवस्थित विभाजन के अतिरिक्त कोई अन्य विभाजन-प्रकार नहीं बताया है। किन्तु यह भ्रामक कथन है। आपस्तम्ब एक बड़े विमलात्मा एवं आदर्शवादी थे। उन्होंने अपने समय के पूर्व की बहुत सी प्रसिद्ध बातों की अवज्ञा की है, यथा--उन्होंने गौण पुत्रों की चर्चा नहीं की है, ब्राह्मणों के लिए तब तक अस्त्र-शस्त्र छूना तक त्याज्य माना है जब तक उन पर मृत्यु की छाया न पड़े अर्थात् जब तक उन्हें मार डालने के लिए कोई आक्रमण न हो, किन्तु मनु (८।३४५-३४९), गौतम० (७।६ एवं २५) आदि ने इस विषय में पर्याप्त छूट दी है। अतः आपस्तम्ब का विभाजन के अन्य प्रकार के विषय में मौन रह जाना यह नहीं व्यक्त करता कि अन्य प्रकार थे ही नहीं। गौतम ने, जो साधारणतः आपस्तम्ब के पूर्व के माने जाते हैं, कहा है कि वे ब्राह्मण, जो पिता की इच्छा के विरुद्ध उससे पृथक् हो गये हैं, श्राद्ध के समय भोजन के लिए आमन्त्रित किये जाने योग्य नहीं हैं।[19] इससे स्पष्ट है कि गौतम के पूर्व भी पिता की इच्छा के विरुद्ध पुत्रों में विभाजन हो जाता था। डा० जॉली ने मिताक्षरा (याज्ञ० २।११४) द्वारा उद्धृत एक अज्ञात कथन का हवाला दिया है जो भूमि-विक्रय का निषेध करता है। किन्तु यह अनावश्यक है। उस कथन को शाब्दिक अर्थ में नहीं लेना चाहिए था, क्योंकि हम जानते हैं कि लगभग दो सहस्र वर्षों से भूमि-विक्रय का प्रचलन चलता आया है। वहाँ केवल इतना ही आया है कि विक्रय को दानरूप से (अर्थात् सोने एवं जल के साथ) करना चाहिए। जहाँ कहीं कुछ स्मृतियों में ऐसा आया है कि भूमि एवं भवन विभाजित करने योग्य नहीं हैं, वहाँ केवल यही तात्पर्य है कि छोटे-छोटे भूमि-खण्डों एवं घरों को बहुत-से सहभागियों में बाँटना आर्थिक दृष्टि से अच्छा नहीं है। ऐसा सोचना कि उन स्मृतियों के मत से भवनों का विभाजन सहभागियों में नहीं होता था, भ्रामक है। इतना ही समझना पर्याप्त है कि इस प्रकार के विभाजन समाज में अच्छे रूप में ग्रहण नहीं किये जाते थे। इस प्रकार की मनोभावना गौतम एवं आपस्तम्ब के उपरान्त भी पायी जाती रही है, यहाँ तक कि बीसवीं शताब्दी में हिन्दू पुत्र का विभाजन के लिए अपने पिता से मुकदमा लड़ना घृणास्पद एवं गर्हित माना जाता है। गौतम के कथन से व्यक्त होता है कि वैदिक निर्देशों के रहते हुए भी पिता के रहते ही और उसकी इच्छा के विरुद्ध भी कभी-कभी विभाजन हो जाया करता था, यद्यपि ऐसी बातें बहुत कम होती थीं।

अब स्मृतियों एवं मध्यकालीन लेखकों के विभाजन-काल सम्बन्धी नियमों का विचार करना चाहिए। एक समय वह था जब कि पिता जीवन-काल में ही पुत्रों में सम्पत्ति-विभाजन करता था (तैत्ति० सं० ३।१।९।४; आप० २।६।१४।१; गौतम २८।२; बौधा० ध० २।२।८; याज्ञ० २।११४; नारद, दायभाग ४)। दूसरा समय था पिता की मृत्यु के उपरान्त (गौतम २८।१; मनु ९।१०४; याज्ञ० २।११७; नारद, दायभाग २)। दायभाग ने केवल इन्हीं दो समयों को मान्य ठहराया है, अर्थात् पिता के स्वामित्व की समाप्ति पर (मृत्यु पर या संन्यासी हो जाने पर या सारी इच्छाएँ नष्ट हो जाने पर) तथा पिता के जीवन काल में ही उसकी इच्छा के अनुसार (दायभाग १।४४)। व्यवहारप्रकाश (पृ० ४२९ एवं ४३४, ४३५) ने इस विषय में दायभाग की कट आलोचना की है। जीमूतवाहन जैसे कुछ लेखक बहुत आगे बढ़ गये हैं और कहते हैं कि पिता की मृत्यु के उपरान्त माता के जीवन-काल तक भी पुत्रों के बीच सम्पत्ति-विभाजन नहीं होना

१९. न भोजयेत्...पित्रा वाकामेन विभक्तान्। गौतम० (१५।१५ एवं १९)।

चाहिए। गौतम (२८।१-२) का अनुसरण करते हुए मिताक्षरा ने विभाजन के तीन प्रमुख काल दिये हैं--(१) जीवन-काल में पिता की इच्छा से; (२) जब पिता की सारी भौतिक इच्छाएँ मृत हो गयी हों, वह संभोग से दूर रहता हो और माता सन्तानोत्पत्ति के योग्य न रह गयी हो, उस समय पिता की इच्छा के विरुद्ध भी पुत्र यदि चाहें तो बँटवारा कर सकते हैं (गौतम २८।२; नारद, दायभाग, ३, बृहस्पति); एवं (३) पिता की मृत्यु के उपरान्त। मिताक्षरा ने शंख के आधार पर लिखा है कि पुत्र माता द्वारा सन्तान उत्पन्न किये जाने पर भी पिता की इच्छा के विरुद्ध बँटवारा कर सकते हैं, यदि पिता अनैतिक हो, अधार्मिक हो, असाध्य रोग से पीड़ित हो या वृद्ध हो गया हो। यही बात नारद (दायभाग १६) में भी है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि मिताक्षरा ने केवल उपर्युक्त तीन विभाजन-कालों को ही मान्यता दी है। अन्य काल भी हैं। देखिए व्यवहारप्रकाश (पृ०४३४)। दायभाग ने शंख-लिखित के उपर्युक्त निर्देशित कथन का अर्थ कुछ और ही लिया है और कहा है कि जब तक पिता जीवित है, उसकी इच्छा के विरुद्ध विभाजन हो ही नहीं सकता, भले ही वह असाध्य रोग से पीड़ित हो, या उसकी मति ख़राब हो गयी हो; यदि ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाय तो ज्येष्ठ पुत्र या उसकी सहमति से दूसरा बड़ा पुत्र यदि योग्य हो तो कुटुम्ब की व्यवस्था सँभाल सकता है। दायभाग ने इसी प्रकार का एक कथन हारीत का भी उद्धृत किया है जिसे मदनरत्न, व्यवहारमयूख एवं अन्य निबंधों ने भी उल्लिखित किया है। मिताक्षरा की टिप्पणियों के फलस्वरूप मदनपारिजात (पृ० ६४५) जैसे ग्रंथों ने विभाजन के चार काल दिये हैं--(१) पिता के रहते उसकी इच्छा के अनुसार (याज्ञ० २।११४); (२) पिता की इच्छा के विरुद्ध भी जब कि माता संतान उत्पन्न करने योग्य न रह गयी हो और पिता निष्काम हो गया हो और वह सम्पत्ति की परवाह न करता हो (नारद, दायभाग ३); (३) जब पिता वृद्ध हो गया हो, अधर्ममार्ग का अनुसरण करता हो या असाध्य रोग से पीड़ित हो तो उसकी इच्छा के विरुद्ध भी विभाजन हो सकता है; तथा (४) पिता की मृत्यु के उपरान्त (यही बात व्यवहारनिर्णय (पृ० ४०८) में पायी जाती है।

मिताक्षरा इस विषय में स्पष्ट है कि पिता के जीते-जी और उसकी इच्छा के विरुद्ध भी पैतृक सम्पत्ति के विभाजन में पुत्र का सम्पूर्ण अधिकार है। मिताक्षरा के विवेचन को हम संक्षेप में ही रखेंगे। याज्ञ० (२।१२०) में आया है कि पौत्रों के विषय में विभाजन पिता के मत से (या उसके द्वारा) होता है। याज्ञवल्क्य के 'अनेकपितृकाणां तु पितृतो भागकल्पना' कथन को मिताक्षरा ने इस प्रकार समझाया है कि यद्यपि पुत्र एवं पौत्र पितामह की सम्पत्ति के स्वामित्व का अधिकार जन्म से ही पाते हैं, तथापि जब तक एक-एक करके सभी पुत्र असमान संख्या में पुत्रों को छोड़कर मर जाते हैं (पहला दो छोड़ता है, तीसरा तीन....आदि) या जब कुछ पुत्र जीवित हैं और कुछ मर गये हैं तो उन्हें सम्पत्ति-भाग इस प्रकार मिलता है--किसी मृत पुत्र के पुत्रों (पिता के पौत्रों) को इतना ही मिलता है जितना उसे (पिता के पुत्र को जीवितावस्था में) मिलता, अर्थात् पौत्रों को अपने पिताओं (पिता के पुत्रों) का भाग ही प्राप्त होता है। यहाँ एक सन्देह हो जाता है; यदि बहुत-से पुत्रों वाला पिता अपने भाइयों से अपने पितामह की सम्पत्ति के विभाजन के उपरान्त पृथक् हो जाय या यदि पिता का कोई भाई न हो और वह अपने पिता के साथ संयुक्त हो तो पौत्र लोग पितामह की सम्पत्ति नहीं माँग सकते (क्योंकि याज्ञ० २।१२० की की गयी व्याख्या के अनुसार जब पिता मर जाता है तो पौत्रों को वही भाग मिलता है जो पिता को अपने भाग के रूप में मिलता है)। दूसरा संदेह यह है; यदि इन स्थितियों में पौत्रों के बीच बँटवारा हो भी तो वह पिता की इच्छा के अनुसार ही सम्भव है। इन संदेहों को मिताक्षरा ने यह कहकर दूर कर दिया है कि पितामह की सम्पत्ति में पिता एवं पुत्र का स्वामित्व भली-भाँति ज्ञात है अतः उपर्युक्त सन्देहों की बात ही नहीं उठती और विभाजन होता ही है। मिताक्षरा का आगे स्पष्ट कथन है कि यदि माता अभी सन्तानोत्पत्ति करती जा रही हो और पिता अभी सम्पत्ति और भौतिक कार्यों में संलग्न हो तब भी पिता की इच्छा के विरुद्ध पितामह की सम्पत्ति का बँटवारा पुत्र की अभिलाषा से होता ही है। मिताक्षरा

का कहना है कि पिता की सम्पत्ति (जो उसे उसके भाग के अनुसार मिली है) का बँटवारा स्मृतियों द्वारा व्यवस्थित विशिष्ट नियम (वाचनिकी व्यवस्था) है, किन्तु अन्य विषयों में जन्मस्वत्व का प्राथमिक नियम ही लागू होता है। मनु (९।२०९) के कहे गये वचन से निर्देशित होकर मिताक्षरा ने निष्कर्ष निकाला है कि पिता की इच्छा के विरुद्ध भी पुत्र पितामह की सम्पत्ति के विभाजन की माँग रख सकता है। यही मिताक्षरा सम्प्रदाय के मत से हिन्दू क़ानून है, जो आज-कल मान्य है।

जब याज्ञवल्क्य एवं अन्य स्मृतियों ने पैतृक सम्पत्ति पर पुत्र का जन्म से ही अधिकार मान लिया तो यह तर्कसिद्ध फल निकला कि कोई भी व्यक्ति, जो जन्म से स्वत्वाधिकार रखता है, विभाजन की माँग कर सकता है और अपने भाग को किसी समय अलग करा सकता है। हमने देख लिया है कि गौतम के पूर्व भी पुत्र लोग अपने पिताओं की इच्छा के विरुद्ध उनसे अलग हो जाते थे, किन्तु इस कार्य की ऋषियों ने निन्दा की है, ऐसे आचरण को घृणित एवं गर्हित माना गया है। कुछ स्मृतियों ने पिता के रहते पुत्र के विभाजन के अधिकार को कुछ बड़े नियन्त्रणों के भीतर मान लिया है। पिता के रहते एवं उसकी इच्छा के विरुद्ध पुत्र द्वारा सम्पत्ति-विभाजन कर अलग हो जाना स्पष्ट रूप से व्यक्त है और यह प्रथा गौतम के काल से लेकर मिताक्षरा (लगभग पन्द्रह शताब्दियों) तक चली आयी। वीरमित्रोदय ने भी पुत्र के इस अधिकार को मान्यता दी है। किन्तु मिताक्षरा के कुछ अनुयायी लेखकों ने इसे नहीं स्वीकार किया है, यथा--मदनपारिजात (पृ० ६६२) के लेखक ने लिखा है कि केवल पुत्र की इच्छा से विभाजन नहीं हो सकता। दायभाग में ऐसे प्रश्न उठते ही नहीं, क्योंकि उसके मत से पुत्र को पैतृक सम्पत्ति पर जन्म से कोई अधिकार ही नहीं है।

पिता के जीवन-काल में विभाजन-सम्बन्धी पुत्र की माँग को प्राचीन काल के कुछ धार्मिक मनोभावों से प्रेरणा मिली। गौतम (२८।४) ने लिखा है कि यदि संयुक्त न रहकर भाई पृथक् हो जायँ तो धार्मिक श्रेष्ठता की वृद्धि होती (**विभागे तु धर्मवृद्धिः**) है। मनु (९।१११) ने कहा है--"वे (भाई) संयुक्त रह सकते हैं या यदि धर्म-वृद्धि चाहें तो पृथक् भी रह सकते हैं, पृथक् रहने से धर्म-वृद्धि होती है। अतः विभाजन महत्त्वकारी है।"[20] इससे प्रकट होता है कि पिता की मृत्यु के उपरान्त संयुक्त रहना या अलग-अलग हो जाना अभिरुचि या विकल्प पर निर्भर था। शंख-लिखित का कहना है कि भाई संयुक्त रह सकते हैं क्योंकि एक साथ रहने पर वे भौतिक रूप से उन्नति कर सकते हैं।[21] बृहस्पति का कथन है कि संयुक्त परिवार में साथ-साथ रहने और एक ही चूल्हे पर पकाकर खानेवालों द्वारा की गयी देव-पितृ-ब्राह्मणपूजा सबकी ओर से एक ही होती है, किन्तु जब वे पृथक् हो जाते हैं तो प्रत्येक घर में पृथक्-पृथक् वही पूजा होती है। यही बात नारद (दायभाग ३७) ने भी कही है।[22] विभाजन होने पर धर्म की वृद्धि होती है, क्योंकि अलग हो जाने पर अलग-अलग घरों में धार्मिक कृत्य होने लगते हैं। यहाँ पर धर्म का तात्पर्य है मुख्यतः

२०. मनु (९।१११) के कथन को व्यवहारनिर्णय (पृ० ४०८) ने प्रजापति के कथन के रूप में उद्धृत किया है। मदनरत्न ने मनु एवं प्रजापति को पृथक्-पृथक् माना है, "पृथग्दैवपित्र्यकर्मकरणाद्धर्मवृद्धिमपेक्षमाणा विभजेयुरित्याहतुर्मनुप्रजापती एवं सह वसेयुर्वा...आदि।"

२१. कामं वसेयुरेकतः संहता वृद्धिमाचक्षीरन्। शंखलिखितौ (विवादरत्नाकर पृ० ४५८)।

२२. एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम्। एकं भवेद्विभक्तानां तदेव स्याद् गृहे गृहे॥ बृ० (अपरार्क पृ० ७१९; व्य० नि० पृ० ४६८; कुल्लूक, मनु ९।१११; हरदत्त (गौतम १८।४; विवादरत्नाकर प० ४५९)।

ऐसे धार्मिक कार्य जो पंचमहायज्ञों से सम्बन्धित हैं।[२३] मनु (३।६७) ने लिखा है कि प्रत्येक घर में विवाह के समय प्रज्वलित गृह्य अग्नि में गृह्य क्रिया-संस्कार किये जाने चाहिए, प्रथा--प्रातः एवं सायं के होम, पंचमहायज्ञ, प्रति दिन भोजन पकाना। संग्रह ने धर्म को अग्निहोत्र करने के अर्थ में लिया है, किन्तु स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २५९) एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० ४३७-४३८) ने इसे स्वीकार नहीं किया है और उनका कहना है कि संयुक्त रहने पर कोई भी सहभागी सभी श्रौत एवं स्मार्त, यथा अग्निहोत्र के कर्म संयुक्त सम्पत्ति की सहायता से कर सकता है, धर्म का अर्थ है केवल **देवपितृद्विजार्चन**। व्यास ने भी नारद एवं बृहस्पति की बात दुहरायी है।

सामान्यतः बालिग होने पर ही विभाजन होता था, किन्तु कौटिल्य (३।५), बौधायन (२।२।४२) एवं कात्यायन (८४४-४५) से प्रकट होता है कि अप्राप्तव्यवहारता (बाल दशा या नाबालिग होना) विभाजन के लिए बन्धन नहीं था। कौटिल्य (३।५) का कथन है--जब सहभागी प्राप्तव्यहार (बालिग) हो जाते हैं तो विभाजन होता है; किन्तु सहभागियों (अलग होनेवाले अंशहर अथवा रिक्थभागी) को चाहिए कि अप्राप्तव्यवहार वालों (नाबालिगों) के भाग को उनकी माता के सम्बन्धियों (बन्धुओं के) संरक्षण में या ग्रामवृद्धों के संरक्षण में कुल के सभी ऋणों को चुका लेने के उपरान्त तब तक रख दें जब तक वे प्राप्तव्यव्यवहार न हो जायँ। कात्यायन ने व्यवस्था दी है कि सांसारिक बातों की समझदारी आ जाने पर सहभागियों में विभाजन होना चाहिए और यह व्यवहारिता (समझदारी) पुरुषों में १६वें वर्ष में आ जाती है। जो लोग अभी अप्राप्तव्यवहार हैं उनकी संयुक्त कुल की सम्पत्ति को व्यय-विवर्जित (ऋण आदि से मुक्त) करके प्राप्त-व्यवहार वालों द्वारा उनके बन्धुओं या मित्रों के यहाँ रख दिया जाना चाहिए। यही बात उनके साथ भी होनी चाहिए जो बाहर चले गये हों।[२४] इससे स्पष्ट है कि अप्राप्त-व्यवहारता की अवस्था में भी विभाजन की व्यवस्था थी और एक सहभागी की माँग पर भी विभाजन होता था, जैसा कि दायभाग (३।१६-१७), व्यवहारप्रकाश आदि में वर्णित है।

प्राप्तव्यवहारता सोलहवें वर्ष के आरम्भ में होती थी या उसके अन्त में, इस विषय में मतैक्य नहीं है। नारद (४।१५) के मत से सोलहवें वर्ष तक व्यक्ति बाल रहता है। मिताक्षरा द्वारा उद्धृत अंगिरा एवं गौतम (२।६, हरदत्त द्वारा उद्धृत) के वचनों से पता चलता है कि व्यक्ति सोलहवें वर्ष के आरम्भ तक बाल रहता है।[२५] कात्यायन के अनुसार बाल्यावस्था सोलहवें वर्ष के आरम्भ में समाप्त हो जाती है। बहुत-से टीकाकारों ने भी यही बात कही है,

२३. अधीतवेदेषु अधिगतवेदार्थेषु चाग्निहोत्राद्यनुष्ठानसमर्थेषु च विभाग एव श्रेयान्। अपरार्क पृ० ७१९; धर्मः पितृदेवद्विजार्चनजन्यः। उक्तं च तथैव संग्रहकारेण। क्रियते स्वं विभागेन पुत्राणां पैतृकं धनम्। स्वत्वे सति प्रवर्तन्ते तस्माद्धर्म्याः पृथक् क्रियाः॥ प्रवर्तन्ते स्वसाध्याग्निहोत्रादय इति शेषः। अत्रोच्यते... आदि। स्मृतिच० २, पृ० २५९; तस्मात्पंचमहायज्ञादिधर्म एव धर्मशब्देनात्र ग्राह्यः। व्य० प्र० पृ० ४३८; स्वत्वाविशेषादेवाविभक्तद्रव्येण यत्कृतं तत्र दृष्टादृष्टे कर्मणि सर्वेषां फलभागित्वम्। दायतत्त्व पृ० १६४।

२४. प्राप्तव्यवहाराणां विभागः। अप्राप्तव्यवहाराणां देयविशुद्धं मातृबन्धुषु ग्रामवृद्धेषु वा स्थापयेयुरा व्यवहारप्रापणात् प्रोषितस्य वा। अर्थशास्त्र (३।५); और देखिए बौधा० (२।२।४२); संप्राप्तव्यवहाराणां विभागश्च विधीयते। पुंसां च षोडशे वर्षे जायते व्यवहारिता॥ अप्राप्तव्यवहाराणां च धनं व्ययवर्जितम्। न्यसेयुर्बन्धुमित्रेषु प्रोषितानां तथैव च॥ कात्यायन (८४४-८४५)।

२५. बाल आ षोडशाद्वर्षात् पोगण्ड इति शस्यते। नारद (ऋणादान ३५)। अशीतिर्यस्य वर्षाणि बालो वाप्यूनषोडशः। प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति स्त्रियो रोगिण एव च॥ इत्यङ्गिरःस्मरणात्। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२४३)।

किन्तु कुछ लोगों ने, यथा हरदत्त (गौ० १०।४८), विवादरत्नाकर (पृ० ५९९), व्यवहारप्रकाश (पृ० २६३) ने स्पष्ट रूप से कहा है कि बालपन का अन्त सोलहवें वर्ष के अन्त में होता है।[२६] गौतम (१०।४८-४९), मनु (८।२७), वसिष्ठ० (१६।८), विष्णु (३।६५) के मत से नाबालिगों, स्त्रियों एवं निर्बलों की सम्पत्ति की रक्षा का भार राजा पर था। आजकल विवाहों, यौतकों (स्त्री-धनों), तलाकों एवं गोद के अतिरिक्त अन्य बातों में प्राप्तव्यवहारता अठारहवें वर्ष (कुछ मामलों में इक्कीसवें वर्ष) में मानी जाती है। किसी सहभागी की स्त्री के गर्भवती रहने पर भी विभाजन होता था और इसी से वसिष्ठ (१७।४) ने सहभागियों की गर्भवती पत्नियों के बच्चा जनने तक विभाजन को स्थगित करने की व्यवस्था दी है और मनु (९।२१६) ने पिता और पुत्रों के बीच विभाजन के उपरान्त भी उत्पन्न हुए पुत्र को भाग देने की व्यवस्था दी है।

अब आगे का प्रश्न है, किस प्रकार की सम्पत्ति का विभाजन होना चाहिए। इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व सम्पत्ति के विषय में कुछ चर्चा कर देना आवश्यक है। अधिकांश स्मृतियों में सम्पत्ति दो प्रकार की कही गयी है; **स्थावर** (यथा—भूमि-खण्ड एवं घर) एवं **जंगम**। देखिए बृहस्पति एवं कात्यायन (५१६)। याज्ञ० (२।१२१) तथा कुछ स्मृतियों में इसके तीन प्रकार कहे गये हैं, **भू** (भूमि-खण्ड एवं घर), **निबन्ध** एवं **द्रव्य** (सोना, चाँदी तथा अन्य **चल** सम्पत्ति)।[२७] कभी-कभी **द्रव्य** शब्द सभी प्रकार की सम्पत्तियों का द्योतक माना गया है, चाहे वे **चल** हों या **अचल** (द्रव्ये पितामहोपात्ते जंगमे स्थावरे तथा—बृहस्पति)। प्राचीन भारतीय व्यवहार (क़ानून) के अनुसार सम्पत्ति दो कोटियों में बाँटी गयी है; (१) **संयुक्त कुल-सम्पत्ति** तथा **पृथक्सम्पत्ति**। संयुक्त कुल-सम्पत्ति या तो पैतृक होती है या पैतृक सम्पत्ति की सहायता या बिना उसकी सहायता के संयुक्त रूप में अर्जित होती है या अलग-अलग अर्जित होने पर संयुक्त कर ली जाती है (मनु ९।२०४)। और देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० ११।२०)। पैतृक सम्पत्ति को **अप्रतिबन्ध दाय** भी कहते हैं और यह वह है जिसे कोई पुरुष अपने पिता, पितामह, प्रपितामह से दाय रूप में प्राप्त करता है और जिसे मिताक्षरा सम्प्रदाय के अनुसार पानेवाले के पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र जन्म से प्राप्त करते हैं। **पृथक्सम्पत्ति** में स्वार्जित सम्पत्ति भी सन्निहित मानी जाती है, जिस पर हम आगे विचार करेंगे। यदि कोई व्यक्ति विभाजन द्वारा पैतृक सम्पत्ति से कोई अंश पाता है, तो ऐसा माना गया है कि वह उसकी पृथक्सम्पत्ति कहलाएगी, जब कि उसके पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र न हों, किन्तु इनमें से यदि कोई हो तो वह उसके तथा उसके अन्य उत्तराधिकारियों के लिए पैतृक सम्पत्ति कहलाएगी। दायभाग सम्प्रदाय के अन्तर्गत पुत्र जन्म से ही पैतृक सम्पत्ति पर अधिकार नहीं रखता, अतः जहाँ तक पिता को विघटन-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त है, पैतृक सम्पत्ति एवं पृथक्सम्पत्ति में कोई अन्तर नहीं है। इस सम्बन्ध में हमने ऊपर देख लिया है और थोड़ा-बहुत आगे लिखा जायगा।

मिताक्षरा के अनुसार संयुक्त सम्पत्ति का सदस्य होते हुए और उसमें अभिरुचि रखते हुए भी कोई व्यक्ति

२६. यावदसौ व्यवहारप्राप्तः षोडशवर्षो भवति। हरदत्त (गौ० १०।४८); पुत्राधिकारे बौधायनः, तेषामप्राप्तव्यवहाराणाम्०। आङ अभिविधौ, तेन सप्तदशवर्षात्प्राक्। विवादरत्नाकर (पृ० ५९९); कात्यायनोपि—....नाप्राप्तव्यवहारैस्तु० इति नाप्राप्तव्यवहारैः हेयोपादेयपरिज्ञानविशेषसहितैः षोडशवर्षैरित्यर्थः। षोडशवार्षिकस्य व्यवहारज्ञत्वमाह। गर्भस्थैः आदि (नारद ४।३५)। व्यवहारप्रकाश (पृ० २६३)।

२७. 'निबन्ध' शब्द का अर्थ है रुपये-पैसे या अन्न या अन्य वस्तुओं के रूप में वह आवधिक शुल्क या चुकती या दान, जो राजा द्वारा या संघ द्वारा या ग्राम द्वारा या किसी जाति द्वारा किसी व्यक्ति, कुल, मठ या मन्दिर को स्थायी रूप में मिलता है (बंधान)। यजमान-वृत्ति भी निबन्ध ही है।

भाँति-भाँति के उपायों द्वारा अर्जित धनों से पृथक्सम्पत्ति रख सकता है। पृथक्सम्पत्ति के मुख्य प्रकार ये हैं--(१) वह सम्पत्ति जो पिता, पिता के पिता और पिता के पिता के पिता से न प्राप्त हो, अर्थात् वह जो भाई, चाचा आदि से प्राप्त हो; (२) वह जो पैतृक चल सम्पत्ति से स्नेहवश पिता द्वारा किसी भाग के रूप में दानस्वरूप या प्रसाद के रूप में प्राप्त हो; (३) अपनी पृथक्सम्पत्ति से पिता द्वारा पुत्रों को दिया गया दान या प्रसाद या उसके द्वारा मरते समय जो कुछ दिया जाय; (४) अन्य बन्धुओं एवं मित्रों द्वारा दिया गया दान या वह दान या भेट जो विवाह के समय प्राप्त होती है; (५) वह सम्पत्ति जो कुल से निकल चुकी थी और किसी सदस्य द्वारा अपने प्रयासों से (बिना संयुक्त सम्पत्ति की सहायता के) किसी दूसरे से प्राप्त की जाय; तथा (६) वह सम्पत्ति जो स्वार्जित हो, विद्या एवं ज्ञान से प्राप्त की गयी हो (**विद्याधन**)। आगे इन प्रकारों में से कुछ पर विचार प्रकट किये जायँगे।

यह अवलोकनीय है कि उपर्युक्त पृथक्सम्पत्ति के प्रकारों में स्मृतियों ने उन दानों को स्पष्ट रूप से सन्निहित नहीं किया है जो संयुक्त कुल के किसी सदस्य को किसी अन्य व्यक्ति से मिलते हैं, केवल मित्रों से प्राप्त दानों या विवाह के समय प्राप्त भेटों (औद्वाहिक, याज्ञ० २।२१८ एवं मनु ९।२०६) या मधुपर्क के समय किसी विद्वान्, पुरोहित आदि को मिले दानों का ही उल्लेख हुआ है। सम्भवतः अन्य लोगों से प्राप्त दानों (जिनको पृथक् सम्पत्ति के अन्तर्गत नहीं परिगणित किया गया है) को सम्पूर्ण कुल का धन माना जाता था। पृथक् सम्पत्ति के विषय की धारणा धीरे-धीरे मन्द गति से उदित हुई है। आरम्भ में किसी सदस्य द्वारा उपार्जित धन पूरे कुल की सम्पत्ति माना जाता था। मनु (८।४१६) की व्याख्या में शबर, मेधातिथि, दायभाग आदि ने लिखा है कि उपार्जनकर्ता (चाहे वह पुत्र हो या पत्नी) को स्वार्जित धन स्वतन्त्र रूप से व्यय करने का अधिकार नहीं है, यद्यपि वह उस धन पर स्वामित्व रखता है। यहाँ तक कि बहुत बाद के लेखक हरदत्त के अनुसार जो कुछ भी किसी सदस्य द्वारा (चाहे वह विद्वान् हो या न हो) अर्जित होता है वह पिता के जीते-जी पिता का ही होता है (गौतम २८।२९)। दायभाग (२।६६-७२) ने कात्यायन (८५१) को उद्धृत कर कहा है कि "पिता पुत्र द्वारा अर्जित धन का आधा या दो भाग पाता है" और इसे दो ढंगों से समझाया है; यदि पुत्र पैतृक धन की सहायता से धनोपार्जन करता है तो पिता उसका आधा ले लेता है, उपार्जनकर्ता को दो भाग मिलते हैं तथा अन्य पुत्रों को एक-एक भाग मिलता है; किन्तु यदि पुत्र बिना पैतृक धन की सहायता से धनोपार्जन करता है तो उसे तथा पिता को दो-दो भाग मिलते हैं और पुत्रों को कुछ भी नहीं। दूसरी व्याख्या यह है कि यदि पिता विद्वान् हो तो उसे आधा, किन्तु यदि वह विद्वान् न हो तो केवल दो भाग मिलते हैं। व्यवहारप्रकाश (पृ० ४४४-४४५) ने दायभाग की इन टिप्पणियों की कटु आलोचना की है। कुल के सदस्यों द्वारा उपार्जित धन कुलपति को ही प्राप्त होता है; इस धारणा पर सूत्रों ने प्रथम आक्रमण **विद्याधन** को पृथक्सम्पत्ति मानकर किया। मनु (९।२०८, विष्णु १८।४२) का कथन है कि जो कुछ कोई (संयुक्त परिवार का सदस्य, कोई भाई आदि) अपने परिश्रम से (बिना कुल-सम्पत्ति को हानि पहुँचाए) कमाता है, यदि वह चाहे तो उसे अन्य को नहीं दे सकता, क्योंकि वह प्राप्ति उसकी ही क्रियाशीलता द्वारा हुई है। हमने देख लिया है कि मनु (९।२०६) ने **विद्याधन** के अतिरिक्त मित्र-दान, विवाह-दान (**औद्वाहिक**) एवं मधुपर्क के समय के दान को किसी व्यक्ति की पृथक् सम्पत्ति के रूप में ग्रहण किया है। याज्ञ० (२।११८-९) ने व्यवस्था दी है--"जो कुछ कोई बिना संयुक्त सम्पत्ति की हानि के प्राप्त करता है, मित्रों से दान के रूप में या विवाह में भेट के रूप में जो कुछ पाता है, वह अन्य सहभागियों में विभाजित नहीं होता, इसी प्रकार जो नष्ट हुई पैतक सम्पत्ति (जो पिता अथवा भाइयों द्वारा पुनः प्राप्त नहीं की गयी थी) फिर से (अपने उद्योग से) प्राप्त करता है, उसे भी विभाजन के समय अन्य लोग पाने के योग्य नहीं माने जाते और यही बात विद्याधन के विषय में भी है।" इन शब्दों की पदयोजना के विषय में विश्वरूप के पूर्व भी मतैक्य नहीं था। मिताक्षरा ने 'पितृद्रव्याविरोधेन यत्किञ्चित्स्वयमर्जितम्' को चारों प्रकार की सम्पत्ति के साथ सम्बन्धित माना है। इसका फल यह है कि यदि कोई सदस्य

किसी ऐसे व्यक्ति से दान या भेट पाता है जिसे कुल-सम्पत्ति के व्यय द्वारा कृतज्ञ किया गया था, यदि कोई सम्पत्ति श्वशुर द्वारा दी गयी भेट के रूप में मिलती है और श्वशुर ने यदि विवाह में दी गयी लड़की के लिए कुल-सम्पत्ति से कुछ लिया था (जैसा कि आसुर विवाह में होता है) या यदि नष्ट हुई सम्पत्ति जब पैतृक सम्पत्ति की सहायता से पुनः प्राप्त की गयी या यदि कोई पैतृक सम्पत्ति की सहायता से विद्यार्जन करके विद्याधन प्राप्त करता है तो इस प्रकार के धन अन्य सदस्यों में भी विभाजित होते हैं। इस अर्थ द्वारा बिना कुल-सम्पत्ति की हानि किये किसी अन्य से प्राप्त धन भी अन्य सदस्यों में विभाजित होना चाहिए। किन्तु मिताक्षरा की इस व्याख्या को दायभाग (६।१।८, पृ० ६), दीपकलिका, विश्वरूप, व्यवहारप्रकाश (पृ० ५०१) एवं अपरार्क (पृ० ७२३) ने नहीं स्वीकार किया है।

यदि आपत्तियों के कारण कुल-सम्पत्ति नष्ट हो गयी हो और उसे किसी सदस्य ने अपने प्रयास से (बिना कुल-सम्पत्ति के उपयोग के) ग्रहण किया हो तो उसके विषय में कुछ विशिष्ट व्यवस्थाएँ अवलोकनीय हैं। मनु (९।२०९), विष्णु० (१८।४३), बृहस्पति एवं कात्यायन (८६६) ने एक विशेष नियम यह दिया है कि यदि इस प्रकार नष्ट हुई सम्पत्ति को पिता अपने प्रयास से (बिना कुल-सम्पत्ति का व्यय किये) पुनर्ग्रहण करता है तो वह उसे सम्पूर्ण रूप से स्वार्जित-जैसी रख लेगा। याज्ञ० (२।११९) का नियम केवल वहाँ प्रयुक्त होता है जहाँ कोई अन्य सदस्य (पिता नहीं) बिना कुल-सम्पत्ति की सहायता के नष्ट सम्पत्ति ग्रहण करता है (ऐसी स्थिति में वह सम्पत्ति उस सदस्य की स्वार्जित मानी जायगी)। किन्तु यदि इस प्रकार किसी सदस्य द्वारा (पिता नहीं) संपत्ति भूमि के रूप में पुनर्ग्रहण की गयी हो तो उसे केवल उसका एक-चौथाई प्राप्त होता है (शंख के मत द्वारा) और शेष सभी सदस्यों को (पुनर्ग्रहण करनेवाले को भी) बराबर-बराबर मिल जाता है। यह नियम आज कल भी लागू होता रहा है।

विद्याधन को आरम्भिक काल में ही मान्यता प्राप्त हो गयी थी, किन्तु तब से अब तक इसमें बहुत परिवर्तन हो गया है। इसके विषय में आपस्तम्ब० एवं बौधायन० मौन हैं, किन्तु गौतम० (२८।२८-२९) ने कहा है कि सभी सदस्य यदि पढ़े-लिखे न हों (विद्वान् न हों) तो कृषि आदि द्वारा जो कुछ उनसे उपार्जित होता है उसमें सबका बराबर बराबर भाग होता है, किन्तु यदि कोई विद्वान् सदस्य अपनी विद्या से कुछ अर्जित करता है तो यदि वह चाहे तो उसे अन्य अविद्वान् भाइयों में नहीं बाँट सकता। हरदत्त का कथन है कि यह नियम केवल संयुक्त भाइयों के लिए ही प्रयुक्त होता है। वसिष्ठ (१७।५१) ने स्वार्जित धन के दो भाग उपार्जनकर्ता को दिये हैं। किन्तु इनका नियम आरम्भिक अवस्था का द्योतक है जब कि स्वार्जित धन को कोई सम्पूर्णता से अपना नहीं सकता था, उसे केवल दो भाग मिलते थे और शेष संयुक्त परिवार के अन्य सदस्यों को सम भाग के रूप में मिलते थे। मनु (९।२०६), याज्ञ० (२।११९), नारद (दायभाग१०), कात्यायन (८६८) एवं व्यास ने विद्याधन को सामान्यतः विभाजन के समय विभाजित करने योग्य नहीं ठहराया है। इस विषय में कात्यायन ने बड़ी लम्बी व्याख्या दी है जिस पर आगे चलकर सम्बन्धित बातों के साथ विवेचन होता रहेगा। कुछ स्मृतियों ने उस विद्याधन को विभाजन योग्य ठहराया है जो ऐसे व्यक्ति का हो जो कुल के धन के व्यय से पढ़ा हो (नारद, दायभाग १०) या जब उसने घर में ही अपने पिता या किसी भाई से शिक्षा ग्रहण की हो (कात्यायन ८७४)। दायभाग (६।७।४२-४९) ने श्रीकर (याज्ञ० २।११८) के मतों का विस्तार से वर्णन किया है और उनका विरोध करते हुए यह लिखा है कि व्यक्ति जन्म-काल से ही अपनी जीविका के लिए कुल पर निर्भर रहता है, अतः यह कहना कि उस पर पैतृक सम्पत्ति नहीं खर्च की गयी, भ्रामक सिद्ध हो जाता है, अतः उसके द्वारा उपार्जित धन विभाजित होना चाहिए और इस विषय में मनु (९।२०८) के वचन में कोई सार्थकता नहीं है। अतः विश्वरूप के कथन में सम्पत्ति की हानि से भोजन और अन्य जीविका निर्वाह-सम्बन्धी व्यय का तात्पर्य नहीं है, बल्कि उसका तात्पर्य यह है कि वही सम्पत्ति स्वार्जित है जो अपने शौर्य से बिना कुल-सम्पत्ति का व्यय किये प्राप्त की गयी हो।

कात्यायन (८६७-८७३) ने विद्याधन को इस प्रकार समझाया है--"वही धन विद्याधन है जो दूसरे के यहाँ खा-पीकर किसी अन्य से विद्या प्राप्त करने के उपरान्त उसके उपयोग से प्राप्त होता है, जो किसी मामले को सुलझाने के कारण अपनी विद्या से प्राप्त हो वही विद्याधन है और उसका विभाजन नहीं होता। जो धन शिष्यों से प्राप्त होता है (अध्यापन-कार्य से प्राप्त होता है), जो किसी यज्ञ में पुरोहिती करने से प्राप्त होता है, जो प्रश्न करने तथा सन्देह दूर करने से प्राप्त होता है, जो अपने ज्ञान के प्रकाश करने से प्राप्त होता है, वह सब **विद्याधन** की संज्ञा पाता है और विभाजन के समय बाँटा नहीं जाता। यही बात शिल्पियों के विषय में भी है, जो कुछ उन्हें वस्तु-मूल्य के उपरान्त पुरस्कार के रूप में प्राप्त होता है वह स्वार्जित माना जाता है। बाजी लगने पर उत्तम ज्ञान के कारण जो प्राप्त होता है वह भी विद्याधन है और उसका विभाजन नहीं होता ऐसा बृहस्पति ने कहा है। भृगु ने भी इसी प्रकार विद्या-प्रतिज्ञा (विद्या की महत्ता के प्रकाशन) से प्राप्त, शिष्य, पुरोहिती आदि से प्राप्त धन को विद्याधन कहा है। विद्याबल, यजमानकार्य एवं शिष्यों से जो कुछ प्राप्त होता है वह विद्याधन घोषित होता है। इस प्रकार की प्राप्ति के अतिरिक्त जो कुछ प्राप्त होता है वह सामान्यतः संयुक्त रूप में सब सदस्यों का होता है।

कात्यायन ने **शौर्यधन** (वह धन जो राजा या स्वामी द्वारा किसी सैनिक या नौकर को प्राणों की बाजी लगाकर शूरता प्रदर्शित करने पर पुरस्कार-स्वरूप दिया जाता है) एवं **ध्वजाहृत** (जो कुछ प्राणों की बाजी लगाकर युद्ध में अथवा शत्रु को भगाकर प्राप्त किया जाता है) में अन्तर बताया है। नारद (दायभाग ६) एवं बृहस्पति ने दोनों को **शौर्यधन** के अन्तर्गत रखा है। कात्यायन ने नारद एवं बृहस्पति के **भार्याधन** को दो भागों में बाँटा है; **कन्यागत** (जो अपनी ही जाति की कन्या के साथ विवाह करते समय प्राप्त होता है) एवं **वैवाहिक** (वह धन जो पत्नी के साथ आता है)। यह वही है जिसे मनु (९।२०६) ने **वैवाहिक** एवं याज्ञवल्क्य (२।११८) ने **औद्वाहिक** की संज्ञा दी है। व्यास का मत है कि शौर्यधन यदि कुल के हथियारों से प्राप्त किया जाय तो संयुक्त धन हो जाता है, किन्तु प्राप्तिकर्ता को दो भाग मिलते हैं और शेष अन्य सदस्यों में सम भाग में बाँट दिया जाता है।

सम्पत्ति के कुछ अन्य प्रकार भी हैं जिनका विभाजन नहीं होता और उनका उपभोग संयुक्त या बारी-बारी से होता है। इस विषय में सबसे प्राचीन व्यवस्था गौतम (२८।४४-४६) ने दी है कि जल (कूप), पवित्र उपयोगों एवं यज्ञों के लिए निर्धारित सम्पत्ति एवं भोजन (उत्सवों आदि में बनाया गया) विभाजन के योग्य नहीं हैं और न सदस्यों की रखैलों का ही बँटवारा हो सकता है। शंख-लिखित ने भवन, जल-पात्रों तथा सदस्यों द्वारा प्रति दिन के उपयोग में लाये जानेवाले अलंकारों एवं परिधानों को अविभाज्य माना है। इसी प्रकार उशना का कथन है कि याज्य (मन्दिरों तथा पुरोहिती से प्राप्त दान), खेत, सवारियाँ, पक्वान्न, जल एवं स्त्रियाँ सहस्रों पीढ़ियों तक सगोत्रों में अविभाज्य हैं। प्रजापति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २७७) के मत से घर, खेत, याज्य (मन्दिर) तथा माता या पिता द्वारा दिया गया स्नेह-दान अविभाज्य है। खेतों एवं घरों के विभाजन के नियन्त्रण को तीन प्रकार से समझाया गया है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।११९) के मत से सम्भवतः इस नियन्त्रण में ब्राह्मण द्वारा किसी क्षत्रिय या वैश्य पत्नी से उत्पन्न पुत्र की ओर संकेत है, यदि ब्राह्मण को धार्मिक दान मिलता है तो वह क्षत्रिय पत्नी के पुत्र को नहीं मिलना चाहिए, यदि पिता भी देता है तो उसकी मृत्यु के उपरान्त उसकी ब्राह्मणी पत्नी का पुत्र उसे छीन सकता है। दूसरी व्याख्या है कि यह नियन्त्रण उस स्थान या घर से सम्बन्धित है या उस खेत की ओर संकेत करता है जो गायों के लिए चरागाह है। तीसरी व्याख्या यह है कि जब घर या खेत छोटा या कम मूल्य का हो तो उसका बँटवारा नाप-जोख से न होकर मूल्यनिर्धारण से होना चाहिए। दायभाग ने एक अन्य व्याख्या दी है (६।२।३० पृ० १२८); यदि पिता के रहते कोई पुत्र कुल की भूमि पर घर बनाता है या वाटिका लगाता है तो इसका बँटवारा नहीं होता और वह निर्माता को ही मिलती है।

मनु (९।२१९=विष्णु १८।४४) का कथन है; "वस्त्र, पत्र (यान), अलंकार, पके भोजन, जल (कूप आदि), स्त्रियों एवं प्रचार या मार्ग (रास्ता) का विभाजन नहीं होता।"[२८] यदि वस्त्र बहुमूल्य एवं नये न हों, तो सभी टीकाकारों के मत से वे ऐसे वस्त्र हैं जिन्हें सदस्य लोग प्रति दिन प्रयोग में लाते हैं। यही बात यानों एवं अलंकारों के विषय में भी कही गयी है। 'प्रचार' का तात्पर्य या तो "घर, वाटिका आदि की ओर जानेवाले मार्ग" (मिताक्षरा, अपरार्क एवं व्यवहारप्रकाश) है या गायों आदि के लिए मार्ग या चरागाह" (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २७७, कुल्लूक) है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।११८-११९) ने बृहस्पति का एक नियम उद्धृत किया है, जिसके अनुसार पिता द्वारा प्रयुक्त वस्त्र, अलंकार, शय्या, यान आदि मृत्यु के उपरान्त श्राद्ध के समय आमन्त्रित ब्राह्मण को दिये जाने चाहिए। कप का उपयोग बारी-बारी से होना चाहिए, न कि मूल्य लगाकर उसका बँटवारा होना चाहिए। यदि नौकरानी (रखैल नहीं) एक ही हो तो उससे बारी-बारी से काम लेना चाहिए, यदि कई हों तो उनका बँटवारा हो सकता है या उनके मूल्य का बँटवारा हो सकता है।

योगक्षेम शब्द बहुत प्राचीन काल से कई अर्थों में लिया जाता रहा है। मिताक्षरा ने लौगाक्षि को उदधृत कर व्यक्त किया है कि **योगक्षेम** का अर्थ है श्रौत एवं स्मार्त अग्नि में किये गये यज्ञ आदि कर्म तथा दानदक्षिणा-सम्बन्धी कर्म, यथा कूप, वापी आदि का निर्माण। देखिए **इष्ट** एवं **पूर्त** तथा मिताक्षरा द्वारा प्रयुक्त **योगक्षेम** के अर्थ के लिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय ३, २५ एवं २६। 'योग' एवं 'क्षेम' शब्द ऋग्वेद (७।८६।८, १०।८९।१०, १०।१६६।५), तैत्तिरीय संहिता (३।९।१९।३) एवं ऐतरेय ब्राह्मण (३७।२) में भी आये हैं। मिताक्षरा ने लिखा है कि कुछ लोगों के मत से 'योगक्षेम' का अर्थ है "राजमन्त्री एवं राजपुरोहित आदि" जो प्रजा का कल्याण-कार्य करते हैं तथा कुछ लोगों के मत से इसका अर्थ है "छत्र, चमर, शस्त्र, जूता आदि"।[२९] गौतम (९।६२ एवं ११।१६) से पता चलता है कि **योगक्षेम** का अर्थ है "आनन्दप्रद जीवन" या "जीविका के सरल एवं सुखद मार्ग (विशेषतः विद्वान् ब्राह्मण के लिए)" और यह अर्थ उनके पहले से प्रयुक्त होता रहा है। विवादरत्नाकर (पृ० ५०४) का कथन है कि प्रकाश के मत से **योगक्षेम** का अर्थ है "राजकुल में पिता से पुत्र तक चला आता हुआ जीविका-साधन" तथा हलायुध के मत से 'योग' का अर्थ है पोत या नौका तथा 'क्षेम' का अर्थ है दुर्ग। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २७७) ने लौगाक्षि को उद्धृत कर एक वैकल्पिक अर्थ यह दिया है—"योगक्षेम का तात्पर्य है वह धन जो किसी विद्वान् ब्राह्मण द्वारा किसी धनी व्यक्ति के यहाँ रहने से जीविका के रूप में प्राप्त किया जाता है।"[३०]

२८. वस्त्रं पत्रमलंकारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः। योगक्षेमप्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते॥ मनु (९।२१९); विष्णु ने "न विभाज्यं च पुस्तकम्" ऐसा पढ़ा है। इससे स्पष्ट है कि विष्णु से मनु पुराने हैं। 'पत्र', 'योगक्षेम' एवं 'प्रचार' के कई अर्थ किये गये हैं। नन्दन के अतिरिक्त मनु के अन्य टीकाकारों ने 'पत्र' का 'यान' (घोड़ा, गाड़ी आदि) के अर्थ में लिया है। नन्दन ने इसे 'पात्र' पढ़ा है। अपरार्क (पृ० ७२५), विवादरत्नाकर (५०४), मदनपारिजात (पृ० ६२५) ने 'पत्र' को ऋण के लेख्यप्रमाण के रूप में लिया है।

२९. योगक्षेमशब्देन योगक्षेमकारिणो राजमन्त्रिपुरोहितादय उच्यन्त इति केचित्। छत्रचामरशस्त्रोपानत्प्रभृतय इत्यन्ये। मिता० (याज्ञ० २।११९)।

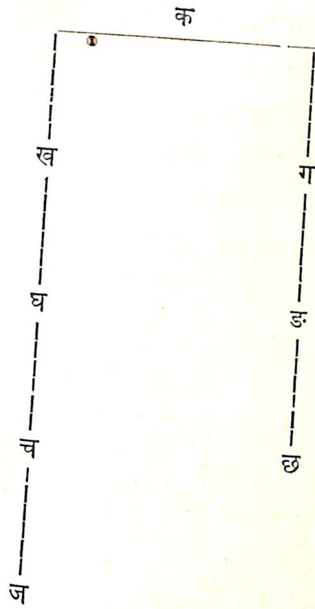
३०. योगक्षेमं पितृक्रमेण राजकुलादावुपजीव्यमिति प्रकाशः। हलायुधस्तु योगो योगहेतुर्नौकादिः क्षेमः क्षेमहेतुर्दुर्गादीत्याह। विवादरत्नाकर (५०४)। अथवा योगक्षेमार्थमुपासितेश्वरसकाशाद् यो रिक्थानां लाभः स एवात्र योगक्षेमशब्देनोच्यते। स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २७७; गौतम (९।६३) एवं विष्णु (६३।१) में आया है "योगक्षेमार्थमीश्वरमधिगच्छेत्।"

कौटिल्य (३।५) का कथन है कि जो आचार्य कहते हैं कि दरिद्र लोग अपने जलपात्रों को भी बाँट सकते हैं, वे विरोधी बातें करते हैं। कात्यायन (८८२-८८४) ने बहुत-सी वस्तुओं को अविभाज्य ठहराया है, यथा--"वह धन जो धार्मिक उपयोग के लिए अलग कर दिया गया है और उसका उल्लेख पत्र में लेख प्रमाण के रूप में कर दिया गया है, जल, स्त्रियाँ, निबन्ध (आवधिक लाभ) जो दाय के रूप में चलता आया है, वस्त्र (प्रति दिन काम में लाये जानेवाले), अलंकार तथा वस्तुएँ जो विभाजन के योग्य नहीं हैं एक साथ (संयुक्त रूप में) उचित समय पर उपयोग में लायी जानी चाहिए। चरागाह, मार्गों, प्रति दिन उपयोग के वस्त्र, उधार दिये गये धन, धार्मिक कार्य के लिए निर्दिष्ट धन आदि का बँटवारा नहीं होना चाहिए। ये बृहस्पति के वचन हैं।"

बृहस्पति ने अविभाज्य वस्तुओं के विषय में बहुत-कुछ कहा है। उन्होंने मनु (९।२१९) की आलोचना की है और कहा है कि वस्त्र, अलंकार आदि भी विभाज्य हैं। वे कहते हैं; "जो लोग वस्त्रादि को अविभाज्य मानते हैं, उन्होंने ठीक-से विचार नहीं किया है। धनिकों के लिए उनके वस्त्र एवं आभूषण ही धन का रूप पा सकते हैं। यदि ये वस्तुएँ संयुक्त रखी जायँ (विभाजित न हों) तो उनसे जीविका नहीं चल सकती, उन्हें किसी एक ही सदस्य को नहीं दिया जा सकता! उनका दक्षता के साथ विभाजन होना चाहिए, नहीं तो वे निरर्थक सिद्ध होंगी। वस्त्रों एवं अलंकारों का विभाजन बेचकर (विक्री के धन से) किया जा सकता है, लिखित ऋण को प्राप्त कर बाँट देना चाहिए। पके भोजन को अनपके भोजन से परिवर्तित कर बाँटा जा सकता है। सीढ़ियों वाले कूपों अर्थात् बावलियों एवं अन्य कूपों को आवश्यकतानुसार उपयोग में लाना चाहिए। इसी प्रकार क्षेत्र (खेत) एवं सेतु (बाँध) को भाग के अनुसार बाँट देना चाहिए। भाग के अनुसार ही एक ही नौकरानी से कार्य लेना चाहिए ; यदि कई हों तो उनका बराबर-बराबर बँटवारा होना चाहिए। यही नियम पुरुष नौकरों के लिए भी है। योगक्षेम वाले दान से प्राप्त धन सम भाग में बाँट देना चाहिए। चरागाह या आने-जाने के मार्गों का उपयोग भाग के अनुसार ही होना चाहिए। देखिए अपरार्क (पृ० ७२६), स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २७७) एवं विवादरत्नाकर (पृ० ५०५-५०६)।[३१]

अब आगे के विचारणीय विषय हैं; किन लोगों में विभाजन होना चाहिए? विभाजन की विधि क्या है? किन्तु और कुछ कहने के पूर्व हिन्दू व्यवहार (क़ानून) में प्रयुक्त होनेवाले कुछ शब्दों के विषय में कुछ जान लेना आवश्यक है। स्मृतियों एवं टीकाओं में **कुटुम्ब** (नारद, दत्ताप्रदानिक ६, या याज्ञ० २।१७५) या **अविभक्त-कुटुम्ब** (याज्ञ० २।४५) शब्द आये हैं। एक संयुक्त हिन्दू परिवार में वे सभी पुरुष आते हैं जो किसी एक पुरुष पूर्वज के उत्तराधिकारी होते हैं, उनके साथ उनकी पत्नियाँ एवं कुमारी कन्याएँ भी सम्मिलित रहती हैं। विवाहोपरान्त कन्या पिता के परिवार की न होकर अपने पति के परिवार की सदस्य हो जाती है। मिताक्षरा के अन्तर्गत समांशी परिवार संयुक्त परिवार से अपेक्षाकृत संकीर्ण अर्थ रखता है। इसमें केवल वे ही पुरुष सदस्य सम्मिलित होते हैं जो जन्म से ही संयुक्त अथवा समांशी का अधिकार रखते हैं, यथा--स्वयं व्यक्ति, उसके पुत्र, उसके पुत्रों के पुत्र, पुत्रों के पौत्र। देखिए निम्न चित्र--

३१. बृहस्पति ने सामान्यतः मनु को बहुत ऊँची दृष्टि से देखा है, यथा--वेदार्थोपनिबन्द्धृत्वात् प्राधान्यं तु मनुस्मृतौ। मन्वर्थविपरीता या स्मृतिः सा न प्रशस्यते ॥ देखिए अपरार्क (पृ० ६२८) एवं कुल्लूक (मनु १।१)। किन्तु यहाँ पर उन्होंने मनु (९।२१९) की कटु आलोचना की है।



इस चित्र में **क ख ग** .....आदि पुरुष हैं। **क** तथा उसके पुत्र **ख** एवं **ग** समांशी हो सकते हैं। इसी प्रकार यदि **ख** एवं **ग** प्रत्येक को एक पुत्र हो, तो **क ख ग, घ, ङ** सहभागी होंगे। यदि **घ** एवं **ङ** में प्रत्येक को क्रम से **च** एवं **छ** पुत्र हों तो **क** से लेकर **छ** तक सभी सहभागी होंगे। किन्तु यहाँ पर सीमा रुक जाती है। यदि **क** के जीते-जी **ज** की उत्पत्ति हो जाय तो वह **क** के पुत्र का प्रपौत्र होने के कारण जन्म से सहभागी न होगा और क के जीवनकाल तक वैसा ही रहेगा। किन्तु यदि वह क की मृत्यु के उपरान्त उत्पन्न हो जाय तो वह **ख घ च** के साथ सहभागी हो जायगा। मान लीजिए, **क** के पूर्व ही ख की मृत्यु हो जाय, तो वैसी स्थिति में **क** के जीवित रहने तक **ज** सहभागी नहीं होगा, क्योंकि **ज** के **क** के पुत्र के प्रपौत्र होने के नाते **च** का **क** की पैतृक सम्पत्ति में जन्म से ही अधिकार न होगा। मान लीजिए **क** के जीवन काल में ही **ख**, **ग**, **घ**, **ङ**, **च** एवं **छ** सबकी मृत्यु हो जाय तो केवल **क** ही सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी होगा, उसके साथ **ज** का कोई भाग न होगा, क्योंकि वह पांचवी पीढ़ी (**क** से गिनने के कारण) में होगा। मान लीजिए **क** जो एक मात्र अधिकारी है, मर जाता है, तो **ज क** की सारी सम्पत्ति उत्तराधिकारी के रूप में पा जायगा।

सहभागिता केवल **व्यवहार** (क़ानून) की सृष्टि है, दलों के कार्य द्वारा इसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। हाँ, गोद लेने से ऐसा हो सकता है। विभाजन में भाग लेने की योग्यता जन्म से अधिकार रखने वाले पुरुष स्वामी से चौथी पीढ़ी तक पायी जाती है।

मिताक्षरा द्वारा उपस्थापित सहभागिता के कुछ विशिष्ट लक्षण, संक्षेप में, निम्न हैं। पहली बात यह है कि इसमें **स्वामित्व की एकता** पायी जाती है, अर्थात् सभी सहभागी एक साथ स्वामी होते हैं, कोई सदस्य परिवार के अविभाजित रहते यह नहीं कह सकता कि उसका कोई निश्चित भाग (हिस्सा) है, क्योंकि उसका सम्पत्ति-भाग मृत्युओं से बढ़ सकता है जन्मों से घट सकता है। दूसरी विशेषता है **भोग एवं प्राप्ति की एकता**, अर्थात् सभी को कुल-सम्पत्ति के भोग एवं स्वामित्व का अधिकार है, और एक में निहित भोग (भुक्ति या अधिकार) साधारणतः सबकी ओर से माना जाता है। तीसरी बात यह है कि जब तक परिवार संयुक्त है और कुछ हिस्सेदारों के बहुत बाल-बच्चे हैं, कुछ के कोई नहीं हैं या कुछ लोग अनुपस्थित हैं, तो विभाजन के समय कोई यह नहीं कह सकता कि कुछ लोगों ने सम्पत्ति खाली कर दी और न यही पूछा जा सकता कि आय-व्यय का ब्यौरा क्या रहा है। कात्यायन (८८८) ने यह बात स्पष्ट रूप से कही है। चौथी विशेषता यह है कि किसी सहभागी की मृत्यु पर उसका भाग समाप्त हो जाता है और अन्यों को प्राप्त हो जाता है, किन्तु यदि मृत व्यक्ति के पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र हों तो उन्हें विभाजन के समय भाग मिलते हैं। स्त्री को सहभागिता नहीं प्राप्त होती, चाहे वह पत्नी हो या माता। पाँचवी विशेषता यह है कि प्रत्येक सहभागी विभाजन की माँग कर सकता है। कुल के कार्यों की व्यवस्था पिता करता है। यदि वह बढ़ा हो या मर जाय तो ज्येष्ठ पुत्र या कोई अन्य सदस्य ज्येष्ठ सदस्य की सहमति से कार्य-भार सँभाल सकता है (नारद, दायभाग ५, एवं शंख)। आजकल ऐसे व्यवस्थापक को कहीं-कहीं कर्ता कहा जाता है, किन्तु स्मृतियों एवं निबन्धों में इसे **कुटुम्बी** (याज्ञ० २।४५), **गृही**, **गृहपति**, **प्रभु** (कात्या० ५४३) की संज्ञाएँ मिली हैं। इसे आपत्तिकाल (ऋण आदि लेने) में परिवार के कल्याण (जीविका, शिक्षा, विवाहादि) के लिए तथा विशेषतः श्राद्ध आदि धार्मिक कृत्यों में बन्धक रखने, बेचने, दान देने आदि का अधिकार प्राप्त रहता है। पिता को व्यवस्थापक का अधिकार एवं कुछ अन्य विशिष्ट अधिकार प्राप्त होते हैं जो किसी सहभागी को प्राप्त नहीं होते। पिता यदि चाहे तो पुत्रों को अपने से या उनकी इच्छा

के न रहते हुए भी अलग कर सकता है (याज्ञ० २।११४); किन्तु कोई अन्य सहभागी ऐसा नहीं कर सकता है, वह यदि चाहे तो अपने को परिवार से अलग कर सकता है। पिता सीमा के भीतर पैतृक चल सम्पत्ति से कर्तव्य के अपरिहार्य काम या स्मृतियों द्वारा निर्धारित दान (पत्नी, पुत्री या पुत्र को स्नेह-वश) तथा परिवार-पालन के लिए (आपत्ति-काल में) व्यय आदि बिना पुत्रों से पूछे भी कर सकता है। किन्तु सीमा के भीतर वह अचल सम्पत्ति से भी पुनीत कार्य (परिवार की मूर्ति या मन्दिर-मूर्ति या अन्त्येष्टिक्रिया के समय मूर्ति-स्थापना आदि के लिए) कर सकता है। पिता अपने लिए लिखा गया ऋण देने के लिए (यदि ऋण अवैधानिक एवं अनैतिक कार्यों के लिए न लिया गया हो तो) संयुक्त परिवार की सम्पत्ति बेच सकता है या बन्धक रख सकता है। मिताक्षरा के मत से कोई सहभागी बिना अन्य सहभागियों की सहमति के अविभाजित भाग को दान, बिक्री या बन्धक के रूप में दे नहीं सकता। यह एक अन्य विशेषता है जो मिताक्षरा के मत से संयुक्त हिन्दू परिवार में पायी जाती है। यह बात बृहस्पति ने भी कही है। किन्तु आधुनिक काल में बम्बई, मद्रास, मध्य प्रदेश की अदालतों ने इस नियम में ढिलाई दे दी है, अर्थात् सहभागी अपना अविभाजित भाग बन्धक रूप में दे सकता है, बेच सकता है और ऋणदाता अपना ऋण लेने के लिए उसके संयुक्त परिवार से नियमानुकूल माँग कर सकता है। यह एक गम्भीर परिवर्तन है। संयुक्त परिवार के सदस्यों का एक अधिकार यह भी है कि वे अपनी जीविका के लिए संयुक्त सम्पत्ति पर अपना अधिकार रखते हैं।

दायभाग के अन्तर्गत उपर्युक्त विषयों में मिताक्षरा से सर्वथा भिन्न मत पाया जाता है। इसके अनुसार पुत्रों को पैतृक सम्पत्ति पर जन्म से अधिकार नहीं प्राप्त होता, वे पिता की मृत्यु के उपरान्त ही सर्वप्रथम दाय के अधिकारी होते हैं। स्पष्ट है, इसमें मिताक्षरा के अर्थ में, पिता एवं पुत्रों के बीच किसी प्रकार की सहभागिता नहीं पायी जाती। पिता को पैतृक सम्पत्ति बेच देने, बन्धक रखने, दान में देने या इच्छानुसार किसी भी प्रकार उसे व्यय कर देने का सम्पूर्ण अधिकार है। उसके जीवन-काल तक पुत्रों को विभाजन के लिए माँग करने का कोई अधिकार नहीं है। पिता के मर जाने पर उसके पुत्रों या पौत्रों में सहभागिता के अधिकार का उदय होता है, अर्थात् तभी भाइयों, चाचाओं एवं भतीजों या चचेरे भाइयों में सहभागिता जागती है। यदि कोई सहभागी पुत्रहीन ही मर जाता है तो अन्य सहभागियों को उसका अधिकार नहीं मिलता, प्रत्युत मृत व्यक्ति की विधवा या पुत्री उसका भाग प्राप्त कर सकती है। अतः दायभाग के अन्तर्गत स्त्रियों को भी सहभागिता की सदस्यता प्राप्त हो जाती है। दायभाग के मत से प्रत्येक हिस्सेदार को निश्चित भाग की उपलब्धि होती है (अनिश्चित भाग नहीं, जैसा कि मिताक्षरा में पाया जाता है)। दायभाग के अनुसार कोई भी सहभागी अपना भाग बेच सकता है, उसको बन्धक रख सकता है या उसका दान कर सकता है या स्वेच्छा से किसी को दे सकता है (दायभाग २।२८।३१)।

विभाजन होने पर प्रत्येक सहभागी को एक भाग मिलता है। बम्बई प्रान्त में यदि पिता अपने पिता, भाइयों या अन्य सहभागियों से संयुक्त हो और पुत्र के अधिकार की स्वीकृति नहीं दे तो उसके पुत्र को विभाजन का अधिकार नहीं मिलता। यदि लड़का अभी गर्भ में हो और विभाजन हो रहा हो तो उसे स्मृतियों ने अधिकार दे रखा है। यदि **क** तथा उसके पुत्र **ख** एवं **ग** (जो संयुक्त परिवार के सदस्य हैं) विभाजन करें और परिवार की सम्पत्ति का एक तिहाई प्रत्येक को मिले और छः मास के उपरान्त यदि **क** की पत्नी को **घ** पुत्र उत्पन्न हो जाय तो विभाजन-कार्य फिर से होगा और उसे कुल-सम्पत्ति का १/४ भाग (यदि माता को भाग मिला हो तो केवल १/५ भाग) मिलेगा, किन्तु इस अवधि में हुए सारे आय-व्यय का ब्यौरा ले लेने के उपरान्त ही बँटवारा होगा। यही नियम उन भाइयों के बीच में लागू होगा जब किसी मृत भाई की विधवा को, जो विभाजन के समय गर्भवती रही हो, पुत्र उत्पन्न हो जाय। देखिए याज्ञ० (२।१२२) एवं विष्णु (१७।३)। इसी से वसिष्ठ (१७।४०।४१) ने व्यवस्था दी है कि यदि मृत भाइयों की पत्नियाँ गर्भवती हों तो पुत्रोत्पत्ति होने तक विभाजन-कार्य स्थगित रखना चाहिए। यदि विभाजन के उपरान्त पुत्र उत्पन्न हो या

गर्भ में आ जाय तो गौतम (२८।२७), मनु (९।२१६), याज्ञ० (२।१२२), नारद (दायभाग ४४) बृहस्पति का कथन है कि उसे पिता को दिया गया भाग तथा विभाजन के उपरान्त पिता की स्वार्जित सम्पत्ति मिल जाती है।[३२]

वह दत्तक पुत्र, जो संयुक्त परिवार के किसी सहभागी द्वारा गोद लिया जाय या किसी एक मात्र भागी द्वारा गोद लिया जाय, मिताक्षरा व्यवहार के अनुसार सहभागिता का सदस्य हो जाता है तथा औरस पुत्र के समान ही विभाजन की माँग का अधिकारी होता है। दायभाग के अन्तर्गत पिता के रहते औरस पुत्र को विभाजन का अधिकार नहीं प्राप्त रहता, दत्तक पुत्र की तो बात ही अलग है। यदि गोद लेने के उपरान्त औरस पुत्र की उत्पत्ति हो जाय तो दत्तक पुत्र का भाग, अधिकांश टीकाकारों के मत से, कम हो जाता है। इस विषय में हम आगे के अध्याय में लिखेंगे।

पिता से हीन जाति की पत्नियों से उत्पन्न पुत्र एवं पुत्रों के अधिकारों के विषय में स्मृतियों एवं मध्यकाल के निबन्धों में विस्तार के साथ विवेचन प्राप्त होता है, देखिए गौतम (२८।३३-३७), बौधायन (२।२।१०), कौटिल्य (३।६), वसिष्ठ (१७।१८-५०), मनु (९।१४९-१५५), याज्ञ० (२।१२५), विष्णु० (१८।१-३३), नारद (दायभाग १४), बृहस्पति, शंख (व्यवहाररत्नाकर पृ० ५३१)। यहाँ पर विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि कतिपय शताब्दियों से हीन जातियों के साथ विवाह की परम्पराएँ नहीं-सी पायी जाती रही हैं। दो-एक बातें यहाँ दी जा रही हैं। मनु (९।१५३), याज्ञ० (२।१२५) एवं बृहस्पति के अनुसार यदि किसी ब्राह्मण को चारों जातियों से पुत्र हों तो सारी सम्पत्ति दस भागों में बँट जाती है और निम्न रूप से बँटवारा होता है; ब्राह्मणी से उत्पन्न पुत्रों को चार भाग, क्षत्रिय पत्नी के पुत्रों को तीन भाग, वैश्य पत्नी के पुत्रों को दो भाग तथा शूद्रा पत्नी के पुत्रों को एक भाग। और देखिए मनु (९।१५४) एवं अनुशासनपर्व (४७।२१)। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१२५) का कथन है कि क्षत्रिय पत्नी के पुत्रों को दान से प्राप्त भूमि का भाग नहीं मिलता, किन्तु क्रय की हुई भूमि का भाग मिलता है। और देखिए व्यवहाररत्नाकर (पृ० ५३४) एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० ४६६)। कौटिल्य (३।६) एवं बृहस्पति के अनुसार **पारशव** पुत्र को पिता की सम्पत्ति का १/२ भाग तथा निकटतम सपिण्ड को २/३ भाग मिलता है। और देखिए मेधातिथि (मनु ९।१५५)। मनु (९।१७८ एवं १६०) के मत से शूद्रा पत्नी से उत्पन्न ब्राह्मण के पुत्र को शौद्र या **पारशव** कहा जाता है, किन्तु याज्ञ० (९।९१) ने इसे **निषाद** एवं **पारशव** दोनों कहा है। किन्तु मनु (९।१८०) एवं अन्य लोगों ने ऐसे पुत्र को गौण-पुत्रों में परिगणित किया है। अपरार्क के उपरान्त के सभी लेखकों ने शौनक के वचन उद्धृत कर कहा है कि बहुत-सी बातें **कलिवर्ज्य** हैं और इन्हीं कलिबर्ज्य बातों में, औरस एवं दत्तक पुत्रों के अतिरिक्त, अन्य प्रकार के पुत्र भी हैं।[३३]

३२. पितृविभक्ता विभागान्तरोत्पन्नस्य भागं दद्युः। विष्णुधर्मसूत्र (१७।३); दृश्याद्वा तद्विभागः स्यादायव्ययविशोधितात्। याज्ञ० (२।१२२), जिस पर मिताक्षरा का यह कथन है--"एतच्च विभागसमयेऽप्रजस्य भ्रातुर्भार्यायामस्पष्टगर्भायां विभागादूर्ध्वमुत्पन्नस्यापि वेदितव्यम्। स्पष्टगर्भायां तु प्रसवं प्रतीक्ष्य विभागः कर्तव्यः। यथाह वसिष्ठः--अथ भ्रातृणां दायविभागः। याश्चानपत्याः स्त्रियस्तासामा पुत्रलाभात्। इति"; विभक्तजः पित्र्यमेव। गौ० (२८।२७); पुत्रैः सह विभक्तेन पित्रा यत्स्वयमर्जितम्। विभक्तजस्य तत्सर्वमनीशाः पूर्वजाः स्मृताः॥ बृह० (मिताक्षरा, याज्ञ० २।१२२; हरदत्त, गौतम० २८।२७; स्मृतिच० २, पृ० ३-७; दायभाग ७, पृ० १३१; व्यव० मयूख पृ० १०४)।

३३. अतएव कलौ निवर्तन्ते इत्यनुवृत्त्या शौनकेनोक्तम् 'दत्तौरसेतरेषां तु पुत्रत्वेन परिग्रहः' इति। अपरार्क (पृ० ७३९)। और देखिए पराशरमाधवीय (१।२, पृ० ८७); व्यवहारमयूख (पृ० १०७), 'अत्र दत्तकभिन्ना गौणाः पुत्राः कलौ वर्ज्याः। दत्तौरसेतरेषां तु पुत्रत्वेन परिग्रह इति तन्निषेधेषु पाठात्।'

कुछ परिस्थितियों में अनौरस पुत्र को अपने ज्ञात पिता की सम्पत्ति के विभाजन में अधिकार प्राप्त है। अनौरस पुत्र किसी रखैल (जो दासी है और लगातार साथ रहती आयी है) का पुत्र हो सकता है या वह ऐसी नारी की पुत्र हो सकता है जो दासी न हो। पहले को दासीपुत्र की संज्ञा मिली है और दूसरे का धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में वर्णन नहीं-सा मिलता।[३४] अति प्राचीन काल से यह व्यवस्था रही है कि द्विजों के दासीपुत्र को विभाजन या उत्तराधिकार का हक नहीं मिलना चाहिए, उसे केवल जीविका के साधन मात्र उपलब्ध होते हैं। गौतम (२८।३७) का कहना है कि शिष्य के समान आज्ञाकारी रहने पर शूद्रा रखैल के पुत्र को केवल जीवन-यापन के लिए अधिकार मिलता है, भले ही उसका ब्राह्मण पिता पुत्रहीन हो। यही बात पिता की मृत्यु के उपरान्त शूद्रापुत्र के लिए बृहस्पति ने भी कही है।[३५] मनु (९।१९९) ने दासी से उत्पन्न शूद्रपुत्र को पिता की सम्पत्ति का भाग दिया है (यदि पिता चाहे तो ऐसा हो सकता है)। देखिए याज्ञ० (२।१३३-१३४), व्यवहारमयूख (पृ० १०३-१०४)। कुछ बातें निम्न हैं--(१) मिताक्षरा के अनुसार शूद्र का अनौरस पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति में जन्म से कोई अधिकार नहीं पाता, अतः पिता के रहते विभाजन की माँग नहीं कर सकता, भले ही उसका भाग औरस पुत्र के भाग के बराबर हो; (२) पिता के मर जाने पर मृत शूद्र का अनौरस पुत्र अन्य औरस पुत्रों के साथ सहभागी हो जाता है और उसे विभाजन का अधिकार प्राप्त रहता है; (३) विभाजन पर अनौरस पुत्र को उस भाग का केवल आधा मिलता है जितना उसे यदि वह औरस होता तो मिलता, अर्थात् यदि एक औरस पुत्र हो और दूसरा अनौरस तो अनौरस को एक चौथाई तथा औरस को तीन चौथाई मिलेगा; (४) यदि विभाजन के पूर्व औरस पुत्र मर जाय (या सभी औरस पुत्र मर जायँ तो अनौरस पुत्र को सम्पूर्ण दाय मिल जाता है; (५) यदि शूद्र पिता को कोई पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र न हों तो अनौरस को सम्पूर्ण प्राप्त हो जाता है; (६) याज्ञवल्क्य ने केवल पुत्र की बात की है, अतः अनौरस पुत्री को न तो उत्तराधिकार मिलता है और न जीविका; (७) यदि शूद्र पिता अपने भाइयों, चाचाओं या भतीजों के साथ संयुक्त हो तो अनौरस पुत्र को संयुक्त सम्पत्ति के विभाजन की माँग करने का कोई अधिकार नहीं है, यद्यपि उसे परिवार के सदस्य के रूप में जीविका के साधनों का अधिकार प्राप्त रहता है, किन्तु यह नियम तभी लागू होता है जब कि पिता की अपनी पृथक् सम्पत्ति न हो। ऐसा माना गया है कि यदि किसी ब्राह्मणी को कोई शूद्र अपनी रखैल के रूप में रखे तो उसका पुत्र दासीपुत्र नहीं कहा जायगा (वह प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार चाण्डाल कहा जाता है) और उसे अपने शूद्र पिता की सम्पत्ति उत्तराधिकार के रूप में नहीं मिलेगी।

अनुपस्थित सहभागी की वही स्थिति होती है जो एक अल्पवयस्क (नाबालिग) पुत्र की रहती है। आजकल उसके अधिकार भारतीय संयुक्तता विधान (१९०८) के अन्तर्गत पाये जाते हैं।

पत्नी को विभाजन की माँग का कोई अधिकार नहीं है। किन्तु याज्ञ० (२।११५) के मत से यदि पिता के रहते पुत्र विभाजन की माँग करें तो पत्नी को पुत्र के समान ही एक भाग मिलता है। यदि कई पत्नियाँ हों तो प्रत्येक को एक पुत्र के बराबर का भाग मिलता है। ऐसी व्यवस्था है कि पत्नी या पत्नियाँ पति या श्वशुर द्वारा प्रदत्त स्त्री-

३४. दासीपुत्र की चर्चा कवष ऐलूष की गाथा के सिलसिले में मिलती है। देखिए ऐतरेय ब्राह्मण (८।१), शांखायन ब्राह्मण (१२।३), एवं ताण्ड्य ब्राह्मण (१४।६।६) जहाँ शूद्रापुत्र की चर्चा है।

३५. शूद्रापुत्रोऽप्यनपत्यस्य शुश्रूषुश्चेल्लभेत वृत्तिमूलमन्तेवासिविधिना। गौतम (२८।३७); अनपत्यस्य शुश्रूषुर्गुणवाञ् शूद्रयोनिजः। लभेत जीवनं शेषं सपिण्डाः समवाप्नुयुः॥ बृहस्पति (दायभाग ९।२८, पृ० १४१; व्यवहारनिर्णय पृ० ४३०)।

धन की सम्पत्ति पर भोग का अधिकार नहीं रखतीं, किन्तु यदि स्त्रीधन हो तो उन्हें उतना ही और अधिक प्राप्त होगा जितना मिलकर एक पुत्र के भाग के बराबर हो जाय (याज्ञ० २।१४८)। मिताक्षरा (याज्ञ० २।५१) ने कहा है कि पति की इच्छा से पत्नी कुल-सम्पत्ति का भाग पा सकती है किन्तु अपनी इच्छा से नहीं। बात यह है कि, वास्तव में पति-पत्नी में विभाजन नहीं होता ('जायापत्योर्न विभागो विद्यते,' मदनरत्न, व्यवहारप्रकाश पृ० ४४१-४४२, ५१० एवं विश्वरूप--याज्ञ० २।११९)। पति पत्नी को स्नेहवश एक भाग दे सकता है। मानो, विश्वरूप (याज्ञ० २।११९) ने आधुनिक विधान की परिकल्पना पहले से कर ली थी, क्योंकि उन्होंने लिखा है कि पहले से मृत पुत्रों एवं पौत्रों की पत्नियों को वे भाग मिलने चाहिए जो उनके पतियों को दाय रूप में प्राप्त होते, क्योंकि उनके पतियों को जीवित रहने पर पिता के साथ किये गये विभाजन में अधिकार तो प्राप्त होता ही। देखिए आज का कानून (१९३७ का कानून जो १९३८ में संशोधित किया गया; हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति-अधिकार)। इससे मिताक्षरा की 'केवल पुरुषों को ही संयुक्त परिवार का भाग मिलना चाहिए", वाली प्राचीन व्यवस्था समाप्त हो गयी।

माता (या विमाता) भी पिता के मृत हो जाने के उपरान्त पुत्रों के दाय-विभाजन के समय एक बराबर भाग की अधिकारिणी होती है, किन्तु जब तक पुत्र संयुक्त रहते हैं, वह विभाजन की माँग नहीं कर सकती। किन्तु पत्नी के समान ही यदि उसके पास स्त्रीधन होगा तो उसका दाय-भाग भी उसी के अनुपात में कम हो जायगा। देखिए याज्ञ० (२।१२३), विष्णु० (१८।३४) एवं नारद (दायभाग, १२)। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३५) ने अपने पूर्व के लेखकों के इस मत का खण्डन किया है कि माता को केवल जीविका के साधन मात्र प्राप्त होते हैं। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २६८) के इस कथन की, कि माता को दायभाग नहीं मिलता, मदनरत्न ने आलोचना की है। बौधायन ने लिखा है कि "स्त्रियाँ शक्तिहीन होती हैं और उन्हें भाग नहीं मिलता" (तैत्तिरीय संहिता, ६।५।८।२)। इस कथन के आधार पर व्यवहारसार (पृ० २२५) एवं विवादचन्द्र (पृ० ६७) ने मत प्रकाशित किया है कि किसी स्त्री (चाहे पत्नी हो या माता हो) को पैतृक सम्पत्ति में अधिकार नहीं प्राप्त होता। मनु (९।१८) में भी तैत्तिरीय संहिता एवं बौधायन के कथन की झलक मिलती है।[३६] पत्नी या माता के अधिकारों के विकास में एक मध्यम स्तर भी था। व्यास (स्मृतिचं० २,२८१; व्यवहारनिर्णय पृ० ४५०; विश्वरूपर--याज्ञ० २।११९) के मत से पत्नी को अधिकतम दो सहस्र पण मिल सकते हैं, किन्तु इसे कई प्रकार से पढ़ा एवं समझाया गया है। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २८१) का कहना है कि यह उस सम्पत्ति का द्योतक है जिससे प्रति वर्ष २००० पणों की आय प्राप्त हो।

आधुनिक काल में बम्बई एवं कलकत्ता के उच्च न्यायालयों ने पैतृक सम्पत्ति के बँटवारे के समय पत्नियों एवं माताओं के भागों को भी मान्यता दी है, किन्तु दक्षिण भारत में उनको भाग नहीं मिलता, मद्रास न्यायालय ने केवल जीविका की व्यवस्था दी है। दायभाग से भी यही बात झलकती है, इसके अनुसार विमाता को विमाता-पुत्रों के विभाजन के समय जीविका मात्र प्राप्त होती है।

३६. स्त्रीणां सर्वासामनंशत्वमेव। यत्राप्यंशश्रवणं पितुरूर्ध्वं विभजतां माताप्यंशं समं हरेदित्यादौ तत्रापि किञ्चिद्दानं विवक्षितम्। अर्हति स्त्रीत्यनुवृत्तौ न दायम् 'निरिन्द्रिया अदाया हि स्त्रियो मताः' इति बौधायनवचनात्। निरिन्द्रिया निःसत्त्वा इति प्रकाशः। अदाया अनंशा इत्यर्थः। विवादचन्द्र (पृ० ६७)। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २६७) भी बौधायन पर निर्भर है। बौधायन (२।२।५३) में "पिता रक्षति....न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति" के उपरान्त "निरिन्द्रिया ह्यदायाश्च स्त्रियो मता इति श्रुतिः" आया है। तैत्तिरीय संहिता (६।५।८।२) में आया है--"तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीरपि पापात्पुंस उपस्तितरं वदन्ति।" मनु (९।१८) में आया है--"निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः॥" जिसकी व्याख्या मेधातिथि ने यों की है--"इन्द्रियं वीर्यं धैर्यप्रज्ञाबलादि।"

यदि किसी की कई पत्नियाँ एवं एक ही पत्नी से कई पुत्र हों तो कई प्राचीन ग्रन्थों के मत से पुत्र पत्नियों एवं माताओं के अनुसार विभाजन करते हैं (**पत्नीभाग या मातृभाग**), किन्तु सामान्यतः विभाजन पुत्रों की संख्या के अनुसार ही होता रहा है (**पुत्रभाग**), चाहे वे किसी भी माता के पुत्र हों। उदाहरणार्थ, गौतम (२८।१५) का कहना है कि विभाजन माताओं के पुत्रों को दलों में बाँटकर करना चाहिए और प्रत्येक दल के ज्येष्ठ पुत्रों को विशिष्ट अंश मिलना चाहिए। बृहस्पति एवं व्यास के मतों से विभिन्न माताओं से उत्पन्न पुत्रों (जो जाति एवं संख्या में समान हों) को माताओं के अनुसार ही विभाजन-भाग मिलने चाहिए। आजकल भी कहीं-कहीं माताओं के अनुसार कुछ जातियों में परम्पराओं के आधार पर विभाजन होता है।[३७]

पितामही या विमाता-पितामही अपने से विभाजन की माँग नहीं कर सकती, किन्तु उसके पौत्रों में विभाजन होते समय या उसके पुत्र के मर जाने या उसके पुत्रों एवं उसके मृत पुत्र के पुत्रों में जब विभाजन होने लगे तो उसे एक भाग मिलता है। व्यास का कथन है—"पिता की पुत्रहीन पत्नियों को पुत्र के बराबर भाग मिलता है, और सभी पितामहियाँ माता के तुल्य होती हैं।" प्रयाग एवं बम्बई के न्यायालयों द्वारा यह निर्णीत है कि पुत्र एवं पुत्र के पुत्रों में विभाजन होने पर पितामही को कोई भाग नहीं मिलता, किन्तु कलकत्ता एवं पटना के न्यायालयों ने उसे एक भाग का अधिकार दिया है।

कतिपय शारीरिक, मानसिक एवं अन्य आचरण-सम्बन्धी दुर्गुणों के कारण प्राचीन भारत में कुछ लोग दायभाग से वञ्चित थे। गौतम (२८।४१), आपस्तम्ब (२।६।१४।१), वसिष्ठ (१७।५२।-५३), विष्णु (१५।३२-३९), बौधायन (२।२।४३-४६) एवं कौटिल्य (३।५) के अनुसार पागल, जड़, क्लीब, पतित (पापाचारी), अन्धे, असाध्य रोगी, संन्यासी विभाजन एवं रिक्थाधिकार से वञ्चित माने जाते हैं।[३८] ऐसा इसलिए किया गया है कि ये लोग धार्मिक कार्य नहीं कर सकते और सम्पत्ति तथा उसके साथ धार्मिक उपयोग का सम्बन्ध अटूट माना जाता रहा है। और देखिए जैमिनि।[३९] बृहद्देवता में वर्णित देवापि एवं शन्तनु नामक भाइयों की गाथा से प्रकट है कि देवापि को चर्मरोग था, अतः उसके भाई शन्तनु को राज्य मिला।[४०] हम लोग महाभारत से जानते हैं कि धृतराष्ट्र जन्मान्ध होने के कारण राज्य नहीं पा सके और उनके छोटे भाई पाण्डु को राज्य मिला।[४१] मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३५) ने अपने

३७. समानजातिसंख्या ये जातास्त्वेकेन सूनवः। विभिन्नमातृकास्तेषां मातृभागः प्रशस्यते। व्यास; यद्येकजाता बहवः समाना जातिसंख्यया। सापत्न्यास्तैर्विभक्तव्यं मातृभागेन धर्मतः॥ बृहस्पति (दायभाग ३।१२; पराशरमाधवीय ३, पृ० ५०३; व्यवहारमयूख पृ० १०२; विवादरत्नाकर पृ० ४७५)।

३८. जडक्लीबौ भर्तव्यौ। गौ० (२८।४१); एकधनेन ज्येष्ठं तोषयित्वा जीवन् पुत्रेभ्यो दायं विभजेत् समं क्लीबमुन्मत्तं पतितं च परिहाप्य। आप० (२।६।१४।१); अतीतव्यवहारान्ग्रासाच्छादनैर्बिभृयुः। अन्धजडक्लीबव्यसनिव्याधितांश्च। अकर्मिणः। पतिततज्जातवर्जम्। बौधा० (२।२।४३-४६); अनंशास्त्वाश्रमान्तरगताः। क्लीबोन्मत्तपतिताश्च। वसिष्ठ (१७।५२-५३); पतितक्लीबाचिकित्स्यरोगविकलास्त्वभागहारिणः। विष्णु० (१५-३२); पतितः पतिताज्जातः क्लीबाश्चानंशाः। जडोन्मत्तान्धकुष्ठिनश्च। अर्थशास्त्र (३।५)।

३९. अंगहीनश्च तद्धर्मा। उत्पत्तौ नित्यसंयोगात्। जैमिनि (६।१।४१-४२)।

४०. त्वग्दोषी राजपुत्रश्च ऋष्टिषेणसुतोऽभवत्। बृहद्देवता (७।१५६); न राज्यमहमर्हामि त्वग्दोषोपहतेन्द्रियः। बृहद्देवता (८।५)।

४१. अन्धः करणहीनत्वान्न वै राजा पिता तव। उद्योगपर्व (१४७।३९); धृतराष्ट्र के जन्मान्ध होने के लिए देखिए आदिपर्व (१०६)।

पूर्व के आचार्यों के इस कथन का खण्डन किया है कि सारी सम्पत्ति यज्ञों के लिए ही है। वे पूर्व आचार्य दो स्मृति-वचनों पर निर्भर थे ; 'सभी द्रव्य (सभी प्रकार की या चल सम्पत्ति) यज्ञ के लिए उत्पन्न की गयी हैं; अतः वे लोग जो यज्ञ के योग्य नहीं हैं, पैतृक सम्पत्ति के अधिकारी नहीं हैं, उन्हें केवल वस्त्र-भोजन मिलेगा।' 'वित्त की उत्पत्ति यज्ञ के लिए है अतः उसे धर्म के उपयोग में लगाना चाहिए, न कि स्त्रियों, मूर्खों एवं अधार्मिक लोगों में उसका दुरुपयोग होना चाहिए।'[४२] ये बातें कात्यायन (८५२) एवं बृहस्पति में भी पायी जाती हैं। मिताक्षरा ने इस कथन को ग्रहण नहीं किया है। इसका कहना है कि ऐसा मानने पर यज्ञ के अतिरिक्त अन्य दान-कार्य, जिनकी शास्त्रों ने व्यवस्था दी है, सम्भव नहीं हैं और न ऐसा मानने पर अर्थ एवं काम नामक पुरुषार्थों की पूर्ति हो सकती है, जैसी कि गौतम (९।४६) एवं याज्ञ० (१।११५) ने व्यवस्था दी है। वास्तव में बात यह है कि यज्ञों के लिए एकत्र की गयी सम्पत्ति के विषय में यह बात कही गयी है, क्योंकि ऐसी सम्पत्ति का उपयोग धार्मिक कृत्यों में ही होना चाहिए, ऐसा न करने से दूसरे जीवन में कौओं या भासों (मुर्गों या जलमुर्गियों) की योनि मिलती है। मिताक्षरा ने आगे कहा है कि यदि सम्पत्ति को यज्ञार्थ ही माना जायगा तो जैमिनि (३।४।२०-२४) का यह कथन कि "शरीर पर सोना धारण करना चाहिए" व्यर्थ पड़ जायगा और वह केवल **पुरुषार्थ** कहा जायगा न कि **क्रत्वर्थ**। यही बात अपरार्क (पृ० ७४२) ने भी कही है और व्यवस्था दी है कि स्त्रियों को **पूर्त धर्म** (कूप, मन्दिर आदि का निर्माण) करने का अधिकार है। **इष्ट** एवं **पूर्त** के लिए देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय २५।

रिक्थाधिकार से वंचित करने के विषय में अत्यन्त ख्यात शब्द मनु (९।२०१), याज्ञ० (२।१४०) एवं नारद (दायभाग, २१-२२) के हैं। मनु का कथन है कि क्लीब, पतित, जन्मान्ध, जन्मबधिर, पागल, मूर्ख, गूँगे एवं इन्द्रिय-दोषी को अंश (भाग या हिस्सा) नहीं मिलता। याज्ञवल्क्य ने घोषणा की है कि क्लीब, पतित, पतितपुत्र, पंगु, उन्मत्त (पागल), जड़ (मूर्ख), अन्ध, असाध्य रोगी को अंश नहीं मिलता।[४३] याज्ञवल्क्य, बौधायन एवं देवल ने पतित के पुत्र को भी दायांश से वंचित कर रखा है। नारद (दायभाग, २१-२२) ने कहा है कि जो पितृ-द्रोही हैं, पतित हैं, क्लीब हैं, जो (भारत से) दूसरे देश में समुद्र से जाते हैं, वे औरस होते हुए भी दायांश नहीं पाते; क्षेत्रज (दूसरे व्यक्ति द्वारा अपनी पत्नी से उत्पन्न पुत्र) भी इन दुर्गुणों से युक्त होने पर अंश कैसे पा सकता है? जो लोग दीर्घ काल से राजरोग (यक्ष्मा) से पीड़ित हैं या कुष्ठ-जैसे भयानक रोगों से ग्रस्त हैं या जो मूर्ख, पागल या लँगड़े हैं, उन्हें मात्र भरण-

४२. यज्ञार्थं द्रव्यमुत्पन्नं तत्रानधिकृतास्तु ये। अरिक्थभाजस्ते सर्वे ग्रासाच्छादनभाजनाः॥ यज्ञार्थं विहितं वित्तं तस्मात्तद् विनियोजयेत्। स्थानेषु धर्मजुष्टेषु न स्त्रीमूर्खविधर्मिषु॥ मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३५); पराशर-माधवीय (३, पृ० ५३४); मिलाइए शान्तिपर्व (२६।२५)——यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा यज्ञाय सृष्टः पुरुषो रक्षिता च। तस्मात् सर्वं यज्ञ एवोपयोज्यं धनं न कामाय हितं प्रशस्तम्॥

४३. अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा। उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः॥ मनु (९।२०१); क्लीबोऽथ पतितस्तज्जः पंगुरुन्मत्तको जडः। अन्धोऽचिकित्स्यरोगार्ता भर्तव्याः स्युर्निरंशकाः॥ याज्ञ० (२।१४०); मृते पितरि न क्लीबकुष्ठ्युन्मत्तजडान्धकाः। पतितः पतितापत्यं लिंगी दायांशभागिनः॥ तेषां पतितवर्जेभ्यो भक्तवस्त्रं प्रदीयते। तत्सुताः पितृदायांशं लभेरन् दोषवर्जिताः॥ देवल (दायभाग ५।११, पृ० १०२, जहाँ लिंगी का अर्थ प्रव्रजित आदि किया गया है); विवादरत्नाकर (पृ० ४९०) ने लिंगी को अतिशय कपटव्रतचारी कहा है; स्मृतिच० (२, पृ० २७२); पितृद्विट् पतितः षण्ढो यश्च स्यादौपपातिकः। औरसा अपि नैतेंऽशं लभेरन् क्षेत्रजाः कुतः॥ दीर्घतीव्रामयग्रस्ता जडोन्मत्तान्धपंगवः। भर्तव्याः स्युः कुले चैते तत्पुत्रास्त्वंशभागिनः॥ नारद (दायभाग, २१-२२)।

पोषण मिलना चाहिए, किन्तु उनके पुत्रों को दायांश मिलता है। किन्तु आजकल ये बातें अमान्य ठहरा दी गयी हैं। (देखिए हिन्दू इन हेरिटेंस एक्ट, १९२८)। मिताक्षरा के अन्तर्गत आज केवल पागलपन एवं जन्म से मूढ़ता का दोष ही दायांश के अनधिकार के लिए ठीक माना गया है। यह कानून दायभाग द्वारा व्यवस्थित लोगों के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों के लोगों के लिए मान्य है। दायभाग के अन्तर्गत ये उपर्युक्त दोष अभी भी ज्यों-के-त्यों पड़े हुए हैं, हाँ कुछ न्यायिक निर्णयों एवं अन्य कानूनों से संशोधित अवश्य हुए हैं। अब प्रश्न यह है कि उस पुत्र की क्या वास्तविक स्थिति है जो शारीरिक रूप से पागल या जड़ है। मनु (९।२०१) एवं याज्ञ० (२।१४० एवं १४१) ने तो उसे **अनंश** या **निरंशक** (पैतृक सम्पत्ति के अंश के लिए अयोग्य) घोषित किया है, किन्तु उसके भरण-पोषण की व्यवस्था दी है, और कहा है कि यदि उसे जीविका न दी जायगी तो न देनेवाले को पाप लगेगा, किन्तु उन्होंने आगे चलकर व्यवस्था दी है कि यदि उसके पुत्र इन दोषों से मुक्त हों तो उन्हें दायांश मिलता है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१४०) के अनुसार अनंशता के लिए स्त्री एवं पुरुष दोनों एक ही प्रकार के दोषों एवं दुर्गुणों से शासित हैं।

यहाँ हम **पतित** एवं उसके पुत्र के विषय में कुछ विशेष व्यवस्थाओं की चर्चा करेंगे। सभी प्रकार के पापमय कर्मों से व्यक्ति पतित नहीं ठहराया जाता। **पातकों** की कई कोटियाँ होती हैं और हम उनके विषय में आगे पढ़ेंगे। प्राचीन लेखकों ने **महापातकों** को कई प्रकार से उल्लिखित किया है। निरुक्त (६।२७) ने ऋग्वेद (१०।५।६) की व्याख्या करते हुए सात पापों की चर्चा की है--**स्तेय** (चोरी), **तल्पारोहण** (गुरुओं की शय्या पर सोना), **ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, बार-बार दुष्कृत्य करना, पातक और अनृत** (झूठ बोलना)।[44] तैत्तिरीयसंहिता (२।५।१।१), शतपथब्राह्मण (१३।३।१) एवं अन्य ब्राह्मणों में ब्रह्महत्या सबसे बड़ा पाप माना गया है (देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय ३)। छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।९) में सोने की चोरी करनेवाले, सुरा पीनेवाले, गुरुशय्या को अपवित्र करनेवाले, ब्रह्म-हत्यारे एवं इन चारों की संगति करने वाले को पंच-महापातकी कहा गया है।[45] गौतम (२१।१-३) ने निम्न लोगों को पतित घोषित किया है--ब्रह्महत्यारा, सुरा पीनेवाला, गुरु की पत्नी से संभोग करनेवाला, माता या पिता की सपिण्ड स्त्री के साथ संभोग करनेवाला, (ब्राह्मण के) सोने की चोरी करनेवाला, पाषण्डी (नास्तिक), निषिद्ध कर्म को लगातार करनेवाला, स्नेहवश अपने पतित पुत्र आदि को न त्यागनेवाला, अपने ऐसे सम्बन्धियों को जो पतित नहीं हैं त्यागनेवाला, दूसरे को पाप कर्म करने के लिए उकसाने वाला, पतित के साथ एक वर्ष तक रहनेवाला (उसकी शय्या, आसन या पान का प्रयोग करनेवाला)। आपस्तम्ब० (१।७।२१।८-११) में **पतनीयों** (महापातकों) की लम्बी तालिका है। वसिष्ठ० (१।१९-२१) ने निम्न पंच महापातक गिनाये हैं--गुरुशय्या सेवन, सुरापान, विद्वान् ब्राह्मण की हत्या, ब्राह्मण के सोने की चोरी, पतित का गुरु, शिष्य या पुरोहित होना या उससे वैवाहिक सम्बन्ध रखना। बौधायन०

४४. सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्। ऋ० (१०।५।६); सप्त एव मर्यादाः कवयः ततक्षुः चक्रुः। तासामेकामपि अधिगच्छन् अंहस्वान् भवति। स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां पातके अनृतोद्यमिति। निरुक्त (६।२७)। भ्रूण की कई प्रकार की व्याख्याओं के लिए देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय ३। और देखिए गौतम (२१।९), वसिष्ठ (२०।२३)।

४५. स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरंस्तैरिति। छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।९); बृह० उप० (४।३।२२); और देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२२७); विष्णुधर्मसूत्र (५७।१-५)--"अथ त्याज्याः। व्रात्याः। पतिताः। त्रिपुरुषं मातृतः पितृतश्चाशुद्धाः। सर्व एवाभोज्याश्चाप्रति-ग्राह्याः।"

(२।१।५०-५६) में एक भिन्न ही तालिका है; समुद्रयात्रा, ब्राह्मण की सम्पत्ति की चोरी, धरोहर का दुरुपयोग, भूमि के लिए मिथ्या साक्षी होना, निषिद्ध वस्तुओं का व्यापार, शूद्र की नौकरी करना, शूद्रा से पुत्रोत्पति करना। मनु (११।३४), याज्ञ० (३।२२७) एवं विष्णु० (३५।१) ने अति प्रसिद्ध पाँच महापातकों के नाम गिनाये हैं; **ब्रह्महत्या, सुरापान, स्तेय, व्यभिचार** एवं **ऐसे लोगों के साथ लगातार एक वर्ष तक संगति करना**। और देखिए **संसर्ग या संयोग** के विषय में मनु (११।१८० = शान्तिपर्व १६५।३७=बौधायन० २।१।८८=वसिष्ठ० १।२२) एवं याज्ञ० (३।२६१)। वृद्ध बृहस्पति (मिताक्षरा, याज्ञ० ३।२६१) ने पतित के संकर या साथ के नौ प्रकार दिये हैं--एक ही आसन या शय्या का सेवन, एक ही पंक्ति में बैठकर खाना, उसके (पतित के) बरतन में भोजन बनाना, उसके द्वारा पकाये गये भोजन को खाना, उसका पुरोहित होना या उसे पुरोहित बनाना, उसका वेद-गुरु होना या उसका वेद-शिष्य होना, उसके लड़के से अपनी लड़की ब्याहना या उसकी लड़की से अपना लड़का ब्याहना, एक ही पात्र में पतित के साथ भोजन करना। और देखिए देवल (अपरार्क पृ० १०८७ एवं मिताक्षरा, याज्ञ० ३।२६१)। जो कारण पुरुष को पतित बनाते हैं, उन्हीं से स्त्रियाँ भी पतित मानी जाती हैं; जो स्त्री अपने से नीच जाति से संभोग करती है वह पतित होती है, पतित स्त्रियों का यह एक अलग कारण भी माना गया है (गौतम २१।९, याज्ञ० ३।२९७ एवं शौनक, मिता०—याज्ञ० ३।२६१)। प्राचीन ऋषियों ने पतित स्त्रियों के प्रति उदारता दिखायी है। याज्ञ० (३।२९६) के मत से पतित स्त्रियों को, जब तक वे प्रायश्चित्त न कर लें, घर के बाहर सड़क पर नहीं निकाल देना चाहिए, प्रत्युत उनके लिए घर के पास एक झोपड़ी बना देनी चाहिए, उन्हें खाने-पीने को देना चाहिए तथा आगे पतित होने से बचाना चाहिए (देखिए इस ग्रन्थ का भाग २ अध्याय ९)।

असतीत्व एवं दायभाग से सम्बन्धित बातों की चर्चा आगे होगी। मनु (११।५९) के अनुसार व्यभिचार सामान्यतः एक उपातक माना जाता है और उसके लिए साधारण प्रायश्चित्त है **चान्द्रायण व्रत** या **गोव्रत** (मन ११।११७)। किन्तु नीच जाति के पुरुष के साथ व्यभिचार से स्त्री पतित हो जाती है और उसे विभाजन द्वारा (माता या पत्नी के रूप में)कोई भाग नहीं मिलता।

उन लोगों के लिए जो महापातकी हैं और जिन्होंने महापातकों से मुक्ति पाने के लिए व्यवस्थित प्रायश्चित्त नहीं किये हैं, एक अनोखी विधि की व्यवस्था की गयी है जिसे **घटस्फोट** कहा जाता है। इसके अनुसार जो जाति-च्युत होते हैं, उनसे सारे तम्बन्ध तोड़ लिये जाते हैं और वे मृत रूप में ग्रहण किये जाते हैं (देखिए इस ग्रन्थ का भाग २ अध्याय ७; गौतम २०।२-७; मनु ११।१८२-१८४ एवं याज्ञ० ३।२९४)। जब पतित लोग व्यवस्थित प्रायश्चित्त कर लेते हैं तो वे व्यवहार्य (व्यवहार एवं संगति के योग्य) माने जाते हैं। उनके साथ उनके सम्बन्धी-गण किसी पुनीत नदी में स्नान करते हैं, किसी अछूते घट में जल भरकर जल में छोड़ते हैं और पतित हुए व्यक्ति सम्बन्धियों के बीच गायों को घास खिलाते हैं, तब वे पातक-विमुक्त ठहराये जाते हैं और उनके संबन्धी लोग-बाग उनमें दोष नहीं देखते। देखिए मनु (११।१८६-१८७), याज्ञ० (३।२९५, २९९), वसिष्ठ (१५।२०), गौतम (२०।१०-१४)। आपस्तम्ब० (१।९।२४।२४-२५ एवं १।१०।२९।१-२) ने व्यवस्था दी है कि गुरु एवं सोमयाजी श्रोत्रिय (वेदज्ञ) के हत्यारे एवं भ्रूणहत्यारे को जीवन भर प्रायश्चित्त करना चाहिए, उसको लोगों से सम्बन्ध रखने का जीवन भर सुयोग नहीं प्राप्त होता और न वह अपने सम्बन्धियों से पुनः मिल सकता है। **घटस्फोट**-सम्बन्धी क्रिया-संस्कार के लिए देखिए निर्णयसिन्धु (३, उत्तरार्ध, पृ० ५६७-६८) एवं धर्मसिन्धु (३, उत्तरार्ध, पृ० ४५३-५४)।

स्मृतियों के मत से जान-बूझकर पाप करनेवाला प्रायश्चित्त से भी पूर्णरूपेण शुद्ध नहीं होता, किन्तु उसके साथ सम्बन्ध स्थापित हो सकता है (याज्ञ० ३।२२६)। बहुत-सी स्मृतियों के अनसार पापकर्म करने के उपरान्त पतित

से उत्पन्न पुत्र भी पतित माना गया है (याज्ञ० २।१४०; विष्णु० १५।३५-३६ एवं कौटिल्य ३।५)।[46] किन्तु कन्या के विषय में एक उदार अन्तर भी पाया जाता है। वसिष्ठ० (१३।५१-५३) ने लिखा है--"ऋषियों का कथन है कि जो पतित से उत्पन्न होता है, वह पतित हो जाता है; केवल कन्या नहीं होती, क्योंकि वह दूसरे के पास (पत्नी रूप में) जानेवाली है; बिना धन लिये उसे कोई व्याह सकता है।"[47] यही बात याज्ञवल्क्य (३।२६१) ने भी कही है। किन्तु कन्या को उपवास करने तथा पिता के घर से कुछ न ले जाने की व्यवस्था दी है। विश्वरूप (याज्ञ०३।२५७) ने हारीत का निम्न हवाला दिया है; पतित की कन्या को एक दिन और रात उपवास करना चाहिए, नग्न होकर स्नान करना चाहिए, प्रातःकाल नया एवं श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिए, तीन बार 'मैं उसकी (पतित पिता की) नहीं हूँ, और न वह मेरा कोई है' ऐसा कहना चाहिए ; और तब किसी पवित्र स्थान (नदी आदि) पर या वर के घर में विवाहित होना चाहिए।

उपर्युक्त पतित-सम्बन्धी नियमों का फल यह हुआ कि यदि हिन्दू ने अपना धर्म-परिवर्तन कर लिया या जातिच्युत हो गया या किसी दुर्गुण के कारण जाति से निकाल बाहर किया गया तो उसे बुरी दृष्टि से देखा जाने लगा और उसे विभाजन तथा रिक्थाधिकार से वंचित कर दिया गया। किन्तु अब (सन् १८५० के कानून के अनुसार) ये नियम अवैधानिक मान लिये गये हैं।

सभी स्मृतियों का कहना है कि जिन्हें दोषों के कारण दायांश नहीं मिलता उन्हें कुल-सम्पत्ति से जीवन भर जीविका के साधन प्राप्त होते हैं (गौतम २८।४१; वसिष्ठ १७।५४; विष्णु० १५।३३; मनु ९।२०२; याज्ञ० २।१४० आदि)। यदि अयोग्य ठहराये गये व्यक्ति विवाह करना चाहते हैं या विवाहित हैं, तो उनकी पुत्रहीन पत्नियों को, जो सदाचारिणी हैं, जीविका मिलती है (याज्ञ० २।१४२), किन्तु जो व्यभिचारिणी हैं, उन्हें निकाल बाहर किया जाता है। किन्तु मिताक्षरा (याज्ञ० २।१४२) ने जोड़ दिया है कि जो अयोग्य ठहराये गये व्यक्तियों की सदाचारिणी पत्नियाँ हैं उन्हें जीविका देनी चाहिए, भले ही वे विरोधी सिद्ध हो चुकी हों। मनु (९।२०३) एवं याज्ञ० (२।१४१) के मत से, अयोग्य व्यक्तियों के योग्य (क्लीबता आदि दोषों से मुक्त) औरस या क्षेत्रज पुत्रों को संयुक्त सम्पत्ति का भाग मिलता है, उनकी पुत्रियों को जीविका मिलती है और उनके विवाह आदि कर्म किये जाते हैं। स्पष्ट है कि अयोग्य उत्तराधिकारियों को गोद लेने का अधिकार नहीं था, क्योंकि केवल औरस एवं क्षेत्रज पुत्रों का ही उल्लेख हुआ है। कुछ स्मृतियों ने पतित एवं उसके पुत्र को जीविका से भी वंचित कर दिया है, यथा बौधायन (२।२।४६), कौटिल्य (३।५), देवल, विष्णु० (१५।३५-३६)। उपर्युक्त दोषों से ग्रसित होने पर सहभागियों को विभाजन के समय दायांश से वंचित ठहरा दिया जाता है। किन्तु विभाजन के उपरान्त यदि व्यक्ति दवा आदि से दोषमुक्त हो जायँ तो उन्हें विभाजन के उपरान्त उत्पन्न हुए पुत्र के समान अधिकार प्राप्त होता है और वे पुनर्विभाजन की माँग कर सकते हैं। यदि विभाजन के समय व्यक्ति दोषमक्त हो और उसे दायांश प्राप्त होता जाय, किन्तु आगे चलकर वह दोषी हो जाता

४६. तेषां चौरसाः पुत्रा भागहारिणः। न तु पतनीयस्य पतनीये कर्मणि कृते त्वनन्तरोत्पन्नाः। विष्णुधर्मसूत्र (१५।३४-३६)।

४७. पतितेनोत्पन्नः पतितो भवतीत्याहुरन्यत्र स्त्रियाः। सा हि परगामिनी। तामरिक्थामुपेयात्। वसिष्ठ (१३।५१-५३); कन्यां समुद्वहेदेषां सोपवासामकिंचनाम्। याज्ञ० (३।२६१); तथा च हारीतः--पतितस्य तु कुमारीं विवस्त्रामाप्लाव्याहोरात्रोपोषितां प्रातः शुक्लेनाहतेन वाससाच्छाद्य नाहमेतेषां न ममैत इति त्रिरुच्चैरभिधाय तीर्थे स्वगृहे वोद्वहेत्। विश्वरूप (याज्ञ० ३।२५७)।

है तो उसे जो मिला रहता है वह छीना नहीं जा सकता। आपस्तम्ब० (२।६।१४।१५), गौतम (२८।३८) एवं मनु (९।२१४) के कथन से प्रकट है कि यदि ज्येष्ठ पुत्र या भाई अनैतिक ढंग से कुल-सम्पत्ति का व्यय करें तो पिता या भाइयों द्वारा उन्हें विभाजन के समय दायांश से वंचित किया जा सकता है।

गौतम (२८।४३) एवं विष्णु० (१५।३७) का कथन है कि प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न (निम्न व्यक्ति द्वारा उच्च जाति की स्त्री से उत्पन्न) पुत्रों को शूद्रा से उत्पन्न ब्राह्मण-पुत्रों के समान मानना चाहिए, अर्थात् उन्हें उनके पिता द्वारा जीविका मिलनी चाहिए। किन्तु यह बात स्मरणीय है कि प्रतिलोम विवाह गर्हित माने जाते रहे हैं; कात्यायन (८६२-८६४) का कथन है कि 'वह पुत्र, जो अपनी जाति के अतिरिक्त किसी अन्य जाति के पति से विवाहित माता का पुत्र है, या जो सगोत्र विवाह से उत्पन्न है, या जो संन्यास-धर्म से च्युत हो चुका है, वह अपनी पैतृक सम्पत्ति का अधिकार नहीं पाता। किन्तु वह पुत्र, जो ऐसी स्त्री का पुत्र है जो पति की जाति से हीन जाति की है और जिसकी विवाह-क्रिया सम्यक् ढंग से हुई है, पिता की सम्पत्ति पाता है।' किन्तु प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न पुत्र को पैतृक सम्पत्ति नहीं मिलती। उसे उसके सम्बन्धियों से केवल भोजन-वस्त्र मिलने का अधिकार रहता है। जब कोई सम्बन्धी न हों तो ऐसे पुत्र को पिता की सम्पत्ति मिल जाती है, किन्तु यदि पिता ने कोई सम्पत्ति नहीं छोड़ी है तो सम्बन्धियों के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वे उसे भोजन-वस्त्र दें।

विभाजन-विधि एवं भाग-निर्णय

विभाजन की माँग करने के पूर्व भाई को चाहिए कि वह अपनी बहिन तथा अपने भाइयों की बहिनों के विवाह के व्यय के लिए व्यवस्था अवश्य कर दे। इस विषय में निबन्धकारों एवं टीकाकारों में मतैक्य नहीं है। कौटिल्य (३।५), विष्णु (१८।३५ एवं १५।३१) एवं बृहस्पति के मत से अविवाहित बहिनों के विवाह-व्यय की व्यवस्था होनी चाहिए, किन्तु मनु (९।११८), याज्ञ० (२।१२४) एवं कात्यायन (८५८) के मत से भाइयों को अपनी बहिनों के विवाह के लिए एक-चौथाई भाग देना चाहिए। इस विषय में व्याख्या के लिए देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० २।१२४)। मिताक्षरा ने विवाह में लगनेवाले उचित व्यय की दूसरे ढंग से व्यवस्था की है और मनु (९।११८) का उल्लेख कर असहाय, मेधातिथि एवं भारुचि के मतों की भी चर्चा की है। दायभाग (३।३६ एवं ३९, पृ० ६९-७०) के मत से यदि सम्पत्ति थोड़ी है तो अविवाहित कन्या के विवाह के लिए एक चौथाई मिलना चाहिए, किन्तु यदि सम्पत्ति पर्याप्त है तो केवल आवश्यक व्यय मिलना चाहिए। स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहाररत्नाकर (पृ० ४९४), विवादचिन्तामणि (पृ० १३४) ने भारुचि का मत (केवल आवश्यक व्यय, कोई निश्चित भाग नहीं) माना है, किन्तु व्यवहारमयूख (पृ० १०६), मदनरत्न एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० ४५६) ने मिताक्षरा का मत (अविवाहित कन्या को विवाह के लिए उतना ही मिलना चाहिए जितना उसे पुरुष होने पर मिला होता) मान्य ठहराया है।

भागों के निर्णय के पूर्व पैतृक सम्पत्ति से कुल के ऋणों का भुगतान, पिता द्वारा लिये गये नैतिक एवं वैधानिक ऋणों का भुगतान, पिता द्वारा दिये गये स्नेह-दानों (प्रीतिप्रदानों), दोषी सहभागियों का जीविकानिर्वाह, आश्रित नारियों एवं वैवाहिक व्ययों आदि की व्यवस्था अवश्य हो जानी चाहिए। देखिए मनु (८।१६६, कुटुम्ब-ऋण के लिए), याज्ञ० (२।११७), नारद (दायभाग ३२), कात्यायन (८५०) आदि (पिता के ऋणों एवं प्रीति-दानों के लिए) एवं कात्यायन (५४२-४३, विविध वैधानिक आवश्यकताओं के

लिए)।[४८] यदि भाई अलग होना चाहते हों और उनमें कुछ का विवाह हो चुका हो और अन्य अभी अविवाहित हों, तो अविवाहितों के संस्कारों (विवाहादि) के लिए संयुक्त कुल-सम्पत्ति से व्यवस्था होनी चाहिए। यहाँ तक कि कौटिल्य (३।५) ने भी अविवाहित भाइयों एवं बहिनों के विवाह-व्यय की व्यवस्था दी है। याज्ञ० (२।१२४), नारद (दायभाग, ३३), बृहस्पति आदि ने व्यवस्था दी है कि पैतृक सम्पत्ति से छोटे भाइयों के संस्कारों (उपनयन, विवाह आदि) के लिए धन मिलना चाहिए।[४९]

यह हमने देख लिया है कि पिता अपने जीवन-काल में अपने से अपने पुत्रों को, एवं पुत्रों से पुत्रों को अलग कर सकता था और अपने पुत्रों को दायांश दे सकता था। पिता के इस अधिकार की ओर तैत्तिरीय संहिता (३।१।९।४) में भी संकेत मिलता है; मनु ने अपने पुत्रों में अपनी सम्पत्ति बाँटी थी। आपस्तम्ब० (२।६।१४।११) का कथन है कि मनु ने बँटवारे में कोई अन्तर नहीं किया, अतः दायांश बराबर-बराबर होता है और ज्येष्ठ पुत्र की ओर अतिशयता अथवा अधिकानुराग प्रदर्शित करना शास्त्रविहित नहीं है एवं तैत्तिरीयसंहिता (२।५।२।७) का यह कथन कि वे "ज्येष्ठ पुत्र की वरीयता अधिक भाग देकर प्रकट करते हैं" केवल **अनुवाद** (तथ्य का कथन) मात्र है तथा यह वैदिक कथन केवल कुछ लोगों द्वारा शास्त्रानुकूल न चलने का अपवाद प्रदर्शित करता है। विरोध में कोई अन्य बात नहीं पायी जाती, अतः सामान्य नियम समान दायांश ही था, जैसा कि जैमिनि (१०।३।५३) का कथन है—'समं स्यादश्रुतित्वात्' और जिस पर मिताक्षरा (याज्ञ० २।२६५) की निर्भरता पायी जाती है। तैत्तिरीय संहिता के कथन से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में दोनों नियम प्रचलित थे; समान दायांश एवं ज्येष्ठ पुत्र के प्रति अधिकानुराग। आपस्तम्ब (२।६।१४।७) ने स्पष्ट कहा है कि कुछ देशों में सोना, काली गायें, या भूमि की काली उपज ज्येष्ठ का विशिष्ट भाग है।[५०] प्रायः सभी सूत्रों एवं स्मृतियों ने समान जाति की पत्नियों के पुत्रों में समान दायभाग का नियम घोषित किया है (आपस्तम्ब २।६।१४।१; बौधा० २।२।२-३; मनु ९।१५६; याज्ञ० २।११७; विष्णु० १८।३६; कौटिल्य ३।५; बृहस्पति, कात्या० ८३८)। इनमें कुछ ने ज्येष्ठ के लिए विशिष्ट भाग की व्यवस्था दी है, जिसे **उद्धार** संज्ञा मिली है।

कौटिल्य का कथन है—अपने जीते-जी पिता को विभाजन में विशेषता नहीं प्रकट करनी चाहिए और न किसी

४८. **ऋणरिक्थयोः समो विभागः। अर्थशास्त्र (३।५); ऋणं प्रीतिप्रदानं च दत्त्वा शेषं विभाजयेत्। कात्या० (८५०, स्मृतिच० २, पृ० २७३, व्यवहारनिर्णय पृ० ४४६); कुटुम्बार्थमशक्तेन गृहीतं व्याधितेन वा। उपप्लवनिमित्तं च विद्यादापत्कृतं तु तत्॥ कन्यावैवाहिकं चैव प्रेतकार्ये च यत्कृतम्। एतत्सर्वं प्रदातव्यं कुटुम्बेन कृतं प्रभोः॥ कात्यायन (५४२-५४३, अपरार्क पृ० ६४७; स्मृतिच० २, पृ० १७४-१७५; विवादरत्नाकर पृ० ५६)। यहाँ प्रभोः का अर्थ "प्रभुणा" है।**

४९. **संनिविष्टसममसंनिविष्टेभ्यो नैवेशनिकं दद्युः। कन्याभ्यश्च प्रदानिकम्। अर्थशास्त्र (३।५); असंस्कृता भ्रातरस्तु ये स्युस्तत्र यवीयसः। संस्कार्या भ्रातृभिश्चैव पैतृकान्मध्यगाद्धनात्॥ बृहस्पति (स्मृतिच० २, पृ० २६९, वि० र० पृ० ४९२); व्यवहारमयूख (पृ० १०६); अपरार्क (पृ० ७३१); पराशरमाधवीय (३, पृ० ५०८); व्यवहारप्रकाश (पृ० ४५४); विश्वरूप (याज्ञ० २।१२८); मदनपारिजात (पृ० ६४८)।**

५०. **एकधनेन ज्येष्ठं तोषयित्वा।....ज्येष्ठो दायाद इत्येके। देशविशेषे सुवर्णं कृष्णा गावः कृष्णं भौमं ज्येष्ठस्य ....तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम्। मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदित्यविशेषेण श्रूयते। अथापि तस्माज्ज्येष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्तीत्येकवच्छ्रूयते। अथापि नित्यानुवादमविधिमाहुर्न्यायविदो यथा तस्मादजावयः पशूनां सह चरन्तीति। ....सर्वे हि धर्मयुक्ता भागिनः। आपस्तम्ब० (२।६।१४।१, ६-७, १०-१३)।**

को अकारण वञ्चित करना चाहिए। (३।५)।[51] यही बात कात्यायन (८४३) ने कही है। किन्तु यदि हम स्मृतियों के कुछ वचनों को (यथा याज्ञ० २।११६; नारद, दायभाग १५) शाब्दिक अर्थ में लें तो प्रकट होता है कि प्राक्कालीन भारतीय पिता पैतृक सम्पत्ति को मनोनुकूल ढंग से अपने पुत्रों में वितरित करते थे। नारद (दायभाग, १५) का कथन है—जब पिता अपने पुत्रों में सम्पत्ति बाँट देता है तो वह वैधानिक विभाजन है, अर्थात् हम उसे काट नहीं सकते, भले ही वह कम हो, बराबर हो या अधिक हो। बृहस्पति ने लिखा है कि यदि (पिता द्वारा) व्यवस्थित विभाजन परिवर्तित हो तो दण्ड मिलता है। आगे चलकर ये वचन या तो पुराने काल के लिए उचित ठहराये गये (व्यवहारमयूख पृ० ९९) या पिता की स्वार्जित सम्पत्ति से सम्बन्धित माने गये (मिताक्षरा, याज्ञ० २।११४), या ऐसा समझा जाने लगा कि यदि पिता का विभाजन वैधानिक है तो वह तोड़ा नहीं जा सकता, किन्तु यदि वह अवैधानिक है तो परिवर्तित किया जा सकता है (मिता०—याज्ञ० २।११६; मदनरत्न, मदनपारिजात पृ० ६४६)। स्वयं नारद (दायभाग, १६) ने लिखा है कि यदि पिता रोगग्रसित हो या क्रोध में हो (अपने पुत्र या पुत्रों से) या विषयासक्त हो या शास्त्र-विरुद्ध कार्य करता हो, तो उसको अपनी इच्छा से दायभाग विभाजित करने का कोई अधिकार नहीं है।

ज्येष्ठ पुत्र को प्राचीन काल से अब तक विशिष्टता मिलती रही है। यह विशिष्टता कई रूपों में प्रकट होती रही है। कुछ मतों से ज्येष्ठ पुत्र को सम्पूर्ण सम्पत्ति मिल जाती थी। आप० (२।६।१४।६), मनु (९।१०५-१०७), नारद (दायभाग, ५) ने इस मत की ओर निर्देश किया है। मनु (९।१०५-१०७) ने लिखा है कि ज्येष्ठ पुत्र सम्पूर्ण पैतृक सम्पत्ति पा सकता है, किन्तु उन्होंने यह भी लिखा है कि अन्य पुत्र ऐसी स्थिति में अपने ज्येष्ठ भाई पर अपनी जीविका आदि के लिए उसी प्रकार निर्भर हैं जिस प्रकार अपने पिता पर। मनु का कथन है कि ज्येष्ठ पुत्र जन्म के कारण पिता को पितृ-ऋण से मुक्त करता है अतः वह पिता से सम्पूर्ण सम्पत्ति पाने की पात्रता रखता है (देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय ७)।

ज्येष्ठ पुत्र को कुछ अधिक सुविधाएँ भी दी जा सकती थीं, उसे कुछ अत्यन्त सुन्दर एवं बहुमूल्य पदार्थ देकर शेष धन का विभाजन हो सकता था। ऐसा ही आपस्तम्ब० (२।६।१४।१) एवं बौधायन० (२।२।२-५) ने तैत्तिरीय संहिता (२।२।२।७) को समझा है।[52] मनु (९।११४) के मत से ज्येष्ठ पुत्र को सम्पत्ति का सुन्दरतम रूप मिल सकता है, उसे श्रेष्ठ वस्तु मिल सकती है और दस पशुओं के दल का सर्वोत्तम भाग मिल सकता है। कौटिल्य (३।६) ने उशना का उल्लेख करके लिखा है कि एक ही माता के पुत्रों में ब्राह्मणों में ज्येष्ठ पुत्र को बकरियाँ, क्षत्रियों में घोड़े, वैश्यों में गायें एवं शूद्रों में भेड़ें, विशिष्ट भाग के रूप में प्राप्त होती हैं। यदि पशु न हों तो ज्येष्ठ पुत्र को बहुमूल्य रत्नों को छोड़कर एक दशांश अधिक भाग मिलता है, क्योंकि वह श्राद्धकर्म द्वारा पिता को नरक के बन्धनों से मुक्त करता है। स्वयं कौटिल्य ने लिखा है कि ज्येष्ठ पुत्र को पिता की मृत्यु के पश्चात् उसके गहने एवं यान मिलते

५१. जीवद्विभागे पिता नैकं विशेषयेत्। न चैकमकारणान्निर्विभजेत्। अर्थशास्त्र (३।५, पृ० १६१); जीवद्विभागे तु पिता नैकं पुत्रं विशेषयेत्। निर्भाजयेन्न चैवैकमकस्मात्कारणं विना॥ कात्या० (८४३, दायभाग १।८४, पृ० ५६; व्य० प्र० पृ० ४३९)।

५२. मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदिति श्रुतिः। समशः सर्वेषामविशेषात्। वरं वा रूपमुद्धरेज्ज्येष्ठः। तस्माज्ज्येष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्तीति श्रुतिः। बौधा० (२।२।२-५)। स्मृतिच० (२, पृ० २६०) एवं आप० ने 'निरवसाययन्ति' को 'तोषयन्ति' के अर्थ में ग्रहण किया है। वि० र० (पृ० ४६७) ने इस प्रकार व्याख्या की है— ज्येष्ठं पुत्रं धनेनोद्धरणलक्षणेन निरवसाययन्ति इतरपुत्रेभ्यः पृथक् कुर्वन्ति।

हैं, मध्यम पुत्र को शय्या, आसन एवं पिता द्वारा प्रयुक्त पीतल के भोजनपात्र मिलते हैं, कनिष्ठ पुत्रों को काला अन्न (तिल), लोहा, घरेलू बरतन एवं बैलगाड़ी मिलती है। हारीत ने लिखा है--"विभाजन पर ज्येष्ठ को एक बैल, अत्यन्त मूल्यवान् सम्पत्ति, पूजा की मूर्ति एवं पैतृक भवन मिलता है, अन्य भाइयों को बाहर जाकर नये घर बनवाने चाहिए, किन्तु यदि भवन एक ही हो तो ज्येष्ठ को दक्षिण भाग (सुन्दरतम) मिलना चाहिए।" यह वरीयता उद्धार (अर्थात जो पहले निकाला जाय) के नाम से घोषित है (मनु ९।११५-११६, विष्णु० १८।३७ आदि)। सम्पत्ति के विशिष्ट विभाजन के कुछ अन्य नियम भी थे। गौतम (२८।५) के मत से ज्येष्ठ को विशिष्ट रूप से सम्पूर्ण सम्पत्ति का बीसवाँ भाग, एक बैल एवं एक गाय, और एक गाय (पृथक् रूप से), एक रथ जिसमें घोड़े, गदहे जोते जाते हों तथा एक बैल की वरीयता प्राप्त होती थी। मनु (९।११२) के मत से ज्येष्ठ को अलग से सम्पूर्ण सम्पत्ति का बीसवाँ भाग, सम्पत्ति का सर्वोत्तम एवं अत्यन्त मूल्यवान् भाग, मध्यम को उसका आधा (अर्थात् चालीसवाँ भाग) तथा कनिष्ठ को उसका चौथाई (अर्थात् अस्सीवाँ भाग) मिलना चाहिए। और देखिए वसिष्ठ० (१७।४२), नारद (दायभाग, १३), बृहस्पति, शंख-लिखित आदि।

आगे चलकर ज्येष्ठ पुत्र के विशिष्ट भाग एवं पिता के विशिष्ट भाग के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो गयी। कात्यायन (८३८) ने लिखा है कि जब माता-पिता एवं भाई लोग संयुक्त सम्पत्ति को बराबर भाग में बाँटते हैं तो यह धर्म (वैधानिक) है। बृहस्पति का कथन है कि पिता एवं पुत्रों को पैतृक धन एवं घरों में बराबर भाग लेना चाहिए, किन्तु पिता के स्वार्जित धन में पिता की इच्छा के विरुद्ध पुत्र लोग भाग नहीं पा सकते। व्यवहारमयूख (पृ० ९५) ने इससे निष्कर्ष निकाला है कि पितामह या अन्य दूर के पूर्वजों की सम्पत्ति में पिता की इच्छा के विरुद्ध पुत्र लोग विभाजन की माँग कर सकते हैं।

मनु (९।१२५) के अनुसार एक ही जाति की पत्नियों से उत्पन्न पुत्रों में जो सबसे पहले उत्पन्न (यहाँ तक कि छोटी पत्नी से भी) होता है वही ज्येष्ठ होता है, जुड़वाँ भाइयों में पहले उत्पन्न होनेवाला ज्येष्ठ होता है। किन्तु कई जातियों की पत्नियों में समान जाति वाली पत्नी का पुत्र (भले ही वह बाद को उत्पन्न हुआ हो) ज्येष्ठ होता है, और नीच जाति वाली पत्नी का पुत्र (भले ही वह पहले उत्पन्न हुआ हो) कनिष्ठ कर दिया जाता है। यही बात देवल (व्य० र० पृ० ४७७ एवं व्यवहारचिन्तामणि पृ० १२८) में भी पायी जाती है।

ज्येष्ठ पुत्र एवं पिता की दायांश-सम्बन्धी वरीयता के विरुद्ध बातें इतनी बढ़ गयीं कि आगे चलकर यह वृत्ति नियोग-प्रथा एवं अनुबन्ध्या (बाँझ गाय की यज्ञ में बलि) के समान ही गर्हित मानी जाने लगी।[53] इस विषय में मिताक्षरा तथा अन्य लेखकों के तर्क अवलोकनीय हैं। मनु के सबसे प्राचीन टीकाकार मेधातिथि ने मनु (९।११२) की व्याख्या में बताया है कि नियोग-सम्बन्धी एवं ज्येष्ठ पुत्र के विशिष्ट अंश से सम्बन्धित बातें केवल प्राचीन काल में ही प्रचलित थीं, काल एवं देश के अनुसार स्मृतियों के वचन परिवर्तित होते हैं। प्राचीन काल के सत्र, जिनमें वैदिक विद्यार्थियों को वैदिक मन्त्र कण्ठस्थ रखने पड़ते थे, आज कल (मेधातिथि के काल में भी) प्रचलित नहीं हैं। स्वयं मनु (१।८५) ने कहा है कि विभिन्न युगों में विभिन्न धर्म होते हैं। किन्तु मेधातिथि ने इस तर्क को नहीं माना है। उनका कथन है कि विभिन्न युगों में विभिन्न धर्म नहीं होते, किसी देश में धर्म के पालन में कोई बाधा नहीं है। यद्यपि

५३. नियोग प्रथा के लिए देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय १३। 'अनुबन्ध्या' (अनबन्ध्या) का अर्थ है बांझ गाय, इसकी अग्निष्टोम यज्ञ के अन्त में उदयनीया इष्टि के पश्चात् बलि दी जाती थी। देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय ३३।

सत्र आज नहीं किये जाते, किन्तु उनका किया जाना आज भी सम्भव है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।११७) में उपस्थापित तर्क, संक्षेप में, निम्न हैं---शास्त्रों में दी गयी (मनु ९।१०५, ११२, ११६, ११७, याज्ञ० २।११४) असमान विभाजन की विधि का उपयोग नहीं होना चाहिए, वह लोगों द्वारा गर्हित मानी गयी है, क्योंकि याज्ञ० (१।१५६) में आया है कि वह क्रिया जो शास्त्रविहित है, किन्तु जनता द्वारा गर्हित मानी जाती है, नहीं सम्पादित होनी चाहिए, क्योंकि उससे स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती। उदाहरणार्थ, यद्यपि याज्ञ० (१।१०९) ने ब्राह्मण अतिथि के लिए एक बड़े बैल एवं बकरे को काटने की व्यवस्था दी है, किन्तु आज ऐसा लोग नहीं करते, क्योंकि लोग इसे गर्हित समझते हैं, या जिस प्रकार यह श्रुतिवाक्य है कि "मित्र एवं वरुण के लिए अनुबन्ध्या (बाँझ गाय) काटी जानी चाहिए।" किन्तु आज यह नहीं किया जाता, क्योंकि लोग इसे बुरा मानते हैं। ऐसा कहा गया है---"जिस प्रकार नियोग-प्रथा एवं अनुबन्ध्याहनन का आज प्रचलन नहीं है, उसी प्रकार ज्येष्ठ पुत्र को विशिष्ट अंश देने की मान्यता भी आज नहीं है।" और देखिए आपस्तम्ब० (२।६।१४।१-१४)। अतः शास्त्रविहित असमान भाग-निर्णय आज सामान्य मनोभाव के विरुद्ध है। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २६६) में आया है कि धारेश्वर ने भी मनु (९।११२) के वाक्य का विवेचन नहीं किया है, क्योंकि उस समय तक उद्धार विभाग की विधि ही समाप्त हो चुकी थी।

स्मृतिचन्द्रिका ने विश्वरूप के इस कथन का कि "जिस प्रकार विद्वान् ब्राह्मण के लिए बैल एवं बकरा काटना आज शिष्टों द्वारा उचित नहीं माना जाता, उसी प्रकार उद्धार (ज्येष्ठ पुत्र को विशिष्ट अंश देना) भी उचित नहीं माना जाता", खण्डन किया है। इसका कथन है कि जब स्मृति-वचनों एवं शिष्टाचार में विरोध खड़ा हो जाय तो अन्तिम को ही दुर्बल मानना चाहिए और प्रथम को मान्यता मिलनी चाहिए। बैल न देना शिष्टाचार नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत यह शिष्टाचार के अभाव का द्योतक है। स्मृतिचन्द्रिका ने मिताक्षरा के इस कथन का भी खण्डन किया है कि लोग ज्येष्ठ पुत्र को विशिष्ट अंश देना गर्हित मानते हैं। इसका कथन है कि यदि विद्या, गुणों एवं पवित्र कर्मों से संयुक्त ज्येष्ठ पुत्र को विशिष्ट अंश दिया जाता है तो लोग इसे प्रशंसनीय समझते हैं। मदनरत्न ने "यथा नियोग आदि" एवं आदि-पुराण का उद्धरण दिया है। व्यवहारप्रकाश (पृ०-४४२–४४३) ने सामान्यतः मिताक्षरा का अनुसरण किया है, किन्तु यह कहकर विरोध भी किया है कि इस विषय में कोई वास्तविक श्रुति-विरोध नहीं है। यदि ऐसी बात रही होती, और श्रुतिवचन सभी युगों के लिए घोषित है, तो असमान विभाजन सभी युगों में वर्जित माना जायगा और यह निष्कर्ष निकलेगा कि वे श्रुतिवचन जो असमान विभाजन की बात करेंगे प्रामाणिक नहीं होंगे, क्योंकि यह (असमान विभाजन) सभी युगों में नहीं प्रयोजित होगा (किन्तु वास्तव में ऐसा था)। इसके अतिरिक्त बौधायन ने एक अन्य श्रुतिवाक्य दिया है जिसने असमान विभाजन की चर्चा की है। व्यवहारप्रकाश ने इस बात की रक्षा करने के हेतु कि लोगों द्वारा जो गर्हित माना जाता है उसे नहीं करना चाहिए, व्यवस्था दी है कि याज्ञ० (१।१५६) के 'लोक' का अर्थ है 'युग'; नहीं तो इस बात में कि क्या शिष्टाचार है और किससे स्वर्ग-प्राप्ति नहीं होती, विरोध उत्पन्न हो जायगा। साधारण लोगों द्वारा, जो शास्त्रों की बातें नहीं जानते, वैसा कार्य नहीं किया जा सकता जिससे स्वर्ग-प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि ऐसे लोग अग्नि एवं सोम के लिए की गयी पशु-हिंसा को गर्हित मान सकते हैं। इस विवेचन से प्रकट होता है कि श्रुतिवचन एवं लोगों द्वारा प्रयुक्त मान्यताएँ क्रमशः अप्रयुक्त हो गयीं और साधारण लोगों के तर्क एवं सामान्य ज्ञान श्रुतिवचन के विरोध में पड़ गये। मिताक्षरा ने स्पष्ट कहा है कि लोगों द्वारा जो गर्हित माना जाता है उसे नहीं करना चाहिए, भले ही पहले वह मान्य रहा हो और उसके पीछे श्रुतियों एवं स्मृतियों के वचन रहे हों। जो लोग सामाजिक विधियों एवं लोगों के व्यवहारों में परिवर्तन देखना चाहते हैं वे याज्ञवल्क्य एवं मनु (४।१७६) के एकसमान वचनों तथा विष्णु-

धर्मसूत्र (७१।८५) एवं मिताक्षरा के प्रमाणों का सहारा लेते हैं।[५४] मित्र मिश्र-जैसे कट्टर लेखक 'लोक' ऐसे सीधे शब्दों को भी तोड़ते-मरोड़ते हैं, क्योंकि वे यह मानने को सन्नद्ध नहीं हैं कि साधारण लोग (विज्ञ लोगों द्वारा मान्य) शास्त्र-वचनों के विरोध में जाने के योग्य हो सकते हैं। सरल रूप से यह कहने के स्थान पर कि प्राचीन मान्यताएँ एवं व्यवहार आगे चलकर सामान्य जनता द्वारा संशोधित हुए, मित्र मिश्र-जैसे लेखक कहते हैं कि इन बातों में सामान्य लोगों की बातें नहीं सुनी जानी चाहिए; वे यह भी कहते हैं कि प्रत्येक युग की अपनी विशेषताएँ होती हैं, किन्तु सामान्य जनता को किसी एक युग के लिए स्मृतियों द्वारा निर्धारित व्यवहारों को परिवर्तित करने का कोई अधिकार नहीं है। ऐसा कहना केवल वाग्जाल या वाक्छल मात्र है कि 'बैल न काटना शिष्टाचार नहीं है, प्रत्युत वह शिष्टाचार का अभाव है।' जो बात स्पष्ट है वह यह है कि सामान्य जनता **नियोग** एवं यज्ञों में **गोवध** को गर्हित मानती थी और आगे चलकर सूत्रों एवं स्मृतियों के लेखकों ने इसे मान लिया और कलियुग में ऐसे व्यवहारों को, जो श्रुतियों द्वारा आज्ञापित एवं विहित थे, वर्जित कर दिया, अर्थात् सामान्य जनता का स्वर एवं उसका विद्रोह पूज्य वेद के शब्दों के ऊपर उठ गया।

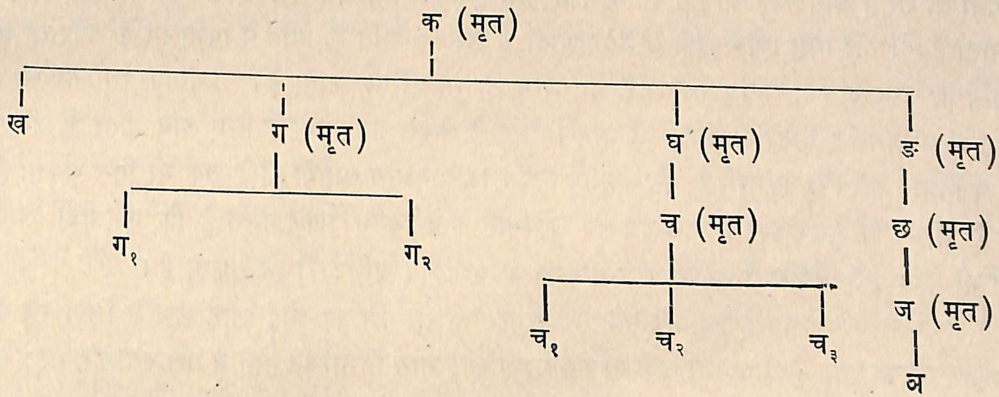
यद्यपि ज्येष्ठ पुत्र को अधिक भाग या सम्पूर्ण सम्पत्ति देना आगे चलकर सामान्यतः बन्द हो गया, किन्तु इसके चिह्न आज तक भी देखने में आते हैं। आजकल भी कुछ ऐसी **रियासतें, जमीन्दारियाँ** या **राज** रहे हैं जहाँ केवल एक उत्तराधिकारी को सम्पूर्ण सम्पत्ति मिल जाती रही है। कहीं-कहीं रूढियों के अनुसार कुछ अविभाज्य रियासतें भी रही हैं, यथा—देशमुख एवं देशपाण्डे नामक **वतन**। कहीं-कहीं परम्पराओं के आधार पर अधिक भाग (**ज्येष्ठांश** या **मोटप**) भी विभाजन के समय दिये जाते रहे हैं।

विभाजन-सम्बन्धी भाग-निर्णय के लिए निम्नलिखित व्यवस्थाएँ अवलोकनीय हैं—(१) जब पिता एवं पुत्रों में विभाजन होता है तो प्रत्येक को पिता के समान ही भाग मिलता है; (२) जब भाइयों में विभाजन होता है तो प्रत्येक को बराबर-बराबर मिलता है; (३) किसी व्यक्ति के मृत होने पर उसके पुत्र को रिक्थाधिकार प्राप्त हो जाता है; (४) जब विभाजन ऐसे सदस्यों में होता है जो चाचा या भतीजे हैं या चचेरे भाई हैं तो वह खानदान के अनुसार होता है, किन्तु एक ही शाखा के सदस्यों में सम्पत्ति के अनुसार होता है। यह नियम स्पष्ट रूप से कौटिल्य (३।५), याज्ञ० (२।१२०), बृहस्पति एवं कात्यायन (८५५-८५६) में व्यक्त है। अन्तिम नियम की व्याख्या आवश्यक है। याज्ञ० (२।१२०) का कथन है—"उन लोगों के बारे में, जो विभिन्न पिताओं के द्वारा अधिकारी होते हैं, भाग-निर्णय पिताओं के अनुसार होता है।" कात्यायन का कथन है—"जब कोई अविभाजित भाई मर जाता है तो ज्येष्ठ या किसी अन्य भाई को चाहिए कि वे उसके पुत्र को पैतृक सम्पत्ति का भागी बनायें (किन्तु यह तभी होगा जब उसे पितामह से कोई रिक्थाधिकार न प्राप्त हुआ हो); उसे उसके चाचा या चचेरे भाई द्वारा उतना भाग मिलना चाहिए जितना उसके पिता को (जीवित रहते) मिलता; प्रत्येक दायांश सभी भाइयों (जो मृत भाई के पुत्र हैं) के वैधानिक भाग के समानुरूप ही होगा। या उसके पुत्र (मरते हुए भाई के पुत्र के पुत्र) को भी वह भाग मिलेगा; इसके आगे (अर्थात् मृत भाई के पौत्र के बाद) विभाजन की माँग की इतिश्री हो जाती है।" यह कहा गया है कि पैतृक सम्पत्ति (पितामह-द्रव्य) में पुत्रों एवं पौत्रों का जन्म से ही समान अधिकार है, किन्तु पौत्रों का भाग-निर्णय उनके पिताओं के द्वारा ही होता है, अर्थात् उन्हें व्यक्तिगत हैसियत से नहीं मिलता। इसे हम कुछ उदाहरणों से व्यक्त करते हैं।

५४. परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ। धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च॥ मनु (४।१७६); धर्मविरुद्धौ चार्थकामौ। लोकविद्विष्टं च धर्ममपि (परिहरेत्)। विष्णुधर्मसूत्र (७१।८४-८५); जनघोषे सति क्षुद्रकर्म न कुर्यात्। बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र (१।९५)।

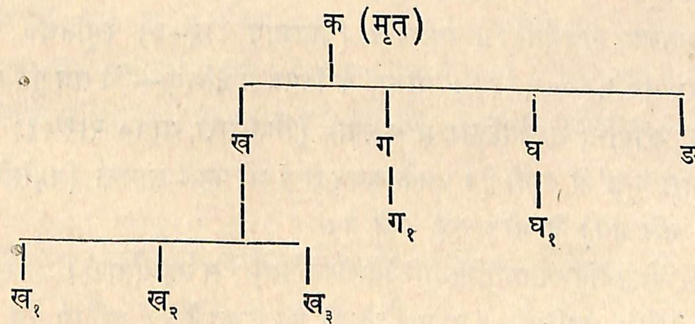
मान लीजिए क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ का एक संयुक्त परिवार है और क, ख, ग, घ विभाजन किये बिना ही मर जाते हैं; ख का ङ नामक पुत्र, ग का च एवं छ नामक पुत्र और घ के ज, झ एवं ञ नामक पुत्र बच रहते हैं। यदि ङ, च, छ, ज, झ, ञ विभाजन की माँग करें तो इन छः व्यक्तियों में प्रत्येक को छठा भाग नहीं मिलेगा, बल्कि विभाजन उनके पिताओं द्वारा होगा, अर्थात् ङ को जो ख का अकेला पुत्र है, एक-तिहाई भाग मिलेगा, च एवं छ (जो ग के पुत्र हैं) को एक-तिहाई (अर्थात् प्रत्येक को एक छठा भाग) मिलेगा और ज, झ एवं ञ को एक-तिहाई (अर्थात् प्रत्येक को एक-नवाँ भाग) मिलेगा। यही बात तब भी होगी जब क, ख, ग मर जायँगे और घ तथा ङ, च, छ, ज, झ एवं ञ बच रहेंगे। तब घ को, जो ङ, च, छ का चाचा है, अपने पुत्रों ज, झ एवं ञ के साथ केवल एक-तिहाई ही मिलेगा।

एक अन्य उदाहरण लीजिए—



मान लीजिए एक संयुक्त परिवार का स्वामी क मर जाता है और उसका पुत्र ख, दो पौत्र ग$_{१}$ एवं ग$_{२}$, तीन पौत्र च$_{१}$, च$_{२}$ एवं च$_{३}$ तथा एक प्रपौत्र ञ बच रहते हैं। यहाँ ञ कोई दायांश नहीं माँग सकता, क्योंकि वह अपने एक-समान पूर्वज क से, जो मृत हो चुका है, चौथी पीढ़ी के बाद का है। अतः संयक्त सम्पत्ति तीन भागों में बँटेगी; ख को एक-तिहाई मिलेगा, ग$_{१}$ एवं ग$_{२}$ को मिलकर एक-तिहाई मिलेगा और च$_{१}$, च$_{२}$ एवं च$_{३}$ को मिलकर एक-तिहाई मिलेगा।

एक उदाहरण और देखिए—



मान लीजिए एक संयुक्त परिवार का स्वामी क मर जाता है और उसके पीछे ख, ग, घ एवं ङ नामक चार पुत्र, ख$_{१}$, ख$_{२}$ एवं ख$_{३}$ तथा ग$_{१}$ एवं घ$_{१}$ नामक पाँच पौत्र बच रहते हैं। और मान लीजिए कि आगे चलकर ख मर जाता

है। तब ख₃ अपना भाग, जो एक-चौथाई का एक-तिहाई भाग (एक-बारहवाँ भाग) है, पाता है और अलग हो जाता है, किन्तु शेष लोग अभी संयुक्त ही रहते हैं। इसके उपरान्त ग मर जाता है और क्रमशः घ, ङ एवं ख₂ भी मर जाते हैं। ऐसी स्थिति में ख₁ व्यक्ति ग₁ एवं घ₁ से भाग लेने के लिए मुकदमा करता है। यहाँ भी वही नियम लागू होगा। जो सम्पत्ति ख₂ की मृत्यु के उपरान्त बची वह तीन भागों में बँटेगी और ख₁, ग₁ एवं घ₁ में प्रत्येक को (जो ख, ग, घ के उत्तराधिकारी हैं) उस सम्पत्ति का एक तिहाई प्राप्त होगा।

मनु (९।४७) ने बलपूर्वक कहा है--"विभाजन एक बार होता है, कन्या एक बार दी जाती है (उसका विवाह एक बार होता है), एक ही बार कोई ऐसा कहता है 'मैं यह दान करूँगा'—अच्छे लोग ये तीनों एक ही बार करते हैं।" इसका तात्पर्य यह है कि एक बार का किया गया विभाजन अन्तिम होता है, साधारणतः वह दुबारा नहीं उभाड़ा जाता।[55] किन्तु इस नियम के अपवाद भी हैं। विभाजन के उपरान्त पुत्रोत्पत्ति पर पुनर्विभाजन होता है। बृहस्पति का कथन है; जब कोई अपना देश छोड़कर अन्यत्र चला जाता है तो जब उसका उत्तराधिकारी पुनः अपने देश लौट आये तो उसे उसका भाग अवश्य मिलना चाहिए। चाहे वह (उत्तराधिकारी) तीसरी या पाँचवीं या सातवीं पीढ़ी (जिसने देश छोड़ दिया था उससे आगे की) का हो, यदि उसका जन्म एवं कुल निश्चित रूप से ज्ञात हो जाय तो उसे रिक्थाधिकार मिल जाता है। जिन्हें मौल एवं पड़ोसी लोग सहभागी के रूप में जानते हैं, यदि वे विभाजन के उपरान्त आकर अपना भाग माँगें तो उन्हें गोत्रजों से पैतृक सम्पत्ति या भूमि का भाग मिल जाता है।[56] व्यवहाररत्नाकर का कथन है कि देवल का यह नियम कि चौथी पीढ़ी तक ही भाग मिलता है, केवल उन लोगों के लिए लागू होता है, जो एक ही स्थान या देश में निवास करते हैं, किन्तु बृहस्पति का यह नियम कि दायभाग सातवीं पीढ़ी तक भी मिल सकता है, उन लोगों के लिए है जो किसी दूसरे देश में चले गये हैं। बृहस्पति के ये नियम प्रकट करते हैं कि एक बड़ी लम्बी अवधि के उपरान्त भी कोई उत्तराधिकारी संयक्त कुल-सम्पत्ति के भाग का अधिकारी हो सकता है।

एक दूसरा नियम यह है कि यदि संयुक्त परिवार की सम्पत्ति का कोई भाग छल से छिपा रह गया हो और आगे चलकर उसका पता चल जाय या भ्रम या संयोगवश कोई भाग विभाजित होने से बच गया हो, तो प्रथम विभाजन

५५. सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते। सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥ मनु (९।४७)। और देखिए नारद (स्त्रीपुंसयोग २८) एवं वनपर्व (२९४।२६)।

५६. गोत्रसाधारणं त्यक्त्वा योऽन्यदेशं समाश्रितः। तद्वंश्यस्यागतस्यांशः प्रदातव्यो न संशयः॥ तृतीयः पंचमश्चैव सप्तमो वापि यो भवेत्। जन्मनामपरिज्ञाने लभेतांशं क्रमागतम्॥ यं परम्परया मौलाः सामन्ताः स्वामिनं विदुः। तदन्वयस्यागतस्य दातव्या गोत्रजैर्मही॥ बृहस्पति (दायभाग ८।२-३; स्मृतिच० २, पृ० ३०७-३०८; दायतत्त्व पृ० १८०; वि० र० पृ० ५४०-५४१)। 'मौलाः' के विषय में देखिए--"ये तत्र पूर्वं सामन्ताः पश्चाद्देशान्तरं गताः। तन्मूलत्वात्तु ते मौला ऋषिभिः संप्रकीर्तिताः॥ कात्या० (मिताक्षरा, याज्ञ० २।१५१; अपरार्क पृ० ७६०)। कात्यायन ने 'मौल' की उत्पत्ति 'मूल' से मानी है। उनके कथन से वे जो पहले सामन्त (पड़ोसी) थे, किन्तु कालान्तर में बाहर चले गये (अन्यत्र चले गये) वे मौल कहे जाते हैं।

५७. यस्त्वा चतुर्थादविभक्तविभक्तानामित्यादिदेवलोक्तनियमः स सहवासादौ। अयं तु दूरदुर्गमवासादावित्यविरोधः। वि० र० (पृ० ५४१)। स्मृतिच० (२, पृ० ३०८) का कथन है कि अन्तिम पद्य 'भूमि' की ओर संकेत करता है (अर्थात् विभाजन केवल अचल सम्पत्ति के विषय में ही फिर से हो सकता है)। तदनेन चिरप्रोषितवंश्येन समन्ताद्वासिभिर्मौलैरात्मज्ञापनपूर्वकं भागग्रहणं कार्यम्। दायभाग (८।४)।

के आधार पर ही भागानुसार उसका विभाजन होता है। ऐसी स्थिति में पुनर्विभाजन नहीं होता, प्रत्युत एक दूसरा विभाजन होता है (मनु ९।२१८; याज्ञ० २।१२६; कौटिल्य ३।५ एवं कात्या० ८८५-८६)। कात्यायन का कथन है—"यदि संयुक्त धन गुप्त रह गया हो, किन्तु कालान्तर में उसका पता चल जाय तो पिता के न रहने पर भी पुत्र लोग उसे अपने बीच बराबर-बराबर बाँट ले सकते हैं।" भृगु कहते हैं—"जो कुछ एक दूसरे से (सहभागियों से) छिपा रह गया हो या जो कुछ अन्यायपूर्वक विभाजित हुआ हो तथा जो कुछ (ऋण आदि) फिर से बिना विभाजित हुए प्राप्त हो उसे बराबर-बराबर बाँट लेना चाहिए।"

ऐतरेय ब्राह्मण (६।७) में आया है—"जो किसी को अपना भाग पाने से वंचित करता है उसे वह (वंचित व्यक्ति) दण्ड देता है (नष्ट करता है)। यदि वह (वंचित होनेवाला) उसे नहीं दण्डित करता (नष्ट करता) तो वह उसके पुत्र या पौत्र को दण्डित करता है; किन्तु वह उसे दण्डित अवश्य करता है।"[५८] मनु (९।२१३) के मत से यदि ज्येष्ठ भ्राता लोभवश छोटे भाइयों को उनके भाग से वंचित करता है, तो उसे उसका विशिष्ट भाग नहीं मिलता और वह राजा द्वारा दण्डित होता है। इन कथनों से पता चलता है कि संयुक्त सम्पत्ति को छिपाना या किसी का भाग मारना गर्हित समझा गया है। किन्तु इस विषय में टीकाकारों एवं निबन्धकारों में मतैक्य नहीं है। जब कोई संयुक्त सम्पत्ति को विभाजन के समय छिपा लेता है तो यह दुष्कर्म है या नहीं? जो वह छिपाता है उसका कुछ भाग तो उसका है ही। दायभाग (१३।८) का कथन है कि यहाँ यह चोरी नहीं है, क्योंकि चोर तो जान-बूझकर दूसरे की सम्पत्ति अपनी बनाता है और यहाँ संयुक्त सदस्य संयुक्त सम्पत्ति का स्वामी नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता। दायभाग (१३।११-१२) ने लिखा है कि विश्वरूप एवं जितेन्द्रिय का मत भी ऐसा ही है, यदि ऐसा कार्य चोरी कहा भी जाय तो यह पाप नहीं है, क्योंकि स्मृतियों ने आगे चलकर विभाजन कर देने की अनुमति दे ही दी है। विवादरत्नाकर (पृ० ५२६) के मत से हलायुध ने भी ऐसे कार्य को चोरी के समान पापमय नहीं माना है। किन्तु मिताक्षरा, अपरार्क (पृ० ७३२), व्यवहार-प्रकाश (पृ० ५५५) ने मनु (९।२१३) एवं ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार इसे चोरी के समान ही परिगणित किया है। और देखिए जैमिनि (६।३।२०), मिता० (याज्ञ० २।१२६), दायभाग (१३।१६, पृ० २२७-२२८), कात्यायन (८४२) एवं बृहस्पति (स्मृतिच०, पृ० २७३, वि० र० पृ० ४९८)।

विभाजन हुआ है या नहीं इस विषय में जानकारी के लिए याज्ञ० (२।१४९) ने बन्धु-बान्धवों, मामा तथा अन्य साक्षियों की गवाहियों, लेख-प्रमाण, पृथक् हुई भूमियों या घरों को प्रमाणों के रूप में माना है। नारद (दायभाग, ३६-४१) ने इनके अतिरिक्त पृथक्-पृथक् रूप से किये जाते हुए धार्मिक कृत्यों को भी प्रमाण माना है। ऋणों का आदान-प्रदान, पशु, भोजन, खेत, नौकर, भोजन-पात्र, आय-व्यय का ब्यौरा आदि भी प्रमाण हैं। केवल विभाजित व्यक्ति ही एक-दूसरे के साक्षी, प्रतिभू, ऋणदाता आदि हो सकते हैं। याज्ञ० (२।५२) ने भी कहा है कि भाइयों, पति-पत्नी, पिता-पुत्र के बीच, जब तक वे अविभाजित हैं, कोई भी एक-दूसरे का साक्षी, ऋण लेनेवाला या देनेवाला, प्रतिभू नहीं हो सकता। नारद (दायभाग ४१) एवं कात्यायन (८९३) का कथन है कि दस वर्षों के उपरान्त ही (संयुक्त परिवार से अलग होने पर) सदस्य-गण एक-दूसरे से, जहाँ तक संयुक्त सम्पत्ति का प्रश्न है, अलग समझे

५८. यो वै भागिनं भागान्नुदते चयते वैनं स यदि वैनं न चयतेऽथ पुत्रमथ पौत्रं चयते त्वेवैनमिति। ऐ० ब्रा० (६।७)। इसे मिता० (याज्ञ० २।१२६) एवं व्य० म० (पृ० १३१) ने गौतम का वचन माना है। परा० मा० (३ पृ० ५६६), स० विलास (पृ० ४३८) एवं व्य० प्र० (पृ० ५५५) ने इसे सम्यक् रूप से श्रुतिवचन माना है।

जायँगे। बृहस्पति का कथन है कि जहाँ साक्षी न हों और न लेख-प्रमाण हों वहाँ विभाजन के विषय में निष्कर्ष अनुमान से निकालना चाहिए।

पिता या पितामह की स्वार्जित सम्पत्ति के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। मिताक्षरा के सिद्धान्त के अनुसार पुत्र का जन्मकाल से ही पिता की स्वार्जित सम्पत्ति पर अधिकार हो जाता है, किन्तु उसे यह अधिकार नहीं है कि वह पिता को अपना धन हटाने-बढ़ाने से रोके, किन्तु वह ऐसा करने के लिए पिता को अनुमति दे सकता है। पिता द्वारा अर्जित अचल सम्पत्ति एवं पशु बिना पुत्रों की सहमति के हटाये-बढ़ाये या दान नहीं किये जा सकते। जो जन्म ले चुके हैं, जो अभी नहीं जन्मे हैं या जो अभी माता के गर्भ में हैं वे सभी जीविका पा सकते हैं, अतः दान या विक्रय नहीं हो सकता। किन्तु ये बातें जिन्हें मिताक्षरा ने दो स्मृतियों से उद्धृत किया है, मिताक्षरा एवं दायभाग द्वारा केवल कम या अधिक उपदेशात्मक रूप में ही कही गयी हैं। यदि पिता बिना पुत्रों की सहमति के स्वार्जित सम्पत्ति का लेन-देन करता है, तो यह स्मृति-विरुद्ध कहा जायगा, किन्तु वैसा करना अवैधानिक नहीं है, क्योंकि कोई तथ्य सैकड़ों वचनों से परिवर्तित नहीं किया जा सकता। ऐसी बात नहीं है कि सर्वप्रथम मिताक्षरा ने ही स्वार्जित धन के इस अधिकार की घोषणा की है। शताब्दियों पूर्व विष्णुधर्मसूत्र (१७।१) ने ऐसा कहा था कि पिता स्वार्जित धन को इच्छानुसार बाँट सकता है। कात्यायन (८३९) ने कहा है कि पुत्र का पिता के स्वार्जित धन पर स्वामित्व नहीं है। जब याज्ञ० (२।१४) पिता को ज्येष्ठ पुत्र के लिए विशिष्ट भाग या पुत्रों में समान भाग देने की अनुमति देते हैं तो इसको मिताक्षरा ने केवल पिता की स्वार्जित सम्पत्ति से ही सम्बन्धित माना है। और देखिए नारद (दायभाग, १२) तथा शंख-लिखित। जब मनु (९।१-४) ऐसा कहते हैं कि पुत्रों को माता-पिता के रहते सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं है तो इसका संकेत पिता-माता की स्वार्जित सम्पत्ति की ओर है।

श्री किशोरीलाल सरकार ने टैगोर व्याख्यान-माला में ऐसा कहा है कि मिताक्षरा पर बौद्ध प्रभाव है। किन्तु उन्होंने अपनी इस उक्ति के लिए कोई समर्थ प्रमाण नहीं दिया है। उनके तर्क सर्वथा आत्मगत हैं और किसी प्राचीन या मध्यकालिक स्मृति-वचन पर आधारित नहीं हैं। ऐसा लगता है कि पुत्र का विभाजन-सम्बन्धी अधिकार, उसकी पिता के साथ समानता, व्यक्ति का स्वार्जित धन पर पूर्ण अधिकार आदि मान्यताएँ क्रमशः विकसित होती आयी हैं और उनका बौद्ध विचार से कोई सम्बन्ध नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अतिरिक्त बौद्धों के पास कोई व्यवहार-सम्बन्धी स्वतन्त्र विचार नहीं थे। मध्यकाल में बरमा-जैसे बौद्ध देशों के समक्ष मनु के ही व्यवहार, नियम आदि उदाहरण-स्वरूप थे। इस विषय में हमने इस अध्याय के आरम्भ में ही विवेचन कर लिया है।

विभिन्न प्रकार के पुत्र; मुख्य एवं गौण पुत्र

इस ग्रन्थ के भाग २, अध्याय ९ में हमने ऋग्वेद, तैत्तिरीय संहिता, शतपथब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, सूत्रों एवं स्मृतियों की उन उक्तियों का विवेचन कर लिया है जो पुत्रोत्पत्ति के आध्यात्मिक पहलू एवं कल्याण पर प्रकाश डालती हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (३३।१) में पुत्रोत्पत्ति से साध्य प्रमुख उपयोगों पर प्रकाश डाला गया है, यथा—पितृ-ऋण से मुक्ति, अमृतत्व की प्राप्ति एवं दिव्य लोकों की प्राप्ति। अति प्राचीन काल में इन्हीं प्रमुख उपयोगों के लिए पुत्र की कामना की जाती थी। मनु (९।१०६-१०७) एवं याज्ञ० (१।७८) ने भी इन कल्याणप्रद उपयोगों की चर्चा की है। पुत्रोत्पत्ति की इच्छा का तात्पर्य था कुल को आगे लेते जाना और उसे अविच्छेद्य बनाना ('वंशस्य अविच्छेदः', मिताक्षरा की उक्ति) एवं धार्मिक संस्कार विधियाँ एवं अग्निहोत्र आदि करते जाना एवं उनकी रक्षा करना। प्राचीन समाज में, अधिकांशतः सभी स्थानों में, यह इच्छा बलवती रही है। शतपथब्राह्मण (१२।४।३।१) का कथन है—"पिता आगे चलकर (वृद्धावस्था में) पुत्र पर निर्भर रहता है और पुत्र आरम्भिक जीवन में पिता पर।" निरुक्त (३।४) ने एक

ऋग्वेदीय वचन उद्धृत किया है--"तू सभी अंगों से जन्मा है, (पिता के) हृदय से, तू किसी का पुत्रसंज्ञक अपना आत्मा है; तू सैकड़ों शरदों (अर्थात् वर्षों तक) जीवित रह।"[५९] क्रमशः भावना उठी (सम्भवतः व्युत्पत्तिकारों द्वारा) कि पुत्र 'पुत्' नामक नरक से पिता को बचाता है, जैसा कि मनु (९३।१३८=आदिपर्व २२९।१४=विष्णु १५।४४) ने कहा है।[६०] प्राचीन ग्रन्थों में पुत्र का पितृ-श्राद्ध से सम्बन्धित पिण्डदान के साथ कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता। उन ग्रन्थों में इसकी महत्ता की विशेष चर्चा नहीं है। किन्तु सूत्रों एवं मनु आदि स्मृतियों में पिण्डदान से उत्पन्न उपयोगिता की ओर विशेष रूप से संकेत मिलता है। मनु (९।१३६) ने पुत्रिकापुत्र के विषय में लिखते हुए घोषित किया है--"उसे (अपने मातामह को) पिण्ड देना चाहिए और उसकी सम्पत्ति लेनी चाहिए। पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र पितरों को पिण्ड देते हैं अतः उन्हें अत्यधिक प्रशंसा मिलती है।" मनु (९।१३६) ने कहा है--"पुत्र (के जन्म) से मनुष्य उच्च लोकों की प्राप्ति करता है, पौत्रों द्वारा (उन लोकों में) अनन्तता (अमरता) प्राप्त करता है, पुत्र के पौत्रों से सूर्यलोक को विजय करता है।"[६१] विष्णुधर्मसूत्र (८५।६७) ने घोषित किया है--"मनुष्य को (इस विचार) से बहुत-से पुत्रों की कामना करनी चाहिए कि उनमें से कोई गया जायगा या अश्वमेध करेगा या (अपने पिता के सम्मान में) काला बैल छोड़ेगा।"[६२] बृहस्पति (परा० मा० १।२, पृ० ३०५) का कथन है--"नरक में गिरने के भय से पितर लोग पुत्रों की कांक्षा करते हैं; (वे सोचते हैं कि) उनमें कोई गया जा .गा, उनमें कोई उन्हें बचायेगा, कोई बैल छोड़ेगा, कोई यज्ञों को सम्पादित करेगा, जन-कल्याण के कार्य (यथा तालाब, मन्दिर, वाटिका) करेगा, बुढ़ौती में उनकी सहायता करेगा और अनुदिन श्राद्ध करेगा।" मत्स्यपुराण (२०४।३-१७) में पितृगाथा नामक पद्य आये हैं जिनमें मृत पूर्वजों की इच्छाएँ व्यक्त हैं, यथा--उनके वंशज पवित्र जलों में तर्पण करेंगे, श्राद्ध-कर्म में लीन होंगे, गया जायँगे, भाँति-भाँति के दान करेंगे, यथा--तालाब, मन्दिर आदि का निर्माण आदि।

उपर्युक्त विवेचनों से ऐसा नहीं समझना चाहिए की पुत्र की कांक्षा के भीतर शुद्ध लौकिक कल्याण की भावनाएँ नहीं थीं। लोगों में ऐसी भावनाएँ थीं, किन्तु वे पुत्रों से उत्पन्न आध्यात्मिक एवं धार्मिक कल्याणों से सम्बन्धित अतिशय विचारों की बाढ़ में डूब-सी गयी थीं। उदाहरणार्थ, बृहदारण्यकोपनिषद् (१।५।१६) ने मनुष्यों, पितरों एवं देवों के लोकों की चर्चा के उपरान्त घोषित किया है कि मनुष्यों के लोक पर पुत्र द्वारा ही विजय प्राप्त होती है (१।५।१७ में पुत्र की स्तुति की गयी है और उसे उपदेश दिया गया है कि वह ब्रह्म है, यज्ञ है और है दैवी लोक)। नारद (४।५)

५९. तदेतदृक्श्लोकाभ्यामभ्युक्तम्। अङ्गादङ्गात् संभवसि हृदयादधि जायसे। आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥ निरुक्त (४।३)।

६०. बौधायनगृह्यपरिभाषा (१।२।५) में उद्धृत है--"पुदिति नरकस्याख्या दुःखं च नरकं विदुः। पुदि त्राणात्ततः पुत्त्रमिहेच्छन्ति परत्र च॥" शंख-लिखित (वि० र० पृ० ५५५) का कहना है--आत्मा पुत्र इति प्रोक्तः पितुर्मातुरनुग्रहात्। पुन्नाम्नस्त्रायते यस्मात्पुत्त्रस्तेनासि संज्ञितः॥

६१. पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते। अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम्॥ मनु (९।१३७)। यह वसिष्ठ० (१७।५) एवं बौधायन० (२।९।७), विष्णु० (१५।४६) में भी पाया जाता है।

६२. एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोपि गयां व्रजेत्। यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत्॥ विष्णु० (८५।६७=मत्स्यपुराण २२।६=वायुपुराण १५०।१०=ब्रह्मपुराण २२०।३२-३३। मिलाइए अत्रिस्मृति (५५); कांक्षन्ति पितरः पुत्रान्नरकापातभीरवः। गयां यास्यति यः कश्चित्सोस्मान्सन्तारयिष्यति॥ करिष्यति वृषोत्सर्गमिष्टापूर्तं तथैव च। पालयिष्यति वृद्धत्वे श्राद्धं दास्यति चान्वहम्॥ बृहस्पति (परा० मा० १।२, पृ० ३०५)।

का कथन है—"पितृ गग हृदय में विचार करके अपने लिए ही पुत्रों की अभिकांक्षा करते हैं; 'वह मुझे छोटे एवं बड़े (कर्ज एवं पितृ-) ऋणों से स्वतन्त्र करेगा।" कात्यायन (५५१) ने भी ऐसा ही कहा है।[६३]

अधिकांश प्राचीन स्मृतिकारों ने **औरस पुत्र** के अतिरिक्त ११ या १२ गौण पुत्रों का उल्लेख किया है। आपस्तम्ब ने औरस के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार के पुत्र को मान्यता नहीं दी है। आपस्तम्ब ने एक प्राचीन ऋषि औपजंघनि के कथन को उद्धृत कर कहा है कि पहले भी केवल औरस को ही मान्यता दी गयी थी (बौधायन ने भी इस ऋषि का उल्लेख किया है)। आपस्तम्ब (२।५।१३।१०) ने बलपूर्वक कहा है कि पुत्र का वास्तविक दान या क्रय नहीं हो सकता (दानं क्रयधर्मश्चापत्यस्य न विद्यते)। किन्तु आपस्तम्ब को **क्षेत्रज** पुत्रों के विषय में जानकारी थी और उन्होंने इसे वर्जित किया है। एक स्थान पर आपस्तम्ब (२।६।१३।१-५) में आया है—"जो पुत्र, ऐसे व्यक्ति द्वारा उत्पन्न हैं, जो उचित ऋतु में अपनी ही जाति की स्त्री के पास जाता है (जो दूसरे की पत्नी नहीं है) जिससे शास्त्रविहित विवाह हुआ है, वे अपनी जाति के कर्मों को करते हैं और रिक्थाधिकार पाते हैं; यदि कोई व्यक्ति ऐसी स्त्री से संभोग करता है जिसका विवाह दूसरे से पहले हो चुका है या जिससे शास्त्रानुकूल विवाह नहीं हुआ है या जो दूसरी जाति की है, तो दोनों पाप करते हैं और उनसे उत्पन्न पुत्र भी दोषी हो जाता है।"[६४] आगे आपस्तम्ब (२।१०।२७।२-६) ने **नियोग** की निन्दा की है—"पति (या उसके श्रेष्ठ लोगों) को सगोत्र पत्नी दूसरे (जो सगोत्र नहीं है) के लिए नहीं देनी चाहिए, क्योंकि ऐसा घोषित है कि वधू कुल को दी जाती है (पति के कुल को न कि केवल पति को)। किंतु मनुष्य की इन्द्रिय-दुर्बलता के कारण ऐसा व्यवहार करना अब वर्जित है। सगोत्र का हाथ भी (क़ानून के अनुसार) दूसरे का कहा जाता है, यहाँ तक कि (पति के अतिरिक्त) किसी दूसरे व्यक्ति का (हाथ) भी वैसा ही है। यदि विवाह-शपथ का व्यतिक्रम हो तो दोनों नरक में पड़ते हैं।"

गौतम (२८।३०-३१), बौधा० (२।२।१४-३७), वसिष्ठ० (१७।१२-३८), अर्थशास्त्र (३।७), शंख-लिखित (व्य० र० पृ० ५४७), हारीत (व्य० र० ५४९), मनु (९।१५८-१६०), याज्ञ० (२।१२८-१३२), नारद (दायभाग, ४५-४६), कात्या० (व्य० नि०, पृ० ४३४-४३५), बृहस्पति, देवल (हरदत्त, गौ० २८।३२; दायभाग १०।७-८, पृ० १४७; व्य० र० पृ० ५५०), विष्णु० (१५।१-३०), महाभारत (आदिपर्व १२०।३१-३४), ब्रह्म-पुराण (अपरार्क पृ० ७३७), यम (व्य० र० पृ० १४७) ने विभिन्न प्रकार के पुत्रों की तालिका विभिन्न अनुक्रमों एवं विभिन्न नामों के साथ दी है। मनुस्मृति के आधार पर निम्न लिखित तालिका पुत्रों की संख्या, कोटि एवं महत्ता पर प्रकाश डालती है।[६५]

६३. इच्छन्ति पितरः पुत्रान् स्वार्थहेतोर्यतस्ततः। उत्तमर्णाधमर्णभ्यो मामयं मोचयिष्यति॥ नारद (ऋणादान, ५)। और देखिए द्रोणपर्व (१७३।५४); विवादताण्डव (कमलाकर); पितॄणां सूनुभिर्जातैर्दानेनैवाधमादृणात्। विमोक्षस्तु यतस्तस्मादिच्छन्ति पितरः सुतान्॥ कात्या० (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १६८; परा० मा० ३, पृ० २६३)।

६४. सवर्णापूर्वशास्त्रविहितायां यथर्तु गच्छतः पुत्रास्तेषां कर्मभिः सम्बन्धः। दायेन...पूर्ववत्यामसंस्कृतायां वर्णान्तरे च मैथुने दोषः। तत्रापि दोषवान्पुत्र एव। आप० ध० सू० (२।६।१३।१-४); सगोत्रस्थानीयां न परेभ्यः समाचक्षीत। कुलाय हि स्त्री प्रदीयत इत्युपदिशन्ति। तदिन्द्रियदौर्बल्याद्विप्रतिपन्नम्। अविशिष्टं हि परत्वं पाणेः। तद्व्यतिक्रमे खलु पुनरुभयोर्नरकः। आप० ध० सू० (२।१०।२७-२-६)।

६५. आदिपर्व (१२०।३३) में औरस को स्वयंजात कहा गया है। सम्भवतः आदिपर्व में आये हुए प्रणीत, परिक्रीत एवं स्वैरिणीपुत्र क्रम से पुत्रिकापुत्र, क्षेत्रज एवं गूढ़ज हैं। स्वयंजातः प्रणीतश्च परिक्रीतश्च यः सुतः। पौन-

पुत्रों के प्रकार (मनु के अनुसार)	गौतम	बौधायन	कौटिल्य	वसिष्ठ	हारीत	शंख-लिखित	याज्ञवल्क्य	नारद	बृहस्पति	देवल	विष्णु	आदिपर्व	यम	ब्रह्मपुराण
१. औरस ...	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
२. पुत्रिकापुत्र ...	१०	२	२	३	५	३	२	३	२	२	३	२	३	२
३. क्षेत्रज ...	२	३	३	२	२	२	३	२	३	३	२	३	२	३
४. दत्त ...	३	४	९	८	७	९	७	९	४	९	८	७	९	४
५. कृत्रिम ...	४	५	११	...	...	...	९	११	७	११	१२	९	१०	६
६. गूढ़ोत्पन्न ...	५	६	४	६	६	६	४	६	१२	५	६	६	६	९
७. अपविद्ध ...	६	७	५	११	९	७	१२	८	५	६	११	...	७	८
८. कानीन ...	७	८	६	५	४	५	५	४	१०	४	५	५	५	१०
९. सहोढ ...	८	९	७	७	१०	८	११	५	११	७	७	११	८	११
१०. क्रीत ...	१२	१०	१२	९	८	१०	८	१०	६	१२	९	८	११	७
११. पौनर्भव ...	९	११	८	४	३	४	६	७	९	८	४	४	४	१२
१२. स्वयंदत्त ...	११	१२	१०	१०	११	१२	१०	१२	...	१०	१०	१०	१२	५
१३. शौद्र ...	...	१३	...	१२	...	११	...	...	८	...	...	१२	...	१३

विष्णुधर्मसूत्र (१५।१७) ने **'यत्र-क्वचनोत्पादित'** (कहीं भी उत्पन्न किया गया) को बारहवाँ एवं अन्तिम पुत्र माना है। वैजयन्ती ने इसे दो प्रकार से समझाया है--(१) ऐसी स्त्री से उत्पन्न, जो उत्पन्न करनेवाले की अपनी हो या दूसरे की पत्नी हो--यह न पता चले, या अपनी जाति की हो या दूसरी जाति की हो, चाहे विवाहोपरांत उससे पुरुष-संसर्ग हुआ हो या न हुआ हो; (२) ऐसी स्त्री का पुत्र जो शूद्रा हो और अविवाहित हो। अन्तिम अर्थ में भी वह **शौद्र** नहीं कहलायेगा। मनु (९।१७८) एवं याज्ञ० (१।९१) ने **शौद्र** को ब्राह्मण की शूद्रा पत्नी से उत्पन्न माना है। कतिपय लेखकों ने **शौद्र** को छोड़ दिया है, यथा पुराने लेखक गौतम, कौटिल्य एवं हारीत। हारीत ने 'सहसा दृष्ट' नामक एक पुत्र का नाम लिया है, जो सम्भवतः **कृत्रिम** है। मनु ने केवल १२ पुत्रों के नाम दिये हैं (९।१५८)। उन्होंने

भंवश्च कानीनः स्वैरिण्यां यश्च जायते ॥ दत्तः क्रीतः कृत्रिमश्च उपगच्छेत् स्वयं च यः। सहोढो ज्ञातिरेताश्च हीनयोनिधृतश्च यः॥ पूर्वपूर्वतमाभावं मत्वा लिप्सेत वै सुतम्। उत्तमाद्देवरात्पुंसः कांक्षन्ते पुत्रमापदि॥ आदिपर्व (१२०। ३३-३५)। हमारी समझ से ज्ञातिरेता शौद्र के समान सहोढ एवं हीनयोनिधृत का विशेषण है। यह अवलोकनीय है कि अनुशासनपर्व (४९।३-११) ने कुल मिलाकर बीस पुत्रों के नाम गिनाये हैं, और बहुतों के बारे में विलक्षण संज्ञाएँ दी गयी हैं, यथा--औरस (अनन्तरज), निरुक्तज (क्षेत्रज), प्रसृतज (अनियोगोत्पन्न), पतितात्स्वभार्यायां जात और दत्त, क्रीत, अध्यूढ (सहोढ), अपध्वंसज (अर्थात् अनुलोम), कानीन, अपसद (चाण्डाल, व्रात्य, वैद्य, मागध, वामक एवं सूत)। अनुशासनपर्व (४९।११) में आया है कि इन पुत्रों की पुत्र-स्थिति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उसका कहना है (४९।२०-२१) कि यदि कोई पुत्र अपने माता-पिता द्वारा त्याग दिया जाय और उसे कोई अन्य पाले तो वह पालने वाले का पुत्र कहा जायगा और कानीन एवं अध्यूढ (सहोढ) के संस्कार अपने पुत्र के समान ही किये जाते हैं।

पुत्रिकापुत्र को उनके साथ नहीं गिनाया है, यद्यपि उन्होंने अन्यत्र (९।१२७ एवं १३४) **पुत्रिका** नाम दिया है और उसे पुत्र के बराबर कहा है। इसी से बृहस्पति ने कहा है कि मनु द्वारा उल्लिखित १३ पुत्रों में **औरस** एवं **पुत्रिका** (पुत्र के समान ग्रहण की गयी पुत्री) को कुल चलानेवाले की संज्ञा मिली है। वसिष्ठ (१७।१२) ने बलपूर्वक कहा है कि प्राचीन ऋषियों ने केवल १२ पुत्र ही माने हैं और यह सत्य है कि प्राचीन लेखकों में अधिकांश ने १२ संख्या ही गिनायी है (द्वादश इत्येव पुत्राः पुराणदृष्टाः)। गौतम की व्याख्या करते हुए हरदत्त ने तथा दत्तकमीमांसा ने पुत्रों के १५ प्रकार दिये हैं।[६६] पंद्रह की यह संख्या **पुत्रिका** (पुत्र के समान नियुक्त कन्या) एवं **पुत्रिकापुत्र** (नियुक्त कन्या का पुत्र) दोनों को अलग-अलग लेकर पूर्ण हुई है। इसी प्रकार **क्षेत्रज** को भी दो भागों में बाँटा गया है; गर्भदाता का पुत्र एवं पत्नी (पत्नी के पति का) का पुत्र, तथा ऐसा पुत्र जो कहीं भी उत्पन्न किया गया है यह १५वाँ तथा अन्तिम है। पराशर-स्मृति (४।२३-२४) ने **कुण्ड** एवं **गोलक** के अतिरिक्त केवल पाँच पुत्रों की चर्चा की है।

आगे कुछ लिखने के पूर्व मनु एवं अन्य लेखकों द्वारा दिये गये बारह या तेरह पुत्रों की परिभाषा देना आवश्यक है। **औरस** तो समान जाति की अपनी पत्नी से उत्पन्न पुत्र है। **पुत्रिकापुत्र**[६७] दो प्रकार का है; (१) कोई पुत्रहीन व्यक्ति अपनी पुत्री को पुत्र के समान नियुक्त कर सकता है (वह **पुत्रिका** कही जाती है और पुत्र के समान मानी जाती है); (२) या वह किसी अन्य को यह कहकर दी जाती है कि 'मैं इस भ्रातृहीन कन्या को आभूषणों से अलंकृत कर तुमसे ब्याहता हूँ, इससे उत्पन्न पुत्र मेरा होगा।' इस स्थिति में दी गयी कन्या का पुत्र, अपने नाना का पुत्र हो जाता है। **क्षेत्रज** (पत्नी का पुत्र) वह है, जो किसी की पत्नी (या विधवा) से किसी सगोत्र द्वारा या जो सगोत्र न हो उससे, नियोग नियम के अनुसार, जब कि व्यक्ति (पति) या तो मर गया है या क्लीव (नपुंसक) है या किसी असाध्य रोग से पीड़ित है, उत्पन्न किया जाता है। वह पुत्र **दत्तक** या **दत्त्रिम** कहलाता है, जिसे माता या पिता विपत्ति-काल में या स्नेहवश जल के

६६. औरसः पुत्रिका बीजिक्षेत्रजौ पुत्रिकासुतः। पौनर्भवश्च कानीनः सहोढो गूढसम्भवः।। दत्तः क्रीतः स्वयंदत्तः कृत्रिमश्चापविद्धकः। यत्र क्वचोत्पादितश्च पुत्राख्या दश पञ्च च।। स्मृति (हरदत्त द्वारा गौतम २८।३२ की टीका में तथा दत्तकमीमांसा पृ० ६८ में उद्धृत)। 'बीजिक्षेत्रज' में बीजिज एवं क्षेत्रज दोनों सम्मिलित हैं। बीजी उसे कहते हैं जो नियोग-प्रथा के अनुसार पुत्र उत्पन्न करने के लिए नियुक्त किया जाता है, उसी के पुत्र को बीजिज कहते हैं, कुछ लोग उसे बीजी एवं पति-पत्नी दोनों दलों का पुत्र कहते हैं। ऐसा ही मनु (९।५१-५३), गौतम (४।३) का कथन है। डा० जॉली (टैगोर लॉ लेक्चर्स) ने बीजिज को दूसरे व्यक्ति की पत्नी से उत्पन्न माना है, किन्तु यह अर्थ त्रुटिपूर्ण है। और देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय १३, जहाँ बीजी, क्षेत्र (अर्थात् पत्नी) एवं क्षेत्रिक का वर्णन है। तद्वत् परस्त्रियाः पुत्रौ द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ। पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तरि गोलकः।। औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिमकः सुतः। दद्यान्माता पिता वापि स पुत्रो दत्तको भवेत्।। पराशर (४।२३-२४)। लघु-आश्वलायन (२१।१४-१५) का कथन है कि यद्यपि कुछ ऋषियों के मत से कुण्ड एवं गोलक के संस्कार किये जाते हैं, किन्तु ऐसा प्राचीन युगों में होता था, अब कलियुग में यह वर्जित है।

६७. पुत्रिकासुतो द्वेधा। तत्राद्यमाह वसिष्ठः (१७।१७)--अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम्। अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भविष्यति।। इति। अन्त्यमाह स एव--तृतीयः पुत्रिकैव--इति। अस्मिन्पक्षे कन्ययैव पितुरौर्ध्वदेहिकादि कार्यम्। व्य० मयूख (पृ० १०७)। ऊपर प्रथम अर्थ में पुत्रिकापुत्र को "पुत्रिका एव पुत्रः" (कर्मधारय समास) और दूसरे अर्थ में "पुत्रिकायाः पुत्रः" (तत्पुरुष समास) कहा गया है। यही बात मिताक्षरा (याज्ञ० २।१२८) ने भी कही है।

साथ दे देते हैं और जो लेनेवाले की जाति का ही होता है। उसे **कृत्रिम** की संज्ञा मिली है जिसे कोई व्यक्ति अपना पुत्र बनाता है, ऐसे पुत्र की जाति बनाने वाले के समान ही होती है और वह अच्छे एवं बुरे की पहचान करने में दक्ष होता है तथा पुत्र की सभी विशिष्टताओं से युक्त होता है। उसे **गूढोत्पन्न** या गूढज (बौधायन एवं याज्ञवल्क्य के मत से) कहा जाता है, जो किसी के घर में जन्म लेता है, किन्तु उसके पिता (जन्मदाता) का पता नहीं होता; वह उसी का होता है जिसकी पत्नी से वह उत्पन्न होता है। उसे **अपविद्ध** कहते हैं जो अपने माता-पिता या उनमें से किसी एक द्वारा त्याग दिया गया है और जिसे कोई अपने पुत्र के समान ही ग्रहण करता है। **कानीन** पुत्र वह है जिसे अविवाहित (कुमारी) कन्या अपने पिता के घर में गुप्त रूप से जनती है, और जो उसका पुत्र हो जाता है जिसे वह आगे चलकर ब्याहती है। **सहोढ** (वधू अर्थात् दुलहिन के साथ प्राप्त) उस स्त्री का पुत्र है जो विवाह के समय गर्भवती रहती है, चाहे यह बात होनेवाले पति को ज्ञात हो या अज्ञात हो; यह पुत्र उसका पुत्र कहलाता है जो गर्भवती से विवाह करता है। **क्रीत** (खरीदा हुआ पुत्र) वह है जिसे पुत्र बनाने के लिए कोई उसके माता-पिता से खरीदता है, चाहे वह गुणों में समान हो या असमान। **पौनर्भव** (पुनर्विवाहित स्त्री का पुत्र) वह है जिसे अपने पति द्वारा छोड़े जाने या विधवा हो जाने पर कोई स्त्री स्वेच्छा से किसी अन्य व्यक्ति से विवाह करने के उपरान्त जनती है। **स्वयंदत्त** (अपने से दिया गया पुत्र) वह है जो अपने माता-पिता के नष्ट हो जाने पर या उनके द्वारा त्यक्त होने पर स्वयं अपने को किसी को दे देता है। वह पुत्र, जो किसी ब्राह्मण द्वारा विषयासक्त होने पर किसी शूद्रा पत्नी से उत्पन्न किया जाता है, **पारशव** (या शौद्र) कहलाता है, क्योंकि वह जीवित रहते भी शव के समान है।

ऊपर वर्णित बारह या तेरह प्रकार के पुत्रों की लम्बी सूची देखकर बहुत-से विद्वानों ने इतने पुत्रों की आवश्यकता एवं मूल के विषय में बहुत-से अनाप-सनाप एवं अयथार्थ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। डॉ० जॉली का कथन है कि भारतीय कुल-व्यवहार में यह एक अत्यन्त अनोखी बात है कि बारह प्रकार के पुत्रों को मान्यता मिली है, जिनमें कुछ तो माता के अवैध संसर्ग के परिणाम हैं और पिता के रक्त-सम्बन्ध से उनका कोई नाता नहीं है। इसके कारण के मूल में है पुत्र-प्राप्ति के प्रति असामान्य महत्ता-प्रदर्शन, क्योंकि स्मृतियों ने पितृ-श्राद्ध को महत्ता दी है और वह भी पुत्र द्वारा सम्पादित होने पर; तथापि आरम्भ में इस महत्ता के प्रति आर्थिक पहलू ही एक बड़ा तत्त्व था, अर्थात् कुल के लिए, जहाँ तक सम्भव हो सके, अधिक-से-अधिक शक्तिशाली कार्यकर्ताओं की प्राप्ति की जा सके। विद्वान् लेखक के कहने का तात्पर्य तो यह हुआ कि मानो स्मृतियों ने सभी प्रकार के गौण पुत्रों को आध्यात्मिक कल्याण का माध्यम माना है, और मानो एक व्यक्ति सभी प्रकार के पुत्रों को या अधिकांश को पुत्र के समान अपने यहाँ रख छोड़ता है! डा० जाली दोनों बातों में त्रुटिपूर्ण हैं। **पुत्रिकापुत्र, क्षेत्रज** एवं **दत्तक** पुत्रों की परिभाषा से ही यह व्यक्त है, जैसा कि बहुत-सी स्मृतियों ने ऐसा कहा है,[६८] कि जिसे **औरस** पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र हो वह **पुत्रिकापुत्र, क्षेत्रज** पुत्र या **दत्तक** पुत्र नहीं रख सकता। यदि बारहों या तेरहों प्रकार के पुत्रों का भली-भाँति विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि प्राचीन लेखकों ने परिस्थितियों के बहुत कम अन्तर के आधार पर किये जानेवाले विभाजनों एवं उपविभाजनों के लिए ही यह लम्बी

६८. अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्। मनु (९।१२७); पितोत्सृजेत्पुत्रिकामनपत्योऽग्निं प्रजापतिं चेष्ट्वास्म दर्थमपत्यमिति संवाद्य। गौतम (२८।१६); देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया। प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये।। मनु (९।५९); अपुत्रेणैव कर्तव्यः पुत्रप्रतिनिधिः सदा। पिण्डोदकक्रियाहेतोर्यस्मात्तस्मात्प्रयत्नतः।। अत्रि (५२, दत्तकमीमांसा पृ० ३ एवं दत्तकचन्द्रिका पृ० २)।

तालिका उपस्थित की। देवल के आधार पर बहुत से पुत्रों के प्रकार तीन या चार कोटियों में रखे जा सकते हैं।[६९] **दत्तक, क्रीत, कृत्रिम, स्वयंदत्त** एवं **अपविद्ध** नामक पाँच पुत्र ऐसे हैं जो विभिन्न परिस्थितियों के अन्तर्गत सम्बद्ध होते हैं। इनमें कोई भी माता के अवैध संसर्ग का फल नहीं है। एक ही बात, जो सब में पायी जाती है, वह यह है कि वे किसी व्यक्ति के पुत्र होते हैं और दूसरे द्वारा अपने पुत्र के रूप में ग्रहण किये जाते हैं। इसी प्रकार **पौनर्भव** एवं **शौद्र** व्यक्ति के ही वैधानिक पुत्र हैं, किन्तु उनके साथ निन्दा की भावना लगी हुई है, क्योंकि प्रथम के विषय में माता ने पुनर्विवाह किया (जिसे स्मृतियों ने बहुत गर्हित माना है) और दूसरे में दूसरे व्यक्ति ने शूद्रा नारी से विवाह किया (यह भी स्मृतियों द्वारा गर्हित माना गया है, किन्तु मना नहीं किया गया है, जैसा कि याज्ञ० १।५६ ने कहा है)। मनु (३।१८१) ने द्विज के **पौनर्भव** पुत्र को द्विज ही कहा है, किन्तु उसे श्राद्ध के समय आमन्त्रित किये जाने के अयोग्य ठहराया है। **पुत्रिका** (पुत्र के समान नियुक्त कन्या) व्यक्ति की अपनी पुत्री है और **पुत्रिकापुत्र** व्यक्ति का अपना पौत्र है, ये दोनों गोद लिये जाने के विशिष्ट उदाहरण हैं, और यहाँ माता के अवैधानिक संसर्ग की तो बात ही नहीं उठती। तो, तेरह प्रकार के पुत्रों में नौ पुत्र अवैधानिक संसर्ग से पूर्णतया अछूते हैं। अब चार बच रहते हैं; **क्षेत्रज, गूढ़ोत्पन्न, कानीन** एवं **सहोढ**। **क्षेत्रज** की अपनी विशिष्ट कोटि है और वह संसार भर के अधिकांश प्राचीन देशों के एक प्रचलित व्यवहार का अवशेष मात्र था, जिसे ईसा की कई शताब्दियों पूर्व आपस्तम्ब एवं उनसे पूर्व के लेखकों ने गर्हित मान लिया था। किन्तु यह बात कही जा सकती है कि मध्यकाल के कुछ लेखकों ने **दत्तक, क्रीत** आदि गौण पुत्रों में से बहुतों को **औरस** पुत्र के न रहने पर, किसी व्यक्ति द्वारा रखे जाने की व्यवस्था दी है। अनुशासनपर्व (४९।२०-२१) एवं नीलकण्ठ की टीका द्वारा यह अभिव्यक्त है कि स्मृतियों ने इस बात पर बल दिया था कि ऐसे पुत्रों के संस्कार अवश्य कर दिये जाने चाहिए, अन्यथा उन्हें उनके माता-पिता छोड़ देंगे या वे बेचारे अवैधानिकता के गहन गह्वर में पड़े रह जायँगे।

इन विभिन्न प्रकार के पुत्रों के स्थान एवं उनके अधिकारों के विषय में सूत्रों एवं स्मृतियों के वचनों में बड़ा मतभेद एवं सन्दिग्धता पायी जाती है। गौतम ने, जो सम्भवतः ज्ञात प्राचीन सूत्रकारों में सबसे प्राचीन हैं, **पुत्रिकापुत्र** को दसवाँ स्थान दिया है, बौधायन, कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति एवं देवल ने उसे दूसरा स्थान दिया है तथा वसिष्ठ, शंख-लिखित, नारद एवं विष्णु ने उसे तीसरा स्थान दिया है। मनु, गौतम, बौधायन, बृहस्पति एवं ब्रह्मपुराण के अतिरिक्त (जिन्होंने **दत्तक** को तीसरा या चौथा स्थान दिया है), अधिकांश लेखकों ने **दत्तक** को बहुत ही हीन स्थान दिया है। कुछ ग्रन्थों में बारहों प्रकार दो कोटियों में रखे गये हैं। गौतम (२८।३०-३१) के मत से **औरस, क्षेत्रज, दत्त, कृत्रिम, गूढोत्पन्न** एवं **अपविद्ध रिक्थभाज** (रिक्थाधिकार पानेवाले) हैं और सगोत्र (अपने पिता के गोत्र वाले) कहे जाते हैं, किन्तु अन्य शेष छः प्रकार केवल गोत्र ग्रहण करते हैं अर्थात् **गोत्रभाज** होते हैं किन्तु सम्पत्ति नहीं पाते (रिक्थाधिकारी नहीं होते)। बौधायन० (२।२।३६-३७) ने भी **रिक्थभाज** एवं **गोत्रभाज** शब्दों का व्यवहार किया है किन्तु गौतम से अन्तर दिखाकर **पुत्रिकापुत्र** को रिक्थभाजों के अन्तर्गत रखा है और उसे गोत्रभाजों से पृथक् कर दिया है।[७०] दूसरा

६९. एते द्वादश पुत्रास्तु सन्तत्यर्थमुदाहृताः। आत्मजाः परजाश्चैव लब्धा यादृच्छिकास्तथा।। देवल (दायभाग १०।७, पृ० १४७; वि० र० पृ० ५५०; हरदत्त, गौतम)। औरस, पुत्रिका, पौनर्भव एवं शौद्र 'आत्मज' कहे जायँगे; क्षेत्रज 'परज' कहा जायगा; दत्तक, कृत्रिम, क्रीत, स्वयंदत्त एवं अपविद्ध 'लब्ध' कहे जायँगे (और 'परज' भी); तथा गूढज, कानीन एवं सहोढ 'यादृच्छिक' कहे जायँगे।

७०. पुत्रा औरसक्षेत्रजदत्तकृत्रिमगूढोत्पन्नापविद्धा रिक्थभाजः। कानीनसहोढपौनर्भवपुत्रिकापुत्रस्वयंदत्तक्रीता गोत्रभाजः। गौतम (२८।३०-३१); एते गोत्रभाजो गोत्रमेव केवलं भजन्ते न रिक्थम्। पूर्वे तु रिक्थभाजो

विभाजन (प्रत्येक में छः) है--**बन्धुदायाद** या **दायादबान्धव** (मनु ९।१५८-१५९; नारद, दायभाग, ४७) एवं **अदायादबान्धव** (मनु ९।१६०; वसिष्ठ १७।३८; नारद, दायभाग, ४७)। मनु के अनुसार पहले दल में ये हैं--**औरस** (पुत्रिका भी), **क्षेत्रज, दत्त, कृत्रिम, गूढ़ोत्पन्न** एवं **अपविद्ध**। ये लोग **बन्धुदायाद** या **दायादबान्धव** इसलिए कहे जाते हैं कि ये अपने पिता एवं दायादों (सन्निकट के उत्तराधिकारियों के अभाव में) की सम्पत्ति पाते हैं। दूसरे दल में ये हैं (मनु ९।१६०)--**कानीन, सहोढ, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त** एवं **शौद्र**। ये लोग केवल **बान्धव** हैं, अर्थात् ये अपने पिता का गोत्र ग्रहण करते हैं, किन्तु पिता के दायादों की सम्पत्ति नहीं पाते। स्पष्ट है, इस विषय में भी स्मृतियों में मतैक्य नहीं है। वसिष्ठ० (१७।५-२५), शंख-लिखित (वि० र० पृ० २४७), नारद (दायभाग, ४७) एवं हारीत ने प्रथम दल में **औरस, क्षेत्रज, पुत्रिकापुत्र, पौनर्भव, कानीन** एवं **गूढज** को रखा है और शेष दूसरे दल में हैं। कौटिल्य का कथन है कि केवल **औरस** अपने पिता के दायादों का उत्तराधिकार प्राप्त करता है, और अन्य (जो पिता द्वारा उत्पन्न नहीं हैं) केवल पालने वाले पिता का उत्तराधिकार पाते हैं, दायादों का नहीं (अर्थशास्त्र ३।७)। गौतम (२८।३२) के मत से **कानीन** तथा अन्य **गोत्रभाज** पुत्र (२८।३१) **औरस** तथा अन्य **रिक्थभाज** पुत्रों के अभाव में पिता की सम्पत्ति का एक-चौथाई भाग पाते हैं और सम्पत्ति का शेषांश सपिण्ड लोग ले लेते हैं; किन्तु कौटिल्य, देवल एवं कात्यायन (८५७) के मत से **दत्तक, क्षेत्रज** तथा अन्य पुत्र यदि वे पिता की जाति के हैं तो औरस के उत्पन्न हो जाने से केवल एक-तिहाई का अधिकार पाते हैं, किन्तु यदि वे असमान वर्ण के हैं तो उन्हें केवल (औरस के उत्पन्न हो जाने के उपरान्त) भोजन-वस्त्र मिलता है। यदि पुत्रहीन व्यक्ति अपनी पुत्री को **पुत्रिका** बनाता है या अपने को क्लीब (नपुंसक) समझकर क्षेत्रज या दत्तक पुत्र लेता है और आगे चलकर उसे औरस पुत्र प्राप्त हो जाता है, तो ऐसी स्थिति में विभाजन की क्या गति होगी, इस विषय में मतैक्य नहीं है। मनु (९।१६३) का कथन है कि केवल **औरस** को ही सम्पूर्ण पैतृक सम्पत्ति पाने का अधिकार है, अन्य प्रकार के पुत्रों को निर्दयता के दोष से बचने के लिए केवल भोजन-वस्त्र देना चाहिए। किन्तु उस स्थिति में जब **पुत्रिका** के ग्रहण-उपरान्त **औरस** उत्पन्न हो जाता है तो मनु (९।१३४) ने व्यवस्था दी है कि दोनों को बराबर-बराबर मिलना चाहिए। मनु (९।१६४) ने औरस के लिए कहा है कि वह क्षेत्रज को पाँचवाँ या छठा भाग दे दे। विभिन्न प्रकार के पुत्रों के स्थान एवं उनके भागों के विषय में जो विरोधी एवं सन्दिग्ध बातें पायी जाती हैं, उससे एक अनुमान निकाला जा सकता है कि कई प्रकार के पुत्रों की संस्था या प्रथा बहुत प्रचलित नहीं थी और सामान्यतः उसको मान्यता नहीं प्राप्त थी, यह केवल कुछ स्थानों एवं जातियों में प्रचलित थी और प्राचीन स्मृतियों के समय में भी एक प्रकार से मृतप्राय थी।

गूढज, कानीन एवं **सहोढ** के विषय में यह कहा जा सकता है कि वे अवैधानिक संसर्ग के फल हैं, किन्तु किसी के द्वारा तो उनका पालन-पोषण होना ही चाहिए। किसी को तो उनकी जीविका के लिए प्रबन्ध करना चाहिए ही और

गोत्रभाजश्चौरसेन सहाभिधानात्। सर्वे चैते सजातीयाः। हरदत्त। रिक्थभाज का अर्थ यहाँ स्पष्ट नहीं है। क्या इसका अर्थ यह है कि 'वे अपने पिता एवं बन्धुओं की सम्पत्ति ग्रहण करते हैं?' या इसका अर्थ यह है कि 'वे केवल अपने पिता की सम्पत्ति लेते हैं तथा औरों की नहीं?' देवल का मत है कि प्रथम अर्थ में बन्धुदायाद की सम्पत्ति भी सम्मिलित है, 'तेषां षड् बन्धुदायादाः पूर्वेन्ये पितुरेव षट्।' देवल (दायभाग १०। ७ पृ० १४७)। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३२) एवं दायभाग ने प्रथम अर्थ को ही लिया है-- औरसादयः षड् न केवलं पितृदायहराः किन्तु बन्धूनामपि सपिण्डादीनां दायहराः। अन्ये परभूताः पितुरेव परं दायहरा न सपिण्डादीनाम्। दायभाग (१०।८, पृ० १४७)। स्वयंजातः पितृबन्धूनां च दायादः। परजातः संस्कर्तुरेव न बन्धूनाम्। अर्थशास्त्र (३।७)।

किसी को तो उनका अभिभावक होना ही पड़ेगा ! जब स्मृतियाँ उन्हें उनकी माता के पति की संततिरूप में ग्रहण करती हैं तो यह स्पष्ट है कि उन्होंने उनके भरण-पोषण एवं रक्षण की व्यवस्था कर दी है। बृहस्पति का कथन है कि यदि **दत्तक, अपविद्ध, क्रीत, कृत** एवं **शौद्र** शुद्ध जाति एवं शुद्ध कर्म के हैं तो वे **मध्यम** कहलाते हैं, किन्तु **क्षेत्रज, पौनर्भव, कानीन, सहोढ** एवं **गूढज** सज्जनों द्वारा गर्हित माने जाते हैं।[७१] **कानीन** कुमारी कन्या का पुत्र है, अतः वह तब तक अपनी कुमारी माता के पिता के यहाँ रहता है जब तक उसकी माता विवाहित न हो जाय (याज्ञ० २।१२९), किन्तु जब कुमारी विवाहित हो जाती है तो वह उसके (माता के) पति के संरक्षण में चला जाता है (मनु ९।१७२)। इस बात से स्पष्ट है कि पुत्र वाली कुमारी से विवाह करने के लिए जो व्यक्ति सन्नद्ध होता है वह उसके पुराने दोषों को क्षमा कर देता है। इसी भाँति **सहोढ** के विषय में भी कहा जा सकता है कि या तो वह विवाह करने वाले से उत्पन्न हुआ है या उसके होने वाले पिता ने अपनी होनेवाली पत्नी के दोषों को क्षमा कर दिया है। इससे प्रकट होता है कि जब इस प्रकार के पति ने प्रकट रूप से कोई विरोध नहीं किया तो किसी को भी यह कहने का अधिकार नहीं है और न प्रमाण उपस्थित करने की आवश्यकता है कि **कानीन** या **सहोढ** पुत्र छोड़ दिया जाय। यह बात **गूढज** के विषय में भी प्रयुक्त है।

हमने इस ग्रंथ के भाग २ के अध्याय ११ में देख लिया है कि यदि पत्नी व्यभिचार की दोषी है तो पति को उसे शुद्ध करने के कुछ अधिकार प्राप्त हैं, किन्तु यदि वह क्षमा कर दे तो स्मृतियाँ उसे यह नहीं आज्ञापित करतीं कि वह उसे त्याग दे। ये स्मृतियाँ, यथा—गौतम, वसिष्ठ एवं नारद, जो स्त्रियों के व्यभिचारों के प्रति कठोर हैं, **गूढज, कानीन** एवं **सहोढ** को गौण पुत्र के रूप में ग्रहण करती हैं। इन दो प्रकार के मनोभावों को हम इसी रूप से सुलझा सकते हैं कि जब पति विवाह करके स्त्री के नैतिक दोषों को क्षमा कर देता है, तो स्मृतियों ने भी अवैध संसर्ग से उत्पन्न पुत्रों के भरण-पोषण, रक्षण एवं उत्तराधिकार की व्यवस्था दे दी है। **पौनर्भव, कानीन, सहोढ** एवं **गूढज** के विषय में मध्य-काल के टीकाकारों में भी मतभेद रहा है। मेधातिथि (मनु ९।१८१) ने उन्हें केवल भोजन-वस्त्र का अधिकारी माना है, किन्तु मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३२) ने **कानीन** एवं अन्यों को **औरस** तथा अन्य पुत्रों के अभाव में पिता की सम्पत्ति का अधिकारी माना है। मिताक्षरा (याज्ञ० १।९०) का कथन है कि **कानीन, सहोढ** एवं **गूढज** व्यभिचार के फल होने के कारण अपनी माता के पति की जाति के नहीं कहे जा सकते, वे सवर्ण पुत्रों, यहाँ तक कि अनुलोम एवं प्रतिलोम पुत्रों से भी वास्तव में भिन्न हैं।

गौण पुत्रों से प्राप्त होनेवाले आध्यात्मिक फल के विषय में बहुत कुछ कहा जा सकता है। वैदिक एवं स्मृति-साहित्य में पुत्र के विषय में जो स्तुति-गान है वह **औरस** पुत्र के ही लिए है। मनु (९।१८०) का कथन है कि **औरस** एवं **पुत्रिका** के अतिरिक्त जो क्षेत्रज आदि ग्यारह प्रकार के पुत्र हैं वे वास्तविक पुत्र के प्रतिनिधि मात्र हैं और धार्मिक कृत्यों को समाप्त न होने देने के लिए नियन्त्रण-स्वरूप उनको मान्यता प्रदान हुई है। मनु (९।१८१) ने अन्तिम निष्कर्ष दिया है कि क्षेत्रज-जैसे पुत्र, जो दूसरों के बीज से उत्पन्न हैं, वास्तव में उन्हीं के पुत्र हैं जिनके बीज से उनकी

७१. दत्तोऽपविद्धः क्रीतश्च कृतः शौद्रस्तथैव च। जातिशुद्धाः कर्मशुद्धा मध्यमास्ते सुता मताः॥ क्षेत्रजो गर्हितः सद्भिस्तथा पौनर्भवः सुतः। कानीनश्च सहोढश्च गूढोत्पन्नस्तथैव च॥ बृहस्पति (वि० र० पृ० ५५२); हारीत (वि० र० पृ० ५५२) ने क्रीत, स्वयंदत्त एवं शौद्र को 'काण्डपृष्ठ' की संज्ञा दी है। शूद्रापुत्राः स्वयंदत्ता ये चैते क्रीतकास्तथा। सर्वे ते शौद्रिकाः पुत्राः काण्डपृष्ठा न संशयः॥ स्वकुलं पृष्ठतः कृत्वा यो वै परकुलं व्रजेत्। तेन दुश्चरितेनासौ काण्डपृष्ठो न संशयः॥ 'काण्डपृष्ठ' का शब्दार्थ है "जो अपनी पीठ पर बाणों को लेकर चलता है" (सम्भवतः वह ब्राह्मण जो आयुधजीवी है)।

उत्पत्ति हुई है; वे उनके पुत्र नहीं हैं जो उन्हें ग्रहण करते हैं। बृहस्पति ने लिखा है--"मनु ने क्रम से तेरह पुत्रों की गणना की है, किन्तु उनमें केवल **औरस** एवं **पुत्रिका** ही कुल को चलाने के लिए समर्थ हैं। जिस प्रकार घी के अभाव में यज्ञ के समय तेल को अच्छा कहा गया है उसी प्रकार औरस एवं पुत्रिका के अभाव में अन्य पुत्रों के ग्यारह प्रकारों को मान्यता मिली है (वे केवल प्रतिनिधि हैं न कि वास्तविक)।"[७२] यद्यपि याज्ञ० (२।१३२) ने घोषित किया है कि बारह पुत्रों में प्रत्येक क्रमानुसार प्रत्येक पूर्ववर्ती के अभाव में उत्तराधिकार पाता है, किन्तु पिण्डदान के कर्म में इनकी योग्यता पृथक्-पृथक् होती है। इस विषय में मनु (९।१६१) कोई सन्देह नहीं छोड़ते; "उस व्यक्ति को जो **क्षेत्रज** जैसे हीन पुत्रों के द्वारा नरकों के अंधकार से बाहर जाना चाहता है, वैसे ही फल प्राप्त होते हैं जो उस व्यक्ति को मिलते हैं जो छेद वाली नौका से जल को पार करना चाहता है।" इसका तात्पर्य यह है कि **गौण** पुत्रों से वह आध्यात्मिक अथवा धार्मिक फल नहीं प्राप्त हो सकता जो **औरस** पुत्र से प्राप्त होता है। मेधातिथि (मनु ९।१६६) एवं दत्तकमीमांसा ने इसे स्पष्ट कर दिया है।

औरस पुत्र द्वारा सबसे महत्वपूर्ण आध्यात्मिक लाभ होता है, **प्रतिनिधि** पुत्रों से बहुत कम प्राप्त होता है। विधवा पुत्रहीन पति का श्राद्ध कर सकती है, किन्तु वह **पार्वण** श्राद्ध नहीं कर सकती, अतः उसका कर्म उतना लाभप्रद नहीं होता जितना कि पुत्र द्वारा सम्पादित। जैमिनि (६।३।१३-४१) ने प्रतिनिधि के विषय में कई सूत्र दिये हैं। मुख्य निष्कर्ष यह है कि सामान्यतः **देवता** (वेद द्वारा किसी यज्ञ में पूजा के लिए निर्धारित देवता), **अग्नि** (आहवनीय तथा अन्य पूत अग्नियाँ), **मन्त्र** (जो किसी कर्म में कहा जाता है), कुछ **क्रिया-संस्कार** जो किसी विशिष्ट यज्ञ में किये जाते हैं (यथा दर्श-पूर्णमास में 'समिधो यजति' आदि) तथा **स्वामी** (याज्ञिक या यजमान) के लिए कोई अन्य **प्रतिनिधि** नहीं होता। शबर (जैमिनि ६।३।३५) ने स्पष्ट किया है कि वैदिक क्रिया **प्रतिनिधि** की नियुक्ति से असम्पूर्ण हो जाती है और उससे धार्मिक कृत्य का पूर्ण फल नहीं प्राप्त होता। सत्याषाढश्रौतसूत्र (३।१) का कथन है कि **याज्ञिक, पत्नी, पुत्र, स्थान (देश), काल** आदि का (वैदिक यज्ञ या कृत्य के लिए) कोई अन्य प्रतिनिधि नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट है कि अति प्राचीन लेखकों द्वारा प्रस्तुत दृष्टिकोणों में, जहाँ तक प्रतिनिधि पुत्रों द्वारा आध्यात्मिक फल-प्राप्ति का प्रश्न है, बहुत अन्तर पाया जाता है। मानव का ऐसा सहज स्वभाव है कि वह कठोर नियमों को सरल बनाने का प्रयत्न करता है, इसी से कालान्तर में ऐसा सोचा जाने लगा कि गौण पुत्रों से भी आध्यात्मिक कल्याण प्राप्त किया जा सकता है, यद्यपि वह औरस पुत्र से उत्पन्न कल्याण के बराबर नहीं हो सकता। लगभग दो सहस्र वर्षों से स्मृतियों ने **क्षेत्रज** एवं अन्य पुत्रों को वर्जित कर रखा है। बृहस्पति का कथन है कि मनु ने सर्वप्रथम नियोग की विधि का वर्णन किया है, किन्तु आगे उसे गर्हित कह दिया है, क्योंकि द्वापर एवं कलियुग में नियोग का व्यवहार असम्भव है, क्योंकि मनुष्य के ज्ञान एवं तप का ह्रास हो गया है (देखिए इस ग्रन्थ का भाग २ अध्याय १३)। शौनक (अपरार्क पृ० ७३९) ने कलियुग में **औरस** एवं **दत्तक** के अतिरिक्त अन्य पुत्रों को वर्जित ठहरा दिया है।

अब हम सभी पुत्रों के विषय में संक्षेप में कुछ टिप्पणियाँ उपस्थित करेंगे।

औरस--बौधा० (२।२।१४), मनु (९।१६६), वसिष्ठ (१७।१३), विष्णु० (१५।२), कौटिल्य (३।७) आदि ने उस पुत्र को **औरस** कहा है जो शास्त्र द्वारा व्यवस्थित नियमों के अनुसार विवाहित पत्नी से पति द्वारा उत्पन्न

७२. पुत्रास्त्रयोदश प्रोक्ता मनुना येनुपूर्वशः। सन्तानकारणं तेषामौरसः पुत्रिका तथा।। आज्यं विना यथा तैलं सद्भिः प्रतिनिधिः स्मृतम्। तथैकादश पुत्रास्तु पुत्रिकौरसयोर्विना।। बृहस्पति (अपरार्क, पृ० ७३३; व्य० नि० पृ० ४३९)।

किया जाय। आपस्तम्ब एवं बौधायन के मत से वही पुत्र **औरस** है जो पति की जाति वाली पत्नी से उत्पन्न हो; किन्तु यह एक आदर्शवादी दृष्टिकोण है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३३), पारिजात, अपरार्क आदि ने उस पुत्र को भी **औरस** कहा है जो अनुलोम क्रम का है; यथा ब्राह्मण का क्षत्रिय पत्नी से या क्षत्रिय का वैश्य पत्नी से। एक अपवाद है ब्राह्मण का पुत्र शूद्र पत्नी से, जिसे **शौद्र** या पारशव की संज्ञा मिली है और जो पारिभाषिक औरसों से भिन्न माना गया है। औरस पुत्र की स्थिति तभी मान्य है जब कि उसका बीजारोपण एवं जन्म विवाह के उपरान्त ही हो, ऐसा सभी स्मृतिकारों का कथन है।

ऋग्वेद-काल से ही लोग **औरस** पुत्र के लिए प्रार्थना करते आ रहे हैं और दूसरे के पुत्र को गोद लेने में अरुचि प्रकट करते रहे हैं। ऋग्वेद (७।४।७-८) के ऋषि ने घोषित किया है--"क्योंकि दूसरे का (जो सम्बन्धित नहीं है) धन (पुत्र) नहीं लेना चाहिए, अतः हम अपने धन (अपने शरीर के पुत्र) के स्वामी हों; हे अग्नि, दूसरे का बच्चा अपनी सन्तान नहीं हो सकता; मूर्ख के विषय में ऐसा हो सकता है; वे हमारे पथ को भ्रष्ट न करें। एक अपरिचित को, जो दूसरे का जन्मा हुआ है, भले ही वह अति शोभनीय हो, नहीं ग्रहण करना चाहिए, उसके विषय में (अपने पुत्र के रूप में) मन में सोचना भी नहीं चाहिए। वह उसी घर को (जहाँ से वह आया था) चला जाता है; एक शक्तिशाली, विजयी एवं नवजात पुत्र हमारे पास आये।"[७३]

आजकल न्यायालय द्वारा केवल औरस एवं दत्तक को ही मान्यता प्राप्त है, अन्य पुत्रों के प्रकार का प्रचलन नहीं रहा। किन्तु कुछ प्रान्तों में, यथा मिथिला (तिरहुत) में कृत्रिम एवं मलाबार के नम्बूद्री ब्राह्मणों में **पुत्रिकापुत्र** को मान्यता दी जाती है। इस विषय में आगे भी लिखा जायगा।

पुत्रिकापुत्र--इसके दो अर्थों को हमने गत पृष्ठों में पढ़ लिया है। कौटिल्य (३।७), याज्ञ० (२।१२८) एवं मनु (९।१३४) ने **पुत्रिका** या **पुत्रिकापुत्र** को **औरस** के सदृश ही माना है। ऋग्वेद में भी **पुत्रिका** की ओर संकेत मिलते हैं। वसिष्ठ (१७।१६) ने पुत्रिका के सम्बन्ध में ऋग्वेद (१।१२४।७) को उद्धृत किया है जिसमें **उषा** के आगमन के विषय में चार उपमाएँ दी गयी हैं; 'उस स्त्री के समान, जिसे भाई न हो और जो (अपने) पुरुष सम्बन्धियों के पास लौट आती है, ... मुसकराती हुई कुमारी के समान वह अपने सौन्दर्य को अनावृत करती है।' निरुक्त (३।५) ने प्रथम भाग का अर्थ लगाया है कि भ्रातहीन कन्या (विवाहोपरान्त) अपने पिता की शाखा को चलाने के लिए तथा अपने पिता के पितरों को पिण्डदान करने के लिए चली आती है और अपने पति की शाखा में नहीं जाती। ऋग्वेद में कई एक स्थानों पर भ्रातृहीन कुमारियों की विवाह-सम्बन्धी कठिनाइयों की ओर संकेत मिलते हैं; वे बहुधा विवाहित

७३. परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम। न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो वि दुक्षः॥ न हि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ। अधा चिदोकः पुनरित्स एत्या नो वाज्यभाषाळेतु नव्यः॥ ऋ० (७।४।७-८)। ये पद्य अस्पष्ट हैं, विशेषतः प्रथम पद्य। ऊपर जो अर्थ दिया गया है वह अति प्राचीन लेखक यास्क (निरुक्त ३।१-३) का है। यास्क का कथन है कि ये मन्त्र इस मत का समर्थन करते हैं कि पुत्र उत्पन्न करनेवाले का होता है न कि गोद लेनेवाले का--'तद्यथा जनयितुः प्रजा एवमर्थीये ऋचावुदाहरिष्यामः। परिषद्यम्०।' मिलाइए आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।६।१३।५)--'उत्पादयितुः पुत्र इति हि ब्राह्मणम्।' निर्णयसिन्धु का कथन है कि 'न हि ग्रभाय' पद्य यह नहीं कहता कि पुत्रों को दत्तक रूप में लेना वर्जित है, प्रत्युत वह औरस की प्रशंसा में कहा गया है, नहीं तो यह शुनःशेप की गाथा के नियम के विपरीत पड़ जायगा, जिसमें आया है कि शुनःशेप को पुत्र-रूप में ग्रहण किया गया और शुनःशेप ने कहा है--'मैं आपका पुत्र बन जाऊँ।' नि० सि० (३, पूर्वार्ध, पृ० २५०) एवं ऐ० ब्रा० (३३।५)।

नहीं हो पातीं और अपने पिता के घर में ही पड़ी कौमार दशा में बूढ़ी हो जाती हैं (देखिए ऋ० २।१७।७--'अमाजरिव पित्रोः सचा सती' एवं ऋ० ४।५।५)। अथर्ववेद (१।१७।१) में आया है--"भ्रातृहीन बहिनों के समान वे श्रीहीन होकर रहें।" यास्क ने अर्थ किया है कि जिस प्रकार भ्रातृहीन कन्याएँ विवाहित होकर अपने पतियों के कुल के विकास में बाधक होती हैं और (अपने पुत्रों द्वारा) पिण्डदान पर भी नियन्त्रण रखती हैं, उसी प्रकार ये रक्त-धमनियाँ आदि हैं। इसी प्रकार यास्क (निरुक्त ३।४) ने ऋग्वेद (३।३१।१) को उद्धृत किया है--"पति घोषित (प्रण) करता है कि पिता (पुत्री के पुत्र को) अपना पुत्र समझे।" निरुक्त (३।५) ने एक वैदिक वचन उद्धृत कर कहा है--भ्रातृहीन (कन्या) से विवाह नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह (अपने पिता की) पुत्र हो जाती है। भ्रातृहीन कुमारी स्पष्ट समझौते से पुत्र की भाँति नियुक्त की जा सकती है, किन्तु गौतम (२८।१७) के मत से एक सम्प्रदाय (जिसकी बात उन्हें स्वीकार नहीं है) का सिद्धान्त यह था कि भ्रातृहीन कन्या केवल पिता की इच्छा से ही पुत्रिका बन जाती है, अतः उससे विवाह नहीं करना चाहिए, क्योंकि (बिना स्पष्ट प्रतिज्ञा के भी) उसका पिता उसे अपनी पुत्रिका बनाने की इच्छा रख सकता है। मनु (३।११) ने भी इसी प्रकार सावधान किया है। याज्ञवल्क्य (१।५ अरोगिणीं भ्रातृमतीम्) के समय तक भ्रातृहीन कन्या से विवाह न करने की बात चलती आयी थी, यद्यपि आधुनिक काल में बहुत-से लोग ऐसी कन्या से विवाह करने को सन्नद्ध रहते हैं, यदि उसका पिता धनी हो। मनु (९।१४०) का कथन है कि पुत्रिकापुत्र जो तीन पिण्ड देता है वे क्रम से माता, मातामह एवं प्रमातामह के लिए होते हैं।

अब मलाबार (केरल) के नम्बूद्री ब्राह्मणों को छोड़कर कहीं भी किसी के द्वारा पुत्रिकापुत्र को मान्यता नहीं दी जाती। ऐसा लगता है कि स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २८९) को, जो मद्रास का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है, मलाबार में पुत्रिकापुत्र के प्रचलन की बात नहीं ज्ञात थी।[७४]

क्षेत्रज--नियोग-प्रथा से ही इस प्रकार के पुत्रत्व की उद्भूति हुई है। हमने नियोग-प्रथा के विषय में विस्तार के साथ इस ग्रन्थ के भाग २ के अध्याय १३ में लिख दिया है। एक बात की चर्चा वहाँ नहीं हुई है, और वह यह है कि ब्रह्मपुराण के कथन से प्रकट होता है कि **क्षेत्रज** पुत्रों का प्रचलन क्षत्रियों में बहुत था, क्योंकि उन्हें ऋषियों ने दुष्कृत्यों के कारण शापित किया था कि उन्हें पुत्र न हों, या वे युद्ध में लगातार लगे रहते थे।[७५] बौधायन० (२।२।२१-२३) एवं कौटिल्य (३।७) ने घोषित किया है कि क्षेत्रज दो पिताओं का पुत्र होता है, उसके दो गोत्र होते हैं, वह दोनों पिताओं को पिण्ड देता है (यदि उसके उपरान्त औरस पुत्र न उत्पन्न हो जाय तो), दोनों की सम्पत्ति लेता है, और प्रत्येक पिण्ड देते समय वह दो नामों से सम्बोधित करता है। यह जानने योग्य है कि मिताक्षरा (याज्ञ० २।१२७) ने **क्षेत्रज** को **द्व्यामुष्यायण** कहा है। मदनपारिजात (पृ० ६५१) ने भी **क्षेत्रज** एवं **द्व्यामुष्यायण** को समानार्थक माना है। विवादताण्डव का कथन है कि द्व्यामुष्यायण एवं अन्तर्जातीय विवाहों से उत्पन्न पुत्र कलियुग में वर्जित हैं अतः उनके भागों के नियमों का विवेचन हम नहीं करेंगे।[७६]

७४. अत एवास्माभिरसवर्णपुत्राणां दत्तकेतरेषां गौणपुत्राणां पुत्रिकायास्तत्सुतस्य च भागविधयो न निबध्यन्ते संप्रत्यननुष्ठीयमानत्वाद् वृथा च ग्रन्थविस्तरापत्तेः। स्मृतिच० (२, पृ० २८९)।

७५. राज्ञां तु शापदग्धानां नित्यं क्षयवतां तथा। अथ संग्रामशीलानां न कदाचिद् भवन्ति ते।। औरसो यदि वा पुत्रस्त्वथवा पुत्रिकासुतः। विद्यते न हि तेषां तु विज्ञेयाः क्षेत्रजादयः।। ब्रह्मपुराण (अपरार्क पृ० ७३७)।

७६. स एष द्विपिता द्विगोत्रश्च द्वयोरपि स्वधारिक्थभाग्भवति। अथाप्युदाहरन्ति। द्विपितुः पिण्डदानं स्यात् पिण्डे पिण्डे च नामनी। त्रयश्च पिण्डाः षण्णां स्युरेवं कुर्वन्न मुह्यति।। इति। बौ० ध० सूत्र (२।२।२१-२३);

दत्तक—इस पर आगे एक अध्याय में विवेचन होगा।

कृत्रिम (या कृत, नारद-दायभाग ४६)—मनु (९।१६९), याज्ञवल्क्य (२।१३१), बौधायनधर्मसूत्र (२।२।२५), मिताक्षरा आदि के मत से **कृत्रिम** वह व्यक्ति (उसे जो अपनाता है उसी की जाति का) है, जिसके माता-पिता नहीं होते और जो सम्पत्ति के लालच में अपनी सहमति से पुत्र बनता है। वह **दत्तक** पुत्र से निम्न बातों में भिन्न होता है; वह अपनी माता या पिता द्वारा नहीं दिया जाता, उसकी सहमति आवश्यक है, अर्थात् प्राचीन भारतीय व्यवहार (क़ानून) के अनुसार उसे बालिग होना चाहिए। ऐसा पुत्र आजकल केवल मिथिला (तिरहुत) एवं उसके पार्श्ववर्ती जनपदों में तथा मलाबार (केरल) के नम्बूद्री ब्राह्मणों में ही पाया जाता है।

गूढज—सम्भवतः ऋग्वेद (२।२९।१) के इस कथन में इसकी ओर संकेत है; 'हे धृतवह (नैतिक व्यवहार ढोनेवाले) एवं सतत प्रवहमान (क्रियाशील) आदित्य लोगो, मुझे पाप से उसी प्रकार दूर रखो, जिस प्रकार गुप्त रूप में बच्चा जननेवाली स्त्री (उसे दूर करती है)।'

कानीन—यह नाम 'कन्या' शब्द से निकला है। पाणिनि (४।१।११६) ने इसे 'कुमारी के बच्चे' के अर्थ में प्रयुक्त किया है (कन्यायाः कनीन च) तथा काशिका ने इस विषय में कर्ण एवं व्यास को कानीन पुत्र कहा है। 'कानीन' शब्द अथर्ववेद (५।५।८) में आया है, वाजसनेयी संहिता (३०।६) में 'कुमारीपुत्र' आया है। नारद (दायभाग १७) के मत से **कानीन**, **सहोढ़** एवं **गूढज** उस व्यक्ति के पुत्र हैं, जो उनकी माँ से विवाह करता है, ऐसे पुत्र अपनी माता के पति की सम्पत्ति पाते हैं। पारिजात (वि० र० पृ० ५६५) का कथन है कि **कानीन** एवं **सहोढ** अपनी माता के पुत्रहीन पिता के पुत्र हो जाते हैं। किन्तु यदि उनकी माता के पिता पुत्रवान् हैं तो वे अपनी माता के पतियों के पुत्र हो जाते हैं, किन्तु यदि दोनों पुत्रहीन हों तो वे दोनों के पुत्र हो जाते हैं।

क्रीत—वसिष्ठ (१७।३०-३२) का कथन है कि हरिश्चन्द्र ने शुनःशेप को अजीगर्त से खरीदा, इस तरह शुनःशेप क्रीत पुत्र थे।

स्वयंदत्त—वसिष्ठ (१७।३३-३५) का कथन है कि शुनःशेप विश्वामित्र के स्वयंदत्त पुत्र हुए (ऐतरेय ब्राह्मण ३३।५)।

पौनर्भव—(किसी पुनर्भू का पुत्र)। देखिए इस विषय में इस ग्रन्थ का भाग २ अध्याय १४, जहाँ 'पुनर्भू' एवं विधवा-विवाह का विवेचन किया गया है।

जनयितुरसत्यन्यस्मिन्पुत्रे स एव द्विपितृको द्विगोत्रो वा द्वयोरपि स्वधारिक्थभाग्भवति—अर्थशास्त्र (३।७); 'द्व्यामुष्यायणस्य विजातीयानां च विभागे विशेषः कलावसत्त्वान्नोच्यते।' वि० ताण्डव।

अध्याय २८

दत्तक (गोद लिया हुआ पुत्र)

आधुनिक काल में भारतीय हिन्दू व्यवहार (क़ानून) की किसी भी शाखा में इतने मुक़दमे नहीं चले जितने कि दत्तक पुत्र से सम्बन्धित व्यवहार-शाखा में। ऐसे बहुत से उदाहरण प्राप्त होते हैं जहाँ पचास-पचास वर्ष तक लग गये हैं, और कितने ही व्यवहार-पदों से सम्बन्धित समस्त न्यायमूर्तिमंडल के निर्णयों को प्रिवी कौंसिल ने रद्द कर दिया है। मध्यकाल के लेखकों (निबन्धकारों) ने एक ही प्रकार के स्मृति-वचनों को भाँति-भाँति से तोड़-मरोड़कर उनकी विभिन्न व्याख्याएँ उपस्थित की हैं, इसलिए आधुनिक भारतीय विवादों एवं मध्यकाल की प्रामाणिक व्याख्याओं के फलस्वरूप विभिन्न प्रान्तों में दत्तक-सम्बन्धी व्यवहार विभिन्न हो गये हैं। शास्त्री गोपालचन्द्र सरकार एवं श्री कपूर जैसे लेखकों ने इस विषय पर विशालकाय ग्रन्थों का प्रणयन किया है। हम कुछ संक्षेप में ही इस अध्याय में स्मृतियों एवं मध्यकाल के निबन्धों के आधार पर दत्तक-व्यवहार के विभिन्न स्वरूपों पर प्रकाश डालेंगे।

हमने गत अध्याय में देख लिया है कि ऋग्वेद के समय में भी औरस पुत्र (अपने शरीरज पुत्र) को अधिक महत्ता प्राप्त थी और दूसरे के पुत्र को अपना बनाना अच्छा नहीं माना जाता था। पश्चात्कालीन शुक्र (२।३१) जैसे लेखक ने भी दत्तक एवं अन्य गौण पुत्रों को अपने पुत्रों के समान मानना गर्हित समझा है, क्योंकि धनी पुरुषों को देखकर ही ऐसे बालक उनके पुत्र बनने की आकांक्षा रखते हैं।[1] दत्तक पुत्रों के विषय में वैदिक साहित्य में भी संकेत मिलते हैं। तैत्तिरीय संहिता (७।१।८।१) में अत्रि की कथा वर्णित है। अत्रि ने अपना इकलौता पुत्र और्व को दत्तक रूप में दे दिया। शब्द ये हैं—"पुत्र की इच्छा रखनेवाले और्व को अत्रि ने अपना पुत्र (दत्तक रूप में) दे दिया। उसने (अत्रि ने) अपने को खाली पाकर (पुत्र दे देने के उपरान्त) अपने को शक्तिहीन, निर्वीर्य एवं शिथिल समझा। उसने (अत्रि ने) इस **चतूरात्र** (इस नाम का एक यज्ञ, जो चार दिनों तक चलता रहता है) को देखा। उसने इसके लिए तैयारी की और इस यज्ञ को सम्पादित किया। तब उसे चार वीर पुत्र उत्पन्न हुए; एक अच्छा होता, एक अच्छा उद्गाता, एक अच्छा अध्वर्यु एवं एक सभेय (सभा में दक्षता से बोलनेवाला)।" शुनःशेप की गाथा (ऐ० ब्रा० ३३) व्यक्त करती है कि विश्वामित्र ने, जिनके पास पहले से ही १०१ पुत्र थे, उसे देवरात के नाम से गोद लिया, जिसमें उनके (विश्वामित्र के) ५१ पुत्रों की सहमति थी (इन पुत्रों में मधुच्छन्दा सबका नेता था) और अन्य ५० पुत्रों ने उनकी आज्ञा का उल्लंघन किया। यहाँ यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पश्चात्कालीन यह नियम कि केवल पुत्रहीन व्यक्ति ही दत्तक पुत्र ले सकता है, विश्वामित्र के लिए लागू नहीं हुआ।

सूत्रों एवं स्मृतियों में केवल बारह पुत्रों में दत्तक का नाम गिनाने के सिवा इस विषय में और कुछ विशेष नहीं मिलता; हाँ, बौधायनधर्मसूत्र (२।२।२४), मनु (९।१६८), याज्ञ० (२।१३०), विष्णु० (१५। १८-१९) एवं

१. मनसापि न मन्तव्या दत्ताद्याः स्वसुता इति। ते दत्तकत्वमिच्छन्ति दृष्ट्वा यद् धनिकं नरम्॥ शुक्रनीति (२।३१)।

नारद (दायभाग ४६) ने इसकी परिभाषा भी दी है। केवल वसिष्ठधर्मसूत्र एक अपवाद है। इसने न केवल (१७। २८-२९) परिभाषा दी है, प्रत्युत दत्तक-कार्य के नियमों के उद्घाटन में यह प्रारम्भिक स्मृतियों में प्रथम है। इसके कतिपय वचन एक स्थान पर इस प्रकार रखे जा सकते हैं--"शुक्र (बीज) एवं शोणित से उत्पन्न व्यक्ति अपने जन्म के लिए माता एवं पिता का ऋणी होता है। (अतः) उसके माता एवं पिता को उसे दे देने, बेचने या त्यागने का अधिकार है। किन्तु किसी को अपना एक मात्र पुत्र न तो किसी अन्य को देना चाहिए और न उसी प्रकार स्वयं स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि उसे अपने पूर्वजों का कुल चलाना आवश्यक है। बिना पति की आज्ञा के किसी स्त्री को किसी अन्य का पुत्र न तो स्वीकार करना चाहिए और न अपने पुत्र को देना चाहिए। यदि कोई दत्तक पुत्र लेना चाहे तो उसे ऐसा अपने सगे बन्धु-बान्धवों को निमंत्रित कर, राजा को उसका समाचार देकर और अपने गृह के मध्य में व्याहृतियों के साथ होम करके करना चाहिए और ऐसे पुत्र को दत्तक बनाना चाहिए जो अपना सगा सम्बन्धी हो और आचार-व्यवहार एवं बोली में दूर का न हो। यदि (दत्तक के कुल के विषय में) संदेह उत्पन्न हो जाय तो दत्तक लेनेवाले को (दत्तक के सम्बन्धियों की दूरी के कारण) चाहिए कि वह उसे शूद्र समझे, क्योंकि यह (ब्राह्मणों एवं श्रुतिग्रन्थों में) घोषित है कि 'एक (पुत्र, औरस या दत्तक) के द्वारा वह (दत्तक लेनेवाला) बहुतों को बचाता है।' यदि दत्तक लेने के उपरान्त औरस उत्पन्न हो जाय तो दत्तक को एक-चौथाई भाग मिलता है (वसिष्ठ १५।१-९)।" मनु (९।१४१) ने ऐसे पुत्र के गोद लिये जाने की ओर संकेत किया है जो गोद लेनेवाले के गोत्र का नहीं है, और (९।१४२) दत्तक-कर्म के फलों का भी उल्लेख किया है। दत्तकमीमांसा एवं व्यवहारमयूख ने अत्रि, शौनक, शाकल एवं कालिकापुराण नामक प्राचीन ग्रन्थों को उद्धृत किया है। मिताक्षरा ने दत्तक के विषय में कुछ पंक्तियाँ मात्र दी हैं। सत्रहवीं शताब्दी के बाद के तथा अन्य पश्चात्कालीन ग्रन्थों ने (यथा--व्यवहारमयूख, दत्तकमीमांसा, संस्कारकौस्तुभ, दत्तकचन्द्रिका ने) दत्तक के विषय में विस्तार के साथ लिखा है। आधुनिक काल में दत्तकमीमांसा एवं दत्तकचन्द्रिका (कुछ बंगाली लेखकों ने इसे कूट रचना माना है) को दत्तक के विषय में अधिकतम प्रामाणिक माना जाता रहा है और प्रिवी कौंसिल ने इनका आधार लिया है।

दत्तक के अन्तर्गत प्रमुख विषय ये हैं--पुत्रीकरण का लक्ष्य या उद्देश्य, वह व्यक्ति जो नियमतः पुत्रीकरण कर सकता है, वह व्यक्ति जो पुत्रीकरण के लिए (पुत्र) देता है, वे व्यक्ति जिनका पुत्रीकरण हो सकता है, पुत्रीकरण-सम्बन्धी आवश्यक साधन एवं संस्कार-कार्य का तथा पुत्रीकरण का फल।

पुत्रीकरण का उद्देश्य--अत्रि (५२) ने घोषित किया है कि केवल पुत्रहीन व्यक्ति को ही सभी सम्भव प्रयासों से पुत्र-प्रतिनिधि लेना चाहिए, जिससे कि वह पिण्ड एवं जल (पिण्ड-दान एवं जलतर्पण) पा सके। दत्तकचन्द्रिका ने उपर्युक्त अत्रि-वचन एवं मनु का उल्लेख कर पुत्रीकरण के दो उद्देश्य घोषित किये हैं; (१) पिण्डोदक क्रिया हेतु, (२) नाम संकीर्तन हेतु, अर्थात् (१) पिण्डों एवं जल से धार्मिक लाभ की प्राप्ति एवं (२) गोद लेनेवाले के नाम एवं कुल को अविच्छेद्य रूप से चलते जाने देना।[२] ऐसा कहा जा सकता है कि अधिकांश में गोद लेनेवाले (पुत्रीकरण करनेवाले) का उद्देश्य धार्मिक होता है, किन्तु पुत्र देनेवाले तथा उसके पुत्र का ध्येय धर्म से बहुत दूर होता है। अन्तिम दोनों का, कम-से-कम आधुनिक समय में, प्रमुख लक्ष्य होता है बिना किसी प्रयास के सम्पत्ति की प्राप्ति करना, उनके मन में धार्मिक वृत्तियाँ कदाचित् ही उत्पन्न होती हैं। कोई दरिद्र व्यक्ति को अपना पुत्र दत्तक रूप में नहीं देता, यद्यपि उस दरिद्र में

२. तत्राह मनुः। अपुत्रेण सुतः कार्यो यादृक् तादृक् प्रयत्नतः। पिण्डोदकक्रियाहेतोर्नामसंकीर्तनाय च॥ दत्त० च० (पृ० २)।

आत्मा की रक्षा की भावना उतनी ही प्रबल होती है जितनी कि धनिक व्यक्ति में। विधवाओं के द्वारा जो पुत्रीकरण होता है उसमें धार्मिक भावना बहुत ही दूर खड़ी रहती है। बहुधा वे अपने पति के भाइयों या भतीजों से द्वेष की भावना के कारण दत्तक पुत्र ग्रहण करती हैं और उन्हें इस प्रकार के समझौते के साथ ग्रहण करती हैं कि वे स्वयं सम्पत्ति-सम्बन्धी लाभ उठा सकें और अपना जीवन आनन्द से काट सकें!

दत्तक रूप में अपना पुत्र देनेवाला व्यक्ति--पिता को ही पुत्रीकरण में अपना पुत्र देने का मुख्य अधिकार है, और वह बिना पुत्र की माता की सहमति से भी ऐसा कर सकता है। बिना पति की आज्ञा के माता अपने पुत्र को नहीं दे सकती, जब तक पिता जीवित एवं मति देने के योग्य है तब तक माता पुत्र-दान नहीं कर सकती। मनु० (९।१६८) एवं याज्ञ० (२।१३०) के मत से यदि पिता मर गया हो या संन्यासी हो गया हो या अपनी मति देने के लिए अयोग्य हो तो केवल माता ही पुत्र को दत्तक रूप में दे सकती है, किन्तु यदि पिता स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से ऐसा करने को मना कर दे तो वह दत्तक देने में असमर्थ मानी जाती है। यदि माता एवं पिता मर गये हों तो यहाँ तक कि पितामह या विमाता या भाई किसी को दत्तक रूप में नहीं दे सकते।

पुत्रीकरण के योग्य व्यक्ति--यदि पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र स्वाभाविक रूप में या दत्तक रूप में न हों तो कोई भी अच्छी मति वाला एवं बालिग हिन्दू पुरुष पुत्रीकरण कर सकता है, अर्थात् गोद ले सकता है। बालकृष्ण के दत्तसिद्धान्त-मंजरी नामक ग्रन्थ में आया है कि यदि औरस पुत्र जन्म से ही अंधा, गूँगा या बहरा हो तो पिता दत्तक ले सकता है। यदि व्यक्ति कुमार (अविवाहित) या विधुर हो या उसकी पत्नी की सहमति न हो या वह गर्भवती हो तब भी दत्तक लेने में कोई बाधा नहीं है। वास्तव में, वसिष्ठ (१५।९) ने दत्तक पुत्र लेने के उपरान्त भी पुत्र उत्पन्न करने की व्यवस्था दी है। रुद्रधर एवं वाचस्पति के मत से शूद्र लोग दत्तक नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि वे मन्त्रों के साथ होम नहीं कर सकते। किन्तु रघुनन्दन, नीलकण्ठ एवं दत्तकमीमांसा के मत से शूद्र दत्तक ग्रहण कर सकते हैं; शौनक ने स्पष्ट रूप से ऐसी आज्ञा दी है, क्योंकि किसी ब्राह्मण द्वारा होम कराया जा सकता है। पराशर (६।६३-६४) ने भी ऐसा ही विधान दिया है। बिना पति की स्पष्ट आज्ञा के पत्नी पति के रहते गोद नहीं ले सकती (वसिष्ठ १५।५)।

व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त केवल उसकी पत्नी ही गोद ले सकती है। किन्तु विधवा के अधिकारों के विषय में मतैक्य नहीं है। वसिष्ठ (१५।५) का यह कथन कि बिना पति की आज्ञा के कोई भी स्त्री न गोद ले सकती है और न गोद के लिए अपना पुत्र दे सकती है, विवादों के मूल में आता है। सभी प्रकार की व्याख्याएँ इस विषय में उपस्थित की गयी हैं। वसिष्ठ के इस वचन के विश्लेषण में कट्टर, धर्मपरायण एवं मीमांसा के नियमों में पारंगत टीकाकारों ने अपनी जिस बुद्धि एवं कुशलता का परिचय दिया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। वसिष्ठ के सूत्र "अपुत्रेणेति पुंस्त्वश्रवणान्न स्त्रिया अधिकार इति गम्यते" की चार व्याख्याएँ हैं--(१) दत्तकमीमांसा एवं वाचस्पति जैसे मिथिला के लेखकों के मत से विधवा गोद लेने के सर्वथा अयोग्य है, क्योंकि पुत्रीकरण के समय पति की आज्ञा (जब कि वह मर चुका है) लेना असम्भव है, और वह वैदिक मन्त्रों के साथ होम-कार्य नहीं कर सकती, न वह वसिष्ठ एवं शौनक द्वारा व्यवस्थित उन वैदिक वचनों को कह सकती है जो पुत्र-परिग्रहण के समय कहे जाते हैं; (२) बंगाल, मद्रास एवं वाराणसी के मत से पति द्वारा (उसके जीवन-काल में) दी गयी आज्ञा के अनुसार विधवा पुत्र-प्रतिग्रह कर सकती है, इसका तात्पर्य यह है कि प्रतिग्रहण के समय पति का **अनुज्ञान** (आज्ञा) आवश्यक नहीं है, वह तो पुत्र-प्रतिग्रहण के बहुत पहले ही दिया जा सकता है; (३) मद्रास में विधवा बिना पति के **अनुज्ञान** के पुत्र-प्रतिग्रहण कर सकती है, यदि उसे श्वशुर की आज्ञा मिली हो या उसके मर जाने पर उसके पति के सभी सहभागियों की सहमति हो और यदि उसका पति संयुक्त परिवार का सदस्य रहा हो; किन्तु यदि उसका पति अलग हो गया हो तो श्वशुर की आज्ञा तथा उसके मर जाने पर उसके पति के बहुत नज़दीकी सपिण्डों की अधिक संख्या में आज्ञा आवश्यक है। (४) बम्बई एवं पश्चिम भारत में मान्य प्रामाणिक

ग्रन्थों, यथा व्यवहारमयूख (पृ० ११३), निर्णयसिन्धु (३, पूर्वार्ध पृ० २४९) एवं धर्मसिन्धु के मत से वसिष्ठ का वचन केवल उस पत्नी की ओर संकेत करता है जिसका पति अभी जीवित है और विधवा बिना पति की आज्ञा के पुत्रीकरण कर सकती है। इस सम्प्रदाय के अनुसार पति का पुत्रीकरण-सम्बन्धी अधिकार सदा कल्पित कर लेना चाहिए, जब तक कि उसने स्पष्ट रूप से या आवश्यकतावश दत्तक लेने से अपनी विधवा को मना न कर दिया हो। 'अप्रतिषिद्धं परमतमनुमतं भवति' न्याय के अनुसार दत्तकचन्द्रिका ने मत प्रकाशित किया है कि दूसरे (या विरोधी) का मत (जब तक कि उसने विरोध न किया हो) स्वीकृति रूप में ग्रहण कर लेना चाहिए।

गोद लेने के अधिकार-निर्माण, सपत्नियों के पुत्र-प्रतिग्रहण (गोद लेने) के अधिकार एवं गोद लेने में विधवा के अधिकार की सीमाओं के विषय में बहुत-से कानून आधुनिक काल में उद्धृत किये गये हैं, जिन्हें हम स्थानाभाव से यहाँ नहीं दे रहे हैं और न उनकी इस ग्रन्थ में कोई आवश्यकता ही है।

गोद (पुत्र-प्रतिग्रहण या दत्तक होने) के योग्य व्यक्ति—जैसा कि प्राचीन ग्रन्थों में आया है कि ('अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत) आठवें वर्ष में उपनयन होना चाहिए, व्यवहारमयूख (पृ० १०८-१०९) ने इसके आधार पर केवल पुरुष वर्ग को ही दत्तक के योग्य माना है।[३] भारतीय न्यायालयों ने इस बात को मान लिया है। किन्तु दत्तकमीमांसा (पृ० ११२-११६), संस्कारकौस्तुभ (पृ० १८८) एवं धर्मसिन्धु ने दशरथ की पुत्री शान्ता (जिसे लोमपाद ने गोद लिया था) एवं पृथा (जो शूर की कन्या थी और जिसे कुन्तिभोज ने गोद लिया था) के उदाहरणों के आधार पर कहा है कि कन्या भी दत्तक रूप में प्रतिगृहीत हो सकती है।[४] पन्नालाल ने अपनी पुस्तक 'कुमायूँ लोकल कस्टम्स' में लिखा है कि कुमायूँ में परम्परा के अनुसार कन्या भी गोद ली जाती है। दत्तक पुत्र गोद लेनेवाले की जाति का होना चाहिए। याज्ञ० (२।१३३) ने जो यह व्यवस्था दी है कि बारहों प्रकार के पुत्र पिण्डदान करते हैं और क्रम से सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं, उससे यह प्रकट है कि वे सभी पिता की जाति के होते हैं। मेधातिथि ने स्पष्ट कहा है कि ब्राह्मण क्षत्रिय को भी गोद ले सकता है।[५] किन्तु मनु के अन्य टीकाकार, यथा—कुल्लूक आदि, तथा व्यवहारमयूख एवं अन्य ग्रन्थों ने लिखा है कि दत्तक समान जाति का होना चाहिए। संस्कारकौस्तुभ (पृ० १५०) एवं धर्मसिन्धु आगे जाकर कहते हैं कि ब्राह्मण भी अपने देश के किसी अन्य वर्ण को गोद ले सकता है। वायुपुराण (९९।१३७-१३९) ने वर्णन किया है कि दुष्यन्त के पुत्र भरत ने ब्राह्मण बृहस्पति के पुत्र भरद्वाज को गोद लिया, जो क्षत्रिय बन गया।[६] आज के न्यायालयों ने

३. दत्तकश्च पुमानेव भवति न कन्या। 'स ज्ञेयो दत्रिमः सुतः' (मनु ९।१६८) इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धबोधकवाक्यगतेन स इति सर्वनाम्ना मातापितृकर्तृक-प्रीतिजलगुणकापन्निमित्तकदानकर्मीभूतसजातीयपुंस एव, 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत' इति तच्छब्देनाष्टवर्षब्राह्मण्यपुंस्त्वोपनयनादिसंस्कृतस्यैव परामर्शात्। व्य० म० (१०८-१०९)। और देखिए आपस्तम्बगृह्यसूत्र (४।१०।२) एवं धर्मसिन्धु (३, पूर्वार्ध, पृ० १६२)।

४. दत्तकमीमांसा ने इस विषय में स्कन्दपुराण, लिंगपुराण, हरिवंश एवं आदिपर्व से भी उदाहरण दिये हैं। देखिए आदिपर्व (१११।२-३, जहाँ कुन्ती के प्रतिग्रहण का उल्लेख है) एवं रामायण (बालकाण्ड, अध्याय ९ जहाँ शान्ता का उल्लेख है)।

५. सदृशं न ज्ञातितः किं तर्हि कुलानुरूपैर्गुणैः। क्षत्रियादिरपि ब्राह्मणस्य दत्तको युज्यते। मेधातिथि (मनु ९।१६८)। विप्रादीनां वर्णानां समानवर्ण एव। तत्रापि देशभेदप्रयुक्तगुर्जरत्वान्ध्रत्वादिना समानजातीय एव। धर्मसिन्धु (३, पूर्वार्ध, पृ० १५८)।

६. तस्माद् दिव्यो भरद्वाजो ब्राह्मण्यात् क्षत्रियोऽभवत्। द्विमुख्यायननामा स स्मृतो द्विपितृकस्तु वै॥ वायु० ९९।१५७)। लगता है, यहाँ 'द्विमुख्यायन' 'द्व्यामुष्यायण' का अपभ्रंश है।

कुल्लूक जैसों की बात मानी है। यह सम्भव है कि आज के न्यायालय प्रमुख चार वर्णों की उपजातियों के लिए छूट दे दें, अर्थात् किसी वर्ण की उपजाति का कोई व्यक्ति उसी वर्ण की किसी उपजाति के पुत्र को गोद ले ले, आज ऐसा निर्णय दिया जा सकता है। शौनक एवं वृद्ध याज्ञवल्क्य (दत्तकचन्द्रिका द्वारा उद्धृत) ने व्यवस्था दी है कि दत्तक किसी अन्य जाति का हो सकता है, किन्तु ऐसे पुत्र को सम्पत्ति नहीं प्राप्त होती।[७] वसिष्ठ (१५।३) एवं शौनक के शब्दों (इकलौते पुत्र को नहीं देना चाहिए) के रहते हुए भी न्यायालयों ने निर्णय दिया है कि इकलौता पुत्र लिया या दिया जा सकता है।

ज्येष्ठ पुत्र को दत्तक रूप में नहीं ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि जैसा कि मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३०) का कथन है, ज्येष्ठ पुत्र ही अपने जनक पिता के लिए पुत्र रूप में सर्वश्रेष्ठ कार्यकर्ता है और पुत्र द्वारा किये जानेवाले उपयोगों को पूरा करनेवाला है। मनु (९।१०६) का कथन है—"अपने ज्येष्ठ पुत्र की उत्पत्ति से व्यक्ति पुत्रवान् (पिता) कहा जाता है और पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है।" किन्तु आजकल यह नियम केवल **अर्थवाद** के रूप में लिया जाता है न कि **विधि** के रूप में, अर्थात् इसे हम नहीं भी मान सकते हैं, क्योंकि इसके पीछे अनिवार्यता नहीं है। व्यवहारमयूख (पृ० १०८) का कथन है—मिताक्षरा के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र को दत्तक रूप में देने में जो निषिद्धता प्रकट की गयी है, वह केवल देनेवाले के सम्बन्ध में है न कि लेनेवाले (गोद लेनेवाले) के सम्बन्ध में। व्यवहारमयूख ने मिताक्षरा की आलोचना करते हुए कहा है कि मनु (९।१०६) ने ज्येष्ठ पुत्र को देना वर्जित नहीं किया है बल्कि यह व्यवस्था दी है कि प्रथम बार पुत्र उत्पन्न होने से व्यक्ति पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है। अतः व्यवहारमयूख ने आगे बढ़कर यह कहा है कि ज्येष्ठ पुत्र को लेने एवं देने में कोई वर्जन नहीं है, किन्तु मिताक्षरा (जिसने गोद लेना बुरा नहीं माना है) का कथन है कि देनेवाला पापी होता है। संस्कारकौस्तुभ (पृ० १५०) ने भी ज्येष्ठ पुत्र को दत्तक रूप में देना वर्जित किया है। दो व्यक्ति एक ही पुत्र को गोद नहीं ले सकते, ऐसा करने पर प्रत्येक का पुत्र-प्रतिग्रहण अवैधानिक है (दत्त० मी०, पृ० २५)। इस विषय में **द्वयामुष्यायण** एक अपवाद है, जिसके बारे में आगे लिखा जायगा।

जब कई बच्चे दत्तक के योग्य हों तो उनके चुनाव के विषय में कुछ स्मृति-नियम हैं। मनु (९।१८२) का कथन है—"यदि एक ही पिता के कई पुत्र हों और उनमें किसी को एक पुत्र हो तो वह सबको पुत्रवान् बना देता है।" मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३२) ने मनु के इस कथन से यह अर्थ निकाला है कि वह एक पुत्र सबका पुत्र नहीं हो जाता, बल्कि इसका अर्थ यह है कि उसके रहते अन्य पुत्र दत्तक रूप में नहीं लेना चाहिए।[८] इसी प्रकार की व्याख्या एक पुराने टीकाकार देवस्वामी ने भी की है। दत्तकमीमांसा, दत्तकचन्द्रिका (पृ० ५-६) एवं संस्कारकौस्तुभ (पृ० १५०) ने शौनक एवं शाकल के मत को उद्धृत कर कहा है कि सपिण्ड एवं सगोत्र को असपिण्ड तथा असगोत्र की अपेक्षा वरीयता देनी चाहिए। उपर्युक्त ग्रन्थों एवं धर्मसिन्धु ने निम्न अनुक्रम दिया है—अपने भाई का पुत्र, सगोत्र-सपिण्ड, सपिण्ड (भले ही वह

७. यदि स्यादन्यजातीयो गृहीतोपि सुतः क्वचित्। अंशभाजं न तं कुर्याच्छौनकस्य मतं हि तत्॥..... व्यक्तमाह वृद्धयाज्ञवल्क्यः। सजातीयः सुतो ग्राह्यः पिण्डदाता स रिक्थभाक्। तदभावे विजातीयो वंशमात्रकरः स्मृतः। ग्रासाच्छादनमात्रं तु लभते स तद्रिक्थिनः॥ इति दत्त० च० (पृ० ७)।

८. यत्तु—भ्रातॄणामेकजात्यानामेकश्चेत्पुत्रवान्भवेत्। सर्वे ते तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत्॥ इति, (मनु ९।१८२) तदपि भ्रातृपुत्रस्य पुत्रीकरणसम्भवेऽन्येषां पुत्रीकरणनिषेधार्थम्। न पुनः पुत्रत्वप्रतिपादनाय, तत्सुता गोत्रजा बन्धुरित्यनेन विरोधात्। मिता० (याज्ञ० २।१३२)। और देखिए वसिष्ठ (१७।१०); व्य० नि० (पृ० ४४०); विष्णु० (१५।४२); स्मृतिच० (२, पृ० २८९); सरस्वतीविलास (पृ० ३९५)।

सगोत्र न हो, यथा मामा का पुत्र या फूफी का वंशज), सगोत्र-असपिण्ड, एवं वह जो न तो सपिण्ड हो और न सगोत्र। यह अनुक्रम केवल अर्थवाद है, इसके प्रतिकूल भी पुत्रीकरण वैधानिक होता है। यह हाल में निर्णीत हुआ है कि वह पुत्रीकरण अवैध है जिसमें जन्म से असाध्य रूप से बधिर एवं मूक (यद्यपि मूर्ख नहीं) पुत्र ग्रहण किया जाता है। देखिए सुरे द्र-बनाम-भोलानाथ (आई० एल्० आर०, १९४४, १, कलकत्ता १३९)।

मध्यकाल के लेखकों में दत्तक पुत्र की अवस्था के विषय में गहरा मतभेद पाया जाता है। इस विषय में कालिका पुराण के पद्य अति महत्त्वपूर्ण हैं।[९] व्य० मयूख एवं दत्तकच० का कथन है कि कालिकापुराण के ये पद्य प्रामाणिकता में सन्दिग्ध हैं, क्योंकि ये कुछ अन्य प्रतियों में नहीं पाये जाते, किन्तु दत्तकमी० एवं निर्णयसिन्धु ने इन्हें शुद्ध एवं प्रामाणिक माना है, और संस्कारकौ० (पृ० १६९-१७२) ने इन पद्यों की ओर संकेत करके कहा है कि ये पद्य ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित शुनःशेप की कथा के विरुद्ध पड़ते हैं, जिसमें यह आया है कि विश्वामित्र ने शुनःशेप को उसके उपनयन के उपरान्त भी गोद लिया। कालिकापुराण के पद्यों का अर्थ यह है—"हे राजन्, वह पुत्र, जिसके चूड़ाकरण से लेकर अन्य संस्कार उसके अपने पिता के गोत्र के साथ सम्पादित हैं, किसी अन्य द्वारा प्रतिगृहीत पुत्र की स्थिति नहीं प्राप्त कर सकता। जब चूड़ाकरण एवं उपनयन के संस्कार उसके अपने गोत्र (दत्तक लेनेवाले पिता) द्वारा किये जाते हैं तो दत्तक तथा अन्य प्रकार के पुत्र गोद लेनेवाले के कुल के पुत्र कहे जाते हैं, नहीं तो वे दास की संज्ञा पाते हैं। पाँच वर्ष के उपरान्त दत्तक एवं अन्य पुत्र पुत्रता नहीं प्राप्त कर सकते। पाँच वर्ष के लड़के को गोद लेने के पूर्व गोद लेनेवाले को **पुत्रेष्टि** का सम्पादन करना चाहिए।" इन पद्यों में चार बातें उठती हैं; (१) यदि जातकर्म से लेकर चूड़ाकरण तक के सारे संस्कार जन्म-कुल में सम्पादित हो गये रहते हैं तो ऐसे पुत्र को प्रतिगृहीत नहीं किया जा सकता, (२) यदि लड़के का चूड़ाकरण एवं अन्य संस्कार गोद लेनेवाले के घर में सम्पादित हुए हों तो वह पूर्णरूपेण दत्तक पुत्र कहलाएगा, (३) पाँच वर्ष के ऊपर वाला लड़का दत्तक नहीं बनाया जा सकता, (४) यदि लड़के का चूड़ाकरण जन्मकुल में हो गया हो तो वह पाँच वर्ष की अवस्था तक दत्तक बनाया जा सकता है, किन्तु ऐसा करने के लिए उसके अन्य संस्कारों के सम्पादन के पूर्व पुत्रेष्टि के क्रिया-संस्कार अवश्य हो जाने चाहिए। दत्तकमीमांसा के मत से पुत्रीकरण के लिए तीन वर्ष के भीतर सर्वोत्तम काल है, तीन वर्ष से पाँच वर्ष तक गौण काल है और पाँच वर्ष के उपरान्त पुत्रीकरण नहीं हो सकता। दत्तकचन्द्रिका (पृ० ३६) का कथन है कि तीन उच्च जातियों का लड़का उपनयन तक पुत्रीकरण के योग्य है, किन्तु शूद्र का लड़का विवाह के पूर्व तक इसके योग्य है। सम्भवतः यही मत निर्णयसिन्धु का भी है। व्यवहारमयूख एवं संस्कारकौस्तुभ का कथन है कि कोई असगोत्र लड़का भी उपनयन या विवाह के उपरान्त भी गोद लिया जा सकता है, भले ही उसको

९. पितुर्गोत्रेण यः पुत्रः संस्कृतः पृथिवीपते। आचूडान्तं न पुत्रः स पुत्रतां याति चान्यतः।। चूडोपनयसंस्कारा निजगोत्रेण वै कृताः। दत्ताद्यास्तनयास्ते स्युरन्यथा दास उच्यते।। ऊर्ध्वं तु पञ्चमाद्वर्षान्न दत्ताद्याः सुता नृप। गृहीत्वा पंचवर्षीयं पुत्रेष्टिं प्रथमं चरेत्।। कालिकापुराण (दत्तकमी०, पृ० १२२; निर्णयसिन्धु, ३, पूर्वार्ध, पृ० २५०; व्य० म०, पृ० ११४; दत्तकच० ३१-३३; सं० कौ०, पृ० १६९)। चूडाकरण संस्कार बहुधा तीसरे वर्ष में किया जाता है, बच्चे के सिर पर जो शिखा या केश-गुच्छ छोड़े जाते हैं वे पिता के गोत्र के प्रवर ऋषियों की संख्या पर निर्भर रहते हैं। देखिए इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग का अध्याय ६, जहाँ चूडाकरण का वर्णन है। अतः यदि ऐसा पुत्र, जो सगोत्र है, चूडाकरण के उपरान्त गोद लिया जाता है, तो उसकी स्थिति यों होगी कि उसके कुछ संस्कार एक गोत्र के साथ हुए होंगे तथा अन्य संस्कार दूसरे गोत्र से, अर्थात् वह इस प्रकार दो गोत्रों का कहा जायगा। इसे दूर करने तथा गोद वाले कुल से सम्बन्ध जोड़ने के लिए पुत्रेष्टि संस्कार परमावश्यक है।

भी कोई पुत्र उत्पन्न हो गया हो।[10] बंगाल, वाराणसी (उ० प्र०) एवं बिहार के न्यायालयों ने निर्णय दिया है कि उपनयन के पूर्व पुत्रीकरण हो जाना चाहिए। यही बात मद्रास में भी है, किन्तु वहाँ यह व्यवस्था है कि यदि दत्तक लिया जानेवाला लड़का सगोत्र है तो उसका पुत्रीकरण उपनयन के उपरान्त भी, किन्तु विवाह के पूर्व, हो सकता है। बम्बई में दत्तक की कोई भी अवस्था वैध मानी जाती है, विवाह के उपरान्त भी, यहाँ तक कि उसे पुत्र उत्पन्न हो गया हो तब भी, इतना ही क्यों, वह अवस्था में गोद लेनेवाले से ऊँची अवस्था का भी हो सकता है। सम्पूर्ण भारत में शूद्र का पुत्रीकरण विवाह के पूर्व ही होता है, किन्तु बम्बई में ऐसी बात नहीं है, वहाँ शूद्रों में भी विवाहोपरान्त तथा पुत्रवान् होने पर भी पुत्रीकरण सम्भव है।

शौनक के मत से दत्तक पुत्र को **पुत्रच्छायावह** (वह जो औरस के समान या उसका प्रतिबिम्ब हो) होना आवश्यक है।[11] इसकी कई व्याख्याएँ उपस्थित की गयी हैं और बहुत-से उच्च न्यायालयों ने विभिन्न निर्णय दिये हैं। दत्तकमीमांसा एवं दत्तकचन्द्रिका ने व्याख्या की है कि सादृश्य तो पुत्रीकरण करनेवाले के द्वारा नियोग या अन्य प्रकार से पुत्रोत्पत्ति करने से ही सम्भव है। दत्तकमीमांसा ने यह अर्थ लगाया है; भाई का पुत्र, सपिण्डपुत्र एवं सगोत्र पुत्र गोद लिया जा सकता है, क्योंकि नियोग की विधि के अनुसार गोद लेनेवाला (पुत्रीकरणकर्ता) भाई, सपिण्ड एवं सगोत्र की पत्नी से पुत्र उत्पन्न कर सकता था, किन्तु वह अपनी माता या पितामही या कन्या या बहिन या मौसी (माता की बहिन) से ऐसा नहीं कर सकता था। अतः कोई अपने भाई, मामा या चाचा, पुत्री के पुत्र, मौसी के पुत्र आदि का पुत्रीकरण नहीं कर सकता है। यह आश्चर्य है कि दत्तकमीमांसा से बहुत पहले (शताब्दियों पूर्व) नियोग प्रथा का प्रचलन बन्द हो गया था (देखिए इस ग्रन्थ का भाग २ अध्याय १३), तथापि इसके लेखक ने उसे अन्य प्रचलित नियमों के साथ जोड़कर दत्तक करने या न करने योग्य व्यक्तियों के विषय में उल्लिखत कर दिया ! इससे भी आश्चर्यजनक यह बात हुई कि सदरलैण्ड ने, जिन्होंने दत्तकमीमांसा एवं दत्तकचन्द्रिका का अनुवाद उपस्थित किया है, अपनी टिप्पणियों में 'नियोगादिना' को "इस प्रकार की नियुक्ति या विवाह एवं अन्य ऐसी ही समान विधियों के द्वारा" के अर्थ में ले लिया है ! देखिए स्टोक कृत हिन्दू लॉ टेक्ट्स (पृ० ५९०)। 'विवाह' को 'नियोग' के उपरान्त जोड़ने का कोई औचित्य नहीं था। विवाह के नियमों एवं नियोग के नियमों में भिन्नता है। न्यायाधीशों ने, जिनमें अधिकांश संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ रहे हैं, इस अर्थ को भ्रमात्मक ढंग से ग्रहण कर लिया और कह दिया कि उस व्यक्ति का पुत्रीकरण नहीं हो सकता जिसकी माता से उसके होनेवाले पिता का कुमारी की अवस्था में सम्बन्ध न रहा हो (यहाँ विवाह के पूर्व संसर्ग की ओर संकेत

१०. दत्तकस्तु परिणीत उत्पन्नपुत्रोपि च भवतीति तातचरणाः। युक्तं चेदं बाधकाभावात्। व्यव० म० (पृ० ११४)। जब नीलकण्ठ ऐसा कहते हैं कि कालिकापुराण के तीनों श्लोक असगोत्र लड़के के पुत्रीकरण की ओर संकेत करते हैं, तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे अपना मत प्रकाशित करते हैं, उनका केवल इतना ही कहना है कि ये पद्य यदि कुछ कहते हैं तो वह असगोत्र लड़के के पुत्रीकरण के विषय में है, एवं च "चूडाद्या इत्यतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिणा द्विजातीनामुपनयनलाभः शूद्रस्य तु विवाहादिलाभः। दत्तकच० (पृ० ३६)।

११. पुत्रच्छाया पुत्रसादृश्यं तच्च नियोगादिना स्वयमुत्पादनयोग्यत्वं यथा भ्रातृसपिण्डसगोत्रादिपुत्रस्य। न चासम्बन्धिनि नियोगःसम्भवः। बीजार्थं ब्राह्मणः कश्चिद्धनेनोपनिमन्त्र्यतामिति स्मरणात्। ततश्च भ्रातृपितृव्यमातुलदौहित्रभागिनेयादीनां निरासः पुत्रसादृश्याभावात्।....तथा प्रकृते विरुद्धसम्बन्धपुत्रो वर्जनीय इति। यतो रतियोगः सम्भवति तादृशः कार्य इति यावत्। दत्तकमी० (पृ० १४४-१४५ एवं १४७)। और देखिए दत्तकच० (पृ० २१) एवं आदिपर्व (१०५।२)।

कर दिया गया है)। बम्बई को छोड़कर अन्य प्रान्तों में ऐसा कानून चलता रहा है। यद्यपि दत्तकमीमांसा ने ऐसा कह दिया कि पुत्रीकरण के योग्य लड़के की उत्पत्ति नियोग आदि से होनी चाहिए, किन्तु अन्य स्थान पर इसका कहना है, जैसा कि शौनक एवं शाकल ने कहा था, कि पुत्री के पुत्र, बहिन के पुत्र एवं मौसी के पुत्र को छोड़कर किसी अन्य गोत्र वाले को भी दत्तक बनाया जा सकता है। बम्बई के उच्च न्यायालय ने उपर्युक्त तीनों को छोड़कर किसी को भी दत्तक के योग्य ठहरा दिया है। इसके विचित्र-विचित्र परिणाम प्राप्त हुए हैं, यथा--किसी व्यक्ति द्वारा अपने सौतेले भाई के पुत्र को गोद लेना वैध है (बम्बई उच्च न्यायालय), कोई अपने मामा के पुत्र को गोद ले सकता है (वही), विधवा अपने मृत पति के दामाद को गोद ले सकती है (देखिए बम्बई हाईकोर्ट ३९, ४१०; ४७, ३५)। यह विचारणीय है कि द्वैतनिणय या धर्मद्वैतनिर्णय (नीलकण्ठ के पिता शंकर भट्ट द्वारा लिखित) एवं व्यवहारमयूख ने कतिपय मीमांसा-नियमों के आधार पर गूढ़ तर्क द्वारा व्यवस्था दी है कि तीनों उच्च वर्णों के व्यक्ति पुत्री के पुत्र, बहिन के पुत्र या मौसी के पुत्र को गोद ले सकते हैं तथा शूद्र इनमें से किसी को अन्य की अपेक्षा अवश्य गोद ले। बम्बई के उच्च न्यायालय ने नीलकंठ के स्थान पर नन्द पण्डित द्वारा उपस्थापित शौनक के वचन की व्याख्या का अनुसरण किया है, किन्तु साथ-ही-साथ नन्द पण्डित की यह बात नहीं मानी है कि भाई या चाचा को गोद नहीं लिया जा सकता। अच्छा तो यह हुआ होता कि वह नन्द पण्डित के वचनों को सभी बातों में न मानता और मयूख की व्याख्या को ही मान्यता देता। सामान्य मनोवृत्ति पुत्री के पुत्र एवं बहिन के पुत्र के पक्ष में है, क्योंकि वे बहुत पास एवं अति प्रिय सम्बन्धी हैं, किन्तु बम्बई उच्च न्यायालय ने उनके लिए द्वार बन्द कर दिया है और भाई, मामा तथा उसके पुत्र या अपनी पुत्री के पति के लिए द्वार खोल दिया है, जो लोगों को असंगत लगता है। इसके अतिरिक्त, उच्च न्यायालयों ने पुत्री के पुत्र को देशस्थ स्मार्त ब्राह्मणों (धारवाड़ जिले के) एवं तैलंग ब्राह्मणों की परम्पराओं के आधार पर मान्यता दे दी है। पूरे भारत में शूद्र लोग अपनी पुत्री, बहिन या मौसी के पुत्र को गोद ले सकते हैं। दत्तकमीमांसा ने आगे बढ़कर यह व्यवस्था दे दी है कि विधवा अपने भाई के पुत्र को नहीं अपना सकती। यहाँ इस ग्रन्थ ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि वह स्वतः ही ऐसा नहीं कर सकती, क्योंकि ऐसा करने से विधवा ऐसा पुत्र बनाती है जिसका उसके पति से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उसके भाई की स्त्री से (सरहज से) उसका कोई सम्बन्ध नहीं है; इसके अतिरिक्त उसका (विधवा का) पति ऐसे पुत्र को स्वयं अपना सकता था। बम्बई के उच्च न्यायालय एवं प्रिवी कौंसिल ने दत्तकमीमांसा के इस निरर्थक प्रस्ताव को ठुकरा दिया है। पन्नालाल ने अपनी पुस्तक 'कुमायूँ लोकल कस्टम्स' में लिखा है कि भारत के उस भाग में पुत्री का पुत्र या बहिन का पुत्र दत्तक पुत्र बनाया जा सकता है। हाल में यह निर्णीत हुआ है कि शूद्रों में किसी स्त्री का अवैध पुत्र दत्तक नहीं बनाया जा सकता है (इण्डियन ला रिपोर्ट्स, १९४१, बम्बई ३५०)। लिंगायतों में कोई स्त्री अपने अवैध पुत्र को दत्तक होने के लिए नहीं दे सकती। इसी के आधार पर उपर्युक्त नियम बना है।

द्वयामुष्यायण--दत्तक पुत्र के दो प्रकार हैं; **केवल** (साधारण) एवं **द्वयामुष्यायण** (दो पिताओं का पुत्र)। जब कोई इस समझौते के आधार पर दत्तक के रूप में अपना पुत्र देता है कि वह दोनों का (स्वाभाविक पिता अर्थात् जनकपिता तथा पालक का) पुत्र है तो ऐसे दत्तक पुत्र को **द्वयामुष्यायण** कहा जाता है।[12] बम्बई उच्च न्यायालय

१२. अयं च दत्तको द्विविधः केवलो द्वयामुष्यायणश्च। संविदं विना दत्त आद्यः। आवयोरसाविति संविदा दत्तस्त्वन्त्यः। व्य० म० (पृ० ११४)। दत्तकचन्द्रिका (पृ० ६१, ६६) ने केवल दत्तक के लिए शुद्धदत्तक शब्द प्रयुक्त किया है। हमने ऊपर देख लिया है (अध्याय २७) कि मिताक्षरा में द्वयामुष्यायण एवं क्षेत्रज को समानार्थक या पर्याय-वाची माना है। नारद (दायभाग, २३) ने भी सम्भवतः इसी अर्थ में इसे प्रयुक्त किया है, यथा--द्विरामुष्यायणा

ने व्यवस्था दी है कि द्व्यामुष्यायण करने के पूर्व उपर्युक्त प्रकार के समझौते की सिद्धि उस विषय में भी होनी चाहिए जहाँ एक भाई अपने अन्य भाई के इकलौते पुत्र को अपनाता है (४२, बम्बई, २७७)। द्व्यामुष्यायण अपने जनक एवं पालक के कुलों का रिक्थाधिकार पाता है। यह शब्द कुछ स्मृतियों में **दत्तक, क्रीत** जैसे पुत्रों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।[13] व्य० मयूख ने कात्यायन की उक्ति उद्धृत की है (जिसे दत्तकच० ने पैठीनसि का माना है)। व्य० मयू०, दत्तकमी० एवं दत्तकच० ने ऐसी उक्ति (जिसे प्रथम ने प्रवराध्याय की तथा दूसरे ने पारिजात की माना है) उद्धृत की है, जो इसका समर्थन करती है। दत्तकमी० एवं दत्तकच० ने सत्याषाढ के दो सूत्र (जिन पर शबर का भाष्य है) उद्धृत किये हैं, जिनमें **क्षेत्रज** को **नित्य द्व्यामुष्यायण** तथा दत्तक एवं अन्य पुत्रों को **अनित्य द्व्यामुष्यायण** कहा गया है। याज्ञ० (२।१२७) एवं बौधायनधर्म० (२।२।२।२१) के मत से **क्षेत्रज** उत्पन्न करनेवाले एवं उस व्यक्ति का पुत्र होता है जिसकी पत्नी से वह उत्पन्न किया जाता है। अतः यह **नित्य द्व्यामुष्यायण** कहलाता है क्योंकि वह सदैव दो पिताओं का पुत्र रहता है। जब **क्षेत्रज** पुत्र व्यवहारातीत एवं वर्जित मान लिया गया तो वही द्व्यामुष्यायण रह गया जो समझौते के अनुसार जनक का एवं पालक का एक मात्र पुत्र कहलाता है। मनु (९।१४२) ने एक सामान्य नियम दिया है कि दत्तक अपने जनक के गोत्र का परित्याग करता है और पालक का गोत्र ग्रहण करता है। किन्तु कुछ लोगों के मत से दत्तक के दो गोत्र होते हैं; यदि **चौल** तक के संस्कार जनक के कुल में हुए हों तथा **उपनयन** एवं उसके उपरान्त के पालक के कुल में हुए हों तभी ऐसा होता है। अतः यह कोई सामान्य प्रस्ताव नहीं था कि दत्तक सदैव दो गोत्रों वाला होता है। यदि **जातकर्म** से लेकर सभी संस्कार पालक द्वारा सम्पादित होते हैं तो **दत्तक** पालक का गोत्र धारण करता है। इसी से **दत्तक** एवं **क्रीत** पुत्रों को **अनित्य द्व्यामुष्यायण** (जो सभी स्थितियों में द्व्यामुष्यायण नहीं होते) पुत्रों की संज्ञा मिली है। और देखिए दत्तकमी० (पृ० १८८-१८९)। **क्षेत्रज** कई शताब्दियों पूर्व अव्यवहार्य हो गया था, अब तो न्यायालयों द्वारा **अनित्य द्व्यामुष्यायण** भी अप्रचलित घोषित कर दिया गया। अब ऐसी व्यवस्था है कि सिर्फ **केवल-दत्तक** ही दत्तक रूप में माना जायगा, जब तक कि यह समझौता सिद्ध न कर दिया जाय कि दत्तक पुत्र दोनों का है (वैसी स्थिति में वह द्व्यामुष्यायण दत्तक कहा जायगा)।

जब कोई द्व्यामुष्यायण के रूप में अपनाया जाता है तो उसका पुत्र, जो इस प्रकार के पुत्रीकरण के उपरान्त जन्म लेता है, पालक के पौत्र रूप में रिक्थाधिकार पाता है, किन्तु यह तभी होता है जब कि पालक के पूर्व ही द्व्यामुष्यायण का देहान्त हो जाता है।

दद्युर्द्वाभ्यां पिण्डोदके पृथक्। रिक्थादर्धं समादद्युर्बीजिक्षेत्रिकयोस्तथा॥ यहाँ द्व्यामुष्यायण के स्थान पर 'द्विः' अव्यय के साथ आमुष्यायण शब्द प्रयुक्त हुआ है और 'द्विः' का अर्थ है 'दो बार'। द्व्यामुष्यायण शब्द 'द्वि' (दो) एवं 'आमुष्यायण' (इसका पुत्र या उसका पुत्र) से बना है। और देखिए तैत्तिरीय संहिता (२।७।७।७), अथर्ववेद (४।१६।९; १०।५।३६ एवं ४४; १६।७।८), हारीतगृह्यसूत्र (१।९।१९), भारद्वाजगृह्यसूत्र (२।१९), पाणिनि (६।३।२१) पर कात्यायन का वार्तिक (२)। पाणिनि (४।१।९९) के अनुसार 'आमुष्यायण' 'अमुष्य' (इसका या उसका) से बना है और इसका तात्पर्य है 'अपत्य' (पुत्र)। आश्वलायनश्रौतसूत्र (उत्तरषट्क, ६।१३) में 'द्व्यामुष्यायण' के लिए 'द्विप्रवाचन' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

१३. यत्तु--अथ चेद्दत्तकक्रीतपुत्रिकापुत्राः परिग्रहेणानार्षेयास्ते द्व्यामुष्यायणा भवन्ति--इति द्व्यामुष्यायणानुपक्रम्य कात्यायनः। व्य० म० (पृ० ११५); दत्तकच० (पृ० ४६) ने इसे पैठीनसि का माना है।

पुत्रीकरण के संस्कार---पुत्रीकरण का अत्यन्त आवश्यक अंग है जनक द्वारा पुत्रार्पण एवं पालक द्वारा पुत्र-परिग्रहण और इसके पीछे इस भावना का रहना कि अब पुत्र पालक के कुल का हो रहा है। कुछ विषयों में एक अन्य आवश्यक अंग है होम, जिसे **दत्तकहोम** कहा जाता है (जिसका उल्लेख शौनक एवं बौधायन ने किया है)। यह कोई आवश्यक नहीं है कि अर्पण एवं परिग्रहण के उपरान्त ही **दत्तकहोम** कर दिया जाय, जब अर्पणकर्ता एवं परिग्रहणकर्ता विधवा या शूद्र या कोई बीमार व्यक्ति या कोई अन्य हो तो यह कार्य किसी अन्य व्यक्ति द्वारा सम्पादित हो सकता है। यद्यपि वैदिक काल में नारियाँ मन्त्र-वक्ता होती थीं और हारीत एवं यम ने लिखा है कि स्त्रियों का उपनयन संस्कार होता था और वे वेदाध्ययन कर सकती थीं (देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय ७), किन्तु कालान्तर में ऐसा समझा जाने लगा कि वे वेद नहीं पढ़ सकतीं, वैदिक मन्त्रों का उच्चारण नहीं कर सकतीं; अतः वे कोई होम नहीं कर सकतीं। इसी से कुछ लेखकों ने ऐसा कहा कि विधवा पुत्रीकरण कर ही नहीं सकती। किन्तु व्य० मयूख आदि में आया है कि विधवा शूद्र के समान ऐसा कर सकती है, अर्थात् जिस प्रकार शूद्र ब्राह्मण द्वारा दत्तक-होम करा सकता है, उसी प्रकार विधवा वैसा कर सकती है।[१४] (देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय ७, जहाँ स्त्रियों की हीनावस्था के कारणों पर प्रकाश डाला गया है।) ऐसा कहा गया है कि द्विजों में **दत्तकहोम** की कोई आवश्यकता नहीं है यदि परिगृहीत पुत्र पालक के गोत्र का है। दत्तकदर्पण ने सरस्वतीविलास से यम को उदधृत कर कहा है कि सभी दशाओं में होम सर्वथा आवश्यक नहीं है। यही बात जगन्नाथ ने कही है (देखिए डा० जॉली; टैगोर लॉ लेक्चर्स, पृ० १६०, कोलब्रुक; डाइजेस्ट ४)। धर्म-सिन्धु का कथन है कि कुछ प्रदेशों में सगोत्र-सपिण्डों के लिए वैदिक संस्कारों के बिना भी पुत्रार्पण एवं पुत्र-ग्रहण वैध माना जाता है। इस विषय में आधुनिक न्यायालयों के मतों में एकता नहीं है और हम उनके उदघाटन में नहीं पड़ेंगे। शूद्रों में होम की कोई आवश्यकता नहीं है। बौधायनगृह्य-शेषसूत्र (२।६।४-९) में पुत्रीकरण के संस्कार का वर्णन है। देखिए दत्तकमी०, संस्कारकौमुदी (पृ० १७७), धर्मसिन्धु (पृ० १६१)। शौनक ने जो विधि दी है वह बौधायन के बाद की है और उसमें थोड़ी भिन्नता भी है तथा वह ऋग्वेद के अनुयायियों के लिए है (संस्कारकौस्तुभ, पृ० १७५)। व्यवहारमयूख (पृ० १२०-१२२) एवं धर्मसिन्धु (३, पूर्वार्ध, पृ० १६०-१६१) में विस्तार के साथ विधि दी गयी है। पाठक वहाँ देख लें।

पुत्रीकरण के परिणाम---गोद लेने से एक व्यक्ति का एक कुल से दूसरे कुल में जाना होता है। गोद लिये जाने पर दत्तक पुत्र को कुछ सम्यक् रूप से परिभाषित बातों को छोड़कर औरस पुत्र के समान ही पालक के कुल के अधिकार एवं सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। इस विषय में मनु (९।१४२) के निम्न वचन हैं---अर्पित पुत्र को अपने कुल के गोत्र का नाम एवं अपने जनक की सम्पत्ति नहीं लेनी चाहिए; पिण्ड (श्राद्ध के समय पितरों को दिया जानेवाला पके चावल का गोला) गोत्र एवं सम्पत्ति का अनुगमन करता है (अर्थात् इनमें सतत आनुषंगिक सम्बन्ध होता है); जो दत्तक देता है (अर्थात् जो अपना पुत्र देता है) उसकी अन्तिम क्रिया समाप्त हो जाती है (अर्थात् दत्तक पुत्र उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया एवं श्राद्ध-कर्म आदि नहीं करता)।[१५] इससे स्पष्ट है कि दत्तक पुत्र को पालक की सम्पत्ति प्राप्त होती है, वह पुत्रीकरण

१४. यच्छुद्धिविवेक उक्तं वैदिकमन्त्रसाध्यहोमवति पुत्रप्रतिग्रहे शूद्रस्यानधिकार इति तदपास्तम्। समन्त्रक-होमस्तु तेन विप्रद्वारा कार्यः।...स्त्रिया अपि शूद्रवदेवाधिकारः। स्त्रीशूद्राश्च सधर्माणः---इति वाक्यात्। व्य० म० (पृ० ११२)। और देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय १२।

१५. गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद् दत्रिमः क्वचित्। गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा॥ मनु (९।१४२)।

के उपरान्त अपने वास्तविक पिता का नाम नहीं लेता या व्यवहार करता, उसे उसकी सम्पत्ति भी नहीं मिलती और न वह उसकी अन्त्येष्टि क्रिया तथा श्राद्ध ही करता है। मनु के इस कथन के आधार पर एक विद्वान् हिन्दू न्यायाधीश ने यह फतवा दे दिया कि दत्तक-सम्बन्धी सिद्धान्त दत्तक के जनक-कुल अर्थात् पितृ-कुल एवं मातृ-कुल से सम्पूर्ण पृथक्त्व तथा पालक-कुल में सम्पूर्ण निवेशन (मानो वह वहीं उत्पन्न हुआ था) पर निर्भर है। सम्पूर्ण पृथक्त्व-सम्बन्धी विचार के लिए यहाँ कोई आधार या प्रमाण नहीं है। किन्तु यह सिद्धान्त बहुत-से विवादों में मान्य हो गया और प्रिवी कौंसिल ने इसे स्वीकार भी कर लिया। एक दूसरे न्यायाधीश ने यह कह दिया—"सम्पूर्ण पुत्रीकरण मानो पालक-कुल में लड़के के जन्म होने-जैसा है और जहाँ तक इस प्रकार के पुत्रीकरण से उत्पन्न वैध परिणामों का प्रश्न है, उस लड़के की जन्म-कुल में सम्पत्ति सम्बन्धी (सिविल) मृत्यु भी है।" प्रिवी कौंसिल को अन्त में सचेत करने के लिए यह लिखना पड़ा—"जैसा कि कई बार देखने में आया है, 'सम्पत्ति-सम्बन्धी व्यवहारानुसार या सम्पत्ति के लिए मृत्यु या मानो वह कुल में उत्पन्न ही नहीं हुआ था' आदि बातें सभी प्रकार के प्रयोगों के लिए भ्रमपूर्ण हैं और तर्कसंगत नहीं हैं, वे केवल 'नये जन्म' के लिए औपचारिक मात्र हैं।" हमें यह जानना है कि प्रामाणिक निबन्धों ने ही मनु के कथन को इस प्रकार से रखा। व्य० मयूख ने मनु (९।१४२) की व्याख्या करके निष्कर्ष निकाला कि **गोत्र, रिक्थ, पिण्ड** एवं **स्वधा** नामक चार शब्दों को शाब्दिक अर्थ में नहीं लेना चाहिए, प्रत्युत उन्हें पिण्ड-सम्बन्धी परिणामों के अर्थ में ही लेना चाहिए, जो कि पुत्रीकरण के उपरान्त वास्तविक पिता से सम्बन्धित हैं, अर्थात् दत्तक होने के लिए पुत्र दे देने के उपरान्त जनक से उसका सम्बन्ध टूट जाता है। इसी प्रकार पुत्रीकरण के उपरान्त दत्तक का अपने वास्तविक भाई, चाचा आदि से सम्बन्ध टूट जाता है। व्यवहारमयूख का कहना यह नहीं है कि दिये हुए पुत्र की जन्म-कुल में मृत्यु हो जाती है या उसका जन्म-कुल से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं रहता; प्रत्युत उसका केवल इतना ही कहना है कि दत्तक पुत्र हो जाने के उपरान्त जन्म-कुल में पिण्ड-दान करने एवं जन्म-कुल की सम्पत्ति लेने के उसके अधिकार बन्द हो जाते हैं। स्मृतिच० (२, पृ० २८९) को उद्धृत कर दत्तकमीमांसा (पृ० १६३-१६४) ने व्यवस्था दी है कि दत्तक हो जाने के उपरान्त पुत्र अपने दाता के गोत्र वाला नहीं रह जाता।[१६] यही बात दत्तकचन्द्रिका (पृ० २३-२४) ने भी बिना स्मृतिचन्द्रिका का उल्लेख करते हुए कही है। विद्वान न्यायाधीशों ने प्रामाणिक ग्रन्थों को स्वयं न देखकर प्रत्युत कुछ अनुवादों के आधार पर ही जो चाहा सो निर्णय दिया है। वे इस विषय में असावधान-से रहे हैं कि धर्मशास्त्र-ग्रन्थों ने दत्तक हो जाने के उपरान्त उसके पिण्ड एवं गोत्र तथा रिक्थ की परिसमाप्ति के विषय में क्या कहा है। सरस्वतीविलास (पृ० ३९४) ने विष्णु० का उद्धरण देते हुए कहा है कि दत्तक पुत्र को भी अपने जनक की अन्त्येष्टि-क्रिया करने का अधिकार है। किन्तु मनु (९।१४२ के अनुसार यह तभी सम्भव है जब कि मृत्यु के समय उसके जनक को कोई पुत्र न हो। यही बात खादिरगृह्यसूत्र (३। ५।६) की टीका में रुद्रस्कन्द एवं निर्णयसिन्धु के लेखक कमलाकर ने (जो नीलकण्ठ के प्रथम चचेरे भाई एवं उनके समकालीन हैं) कात्यायन एवं लौगाक्षि (प्रवरमंजरी में उल्लिखित, पृ० १४६) का हवाला देते हुए, कही है। धर्मसिन्धु (३, पूर्वार्ध, पृ० १६१) का कथन है कि जन्म-कुल में उपनयन हो जाने के उपरान्त कोई असगोत्र जब दत्तक बनता है या जब पालक द्वारा उपनयन मात्र कराया जाता है तो दत्तक को श्रेष्ठ जनों के आगे प्रणाम करते समय या श्राद्ध आदि कर्म में दोनों गोत्रों का उच्चारण करना चाहिए; किन्तु जब दत्तक के चौल से लेकर सारे संस्कार पालक के गृह में सम्पादित होते हैं तो उसका केवल एक अर्थात् पालक का ही गोत्र होता है।

१६. एतेन पुत्रत्वापादकक्रिययैव दत्रिमस्य प्रतिग्रहीतृधने स्वत्वं तत्सगोत्रत्वं च भवति। दातृधने तु दानादेव पुत्रत्वनिवृत्तिद्वारा दत्रिमस्य स्वत्वनिवृत्तिर्दातृगोत्रनिवृत्तिश्च भवतीत्युच्यते इति चन्द्रिकाकारः। दत्तकमीमांसा (पृ० १६३-१६४)।

मनु (९।१४२) के कथन का सीधा अर्थ यह है—जब कोई दत्तक होने के लिए अपना पुत्र दे देता है तब उसके पुत्र का दूसरे कुल में स्थानान्तरण हो जाता है, वह दाता के लिए श्राद्ध एवं अन्य क्रियाएँ नहीं करता, और न उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके धन का अधिकारी होता और न विभाजन के समय कोई माँग उपस्थित कर सकता है। दाता के अन्य पुत्र या पुत्रों द्वारा उसके श्राद्ध-कर्म आदि सम्पादित होते हैं और वे ही कुल-सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते हैं। किन्तु बम्बई के न्यायालय ने इसे तोड़-मरोड़कर दो प्रकार के निर्णय दिये हैं जो परस्पर-विरोधी हैं। हम यहाँ पर इसके विवेचन में नहीं पड़ेंगे।

कुछ विषयों में जनक-कुल का गोत्र वर्तमान रहता है, जैसा कि निबन्धों के कथनों से व्यक्त होता है। संस्कारकौस्तुभ (पृ० १८२) का कहना है कि दत्तक को विवाह करते समय अपने जन्म-कुल एवं पालक-कुल के गोत्रों से बचना अर्थात् दोनों का वर्जन करना चाहिए।[१७] धर्मसिन्धु (३, पृ० १६१) ने भी यही कहा है। इसके अनुसार जनक एवं पालक के कुलों की कन्या से विवाह करना सदा के लिए वर्जित है न कि सात या पाँच पीढ़ियों तक। अतः यदि पूर्णरूपेण गोत्र-सम्बन्ध न टूटे तो इसमें कोई तुक नहीं है कि पुत्रीकरण के पूर्व लिये गये रिक्थ का त्याग या अपहार किया जाय या रिक्थाधिकार का त्याग केवल भविष्य के लिए न किया जाय। निबन्धों में सपिण्ड-सम्बन्ध के विषय में मतैक्य नहीं है। दत्तकमीमांसा (पृ० १९७) के मत से **द्व्यामुष्यायण** को तीन पीढ़ियों तक जनक एवं पालक के कुलों की सपिण्ड कन्या से विवाह न करना चाहिए। **केवल दत्तक** को सपिण्ड-सम्बन्ध अपने पालक के कुल में तीन पीढ़ियों तक मानना चाहिए (क्योंकि वह पालक के शरीर का कोई अंश अपने में नहीं पाता) और वही सम्बन्ध अपने जनक के कुल में सात पीढ़ियों तक मानना चाहिए।[१८] निर्णयसिन्धु (३,पूर्वार्ध, पृ०२९०-२९१) ने कई मतों का प्रकाशन करने के पश्चात् अपना मत दिया है कि विवाह में जनक एवं पालक के कुलों की सात पीढ़ियाँ देखनी चाहिए (पालक में यह पिण्डदान पर आधारित है)। व्य० मयूख (पृ० ११९) के मत से केवल दत्तक का पालक-कुल में सपिण्ड-सम्बन्ध सात पीढ़ियों तक तथा पालिका-कुल में पाँच पीढ़ियों तक रहता है। लगता है, इसके मत से जनक के कुल में कोई सपिण्ड-सम्बन्ध नहीं होता, जैसा कि मनु (९।१४२) ने कहा है। दत्तकचन्द्रिका (पृ० ६१-६६) ने संभवतः यह माना है कि **द्व्यामुष्यायण** को सपिण्ड-सम्बन्ध (दत्तकमीमांसा के मत की भाँति) मानना चाहिए, किन्तु **केवल दत्तक** को पालक-कुल में सपिण्ड-सम्बन्ध सात पीढ़ियों तक मानना चाहिए, जैसा कि मनु (९।१४२) ने माना है। धर्मसिन्धु (३, पृ० १६१) का कहना है कि सपिण्ड-सम्बन्ध की पीढ़ी-सम्बन्धी निर्भरता इस प्रश्न पर है कि पुत्रीकरण जनक-कुल में उपनयन के उपरान्त हुआ है या उपनयन के पूर्व, या जातकर्म से लेकर सभी संस्कार पालक-कुल में सम्पादित हुए हैं।

१७. विवाहे तु दत्तकमात्रेण बीजिप्रतिग्रहीत्रोः पित्रोर्गोत्रप्रवरवर्जनं कार्यम्। प्रवरमञ्जर्यादिनिबन्धेषु तन्निषेधोक्तेः। संस्कारकौस्तुभ (पृ० १८२); विवाहे तु सर्वदत्तकेन जनकपालकयोरुभयोरपि पित्रोर्गोत्रप्रवरसम्बधिनी कन्या वर्जनीया। नात्र साप्तपौरुषं पाञ्चपौरुषमित्येवं पुरुषनियम उपलभ्यते। धर्मसिन्धु (३, पूर्वार्ध, पृ० १६१)।

१८. यदिदमुभयत्र त्रिपुरुषसापिण्ड्याभिधानं तद् द्व्यामुष्यायणाभिप्रायेण त्रिकद्वयेन सपिण्डीकरणाभिधानात्। शुद्धदत्तकस्य तु प्रतिगृहीतृकुले त्रिपुरुषं पिण्डान्वयरूपं सापिण्ड्यं जनककुले साप्तपौरुषमवयवान्वयरूपमेवेत्यलं प्रपञ्चेन। दत्तकमीमांसा (पृ० १८७); मम तु पालककुले एकपिण्डदानक्रियान्वयित्वरूपं साप्तपौरुषमेव सापिण्ड्यं बीजिनश्चेति गौतमोक्तेर्जनककुलेपि तावदेव। नि० सि० (३, पूर्वार्ध, पृ० २९१)।

बम्बई के उच्च न्यायालय ने व्यवस्था दी है कि दत्तक पुत्र अपने जनक-कुल में वर्जित पीढ़ियों तक विवाह नहीं कर सकता और उस समय तक यह नहीं कहा जा सकता कि वह उस कुल में नहीं उत्पन्न हुआ है, क्योंकि विवाह के वर्जन के लिए दोनों कुलों में सपिण्ड-सम्बन्ध को मान्यता दी गयी है।

निर्णयसिन्धु, धर्मसिन्धु एवं दत्तकचन्द्रिका (पृ० ४८-४९) ने घोषित किया है कि यदि जनक के पास मरते समय कोई पुत्र न हो या कोई अन्य उपयुक्त व्यक्ति न हो तो दत्तक पुत्र उसका श्राद्ध कर्म कर सकता है। निर्णयसिन्धु एवं संस्कारकौस्तुभ (पृ० १८५-१८६) का मत है कि जनक के मरने पर दत्तक पुत्र तीन दिनों तक सूतक मनाता है और यही उसके मरने पर उसका जनक करता है। दत्तकमीमांसा एवं दत्तकचन्द्रिका इसके विरोध में हैं, इनके अनुसार केवल-दत्तक अपने जनक एवं जनक-कुल के अन्य सम्बन्धियों के लिए सूतक नहीं मनाता।[१९] यदि विवाहित पुत्रवान् व्यक्ति का पुत्रीकरण हो (जैसा कि बम्बई में संभव है) तो पुत्रीकरण के पूर्व उत्पन्न उसका पुत्र जनक-कुल में ही रह जाता है और जिस कुल में वह जाता है उसके धन एवं गोत्र का अधिकार उसके पुत्र को नहीं प्राप्त होता। किन्तु उस पिता को, जो गोद द्वारा दूसरे कुल में चला गया है, गोद लिये जाने के पूर्व उत्पन्न पुत्र को, जो जनक-कुल में रहता है, दूसरे को दत्तक रूप में देने का अधिकार प्राप्त है।[२०]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पुत्रीकृत पुत्र को (दत्तक पुत्र को) अपने जनक-कुल से रक्त-सम्बन्ध प्राप्त है (इस कारण वह वर्जित पीढ़ियों तक उस कुल की कन्या से विवाह नहीं कर सकता), वे संस्कार जो जनक-कुल में सम्पादित हो चुके रहते हैं पुत्रीकरण के उपरान्त पुनः नहीं किये जाते, वह अपने जनक का गोत्र इस रूप में रखता है कि वह उस गोत्र वाली कन्या से विवाह नहीं कर सकता, और कुछ लेखकों के मत से वह अपने जनक पिता का सूतक मना सकता है, अर्थात् उसका श्राद्ध कर सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि पुत्रीकरण के उपरान्त उसका जनक-कुल से त्याग केवल कुछ ही सीमा तक है और वह है सीमित, केवल पिण्ड, रिक्थ एवं कुछ सम्बन्धित विषयों तक ही; वह त्याग सम्पूर्ण नहीं है, जैसा कि कुछ निर्णीत विवादों में प्रकट किया गया है।

दत्तक पुत्र औरस पुत्र के समान ही पालक-कुल में रिक्थाधिकार पाता है, अर्थात् वह न केवल अपने पालक का धन पाता है, प्रत्युत उसे अपने पालक पिता के भाई, चचेरे भाई आदि के भी दायांश प्राप्त हो सकते हैं (जब कि उनके पुत्र या अत्यन्त सन्निकट सम्बन्धी न हों)। दत्तक पुत्र को उसकी पालिका एवं उसके (पालिका के) सम्बन्धियों, यथा--पिता एवं भाई के उत्तराधिकार भी प्राप्त होते हैं। दूसरे अर्थ में यह कहा जा सकता है कि गोद लेनेवाली माता (पालिका) एवं उस माता के पिता के सम्बन्धी-गण उसे अपना धन देने के अधिकारी हो जाते हैं।[२१]

वसिष्ठ एवं बौधायन ने व्यवस्था दी है कि यदि दत्तक लेने के उपरान्त औरस उत्पन्न हो जाय तो दत्तक को चौथाई भाग मिलता है। इस विषय में स्मृति-वचनों एवं निबन्धों में मतैक्य नहीं है। दायभाग (१०।१३, पृ० १४८) ने एवं विवादचिन्तामणि (पृ० १५०) ने कात्यायन को उद्धृत कर कहा है कि औरस उत्पन्न हो जाने के उपरान्त

१९. दत्तकस्तु जनकपितुः पुत्राद्यभावे जनकपितुः श्राद्धं कुर्याद्धनं च गृह्णीयात्। जनकपालकयोरुभयोः पित्रोः सन्तत्यभावे दत्तको जनकपालकयोरुभयोरपि धनं हरेत्, श्राद्धं च प्रतिवार्षिकमुभयोः कुर्यात्। धर्मसिन्धु (३, उत्तरार्ध पृ० ३७१)।

२०. देखिए मार्तण्ड--बनाम--नारायण, आई० एल० आर० (१९३९) बम्बई, ५८६ (एम० बी०)।

२१. दत्तकादीनां मातामहा अपि प्रतिग्रहीत्री या माता तत्पितर एव पितृन्यायस्य मातामहेष्वपि समानत्वात्। दत्तकमी० (पृ० १९८); शुद्धदत्तकस्य तु प्रति गृहीत्र्या एव मातुः पित्रादिपिण्डदानम्। दत्तकच० (पृ० ६१)।

उसी जाति के अन्य प्रकार के पुत्रों को मिलकियत का तिहाई भाग मिलता है। बंगाल में इन परिस्थितियों में पालक के धन का एक-तिहाई भाग दत्तक को मिलता है। वाराणसी एवं जैनों में चौथाई भाग मिलता है। सरस्वतीविलास (पृ० ३९३) के मत से आठवाँ भाग मिलता है। बम्बई में दत्तक को १/५ भाग तथा औरस को ४/५ भाग मिलता है। यही बात बम्बई में शूद्रों के लिए भी है। किन्तु बंगाल एवं मद्रास में यह तय पाया है कि (दत्तकचन्द्रिका, पृ० ९८ के आधार पर) शूद्रों में दत्तक एवं औरस को बराबर-बराबर मिले। यदि सम्पत्ति विभाजनयोग्य न हो या उसे परम्परा के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र को ही दिया जाता है तो दत्तक लेने के उपरान्त यदि औरस उत्पन्न हो जाय तो औरस को सम्पूर्ण सम्पत्ति मिल जाती है। यदि संयुक्त परिवार में दो भाई हों और उनमें एक दत्तक ले और दूसरे के पास औरस हो तो दत्तक को विभाजन पर आधी सम्पत्ति मिल जाती है, क्योंकि वसिष्ठ का नियम केवल उस विषय में लाग होता है जहाँ एक ही व्यक्ति को दत्तक एवं औरस दोनों पुत्र हों।[२२]

२२. उत्पन्ने त्वौरसे पुत्रे तृतीयांशहराः स्मृताः। सवर्णा असवर्णास्तु ग्रासाच्छादनभागिनः।। कात्यायन (दायभाग १०।१३, पृ० १४८; वि० चि० पृ० १५०; विवादचन्द्र पृ० ८०)। तथा च कात्यायनः। उत्पन्ने त्वौरसे पुत्रे चतुर्थांशहराः स्मृताः।....चतुर्थांशो नाम चतुर्थस्य योंशः समत्वेन परिकल्प्यते तत्तुल्योंशः इत्यर्थः। सरस्वती-विलास (पृ० ३९३)। अतएव—दत्तपुत्रे यथा जाते कदाचित्स्वौरसो भवेत्। पितू रिक्थस्य सर्वस्य भवेतां समभागिनौ।। इत्यपि वचनं शूद्रविषय एव योजनीयम्। दत्तकच० (पृ० ९८)।

ऐसा लगता है कि विवाहित व्यक्ति को या पुत्रवान् व्यक्ति को दत्तक होने की अनुमति देकर व्यवहारमयूख ने स्मृतियों एवं अन्य निबन्धों की सीमाओं का उल्लंघन किया है। शौनक आदि ने कहा है कि दत्तक को औरस का प्रतिबिम्ब होना चाहिए। अतः दत्तक को उस अवस्था में लेना चाहिए जिससे वह शिक्षण एवं वातावरण द्वारा कालान्तर में औरस के समान ही मनोभाव रखने लगे। अतः विधान सभाओं द्वारा ऐसा नियम बनना चाहिए कि उपनयन के उपरान्त दत्तक न लिया जाय या जनक-कुल में विवाह होने के उपरान्त तो दत्तक नहीं ही लिया जाय। पुत्रहीन व्यक्ति या विधवा यदि, धार्मिक विचारों के अतिरिक्त, अपनी शान्ति, सुरक्षा या वृद्धावस्था में सहायता के लिए गोद लेना चाहते हैं तो यह स्वाभाविक ही है। इंग्लैंड में भी कुछ क्रिया-संस्कारों के साथ किसी नाबालिग को लोग गोद लेते हैं। जब तक विधवा बालिग न हो जाय उसे दत्तक लेने का अधिकार नहीं देना चाहिए। यह कोई तुक नहीं है कि १५ या १६ वर्षीया विधवा पुत्रीकरण कर ले, जब कि उस पुत्रीकरण से उसे उसके द्वारा प्राप्त पति की सम्पत्ति पूर्ण रूप से (अब आधी) छोड़ देनी पड़ती है।

अध्याय २९

पुत्र के उपरान्त उत्तराधिकार का अनुक्रम

यह पहले ही कहा जा चुका है कि **दाय** या तो **अप्रतिबन्ध** होता है या **सप्रतिबन्ध**, और पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र प्रथम प्रकार को ग्रहण करते हैं। यदि किसी को औरस या गौण पुत्र (अर्थात् दत्तक; अन्य प्रकार के गौण पुत्र या तो वर्जित हैं या अप्रचलित हो गये हैं) न हो तो सम्पत्ति एक विशिष्ट क्रम से दी जाती है। जब कोई पुत्रहीन मर जाता है और वह संयुक्त परिवार का सदस्य है तो शेष सहभागियों को पूरी सम्पत्ति मिलती रही है, किन्तु अब सन् १९३७ के कानून (१९३७ के १८ वें कानून) के अनुसार विधवा को संयुक्त संपत्ति में पति का अधिकार प्राप्त हो जाता है। किन्तु यदि व्यक्ति अलग हो गया हो और उसे पुत्र हो तो उसके मरने के उपरान्त (यदि इसके पूर्व उसका पुत्र भी उससे अलग हो गया हो तो) उसकी सम्पत्ति उसके पुत्र वर्ग को समग्र रूप में मिल जाती है, अर्थात उसके पुत्र, पौत्र (मृत पुत्र का पुत्र) एवं प्रपौत्र (मृत पुत्र के मृत पुत्र का पुत्र) साथ-ही-साथ उसके पृथक् रिक्थ को प्राप्त करते हैं। मनु (९।१३७ =वसिष्ठ १७।५=विष्णु १५।४६) एवं याज्ञ० (१।७८) से पता चलता है कि पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र बराबर रूप से आध्यात्मिक (पारलौकिक) फल देते हैं, अतः वे प्रमुख उत्तराधिकारियों के दल में आते हैं। मिताक्षरा के अनुल्लंघ्य सिद्धान्त के अनुसार पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र व्यक्ति के स्वार्जित धन में जन्म से ही अधिकार रखते हैं, किन्तु वे उसके द्वारा उस सम्पत्ति के विघटन के विषय में अधिकार नहीं रखते। यदि पुत्रों, पौत्रों या प्रपौत्रों में एक या अधिक उससे अलग हो गये हों तो उसकी मृत्यु के उपरान्त उसकी स्वार्जित सम्पत्ति सर्वप्रथम उन पुत्रों, पौत्रों या प्रपौत्रों द्वारा ग्रहण की जायगी जो उसके साथ संयुक्त रहे हों, किन्तु यदि कोई भी संयुक्त न रहा हो तो पृथक् पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र समान रूप से ग्रहण करेंगे।

उपर्युक्त सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। बौधायनधर्मसूत्र (१।५।११३-११५) ने कहा है कि व्यक्ति, उसके अपने भाई, सवर्ण पत्नी के पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र एक दल में आते हैं और **अविभक्त-दाय सपिण्ड** कहे जाते हैं। केवल इनके अभाव में ही किसी व्यक्ति का धन **सकुल्यों** में जाता है।[1]

यदि बिना पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र के व्यक्ति मर जाता है तो उसके उत्तराधिकार के विषय में याज्ञवल्क्य के दो श्लोक हैं;[2] "पत्नी, पुत्रियाँ (एवं उनके पुत्र), माता-पिता, भाई, उनके पुत्र, गोत्रज, बन्धु (सपिण्ड सम्बन्धी लोग),

१. अपि च प्रपितामहः पितामहः पिता स्वयं सोदर्या भ्रातरः सवर्णायाः पुत्रः पौत्रः प्रपौत्रस्तत्पुत्रवर्जं तेषां च पुत्रपौत्रमविभक्तदायं सपिण्डानाचक्षते। विभक्तदायानपि सकुल्यानाचक्षते। असत्स्वन्येषु तद्गामी ह्यर्थो भवति। बौ० ध० सू० (१।५।११३-११५)।

२. पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा। तत्सुता गोत्रजा बन्धुशिष्यसब्रह्मचारिणः॥ एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः। स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः॥ याज्ञ० (२।१३५-१३६)। प्रथम पद्य लघुहारीत (६४-६५) में भी पाया जाता है।

शिष्य एवं सहपाठी—इनमें से क्रम से (एक के न रहने पर आगे वाला दूसरा) मृत व्यक्ति का (जब कि कोई पुत्र न हो) धन पाता है। यह नियम सभी वर्णों के लिए प्रयुक्त होता है।" यही बात विष्णुधर्मसूत्र (१७।४-१५) में भी पायी जाती है। विवादचिन्तामणि, रघुनन्दन एवं मित्र मिश्र ने 'अपुत्रस्य' शब्द को (व्यक्ति के मरते समय) उसके पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र के अभाव के अर्थ में लिया है।[3] मिताक्षरा ने 'सर्ववर्णेषु' को उन लोगों के लिए भी प्रयुक्त माना है जो **अनुलोम** एवं **प्रतिलोम** विवाहों से उत्पन्न हुए हैं।

पुरुषों एवं नारियों की सम्पत्ति के उत्तराधिकार के विषय में पृथक्-पृथक् नियम हैं। नारियों के रिक्थ-सम्बन्धी अधिकारों के विषय में बहुत मतभेद भी है। सर्व-प्रथम हम पुरुषों की सम्पत्ति के उत्तराधिकार के विषय में चर्चा करेंगे। यहाँ पर भी मिताक्षरा एवं दायभाग के भिन्न भिन्न सिद्धान्त पाये जाते हैं।

किसी की पृथक् सम्पत्ति के विषय में पुरुष सन्तान के अतिरिक्त अन्य उत्तराधिकारियों में प्रथम स्थान विधवा पत्नी को प्राप्त होता है। कई शताब्दियों के संघर्ष के उपरान्त ही मृत व्यक्ति की (जब वह अलग एवं असंयुक्त रूप में ही मृत हुआ हो) विधवा का उत्तराधिकार मान्य हो सका है। हमने पहले ही देख लिया है कि तैत्तिरीय संहिता (६।५।८।) ने स्त्रियों को 'अदायादी' घोषित कर दिया था। इस शब्द का अर्थ कुछ सन्देहात्मक है, जैसा कि हम आगे देखेंगे। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।६।१४।२) ने सामान्य रूप से कहा है कि पुत्राभाव में आसन्न (बहुत पास का) सपिण्ड उत्तराधिकारी होता है, किन्तु इसने पत्नी को स्पष्ट रूप से उत्तराधिकारी नहीं घोषित किया है, यद्यपि आगे (३।६।१४।४) पुत्री को एक सम्भव उत्तराधिकारी के रूप में उल्लिखित किया है। बौधायन ने भी पत्नी को उत्तराधिकारी के रूप में नहीं सम्मिलित किया है। वसिष्ठ ने स्त्रियों को उत्तराधिकारी नहीं कहा है। गौतम (२८।१९) ने कहा है कि सन्तानहीन मर जानेवाले व्यक्ति की सम्पत्ति को सपिण्ड, सगोत्र एवं सप्रवर, या उसकी पत्नी (अर्थात् हरदत्त के मत से पत्नी अकेले नहीं प्रत्युत अति निकट सपिण्ड या सगोत्र के साथ दायांश पा सकती है) ले सकती है। यही मत हरदत्त का भी था।[4] मनु ने पुत्रहीन व्यक्ति की पत्नी को रिक्थाधिकारी नहीं माना है, बल्कि उनके कुछ ऐसे वाक्य हैं जिनसे पता चलता है कि उन्होंने उसे सर्वथा अलग कर रखा है, यथा—मनु (९।१८५, किसी पुत्रहीन मृत व्यक्ति का धन पिता लेता है या उसके भाई लेते हैं) एवं मनु (९।२१७, पुत्रहीन व्यक्ति का धन माता को लेना चाहिए)। शंख (मिता०, याज्ञ० २।१३५; दायभाग ११।१।१५) ने कहा है कि पुत्रहीन मृत व्यक्ति का धन उसके भाइयों को मिलता है, उनके न रहने पर माता-पिता या सबसे बड़ी पत्नी को मिलता है।[5] देवल (दायभाग ११।१।१७-१८ एवं

३. अनपत्यस्य पुत्रपौत्रप्रपौत्रहीनस्य। पुत्रः पौत्रः प्रपौत्रो वा इत्यादिना अमीषां पाठक्रमेणैव स्वधाधिकारे सिद्धे तत्समानशीलस्य रिक्थग्रहणस्यापि तथैवाधिकारसिद्धेः। वि० चि० (पृ० १५१); अत्र अपुत्रपदं पुत्रपौत्रप्रपौत्राभावपरं तेषां पार्वणपिण्डदातृत्वाविशेषात्। दायतत्त्व (पृ० १८९); अपुत्रपदं पत्नीत्यादिषु श्रूयमाणं पौत्रप्रपौत्राभावोपलक्षणम्। व्य० प्र० (पृ० ५०३)।

४. पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः। आ० ध० सू० (२।६।१४।२); पिण्डगोत्रर्षिसम्बन्धा रिक्थं भजेरन् स्त्री वानपत्यस्य। गौतम (२८।१९), जिस पर हरदत्त का कहना है—'स्त्री तु सर्वैः सगोत्रादिभिः समुच्चीयते। यदा सपिण्डादयो गृह्णन्ति तदा तैः सह पत्न्यप्येकमंशं हरेत्।....पत्नीदायस्तु आचार्यस्य पक्षो न भवति।' आपस्तम्ब० (२।६।१४।२) पर उन्होंने गौतम का मत दिया है—'गौतमस्तु पुत्राभावे पत्न्याः सपिण्डादिभिः समांशमाह। वयमप्येतमेव पक्षं रोचयामहे।'

५. स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य भ्रातृगामि द्रव्यं तदभावे पितरौ हरेयातां ज्येष्ठा वा पत्नी। शंख (मिता० याज्ञ २।-

व्यवहाररत्नाकर पृ० ५९३) ने व्यक्ति के भाइयों, कन्याओं, पिता, सौतेले भाइयों, माता एवं पत्नी को क्रम से रिक्थाधिकारी माना है। यह ज्ञातव्य है कि कालिदास के समय में पुत्रहीन पत्नी को अपने मृत पति का धन नहीं मिलता था, उसे केवल भोजन-वस्त्र मिलता था और सम्पत्ति पर राजा का अधिकार हो जाता था (अभि० शाकुन्तल, ६)।

याज्ञवल्क्य एवं विष्णु जैसे स्मृतिकार हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से घोषित किया कि पुत्रहीन व्यक्ति के मृत होने पर रिक्थाधिकार सर्वप्रथम पत्नी को मिलना चाहिए। बृहस्पति ने पुत्रहीन व्यक्ति की पत्नी को प्रथम उत्तराधिकारी घोषित किया है और अपनी उक्ति के समर्थन में कारण भी दिये हैं--"वेद, स्मृतियों के सिद्धान्तों तथा लोकाचार द्वारा यह घोषित है कि पत्नी अर्धांगिनी है और है पुण्यों एवं पापों में आधी साझी। जिसकी पत्नी मृत नहीं है उसके (पति के) मरने पर उसका आधा शरीर जीवित रहता है। जब तक मृत व्यक्ति का आधा शरीर जीवित रहता है तब तक अन्य कोई सम्पत्ति कैसे पा सकता है? भले ही सकुल्य (सम्बन्धी), पिता, माता या अन्य सम्बन्धी जीवित हों; पुत्रहीन मृत व्यक्ति की पत्नी को उसके भाग का उत्तराधिकार मिलता है। पति के पूर्व मरनेवाली पत्नी पवित्र अग्नियों को साथ ले जाती है (अर्थात् यदि पति अग्निहोत्री है तो पत्नी वैदिक अग्नियों के साथ जलायी जाती है), किन्तु यदि पत्नी के पूर्व पति मृत हो जाता है तो उसकी सम्पत्ति पतिव्रता पत्नी को मिलती है। पतिव्रता नारी की वन्दना करनी चाहिए, यही सनातन धर्म है।"[६]

यद्यपि बहुमान्य स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने विधवाओं के उत्तराधिकार-सम्बन्धी प्रधान अधिकार को घोषित कर दिया था, तब भी कुछ स्मृतियों एवं आरम्भिक टीकाकारों ने उसे नहीं माना। नारद (दायभाग २५-२६) ने व्यवस्था दी है कि जब कई भाइयों में कोई सन्तानहीन मर जाय या संन्यासी हो जाय तो अन्य भाइयों को **स्त्रीधन** छोड़कर उसकी शेष सम्पत्ति बाँट लेनी चाहिए, किन्तु उस (मृत भाई) की पतिव्रता विधवाओं का उनके जीवन भर भरण-पोषण करना चाहिए, किन्तु यदि वे व्यभिचारिणी हों तो उन्हें जीविका-वृत्ति से मुक्त कर देना चाहिए। नारद (दायभाग, ५०-५१) ने कहा है कि पुत्रों के न रहने पर पुत्री, सकुल्य, बन्धु, सजातीय एवं राजा क्रम से उत्तराधिकार पाते हैं। स्पष्ट है, यहाँ पत्नी सम्मिलित नहीं है। व्यास (हरदत्त द्वारा गौतम २८।१९ की टीका में उद्धृत एवं स्मृतिच० २, पृ० २८१) का कथन है कि यदि पति की सम्पत्ति २००० पणों से अधिक की न हो तो पत्नी उसे सम्पूर्ण रूप में ग्रहण कर सकती है। श्रीकर ने ऐसी व्यवस्था दी है कि यदि सम्पत्ति थोड़ी हो तो पत्नी उसे सम्पूर्ण रूप में पा

१३५; अपरार्क, पृ० ७४१)। दायभाग (११।१, १५ पृ० १५४) ने इसे शंख-लिखित, पैठीनसि एवं यम का माना है और पत्नी के पश्चात् 'सगोत्रशिष्यसब्रह्मचारिणः' जोड़ दिया है। किन्तु अपरार्क (पृ० ७४४) ने इसे शंख-लिखित एवं पैठीनसि का माना है। मिताक्षरा ने व्याख्या की है कि 'भाइयों' का तात्पर्य है 'पुनः संयुक्त भाइयों।'

६. आम्नाये स्मृतितन्त्रे च लोकाचारे च सूरिभिः। शरीरार्धं स्मृता जाया पुण्यापुण्यफले समा॥ यस्य नोपरता भार्या देहार्धं तस्य जीवति। जीवत्यर्धशरीरेऽर्थं कथमन्यः समाप्नुयात्॥ सकुल्यैर्विद्यमानैस्तु पितृभ्रातृसनाभिभिः। असुतस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्भागहारिणी॥ पूर्वं मृता त्वग्निहोत्रं मृते भर्तरि तद्धनम्। विन्देत् पतिव्रता नारी धर्म एष सनातनः॥ बृहस्पति (अपरार्क पृ० ७४०-४१; दायभाग ११।१।२, पृ० १४९-१५०; कुल्लूक, मनु ९।१८७; स्मृतिच० २, पृ० २९०-९१)। देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय ९ एवं अध्याय ११, और शतपथब्राह्मण (५।२।१।१० एवं ८।७।२।३); तैत्तिरीय संहिता (६।१।८।५); ऐतरेय ब्राह्मण (१।३।५); शान्तिपर्व (१४४।६६); आदिपर्व (७४।४०)। वसिष्ठ (२१।१५) एवं पराशर (१०।२६) का कथन है--'पतत्यर्धं शरीरस्य यस्य भार्या सुरां पिबेत्। पतितार्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते॥'

जाती है, किन्तु यदि वह अधिक हो तो उसे जीवन-वृत्ति मात्र मिलती है। किन्तु मिताक्षरा ने इस व्यवस्था का यह कह-कर विरोध किया है कि यह याज्ञवल्क्य के कथन के विरुद्ध है। हमने देख लिया है कि-याज्ञवल्क्य ने संयुक्त सम्पत्ति के विभाजन के समय भी अन्य पुत्रों के साथ पत्नी एवं माता को दायांश दिया है। इसके अतिरिक्त उनके अनुसार पत्नी को दायांश से विरत करने से 'विधि-वैषम्य' नामक दोष उत्पन्न हो जाता है। 'विधि वैषम्य' दोष के विषय में पूर्वमीमांसा ने एक निष्कर्ष दिया है--जब एक ही वाक्य की व्याख्या दो परिस्थितियों में दो भिन्न प्रस्तावों को उपस्थित करती है तो वह "विधिवैषम्य" दोष प्रकट करती है।[७] याज्ञवल्क्य का एक ही कथन दो अर्थों में लिया जायगा; (१) जब पति लम्बी-चौड़ी सम्पत्ति छोड़े तो पत्नी को जीविका मात्र की उपलब्धि होगी, (२) किन्तु यदि वह थोड़ी सम्पत्ति छोड़े तो उसकी पत्नी को पुत्र के दायांश के बराबर मिलेगा।[८] एक अन्य मत स्मृतिसंग्रह एवं धारेश्वर का है--यदि पत्नी नियोग का आश्रय लेकर पति के लिए पुत्रोत्पत्ति करती है तो वह पुत्रहीन मृत पति की सम्पत्ति पा सकती है। इस मत को गौतम (२८।१९२०) एवं वसिष्ठ (१७।६५) के वचनों से बल मिला (वसिष्ठ ने सम्पत्ति-मोह के कारण नियोग-आश्रय की वर्जना की है)। इस मत को मनु (९।१४६ एवं १९०) से भी बल मिला है। उनका कथन है कि एक भाई मृत भाई की पत्नी से पुत्र उत्पन्न कर अपने भाई का दायांश उसे दे देता है। मिताक्षरा, स्मृतिच० (२, पृ० २९४) एवं व्य० प्रकाश (पृ० ४९५-४९७) ने इस मत का खण्डन किया है।

मेधातिथि ने भी, जो सामान्यतः उदार लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं, प्रतिवन्ध लगाया है कि विधवा अपने मृत पति का उत्तराधिकार नहीं प्राप्त कर सकती।[९]

मिताक्षरा ने श्रीकर, धारेश्वर आदि के मतों का खण्डन करके यह तय किया है कि यदि विधवा सदाचारिणी है तो वह अपने पुत्रहीन मृत पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति की अधिकारिणी है।[१०] मिताक्षरा के उपरान्त अधिकांश लेखकों ने विधवा के उत्तराधिकार को मान्य ठहराया है। बहुत से लेखकों ने ऐसा कहा है कि विधवा के उत्तराधिकार के विषय में स्मृतियों के वचनों में बड़ा विरोध रहा है (दायभाग ११।१।१; मिताक्षरा २।१३५)। उन्होंने नारद (दायभाग, २५-२६) की व्याख्या कर यह कहा है कि जहाँ केवल भरण-पोषण की व्यवस्था दी हुई है वहाँ यह समझना चाहिए कि वह रखैलों के लिए है या उनकी पत्नियों के लिए है जो पुनःसंयुक्त होते हैं।

७. पिण्डगो....नपत्यस्य। बीजं वा लिप्सेत। गौतम (२८।१९-२०)। धारेश्वर ने इसे इस प्रकार सम-झाया है --'स्त्री वा रिक्थं भजेत यदि बीज लिप्सेत।' मिताक्षरा का कहना है कि इसका अर्थ यह है कि विधवा के समक्ष दो मार्ग खुले हैं; (१) वह पवित्र रह सकती है और सपिण्डों के साथ रिक्थाधिकार पा सकती है, या (२) वह नियोग का आश्रय ले सकती है।

८. मिताक्षरा पर सुबोधिनी ने निम्न टीका की है और स्पष्ट निष्कर्ष दिया है -- यथा तत्रैकदेशिमते विधि-वैषम्यं दोषस्तथा 'पत्न्यः कार्याः समांशिकाः', 'माताप्यंशं समं हरेत्' इत्यत्र च सकृदाम्नातौ अंशसमांशब्दावपि भर्तृबहुधन-त्वपक्षे 'भरणं चास्य कुर्वीरन्' इत्यादिवाक्यपर्यालोचनया जीवनोपयुक्तधनपरौ, स्वल्पधनत्वे तु वाक्यान्तरनैरपेक्ष्येण नित्यवत्पुत्रांशसमांशपराविति श्रीकराद्युक्तव्याख्यानेपि विधिवैषम्यदोषो दुर्वार इति। बाल भट्टी ने सुबोधिनी को अक्षरशः दुहराया है। यह न्याय दायभाग (११।५।१६) में भी आया है।

९. अतो यन्मेधातिथिना पत्नीनामंशभागित्वं निषिद्धमुक्तं तदसम्बद्धम्--
पत्नीनामंशभागित्वं बृहस्पत्यादिसंमतम्। मेधातिथिर्निराकुर्वन् न प्रीणाति सतां मनः॥ कुल्लूक (मनु ९।१८७)।

१०. तस्मादपुत्रस्य स्वर्यातस्य विभक्तस्यासंसृष्टिनो धनं परिणीता स्त्री संयता सकलमेव गृह्णातीति स्थितम्। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३५)।

पाणिनि (४।१।३३) ने 'पति' के साथ जोड़कर 'पत्नी' का यह अर्थ लगाया है—'पति के साथ यज्ञ सम्पादन में सम्मिलित होने के योग्य।' वही नारी पत्नी है जिसका पति के साथ धार्मिक परिणय हुआ हो। स्मृतिच० (२, पृ० २९०) ने उद्धरण देकर कहा है कि वह नारी जो धन द्वारा केवल संभोग के लिए प्राप्त की जाती है, **दासी** है न कि पत्नी, अतः वह पुत्रहीन मृत पति का उत्तराधिकार नहीं प्राप्त कर सकती।[११] वृद्ध मनु का कथन है—"केवल वही पत्नी, जो पुत्रहीन है, अपने पति की शय्या को शुद्ध रखती है तथा व्रत करती रहती है, अपने पति का पिण्डदान कर सकती है और उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति पाती है।"[१२] कात्यायन (९२६) ने भी कहा है—"अव्यभिचारिणी पत्नी पति की सम्पत्ति पाती है।" जब रिक्थाधिकार निश्चित होता है उस समय विधवा को सदाचारिणी रहना परमावश्यक है। न्यायालयों ने निर्णय दिया है कि जब एक बार विधवा को सम्पत्ति मिल जाती है तो (पति की मृत्यु के उपरान्त) लगाये गये दोषारोपण से उसका अपहरण नहीं हो सकता। यदि रिक्थाधिकार पाने के उपरान्त विधवा पुनर्विवाह कर ले तो (यद्यपि अब १८५६ के १५वें कानून के अनुसार विधवा-विवाह वैध माना जाता है) उसे पति का धन लौटा देना पड़ता है, या वह सम्पत्ति, जिसे उसने मृत पुत्र की विधवा माता के रूप में ग्रहण किया था, अब (पुनर्विवाह के उपरान्त) पति के अन्य उत्तराधिकारियों को या पुत्र को मिल जाती है, और यह समझा जाता है कि मानो वह मर चुकी है। यह नियम सभी वर्णों में समान रूप से लागू है (जब कि उनकी जाति के लोगों में परम्परा के अनुसार पुनर्विवाह भी होता है तब भी यह नियम ज्यों-का-त्यों है)।

दायभाग के अनुसार **अप्रतिबन्ध दाय** की मान्यता नहीं है, संयुक्त परिवार के पुत्रहीन सदस्य की विधवा को कुल-सम्पत्ति में दायांश मिलता है, वहाँ संयुक्त सम्पत्ति एवं पृथक् सम्पत्ति में कोई अन्तर नहीं है।

शूद्रों में यदि स्वामी पत्नी या पुत्री या पुत्री-पुत्र एवं कोई अवैध पुत्र छोड़कर मर जाता है तो न्यायालयों ने याज्ञ० (२।१३४), मिताक्षरा एवं दायभाग (९।३१) के अनुसार यह निर्णय दिया है कि विधवा या पुत्री या पुत्री-पुत्र को आधा एवं अवैध पुत्र को शेष आधा प्राप्त होता है।

विधवा के अपने पति से प्राप्त रिक्थ-सम्बन्धी अधिकार सीमित हैं। कौटिल्य (३।२) ने ही सम्भवतः सर्वप्रथम हिन्दू विधवा की सम्पत्ति की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है, और कात्यायन का एक कथन भी उनकी उक्ति के समान ही है।[१३] अनुशासनपर्व (४७।२४) में आया है कि स्त्रियों को अपने पतियों के धन के उपभोग मात्र का अधिकार प्राप्त है, वे (दान, विक्रय आदि से) उसे नष्ट नहीं कर सकतीं। बृहस्पति का कथन है—"जब पति अलग

११. क्रयक्रीता तु या नारी न सा पत्नी विधीयते। न सा दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां कवयो विदुः॥ स्मृतिच० (२, २९०); व्य० प्र० (पृ० ४८८); क्रीता द्रव्येण या नारी सा न पत्नी विधीयते। सा न दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां काश्यपोऽब्रवीत्॥ बौ० ध० सू० (१।११।२०)।

१२. अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता। पत्न्येव दद्यात् तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत च॥ वृद्धमनु (मिताक्षरा, याज्ञ० २।१३५; दायभाग ११।१।७; वि० र० पृ० ५८९; पत्नी भर्तुर्धनहरी या स्यादव्यभिचारिणी। कात्यायन (मिता० याज्ञ०, २।१३५)।

१३. अपुत्रा पतिशयनं पालयन्ती गुरुसमीपे स्त्री धनमायुःक्षयाद् भुञ्जीत। आपदर्थं हि स्त्रीधनम्। ऊर्ध्वं दायादं गच्छेत्। अर्थशास्त्र (३।२); स्त्रीणां स्वपतिदायस्तु उपभोगफलः स्मृतः। नापहारं स्त्रियः कुर्युः पतिवित्तात्कथंचन॥ अनुशासनपर्व (४७।२४; विवादचन्द्र पृ० ७१; विवादचिन्तामणि पृ० १५२; व्य० प्र० ४९१; दायभाग ९।१।६०)।

है तो उसकी विधवा को अचल सम्पत्ति के अतिरिक्त सभी प्रकार की सम्पत्ति अर्थात् आधि आदि (धरोहर आदि) प्राप्त हो जाती है। चल एवं अचल सम्पत्ति, सोना, साधारण धातु आदि, अन्न, पेय पदार्थ, वस्त्र प्राप्त कर लेने के उपरान्त उसे मासिक, षाण्मासिक एवं आब्दिक (वार्षिक) श्राद्ध करना पड़ता है। उसे अन्त्येष्टि क्रिया-कर्मों एवं पूर्तों (पवित्र कल्याणकारी कर्मों) द्वारा अपने पति के चाचा, गुरुओं (श्रद्धास्पदों), दौहित्रों, स्वस्त्रीयों (बहिन के पुत्रों) एवं मामाओं तथा बूढ़ों या असहायों, अतिथियों एवं स्त्रियों का सम्मान करना चाहिए।"[14] माधव (पराशरमाधवीय, ३, पृ० ५३६) ने "स्थावरं मुक्त्वा" (अचल सम्पत्ति छोड़कर) का तात्पर्य यह निकाला है कि उसे बिना पुरुष सम्बन्धियों की सहमति के अचल सम्पत्ति बेचने का अधिकार नहीं है। व्यवहारमयूख (पृ० १३८) को भी यह व्याख्या मान्य है और आज के न्यायालयों ने भी इसे उचित माना है। कात्यायन (पृ० ९२१, ९२४-९२५) ने विधवा के अधिकार की सीमाओं को इस प्रकार व्यक्त किया है—"अपुत्र (पुत्रहीन) विधवा को, जो अपने पति की शय्या को पवित्र रखती है, गुरुजनों के साथ रहती है तथा स्व-नियन्त्रण में रहती है, (अपने पति की) सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार जीवन-पर्यन्त रहता है, उसके उपरान्त (उसके पति के) अन्य उत्तराधिकारियों का अधिकार रहता है। वह पत्नी, जो कुल के सम्मान की रक्षा करती है, आमरण पति का दायांश ग्रहण करती है, किन्तु उसे दान, क्रय एवं बन्धक रखने का अधिकार नहीं प्राप्त होता। वह विधवा, जो व्रतोपवासनिरत रहती है, ब्रह्मचर्य-पालन करती है, व्यवस्थित रहती है तथा दान एवं दम में लगी रहती है, पुत्रहीन होने पर भी स्वर्गारोहण करती है।"[15] इन बातों से स्पष्ट है कि विधवा को पति की सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार मृत्यु पर्यन्त प्राप्त है, वह अचल सम्पत्ति का दान, विक्रय एवं बन्धक कार्य तब तक नहीं कर सकती जब तक कि उसके बाद के उस सम्पत्ति के उत्तराधिकारी ऐसा करने को न कहें, किन्तु धार्मिक एवं दान के कार्यों में या उसमें जिससे उसके पति का पारलौकिक कल्याण निहित है, वह सम्पत्ति के व्यय में बड़े-बड़े अधिकार रखती है। आज भी इन नियमों का पालन होता है और इस विषय में न्यायालयों ने उचित निर्णय भी दिये हैं।

मिताक्षरा (२।१३५) के अनुसार यदि मृत व्यक्ति की कई विधवाएँ हों तो वे आपस में बराबर-बराबर बाँट लेती हैं (ताश्च बह्वयश्चेत्सजातीया विजातीयाश्च तदा यथांशं विभज्य गृह्णन्ति)।

यदि आपस में विभाजन करने के उपरान्त विधवाओं में एक मर जाय तो उसका भाग अन्य विधवा या विधवाओं को प्राप्त हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि विधवाओं में भी उत्तरजीवी का अधिकार पाया जाता है अर्थात् जब तक कोई-न-कोई विधवा जीवित रहती है या पुनर्विवाह नहीं करती तब तक पति की सम्पत्ति पर किसी अन्य का अधिकार नहीं हो सकता। हिन्दुओं में यह बात नहीं पायी जाती कि मरने के पश्चात् सम्पत्ति कई सम्बन्धियों

१४. यद्विभक्ते धनं किञ्चिदाध्यादि विविधं स्मृतम्। तज्जाया स्थावरं मुक्त्वा लभते मृतभर्तृका।। जंगमं स्थावरं हेम कुप्यं धान्यं रसाम्बरम्। आदाय दापयेच्छ्राद्धं मासषाण्मासिकाब्दिकम्।। पितृव्यगुरुदौहित्रान्भर्तुः स्वस्त्रीयमातुलान्। पूजयेत्कव्यपूर्ताभ्यां वृद्धानाथातिथीन् स्त्रियः।। बृहस्पति (स्मृतिच० २, पृ० २९१; वि० र० पृ० ५९०; मदनरत्न; व्य० मयूख पृ० १३७-१३८; पराशरमाधवीय ३, पृ० ५३६)।

१५. अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती गुरौ स्थिता। भुञ्जीतामरणात्क्षान्ता दायादा ऊर्ध्वमाप्नुयुः।। कात्यायन (दायभाग ११।१।५६; स्मृतिच० ३, पृ० २९२; मृते भर्तरि भर्त्रंशं लभेत कुलपालिका। यावज्जीवं न हि स्वाम्यं दानाधमनविक्रये।। व्रतोपवासनिरता ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता। दमदानरता नित्यमपुत्रापि दिवं व्रजेत्।। कात्या० (स्मृतिच० २, पृ० २९२; व्य० मयूख पृ० १३८)। और देखिए जीमूतवाहन का दायभाग (११।१।५९)।

में खटाखट बँट जाय, जैसा कि मुसलमानों में पाया जाता है। प्राचीन हिन्दू व्यवहार की यह विशेषता है कि मृत व्यक्ति की पृथक् सम्पत्ति स्त्रियों को मिल जाती है, अर्थात् वह सर्वप्रथम विधवा को, उसके पश्चात् उसकी पुत्री को प्राप्त होती है, तब कहीं व्यक्ति के अपने पिता या भाई या भतीजे को प्राप्त होती है। ऐसे प्रयत्न चलते रहे हैं कि आजकल विधान-सभा द्वारा यह व्यवहार बना दिया जाय कि पुत्रों के रहते विधवा एवं पुत्रियों को भी दायांश मिल जाय। सफलता भी मिली है। किन्तु इससे कुछ गड़बड़ियाँ भी उत्पन्न हो जायँगी, यों तो स्त्रियों के अधिकारों के विषय में जितना अधिक किया जाय उतना ही अधिक अच्छा प्रयत्न समझा जायगा। पर इस प्रकार के समानाधिकार से विवाद उठ खड़े होंगे, भूमि-भाग खण्डित होते चले जायँगे, जो कुछ प्राप्त होगा वह आर्थिक रूप से लाभदायक नहीं सिद्ध होगा और सम्भवतः यह सन्देहात्मक है कि इससे भारतीय समाज या राष्ट्र का हित होगा। क्या इसे हिन्दुओं का इतना लम्बा-चौड़ा समाज स्वीकार करेगा? अस्तु, प्रजापति का कथन है कि राजा को चाहिए कि वह उन सपिण्डों एवं बन्धुओं को चोरों का दण्ड दे जो विधवा के समक्ष उसके पति की सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त करने में बाधा डालें या कोई विरोध खड़ा करें।[१६]

तैत्तिरीय संहिता (६।५।८।२) में स्त्रियों को जो 'निरिन्द्रिया' एवं 'अदाया' कहा गया है वह सोमयज्ञ के सिलसिले में कहा गया है, उसका तात्पर्य है कि वे सोमरस के भाग (दाय) के लिए अयोग्य हैं, उनमें इतना बल नहीं है कि वे उसे सँभाल सकें, अतः वे 'अदाया' हैं। किन्तु बौधायनधर्मसूत्र ने सम्भवतः उसका अर्थ यों लगा लिया कि स्त्रियाँ रिक्थाधिकार से वंचित हैं। मनु (९।१८) ने भी उसका सहारा लेकर घोषित कर दिया है कि स्त्रियों के संस्कार (विवाह को छोड़कर) वैदिक मन्त्रों द्वारा नहीं सम्पादित होने चाहिए, क्योंकि वेद ने उन्हें 'निरिन्द्रिय' एवं 'अनृत' घोषित किया है। बाद के लेखक, यथा हरदत्त (गौतम २८।१९, आप० ध० सू० २।६।१४।१) एवं व्य० प्र० (पृ० ५१७ एवं ५५४) ने भी वेद की इसी उक्ति के आधार पर स्त्रियों को रिक्थाधिकार से वंचित समझ लिया। उनका कथन है कि यद्यपि वेद-वचन बड़ा ही व्यापक एवं एक साथ सब बातों को समेट लेनेवाला है, किन्तु यह केवल उन स्त्रियों को वंचित करता है जिन्हें स्मृतियों ने भी रिक्थाधिकार नहीं दिया है, एवं अन्यों को उसके योग्य ठहराया है, अर्थात् जिन्हें स्मृतियों ने रिक्थाधिकार के योग्य माना है उन्हें छोड़कर अन्य स्त्रियों के विषय में वेद के वचन मान्य हैं। यथा---दायभाग (११।६।११) ने बौधायन को उद्धृत कर टिप्पणी की है कि पत्नी को रिक्थाधिकार प्राप्त है, क्योंकि कुछ विशिष्ट स्मृतियों (याज्ञ० एवं विष्णु०) ने ऐसी व्यवस्था दी है। स्मृतिचन्द्रिका (२।२९४) का कथन है कि वैदिक उक्ति केवल **अर्थवाद** (निन्दा के लिए प्रयुक्त) है न कि परम नियम **(विधि वाक्य)**, यह उन स्त्रियों के लिए नहीं है जिनके विषय में स्पष्ट उल्लेख है। यही बात व्यवहार-प्रकाश ने कही है। अपरार्क (पृ० ७४३) का कहना है कि वैदिक वचन केवल **अर्थवाद** है। वह स्त्रियों को पुत्रवती रहने पर ही वंचित करता है। यह जानने योग्य है कि पराशरमाधवीय (३, पृ० ५३६) ने तैत्तिरीय संहिता के वचन को इस अर्थ में लिया है---"याज्ञिक (यज्ञ करनेवाले या यजमान) की पत्नी को **पात्नीवत** प्याले में सोमरस लेने का अधिकार नहीं है और 'इन्द्रिय' का अर्थ है 'सोमरस' या 'सोमपीथ'।" किन्तु माधवाचार्य ने तैत्तिरीय संहिता (१।४।२७) की टीका में उसके वचन (६।५।८।२) को दूसरे ही अर्थ में लिया है---"स्त्रियाँ शक्तिहीन होने के कारण, सन्तानों के रहते रिक्थाधिकार नहीं प्राप्त करतीं।" यह एक विचारणीय बात है कि मिताक्षरा एवं व्यवहारमयूख ने स्त्रियों के रिक्थाधिकारों के विषय में विवेचन करते हुए तैत्तिरीय संहिता एवं बौधायनधर्मसूत्र का उल्लेख नहीं किया है। ऐसा नहीं कहा जा

१६. तत्सपिण्डा बान्धवाश्च ये तस्याः परिपन्थिनः। हिंस्युर्धनानि तान्राजा चौर्यदण्डेन शासयेत्॥ प्रजापति (स्मृतिच० २, पृ० २९४; वि० चि०; पृ० १५१)।

सकता कि वे उनके कथनों को नहीं जानते थे, सम्भवतः उन्होंने तै० सं० को परा० माधवीय के अर्थ में ही लिया। तैत्तिरीय संहिता एवं बौधायन पर मध्यकालिक निबन्धों के निर्भर होने के कारण बम्बई एवं मद्रास को छोड़कर अन्य प्रान्तों में केवल पाँच प्रकार की स्त्रियों को ही उत्तराधिकारी के रूप में घोषित किया गया; विधवा पत्नी, पुत्री, माता, पितामही एवं प्रपितामही को, क्योंकि वे स्पष्ट रूप से स्मृतियों एवं आरम्भिक टीकाओं में उल्लिखित हैं। इस पर हम आगे भी पढ़ेंगे।

पति के रहते पत्नी के भरण-पोषण-सम्बन्धी अधिकारों के विषय में हमने इस ग्रन्थ के भाग २ के अध्याय ११ में पढ़ लिया है। यदि पत्नी व्यभिचार की अपराधिनी है और अन्त में प्रायश्चित्त की शरण जाती है तो उसे भरण-पोषण का अधिकार तब भी प्राप्त हो जाता है। संयुक्त परिवार के मृत सदस्यों की विधवाओं के भरण-पोषण के अधिकारों के विषय में बहुत से निर्णीत विवाद हैं, जिन्हें हम छोड़े दे रहे हैं, केवल दो-एक बातें दी जा रही हैं। संयुक्त परिवार की विधवाओं के जीविका से सम्बन्धित अधिकार उनके ब्रह्मचर्य पर आधारित हैं। संयुक्त परिवार के पुरुष सदस्य बहुधा विधवाओं को जीवन-वृत्ति देना नहीं चाहते, अतः विधवाएँ न्यायालयों की शरण लेती हैं। "पेशवा दफ्तर के संग्रह" (जिल्द ४३, पत्र सं० १४२) में ऐसा आया है कि पेशवा के न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश रामशास्त्री ने दण्ड देने की धमकी देकर बापूजी ताम्बरवेकर को लिखा कि वह अपने बड़े भाई की विधवा के आभूषण सात दिनों के भीतर (वह विवाह के सात दिनों के उपरान्त ही विधवा हो गयी थी) लौटा दे और उसकी जीविका के लिए पचीस रुपये प्रति वर्ष देने की व्यवस्था कर दे।

कन्याएँ--जब तक मृत स्वामी की विधवा जीवित रहती है, कन्याएँ रिक्थाधिकार नहीं पातीं। विधवा के समान कन्या को भी उत्तराधिकार के लिए संघर्ष करना पड़ा। गौतम, बौधायन एवं वसिष्ठ ने उसे उत्तराधिकारियों में नहीं गिना है। आपस्तम्ब (२।६।१४।३) ने उसे (सम्भवतः सपिण्डों के साथ) वैकल्पिक रूप में ही स्वीकृत किया है। मनु (९।१३०) ने जो यह कहा है कि "व्यक्ति का पुत्र उसकी आत्मा के समान है उसकी पुत्री उसके पुत्र के बराबर है; ऐसी स्थिति में जब तक वह मृत व्यक्ति की आत्मा के रूप में जीवित है तब तक मृत की सम्पत्ति अन्य को कैसे प्राप्त हो सकती है?" इसका अन्य संदर्भ (९।१२८-१२९) द्वारा यह भाव प्रकट होता है कि यह **पुत्रिका** (पुत्र के रूप में नियुक्त कन्या) के लिए लिखा गया है। मेधातिथि, नारायण एवं कुल्लूक ने मनु (९।१३०) के 'दुहिता' शब्द को 'पुत्रिका' के अर्थ में ही लिया है। यास्क (निरुक्त ३।३-४) ने ऋग्वेद (३।३१।१) की व्याख्या करके, जिसको अन्य लोगों ने भी कन्या का रिक्थाधिकार सिद्ध करने के लिए आधार माना है, जो 'दुहिता' शब्द को भाँति-भाँति से समझाने का प्रयत्न किया है, उससे लगता है कि उन्होंने पुत्रिका के रिक्थाधिकार की ओर ही संकेत किया है।[17] धीरे-धीरे पुत्री को पुत्र के रूप में नियुक्त करना बन्द-सा हो गया, अतः विधवा के उपरान्त पुत्रहीन व्यक्ति की कन्या को उत्तराधिकारी समझा जाने लगा।

याज्ञवल्क्य एवं विष्णु ने विधवा के उपरान्त पुत्री को उत्तराधिकारी माना है। नारद (दायभाग, ५०) ने पुत्र के पश्चात् कन्या को इस आधार पर रिक्थाधिकारी माना है कि वह पुत्र के समान ही मृत पिता के कुल को चलाने वाली होती है।[18] जब नारद (दायभाग, २७) यह कहते हैं कि पुत्री को विवाह होने तक भरण का अधिकार है,

१७. अथैतां दुहितृदायाद्य उदाहरन्ति। पुत्रदायाद्य इत्येके। शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गात० (ऋ० ३।३१।१); प्रशास्ति वोढा सन्तानकर्मणे दुहितुः पुत्रभावम्। दुहिता दुहिता दूरे हिता दोग्धेर्वा। निरुक्त (३।३-४)।

१८. पुत्राभावे तु दुहिता तुल्यसन्तानकारणात्। पुत्रश्च दुहिता चोभौ पितुः सन्तानकारकौ॥ नारद (दाय-

तो संदर्भ से, जैसा कि स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २९६) का कहना है, यही प्रकट होता है कि उन्होंने उस कन्या की ओर संकेत किया है जिसका पिता मरने के पहले पुनः संयुक्त हो गया था। बृहस्पति का कहना है कि "पत्नी को पति की 'धनहरी' (धन पानेवाली) कहा गया है, उसके अभाव में पुत्री का अधिकार होता है; कन्या पुत्र के समान पिता के शरीर से ही उत्पन्न होती है, अतः उसके रहते उसके पिता की सम्पत्ति अन्य व्यक्ति कैसे पा सकता है?"[१९] यद्यपि याज्ञवल्क्य, विष्णु एवं बृहस्पति के वचन पर्याप्त स्पष्ट थे, किन्तु प्राचीन टीकाकारों ने उनका शाब्दिक अर्थ नहीं लिया। विश्वरूप ने कहा है कि याज्ञवल्क्य ने केवल 'पुत्रिका' की ओर संकेत किया है और उसके बहुवचन से तात्पर्य है कि कई पुत्रिकाएँ पुत्र के रूप में नियुक्त की जा सकती हैं। यही बात धारेश्वर, देवस्वामी एवं देवरात ने भी कही है (स्मृतिच० २, पृ० २९५)। किन्तु मिताक्षरा ने इन लोगों को उत्तर दिया है--याज्ञवल्क्य का 'दुहितरः' शब्द 'पुत्रिका' की ओर संकेत नहीं करता, क्योंकि उन्होंने स्वयं (२।१२८) 'पुत्रिका' को औरस पुत्र के समान माना है, वसिष्ठ ने भी अन्य पुत्रों के दल में 'पुत्रिका' को रखा है और अन्य पुत्रों (मुख्य एवं गौण) के अभाव में विधवा एवं पुत्रियों को उत्तराधिकार के मामले में मान्यता दी है। याज्ञ०, विष्णु० एवं बृह० इस विषय में मौन ही हैं कि कन्याओं में उत्तराधिकार के मामले में कोई अन्तर है या नहीं।

कात्यायन (९२६) ने अविवाहित कन्या को वरीयता दी है और इस मत को मिताक्षरा तथा अन्य निबन्धों में मान्यता मिली है। दायभाग (११।२।४, पृ० १७५) ने पराशर की उक्ति की चर्चा करके अविवाहित कन्या को विवाहित कन्या से अधिक मान्यता दी है। मिताक्षरा ने गौतम (२८।२२) का उल्लेख करके **स्त्रीधन** के उत्तराधिकार के विषय में विवाहित कन्याओं में उस कन्या को अधिक मान्यता दी है जो अपेक्षाकृत निर्धन है। स्पष्ट है, मिताक्षरा ने यहाँ सामान्य अनुभव की ओर संकेत किया है कि पिता उस कन्या की अधिक चिन्ता करता है जो अपेक्षाकृत निर्धन है अथवा अप्रतिष्ठित है। मिताक्षरा के समान ही दायभाग ने कुमारी कन्या को विवाहित कन्या की अपेक्षा अधिक मान्यता दी है। किन्तु विवाहित कन्याओं के विषय में चर्चा करते हुए जीमूतवाहन (दायभाग के लेखक) ने दीक्षित नामक लेखक का उल्लेख करके कहा है कि पुत्रवती कन्या या पुत्रवती होनेवाली कन्या को विधवा या बन्ध्या (बाँझ) या केवल पुत्रियों वाली विवाहित कन्या से अधिक वरीयता मिलनी चाहिए। इस वरीयता के पीछे दायभाग का यह सिद्धान्त है--उत्तराधिकार के विषय में पारलौकिक कल्याण की भावना निहित है। बन्ध्या या विधवा कन्या पुत्रवती न होने के कारण पारलौकिक या आध्यात्मिक लाभ नहीं दे सकती, क्योंकि जब नाना को पिण्डदान ही नहीं मिलेगा तो पारलौकिक कल्याण की बात ही कहाँ उठती है? इस विषय में मिताक्षरा रक्त की सन्निकटता (**प्रत्यासत्ति**) के सिद्धान्त पर आरूढ है। किन्तु, जैसा कि व्यवहारप्रकाश (पृ० ५१९) का कथन है, दायभाग का सिद्धान्त असंगत है। यह कहना कि कुमारी कन्या को पुत्रवती विवाहित कन्या की अपेक्षा वरीयता मिलनी चाहिए, तर्कहीन सिद्धान्त है, क्योंकि जब पुत्रवती कन्या का अस्तित्व है ही तो उस कन्या को क्यों वरीयता मिलनी चाहिए जिसका पुत्रवती होना या न होना भविष्य के गर्भ में है? पिण्डदान द्वारा पारलौकिक लाभ की प्राप्ति के लिए ही तो पुत्र की खोज है

भाग ५०); या तस्य दुहिता तस्याः पित्र्योंशो भरणे मतः। आसंस्कारं भजेरंस्तां परतो बिभृयात्पतिः॥ नारद (दायभाग २७); स्यादेवं यदि नारदवचनं विभक्तविषयं स्यात्। संसृष्टविषयं तु तदिति तस्यैव पूर्वापरपर्यालोचनया स्पष्टमवगम्यते। स्मृतिच० (२, पृ० २९६)।

१९. भर्तुर्धनहरी पत्नी तां विना दुहिता स्मृता। अंगादंगात्संभवति पुत्रवद् दुहिता नृणाम्॥ तस्मात्पितृधनं त्वन्यः कथं गृह्णीत मानवः। बृह० (मिताक्षरा, याज्ञ० २।१३५; स्मृतिच० २, २९४; वि० पृ० ५९१)।

और उत्तराधिकार के लिए पुत्रियों में किसी का चुनाव अपेक्षित है ही। अपरार्क (पृ० ७२१) एवं विवादरत्नाकर (पृ० ५१७) ने 'अप्रतिष्ठित' (मिता०, याज्ञ० २।१३५) के तीन अर्थ दिये हैं; सन्तानहीन, निर्धन एवं विधवा।

बम्बई को छोड़कर अन्य भारतीय उच्च न्यायालयों के मत से पुत्री का अधिकार विधवा के अधिकार के समान ही है। वह केवल सीमित अधिकार पाती है, वह केवल सम्पत्ति-उपभोग कर पाती है, सम्पत्ति के विघटन का अधिकार उसे नहीं प्राप्त होता। मृत्यु के पश्चात् सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारियों को नहीं प्राप्त होती, बल्कि उसके पिता के अन्य उत्तराधिकारी को मिलती है। बम्बई में ऐसी बात नहीं है, वहाँ कन्या को उत्तराधिकार प्राप्त होने पर पिता के धन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है और उसकी मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति उसके ही उत्तराधिकारियों को प्राप्त होती है।

निर्णीत विवादों के अनुसार पिता की मृत्यु के समय व्यभिचारिणी कन्या को भी पिता की सम्पत्ति मिलती है (दायभाग के अन्तर्गत ऐसा नहीं है)। इसका कारण यह है कि कात्यायन एवं अन्य स्मृतिकारों ने ब्रह्मचर्य की सीमा केवल विधवा पत्नी के लिए बाँधी है, उन्होंने कन्या एवं माता के लिए स्पष्ट रूप से ऐसा नहीं किया है। दायभाग (११।२-८) के उल्लेखानुसार बृहस्पति की घोषणा है--"वह कन्या, जो पिता की जाति की है, उसी जाति के पति से विवाहित है, जो गुणशीला है और पतिपरायणा है, अपने पिता की सम्पत्ति पाती है।" अतः जो कन्या व्यभिचारिणी है, वह रिक्थाधिकार नहीं पा सकती। कन्या केवल इसी लिए धन नहीं पाती कि वह कन्या है, प्रत्युत इसलिए कि वह बृहस्पति द्वारा प्रदत्त शर्तों को पूरा करती है। दायभाग (११।२।३१) का कथन है कि 'पत्नी' (११।१।५६) शब्द केवल उपलक्षण मात्र, अर्थात् उदाहरण-स्वरूप है, पत्नी पर जो प्रतिबन्ध लागू हैं वे सभी उत्तराधिकार वाली स्त्रियों के लिए प्रयुक्त होते हैं।[२०] अवैध कन्या को अपने पिता का रिक्थाधिकार नहीं मिलता। यह नियम शूद्रों में भी लागू है।

कुल-परम्परा के अनुसार कहीं-कहीं कन्याएँ रिक्थाधिकार से वञ्चित मानी जाती हैं, यथा--अवध (उत्तर-प्रदेश) के भाले सुल्तान क्षत्रियों में।

यह अवलोकनीय है कि नन्द पण्डित ने अपनी वैजयन्ती (विष्णुधर्मसूत्र १७।५-६ की टीका) में कहा है कि कन्या की अपेक्षा पुत्रवधू को वरीयता मिलनी चाहिए, किन्तु इस प्रकार का मत रखनेवाले वे एक मात्र लेखक हैं (देखिए डॉ० जॉली, टैगोर लॉ लेक्चर्स, पृ० १९९ एवं २८६)। बम्बई को छोड़कर (जहाँ वह सगोत्र सपिण्ड रूप में रिक्थाधिकार पाती है) सम्पूर्ण भारत में कहीं भी पुत्रवधू को रिक्थाधिकार नहीं मिलता। बालम्भट्टी ने बिना नाम लिये नन्द पण्डित की आलोचना की है और व्यवस्था दी है कि पुत्रवधू को केवल गोत्रज रूप में ही उत्तराधिकार प्राप्त होता है और वह भी पुत्री के रहते नहीं।

रघुनन्दन ने दायभाग (११।२।३१) के विषय में टिप्पणी करते हुए व्यभिचाररत कन्याओं की स्थिति सर्वथा स्पष्ट कर दी है। स्मृतियों ने कन्याओं में कुमारियों को वरीयता दी है, अर्थात् वे कन्याएँ जो अभी अक्षतयोनि हैं। भारतीय उच्च न्यायालयों ने व्यवस्था दी है कि यद्यपि कन्याओं के विषय में उत्तराधिकार के लिए ब्रह्मचर्य कोई आवश्यक शर्त नहीं है तथापि विवाहित कन्याओं एवं उन कन्याओं में, जो विवाहित तो नहीं हैं किन्तु रखैल या वेश्या हो गयी हैं,

२०. तदाह बृहस्पतिः। सदृशी सदृशेनोढा भर्तृशुश्रूषणे रता। कृताकृता वा पुत्रस्य पितुर्धनहरी तु सा॥....सेति च पूर्ववचनोपात्ता दुहिता परामृश्यते। तदेवं सदृशी सदृशेनोढा इत्यादिविशेषणान्न दुहितृमात्रतया पितृधनाधिकारितेति दर्शयति।....यद्वा पत्नीत्युपलक्षणं स्त्रीमात्राधिकारेऽयमर्थो बोद्धव्य इति तात्पर्यम्। दायभाग (११।२८, १३, ३१)।

प्रथम प्रकार की कन्याओं को वरीयता मिलनी चाहिए, क्योंकि दूसरे प्रकार की कन्याएँ विवाहित न होते हुए भी अक्षत-योनि (कुमारी) नहीं हैं। कुछ स्मृतियों ने, यथा पराशर ने, कन्या के उत्तराधिकार के सिलसिले में 'कुमारी' शब्द का प्रयोग किया है, और अन्य लोग 'कन्या' शब्द का प्रयोग करते हैं, किन्तु दोनों शब्द एक-दूसरे के पर्याय हैं। गोविन्द-बनाम-भिकू (४६, बम्बई, एल्० आर० ६९९) के मामले में, जहाँ मृत व्यक्ति की एक विवाहित कन्या थी एवं एक ऐसी अविवाहित कन्या थी जो किसी व्यक्ति की स्थायी रखैल थी, उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि दूसरी कन्या (जो अविवाहित रखैल थी) अपने पुत्रहीन पिता का रिक्थाधिकार अपनी विवाहित बहिन के साथ नहीं प्राप्त कर सकती। मेधातिथि (मनु ९।१३२) ने कहा है कि 'कन्या' का अर्थ है वह लड़की जिसने किसी पुरुष के साथ संभोग न किया हो। मिताक्षरा ने तीन प्रकार की कन्याओं को एक दूसरी के पश्चात् उत्तराधिकारी माना है; (१) अविवाहित कन्या, (२) निर्धन विवाहित कन्या एवं (३) धनिक विवाहित कन्या। न्यायिक निर्णयों ने एक चौथा प्रकार जोड़ दिया है; अविवाहित कन्या जो वेश्या हो चुकी है। यहाँ एक नवागन्तुक जोड़ है अतः यहाँ स्मृतियों एवं टीकाकारों के कथन (आमन्त्रित लोगों के अन्त में या बाद में ही वे लोग बैठाये जायँ जो बिना बुलाये आते हैं) के अनुसार उपर्युक्त कोटियों के उपरान्त ही इसका स्थान होगा। देखिए शबर ("आगन्तूनामन्ते संनिवेशः" जैमिनि ५।२।१९, १०।५।१), शंकर (वेदान्तसूत्र ४।३।३) एवं व्यवहारमयूख (पृ० १४३) जिन्होंने भाई के पुत्र के उपरान्त पितामही का स्थान नियुक्त किया है।

दौहित्र (पुत्री का पुत्र)--पुत्रियों के अभाव में पुत्री-पुत्र को उत्तराधिकार प्राप्त होता है। गौतम, आपस्तम्ब, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य एवं विष्णु दौहित्र के विषय में मौन हैं। किन्तु विश्वरूप ने एक युक्तिसंगत बात कही है कि जब याज्ञवल्क्य ने स्वयं यह (२।१३४) कहा है कि जब वैध पुत्र न हो और जब दौहित्र तक कोई अन्य उत्तराधिकारी न हो तो शूद्रों में अवैध पुत्र को सम्पूर्ण सम्पत्ति मिल जाती है, तो यह मानना उचित है कि याज्ञवल्क्य ने पुत्रियों के उपरान्त दौहित्रों को उत्तराधिकारी अवश्य माना है। मदनपारिजात (पृ० ६७२) ने याज्ञवल्क्य के 'च' शब्द को 'दौहित्र' अर्थ के लिए ही अनुमानित किया है। मिताक्षरा, दायभाग आदि ने विष्णुधर्मसूत्र का एक वचन (जो मुद्रित ग्रन्थ में नहीं पाया जाता) उद्धृत किया है--'जब पुत्र या पौत्र से शाखा वंचित हो तो दौहित्र को मृत स्वामी का धन मिलता है, पितरों के पिण्डदान में दौहित्र पौत्र के समान गिने जाते हैं।'[21] देखिए व्यवहारमयूख (पृ० १४२)। मनु के टीकाकार गोविन्दराज ने विष्णु के वचन के आधार पर यह व्यवस्था दी है कि मृत की विवाहित कन्या के पूर्व दौहित्र का अधिकार होता है, किन्तु दायभाग को यह मत मान्य नहीं है। दायभाग (११।२।२७) ने बालक के मत का उल्लेख किया है कि याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट रूप से दौहित्र का उल्लेख नहीं किया है, अतः वह अन्य स्पष्ट रूप से व्यक्त उत्तराधिकारियों के उपरान्त ही अधिकारी होता है। बौधायन० (२।२।१७) ने पुत्रिकापुत्र एवं कन्या का अन्तर तो अवश्य बताया है किन्तु यह नहीं स्पष्ट हो पाता कि उन्होंने दौहित्र को उत्तराधिकारी घोषित किया है। मनु (९।१३१-१३३) ने स्पष्ट कहा है -"पुत्रहीन व्यक्ति का सम्पूर्ण धन दौहित्र पाता है, उसे एक पिण्ड पिता को तथा दूसरा नाना को देना चाहिए। धार्मिक मामलों में पौत्र एवं दौहित्र में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि क्रम से उनके पिता एवं माता की उत्पत्ति मत स्वामी के शरीर से ही हुई है।" इस कथन के सन्दर्भ एवं शब्दों के आधार पर कुल्लूक आदि टीकाकारों ने मन्तव्य प्रकाशित किया है कि यहाँ जिस 'दौहित्र' की चर्चा हुई है वह नियुक्त कन्या का पुत्र है। किन्तु मनु (९।१३६) स्पष्टतर कह चुके हैं; "जब समान जाति

२१. तथा गोविन्दराजेनापि मनुटीकायाम्--अपुत्रपौत्रे संसारे दौहित्रा धनमाप्नुयुः। पूर्वेषां तु स्वधाकारे पौत्रा दौहित्रकाः समाः॥ एतद्विष्णुवचनबलेनोद्धातः प्रागेव दौहित्रस्याधिकारो दर्शितः। स चास्मभ्यं न रोचते। दायभाग (९।२३-२४ पृ० १८१)।

के पति से कन्या को पुत्र उत्पन्न होता है, चाहे वह कन्या नियुक्त हो या न हो, तो नाना मानो पौत्र वाला हो जाता है, उस पुत्र (कन्या के पुत्र) को नाना के लिए पिण्डदान करना चाहिए और नाना की सम्पत्ति लेनी चाहिए।" मिताक्षरा ने 'अकृता' शब्द को साधारण पुत्री के अर्थ में लिया है। किन्तु मेधातिथि एवं कुल्लूक ने कहा है कि 'कृता' शब्द का अर्थ है नियुक्त कन्या या पुत्रिका, जिसके विषय में उसके पति से स्पष्ट समझौता हुआ है और 'अकृता' का अर्थ है वह पुत्री, (जिसे मानस रूप में पुत्र के समान माना गया है) जिसके विषय में कोई स्पष्ट समझौता नहीं हुआ है। बृहस्पति का कथन है; "जिस प्रकार अन्य बन्धुओं के रहते हुए भी पुत्री उत्तराधिकारी के रूप में पिता के धन का स्वामित्व पाती है, उसी प्रकार उसका पुत्र भी माता की सम्पत्ति का एवं नाना की सम्पत्ति का स्वामी होता है।"[२२]

दौहित्र सम्पूर्ण सम्पत्ति में बराबर-बराबर भाग पाते हैं न कि दायांश के अनुसार। इसे यों समझिए; मान लीजिए **क** की **ख** एवं **ग** नामक दो पुत्रियाँ हैं, **ख** के तीन पुत्र एवं **ग** के दो पुत्र हैं, कुछ दिनों के उपरान्त **क** के जीवन-काल में **ख** एवं **ग** की मृत्यु हो जाती है; ऐसी स्थिति में **क** के मरने के उपरान्त उसकी सम्पत्ति पाँच भागों में बँट जायगी और प्रत्येक दौहित्र को १/५ भाग मिलेगा।

दौहित्र वास्तव में **बन्धु** एवं **भिन्न-गोत्र सपिण्ड** कहलाता है, किन्तु ऐतिहासिक कारणों एवं उसके द्वारा श्राद्ध-कर्म सम्पादित होने से धार्मिक योग्यता के कारण , उसे स्पष्ट स्मृति-वचनों के आधार पर उत्तराधिकारियों में बहुत बड़ा स्थान प्राप्त है।

माता-पिता--अपने पुत्र के उत्तराधिकारियों के रूप में माता-पिता के स्थान के विषय में मध्यकाल के निबन्धों में मतैक्य नहीं है। याज्ञवल्क्य ने पुत्र के मर जाने के उपरान्त उसके उत्तराधिकार के लिए माता एवं पिता की वरीयता के विषय में कोई संकेत नहीं किया है। विष्णुधर्मसूत्र (१७।४-१६) के आधार पर कुछ निबन्धों ने पिता को माता के पूर्व रखा है।[२३] मनु (९।२१७) का कथन है कि जब पुत्र सन्तानहीन मर जाता है तो माता को धन मिल जाता है, किन्तु अन्यत्र (मनु ९।१८५) आया है कि पिता पुत्रहीन व्यक्ति का धन लेता है और भाई भी ऐसा करते हैं। स्पष्ट है, मनु ने माता एवं पिता की वरीयता के विषय में निश्चयात्मक बात नहीं कही है। कात्यायन (९२७) कहते हैं-- "पुत्रहीन व्यक्ति के उत्तराधिकारी ये हैं--अच्छे कुल की पत्नी, पुत्रियाँ, उनके अभाव में पिता,(तब) माता, भाई एवं (भाई के) पुत्र।" बृहस्पति यों कहते हैं--"जब पुत्र बिना अपनी पत्नी एवं पुत्र के मर जाता है तो उसकी माता उसका उत्तराधिकार पाती है या माता की अनुमति से भाई उत्तराधिकार पा सकता है।" इस द्वैध के साथ यह कहा जा सकता है कि मिताक्षरा, मदनपारिजात, सरस्वतीविलास (पृ० ४१६), विवादचिन्तामणि, व्यवहारप्रकाश ने पिता की अपेक्षा माता को वरीयता दी है। किन्तु व्यवहारमयूख ने पिता को ही वरीयता दी है। श्रीकर के मत से माता-पिता (जीवितावस्था में) साथ-साथ उत्तराधिकार पाते हैं (स्मृतिच० २, पृ० २९७)। किन्तु दायभाग, स्मृतिचन्द्रिका आदि ने

२२. यथा पितृधने स्वाम्यं तस्याः सत्स्वपि बन्धुषु। तथैव तत्सुतोपीष्टे मातृमातामहे धने।। बृहस्पति (दायभाग ११।२।१७, पृ० १८०; व्यवहारप्रकाश पृ० ३२१)।

२३. विष्णुधर्मसूत्र (१७।४-१६) में आया है--अपुत्रधनं पत्न्यभिगामि। तदभावे दुहितृगामि। तदभावे पितृगामि। तदभावे मातृगामि। तदभावे भ्रातृगामि। तदभावे भ्रातृपुत्रगामि। तदभावे बन्धुगामि। तदभावे सकुल्यगामि। तदभावे सहाध्यायिगामि। तदभावे ब्राह्मणधनवर्जं राजगामि। ब्राह्मणार्थो ब्राह्मणानाम्। वानप्रस्थधनमाचार्यो गृह्णीयाच्छिष्यो वा।। देखिए स्मृतिच०, मदनरत्न, व्यवहारप्रकाश, पराशरमाधवीय, व्यवहारसार (पृ० २५२)।

इस मत की आलोचना की है। मिताक्षरा ने माता को वरीयता तीन कारणों से दी है, जिनमें दो व्याकरण के आधार पर प्रस्तुत किये गये हैं; याज्ञवल्क्य में जो 'पितरौ' शब्द आया है वह 'एकशेष' द्वन्द्व समास है, इसके विग्रह में या इतरेतर-योग द्वन्द्व में माता का स्थान प्रथम आता है, अतः उसे वरीयता मिलनी चाहिए। तीसरा कारण यह है--एक पिता की कई पत्नियाँ और उनसे कई पुत्र हो सकते हैं, अतः माता अपने पुत्र से ही सीधे रूप में सम्बन्धित है न कि अपने पति के अन्य पुत्रों से। इसी से मिताक्षरा का कहना है कि माता पिता की अपेक्षा अपने पुत्र से अपेक्षाकृत अधिक सन्निकट (**प्रत्यासन्न**) है।[२४] स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २९७) एवं व्यवहारमयूख ने उक्त व्याकरण-सम्बन्धी तर्क नहीं माना है। किन्तु व्यवहारप्रकाश (पृ० ५२५) ने 'माता च पिता च पितरौ' के अनुसार माता को ही प्रथम स्थान दिया है। 'पिता की अपेक्षा माता अधिक सन्निकट है' इस विषय में जो तर्क है वह सुन्दर है। 'पुत्र' की बात पर ध्यान दिया जाय तो इस विषय में माता एवं पिता दोनों समान रूप से सन्निकट हैं, किन्तु व्यवहारप्रकाश का तर्क है कि जहाँ तनिक भी अन्तर पाया जाता है वरीयता घोषित कर दी जाती है, अतः "माता च पिता च पितरौ" में माता को प्रथम स्थान की वरीयता प्राप्त है इसलिए वह उत्तराधिकार में प्रथम स्थान पाती है। व्यवहारप्रकाश (पृ० ५२५) ने विष्णुधर्मसूत्र में वर्णित पिता की वरीयता पर इस प्रकार प्रकाश डाला है--यदि माता पतिव्रता है और पिता साधारण व्यक्ति है तो माता को ही वरीयता मिलनी चाहिए, किन्तु यदि पिता माता की अपेक्षा अधिक सुयोग्य हो तो उसे ही वरीयता प्राप्त होनी चाहिए। व्यवहारप्रकाश के इस तर्क का किसी ने समर्थन नहीं किया है। माता एवं पिता की वरीयता के विषय में विभिन्न मतों के रहने के कारण न्यायालयों ने विचित्र निर्णय दिये हैं। केवल बम्बई (पुराने प्रकार के प्रान्त में, क्योंकि अब बम्बई प्रान्त के कई भाग इधर-उधर के अन्य प्रान्तों में सम्मिलित कर दिये गये हैं, स्वयं गुजरात एक पृथक् प्रान्त बन गया है) प्रान्त के गुजराती भाग में एवं बम्बई द्वीप तथा उत्तरी कोंकण में पिता को वरीयता प्राप्त है (क्योंकि यहाँ व्यवहार-मयूख को अत्यधिक प्रामाणिकता प्राप्त है), किन्तु बम्बई प्रान्त के अन्य भागों में माता को ही उत्तराधिकार के लिए वरीयता प्राप्त है। तो भी माता को जो पुत्र से उत्तराधिकार प्राप्त होता है वह विधवा के उत्तराधिकार की भाँति ही सीमित होता है। पिता को जो उत्तराधिकार प्राप्त होता है वह नित्य होता है, अर्थात् वह उसका विघटन भी कर सकता है। 'माता' शब्द में 'पालिका' का अर्थ भी सन्निहित है, अर्थात् यदि दत्तक पुत्र बिना पुत्र, विधवा पत्नी, पुत्री या दौहित्र छोड़े मर जाय तो पालिका (गोद लेनेवाली) को उसका धन मिल जाता है। द्व्यामुष्यायण दत्तक जब मर जाता है और उसके पीछे केवल उसकी जननी एवं पालिका बच रहती हैं तो दोनों माताएँ सह-उत्तराधिकारिणी हो जाती हैं। यह व्यवस्था दी गयी है कि यदि द्व्यामुष्यायण पुत्र से उत्तराधिकार पाने के उपरान्त पालिका पुनः कोई दत्तक करती है तो नया दत्तक पुत्र उसके आधे अंश को (जो उसे मृत द्व्यामुष्यायण पुत्र से प्राप्त होता है) उससे नहीं माँग सकता।

मिताक्षरा ने 'माता' शब्द में विमाता को नहीं रखा है। बम्बई को छोड़कर कहीं भी विमाता सपत्नी के पुत्र का उत्तराधिकार नहीं पाती, क्योंकि नियमानुसार स्त्रियों को तो रिक्थाधिकार मिलता नहीं, केवल वहीं पर छूट है जहाँ स्मृति-वचन स्पष्ट हैं, अन्यथा सम्पत्ति विमाता के रहने पर भी उसको न जाकर राजा की हो जाती है, किन्तु उसे भरण (जीवन-वृत्ति) मिलता है। बम्बई में वह गोत्रज सपिण्ड विधवा के समान रिक्थाधिकार पाती है, किन्तु गोत्रज सपिण्डों में उसे बहुत दूर का स्थान प्राप्त है। यदि विधवा पुनर्विवाह कर ले और उसका वह पुत्र, जो प्रथम पति से उत्पन्न हुआ है, बिना सन्तान, विधवा पत्नी, पुत्री या दौहित्र के मर जाय तो उसकी पुनर्विवाहित माता को उसका उत्तरा-

२४. पिता स्वपत्नीपुत्रेष्वपि साधारणः। माता तु न साधारणीति प्रत्यासत्त्यतिशयोऽस्तीति विप्रलम्भसदृश-मिदं न हि जननीजनकयोर्जन्यं प्रति सन्निकर्षतारतम्यमस्ति। स्मृतिच० (२, पृ० २९७)।

कार प्राप्त हो जाता है (बम्बई उच्च न्यायालय), किन्तु जब वह पहले रिक्थाधिकार पा चुकी हो और उसके पश्चात् पुनर्विवाहित हुई हो तो वह प्रथम रिक्थाधिकार से वंचित हो जाती है (हिन्दू विडोज़ रीमैरेज एक्ट, १८५६, परिच्छेद २)।

जब माता पुत्र का उत्तराधिकार पाती है तो वह सम्पत्ति का विघटन नहीं कर सकती, किन्तु वैधानिक आवश्यकताओं की पूर्ति में व्यय कर सकती है। यदि विज्ञानेश्वर द्वारा प्रस्तुत **स्त्रीधन** की परिभाषा की शाब्दिक व्याख्या की जाय तो पुत्र वाला उत्तराधिकार भी **स्त्रीधन** कहलाएगा। एक अभिलेख (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १४, पृ० ८३, मुम्मडी नायक के श्रीरंगम ताम्रपत्र, शक संवत् १२८०) से पता चलता है कि अपने पुत्र पराशरभट्ट को प्राप्त ग्राम उत्तराधिकार में माता ने श्रीरंगम् के रंगनाथ देवता के लिए दान कर दिया।

भाई एवं भाई के पुत्र––याज्ञवल्क्य एवं विष्णु के मत से माता-पिता के अभाव में भाई उत्तराधिकार पाते हैं और उनके अभाव में भाई के पुत्र उत्तराधिकार के अधिकारी होते हैं। किन्तु इस विषय में मतैक्य नहीं है, क्योंकि शंख, मनु (९।१८५) आदि ने माता-पिता के पूर्व भाइयों को ही अधिकार दिया है। किन्तु आगे चलकर समझौता हो गया और मिताक्षरा से लेकर आगे के सभी निबन्धों ने निर्णय दिया कि माता-पिता के उपरान्त ही भाई लोग उत्तराधिकार पाते हैं। मिताक्षरा का कथन है कि सहोदर भाई वैमात्रों-सौतेले भाइयों की अपेक्षा वरीयता पाते हैं। इसने आगे कहा है कि दोनों प्रकार के भाइयों के अभाव में भाई के पुत्रों को उत्तराधिकार मिलता है, किन्तु यहाँ भी सहोदर भाइयों के पुत्रों को सौतेले भाइयों के पुत्रों की अपेक्षा वरीयता मिलती है। व्यवहारमयूख को छोड़कर दायभाग आदि निबन्धों ने मिताक्षरा के इस मत को स्वीकार किया है। सहोदर भाई सौतेले भाई की अपेक्षा मृत भाई के अधिक सन्निकट होते हैं, क्योंकि उनकी एवं मृत व्यक्ति की माता एक ही होती है। दायभाग ने तर्क दिया है––"सहोदर भाई उन्हीं तीन पितृ-पूर्वजों और उन्हीं तीन मातृ-पूर्वजों को पिण्डदान करता है, जिनसे मृत व्यक्ति पिण्डदान करने के लिए बाध्य रहता है और उसे उस सौतेले भाई की अपेक्षा वरीयता मिलती है जो मृत व्यक्ति के केवल तीन पितृ-पूर्वजों को पिण्डदान करता है (वह मृत व्यक्ति के मातृ-पूर्वजों को पिण्डदान नहीं करता)।"[२५] यही बात अपरार्क (पृ० ७४५) ने भी कही है। व्यवहारमयूख ने सहोदर भाई के पुत्र को सौतेले भाई से जो वरीयता दी है उसके लिए उसने कई कारण दिये हैं––'भाई' शब्द 'सहोदर' (एक ही पेट से उत्पन्न) के अर्थ में लिया जाता है, उसका प्रयोग 'सौतेले भाई' के लिए केवल गौण रूप में होता है। मीमांसा का एक सामान्य नियम है कि एक ही शब्द एक ही वाक्य या नियम में 'मुख्य' एवं 'गौण' के अर्थ में नहीं लिया जाना चाहिए।[२६] जिस प्रकार 'माता' शब्द केवल जननी के लिए (विमाता के लिए नहीं) प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार 'भ्रातरः' शब्द से सहोदर एवं सौतेले दोनों भाई नहीं समझे जा सकते। व्यवहारमयूख की बात ठीक नहीं है, दायभाग ने स्पष्ट किया है कि जब याज्ञवल्क्य (२।१३८) सगे भाई की बात कहते हैं तो 'सोदर' शब्द का प्रयोग करते हैं किन्तु वैमात्र भाई के लिए 'अन्योदर्य' या 'अन्यमातृज' का प्रयोग करते हैं (२।१३९)। अतः "भ्रातरः" शब्द से सगे एवं सौतेले दोनों प्रकार के भाइयों का बोध होता है। स्मृतिसंग्रह जैसी स्मृतियों में भाई के दो प्रकार गिनाये गये हैं; 'सोदर्य' एवं 'असोदर्य' (स्मृतिच० २, पृ० ३०० एवं व्यवहारप्रकाश पृ० ५२७)।

२५. सापत्नस्य च सोदरान्मृतदेयषाट्पौरुषिकपिण्डदातुर्मृतभोग्यमात्रपित्रादिपिण्डत्रयदातृतया जघन्यत्वात्। दायभाग (११।५।१२)।

२६. मुख्य एव विनियोक्तव्यो मन्त्रो न गौण इति। कुतः, उभयाशक्यत्वात्। शबर (जैमिनि ३।२।१)। मिलाइए दायभाग (३।३०, पृ० ६७)। 'न ह्येकस्मिन्प्रकरणे एकस्मिंश्च वाक्ये एकः शब्दः सकृदुच्चरितो बहुभिः संबध्यमानः क्वचिन्मुख्यः क्वचिद् गौण इत्यध्यवसातुं शक्यम्। वैरूप्यप्रसंगात्। शारीरक भाष्य (ब्रह्मसूत्र २।४।३)।

स्मृतिच० (२, पृ० ३००) ने कुछ लोगों के इस मत का खण्डन किया है कि याज्ञवल्क्य के 'भ्रातरः' शब्द में एकशेष समास है, क्योंकि पाणिनि (१।२।६८) के मत से इसका अर्थ है "भाई एवं बहिन" (भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्) और भाइयों के अभाव में बहिनें उत्तराधिकार पाती हैं।[27] व्य० मयूख ने भी ऐसा ही कहा है। इससे प्रकट है कि कुछ लोगों ने, विशेषतः कुछ मध्यकाल के एवं पश्चात्कालीन कानूनवेत्ताओं (जूरिस्टों) ने, स्त्रियों के अधिकारों को बढ़ाना चाहा है, किन्तु अन्ततोगत्वा उनके मतों को बल न मिल सका। ऐसा कहा गया है कि समान पिता वाले भाइयों को (जिनकी माताएँ भिन्न हों) समान माता वाले भाइयों से (जिनके पिता भिन्न हों) वरीयता मिलनी चाहिए, क्योंकि मिताक्षरा आदि ने पुनर्विवाह के उपरान्त उसी माता से उत्पन्न पुत्रों को वही मान्यता नहीं दी है जो उन पुत्रों को मिलती है जो समानपितृक हैं। किन्तु नन्द पंडित ने अपनी वैजयन्ती में भाइयों एवं बहिनों को जो सगे हैं या सौतेले हैं, उत्तराधिकार के लिए निम्न अनुक्रम में रखा है--(१) सगे भाई, (२) सगी बहिनें, (३) ऐसे भाई जो एक ही पिता के पुत्र हैं एवं (४) ऐसे भाई जो एक ही माता के पुत्र हैं (देखिए डॉ० जॉली, टैगोर लॉ लेक्चर्स, पृ० २०८ एवं २८७)। क्योंकि मनु (९।२१७) ने कहा है कि सन्तानहीन व्यक्ति का धन माता को मिलता है, माता के अभाव में पितामही को मिलता है, अतः स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २९९) ने पितामही को भाइयों के पूर्व रखा है, किन्तु यह मत किसी अन्य को मान्य नहीं है। मिताक्षरा का कथन है कि मनु ने कोई अनुक्रम नहीं उपस्थित किया है, उन्होंने पितामही को केवल उत्तराधिकारी के रूप में घोषित किया है। मिताक्षरा के कथनानुसार मनु, शंख आदि ने केवल उत्तराधिकारियों के नाम घोषित किये हैं और याज्ञवल्क्य एवं विष्णु ने वह अनुक्रम बताया है जिसके अनुसार उत्तराधिकारियों को क्रम से पूर्व के अभाव में उत्तराधिकार मिलता है। किन्तु व्यवहारप्रकाश (पृ० ५२७) ने इसे नहीं माना है।

व्यवहारमयूख ने उत्तराधिकार का एक विशेष अनुक्रम घोषित किया है; (१) सगे भाई (समानमातृ-पितृका भ्रातरः), (२) सगे भाई के पुत्र, (३) गोत्रज सपिण्ड, जिनमें पितामही को प्रथम स्थान है, (४) बहिन, (५) पितामह एवं उसी के साथ सौतेला भाई एवं (६) प्रपितामह, चाचा तथा उसके साथ सौतेले भाई का पुत्र। यहाँ जो संयुक्त उत्तराधिकारियों के नाम घोषित हैं वे अप्रचलित हो गये हैं, और बम्बई के उच्च न्यायालय ने उन्हें मान्यता नहीं दी है।

मिताक्षरा ने **बहिन** का नाम नहीं लिया है, किन्तु मिताक्षरा की मान्यता वाले जनपदों में भी बम्बई के उच्च न्यायालय ने उसे सन्निकट की उत्तराधिकारी घोषित किया है और उसे भाइयों (सगे एवं सौतेले), भाई के पुत्रों (सगे या सौतेले) एवं पितामही के उपरान्त रखा है। व्य० मयूख के अन्तर्गत सगी बहिन का स्थान सगे भाइयों एवं सगे भाइयों के पुत्रों तथा पितामही के उपरान्त है और सौतेले भाइयों एवं सौतेले भाई के पुत्रों के पूर्व आता है।

२७. यद्यपि भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्यामिति शाब्दस्मृत्या पुत्रेभ्य इत्यत्र विरूपैकशेषं कृत्वा दुहितॄणामनुप्रवेशोत्र कर्तुं शक्यते, तथापि "पुमांसो दायादा न स्त्रियः, तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीः" इति श्रुतेरित्येतेनेदं निरस्तं यत्कैश्चिदुक्तम्। स्मृतिच० (२, पृ० ३००)। "पुत्रेभ्यः" का संकेत आप० ध० सू० (२।६।१४।१) की ओर है। यदि 'भ्रातरः' का अर्थ भाई है तो यह 'सरूप' के प्रकार का एकशेष समास है, किन्तु यदि इसका अर्थ 'भाई एवं बहिन' है तो यह 'विरूप' नामक एकशेष समास होगा। अन्तिम रूप के ग्रहण के लिए किसी विशेष कारण का होना आवश्यक है, यथा--यदि कहा जाय 'दो कुक्कुट (मुर्गे) ले आओ, हम उनका जोड़ा (नर एवं मादा का) बनाएँगे,' तो ऐसी विशिष्ट स्थिति में 'कुक्कुटौ' का अर्थ होगा एक मुर्गा एवं एक मुर्गी, यद्यपि साधारणतः इसका अर्थ है 'दो मुर्गे'। स्मृ० च०।

मिताक्षरा, व्य० मयूख (पृ० १४३) आदि के मत में पत्नी से लेकर भाई के पुत्रों तक उत्तराधिकारी-गण **बद्धक्रम** (जिनका क्रम निश्चित या स्थिर हो) की संज्ञा पाते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि क्या भाई के पुत्र का पुत्र (अर्थात् भाई का पौत्र) भाई के पुत्र के उपरान्त तथा अन्य उत्तराधिकारी के पूर्व अधिकार पाता है? इस विषय में संस्कृत के लेखकों में मतैक्य नहीं है। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ३००), सुबोधिनी, मदनपारिजात (पृ० ६७३) का कहना है कि **बद्धक्रमता** भाई के पुत्र तक आकर समाप्त हो जाती है, किन्तु अपरार्क, वरदराज (व्यवहारनिर्णय, पृ० ४५३) एवं नन्द पंडित की वैजयन्ती के मत से भाई के पुत्र के पुत्र का स्थान भाई के पुत्र के सर्वथा उपरान्त ही आता है। दायभाग (११।६।६, पृ० २०८) ने भाई के पुत्र के पुत्र को भाई के पुत्र के उपरान्त ही रखा है, क्योंकि उसका पिंडदान महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

गोत्रज (एक ही गोत्र वाले)——याज्ञवल्क्य के मत से भाई के पुत्रों तक के उत्तराधिकारियों के अभाव में गोत्रजों को उत्तराधिकार मिलता है। यद्यपि पिता, भाई, भाई के पुत्र गोत्रज ही हैं किन्तु उन्हें उत्तराधिकारियों के अनुक्रम में निश्चित स्थान प्राप्त है, अतः अन्य लोगों को, जो उपर्युक्त लोगों के गोत्र में ही उत्पन्न हुए रहते हैं, 'गोत्रज' कहा जाता है। मिताक्षरा के अनुसार गोत्रजों में सर्वप्रथम पिता की माता (पितामही) को स्थान प्राप्त है, उसके उपरान्त अन्य सपिण्डों एवं समानोदकों का स्थान आता है। यही बात व्य० मयूख (पृ० १४३) ने भी कही है और गोत्रज सपिण्डों में पिता की माता को सबसे पहला स्थान दिया है। यह कह देना आवश्यक है कि याज्ञवल्क्य ने 'सपिण्ड' शब्द का प्रयोग न करके 'गोत्रज' शब्द प्रयुक्त किया है। मिताक्षरा एवं मयूख ने सपिण्डों को उत्तराधिकारी माना है और उनके दो प्रकार दिये हैं; (१) **गोत्रज** (एक ही गोत्र में उत्पन्न या एक ही गोत्र के) एवं (२) **भिन्न गोत्रज** सपिण्ड (जो दूसरे गोत्र में उत्पन्न हैं)। याज्ञवल्क्य ने भिन्न गोत्रज सपिण्ड को 'बन्धु' कहा है। इससे स्पष्ट है कि (यद्यपि याज्ञ० ने 'सपिण्ड' शब्द नहीं प्रयुक्त किया है) भाई के पुत्र के उपरान्त रिक्थाधिकार सन्निकट के सपिण्ड को जाता है। याज्ञवल्क्य को 'सपिण्ड' शब्द का ज्ञान था (१।५२) और उन्होंने विवाह के लिए सपिण्डता की सीमाएँ निर्धारित की हैं। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने सपिण्ड का वह अर्थ नहीं लिया है जिसे जीमूतवाहन ने लिया है। याज्ञवल्क्य ने नियोग के सिलसिले में 'सपिण्ड' एवं 'सगोत्र' शब्दों का उल्लेख किया है (१।६८), किन्तु इससे दो बातें प्रकट होती हैं; (१) दोनों शब्द पर्यायवाची नहीं हैं तथा (२) **सगोत्र** का वही अर्थ है जो **गोत्रज** का है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।६।१४।२) में आया है——'पुत्राभावे प्रत्यासन्नः सपिण्डः,' अर्थात् पुत्रों के अभाव में सन्निकट के सपिण्ड (उत्तराधिकार प्राप्त करते हैं)। इस विषय में मनु (९।१८७) के शब्द सर्वश्रेष्ठ हैं; 'अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्', अर्थात् सपिण्डों में जो सबसे सन्निकट (नजदीकी) है उसी को (मृत का) धन मिलेगा। यह कथन टीकाकारों एवं निबन्धों द्वारा कई प्रकार से व्याख्यात हुआ है और हिन्दू व्यवहार के प्रसिद्ध न्यायाधीशों एवं लेखकों द्वारा कई प्रकार से अनूदित हुआ है।[२८] मुख्य कठिनाई 'सपिण्डाद्य' एवं 'तस्य तस्य' युगल शब्दों को लेकर ही है। कुछ लोगों ने एक 'तस्य' (उसका) को मृत के लिए माना है और दूसरे 'तस्य' को उत्तराधिकारी के लिए प्रयुक्त माना

२८. अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्। मनु (९।१८७)। यह कई प्रकार से पढ़ा गया है——अनन्तरः सपिण्डो यस्तस्य तस्य धनं भवेत् (व्य० निर्णय, पृ० ४५१); मदनरत्न; यो यो ह्यनन्तरः पिण्डात्तस्य तस्य धनं भवेत्।.. तदेतद् धारेश्वरो व्याचष्टे यो यो ह्यनन्तरः पिण्डादित्यत्र पिण्डात्सपिण्डादित्यर्थो द्रष्टव्यः। स्मृतिच० (२, पृ० ३१०); व्यवहारसार (पृ० २५४); 'अनन्तरः सपिण्डाद्यः' इत्यनेन यः सपिण्डात्संनिहितः तस्य सपिण्डसंनिहितस्य धनं सपिण्डस्य संनिहितस्य धनं भवेदिति विहितत्वात्। सुबोधिनी (पृ० ७१)।

है। कुछ लोगों ने 'तस्य तस्य' में दोनों तस्यों को उत्तराधिकारी के लिए माना है और 'यः' के साथ एक अन्य 'यः' को लुप्त माना है (क्योंकि उससे पद्य की मात्रा में गड़बड़ी हो जाती)। इसी प्रकार 'सपिण्डाद्यः' में कुछ लोगों ने दो शब्द लिये हैं, यथा--'सपिण्डात् यः' तथा कुछ लोगों ने उसे केवल एक शब्द माना है, यथा सपिण्डाद्यः, अर्थात् सपिण्ड तथा उसके समान अन्य। जैसा कि २८वीं टिप्पणी में दिया गया है, कुछ निबन्धों एवं टीकाकारों ने इस पद्य को कई प्रकार से पढ़ा है। कुल्लूक एवं दायतत्त्व (पृ० १९५) ने 'सपिण्डात्' को सपिण्डमध्यात् (सपिण्डों के बीच से) के अर्थ में लिया है, जो सम्भवतः सबसे अच्छी व्याख्या है। बृहस्पति का कथन है--"जहाँ बहुत-से सगोत्र (सजातीय--अपने गोत्र के), सकुल्य एवं बन्धु हों, उनमें जो आसन्नतर (अधिक नज़दीकी) होता है वही पुत्रहीन का धन प्राप्त करता है।"[२९]

महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है--'सपिण्ड' शब्द का अर्थ क्या है? मिताक्षरा एवं दायभाग ने इसके दो भिन्न अर्थ दिये हैं, जिनका उल्लेख हमने पहले कर दिया है (देखिए इस ग्रन्थ का भाग--२, अध्याय ९)। गोत्र की परिभाषा देते समय पाणिनि (४।१।१६२) ने 'सपिण्ड' (४।१।१६५) शब्द प्रयुक्त किया है। जैसा कि काशिका ने समझाया है, यह शब्द रक्त-सम्बन्ध के अर्थ में लिया गया है। मिताक्षरा के मत से रिक्थाधिकार रक्त-सम्बन्ध पर आधारित है ('एकशारीरावयवान्वय' अर्थात् शरीर के अवयवों के द्वारा सम्बन्ध) और रक्त-सम्बन्धियों में वरीयता **प्रत्यासत्ति** (सन्निकटता) पर घोषित होती है। दायभाग के मत से सपिण्ड-सम्बन्ध धार्मिक योग्यता पर निर्भर है, अर्थात् श्राद्ध में पिण्ड देने के ऊपर, जिस पर हम आगे प्रकाश डालेंगे। यह स्पष्ट है कि मृत के श्राद्धकर्म एवं उसकी रिक्थप्राप्ति के उत्तराधिकार में घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या वही व्यक्ति उत्तराधिकारी हो सकता है जो पिण्डदान करे? या जिसे रिक्थाधिकार किन्हीं अन्य कारणों से मिलता है उस पर रिक्थाधिकार मिल जाने के उपरान्त मृत व्यक्ति के श्राद्धकर्म करने का उत्तरदायित्व आता है? इस प्रश्न का सन्तोषप्रद उत्तर देना कठिन है। ऐसा लगता है कि प्राचीन सूत्रों ने रिक्थाधिकार के सिद्धान्त को निश्चित करने में पिण्डदान की धार्मिक योग्यता पर बल नहीं दिया है। आप०, मनु एवं बृह० (विशेषतः प्रथम एवं अन्तिम) ने केवल सन्निकटता (जिसका स्वाभाविक अर्थ है रक्त की संन्निकटता) पर ही बल दिया है। याज्ञ० ने उत्तराधिकारियों की चर्चा में 'सपिण्ड' शब्द का नाम नहीं लिया है। मनु (९।१४२) का कथन है कि पिण्ड तो **गोत्र** एवं **रिक्थ** (धन) का अनुसरण करता है। विष्णु० (१५।४०) ने घोषित किया है--"जो कोई (मृत का) धन पाता है, वह उसको पिण्ड देता है।" इस नियम पर उन लेखकों (व्य० मयूख आदि के लेखकों) ने भी बल दिया है, जिन्होंने रक्त-सम्बन्ध को उत्तराधिकार के लिए आवश्यक माना है; उनका कथन है कि जो कोई, यहाँ तक कि राजा भी, मृत की सम्पत्ति पाता है, उसे उसका श्राद्ध-कर्म करना चाहिए या उसके लिए मर जाने पर दस दिनों की अन्त्येष्टि क्रिया, श्राद्ध आदि का प्रबन्ध कराना चाहिए, जैसा कि ब्रह्मपुराण में आया है--"तदभावे च नृपतिः कारयेत्त्वकुटुम्बिनाम्। तज्जातीयैर्नरैः सम्यग्दाहाद्याः सकलाः क्रियाः॥" (२२०।७९)। मिताक्षरा के मत का समर्थन वि० र०, वि० चि०, प० मा०, म० पा०, स० वि०, व्य० म०, बालम्भट्टी आदि ने किया है। दायभाग के सिद्धान्त का प्रतिपादन केवल कुछ मध्यकाल के ग्रन्थों एवं अपरार्क, रघुनन्दन एवं नन्द पंडित ने किया है। वीरमित्रोदय ने सामान्यतः मिताक्षरा का अनुसरण किया है, किन्तु कुछ विवादों में धार्मिक योग्यता के सिद्धान्त पर ही

२९. बहवो ज्ञातयो यत्र सकुल्या बान्धवास्तथा। यस्त्वासन्नतरस्तेषां सोऽनपत्यधनं हरेत्॥ बृह० (स्मृतिच० २, पृ० ३०१; मदनरत्न; पराशरमाधवीय ३, पृ० ५२९; दायतत्त्व पृ० १९५; व्य० प्र० ५२७। स्मृतिच० एवं मदनरत्न ने व्याख्या की है--"ज्ञातयः सपिण्डाः सकुल्याः समानोदकाः। बान्धवाः...स्मृत्यन्तरे दर्शिता आत्मपितृष्वसुः पुत्राः०।"

उत्तराधिकार की वरीयता घोषित की है, यथा--उसने सगे भाई को विमाता के पुत्र की अपेक्षा तथा तीन पुरुष उत्तराधिकारियों को विधवा की अपेक्षा अधिक वरीयता दी है। इस विषय में प्रिवी कौंसिल ने निम्न आदेश दिया है--"अब यह स्पष्ट है कि मिताक्षरा के अनुसार, जहाँ रिक्थाधिकार रक्त-सम्बन्ध या रक्त-समूह से उत्पन्न हुआ माना जाता है, रक्त की सन्निकटता या गोत्रज की सन्निकटता के निर्णय के लिए रिक्थाधिकार की वरीयता की खोज पिण्डदान देने की पात्रता में करनी चाहिए।" यह उक्ति विचित्र-सी है। इससे प्रकट होता है कि रिक्थाधिकार के लिए पिण्डदान की योग्यता आवश्यक नहीं है, यह केवल गोत्रजों में वरिष्ठ उत्तराधिकारी पाने के लिए उपयोगी मात्र है।[३०]

मिताक्षरा द्वारा उद्धृत विष्णुधर्मसूत्र का वचन यों है--यदि वंश चलाने के लिए पुत्र या पौत्र न हों तो दौहित्र को धन मिलता है, क्योंकि पितरों की अन्त्येष्टि क्रिया के लिए पुत्री के पुत्र अपने पौत्रों के समान गिने जाते हैं। यह बात मनु (९।१३६) के समान ही है, जहाँ यह आया है कि दौहित्र को पिण्डदान करना चाहिए और धन लेना चाहिए। इससे प्रकट होता है कि मनु, विष्णु आदि ने रिक्थाधिकार के लिए पिण्डदान करने की योग्यता को मान्यता दी है, किन्तु यह भावना आगे व्याख्यात नहीं की जा सकी। रक्त-सम्बन्ध वाली भावना याज्ञ० (२।१२७) द्वारा उपस्थापित उत्तराधिकार-सम्बन्धी अनुक्रम में छिपी हुई-सी है। याज्ञ० (२।१२७) का कथन है कि क्षेत्रज पुत्र दोनों की, अर्थात् जनक एवं पत्नी (जिससे वह उत्पन्न किया जाता है) के पति की, सम्पत्ति ग्रहण करता है और दोनों को पिण्ड देता है। याज्ञवल्क्य यह नहीं कहते कि वह दोनों को पिण्ड देता है इसलिए उसे (दोनों की) सम्पत्ति मिलती है। अतः यह कथन भी यही स्वीकार करता है कि पिण्डदान करना मानो जो धन लेता है उसका एक कर्तव्य था (किन्तु यह बात उसके लिए नहीं है जो सन्तान रूप में पुत्र है)। इससे प्रकट होता है कि मिताक्षरा के सिद्धान्त पर प्राचीनता की मुहर लगी हुई है, और बंगाल को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में अधिकांश निबन्धों ने यही बात मानी है।

दायभाग की यह उपपत्ति या उक्ति (जो बहुत पहले उद्योत नामक लेखक द्वारा सम्भवतः घोषित की गयी थी[३१]) कि मृत व्यक्ति के धन का ग्रहण उस पारलौकिक कल्याण पर निर्भर है जो उसे प्राप्त होता है, संक्षेप में यों व्यक्त की जा सकती है--"यह उक्ति मुख्यतया बौधायनधर्मसूत्र एवं मनुस्मृति पर आधारित है। विभाजन के प्रकरण में, जो (९।१०३) से आरम्भ होता है, मनु (९।१३७) ने घोषित किया है कि पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र द्वारा अत्यन्त श्रेष्ठ पारलौकिक क याण किया जाता है; मनु (९।१०६) का कथन है कि पुत्र को पिता से सम्पूर्ण धन प्राप्त होता है क्योंकि वह पिता को ऋण-मुक्त करता है; दौहित्र भी परलोक में नाना की रक्षा करता है (९।१३९) अतः वह नाना के धन का अधिकारी है। किन्तु (९।१८७) के पूर्व मनु ने (यह घोषित करते हुए कि सपिण्डों में अति सन्निकटता वाला उत्तराधिकारी होता है) तीन पूर्वजों के पिण्डदान की चर्चा की है; मनु (९।२०१) ने अन्धे आदि को रिक्थाधिकार से वंचित कर दिया है क्योंकि वे श्राद्ध आदि धार्मिक कर्म करने के अयोग्य हैं। अतः यह स्पष्ट होता है कि मनु आदि ने रिक्थाधिकार की प्राप्ति को पारलौकिक कल्याण करने पर निर्भर रखा है। दायभाग ने इस बात को पद-पद पर कहा है और इस पर बल दिया है। उसका कथन है--"दो उद्देश्यों से धन की प्राप्ति की जाती है; सांसारिक सुखोपभोग के लिए एवं दान आदि कर्मों द्वारा

३०. देखिए बुद्धसिंह-बनाम-ललतूसिंह (४२, आई० ए० २०८, पृ० २०७)। नहि पिण्डदानाधिकार एव दायग्रहणे प्रयोजकः, ज्येष्ठे सति कनीयसामनधिकारेपि दायग्रहणात्।...गोत्रजादीनां दायहराणामनेकेषां समवाये पिण्डदानाद्युपकारित्वं धनस्वामिनो यत्तदनुपकारिव्यावर्तकपरं न तु तदेव प्रयोजकम्। व्य० प्र० (पृ० ४६१)।

३१. उपकारकत्वेनैव धन-सम्बन्धो न्यायप्राप्तो मन्वादीनामभिमत इति मन्यते। इति निरवद्यविद्योद्योतेन द्योतितोऽयमर्थो विद्वद्भिरादरणीयः। दायभाग (११।६।३१-३२, पृ० २१६)।

अदृष्ट या पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति के लिए; किन्तु जब धनार्जनकर्ता मृत हो जाता है तो वह धन से सुखोपभोग नहीं कर सकता, अतः दूसरा उद्देश्य जो बच रहता है वह अदृष्ट उपभोग या कल्याण है। इसी से बृहस्पति ने कहा है कि जो रिक्थाधिकार प्राप्त हुआ रहता है उसका अर्धांश मृत व्यक्ति के लिए पृथक् कर देना चाहिए, जिससे मासिक, षाण्मासिक एवं वार्षिक श्राद्ध कर्म किया जा सके।"[32] हम श्राद्ध के विषय में इस ग्रन्थ के अगले भाग में पढ़ेंगे। किन्तु दायभाग का मत प्रकाशित करने के लिए यहाँ भी संक्षेप में कुछ लिख देना आवश्यक है।

श्राद्ध के कई प्रकार हैं, जिनमें दो की चर्चा यहाँ आवश्यक है, यथा—**एकोद्दिष्ट एवं पार्वण**। प्रथम अर्थात् एकोद्दिष्ट का सम्पादन केवल एक मृत व्यक्ति के लिए होता है। मृत व्यक्ति के लिए एक वर्ष के भीतर या मृत्यु के ग्यारहवें दिन सोलह श्राद्ध सम्पादित होते हैं। मृत व्यक्ति के वार्षिक दिन पर एकोद्दिष्ट श्राद्ध-कर्म किया जा सकता है। पार्वण श्राद्ध का सम्पादन विशिष्ट दिनों में किया जाता है, यथा किसी अमावस्या के दिन, आश्विन की अमावस्या के दिन या संक्रान्ति के दिन। इसमें कर्ता के तीन पितृ-पूर्वजों के श्राद्धकर्म आदि किये जाते हैं, तीन मातृ-पूर्वजों के लिए भी श्राद्ध किया जा सकता है, किन्तु यह गौण है और मुख्य कर्म के साथ ही किया जाता है।[33] यहाँ पर एक अन्य शब्द 'सपिण्डन' या 'सपिण्डीकर्म' की व्याख्या भी अपेक्षित है। यह वह श्राद्ध है जो मरने के एक वर्ष उपरान्त या बारहवें दिन किया जाता है। इसके करने से मृत व्यक्ति प्रेत-योनि से मुक्त हो जाता है और पितरों की श्रेणी में आ जाता है। विधवा एवं दुहिता (पुत्री) केवल एकोद्दिष्ट श्राद्ध कर सकती हैं, किन्तु पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र पार्वण श्राद्ध भी कर सकते हैं। दायभाग (११।१।३४, पृ० १६२) का कथन है कि तीन पुरुष उत्तराधिकारी-गण पार्वण श्राद्ध द्वारा मृत का महान् पारलौकिक कल्याण करते हैं। एक स्थान (११।७।१७, पृ० २११) पर दायभाग ने पार्वण को 'त्रैपुरुषिक' की संज्ञा दी है, क्योंकि यह तीन पूर्वजों के कल्याण के लिए किया जाता है। विधवा के रिक्थाधिकार की चर्चा करते हुए दायभाग (११।१।४३, पृ० १६५) ने व्यास की पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—विधवा ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित रहकर, तिलांजलि देकर (अपने मृत व्यक्ति को प्रति दिन तिल एवं जल अर्पण कर), दान देकर तथा उपवास करके अपने को एवं अपने परलोकगामी पति को बचाती है (तारती है)। दायभाग ने और भी कहा है कि यदि विधवा दुराचरण करती है तो उसके मृत पति का पतन हो जाता है, क्योंकि पति एवं पत्नी एक-दूसरे के पुण्यापुण्य फल की प्राप्ति के अधिकारी हैं। इसी से पति के कल्याण के लिए ही विधवा उसका धन पाती है। बृहन्मनु (दायभाग ११।१।७ एवं मिता०) ने घोषित किया है कि पुत्रहीन एवं सदाचारिणी विधवा को पति के लिए पिण्डदान करना चाहिए और उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति ग्रहण करनी चाहिए। और देखिए प्रजापति (व्य० मयूख, पृ० ७०९)। इसी प्रकार दायभाग ने अविवाहित कन्या या पुत्रवती

३२. धनार्जनस्य हि प्रयोजनद्वयं भोगार्थत्वं दानाद्यदृष्टार्थत्वं च। तत्रार्जकस्य तु मृतत्वाद्धने भोग्यत्वाभावेन अदृष्टार्थत्वमेव शिष्टम्। अतएव बृहस्पतिः। समुत्पन्नाद् धनादर्धं तदर्थं स्थापयेत् पृथक्। मासषाण्मासिके श्राद्धे वार्षिके च प्रयत्नतः॥ दायभाग (११।६।१३)। बृहस्पति का श्लोक वि० र० (प० ५९५), व्य० नि० (पृ० ४४७) एवं विवादचन्द्र (पृ० ८१) द्वारा उद्धृत है।

३३. 'एकः उद्दिष्टः यस्मिन् श्राद्धे तदेकोद्दिष्टमिति कर्मनामधेयम्। मिताक्षरा (याज्ञ० १।२५१); तत्र त्रिपुरुषोद्देशेन यत्क्रियते तत्पार्वणम्। एकपुरुषोद्देशेन क्रियमाणमेकोद्दिष्टम्। मि० (याज्ञ० १।२१७)। पार्वण का अर्थ है 'पर्व के दिन पर सम्पादित।' विष्णुपुराण (३।२।११८) के अनुसार पर्व के दिन ये हैं—अमावस्या, पूर्णिमा, चतुर्दशी, अष्टमी एवं रविसंक्रान्ति। भविष्यपुराण (श्राद्धतत्त्व, पृ० १९२) ने पार्वण श्राद्ध की परिभाषा यों दी है—'अमावास्यां यत् क्रियते तत्पार्वणमुदाहृतम्। क्रियते वा पर्वणि यत् तत् पार्वणमिति स्मृतिः॥'

विवाहिता कन्या को (या उसे जिसे पुत्र होनेवाला है) रिक्थाधिकार दिया है, क्योंकि उसका पुत्र नाना को पिण्ड देगा। इसने उत्तराधिकार में दौहित्र को पिता से वरीयता दी है, क्योंकि प्रथम स्वयं दूसरे को पिण्ड देता है और पिता अपने दो पूर्व पुरुषों को देता है जिन्हें स्वामी (मृत व्यक्ति जीवित दशा में) अवश्य ही पिंड देता। दायभाग ने अन्त में निष्कर्ष निकाला है कि उत्तराधिकार का क्रम ऐसा होना चाहिए कि मृत व्यक्ति की सम्पत्ति उसके लिए अधिकतम कल्याणकारी सिद्ध हो सके (११।६।२८ एवं ३०, पृ० २१५)। और देखिए दायतत्त्व (पृ० १९७)। कहीं-कहीं दायभाग ने अपने सिद्धान्त का स्वयं उल्लंघन किया है, किन्तु वहाँ उसे तर्क द्वारा तोड़ मरोड़कर यह कहना पड़ा है कि अन्य स्मृतियों के ऐसे ही वचन हैं, विशेषतः इस प्रकार के उत्तराधिकारियों के लिए।[३४] उदाहरणार्थ दायभाग के अनुसार उत्तराधिकारियों का तारतम्य यों है---

पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र; पत्नी; दुहिता (पुत्री); दौहित्र; पिता; माता; सहोदर भाई; सौतेला भाई; सहोदर भाई का पुत्र; सौतेले भाई का पुत्र। किन्तु श्राद्ध करने के योग्य व्यक्तियों का क्रम कुछ और ही है। वास्तव में किसी भी सम्प्रदाय में उत्तराधिकार का अनुक्रम पूर्णरूपेण उन लोगों के अनुक्रम के अनुसार नहीं है जिन्हें श्राद्धाधिकारी कहा जाता है। अधिकांश ग्रन्थों में पृथक् हुए मृत पुरुष के श्राद्धाधिकारियों का अनुक्रम यों है---पुत्र (औरस या दत्तक); पौत्र; प्रपौत्र; पत्नी; विवाहित पुत्री; अविवाहित पुत्री, जिसे मृत की सम्पत्ति मिली हो; दौहित्र जिसे सम्पत्ति मिलती है; सगा भाई; सौतेला भाई (विमाता का पुत्र); सगे भाई का पुत्र; सौतेले भाई का पुत्र; पिता; माता; पुत्र वधू; सगी बहिन; सौतेली बहिन; सगी बहिन का पुत्र (भानजा); सौतेली बहिन का पुत्र; चाचा; भतीजा; अन्य गोत्रज सपिण्ड; सोदक; कोई गोत्रज; नाना, मामा, ममेरा भाई (अर्थात् क्रम से तीन प्रकार के बन्धु); शिष्य; दामाद; श्वशुर; मित्र; ब्राह्मण जो ब्राह्मण की सम्पत्ति लेता है; या राजा जो उत्तराधिकारी के अभाव में आता है। देखिए निर्णयसिन्धु (३, उत्तरार्ध, पृ० ३८२-३८६), धर्मसिन्धु (३, उत्तरार्ध पृ० ३६८-३६९) एवं श्राद्धविवेक (पृ० ४८)।

यदि पिण्डदान करने की योग्यता के सिद्धान्त का अनुसरण भली-भाँति हो तो पिता या पितामह के बिल्कुल उपरान्त ही क्रम से माता या मातामही उत्तराधिकारी हों; इसे न मान लेने में कोई तर्क नहीं है। दायभाग के अन्तर्गत माता को ऐसा उत्तराधिकारी इसलिए मान लिया गया है कि मनु ने उसे अधिकारी के रूप में ग्रहण कर लिया है। इसी प्रकार पुनःसंयुक्त सहभागियों को भी मान्यता मिली है और वहाँ पारलौकिक कल्याण वाला सिद्धान्त लागू नहीं है। दायतत्त्व के अनुसार पिण्डदान-ग्रहण या अन्य द्वारा किये गये पिण्डदान में सम्मिलित होने की योग्यता मात्र आवश्यक समझी गयी है न कि वास्तविक पिण्डदान करना। उदाहरणार्थ यदि कोई अपने पूर्वजों का पिण्डदान करे और आगे चलकर उसके मरने के उपरान्त कोई उसका सपिण्डन न करे और इस प्रकार वह अपने पूर्वजों को दिये गये सपि-

३४. देखिए अक्षयचन्द्र-बनाम-हरिदास (३५ कलकत्ता, ७२१, पृ० ७२६) एवं नलिनाक्ष-बनाम-रजनीकान्त (५८ कलकत्ता, १३९२) जहाँ यह कहा गया है कि पारलौकिक कल्याण का सिद्धान्त सभी प्रकार के विवादों में नहीं प्रयुक्त हो सकता (यथा---पुरुषों के बाद स्त्रियों के उत्तराधिकार में, समानोदकों के उत्तराधिकार में, आदि) तथा वहाँ जहाँ जीमूतवाहन एवं उनके अनुयायी मौन हैं, प्रत्यासत्ति (समीपता) का एवं स्वाभाविक प्रेम तथा स्नेह का सिद्धान्त लागू होना चाहिए। दायतत्त्व (पृ० १९३) ने बृहस्पति का हवाला देकर लिखा है कि पिण्डदान-कर्म करने की वरीयता एवं कुल-सम्बन्धी सन्निकटता---दोनों पर रिक्थाधिकार के विषय में विचार करना चाहिए; "पिण्डदानसम्बन्धतारतम्येन आसन्नजननतारतम्येन च धनेष्वधिकारी।"

ण्डन् में सम्मिलित न हो सके, तब भी उसकी सम्पत्ति धार्मिक कल्याण योग्यता के सिद्धान्त पर अधिकृत होगी ही। यह विवेचन विस्तार से कहने योग्य था, किन्तु स्थानाभाव से हम संकोच कर रहे हैं, अतः **निम्न** बातें ध्यान में रखने योग्य हैं—–

(१) **एकोद्दिष्ट या पार्वण श्राद्ध** द्वारा मृत का पारलौकिक हित किया जाता है। पार्वण श्राद्ध करने की योग्यता ही केवल शर्त नहीं है जिसके आधार पर किसी व्यक्ति का रिक्थाधिकार निर्भर रहता है। अतः पत्नी, दुहिता एवं शिष्य उत्तराधिकारी रूप में स्वीकृत किये गये, यद्यपि वे केवल एकोद्दिष्ट श्राद्ध मात्र करते हैं। किन्तु वे लोग, जो पार्वण श्राद्ध करने योग्य हैं, केवल एकोद्दिष्ट श्राद्ध करने वालों की अपेक्षा वरीयता पाते हैं। अतः मृत व्यक्ति की पुरुष सन्तान को पत्नी या दुहिता से वरीयता प्राप्त होती है।

(२) किसी व्यक्ति को पारलौकिक हित सीधे उसके लिए किये गये पिण्डदान से प्राप्त होता है; या उसके एक या अधिक पूर्वजों को, जिन्हें वह अपने जीवन-काल में पिण्डदान देता, अन्य द्वारा दिये गये पिण्डदान में सम्मिलित होने से प्राप्त होता है; या एक या अधिक मातृ-पूर्वजों (नाना, नाना के पिता एवं नाना के पितामह) को दिये गये पिण्डदान से, जिन्हें वह स्वयं अपने जीवनकाल में पिण्डदान करता (किन्तु संप्रति उनके पिण्डदान में सम्मिलित नहीं हो सकता), उसे पारलौकिक कल्याण मिलता है।

(३) सीधे रूप से प्राप्त पिण्डदान उसकी अपेक्षा, जो उसे अपनी मत्यु के उपरान्त पूर्वजों के लिए किये गये पिण्डदान में सम्मिलित होने से प्राप्त होता है, अधिक उपादेय है। इसी से पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र अन्य लोगों की अपेक्षा वरीयता प्राप्त करते हैं। भाई अपने पिता एवं मृत के दो अन्य पितरों को पिण्डदान करता है जिसमें वह (मृत स्वामी) मृत होने के उपरान्त ही सम्मिलित हो पाता है। अतः भाई को पुत्र या दौहित्र के (जो सीधे स्वयं मृत को, अपने नाना के रूप में पिण्डदान करता है) समक्ष वरीयता नहीं मिलती, अर्थात् पुत्र एवं दौहित्र के रहते वह वरीयता नहीं प्राप्त करता।

(४) पितृ-पक्ष के पितरों को दिया गया पिण्डदान मातृ-पक्ष के पितरों को दिये गये पिण्डदान की अपेक्षा अधिक वरीयता या श्रेष्ठता प्राप्त करता है (इसी से भाई का पुत्र बहिन के पुत्र की अपेक्षा अच्छा माना जाता है, क्योंकि वह अपने एवं मृत स्वामी के पितरों को पिण्डदान करता है और बहिन का पुत्र अर्थात् भानजा अपने मातृ-पक्ष के पितरों को, जो स्वामी के पितृ-पक्ष के पूर्वज हैं, पिण्डदान करता है)।

(५) मृत स्वामी के पिता को दिया गया पिण्डदान उस पिण्डदान से अच्छा है जो पितामह या प्रपितामह को दिया जाता है। अतः भाई का पुत्र या पौत्र चाचा से अच्छा गिना जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मृत के पिता के सभी सगोत्रज एवं सजातीय पितामह या प्रपितामह के वंशजों से वरीयता में अधिक उपादेय हैं।

(६) जहाँ दो अधिकारियों द्वारा प्रदत्त पिण्डों की संख्या समान हो वहाँ जो अधिकतम निकट पूर्वज को पिण्ड देता है उसे ही वरीयता प्राप्त होती है।

दायभाग ने बौधायनधर्मसूत्र (१।५।११३), मनु (९।१८६-१८७) एवं मत्स्यपुराण से प्रारम्भ करके अपनी परिभाषा निम्न रूप से दी है—–एक व्यक्ति के पुत्र एवं पुत्री का जन्म एक ही कुल में होता है। दौहित्र (दुहिता या पुत्री का पुत्र) अपने नाना के कुल से उदित होता है। किन्तु उसका गोत्र दूसरा (अर्थात् उसके पिता का गोत्र) होता है। इसी प्रकार एक व्यक्ति की बहिन (पिता की पुत्री) उसी के कुल में उत्पन्न होती है, किन्तु उसका पुत्र, यद्यपि वह मृत स्वामी के कुल से उदित हुआ रहता है, दूसरे गोत्र का (बहिन के पति के गोत्र का) होता है। यही बात पिता की बहिन के पुत्र एवं पितामह की बहिन के पुत्र के विषय में भी है। बहिन का पुत्र मृत के पिता को पिण्ड देता है, क्योंकि स्वामी

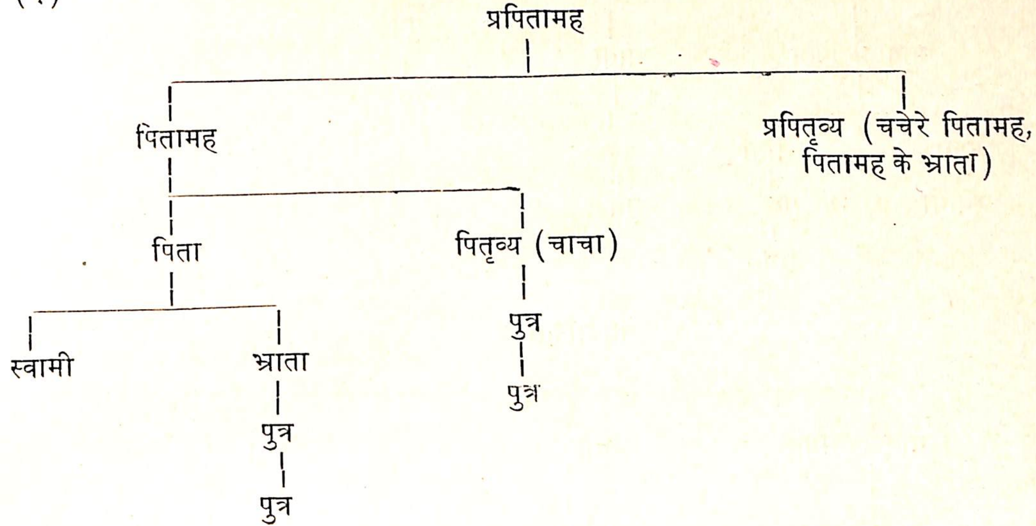
का पिता उसका नाना है, अतः वह स्वामी से सपिण्ड रूप से सम्बन्धित है। पिता की बहिन (फूफी) का पुत्र स्वामी के पितामह को जो उसका (अर्थात् फूफी के पुत्र का) नाना होता है, पिण्ड देता है। मामा स्वामी के कुल से उदित नहीं होता, किन्तु वह अपने उस पिता को पिण्ड देता है जो कि मृत स्वामी का नाना होता है। अतः मामा या उसका पुत्र या पौत्र उस पिण्ड से, जो नाना या परनाना (नाना के पिता) को दिया जाता है, सम्बन्धित है और वह इस प्रकार मृत स्वामी का सपिण्ड है। मौसी का पुत्र अपनी माता के पिता को पिण्ड देता है जो स्वयं स्वामी की माता का पिता है, अतः मौसी का पुत्र स्वामी का सपिण्ड है। उसके द्वारा दिया गया मातृपक्ष को पिण्डदान गौण एवं हीन है। इसके अतिरिक्त स्वयं अपनी माता, पितामही प्रपितामही, अपने-अपने पतियों से (पूर्वजों को दिये गये पिण्ड के कारण) सम्बन्धित हैं, और यही बात मातृपक्ष के पूर्वजों की पत्नियों के विषय में भी लागू है।

इस प्रकार **सपिण्ड** की परिभाषा देने से **गोत्रज** एवं **बन्धु** का अन्तर मिट-सा जाता है। याज्ञ० (२।१३६) ने स्पष्ट कहा है कि **गोत्रजों** के अभाव में ही किसी **बन्धु** को उत्तराधिकार प्राप्त होता है। दायभाग ने बहिन के पुत्र को भाई के पौत्र के पश्चात् ही एवं पितामह (अर्थात् एक समीप के गोत्रज पूर्वज) के पूर्व रखा है। पितामह वास्तव में शाब्दिक अर्थ में गोत्रज है और बहिन का पुत्र गोत्रज नहीं है। जब दायभाग ने बहिन के पुत्र को स्वामी के कुल से उदित माना है और उसे उस कुल का गोत्रज नहीं माना है, तो इससे सम्पूर्ण भारत में प्रचलित व्यवहार की हत्या सी हो जाती है। भारत का कोई भी साधारण व्यक्ति ऐसा नहीं कहता कि उसका भानजा (बहिन का पुत्र) और फुफेरा भाई (उसके पिता की बहिन का पुत्र) उसके कुल में उत्पन्न है। दायभाग ने याज्ञवल्क्य के **गोत्रज** शब्द पर वाग्जाल खेला है, उसे एकवचन में (गोत्रजः) पढ़ा है, किन्तु मिताक्षरा ने उसे बहुवचन में (गोत्रजाः) लिया है। मिताक्षरा के अन्तर्गत भानजा बन्धु मात्र है और वह चाचा या उसके पुत्र या चचेरे पितामह या अन्य गोत्रज के रहते उत्तराधिकारी नहीं हो सकता। दायभाग ने इस प्रकार याज्ञवल्क्य के वचन का उल्लंघन किया है और बहुत से गोत्रजों को निकट का उत्तराधिकारी माना है। इसने मनु (९।१८६-१८७) के वचन को मुख्य माना है और याज्ञ० (२।१३५-१३६) के वचन को गौण।

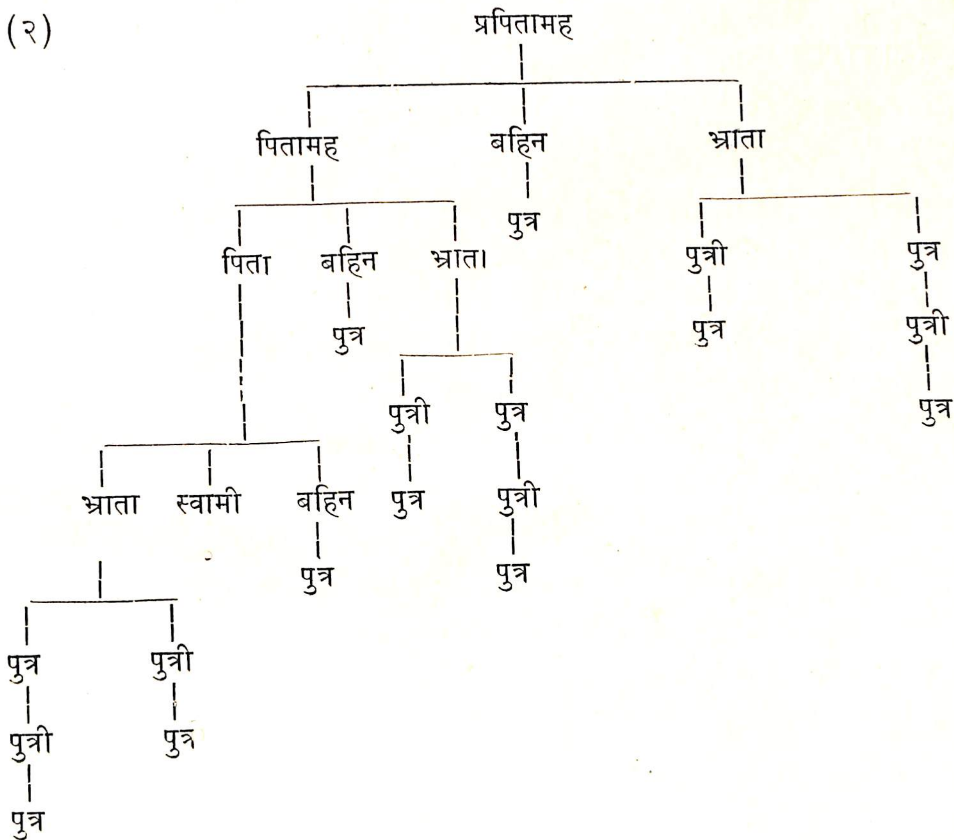
निम्न रेखाचित्रों से धार्मिक योग्यता का सिद्धान्त स्पष्ट हो जायगा। एक व्यक्ति उन लोगों का सपिण्ड कहलाता है जिनके लिए जीवित रहते वह पिण्डदान करता है; वह उनका भी सपिण्ड है जो उसके मृत होने पर उसे पिण्ड देते हैं (यथा—उसके तीन पुरुष वंशज, उसका दौहित्र, उसके पुत्र की पुत्री का पुत्र एवं उसके पौत्र की पुत्री का पुत्र); तथा वह उसका भी सपिण्ड है जो उसके पूर्वजों को, जिन्हें उसे पिण्ड देना पड़ता है, पिण्ड देता है, अर्थात् जो उसके पितृपक्ष के तीन पूर्वजों तथा मातृपक्ष के तीन पूर्वजों को पिण्ड देता है—ये सभी उसके सपिण्ड हैं। अन्तिम तीन दलों में चार उपदल हैं—उपदल संख्या १ में वे आते हैं जो अपने उन पितरों को पिण्ड देते हैं जो स्वयं स्वामी के अपने पूर्वज हैं; उपदल संख्या २ में वे लोग हैं जो अपने उन तीन मातृ-पक्ष के पितरों को पिण्ड देते हैं जिनमें सभी या कुछ लोग स्वामी के अपने पूर्वज हैं, जिनके लिए वह स्वयं पिण्डदान करता है; उपदल संख्या ३ में वे आते हैं जो अपने उन पूर्वजों को पिण्ड देते हैं जिनमें सभी या कुछ स्वामी के मातृ-पक्ष के पूर्वज हैं; उपदल संख्या ४ में वे लोग हैं, जो अपने उन मातृपक्ष के पूर्वजों को पिण्ड देते हैं जो स्वयं स्वामी के मातृपक्ष के पूर्वज हैं। इन सभी उपदलों में कम-से-कम नौ व्यक्ति हैं। यदि स्वामी के कई भाई, बहिनें, चाचा एवं मौसियाँ आदि हैं तो सपिण्डों की सम्भव संख्या और बड़ी हो जायगी। मिताक्षरा के अन्तर्गत उपदल २ से ४ तक के उत्तराधिकारी लोग बन्धु कहलाते हैं और (मिताक्षरा के अनुसार) उन्हें गोत्रजों के उपरान्त उत्तराधिकार प्राप्त होता है। जीमूतवाहन ने स्वामी की पुत्री के पुत्र के अधिकारों के तथा मनु (९।१३९) के इस कथन के आधार पर कि दौहित्र (पुत्री का पुत्र) पूर्वज को अपने पौत्र के समान ही परलोक में बचाता है, पिता की पुत्री के पुत्र को पिता के पौत्र के पश्चात्, पितामह की पुत्री के पुत्र को

पितामह के पौत्र के पश्चात् तथा प्रपितामह की पुत्री के पुत्र को पूर्वज के पौत्र के पश्चात् ही उत्तराधिकारी घोषित किया है।[३५]

(१)

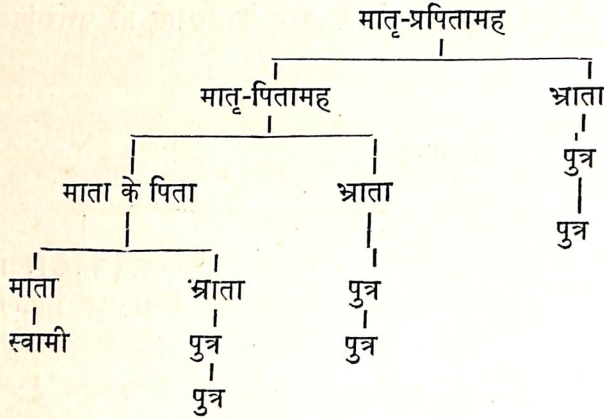


(२)

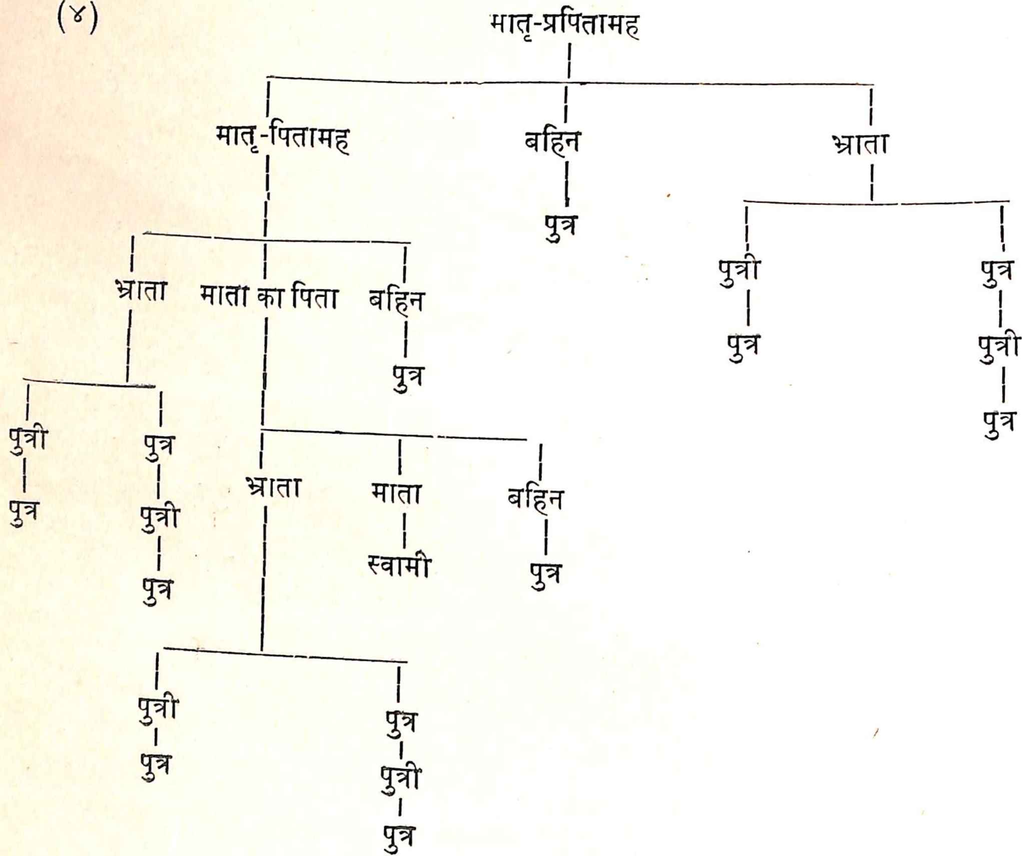


३५. किंतु पितुरपि प्रपौत्रपर्यन्ताभावे पितृदौहित्रस्याधिकारो बोद्धव्यो धनिदौहित्रस्येव। एवं पितामहप्रपिता-

(३)



(४)



दायभाग का कथन है कि याज्ञवल्क्य ने 'गोत्रज' को पुंल्लिंग एवं एक वचन में इसलिए रखा है कि सभी सपिण्ड स्त्रियाँ (उन्हें छोड़कर जो विशिष्ट कथनों द्वारा स्पष्ट रूप से घोषित हैं) उत्तराधिकार न पा सकें। क्योंकि न तो वे

महसन्ततेरपि दौहित्रान्तायाः पिण्डप्रत्यासत्तिक्रमेणाधिकारो बोद्धव्यः। दौहित्रोपि ह्यमुत्रैनं सन्तारयति पौत्रवदिति हेतोरविशेषात्। स्वदौहित्रवत्पित्रादिदौहित्रस्यापि तद्भोग्यपिण्डदानेन सन्तारकत्वात्। दायभाग (११।६।८-९, पृ० २०८-२०९)।

स्वामी के कुल में उत्पन्न हुई हैं और न उसके सम्बन्ध से उदित हुई हैं, जैसा कि बहिन का पुत्र या फुफेरा भाई होता है। इसके अनुसार याज्ञवल्क्य ने 'बन्धु' शब्द मामा आदि के लिए प्रयुक्त किया है, और उन्हें उत्तराधिकार पानेवाले सपिण्डों में रखा है। क्योंकि वे स्वामी के कुल में नहीं उदित हुए हैं और न उनका गोत्र ही समान है, अतः मामा आदि पितृकुल के अन्य वंशजों के, जिनमें प्रपितामह से लेकर उसकी पुत्री के पुत्र भी सम्मिलित हैं, उपरान्त ही आते हैं।

यह प्रकट हो गया कि दायभाग के अन्तर्गत पाँच स्त्रियों के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री को उत्तराधिकार नहीं मिलता और इसका फल यह हुआ कि व्यक्ति की अपनी पुत्री या पुत्री की पुत्री उत्तराधिकार नहीं पा सकती, जब कि दूर के सम्बन्धी, यथा पिता के पिता की बहिन के पुत्र को उत्तराधिकार मिलता है। यही स्थिति मिताक्षरा के अन्तर्गत भी है और सारे भारत में (बम्बई एवं मद्रास के कुछ भागों को छोड़कर, जिसके विषय में हम आगे पढ़ेंगे) यह प्रथा लागू रही है।

अपने तीन पितृ-पूर्वजों को पिण्ड देने के उपरान्त हाथ में पिण्डों का जो **अवशेष** बच रहता है वह प्रपितामह से ऊपर के पूर्वजों के लिए कुश पर छिड़का जाता है (मनु ३।२१६)। इसी प्रकार पौत्र के उपरान्त तीन पुरुष वंशज **पिण्डलेप** (पिण्ड का अवशेष जो हाथ में लगा रहता है) स्वामी को देते हैं। बौधायन एवं दायभाग (११।१।३८) द्वारा ये दूर के तीन पितृ-पूर्वज एवं तीन पुरुष वंशज (जिन्हें बौधायनधर्मसूत्र १।५।११४ में 'विभक्त दायाद' कहा गया है) **सकुल्य** कहे गये हैं। दायभाग के मत से सपिण्डों के अभाव में सकुल्य लोग उत्तराधिकार पाते हैं। जिस प्रकार व्यक्ति मृत होने के उपरान्त अपने पितृ-पूर्वजों को दिये गये पिण्डदान में सम्मिलित रहता है, उसी प्रकार वह चौथी से छठी पीढ़ी तक के वंशजों द्वारा दिये गये **पिण्डलेप** में भी सम्मिलित रहता है। दायभाग का कथन है कि सपिण्डों एवं सकुल्यों में यह अन्तर केवल उत्तराधिकार को लेकर ही है। किन्तु सूतक मनाने की अवधियों में सपिण्ड एवं सकुल्य दोनों मनु (५।६०) एवं मार्कण्डेयपुराण (२८।४) द्वारा **सपिण्ड** कहे गये हैं। मनु (९।१८७) के मत से सपिण्डों के अभाव में सकुल्य उत्तराधिकार पाते हैं, किन्तु विष्णु० (१७।९-११) के अनुसार बन्धुओं के अभाव में सकुल्य उत्तराधिकार ग्रहण करते हैं।[36] लगता है, विष्णु ने **सपिण्ड** के अर्थ में ही **बन्धु** शब्द का प्रयोग किया है। नारद (दायभाग, ५१) का कथन है कि पुत्रियों एवं सकुल्यों के अभाव में बान्धव एवं सजातीय लोग उत्तराधिकार पाते हैं। यहाँ, ऐसा लगता है कि **सकुल्य** एवं बान्धव का प्रयोग गोत्रज एवं बान्धव के अर्थ में किया गया है, जैसा कि याज्ञवल्क्य ने किया है। बालंभट्टी ने गोत्रज एवं सकुल्य को पर्यायवाची माना है। दायभाग सकुल्यों के विषय में असंगत है, क्योंकि एक स्थान (११।६।१५ एवं २३) पर उसने **समानोदकों** को **सकुल्यों** में रखा है, तो दूसरे स्थान (११।६।२१-२२) पर उसने **सकुल्य** की वैसी परिभाषा दी है जैसा कि ऊपर दिया जा चुका है। मिताक्षरा ने दायभाग के सकुल्यों को गोत्रज सपिण्डों के अन्तर्गत ही माना है।

३६. **पिण्डलेपभुजश्चान्ये पितामहपितामहात्। प्रभृत्युक्तास्त्रयस्तेषां यजमानश्च सप्तमः। इत्येवं मुनिभिः प्रोक्तः सम्बन्धः साप्तपौरुषः॥ मार्कण्डेयपुराण (२८।४-५)। और देखिए दायभाग (११।१।४१) एवं ब्रह्मपुराण (२२०।८५-८६)। विष्णुध० सू० (१७।९-११) में आया है—'तदभावे भ्रातृपुत्रगामि। तदभावे बन्धुगामि। तदभावे सकुल्यगामि।' विष्णुधर्मसूत्र को अपरार्क (पृ० ७४१) एवं वि० र० (पृ० ५९५) ने इसी प्रकार पढ़ा है। व्य० प्र० (पृ० ५१०) का कथन है कि विष्णु० में 'बन्धु' एवं 'सकुल्य' 'सपिण्ड' एवं 'सगोत्र' के लिए आये हैं। और देखिए दायतत्त्व (पृ० १८९), दायभाग (११।१।५, पृ० १५१), व्य० प्र० (पृ० १४२) तथा मिता० (याज्ञ० २।१३६) जहाँ दूसरे ढंग की बातें दी हुई हैं।**

मिताक्षरा का कथन है कि पितामह, सपिण्ड एवं मृत के समानोदक लोग गोत्रज हैं। इसने आगे कहा है कि गोत्रजों में सर्वप्रथम स्थान पितामही को मिलता है और उसके उपरान्त ही पितामह आता है। इसने **गोत्रज** (गोत्र में उत्पन्न) का अन्वय **समानगोत्र** (उसी के गोत्र वाले) के अर्थ में करके कहा है--"सन्तान के अभाव में उत्तराधिकारी क्रम से ये हैं--पितामही, पितामह, चाचा एवं उसके पुत्र; पितामह की सन्तान के अभाव में क्रम से प्रपितामही, प्रपितामह, उसके पुत्र एवं पौत्र उत्तराधिकारी होते हैं। इसी भाँति एक ही गोत्र वाले सपिण्ड लोग सात पीढ़ियों तक आते हैं।" मिताक्षरा के मत से सपिण्ड-सम्बन्ध सात (मृत को लेकर गिनते हुए) पीढ़ियों तक चला जाता है। अतः उत्तराधिकार के लिए स्वामी (मृत व्यक्ति, जिसके धन के उत्तराधिकार का प्रश्न है) के सपिण्ड ये हैं--(१) स्वामी की पुरुष पीढ़ी में छः वंशज, (२) उसकी पुरुष पीढ़ी में छः पूर्वज एवं प्रथम तीन की पत्नियाँ (माता, पितामही एवं प्रपितामही) तथा सम्भवतः अन्तिम तीन की पत्नियाँ भी, तथा (३) उसके पुरुष पूर्वजों में प्रत्येक के छः पुरुष वंशज। इन लोगों के अतिरिक्त, व्यक्ति की पत्नी एवं पुत्री भी उसके सपिण्ड के रूप में ली जाती हैं और दौहित्र, जो कि भिन्न **गोत्र सपिण्ड** है, गोत्रज सपिण्ड उत्तराधिकारियों में ऊँचा स्थान प्राप्त करता है।

मिताक्षरा के अन्तर्गत भी (बम्बई एवं मद्रास के सम्प्रदायों को छोड़कर) गोत्रज सपिण्ड रूप में कोई स्त्री (पाँच के अतिरिक्त, जिनके नाम ऊपर दिये गये हैं) उत्तराधिकार नहीं पाती। बम्बई में बहिन (सगी या सौतेली) गोत्रज रूप में व्य० मयूख द्वारा वर्णित है (यद्यपि मिताक्षरा इस विषय में मौन है) और उसे पितामही के पश्चात् ही स्थान मिला है। व्य० मयूख ने मनु (९।१८७) के इस कथन का सहारा लिया है "सन्निकट रक्त-सम्बन्धी को रिक्थाधिकार प्राप्त होता है", और उसका आगे कथन है--"बहिन भी **गोत्रज** है, क्योंकि वह अपने मृत भाई के गोत्र से ही उत्पन्न होती है। किन्तु वह मृत की **सगोत्र** नहीं है, अतः उसे यहाँ धनग्रहण के योग्य नहीं माना गया है।"[३७] यहाँ पर व्य० मयूख ने **गोत्रज** का शाब्दिक अर्थ लेकर अपना काम निकाला है। किन्तु यह आभासवादी तर्क मात्र है। विधवा पत्नी एवं माता **गोत्रज** (एक ही गोत्र में उत्पन्न होने के अर्थ में) नहीं हैं किन्तु विवाहोपरान्त वे पतियों के गोत्र में चली आती हैं और **सगोत्र** मान ली जाती हैं। इसी तर्क के आधार पर आगे पुत्र की कन्या, भाई की कन्या, पिता की बहिन तथा अन्य स्त्रियाँ, जो मृत के कुल में ही उत्पन्न होती हैं, उसके गोत्रज के रूप में ली जाती हैं (किन्तु वे सगोत्र नहीं हो सकतीं, क्योंकि विवाहोपरान्त वे अपने पतियों के गोत्र में चली जाती हैं)। किन्तु "अन्य स्त्रियाँ" व्य० मयूख द्वारा भी गोत्रज रूप में स्पष्ट रूप में नहीं उल्लिखित हैं। मिताक्षरा के अन्तर्गत उत्तराधिकारियों का अनुक्रम यों है--सगा भाई, सौतेला भाई, सगे भाई का पुत्र, सौतेले भाई का पुत्र, पितामही, बहिन (सगी को सौतेली से वरीयता प्राप्त है), पितामह। व्य० मयूख के मत से अनुक्रम कुछ भिन्न है--सगा भाई एवं मृत सगे भाइयों के पुत्र, सगे भाई का पुत्र, पितामही, सगी बहिन, सौतेला भाई, सौतेली बहिन, पितामह। अविवाहित बहिन को विभाजन के समय विवाहव्यय का भाग मिलता है। देखिए नारद (दायभाग, १३), विष्णु० (१८।३५), मनु (९।११८) एवं याज्ञ० (२।१२४)। मद्रास में बहिन को **बन्धु** माना गया है। सन् १९२९ के कानून ने इसमें परिवर्तन कर दिया है। दायभाग के अन्तर्गत बहिन को सपिण्ड रूप में बड़ा स्थान प्राप्त था किन्तु शेष भारत में वह बन्धु रूप में घोषित रही है। सन् १९२९ के कानून से दायभाग में अन्तर नहीं पड़ा है।

३७. **तदभावे भगिनी।...तस्या अपि भ्रातृगोत्र उत्पन्नत्वेन गोत्रजत्वाविशेषाच्च, सगोत्रता परं नास्ति। न च सात्र धनग्रहणप्रयोजकत्वेनोक्ता। व्य० मयूख (पृ० १४३)।**

मिताक्षरा द्वारा पिता, पितामह एवं प्रपितामह के वंश में उल्लिखित 'सन्तान' शब्द कुछ कठिनाई उत्पन्न करता है। हमने पहले ही देख लिया है कि बम्बई के उच्च न्यायालय के मत से **बद्धक्रमता** भाई के पुत्र (पिता के पुत्र के पुत्र, अर्थात् पिता के दो वंशजों) के पश्चात् समाप्त हो जाती है, किन्तु भारत के अन्य क्षेत्रों में यह भाई के पुत्र के पुत्र (अर्थात् पिता के तीन वंशजों) के उपरान्त समाप्त हो जाती है। मिताक्षरा ने पितामह एवं प्रपितामह की शाखा में केवल दो ही वंशजों को स्पष्ट रूप से रखा है। सामान्य नियम यह है कि व्यक्ति या उस पूर्वज को छोड़कर, जिससे गणना आरम्भ होती है, प्रत्येक शाखा के छः वंशजों तक सपिण्ड-सम्बन्ध प्रसारित रहता है। और आगे एक सामान्य नियम यह भी है कि सन्निकटतर शाखा दूरतर लोगों को छोड़ देती है (यथा मिताक्षरा ने स्पष्ट रूप से पितामह, उसके पुत्र एवं पौत्र को प्रपितामह, उसके पुत्र एवं पौत्रों से पहले रखा है)। प्रश्न यह है--क्या किसी सन्निकटतर शाखा के तीसरे, चौथे, पाँचवें या छठे वंशज किसी दूर शाखा के प्रथम या द्वितीय वंशज को छोड़ देंगे? दूसरे शब्दों में, क्या पितामह का पौत्र प्रपितामह के पुत्र या पौत्र के पूर्व ही अधिकार पायेगा या पितामह का छठा वंशज प्रपितामह के पुत्र के पूर्व अधिकार ग्रहण करेगा? इस विषय में तीन मत हैं--(१) स्मृतिचन्द्रिका के कुछ शब्दों के आधार पर ऐसा कहा गया है कि प्रत्येक शाखा में दो वंशजों के उपरान्त दूरतर शाखा की ओर बढ़ना होता है और उस शाखा के दो वंशजों के उपरान्त सन्निकटतर शाखा के तीसरे से लेकर छठे वंशज तक लौट आना पड़ता है; (२) प्रत्येक शाखा में पहले तीन पीढ़ियों तक जाना होता है, क्योंकि मिताक्षरा के अनुसार 'पुत्र' शब्द में तीन पुरुष वंशज आ जाते हैं; (३) किसी आगे की दूरतर शाखा में चढ़ने के पूर्व प्रत्येक शाखा के छः वंशजों की परिसमाप्ति आवश्यक है (क्योकि सपिण्ड-सम्बन्ध छः पीढ़ियों तक प्रसारित रहता है)।

एक अन्य प्रश्न उठता है--क्या सगोत्र सम्बन्धियों की विधवाएँ, यथा--पुत्र की विधवा, भाई की विधवा, विमाता या विधवा चाची, उत्तराधिकार के लिए 'गोत्रजाः' कहलाती हैं? दायभाग के अन्तर्गत एवं मिताक्षरा के अन्तर्गत, बम्बई के सम्प्रदाय को छोड़कर, सारे भारत में गोत्रज सपिण्डों की विधवाएँ उत्तराधिकार बिल्कुल नहीं पातीं, क्योंकि सभी लेखकों के मत से स्त्रियाँ तब तक उत्तराधिकार नहीं प्राप्त कर सकतीं जब तक कि स्मृति-वचन इस विषय में स्पष्ट न हों। बम्बई सम्प्रदाय में स्थिति कुछ और ही है। मिताक्षरा एवं मयूख के अनुसार पत्नियाँ विवाहोपरान्त पति के गोत्र में प्रविष्ट होती हैं और उनका सपिण्ड के रूप में घोषित हो जाती हैं। बालम्भट्टी ने घोषित किया है कि पुत्र की विधवा पितामह के पूर्व ही उत्तराधिकारिणी हो जाती है। इन्होंने स्त्रियों को भी 'गोत्रजाः' शब्द के अन्तर्गत रखा है। जब **गोत्रज** शब्द **समानगोत्र** का वाचक हो गया तो न-केवल वे, जो गोत्र में उत्पन्न हुई थीं, 'गोत्रजाः' कहलाने लगीं, प्रत्युत वे भी जो विवाहोपरान्त गोत्र में प्रविष्ट हुईं, 'गोत्रजाः' कही जाने लगीं। इतना ही नहीं; यह तर्क उपस्थित किया गया कि जब पितामही या प्रपितामही गोत्रज रूप में उत्तराधिकार पाती हैं तो अन्य गोत्रजों की विधवाएँ इस अधिकार से वंचित क्यों की जायँ? बम्बई प्रान्त में अंग्रेजी काल से ही गोत्रज सपिण्ड स्त्रियाँ (यथा--पुत्र, भाई एवं चाचा की विधवाएँ) उत्तराधिकार के लिए योग्य समझी जाती रही हैं। वे स्वामी की विधवा या माता या पितामही के समान सीमित अधिकार पाती हैं। उन्हें यह अधिकार स्थानीय प्रयोग एवं परम्परा के अनुकूल मिला है, न कि स्मृति-वचनों के आधार पर। ये गोत्रज सपिण्ड विधवाएँ किसी भी प्रकार के बन्धु के पूर्व ही उत्तराधिकार पाती हैं। सन् १९३७ के उपरान्त व्यक्ति की अपनी विधवा, उसके पूर्वमृत पुत्र की विधवा एवं पूर्वमृत पुत्र के पूर्वमृत पुत्र की विधवा उसके पुत्र या पुत्रों के साथ ही सारे भारत में उत्तराधिकार पाती रहीं हैं।

समानोदक--मिताक्षरा के अनुसार **गोत्रज** या तो **सपिण्ड** हैं या **समानोदक** हैं। 'समानोदक' शब्द का एक पारिभाषिक अर्थ है। मनु (५।६०) के मत से सपिण्ड सम्बन्ध सातवें पुरुष तक समाप्त हो जाता है; समानोदक का

सम्बन्ध तब समाप्त हो जाता है जब (कुल में) जन्म एवं नाम नहीं ज्ञात हो पाता।[३८] यह बात शौच के अध्याय में कही गयी है। मिताक्षरा ने घोषित किया है कि समानोदकों में सपिण्डों के उपरान्त सात पुरुषों (पीढ़ियों) के पूर्वज आते हैं या वे सभी पुरुष (सपिण्डों के उपरान्त) आते हैं जिनके जन्म एवं नाम (मृत के कुल में) ज्ञात हैं। इसने बृहन्मनु को उद्धृत किया है; "सातवें पुरुष के उपरान्त सपिण्ड सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, समानोदकों का सम्बन्ध १४वीं पीढ़ी के उपरान्त समाप्त हो जाता है; कुछ लोगों के मत से समानोदक तब तक चलता रहता है जब तक नाम एवं जन्म-कुल की स्मृति बनी रहती है; तब गोत्र चलता रहता है।" समानोदकों में व्यक्ति के प्रपितामह के पितामह के उपरान्त सात पूर्व-पूर्वज आते हैं--इन सात पूर्वजों के तेरह वंशज, व्यक्ति के अपने पिता के छः पूर्व-पुरुषों के छः वंशजों के उपरान्त सात वंशज तथा स्वयं उसके सातवें से लेकर तेरहवें तक के वंशज।

'समानोदक' शब्द का शाब्दिक अर्थ है "वे लोग जो किसी एक व्यक्ति को जल देते हैं या उससे जल ग्रहण करते हैं।" इस शब्द का प्रयोग वसिष्ठ (१७।७९) में हुआ है।

बन्धु--हमने ऊपर देख लिया है कि दायभाग ने किस प्रकार बन्धुओं को गोत्रजों के भीतर रख दिया है। मिताक्षरा के मत से बन्धु लोग मृत व्यक्ति[३९] के सपिण्ड होते हैं, किन्तु वे लोग भिन्न गोत्र के होते हैं। मिताक्षरा, मयूख

३८. सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते। समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने॥ मनु (५।६०); यथा बृहन्मनुः। सपिण्ड...वर्तते। समानोदकभावस्तु निवर्तेता चतुर्दशात्। जन्मनाम्नोः स्मृतेरेके तत्परं गोत्रमुच्यते॥ मिता० (याज्ञ० २।१३६)। व्य० नि० (पृ० ४५४) ने इस श्लोक को बृहस्पति का माना है।

३९. 'बन्धु' शब्द बहुत प्राचीन है और पूर्व युगों में कई अर्थों में व्यवहृत होता आया है। ऋग्वेद (१।११३।२) में रात्रि एवं उषा को 'समानबन्धू' (एक-साथ जुड़ी या किसी उभयनिष्ठ सम्बन्ध वाली) कहा गया है। ऋग्वेद (१।-१५४।५) में 'मित्र' के अर्थ में 'बन्धु' शब्द आया है, यथा--'उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था।' ऋग्वेद (१।१६४।३३) में 'नाभि' एव 'बन्धु' का प्रयोग एक-दूसरे के पश्चात् हुआ है। मुनि वसिष्ठ ने अश्विनौ (ऋग्वेद ७।७२।२) से कहा है कि उनकी मित्रता प्राचीन है और उनका सम्बन्ध समान है (युवोर्हि नः सख्या पित्र्याणि समानो बन्धुरुत तस्य वित्तम्)। और देखिए ऋग्वेद (५।७३।४; ८।२१।४; ८।१००।६ एवं ९।१४।३)। अथर्ववेद (१५।११।११) में अथर्वा को देवों का बन्धु एवं वरुण को मुनियों का सखा (मित्र) एवं बन्धु (अर्थात् सम्बन्धी) कहा गया है। और देखिए अथर्ववेद (६।५४।३) एवं (६।५४।३)। वाजसनेयी संहिता (४।२२) में ऋषि प्रार्थना करता है कि देव हमसे प्रसन्न हों और हममें अपने बन्धु को देखें (अस्मे रमस्वास्मे ते बन्धुः)। सूत्रों में गौतम (४।३) एवं वाराहगृह्य (९) ने पितृ-बन्धुओं एवं मातृ-बन्धुओं (पिता एवं माता से सम्बन्धित व्यक्तियों) का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य ने 'बन्धु' एवं 'बान्धव' को तीन अर्थों में व्यवहृत किया है--सामान्य सम्बन्धी के अर्थ में (१।८२, १०८, ११३, ११६ एवं २२०; २।१५४ एवं २८०; ३।१ एवं २३९), सगोत्र के अर्थ में (२।२९४) एवं सम्बन्धी के अर्थ में (२।१३५, १४९ एवं २६४)। मनु (९।१५८ एवं १२।-७९) ने 'बन्धु' शब्द सामान्य सम्बन्धी के अर्थ में लिया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।७।२१।८ एवं २।५।११।१६) एवं गौतम (१४।१८) ने 'योनिसम्बन्ध' शब्द को उन लोगों के लिए प्रयुक्त किया है जो स्त्रियों के द्वारा सम्बन्धित हैं। पाणिनि (५।३।२३) ने सामान्य अर्थ में, यथा 'रक्त-सम्बन्ध' (चाहे पिता या माता) लिया है--'ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः।' वेदकाल से 'ज्ञाति' शब्द भी चलता आया है, जिसका अर्थ सामान्यतः सगोत्र या सम्बन्धी है। देखिए ऋग्वेद (१०।६६।१४, १०।११७।९), और देखिए अथर्ववेद (४।५।६)। पाणिनि (१।१।३५) ने सम्भवतः 'ज्ञाति' शब्द सगोत्र के अर्थ में लिया है--'स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्।' गौतम (२।४३) एवं आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।३।१०।३) में 'ज्ञाति' आया है जिसे

आदि के मत से (किन्तु दायभाग के मत से नहीं) समानोदकों (या सोदकों) के अभाव में बन्धु लोग उत्तराधिकार पाते हैं। ऊपर के विवेचनों से यह प्रकट हो गया होगा कि गोत्रज लोग, चाहे वे सपिण्ड हों या समानोदक हों, सगोत्र होते हैं (कुछ बातों में उनकी पत्नियाँ भी वैसी मानी गयी हैं) अर्थात् वे ऐसे व्यक्ति हैं जो मृत से अटूट पुरुष-वंश के सम्बन्ध से जुड़े होते हैं। बन्धु ऐसे व्यक्ति होते हैं जो मृत व्यक्ति से एक या कई स्त्रियों के द्वारा सम्बन्धित होते हैं। बन्धुओं के उत्तराधिकार के विषय में तीन श्लोक हैं जो वृद्ध-शातातप या बौधायन के माने जाते हैं। उनका अनुवाद यों है--"अपने पिता की बहिन के पुत्र (फुफेरे भाई), अपनी माता की बहिन के पुत्र (मौसी के पुत्र) एवं अपने मामा के पुत्र आत्मबन्धु कहे जाते हैं; अपने पिता के पिता की बहिन के पुत्र, अपने पिता की माता की बहिन के पुत्र एवं अपने पिता के मामा के पुत्र पितृबन्धु कहलाते हैं; अपनी माता के पिता की बहिन के पुत्र, अपनी माता की माता के पुत्र एवं अपनी माता के मामा के पुत्र **मातृ-बन्धु** कहलाते हैं।" मिताक्षरा ने इस वचन के आधार पर कहा है कि **बन्धु** की तीन कोटियाँ हैं; **आत्मबन्धु, पितृबन्धु एवं मातृबन्धु**। आत्मबन्धु पितृबन्धु के पूर्व तथा पितृबन्धु मातृबन्धु के पूर्व उत्तराधिकार पाते हैं (मिता०, याज्ञ० २।१३६ एवं मदनपारिजात पृ० ६७४)। बन्धुओं के अधिकारों के विषय में मिताक्षरा एवं अन्य टीकाओं तथा निबन्धों ने बहुत कम लिखा है, अतः आधुनिक काल में न्यायालय सम्बन्धी निर्णयों में बहुत मतभेद रहा है। हम इस चक्कर में यहाँ नहीं पड़ेंगे।

उत्तराधिकारी के रूप में अन्य जन--मिताक्षरा के मत से बन्धुओं के अभाव में मृत का उत्तराधिकारी उसका **गुरु** (वेद-गुरु) होता है, गुरु के अभाव में **शिष्य** (आपस्तम्ब० २।६।१४।३ पर आधारित) तथा शिष्य के अभाव में **सब्रह्मचारी** (गुरुभाई, जो मृत व्यक्ति के साथ एक ही गुरु से पढ़ता था तथा जिसका उपनयन संस्कार एक ही गुरु द्वारा कराया गया था) को उत्तराधिकार मिलता है। सब्रह्मचारी के अभाव में ब्राह्मण का धन **श्रोत्रिय** (वेदज्ञ ब्राह्मण) को मिलता है, जैसी कि गौतम (२८।३९) ने व्यवस्था दी है। श्रोत्रिय के अभाव में उसी ग्राम के किसी ब्राह्मण को धन मिलता है, जैसा कि मनु (९।१८०-१८९) का कहना है; 'सभी प्रकार के उत्तराधिकारियों के अभाव में तीनों वेदों का ज्ञाता, शुद्ध एवं आत्मनिग्रही ब्राह्मण धन लेता है; इससे धर्म की हानि नहीं होती है; नियम ऐसा है कि ब्राह्मण का धन राजा को नहीं लेना चाहिए।' यही बात नारद (दायभाग, ५१-५२) ने भी कही है। इसी अर्थ में विष्णुधर्मसूत्र (१७। १३-१४), बौधायनधर्मसूत्र (१।५।१२०-१२२), शंख-लिखित, देवल (व्य० र० पृ० ५९७ एवं व्य० चि० पृ० १५५) ने भी अपनी बातें कही हैं। किन्तु आधुनिक काल में ये निर्देश सम्मानित नहीं हुए हैं। मनु (९।१८९) एवं बृहस्पति (अपरार्क पृ० ७४६, वि० र० ५९८) ने कहा है कि क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों का धन उत्तराधिकारियों के अभाव में

हरदत्त ने सगोत्र सम्बन्धी के अर्थ में लिया है। मनु (३।३१) में 'ज्ञाति' पितृ-सम्बन्धियों के अर्थ में आया है --'ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा।' मनु (३।२६४ एवं ४।१७९) तथा याज्ञ० (२।१४९) में 'ज्ञाति' का अर्थ 'बान्धव' या 'बन्धु' से भिन्न कहा गया है और उसका अर्थ है 'सगोत्र।' 'सजात' एवं 'सनाभि' शब्दों के विषय में भी जानना आवश्यक है। 'सजात' शब्द तैत्तिरीय संहिता (१।६।१०।१ एवं १।६।२।१) में आया है (उग्रोहं सजातेषु भूयासम्)। यह शब्द अथर्ववेद (१।९।३, ३।८।२ एवं ६।५।२) में सगोत्र या सम्बन्धी के अर्थ में आया है। 'सनाभि' शब्द ऋग्वेद (९।८९।४) में आया है, इसका अर्थ 'ज्ञाति' है, जो आपस्तम्बगृह्यसूत्र (७।२०।१८), मनु (५।७२), बृहस्पति के दिये हुए अर्थ के समान ही है। किन्तु निरुक्त (४।२१) एवं कात्यायन (अपरार्क पृ० ६६९-६७०) ने 'सनाभि' को विस्तृत अर्थ में (पिता एवं माता के सम्बन्धियों को सम्मिलित करते हुए) लिया है। अमरकोश ने सपिण्ड को सनाभि का पर्याय माना है।

(आरम्भ से लेकर सहपाठी तक के अभाव में) राजा को मिल जाता है। कात्यायन (मिता०, याज्ञ० २।१३५; पृ० मा० ३, पृ० ५३५; व्य० म० पृ० १३९) के मत से उत्तराधिकारियों के अभाव में राजा धन ले लेता है, किन्तु उसे मृत की रखैलों, नौकरों, अन्त्येष्टि-क्रिया एवं श्राद्ध के लिए प्रबन्ध करना पड़ता है (कात्यायन ९३१)। आजकल नारद एवं कात्यायन के वचनों को उस विषय में मान्यता दी गयी है जहाँ उत्तराधिकारियों के रहते मृत व्यक्ति की रखैलों की जीवन-वृत्ति का प्रश्न है।

याज्ञवल्क्य (२।१३७) ने एक विशिष्ट नियम प्रतिपादित किया है, जो उत्तराधिकार-सम्बन्धी सामान्य नियम (२।१३५-१३६) का अपवाद है--'उन उत्तराधिकारियों का, जो वानप्रस्थ, यति (संन्यासी), ब्रह्मचारी (नैष्ठिक ब्रह्मचारी, जो जीवन भर वेदाध्ययन करता रहता है) का धन लेते हैं, अनुक्रम यों है; (वैदिक) गुरु या **आचार्य, सच्छिष्य** (अच्छा या गुणवान् शिष्य), **धर्मभ्राता** जो एकतीर्थी (जो भाई के समान एवं उसी सम्प्रदाय का हो) होता है।'[४०] मिताक्षरा ने इस क्रम में कुछ परिवर्तन कर दिया है, उसके अनुसार **आचार्य** (जो तीन उत्तराधिकारियों में प्रथम स्थान पाता है) उक्त क्रम में उल्लिखित अन्तिम व्यक्ति का उत्तराधिकारी है, अतः मिताक्षरा के अनुसार **आचार्य, अच्छा शिष्य एवं धर्मभ्राता** (भाई के समान माना जानेवाला व्यक्ति) क्रम से ब्रह्मचारी, यति एवं वानप्रस्थ के उत्तराधिकारी होते हैं। मिताक्षरा ने इस प्रकार प्रतिलोम क्रम लगा दिया है। दायभाग ने भी क्रम में परिवर्तन कर दिया है, किन्तु उसके अनुसार **वानप्रस्थ, यति एवं ब्रह्मचारी** का धन क्रम से **धर्मभाई, सत् शिष्य एवं आचार्य** लेते हैं, किन्तु इनके अभाव में आश्रय में रहनेवाला (जहाँ पर मृत व्यक्ति रहता था) कोई भी धन ले सकता है। मदन-रत्न के अनुसार क्रम सीधा ही है, अर्थात आचार्य, सच्छिष्य एवं धर्मभ्राता वानप्रस्थ, यति एवं ब्रह्मचारी का धन लेते हैं, क्योंकि विष्णु० (१७।१५-१६) ने ऐसा ही कहा है। मिताक्षरा के अनुसार ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं; **नैष्ठिक** एवं **उपकुर्वाण** (जो कुछ अवधि तक शिष्य रहकर पूर्वजों की शाखा को चलाने के लिए विवाह कर लेता है)। मिताक्षरा ने याज्ञवल्क्य के 'ब्रह्मचारी' शब्द को **नैष्ठिक ब्रह्मचारी** के अर्थ में लिया है, क्योंकि **उपकुर्वाण** ब्रह्मचारी यदि कोई सम्पत्ति छोड़ता है तो वह उसकी माता, पिता एवं अन्य उत्तराधिकारियों को प्राप्त होती है। मिताक्षरा ने इसी प्रकार कहा है कि दुष्ट स्वभाव वाले एवं अगुणी शिष्य तथा आचार्य को धन नहीं प्राप्त होता। मिताक्षरा ने वान-प्रस्थ को एक दिन, एक मास या छः मास या वर्ष भर के लिए धन एकत्र करने की आज्ञा याज्ञ० (३।४७) द्वारा व्य-वस्थित मानी है, अतः उसके मरने पर कुछ धन बच जा सकता है। यद्यपि गौतम (३।१०) ने संन्यासियों के लिए धन-संग्रह वर्जित माना है, किन्तु उनके पास परिधान, खड़ाऊँ, योग आदि सम्बन्धी पुस्तकें रह सकती हैं। यही बात नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के लिए भी लागू है (इस विषय में तथा मठों की स्थापना, शासन एवं संन्यासियों और उनके शिष्यों आदि के विषय में देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय २६ एवं अध्याय २८)।

संसृष्टि--पुनर्मिलन या पुनःसंयोग या संसृष्टि केवल उन्हीं लोगों में सम्भव है जो मौलिक विभाजन में सह-भागी थे। अतः इसके तीन स्तर हो सकते हैं--(१) संयुक्त परिवार, (२) संयक्त परिवार के सदस्यों के बीच विभाजन, एवं (३) व्यक्त या अव्यक्त रूप से पुनः उन लोगों के संयुक्त हो जाने की अभिलाषा एवं समझौता, जो विभाजन में पृथक्-पृथक् सदस्य थे। स्मृतिचन्द्रिका (२; पृ० ३०२) एवं विवादचन्द्र (पृ० ८२) के मत से सदस्य भाग के अनसार पृथक् हों किन्तु साथ-साथ रहें तो व्यवहार की दृष्टि में उनका यह सहवास पुनःसंयोग नहीं कहलाता। विवादचन्द्र ने विष्णुपुराण को उद्धृत कर कहा है कि किसी आचरण-गति से पुनःसंयोग की झलक मिल सकती है,

४०. वानप्रस्थयतिब्रह्मचारिणां रिक्थभागिनः। क्रमेणाचार्यसच्छिष्यधर्मभ्रात्रेकतीर्थिनः। याज्ञ० (२।१३७)।

यद्यपि स्पष्ट समझौता नहीं सिद्ध हो सकता। कौन-कौन पुनःसंयुक्त हो सकते हैं, इसके विषय में कई मत प्रकाशित किये गये हैं। मिताक्षरा, दायभाग एवं स्मृतिचन्द्रिका ने बृहस्पति के कथन की व्याख्या करते हुए कहा है कि कोई सदस्य, जो संयक्त परिवार से एक बार पृथक् हो गया, केवल अपने पिता, भाई या चाचा के साथ पुनःसंयुक्त हो सकता है, किन्तु अन्य सम्बन्धी, यथा चचेरे भाई या पितामह के साथ नहीं। किन्तु विवादचिन्तामणि (पृ० १५७), व्य० मयूख (पृ० १४६) एवं व्य० प्रकाश (पृ० ५३३) ने व्यवस्था दी है कि बृहस्पति का कथन केवल उदाहरणात्मक है, कोई व्यक्ति किसी भी सदस्य से, जो विभाजन में सदस्य के रूप में था, पुनः संयुक्त हो सकता है। पुनःसंयुक्त व्यक्ति को **सृष्ट या संसृष्टी** कहा जाता है। संसृष्टि (पुनःसंयुक्तता) के विषय का एक प्राचीन इतिहास है। गौतम (२८।२६) ने एक सामान्य नियम दिया है कि किसी पुनःसंयुक्त (संसृष्ट) सहभागी की मृत्यु पर बचा हुआ संसृष्ट सदस्य उसका भाग पाता है। कौटिल्य (३।५) ने कहा है कि वे लोग, जो साथ रहते हैं, भले ही उनके पास पैतृक सम्पत्ति न रही हो, या जो पैतृक सम्पत्ति के विभाजन के उपरान्त भी साथ रहते हैं, पुनःसंयुक्त धन का विभाजन समान भाग में कर सकते हैं। यही बात मनु (९।२१०=विष्णुधर्मसूत्र १८।४१) ने भी कही है।

याज्ञ० (२।१३५-१३६) में आया है कि पुत्रहीन व्यक्ति के मृत होने पर पत्नी एवं अन्य उत्तराधिकार पाते हैं। यह एक नियम है। इसी से मिताक्षरा ने याज्ञ० (२।१३८-१३९) के वचन को, जो पुनःसंयुक्त व्यक्ति के मृत होने के उपरान्त उत्तराधिकार के विषय में है, अपवाद माना है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब कोई व्यक्ति अपने भाई से फिर मिल जाता है और ऐसे पुत्र को छोड़कर मर जाता है जो स्वयं उससे नहीं मिला है, तो उसकी सम्पत्ति को उसका पुत्र पाता है न कि उसका भाई जो उससे पुनःसंयुक्त था। किन्तु यदि **क** अपने **ख** एवं **ग** पुत्रों से अलग हो जाता है, जिनमें **ख** आगे चलकर उससे पुनःसंयुक्त हो जाता है और **ग** नहीं, तो **क** के मरने के उपरान्त उसका पुनःसंयुक्त पुत्र **ख** उसकी सम्पत्ति पाता है और **ग** को कुछ नहीं मिलता। यह बात विवादचन्द्रिका (पृ० ८५) ने स्पष्ट रूप से कही है और स्मृतिसार का हवाला दिया है।[४१] याज्ञवल्क्य (२।१३८-१३९) के दो श्लोक टीकाकारों द्वारा कई प्रकार से उद्धृत एवं व्याख्यापित हैं। हम इस विषय में अधिक नहीं लिखेंगे। मिताक्षरा के अनुसार दोनों श्लोकों[४२] का अर्थ यों है--"मृत संसृष्ट व्यक्ति के विषय में बचे हुए संसृष्ट सदस्य को चाहिए कि वह (पहले की मृत्यु के) पश्चात् उत्पन्न पुत्र (पितृमरणोत्तरक) को (मृत व्यक्ति का) धन दे दे, किन्तु यदि पुत्र न हो (केवल पत्नी हो) तो वह स्वयं ले ले; किन्तु संसृष्ट (पुनःसंयुक्त) भाइयों में सगे भाई को, यदि वह पुनःसंयुक्त (संसृष्ट) हो, चाहिए कि वह मृत के पश्चात् उत्पन्न पुत्र को (मृत का) भाग दे दे, और (यदि पुत्र न हो) तो वह सौतेले भाइयों के रहते हुए भी, स्वयं धन ले ले; संसृष्ट सौतेला भाई संसृष्ट एवं पुत्रहीन भाई का धन लेता है, किन्तु वह सौतेला भाई जो संसृष्ट नहीं है धन नहीं पाता; सगा भाई, भले ही वह संसृष्ट न हो, संसृष्ट सौतेले भाई के साथ धन पाता है, किन्तु सौतेला भाई अकेले नहीं पा सकता।"

४१. यस्तु पिता पुत्रेणैव केनचित्संसृष्टस्तस्यांशं संसृष्ट एव गृह्णीयान्नासंसृष्टी, संसृष्टिनस्तु संसृष्ट इति वचनात्।...अतएव स्मृतिसारे यदा पितैव केनचित्पुत्रेणैव संसृष्टस्तदा तद्धनं संसृष्टिपुत्रो गृह्णीयान्नासंसृष्टी विभक्तपुत्रः, संसृष्टिनस्तु संसृष्टीत्यविशेषेणाभिधानादित्युक्तम्।

४२. संसृष्टिनस्तु संसृष्टी सोदरस्य तु सोदरः। दद्यादपहरेच्चांशं जातस्य च मृतस्य च।। अन्योदर्यस्तु संसृष्टी नान्योदर्यो धनं हरेत्। असंसृष्ट्यपि वा दद्यात्संसृष्टो नान्यमातृजः।। याज्ञ० (२।१३८-१३९)। पहला श्लोक विष्णु० (१७।१७) में भी है। अपरार्क (पृ० ७४७) ने 'नान्योदर्यधनं हरेत्' एवं 'आदद्यात्सोदर्यो नान्यमातृकः' पढ़ा है। विश्वरूप, जितेन्द्रिय एवं विवादचन्द्र (पृ० ८४) ने 'चादद्यात्सोदरो नान्यमातृजः' पढ़ा है।

इस व्याख्या में २।१३९ के अन्तिम पाद का 'असंसृष्टी' शब्द दो सम्बन्धों में पढ़ा जाना चाहिए--एक बार प्रथम पद्य के 'अन्योदर्य' के साथ और दूसरी बार दूसरे पद्य के 'संसृष्ट' के साथ। यह अन्तिम शब्द ('संसृष्ट') दो अर्थों में लिया जाना चाहिए; (१) सहोदर भाई (पूर्व के 'असंसृष्ट' के साथ) एवं पुनःसंयुक्त ('अन्यमातृजः') के साथ। इसके अतिरिक्त मिताक्षरा के मत से हमें 'एक' को 'अन्यमातृज' के पश्चात् समझना चाहिए। अपरार्क (पृ० ७४८) ने भी इसे भिन्न ढंग से ही पढ़ा है और उसने, विश्वरूप एवं श्रीकर मिश्र (दायभाग ११।५-१६) ने व्याख्या की है कि असंसृष्ट सगा भाई धन पा जाता है और संसृष्ट सौतेला भाई नहीं। इसी प्रकार व्य० मयूख ने भी अपना भिन्न मत दिया है और मिताक्षरा से अपनी भिन्नता प्रकट की है। दायभाग (व्य० प्र०, पृ० ५३३) ने याज्ञ० (२।१३८-१३९) को पुत्रहीन व्यक्ति की पृथक् सम्पत्ति के उत्तराधिकार के समर्थक रूप में माना है और उसकी पुनःसंयुक्त सम्पत्ति के विषय की व्याख्या बहुत कम है। व्य० प्र० (पृ० ५३३) ने इसकी ओर संकेत किया है और कहा है कि जीमूतवाहन इस विषय में गड़बड़ कर गये हैं। अपरार्क (पृ० ७४८-७४९) ने सम्भवतः दायभाग की ही बात कही है। व्य० प्र० ने मिताक्षरा का अनुसरण किया है और श्रीकर, स्मृतिच० आदि की आलोचना की है (पृ० ५३५-५३८)।[४३] इसका कथन है कि शंख, नारद आदि के वचनों से याज्ञ० (२।१३५) के वचन कट-से जाते हैं।[४४]

व्यवहारप्रकाश के अनुसार मृत पुनःसंयुक्त व्यक्ति के उत्तराधिकारियों का क्रम यों है।--(१--३) पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र; (४) संसृष्ट सगा भाई; (५) संसृष्ट सौतेला भाई एवं पृथक् सगा भाई; (६) संसृष्ट माता; (७) संसृष्ट पिता; (८) कोई अन्य संसृष्ट सदस्य; (९) असंसृष्ट सौतेला भाई; (१०) असंसृष्ट माता; (११) असंसृष्ट पिता; (१२) विधवा पत्नी; (१३) पुत्री; (१४) दौहित्र; (१५) बहिन।

व्य० म० द्वारा प्रस्तुत क्रम यों है--(१) संसृष्ट पुत्र; (२) असंसृष्ट पुत्र, यद्यपि पुत्र के अतिरिक्त अन्य संसृष्ट सदस्य रह सकते हैं; (३) संसृष्ट माता-पिता, अन्य संसृष्ट व्यक्तियों के रहते हुए भी; (४) संसृष्ट सगा भाई; (५) असंसृष्ट सगा भाई एवं संसृष्ट सौतेला भाई; (६) संसृष्ट सौतेला भाई एवं चाचा; (७) अन्य संसृष्ट सदस्य (इन्हें संसृष्ट पत्नी से वरीयता मिली है); (८) संसृष्ट पत्नी; (९) सगी बहिन (या अन्य पाठ से पुत्री[४५]); (१०) कोई अन्य सन्निकटतम सपिण्ड। यह अवलोकनीय है कि मनु (९।२१२) ने संसृष्ट सहभागियों के उत्तराधिकार के विषय में एक विचित्र नियम दिया है, यथा--मृत संसृष्ट सहभागी के (असंसृष्ट) सगे भाई एवं सगी बहिन संसृष्ट सौतेले भाइयों के साथ मृत के धन में बराबर-बराबर भाग पाते हैं। इस कथन को कुल्लूक, अपरार्क (पृ० ७४९), स्मृतिच० (२, पृ० ३०४-३०५), नीलकंठ, विवादचन्द्र (पृ० ८३) आदि ने विभिन्न ढंगों से व्याख्यात किया है। आजकल के न्यायालयों में संसृष्टि-सम्बन्धी विवाद बहुत ही कम आते हैं।

४३. एतेन पत्न्याद्यपुत्रधनग्रहणाधिकारिगणे भ्रात्रधिकारावसरे वचनमिदं प्रवर्तते इति व्याचक्षाणो जीमूतवाहनो भ्रान्त एवेत्यवसेयम्। व्य० प्र० (५३३)।

४४. ततश्च पत्नी दुहित्रादिक्रमविरोधादविरोधायैतत् संसृष्टभागविषयमिति कल्प्यते। विभक्तोक्तनैयायिकपत्नीदुहित्रादिक्रमोऽत्र वाचनिकक्रमेण बाध्यते। अस्मिन क्रमे कस्य चिन्न्यायस्याभावाद्वाचनिक एवायं क्रमः। व्य० प्र० (पृ० ५३९)

४५. या तस्य भगिनी सा तु ततोंशं लब्धुमर्हति। अनपत्यस्य धर्मोयमभार्यापितृकस्य च॥ बृह० (व्य० म० पृ० १५२ एवं व्य० प्र० पृ० ५३९)। व्य० म० का कथन है--केचित्तु या तस्य दुहितेति पेठुः। दुहितृभगिन्योरभावेऽनन्तरः सपिण्डः। ऐसे ही शब्दों के लिए देखिए पराशरमाधवीय (३, पृ० ५४१)

अध्याय ३०

स्त्रीधन

स्त्रीधन के विषय में मत-मतान्तर हैं। वैदिक साहित्य में भी इसकी ओर संकेत मिलता है। ऋग्वेद के विवाह-सम्बन्धी दो मन्त्रों (१०।८५।१३ एवं ३८) में वधू के साथ वर के घर के लिए निम्न उपहार भेजने का वर्णन आया है--सूर्या की वधू-भेट (जिसे सविता ने भेजा था), पशु (जो अघा अर्थात् मघा में हत होते हैं)...आदि।[1] सायण ने 'वहतुः' को 'गायों एवं अन्य पदार्थ के, जो विवाहित होनेवाली कन्या को प्रसन्न करने के लिए दिये जाते हैं', अर्थ में लिया है, किन्तु लैन्मैन (हारवर्ड ओरियण्टल सीरीज़, जिल्द ८, पृ० ७५३) ने इसे 'विवाहरथ' के अर्थ में लिया है। किन्तु सायण का अर्थ संदर्भ में ठीक उतरता है। और देखिए तै० सं० (६।२।१।१)।[2] मनु (९।११) ने 'पारिणह्य' (घरेलू सामग्री) का प्रयोग किया है और कहा है कि पत्नी को अन्य बातों के साथ पारिणह्य पर भी ध्यान रखना चाहिए। शबर के मत से जैमिनि (६।१।१६) ने तैत्तिरीय संहिता के उपर्युक्त कथन द्वारा व्यक्त किया है कि स्त्रियों के पास अपनी सम्पत्ति होती है। मेधातिथि (मनु ८।४१६) ने तै० सं० के संदर्भ में यह कहा है कि मनु का यह कथन कि 'पत्नी जो कुछ अर्जित करती है, पति का हो जाता है', यदि शाब्दिक अर्थ में लिया जाय तो श्रुति-वाक्य झूठा पड़ जायगा; वास्तव में मनु का इतना ही कहना है कि यद्यपि स्त्रियाँ स्वामिनी हो सकती हैं, किन्तु स्वतन्त्र रूप से धन का व्यय नहीं कर सकतीं।[3] इन प्राचीन उक्तियों से प्रकट होता है कि प्रारम्भिक काल में जो वस्तुएँ या सम्पत्ति स्त्रियों के पास होती थी, वह विवाह-काल की भेंट थी (यथा आभूषण एवं बहुमूल्य परिधान) और थीं वे वस्तुएँ जो दिन-प्रति-दिन के घरेलू काम में आती थीं और उन पर स्त्रियों का नियन्त्रण था। आगे चलकर स्त्रियों की कुछ वस्तुओं के विषय में पश्चात्कालीन स्मृतियों ने नियमानुसार व्यवस्थाएँ दे दीं और उन पर स्त्रियों का एक प्रकार का अधिकार घोषित हो गया। इस आरम्भिक स्थिति का परिचय हमें प्रारम्भिक सूत्रों में मिलता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।६।१४।९) ने अपने कुछ पूर्ववर्ती लेखकों का मत दिया है (जिसे वह स्वयं स्वीकार नहीं करता और न अनुमोदन करता है) कि आभूषण पत्नी का होता है और वह सम्पत्ति भी उसकी है जिसे वह अपने सम्बन्धियों (पिता, भाई आदि) से पाती है। बौधायन-

१. सूर्याया वहतुः प्रागात्सविता यमवासजत्। अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥ तुभ्यमग्रे पर्यवहन् सूर्या वहतुना सह। पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥ ऋग्वेद (१०।८५।१३ एवं ३८)। ये मन्त्र अथर्ववेद में भी हैं, यथा--(१४।१।१३ एवं १४।२।१)।

२. पत्न्यन्वारभते पत्नी हि पारीणह्यस्येशे। तै० सं० (६।२।१।१)। यह उक्ति आतिथ्येष्टि के संसर्ग में कही गयी है।

३. असति वा स्त्रीणां स्वाम्ये पत्न्यैवानुगमनं क्रियते पत्नी वै पारिणह्यस्येशे इत्यादि श्रुतयो निरालम्बनाः स्युः। अत्रोच्यते। पारतन्त्र्याभिधानमेतत्। असत्यां भर्त्रनुज्ञायां न स्त्रीभिः स्वातन्त्र्येण यत्र क्वचिद्धनं विनियोक्तव्यम्। मेधातिथि (मनु ८।४१६)।

धर्मसूत्र (२।२।४९) का कथन है कि कन्याएँ अपनी माता के आभूषण पाती हैं और परम्परा से जो कुछ मिलना चाहिए वह भी उन्हें प्राप्त होता है। वसिष्ठधर्मसूत्र (१७।४६) ने व्यवस्था दी है कि माता को जो कुछ विवाह के समय मिला हो उसे कन्याओं को बाँट लेना चाहिए। शंख (संस्कारप्रकाश, पृ० ८५१) ने व्यवस्था दी है कि विवाह के सभी प्रकारों में कन्या को आभूषण एवं स्त्रीधन देना चाहिए। यह हो सकता है कि मनु (८।४१६) ने किसी पुरानी उक्ति की अभिव्यक्ति की है। उनकी उक्ति का शाब्दिक अर्थ बहुत पहले ही छोड़ दिया गया। मनु के कथन का केवल इतना ही अर्थ था कि स्त्रीधन के विषय में (जब तक पत्नी पति की आश्रिता है) पत्नी पति के नियंत्रण के अन्तर्गत है।

स्त्रीधन के अन्तर्गत प्रमुख तीन विषय आते हैं; स्त्रीधन क्या है, स्त्रीधन पर स्त्री का आधिपत्य एवं स्त्रीधन का उत्तराधिकार। इन विषयों में प्रत्येक के बारे में विभिन्न मत हैं और स्त्रीधन-सम्बन्धी विवाद बड़ा ही उलझा हुआ है।[4]

स्त्रीधन के निक्षेपण (न्यसन) के विषय में गौतम के तीन सूत्र हैं, किन्तु उन्होंने न तो इसकी परिभाषा दी है और न इसका विवेचन ही किया है।[5] कौटिल्य (३।२, पृ० १५२) ने परिभाषा दी है--"वृत्ति (जीवन-वृत्ति) एवं आबध्य (जो शरीर में बाँधा जा सके, यथा आभूषण, जवाहरात आदि) स्त्रीधन है। वृत्ति अधिक से अधिक दो सहस्र पण हो सकती है, आबध्य का कोई नियम (सीमा) नहीं है।" मिलाइए कात्यायन (९०२) एवं व्यास; "पिता, माता, पति, भ्राता एवं अन्य ज्ञातियों (सम्बन्धियों) को चाहिए कि वे यथाशक्ति दो सहस्र पणों तक स्त्री को स्त्रीधन दें, किन्तु अचल सम्पत्ति न दें।[6] स्मृतिच० एवं व्य० मयूख ने व्याख्या की है कि दो सहस्र पणों की सीमा वार्षिक भेंट तक ही है, किन्तु यदि भेंट एक ही बार दी जाय तो अधिक भी दिया जा सकता है और अचल सम्पत्ति भी दी जा सकती है।

स्त्रीधन का शाब्दिक अर्थ है 'स्त्री की सम्पत्ति'। किन्तु प्राचीन स्मृतियों ने इस शब्द को उस प्रकार की सम्पत्ति के विशिष्ट प्रकारों तक सीमित रखा है जो स्त्री को विशिष्ट अवसरों या जीवन के विभिन्न स्तरों पर प्रदत्त होते हैं। धीरे-धीरे ये प्रकार विस्तार एवं मूल्य में बढ़ते गये। हमें इस अर्थ के स्त्रीधन के विकास एवं विषय-वस्तु का अध्ययन करना है। स्त्रीधन की एक विशेषता यह रही है कि गौतम के काल से आज तक यह प्रथमतः स्त्रियों को ही प्राप्त (न्यस्त) होता रहा है। धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में सबसे पुरानी परिभाषा मनु (९।१९४) की है--"विवाह के समय अग्नि के समक्ष जो कुछ दिया गया, विदाई के समय जो कुछ दिया गया, स्नेह (प्रीति) वश जो कुछ दिया गया, जो कुछ भ्राता, माता या पिता से प्राप्त हुआ--यही छः प्रकार का स्त्रीधन है।" मनु (९।१९५) ने संभवतः एक प्रकार और जोड़ दिया है; **अन्वाधेय** (बाद में मिलनेवाली भेंट)। और देखिए नारद (दायभाग, ८)। याज्ञ० (२।१४३-१४४) ने स्त्रीधन के निम्न प्रकार दिये हैं--"पिता, माता, पति या भ्राता द्वारा प्रदत्त या जो कुछ विवाह-अग्नि के समक्ष प्राप्त होता है,

४. इत्यतिगहनमुक्तमप्रज्ञः स्त्रीधनम्। दायभाग (४।३।४२, पृ० ९९)।

५. स्त्रीधन के विषय में विस्तार से इन ग्रन्थों में विवेचन उपस्थित किया गया है-- सर गुरुदास बनर्जी, 'हिन्दू लॉ आव मरेज एवं स्त्रीधन' (पाँचवाँ संस्करण, १९२३, पृ० ३१९-५१९; डॉ० जॉली, टैगोर लॉ लेक्चर्स, एडाप्शन, इनहेरिटेंस ऐंड पार्टीशन (१८८३) पृ० २२६-२७०।

६. वृत्तिराबध्यं वा स्त्रीधनम्। परद्विसहस्रा स्थाप्या वृत्तिः। आबध्यानियमः। अर्थशास्त्र (३।२); पितृमातृपतिभ्रातृज्ञातिभिः स्त्रीधनं स्त्रियै। यथाशक्त्या द्विसहस्राद् दातव्यं स्थावरादृते।। कात्या० (स्मृतिच० २, पृ० २८१; परा० मा० ३, पृ० ५४८; व्य० म०, पृ० १५४; दायभाग ४।१।१०; बालम्भट्टी, व्य० म०, पृ० १५४।

या पति द्वारा अन्य स्त्री से विवाह के समय जो कुछ प्राप्त किया जाय--ये ही स्त्रीधन में गिने जाते हैं और जो कुछ स्त्री के सम्बन्धियों द्वारा दिया जाता है, शुल्क एवं विवाहोपरान्त की भेट।"[7] और देखिए विष्णु० (१७।१८)।

स्मृतिकारों में कात्यायन ने २७ श्लोकों में स्त्रीधन का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उन्होंने मनु, याज्ञ०, नारद एवं विष्णु के छः स्त्रीधन-प्रकारों का वर्णन किया है--"विवाह के समय अग्नि के समक्ष जो दिया जाता है उसे बुद्धिमान् लोग **अध्यग्नि** स्त्रीधन कहते हैं। पति के घर जाते समय जो कुछ स्त्री पिता के घर से पाती है उसे **अध्यावहनिक** स्त्रीधन कहा जाता है। श्वशुर या सास द्वारा स्नेह से जो कुछ दिया जाता है और श्रेष्ठ जनों को वन्दन करते समय उनके द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है उसे **प्रीतिदत्त** स्त्रीधन कहा जाता है। वह **शुल्क** कहलाता है जो बरतनों, भारवाही पशुओं, दुधारू पशुओं, आभूषणों एवं दासों के मूल्य के रूप में प्राप्त होता है। विवाहोपरान्त पति-कुल एवं पितृ-कुल के बन्धु-जनों से जो कुछ प्राप्त होता है वह **अन्वाधेय** स्त्रीधन कहलाता है। भृगु के मत से स्नेहवश जो कुछ पति या माता-पिता से प्राप्त होता है वह **अन्वाधेय** कहलाता है।" कात्यायन द्वारा प्रस्तुत **अध्यग्नि** एवं **अध्यावहनिक** की परिभाषाओं में वे भेट भी सम्मिलित हैं जो विवाह के समय आगन्तुकों द्वारा प्रदत्त होती हैं। वह **सौदायिक** कहा जाता है जो विवाहित स्त्री या कुमारी को अपने पति या पिता के घर में मिल जाता है या भाई से या माता-पिता से प्राप्त होता है।

कात्यायन की उपर्युक्त परिभाषाएँ सभी निबन्धों को मान्य हैं। यहाँ तक कि दायभाग ने भी उनका अनुमोदन किया है। कुछ भाषान्तर-सम्बन्धी एवं परिभाषा-सम्बन्धी भिन्नताएँ निम्न हैं--मिताक्षरा के अनुसार **अध्यावहनिक** में वे सभी भेटें सम्मिलित हैं, जो विवाहित कन्या को विदाई के समय **किसी भी व्यक्ति द्वारा** प्राप्त होती हैं, किन्तु दायभाग एवं कुछ अन्य लोगों के मत से इसमें केवल (**पैतृकात्**) माता-पिता के कुल की भेटें ही सम्मिलित हैं। विवादरत्नाकर (पृ० ५२३) ने इसके अन्तर्गत उन भेटों को रखा है जिन्हें वधू पिता के घर लौटते समय अपने श्वशुर आदि से पाती है; विवादचिन्तामणि (पृ० १३८) के मत से यह वह धन है जो **द्विरागमन** के समय प्राप्त होता है। और देखिए दायभाग (४।३।१९-२०, पृ० ९३), जहाँ 'दोह्याभरण-कर्मिणाम्' को दूसरे ढंग से समझाया गया है, यथा--वह धन जो गृह-निर्माताओं या स्वर्णकारों द्वारा इसलिए दिया जाय कि स्त्री अपने पति को नयी रचना कराने के लिए प्रेरित करे। व्यास ने इसे यों समझाया है--"यह वह धन है जो किसी स्त्री को इसलिए दिया जाता है कि वह (प्रसन्नतापूर्वक) अपने पति के घर जाने को प्रेरित हो सके।"[8] स्मृतिचन्द्रिका एवं व्यवहारप्रकाश ने **शुल्क** को उन वस्तुओं का मूल्य[9] माना

७. अध्यग्न्यध्यावहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि। भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्॥ मनु (९।१९४), नारद (दायभाग, ८); पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम्। आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम्॥ बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च। याज्ञ० (२।१४३-१४४)।

८. गृहादिकर्मिभिः शिल्पिभिस्तत्कर्मकरणाय भर्त्रादिप्रेरणार्थं स्त्रियै यदुत्कोचदानं तच्छुल्कं तदेव मूल्यं प्रवृत्त्यर्थत्वात्। व्यासोक्तं वा यथा। यदा नेतु भर्तृगृहे शुल्कं तत् परिकीर्तितम्। भर्तृगृहगमनार्थमुत्कोचादि यद्दत्तं तच्च ब्राह्मादिष्वविशिष्टम्। दायभाग (४।३।२०-२१, पृ० ९३)।

९. देखिए विष्णु० (३।३९); याज्ञ० (२।१७३, २६१); वसिष्ठ० (१९।३७); पाणिनि (५।१।४७); ऋग्वेद (१।१०९।२); यास्क (६।९); वनपर्व (११५।२३); अनुशासनपर्व (४।१२, एवं २।३१); मनु (३।५, ३।५४७; अनुशासनपर्व (४६।१-२); वि० चिन्तामणि (पृ० १३९), 'गृहोपस्करादिकरणोपाधिना स्त्रिया गृहपतितो यल्लब्धं तच्छुल्कमित्यर्थः।'

है जिन्हें वर विवाह के समय या गृहारम्भ करते समय दुलहिन को देता है। व्यवहारनिर्णय (पृ० ४६८) ने शुल्क को दो अर्थों में लिया है--(१) वह धन जो कन्या के अभिभावकों को कन्या के मूल्य के रूप में दिया जाय और जिसे कन्या की मृत्यु के उपरान्त माता या भाई ले लेता है; (२) वह धन जो वर द्वारा कन्या को आभूषण एवं गृहोपकरण के मूल्य के रूप में दिया जाता है। कात्यायन (९०४) का कथन है--"उस धन पर, जो स्त्री द्वारा शिल्प आदि के लिए या स्नेहवश किसी अन्य से प्राप्त किया जाता है, पति का स्वामित्व रहता है, अन्य शेष स्त्रीधन कहलाता है।" देखिए दायभाग (४।१।१९-२०, पृ० ७६); स्मृतिच० (२, पृ० २८१); परा० मा० (३, पृ० ५५०); व्य० म० (प० १५४)। देवल का कथन है कि वृत्ति (भरण-पोषण), आभूषण, शुल्क, ऋण-व्याज स्त्रीधन है; केवल स्त्री उसका उपभोग कर सकती है, किन्तु आपत्काल में पति उसका उपभोग कर सकता है, अन्यथा नहीं। मनु (९।२००) का कथन है कि पति के उत्तराधिकारी पति के रहते स्त्रियों द्वारा पहने गये आभूषणों को नहीं बाँट सकते; यदि वे ऐसा करते हैं तो पाप के भागी होते हैं। देखिए व्यवहाररत्नाकर (पृ० ५०९), विवादचिन्तामणि (पृ० १३९) एवं दायतत्त्व (पृ० १८४)। **सौदायिक** कोई विशिष्ट प्रकार का स्त्रीधन नहीं है। कात्यायन एवं विवादचिन्तामणि की परिभाषा के अनुसार यह शब्द स्त्रीधन के कई प्रकारों का द्योतक है। एक प्रकार से यह स्त्रीधन का ही पर्याय है। अधिकांश लेखकों का कहना है कि यह वह धन है जो विवाहित अथवा अविवाहित स्त्री द्वारा अपने पति अथवा माता के घर में अथवा माता-पिता के सम्बन्धियों से प्राप्त किया जाता है (स्मृतिच० २, पृ० २८२; व्य० र० पृ० ५११)। दायभाग (४।१।२३, पृ० ७६-७७) एवं विवादचिन्तामणि के मत से सौदायिक में अचल सम्पत्ति को छोड़कर वह सारी सम्पत्ति सम्मिलित है जिसे पत्नी पति से प्राप्त करती है; पत्नी पति की मृत्यु के उपरान्त अचल सम्पत्ति का विघटन नहीं कर सकती। व्यास ने कहा है--"विवाह के समय या उसके उपरान्त स्त्री को अपने पिता या पति से जो कुछ प्राप्त होता है, वह सौदायिक कहलाता है।" दायभाग (४।१।२२ पृ० ७६) के मत से 'सौदायिक' शब्द 'सुदाय' से बना है, जिसका अर्थ है "स्नेही सम्बन्धियों से प्राप्त धन।" अमरकोश ने 'सुदाय' को 'यौतक' आदि से प्राप्त भेंट के अर्थ में लिया है। 'यौतक' शब्द का अर्थ क्या है? मनु (९।१३१) ने इसका प्रयोग किया है--"माता का जो यौतक होता है वह कुमारी कन्या को मिलता है (विवाहित पुत्री या पुत्र को नहीं मिलता है)।" अतः 'यौतक' स्त्रीधन का द्योतक प्रतीत होता है। स्मृतिच० (२, पृ० २८५), मदनरत्न एवं व्य० मयूख का कथन है--"यौतक वह धन है जो स्त्री द्वारा विवाह के समय पति के साथ बैठे रहने पर किसी से प्राप्त होता है।" 'यौतक' शब्द 'युत' (जुड़ा हुआ या सम्मिलित) से बना है। याज्ञ० (२।१४९) ने इसे 'पृथक् किये हुए' के अर्थ में विशेषण के रूप में लिया है। मेधातिथि (मनु ९।१३१) ने इसे स्त्री का पृथक् धन अर्थात् स्त्रीधन माना है। और देखिए स्मृतिच० (२, पृ० २८५), विवादचिन्तामणि (पृ० १४२) एवं दायतत्त्व (पृ० १८६)।

कौटिल्य (३।२, पृ० १५२) ने **शुल्क, अन्वाधेय, आधिवेदनिक** एवं **बन्धुदत्त** को स्त्रीधन के प्रकारों के रूप में लिया है।

स्मृतियों के कथनों से व्यक्त होता है कि स्त्रीधन एक प्रकार का ऐसा धन है जिसमें पहले छः प्रकार की सम्पत्ति की गणना होती थी और आगे चलकर वह नौ प्रकार का हो गया तथा कात्यायन के समय में उसमें सभी प्रकार की (चल या अचल) सम्पत्ति सम्मिलित हो गयी, जिसे कोई स्त्री कुमारी अवस्था में या विवाहित होते समय या विवाह के उपरान्त अपने माता-पिता या कुल या माता-पिता के सम्बन्धियों या पति एवं उसके कुल से (पति द्वारा प्रदत्त अचल सम्पत्ति को छोड़कर) प्राप्त करती है। वह धन जिसे स्त्री विवाहोपरान्त स्वयं (अपने परिश्रम से) अर्जित करती है या बाहरी लोगों से प्राप्त करती है, स्त्रीधन नहीं कहलाता। उपर्युक्त विवेचन स्त्रीधन के पारिभाषिक अर्थ से सम्बन्धित है।

अब हमें यह देखना है कि टीकाकारों एवं निबन्धकारों ने किस प्रकार स्त्रीधन की व्याख्या की है। आज के न्यायालयों ने टीकाकारों द्वारा स्थापित मान्यताओं को ही प्रामाणिकता दी है। अतः इस दृष्टि से व्यावहारिक उपयोगों के लिए उनके दृष्टिकोणों की समीक्षा परमावश्यक है। सर्वप्रथम हम मिताक्षरा के मत का उद्घाटन करेंगे। याज्ञ० (२।१४३) की व्याख्या में मिताक्षरा का निम्न कथन है--"पिता, माता, पति एवं भ्राता द्वारा जो कुछ दिया जाय; विवाह के समय वैवाहिक अग्नि के समक्ष मामा आदि द्वारा जो कुछ भेटें दी जायँ; आधिवेदनिक, अर्थात् (पति द्वारा) दूसरी स्त्री से विवाह करते समय जो भेट दी जाय [जिसका वर्णन आगे के 'उसे अपनी पूर्व पत्नी को देना चाहिए' इन शब्दों की व्याख्या में (याज्ञ० २।१४८) किया जायगा]; 'आद्य' (अर्थात् इसके समान अन्य) शब्द से संकेत मिलता है उस धन का जो उत्तराधिकार, क्रय, विभाजन, परिग्रह, उपलब्धि से प्राप्त होता है--मनु आदि ने इन्हें स्त्रीधन कहा है। 'स्त्रीधन' शब्द यौगिक है न कि पारिभाषिक। जब तक योगसम्भव अर्थ मिले, पारिभाषिक अर्थ का सहारा लेना अनुचित है।" मिताक्षरा ने स्त्रीधन की परिभाषा विस्तृत कर दी और उसमें उन पाँच सम्पत्ति-प्रकारों को सम्मिलित कर लिया जिन पर गौतम (१०।३९) के मत से व्यक्ति कई प्रकारों से स्वामित्व प्राप्त कर लेता है। स्पष्ट है, मिताक्षरा के मत से किसी भी प्रकार का धन स्त्रीधन की संज्ञा पा सकता है, चाहे वह स्त्री द्वारा किसी पुरुष की विधवा की हैसियत से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हो या माता के रूप में प्राप्त हो या पत्नी अथवा माता की हैसियत से विभाजन द्वारा प्राप्त हो (याज्ञ० २।११५ या १२३)। 'आद्य' की व्याख्या मदनपारिजात (पृ० ६७१), सरस्वतीविलास (पृ० ३७९), व्यवहारप्रकाश (पृ० ५४२) एवं बालम्भट्टी को भी मान्य है। किन्तु दायभाग ने 'आद्य' को सीमित अर्थ में रखा है। जीमूतवाहन ने याज्ञ० (२।१४३) में 'आधिवेदनिकं चैव' पढ़ा है और कहा है कि स्त्रीधन मनु (९।१९४) के छः प्रकारों तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत उसमें अन्य स्मृतियों में वर्णित अन्य प्रकार भी सम्मिलित हैं। जीमूतवाहन ने अन्त में कहा है--"वही स्त्रीधन है जिसे दान रूप में देने, विक्रय करने तथा बिना पति के नियन्त्रण के स्वतन्त्र रूप से उपभोग करने में स्त्री का पूर्ण अधिकार है।" दायभाग ने स्वतन्त्र रूप से लेन-देन करने योग्य धन के प्रकारों को स्पष्ट रूप से नहीं दिया है, किन्तु स्त्रीधन की परिभाषा करने के उपरान्त ही इसने कात्यायन (शिल्प आदि द्वारा तथा अन्य लोगों की भेट से प्राप्त धन के विषय में) एवं नारद (४।२८, पति द्वारा जो कुछ प्राप्त हो, उसमें अचल को छोड़कर, वह पति की मृत्यु के उपरान्त भी व्यय आदि कर सकती है) को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि दायभाग के मत से पति द्वारा प्रदत्त अचल सम्पत्ति को छोड़कर सम्बन्धियों द्वारा दी गयी सभी प्रकार की भेटें तथा अन्य लोगों से प्राप्त अन्य भेटें, जो विवाह के समय या विदाई के समय प्राप्त होती हैं, स्त्रीधन के अन्तर्गत मानी जाती हैं। किन्तु वह धन जो स्त्री द्वारा उत्तराधिकार के रूप में या विभाजन से या अन्य लोगों से भेट के रूप में (उपर्युक्त दो प्रकारों को छोड़कर) या शिल्प आदि कर्मों या परिश्रम से प्राप्त होता है, स्त्रीधन नहीं कहलाता। दायतत्त्व ने दायभाग का अनुसरण किया है।

स्मृतिचन्द्रिका ने स्त्रीधन की परिभाषा नहीं दी है, किन्तु इसने मिताक्षरा द्वारा दी गयी 'आद्य' की व्याख्या स्वीकृत नहीं की है। स्पष्ट है, इसने दायभाग के मार्ग का अनुसरण किया है। पराशरमाधवीय (मद्रास क्षेत्रीय ग्रन्थ) ने, लगता है, मिताक्षरा का अनुसरण किया है, क्योंकि उसमें आया है--"'आद्य' में 'आधिवेदनिक' एवं वह धन सम्मिलित है जो उत्तराधिकार, विक्रय आदि से प्राप्त होता है।" विवादचिन्तामणि (मिथिला के प्रामाणिक ग्रन्थ) में स्त्रीधन की सामान्य परिभाषा न देकर मनु, याज्ञ०, विष्णु०, कात्या० एवं देवल द्वारा प्रस्तुत स्त्रीधन-प्रकारों का वर्णन किया गया है, अतः वह दायभाग के समान ही है। व्य० मयूख ने स्त्रीधन के दो प्रकार दिये हैं--**पारिभाषिक एवं अपारिभाषिक।** प्रथम में ऋषियों द्वारा व्यक्त वह धन है जो स्त्रीधन का द्योतक होता है, दूसरे में वह धन है जो विभाजन या शिल्प आदि कर्मों से प्राप्त होता है। वीरमित्रोदय (वाराणसी क्षेत्र के प्रामाणिक ग्रन्थ) ने मिताक्षरा का अनुसरण किया है।

आधुनिक काल के स्त्रीधन-सम्बन्धी विवादों की चर्चा करना यहाँ सम्भव नहीं है। प्रिवी कौंसिल ने बम्बई को छोड़कर अन्य प्रान्तों के लिए मिताक्षरा की स्त्रीधन-सम्बन्धी व्याख्या ठुकरा दी है, अर्थात् उत्तराधिकार एवं विभाजन से प्राप्त धन को स्त्रीधन नहीं माना गया है। कोई स्त्री किसी पुरुष से, यथा पति, पिता या पुत्र से उत्तराधिकार पा सकती है, अथवा वह किसी स्त्री से, यथा माता, पुत्री आदि से भी उत्तराधिकार पा सकती है। सम्पत्ति के इन प्रकारों को मिताक्षरा ने स्त्रीधन के अन्तर्गत रखा है, किन्तु प्रिवी कौंसिल ने इस मत को नहीं माना।

कात्यायन (९०३) ने घोषित किया है--"किसी अवसर पर पहनने के लिए या किसी शर्त पर जो कुछ दिया गया हो या पिता, भाई या पति द्वारा छल से जो कुछ दिया गया हो, वह स्त्रीधन नहीं है।"

स्त्रीधन पर अधिकार--स्त्रीधन क्या है और उस पर स्त्री का क्या अधिकार है, यह निम्न तीन बातों पर निर्भर है; सम्पत्ति प्राप्त करने का उद्गम, प्राप्ति के समय उसकी स्थिति (वह कुमारी है या अविवाहित है, सधवा है या विधवा) तथा वह सम्प्रदाय जिसके अनुसार उस पर स्मृति-शासन होता है। इस विषय में कात्यायन एवं नारद के वचन प्रमाण हैं। कात्यायन (९०५-७, ९११) का कथन है--"सौदायिक धन की प्राप्ति पर घोषित किया गया है कि स्त्रियाँ उस पर स्वतन्त्र अधिकार रखती हैं, क्योंकि वह उनके सम्बन्धियों द्वारा इसलिए दिया गया है कि वे दुर्दशा को न प्राप्त हो सकें। ऐसा घोषित है कि विक्रय या दान में सौदायिक सम्पत्ति पर स्त्रियों का पूर्ण अधिकार है, इतना ही नहीं, सौदायिक अचल सम्पत्ति पर भी उनका अधिकार है। विधवा हो जाने पर वे पति द्वारा दी गयी चल भेटों को मनोनुकूल खर्च कर सकती हैं, किन्तु उन्हें जीवित रहते हुए उसकी रक्षा करनी चाहिए या वे कुल के लिए व्यय कर सकती हैं। किन्तु पति या पुत्र और पिता या भाइयों को किसी स्त्री के स्त्रीधन को व्यय करने या विघटित करने का अधिकार नहीं है।" इससे प्रकट है कि कुमारी हिन्दू स्त्री सभी प्रकार के स्त्रीधन का उपभोग मनोनुकूल कर सकती है, विधवा स्त्री पति द्वारा प्रदत्त अचल सम्पत्ति को छोड़कर सभी प्रकार के स्त्रीधन का लेन-देन कर सकती है, किन्तु सधवा स्त्री केवल सौदायिक (पति को छोड़कर अन्य लोगों से प्राप्त दान) को ही मनोनुकूल स्वेच्छा से व्यय कर सकती है। आजकल सौदायिक एवं असौदायिक का अन्तर ज्यों-का-त्यों सम्मानार्ह है किन्तु पति द्वारा दिये गये सौदायिक एवं अन्य द्वारा दिये गये सौदायिक के अन्तर को मान्यता नहीं मिली है। पति के रहते आजकल स्त्री का अधिकार स्त्रीधन की विशेषता पर निर्भर है। यदि वह सौदायिक है तो उसे स्त्री विक्रय, दान या स्वेच्छा से बिना पति की सहमति के विघटित कर सकती है, किन्तु शिल्प आदि से प्राप्त धन तथा अन्य लोगों से प्राप्त दान-भेट आदि स्त्रीधन के अन्य प्रकार बिना पति की आज्ञा के वह नहीं दे सकती। दायभाग (४।१।२०) के मत से शिल्पादि से प्राप्त धन या अन्य लोगों से प्राप्त भेट-दान पति के जीवित रहते पति के अधिकार में रहते हैं और पति उनका उपभोग विपत्ति में न रहने पर भी कर सकता है। ऐसे धन पर पति के अतिरिक्त किसी अन्य का अधिकार नहीं होता। पति की मृत्यु के उपरान्त स्त्री असौदायिक स्त्रीधन को स्वेच्छा से व्यय कर सकती है। कुछ परिस्थितियों में पति को सौदायिक स्त्रीधन पर भी अधिकार प्राप्त है। याज्ञ० (२।१४७) का कथन है--"दुर्भिक्ष, धर्मकार्य, व्याधि में या बन्दी (ऋणदाता, राजा या शत्रु द्वारा) बनाये जाने पर पति यदि स्त्रीधन का व्यय करे तो उसे लौटाने के लिए उसे बाध्य नहीं किया जा सकता।" यही बात कात्यायन (९१४) ने भी कही है। कौटिल्य (३।२) ने याज्ञवल्क्य के समान ही व्यवस्था दी है और इतना जोड़ दिया है कि स्त्री अपनी जीविका के लिए या अपने पुत्र या पुत्रवधू के जीविका-साधन में व्यय कर सकती है या जब पति कुछ व्यवस्था किये बिना ही बाहर चला गया हो तो वह वैसा कर सकती है। कौटिल्य (३।२, पृ० १५२) ने कुछ और बातें दी हैं, जो यह सिद्ध करती हैं कि उनकी उक्तियाँ स्त्रीधन के ऊपर पति के अधिकार की प्रारम्भिक अवस्था की द्योतक हैं। पश्चात्कालीन स्मृतियों ने पति एवं पत्नी की सम्पत्तियों को पृथक्-पृथक् माना है। पति के ऋण पत्नी को नहीं बाँध सकते और न पत्नी के ऋण पति को बाँध सकते हैं, ऐसा एक सामान्य नियम है (याज्ञ० २।४६ एवं विष्णु० ६।३१-३२)। कुछ

अवस्थाओं में इन्हीं स्मृतियों ने कुछ छूट भी दी है। इस विषय में देखिए याज्ञ० (२।१४७), मनु (८।२९)। स्त्रीधन को यदि पति, पुत्र, माता एवं भाई बलवश ले लें या उसका किसी प्रकार उपयोग कर लें तो उन्हें ब्याज के साथ उसे लौटाना पड़ता है। केवल दुःखप्रद परिस्थितियों आदि में ही उसका उपयोग हो सकता है। देखिए कात्यायन (अपरार्क पृ० ७५५; दायभाग ४।२।२४, पृ० ७८; स्मृतिच० २, पृ० २८२); देवल (स्मृतिच० २, पृ० २८३; अपरार्क पृ० ७५५; व्य० मयूख प० १५६)। कात्यायन (९०८) ने एक विशेष नियम दिया है--"यदि किसी की दो पत्नियाँ हों और उनमें एक उपेक्षित हो तो उसको उसका स्त्रीधन लौटा देना पड़ता है, राजा को चाहिए कि वह ऐसा करने में उसकी सहायता करे, भले ही उसने (उपेक्षिता पत्नी ने) अपने पति को प्रेमवश वह धन दे दिया हो।"

कात्यायन (९१६) ने एक विशेष नियम दिया है--"यदि पति स्त्रीधन देने की प्रतिज्ञा कर ले तो उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र (अपने पुत्र या विमाता-पुत्र) को उसे ऋण के रूप में चुकाना चाहिए, किन्तु ऐसा तभी होता है जब कि विधवा पति के कुल में ही रहे और अपने मैके में न जाय।" स्मृतिचन्द्रिका एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० ५४६) ने कहा है कि पौत्रों एवं प्रपौत्रों को भी इसी प्रकार पितामह एवं प्रपितामह द्वारा प्रतिश्रुत स्त्रीधन ऋण के रूप में लौटाना चाहिए। यदि स्त्री दुश्चरित्र हो, व्यभिचार में धन का अपव्यय करती हो तो व्य० प्र० एवं वि० चि० के मत से उसका स्त्रीधन छीन लेना चाहिए।

स्त्रीधन का उत्तराधिकार--इस विषय में हिन्दू व्यवहार-शास्त्र में बहुत-से मत मतान्तर पाये जाते हैं। किन्तु एक बात में सबका मत एक है; स्त्रीधन का उत्तराधिकार सर्वप्रथम कन्याओं को प्राप्त होना चाहिए, अर्थात् कन्याओं को पुत्रों की अपेक्षा वरीयता मिलनी चाहिए। किन्तु आगे चलकर कुछ लेखकों ने पुत्रों को कन्याओं के साथ जोड़ दिया और कुछ स्त्रीधन-प्रकारों में पुत्रों को वरीयता दे दी। इसका सम्भवतः कारण यह था कि आगे चलकर स्त्रीधन का विस्तार हो गया और लोगों को यह बात नहीं रुची कि स्त्रियों को लम्बी सम्पत्ति मिले। इस विषय में लोकाचार एवं काल-क्रम का विशेष हाथ रहा है। निबन्धों ने बहुधा कहा है कि उनकी व्याख्या लोकाचार पर भी निर्भर रहती है। स्त्रीधन के उत्तराधिकार की भिन्नता स्त्री के विवाहित होने या न होने, या अननुमोदित या अनुमोदित विवाह-प्रथा से विवाहित होने तथा स्त्रीधन के प्रकार या व्यवहार-शाखा पर अवलम्बित है।

सर्वप्रथम हम स्मृति-वचनों पर ध्यान दें। यह प्राचीनतम उक्ति गौतम (२८।२२) की है--"स्त्रीधन (सर्वप्रथम) पुत्रियों को मिलता है, (प्रतियोगिता होने पर) कुमारी कन्याओं को वरीयता मिलती है तथा विवाहितों में उसको जो निर्धन होती है, वरीयता मिलती है।" मनु (९।१९२-१९३) का कथन यों है--"माता के मर जाने पर सगे भाई एवं बहिनें उसकी सम्पत्ति समान रूप से बाँट लेते हैं। स्नेहानुकूल उन पुत्रियों की पुत्रियों को भी मिलना चाहिए।" मनु (९।१९५) का कथन है कि स्त्रीधन के छः प्रकार, अन्वाधेय स्त्रीधन, पति-प्रदत्त स्नेह-दान पति के रहते मर जाने पर सन्तानों को मिलने चाहिए। मनु (९।१९२-१९३) को टीकाकारों ने कई ढंग से लिया है; सर्वज्ञ-नारायण के मत से माता की सम्पत्ति का अर्थ है पारिभाषिक स्त्रीधन के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति। बहुत से टीकाकारों ने बृहस्पति का अनुसरण करते हुए कहा है कि सगा भाई एवं कुमारी बहिनें साथ-साथ उत्तराधिकार पाते हैं, विवाहित बहिनें (अर्थात् स्त्री की कन्याएँ जिनके उत्तराधिकारी होते हैं) केवल थोड़ा (कुल्लूक के मत से भाइयों का एक-चौथाई भाग) पाती हैं। मनु (९।१९६-१९७) ने व्यवस्था दी है कि जब स्त्री ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य एवं गांधर्व नामक विवाह-प्रकारों से विवाहित होती है और सन्तानहीन मर जाती है तो स्त्रीधन पति को मिल जाता है, किन्तु यदि उसका विवाह आसुर या अन्य दो विवाह-प्रथाओं के अनुसार होता है तो सन्तानहीन होने पर उसका धन उसके माता-पिता को मिल जाता है। याज्ञ० (२।११७) के अनुसार कन्याएँ माता का धन पाती हैं और उनके अभाव में पुत्रों का अधिकार होता है। याज्ञ० (२।१४४) ने पुनः कहा है कि स्त्रीधन कन्याओं को मिलता है किन्तु यदि स्त्री सन्तानहीन मर जाती है तो स्त्रीधन

पति को मिल जाता है (यदि विवाह **ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य** नामक विवाह-प्रथा से हुआ हो), किन्तु अन्य चार प्रकार के विवाहों वाली स्त्री के मर जाने पर उसका धन माता-पिता को प्राप्त हो जाता है। यही बात विष्णु (१७।१९-२१) एवं नारद (दायभाग, ९) में भी पायी जाती है। किन्तु नारद ने अन्यत्र (दायभाग, २) यह कहा है कि माता का धन कन्याओं में बाँटना चाहिए और उनके अभाव में उनकी सन्तानों को मिलना चाहिए। शंख-लिखित ने घोषणा की है कि माता की सम्पत्ति सगे भाइयों (मृत माता के अपने पुत्रों) एवं उनकी कुमारी बहिनों को बराबर-बराबर भाग में मिलनी चाहिए। बृहस्पति का कथन है कि स्त्रीधन सन्तानों को मिलता है, किन्तु कुमारी कन्याओं को वरीयता मिलती है, विवाहित कन्याओं को स्नेह के रूप में थोड़ा-सा मिलता है। पराशर के मत से कुमारी कन्याओं को सम्पूर्ण स्त्रीधन मिल जाता है, किन्तु उनके अभाव में विवाहित कन्याएँ एवं पुत्र बराबर-बराबर बाँट लेते हैं। देवल का कहना है कि स्त्री की मृत्यु पर पुत्र एवं पुत्रियाँ स्त्रीधन को समान रूप से बाँट लेते हैं, यदि सन्तान न हो तो स्त्रीधन पति, माता, भ्राता या पिता को मिल जाता है। पराशर (परा० मा० ३, ५५२) के मत से स्त्रीधन कुमारी कन्या को मिल जाता है, पुत्र कुछ नहीं पाता, किन्तु उसे विवाहित कन्याओं के साथ बराबर भाग मिल जाता है। कौटिल्य (३।२, पृ० १५३) का कथन है कि सधवा रूप में मर जाने पर पुत्र एवं पुत्रियाँ स्त्रीधन बाँट लेते हैं, पुत्र के अभाव में पुत्रियाँ बाँट लेती हैं, पुत्रों एवं पुत्रियों के अभाव में पति ले लेता है, किन्तु **शुल्क, अन्वाधेय** एवं स्त्रीधन के अन्य प्रकार (सम्बन्धियों से जो प्राप्त होते हैं) सम्बन्धियों को मिल जाते हैं। कात्यायन (९१२-९२०) ने, जिन्होंने विस्तार के साथ स्त्रीधन के विषय में लिखा है, स्त्रीधन के उत्तराधिकार के बारे में यह लिखा है—"सधवा बहिनों को भाइयों के साथ स्त्रीधन का भाग लेना चाहिए, यही स्त्रीधन एवं विभाजन के विषय में कानून है। पुत्रियों के अभाव में पुत्रों को स्त्रीधन मिलता है। सम्बन्धियों द्वारा प्रदत्त उनके (सम्बन्धियों के) अभाव में पति को मिलता है। जो कुछ अचल सम्पत्ति माता-पिता द्वारा पुत्री को दी जाती है वह उसकी मृत्यु के उपरान्त सन्तान के अभाव में भाई की हो जाती है। **आसुर** से लेकर आगे के विवाहों वाली स्त्री को माता-पिता द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है वह उसके सन्तानहीन होने पर माता-पिता को मिल जाता है (यम, स्मृतिच० २, पृ० २८६ एवं दायभाग ४।२।२८, पृ० ८८)।" प्रथम दो श्लोक विरोधी बातें कहते हैं और हमें उन्हें गौतम (२८.२२) की संगति में पढ़ना चाहिए। सम्भवतः कात्यायन ने निम्न बातें कहीं हैं—(१) कुमारी कन्या को वरीयता मिलती है; (२) यदि कोई कुमारी कन्या न हो तो विवाहित सधवा कन्याएँ अपने भाइयों के साथ-साथ भाग पाती हैं; (३) यदि पुत्र न हों या विवाहित सधवा पुत्रियाँ न हों तो विधवा पुत्रियों को स्त्रीधन मिलता है; (४) पितृपक्ष एवं मातृपक्ष के सम्बन्धियों द्वारा प्रदत्त उन्हीं को प्राप्त होता है और उनके अभाव में पति पाता है; (५) सन्तानहीन होने पर माता-पिता द्वारा प्रदत्त अचल सम्पत्ति भाई को प्राप्त होती है; (६) **आसुर, राक्षस** एवं **पैशाच** विवाहों वाली स्त्री के सन्तानहीन होने पर स्त्रीधन माता-पिता को प्राप्त हो जाता है।

अब हम टीकाओं की उक्तियों का विवेचन करेंगे। सभी ने स्त्रीधन के कुछ प्रकारों के लिए पुत्रियों को पुत्रों की अपेक्षा वरीयता दी है। पुरुष की सम्पत्ति एवं स्त्री के उत्तराधिकार के विषय में जो विभिन्नता पायी जाती है, उसके विषय में अर्थात् उसके कारण के विषय में कहीं भी कुछ स्पष्ट नहीं कहा गया है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।११७) ने यह कहा है कि पुत्री में पुत्र की अपेक्षा माता के शरीर का अंश अधिक रहता है, अतः उसे स्त्रीधन की प्राप्ति में वरीयता मिली है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि जब पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति में अपनी बहिनों को उत्तराधिकार नहीं देते तो पुत्रियों को भी स्त्रीधन की प्राप्ति में वैसा अधिकार मिलना चाहिए।

मिताक्षरा के अनुसार स्त्रीधन के उत्तराधिकार की दो शाखाएँ हैं; एक **शुल्क** के विषय में, दूसरी स्त्रीधन के अन्य प्रकारों के लिए। मिताक्षरा ने गौतम का उल्लेख करते हुए व्यवस्था दी है कि **शुल्क** सर्वप्रथम सहोदरों (सगे

भाइयों) को मिलना चाहिए और उनके अभाव में माता को। कुछ टीकाओं, यथा—सुबोधिनी, दीपकलिका, हरदत्त (गौतम २८।२३) आदि ने व्यवस्था दी है कि **शुल्क** पहले माता को मिलता है और उसके अभाव में सहोदरों (सगे भाइयों) को मिलना चाहिए; किन्तु दायभाग (४।३।२८, पृ० ९५), परा० मा०, व्य० प्र०, वि० चि० ने मिताक्षरा का अनुसरण किया है। यह आश्चर्य है कि मदनपारिजात (पृ० ६६८) ने, जिसे सुबोधिनी के लेखक ने अपने आश्रय-दाता मदनपाल के नाम से लिखा है, व्यवस्था दी है कि **शुल्क** सर्वप्रथम भाइयों को मिलता है और उनके अभाव में माता को। क्या सुबोधिनी की मुद्रित प्रति अशुद्ध है या लेखक ने अपना मत परिवर्तित कर दिया है?

कुमारी की सम्पत्ति के उत्तराधिकार के विषय में मिताक्षरा तथा अन्य लेखकों के मतों में कोई अन्तर नहीं है। मिताक्षरा ने बौधायन का उल्लेख करके कहा है कि कन्या के मृत हो जाने पर सर्वप्रथम सगे भाइयों को उसका धन मिलता है और तब माता और उसके उपरान्त पिता को मिलता है। व्य० प्र० ने जोड़ दिया है कि पिता के अभाव में कन्या का धन निकटतम सपिण्ड को मिलता है। याज्ञ० (२।१४६) का कथन है कि यदि विवाह के लिए प्रतिश्रुत हो जाने पर विवाह के पूर्व कन्या मर जाती है तो होनेवाले वर को शुल्क या अन्य भेटें वापस मिल जाती हैं, किन्तु उसे कन्या के कुल के व्यय एवं अपने व्यय को घटा देने का अधिकार प्राप्त है।

कुमारी कन्या के धन एवं **शुल्क** को छोड़कर अन्य प्रकार के स्त्रीधन के उत्तराधिकार का क्रम मिताक्षरा ने यों दिया है—(१) कुमारी (अविवाहित) कन्या; (२) निर्धन विवाहित पुत्री; (३) धनी विवाहित पुत्री; (४) पुत्री की कन्याएँ; (५) पुत्री का पुत्र; (६) सब पुत्र; (७) पौत्र; (८) पति (यदि स्त्री का विवाह अनुमोदित चार विवाह-प्रकारों में हुआ हो); (९) सन्निकटता के अनुसार पति के सपिण्ड; पति के सपिण्ड के अभाव में माता, तब पिता और (राजा को मिलने के पूर्व) पिता के सपिण्ड। किन्तु यदि विवाह किसी अननुमोदित विवाह-प्रकार में हुआ है तो सन्तानों के अभाव में स्त्रीधन माता को मिलता है, माता के अभाव में पिता को, पिता के अभाव में उसके निकटतम सपिण्डों को क्रम से मिलता है। पिता के सपिण्डों के अभाव में स्त्री के पति को तथा पति के अभाव में (राजा को मिलने के पूर्व) पति के सपिण्डों को मिलता है। जब विभिन्न पुत्रियों से उत्पन्न पुत्रियों में उत्पन्न पोतियाँ (प्रपौत्रियाँ) अपनी पितामही की सम्पत्ति सीधे रूप से पाती हैं तो उन्हें समवाय रूप में रिक्थ मिलता है (गौतम २८।१५)। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१४५), अपरार्क (पृ० ७२१) आदि ने व्यवस्था दी है (मनु ९।१९८=अनुशासन-पर्व ४७।२५ के अनुसार) कि यदि किसी नीच जाति की स्त्री सन्तानहीन मर जाती है तो उसकी उच्चतर जाति वाली सौत की पुत्री को उसका स्त्रीधन मिलता है, उसके अभाव में उसके पुत्र को मिल जाता है।

यह विचारणीय है कि स्त्रीधन के उत्तराधिकार के विषय में पुरुष-धन के उत्तराधिकार से सम्बन्धित प्रति-निधित्व का नियम नहीं लागू होता। जब कोई व्यक्ति अपनी पृथक् सम्पत्ति छोड़कर मर जाता है तो उसके पुत्र एवं पौत्र (किसी मृत पुत्र का पुत्र) एक साथ उत्तराधिकारी होते हैं; यहाँ पौत्र अपने मृत पिता का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु जब स्त्रीधन वाली स्त्री मर जाती है, और उसे केवल एक पुत्र एवं एक पौत्र (मृत पुत्र का पुत्र) हो तो पुत्र को सम्पूर्ण स्त्रीधन मिल जाता है और पौत्र को कुछ नहीं मिलता।

विभिन्न स्मृति-सम्प्रदायों द्वारा उपस्थापित विभिन्न मतों की व्याख्या करना न तो सम्भव है और न यहाँ आव-श्यक ही है। दो-एक प्रमुख बातों के लिए देखिए स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २८४-२८७), विवादचिन्तामणि (पृ० १४३), व्यवहारमयूख (पृ० १५७-१६१)। दायभाग सम्प्रदाय में दायभाग एवं श्रीकृष्ण के दायक्रमसंग्रह के मत से **शुल्क** का उत्तराधिकार-क्रम यों है—(१) सगा भाई (सोदर्य); (२) माता; (३) पिता; (४) पति। **यौतक** का उत्तराधिकार-क्रम यह है—(१) विवाहित एवं वाग्दत्त पुत्रियाँ; (२) वाग्दत्त पुत्रियाँ; (३) विवाहित पुत्रियाँ, जिन्हें पुत्र हों या पुत्र होनेवाले हों; (४) बन्ध्या विवाहित एवं विधवा पुत्रियाँ, जो समान भाग पाती हैं; (५) पुत्र;

(६) पुत्रियों के पुत्र; (७) पुत्रों के पुत्र; (८) पुत्रों के पौत्र; (९) विमाता-पुत्र; (१०) एवं (११) विमाता-पुत्र (सौतेले पुत्र) के पुत्र एवं पौत्र। जब विवाह अनुमोदित विवाह-प्रकार से हुआ रहता है तो ऊपर वालों के अभाव में यौतक धन के उत्तराधिकार का अनुक्रम यों है--पति, भ्राता, माता एवं पिता। किन्तु अननुमोदित विवाह-प्रकार से विवाहित होने पर स्त्रीधन क्रम से माता, पिता, भ्राता एवं पति को मिलता है। **अन्वाधेय** दान, जो विवाहोपरान्त पिता द्वारा प्राप्त होता है, दायभाग (४।२।१२-१६, पृ० ९२-९३) के अनुसार यौतक की भाँति ही देय होता है, केवल कुछ बातों में अन्तर है, यथा--विवाहित पुत्रियों के पूर्व पुत्र को मिलता है, सन्तानहीन होने पर क्रम से भ्राता, माता, पिता एवं पति को मिलता है। **अयौतक** (उपर्युक्त तीन प्रकार के स्त्रीधन के अतिरिक्त अन्य प्रकार) के विषय में दायभाग (४।२।१-१२, पृ० ७९-८१) तथा रघुनन्दन एवं श्रीकृष्ण में विभेद पाया जाता है। दायभाग के मत से वह पुत्र एवं कुमारी पुत्री को; इनके अभाव में उन विवाहित पुत्रियों को, जो पुत्रवती हैं या पुत्रवती होनेवाली हैं; पौत्रों; दौहित्रों, बन्ध्या एवं विधवा पुत्रियों को प्राप्त होता है। किन्तु रघुनन्दन एवं श्रीकृष्ण ने उपर्युक्त क्रम में दौहित्रों एवं बन्ध्या तथा विधवा पुत्रियों के बीच में पौत्र, प्रपौत्र, विमाता-पुत्र, विमाता-पौत्र, विमाता-प्रपौत्र को रख दिया है। आज कल के निर्णीत विवादों में अन्तिम मत का अनुसरण किया गया है।

यदि उपर्युक्त लोगों में कोई न हो तो दायभाग (४।३।७ पृ० ९८) के मत से **यौतक** एवं **अयौतक** स्त्रीधन क्रम से निम्न छः उत्तराधिकारियों को प्राप्त होता है--देवर (पति के छोटे भाई), देवर-पुत्र, बहिन के पुत्र, पति की बहिन (ननद) के पुत्र, भतीजे, दामाद को। बृहस्पति का कथन है कि मातृष्वसा (मौसी), मातुलानी (मामी), पितृव्यस्त्री (चाची), पितृष्वसा (फूफी), श्वश्रू (सास), पूर्वजपत्नी (भाभी) अपनी माता के समान (मातृतुल्य) घोषित हैं। जब इन स्त्रियों को औरस पुत्र नहीं होता या सौतेला पुत्र या दौहित्र या पौत्र या विमाता-पौत्र (सौतेला पौत्र) नहीं होता तो बहिन के पुत्र आदि उनके धन को ग्रहण करते हैं। दायभाग ने बृहस्पति के उपर्युक्त कथन में पिण्ड-दान कर्म करनेवालों को वरीयता दी है। बृहस्पति ने बहिन के भाई को वरीयता दी है, किन्तु वास्तव में पति का छोटा भाई (देवर) ही पिण्डदान के अनुसार वरीयता प्राप्त कर सकता है। और देखिए व्य० प्र० (पृ० ५५४) जहाँ यह घोषित है कि उपर्युक्त छः के उपरान्त पति के सपिण्ड, सकुल्य एवं समानोदक तथा अन्त में पिता के सम्बन्धी उत्तराधिकार पाते हैं।

दायभाग के अन्तर्गत व्यभिचारिणी पुत्री को उत्तराधिकार नहीं मिलता। किन्तु मिताक्षरा ने उस व्यभिचारिणी पुत्री को, जो किसी की रखैल है या वेश्या है, उत्तराधिकार दिया है, किन्तु कुमारी या विवाहित पुत्रियों के उपरान्त ही उसे ऐसा अधिकार प्राप्त हो सकता है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२९०) ने इस विषय में स्कन्दपुराण की एक उक्ति को मान्यता दी है--'कुछ अप्सराओं से उत्पन्न पाँचवीं जाति में वेश्याएँ आती हैं।'[१०] आधुनिक काल के न्यायालयों ने कहा है कि यद्यपि वेश्यावृत्ति हिन्दू व्यवहार (विधान) के आधार पर घृणित मानी गयी है, तथापि उसका रक्त-सम्बन्ध नहीं टूटता। अतः नाचनेवाली (नायकिन, वेश्या, पतुरिया) का स्त्रीधन या उस विवाहित स्त्री का धन जो वेश्या हो जाती है, उसके भाई या बहिन या पति या पति के सम्बन्धियों को मिल जाता है।

१०. स्मर्यते हि स्कन्दपुराणे पंचचूडा नाम काश्चनाप्सरसस्तत्सन्ततिर्वेश्याख्या पंचमी जातिरिति। मिता० (याज्ञ० २।२९०)।

अध्याय ३१

जीवन-वृत्ति (भरण-पोषण) तथा अन्य विषय

आधुनिक हिन्दू व्यवहार में भरण-पोषण का विषय बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है। अतः इस विषय में स्मृतियों एवं निबन्धों द्वारा निर्धारित व्यवहार की चर्चा आवश्यक है।

कुछ व्यक्तियों के भरण-पोषण के उत्तरदायित्व का उदय प्राचीन व्यवहार के अन्तर्गत दो ढंगों से होता है; (१) दोनों दलों में केवल सम्बन्ध के कारण, या (२) सम्पत्ति-प्राप्ति की स्थिति के कारण। मेधातिथि (मनु ३।७२; ४।२५१) एवं मिताक्षरा (याज्ञ० १।२२४; २।१७५) द्वारा उद्धृत एवं मनुस्मृति की कुछ पाण्डुलिपियों में (११। १० के उपरान्त) पाये जानेवाले एक श्लोक में आया है--"मनु ने घोषित किया है कि एक सौ बुरे कर्मों के सम्पादन से भी वृद्ध माता-पिता, साध्वी पत्नी एवं शिशु का भरण-पोषण करना चाहिए।"[1] इससे स्पष्ट है कि चाहे सम्पत्ति हो या न हो, पिता का यह कर्तव्य है कि वह शिशु का पालन करे, पति का यह कर्तव्य है कि वह अपनी पतिव्रता स्त्री का भरण-पोषण करे और पुत्र का यह कर्तव्य है कि वह अपने वृद्ध माता-पिता का संवर्धन करे। बौधायन ने तो यहाँ तक कह डाला है कि पतित माता का भी भरण-पोषण करना पुत्र का कर्तव्य है।[2] यही बात आप०धर्मसूत्र (१।१०-२८।९) एवं वसिष्ठ (१३।४७) ने भी कही है। मनु (८।३८९) ने व्यवस्था दी है कि यदि माता-पिता, पत्नी एवं पुत्र पतित न हों और उन्हें कोई छोड़ दे या उनका भरण-पोषण न करे तो उसको राजा द्वारा ६०० पणों का दण्ड देना चाहिए। नारद ने भी ऐसे पति के लिए दण्ड-व्यवस्था दी है। याज्ञ० (१।७६) का कथन है कि यदि कोई अपनी आज्ञाकारिणी, परिश्रमी, पुत्रवती एवं मृदुभाषिणी पत्नी को छोड़ देता है, तो उसे सम्पत्ति का एक-तिहाई भाग देना चाहिए और यदि सम्पत्ति न हो तो उसके भरण-पोषण का प्रबन्ध करना चाहिए। विष्णु० (५।१६३) के मत से उस व्यक्ति को चोर का दण्ड मिलना चाहिए, जो अपनी निरपराध पत्नी को छोड़ देता है। कौटिल्य (२।१) ने उस पर १२ पणों का दण्ड लगाया है जो अपने अपतित बच्चों, पत्नी, माता-पिता, छोटे भाइयों एवं बहिनों, कुमारी कन्याओं, विधवा पुत्रियों का भरण-पोषण नहीं करता। आज भी इन वचनों को मूल्य दिया गया है।

संयुक्त परिवार के व्यवस्थापक का यह वैधानिक कर्तव्य है कि वह कुल के सभी सदस्यों एवं उनकी पत्नियों तथा बच्चों के जीविका-साधन का प्रबन्ध करे। नारद का कथन है कि यदि संयुक्त परिवार के कतिपय सदस्यों में कोई सन्तानहीन मर जाय या संन्यासी हो जाय तो अन्य सदस्य उसका भाग पा जाते हैं और उसकी पत्नियों की मृत्यु

१. वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः। अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत्॥ मेधा० (मनु ४।२५१); मिता० (याज्ञ० २।१७५)।

२. पतितामपि तु मातरं बिभृयादनभिभाषमाणः। बौ० ध० सू० (२।२।४८); पतितः पिता परित्याज्यो माता तु पुत्रे न पतति। वसिष्ठ० (१३।४७); अत्याज्या माता च पिता सपिण्डा गुणवन्तः सर्वे वात्याज्याः। यस्त्यजेत् कामादपतितान् स दण्डं प्राप्नुयाद् द्विगुणं शतम्। शंखलिखित (अपरार्क पृ० ८२३, याज्ञ० २।२३७ पर)।

तक उनके भरण-पोषण का प्रबन्ध करते हैं, किन्तु ऐसा तभी होता है जब कि पत्नियाँ सदाचारिणी होती हैं, अन्यथा नहीं (स्मृतिच० २, पृ० २९२; व्य० प्र०, पृ० ५१६)। कात्यायन (९२२) का कथन है कि पति के मरने पर संयुक्त परिवार वाली पत्नी को भोजन-वस्त्र मिलना चाहिए या उसे मृत्यु पर्यन्त सम्पत्ति का एक भाग मिलना चाहिए। भारतीय उच्च न्यायालयों ने भी इस नियम का अनुसरण किया है। इसी प्रकार उक्त उत्तराधिकारी का यह कर्तव्य है कि वह उन लोगों का भरण-पोषण करे जिन्हें मृत व्यक्ति नैतिकता एवं वैधानिकता की दृष्टि में पालित-पोषित करने के लिए उत्तरदायी था। जो लोग रिक्थ एवं विभाजन से वंचित रहते हैं वे तथा उनकी पत्नियाँ एवं कुमारी कन्याएँ भरण-पोषण की अधिकारिणी होती हैं। देखिए याज्ञ० (२।१४०-१४२), मनु (९।२०२) एवं वसिष्ठ (१७।५४)। बौधा० (२।२।४३-४६) ने व्यवस्था दी है कि जो लोग बूढ़े हैं, जन्मान्ध, मूर्ख, क्लीब, बुरा कर्म करनेवाले एवं असाध्य रोग से पीड़ित तथा निषिद्ध कर्मों में रत रहते हैं उन्हें भोजन-वस्त्र मिलना चाहिए, किन्तु पतित एवं उसकी सन्तान को नहीं। यही बात दूसरे ढंग से देवल ने भी कही है (व्य०मयूख, पृ० १६५)।

बात वास्तव में यह है और यही सामान्य सिद्धान्त भी है कि जिसकी सम्पत्ति उत्तराधिकार के रूप में ली जाती है उसके उत्तरदायित्व का बोझ भी ग्रहण करना होता है, अर्थात् नये उत्तराधिकारी को उसके आश्रितों के भरण-पोषण का प्रबन्ध करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, यदि पैतृक सम्पत्ति न हो तो श्वशुर अपनी स्वार्जित सम्पत्ति द्वारा वैधानिक रूप से पतोहू (मृत पुत्र की विधवा) के भरण-पोषण के लिए उत्तरदायी नहीं है; किन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी अर्थात् कोई पुत्र, विधवा या पुत्री का यह कर्तव्य है कि वे विधवा पतोहू की जीविका चलायें।

जीवन-भरण के अधिकार पर व्यभिचार का क्या प्रभाव पड़ता है? इस विषय में पत्नी के अधिकार के बारे में देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अध्याय ११। मनु (११।१७५) के मत से व्यभिचारिणी पत्नी पति द्वारा अपने घर में बन्दी बना ली जाती है और उसे वही प्रायश्चित्त करना पड़ता है जो व्यभिचारी पुरुष के लिए व्यवस्थित है। याज्ञ० (१।७०) का कहना है कि व्यभिचारिणी पत्नी अपना पत्नीत्व खो बैठती है, उसकी सम्पत्ति छीन ली जाती है और उसे धार्मिक कृत्यों से वंचित होना पड़ता है, उसे केवल भरण पोषण मिलता है तथा घर के किसी भाग में बन्द रहना पड़ता है। कुछ परिस्थितियों में व्यभिचार के कारण हिन्दू व्यवहार के अन्तर्गत हिन्दू विधवा को जीविका से भी हाथ धोना पड़ता है। वसिष्ठ (२१।१०) ने व्यवस्था दी है कि निम्न चार कोटियों की पत्नियों को त्याग देना चाहिए—वह जो पति के शिष्य या गुरु से संभोग कराये या वह जो पति की हत्या करने का प्रयत्न करे या वह जो किसी नीच जाति के व्यक्ति से व्यभिचार कराये। वसिष्ठ (२१।१२) ने यह भी कहा है कि यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य की पत्नियाँ किसी शूद्र से संभोग करायें तो यदि उन्हें सन्तानोत्पत्ति न हुई हो तो वे प्रायश्चित्त द्वारा पवित्र की जा सकती हैं। याज्ञ० (१।७२) का कथन है कि यदि तीन उच्च वर्णों की नारी शूद्र से व्यभिचार कराकर गर्भिणी हो जाय या गर्भपात करा ले या पति की हत्या का प्रयत्न करे या महापाप (ब्रह्म-हत्या, सुरापान आदि) करे तो उसे त्याग देना चाहिए। मनु (९।१८८) ने व्यवस्था दी है कि यदि स्त्री पतित हो जाय तो **घटस्फोट** कराना चाहिए। किन्तु उसे भोजन-वस्त्र मिलना चाहिए और कुल-गृह के पास एक झोपड़ी में उसे रखना चाहिए। यही बात याज्ञ० (३।२९६) ने भी कही है। इन सबको प्रायश्चित्त कर लेने के उपरान्त सामाजिक सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं। देखिए मनु (११।१८९) एवं मिताक्षरा (याज्ञ० १।७२)।

याज्ञवल्क्य (३।२९७) के मत से स्त्रियों के विषय में तीन विशिष्ट महापातक हैं; नीच जाति से व्यभिचार कराना, गर्भपात कराना एवं पति-हत्या का प्रयत्न करना। मिताक्षरा ने इस उक्ति की व्याख्या करते हुए निम्न बातें कही हैं—"(१) वसिष्ठ (२१।१०) द्वारा व्यवस्थित दण्ड-विधि (अर्थात् चार महापातकों के कारण स्त्री का पूर्ण

त्याग हो जाता है) तभी कार्यान्वित होती है जब स्त्री प्रायश्चित्त नहीं करती; (२) व्यभिचार कराने पर (जब कि वह बहुत घृणित न हो, जैसा कि वसिष्ठ० २१।१० में उल्लिखित है) स्त्री को केवल उतना ही भोजन दिया जाना चाहिए जिससे कि वह जीवित रह सके और उसे घर के पास किसी झोपड़ी में सुरक्षित रखना चाहिए (याज्ञ० १।७० एवं ३।२९६), भले ही वह आवश्यक प्रायश्चित्त न करे। किन्तु मिताक्षरा उस विधवा के भरण-पोषण के विषय में मौन है, जिसने पहले व्यभिचार का जीवन व्यतीत किया किन्तु आगे चलकर जिसने अपना जीवन सुधार लिया। किन्तु मनु (११।१८९) के कथन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उस विधवा को, जिसने घृणित व्यभिचार न किया हो, आगे चलकर जिसने उचित प्रायश्चित्त कर लिया हो और जो अब अनिन्दित जीवन व्यतीत कर रही हो, साधारण भरण-पोषण का अधिकार मिल सकता है।

आरम्भिक काल से ही तीन उच्च जातियों के व्यक्तियों द्वारा शूद्रा रखैल से उत्पन्न अवैधानिक संतानों के भरण-पोषण का अधिकार स्वीकृत रहा है। गौतम (२८।३७) का कथन है--"किसी व्यक्ति की शूद्रा नारी से उत्पन्न पुत्र को, यदि वह सन्तानहीन हो एवं आज्ञाकारी हो, भरण-पोषण उसी प्रकार मिलना चाहिए जैसा कि शिष्य को मिलता है।" यही बात गौतम (२८।४२) ने प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न संतानों के लिए भी कही है। मनु (९।१५५) ने उस पुत्र को, जो तीन उच्च वर्णों के पुरुष की अविवाहिता शूद्रा से उत्पन्न हुआ है, पैतृक सम्पत्ति के भाग का अधिकारी नहीं माना है। बृहस्पति का कथन है कि यदि पुत्रहीन व्यक्ति को शूद्रा से अपना पुत्र हो तो उसे भरण-पोषण मिलना चाहिए, किन्तु मृत की सम्पत्ति सपिण्डों को मिल जाती है। मिताक्षरा एवं व्य० मयूख ने याज्ञ० (२।१३३-१३४) की व्याख्या में कहा है कि दासी शूद्रा से उत्पन्न अवैधानिक पुत्र को पिता की इच्छा से या मरने के उपरान्त भी आधी सम्पत्ति नहीं मिलनी चाहिए, उसे केवल भरण-पोषण का अधिकार प्राप्त होता है।

उपर्युक्त कथन के विषय में बहुत से आधुनिक निर्णय हैं, किन्तु हम उनका विवेचन यहाँ नहीं करेंगे। भरण-पोषण का अधिकार लोकप्रसिद्ध पिता की (जिससे अवैधानिक पुत्र उत्पन्न होता है) पृथक् सम्पत्ति पर ही सर्वप्रथम निर्भर है, किन्तु यदि पिता संयुक्त परिवार के सदस्य के रूप में ही मत हो जाता है तो उसके अवैधानिक पुत्र को संयुक्त सम्पत्ति में से भरण-पोषण का अधिकार मिलता है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि स्त्री दासी हो या स्थायी रूप से रखैल (उपपत्नी) हो। संभोग-सम्बन्ध व्यभिचार का द्योतक हो तब भी आजकल उससे उत्पन्न पुत्र को भरण-पोषण मिलता है। अवैधानिक पुत्र का भरण-पोषण-सम्बन्धी अधिकार व्यक्तिगत होता है, उसका स्थानान्तरण उसके पुत्र को नहीं होता। इतना ही नहीं, भरण-पोषण का अधिकार मृत्यु पर्यन्त रहता है, न कि बालिग होने तक। किन्तु बंगाल में दूसरा ही कानून है। स्मृति-वचनों में 'शूद्रापुत्र' शब्द पुंल्लिग है अतः वहाँ भरण-पोषण-सम्बन्धी हिन्दू व्यवहार में अवैधानिक पुत्री को भरण-पोषण का अधिकार नहीं प्राप्त रहा है।

हिन्दू व्यवहार के अन्तर्गत रखैल के भरण-पोषण-सम्बन्धी अधिकार के विषय में बहुधा विवाद चलते रहे हैं। ऐसा निर्णय होता रहा है कि रखैल को अपने प्रेमी के रहते भरण-पोषण प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि वह उसे कभी भी छोड़ सकता है और वह अपने को रखने के लिए उसे बाध्य नहीं कर सकती। अपने जीवन-काल में कोई हिन्दू संयुक्त परिवार का धन उसके लिए नहीं स्थानान्तरित कर सकता। किन्तु जब रखैल अपने प्रेमी के साथ उसके जीवन भर रह जाय तो उसे भरण-पोषण मिलने का पूर्ण अधिकार रहता है, अर्थात् जो लोग मृत प्रेमी का दायांश या स्वार्जित सम्पत्ति प्राप्त करते हैं उन्हें वैसी रखैल के लिए प्रबन्ध करना पड़ता है। नारद एवं कात्यायन के वचन इस विषय में प्रामाणिक रहे हैं। नारद (दायभाग, ५२) का कथन है--"धर्मपरायण राजा को चाहिए कि वह मृत व्यक्ति की स्त्री के भरण-पोषण का प्रबन्ध करे (जब कि राजा को किसी का धन प्राप्त होता है, किन्तु मृत ब्राह्मण पुरुष के विषय में ऐसी बात नहीं है)।" कात्यायन (९३१) की उक्ति है--"उत्तराधिकारहीन सम्पत्ति राजा को

प्राप्त होती है, किन्तु उसे पोष्य स्त्रियों, नौकर-चाकरों के भरण-पोषण, अन्त्येष्टि-क्रिया एवं श्राद्ध-कर्म के व्यय के लिए प्रबन्ध कर देना होता है।"[३] कौटिल्य (३।५, पृ० १६१) ने भी ऐसा ही कहा है--"श्रोत्रियों की सम्पत्ति छोड़कर अन्य उत्तराधिकारहीन व्यक्तियों की सम्पत्ति को राजा ले लेता है, किन्तु मृत व्यक्तियों की स्त्रियों, अन्त्येष्टि-क्रिया एवं दरिद्र आश्रितों की जीविका के लिए धन छोड़ देना पड़ता है।"[४] मिताक्षरा, व्य०मयूख, परा० मा० आदि ने नारद एवं कात्यायन की उक्तियों में 'योषित' एवं 'स्त्री' शब्दों को **अवरुद्धा स्त्री** के अर्थ में लिया है, क्योंकि 'पत्नी' (नियमानुकूल विवाहित स्त्री) शब्द वहाँ नहीं आया है। **अवरुद्धा स्त्री** के अर्थ को लेकर निर्णीत विवादों में बड़ी विभिन्नता रही है। इसे उस स्त्री के अर्थ में सामान्यतः प्रयुक्त किया गया है जो व्यक्ति की मृत्यु तक रखैल रूप में रहती है। ऐसी रखैलों को भरण-पोषण के अधिकार की प्राप्ति के लिए प्रेमी की मृत्यु के उपरान्त सदाचारिणी रहना परमावश्यक ठहराया गया है। उन्हें कुछ निर्णयों द्वारा स्पष्ट रूप से रखैल के रूप में प्रेमी के घर में रहना भी आवश्यक ठहराया गया है, किन्तु प्रिवी कौंसिल ने इसे आवश्यक नहीं समझा है। रखैल का अपना पति भी हो सकता है। इन निर्णयों में विभेद भी रहा है। मिताक्षरा ने याज्ञ० (२।२९०) की व्याख्या में (जहाँ यह आया है कि 'उस व्यक्ति को ५० पण दण्ड रूप में देने पड़ते हैं जो **अवरुद्धा** दासियों या **भुजिष्या** दासियों तथा अन्यों अर्थात् **वेश्या** या **स्वैरिणी** के साथ संभोग करते हैं, यद्यपि सामान्यतः दासियों आदि से संभोग करने पर दण्ड नहीं मिलता) तीन प्रकार की नारियों, यथा--**अवरुद्धा** एवं **भुजिष्या** दासी, **वेश्या** एवं **स्वैरिणी** (जो अपने पति को छोड़कर अन्य को ग्रहण करती है) के साथ संभोग करने पर एक ही प्रकार का दण्ड लगाया गया है। देखिए याज्ञ० (१।६७)। नवीन वेश्या एवं स्वैरिणी भी रखैल के रूप में रखी जा सकती हैं। अतः यदि कोई अन्य उनके साथ संभोग करता है तो वह दण्डित होता है। मिताक्षरा ने **अवरुद्धा** दासी को उस दासी के अर्थ में लिया है जो अपने स्वामी को छोड़कर किसी अन्य व्यक्ति से संभोग नहीं कर सकती, और जो स्वामी के घर में ही रहती है। मिताक्षरा के मत से **भुजिष्या** दासी वह है जो कुछ निश्चित व्यक्तियों के विषय-भोग के लिए ही नियन्त्रित हो (पुरुषनियुक्त-परिग्रहा भुजिष्या)। **अवरुद्धा** एवं **भुजिष्या** में विशेष अन्तर यह है कि प्रथम स्वामी के घर में रहती है और वह उसी से संभोग कर सकती है, किन्तु दूसरी स्वामी के अतिरिक्त अन्य निश्चित लोगों (यथा--मित्र या कुल के अन्य लोगों) के साथ भी संभोग कर सकती है और उसके लिए घर में ही रहना आवश्यक नहीं है। यह व्याख्या मिताक्षरा की टीका में है न कि निबन्ध में।

आजकल संयुक्त परिवार की विधवा के उसी घर में रहने के अधिकार के विषय में, मृत पति के स्वत्वहीन पिता से तथा श्वशुर के उत्तराधिकारियों से प्राप्त होनेवाले पतोहू के अधिकार के विषय में, विधवा की जीवन-वृत्ति की यात्रा के विषय में, जीवन-वृत्ति (भरण-पोषण) के अवशिष्टांश की प्राप्ति आदि के विषय में बहुत-से निर्णीत विवाद पाये जाते हैं। किन्तु इस ग्रन्थ से उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वे स्मृतियों एवं निबन्धों के आधार पर निर्णीत नहीं हुए हैं।

३. अन्यत्र ब्राह्मणात् किन्तु राजा धर्मपरायणः। तत्स्त्रीणां जीवनं दद्यादेष दायविधिः स्मृतः॥ नारद (दायभाग, ५२); मिताक्षरा (याज्ञ० २।११४) एवं परा० मा० (३, पृ० ५३५) ने इसे उद्धृत किया है। अदायिकं राजगामि योषिद्भृत्यौर्ध्वदेहिकम्। अपास्य श्रोत्रियद्रव्यं श्रोत्रियेभ्यस्तदर्पयेत्॥ कात्यायन (मिता० याज्ञ० २।११४; परा० मा० ३, पृ० ५३५; व्य० म० पृ० १३९)।

४. अदायादकं राजा हरेत् स्त्रीवृत्ति-प्रेत-कदर्यवर्जमन्यत्र श्रोत्रियद्रव्यात्। तत् त्रैविद्येभ्यः प्रयच्छेत्। कौ० (३।५, पृ० १६१)।

प्राचीन १८ **न्याय-विषयों (पदों)** में अन्तिम **व्यवहारपद है प्रकीर्णक,** जिसे विष्णुधर्मसूत्र (४२।१) ने यों कहा है--"यदनुक्तं तत्प्रकीर्णकम्।" इसे नारद ने उन विषयों के अन्तर्गत रखा है जिन्हें राजा अपनी ओर से उद्भावित करता है। इसके विषय में हमने पहले ही विवेचन कर लिया है।

व्यवहार के इस परिच्छेद में हम **इच्छापत्र** या संकल्पों (विलों) के विषय में भी कुछ लिख देना उचित समझते हैं। प्राचीन भारत में संयुक्त परिवार एवं दत्तक-प्रथा के कारण इच्छापत्र या वसीयतनामे के व्यवस्थापन की परम्परा न चल सकी। कौटिल्य, बृहस्पति, कात्यायन आदि ने लेख्यपत्रों (डाकूमेण्टों) के प्रकारों में कोई ऐसा लेख्य नहीं प्रस्तुत किया जिसे हम आधुनिक शब्द 'विल' के अर्थ में ले सकें। किन्तु ऐसी बात नहीं है कि अंग्रेजों के आगमन के पूर्व इस प्रकार की भावना का उदय लोगों के मन में नहीं हुआ था। मुसलमानों में यह प्रथा थी और उनके सम्बन्ध से इस भावना का उदय होना स्वाभाविक था। मरते समय व्यक्ति मौखिक या लिखित रूप में अपने उत्तराधिकारियों से सम्पत्ति के विषय में कुछ अवश्य कहता था। आठवीं शताब्दी के प्रथम भाग में कश्मीर के राजा ललितादित्य ने राजनीतिक **इच्छापत्रता** का परिचय दिया था, ऐसा राजतरंगिणी के श्लोकों (३४१-३५९) से झलकता है। कात्यायन (५६६) ने आधुनिक 'विल' की भावना की ओर संकेत किया है--"यदि धार्मिक कृत्य के लिए कोई व्यक्ति स्वस्थ रूप में या आर्त (रोगी) के रूप में दान करने का वचन देता है तो उसे बिना दिये उसके मर जाने पर पुत्र को उसे देना चाहिए।"[5] यहाँ केवल इच्छा की घोषणा मात्र पुत्र या उत्तराधिकारी के लिए मान्य ठहरायी गयी है। इस विषय में देखिए नाटो बाबाजी का पत्र (भारत-इतिहाससंशोधक मण्डल, पूना, जिल्द २०, पृ० २१०) जिसमें मृत्यु-पत्र या इच्छापत्र का परिचय मिलता है, यथा--अन्त्येष्टि-क्रिया, श्राद्ध के व्यय, पतोहू की व्यवस्था, एक अन्य विधवा की व्यवस्था, सम्बन्धियों के पुत्रों के विवाह एवं सम्पत्ति के शेषांश के विभाजन के विषय में सब कुछ वर्णित है।

ब्रिटिश राज्य के न्यायालयों के समक्ष आनेवाले इच्छापत्रों में कुख्यात अमीचन्द का मृत्यु-पत्र अपना विशेष महत्त्व रखता है। बंगाल रेग्यूलेशन ऐक्ट ११ (१७९३) ने ज्येष्ठ पुत्र या आगे के उत्तराधिकारी या किसी अन्य पुत्र या उत्तराधिकारी या किसी एक व्यक्ति या कई व्यक्तियों के लिए **इच्छापत्र** से अधिकार की प्राप्ति की आज्ञा दे दी है। बम्बई के एक विवाद में सन् १७८९ ई० में इस विषय में छूट दे दी गयी। बम्बई के रेकर्डर न्यायालय के एक पण्डित ने सन् १८१२ ई० में यह कह डाला कि शास्त्रों में 'विल' की कोई व्यवस्था नहीं है, अतः ऐसा नहीं किया जाना चाहिए। हम इस ग्रन्थ में इसके विषय में और कुछ नहीं लिखेंगे।

५. स्वस्थेनार्तेन वा देयं श्रावितं धर्मकारणात्। अदत्त्वा तु मृते दाप्यस्तत्सुतो नात्र संशयः।। कात्या० (अपरार्क पृ० ७८२; वि० चि० पृ० १६; व्य० म० पृ० २०६)।

सदाचार

अध्याय ३२

परम्पराएँ एवं आधुनिक परम्परागत व्यवहार

गौतम एवं उनके पश्चात्कालीन बहुत से लेखकों ने धर्म के उद्गमों के विषय में विचार किया है।[1] गौतम (१।१-२) का कथन है--"वेद धर्म का मूल (उद्गम) है और वेदज्ञों का शील (या व्यवहार) एवं परम्पराएँ (या स्मृतियाँ) भी (मूल) हैं।" इसी प्रकार आप० ध० सू० (१।१।१।१-२) ने कहा है--"हम सामयाचारिक धर्मों (परम्पराओं एवं आचार-रीतियों से उद्भावित कर्मों) की व्याख्या करेंगे; (धर्मों की जानकारी के लिए) धर्मज्ञों एवं वेदज्ञों के आचरण (परम्पराएँ, व्यवहार या रीतियाँ) प्रमाण हैं।" वसिष्ठ (१।४-७) ने व्यवस्था दी है--"धर्म की घोषणा वेद एवं स्मृतियाँ करती हैं (धर्म श्रुति-स्मृतिविहित है); इनके अभाव में (धर्म क्या है इसकी जानकारी के लिए) शिष्टों का आचार ही प्रमाण है; शिष्ट वे हैं जिनका हृदय (सांसारिक) इच्छाओं से रहित हो और शिष्टों के वे कर्म धर्म हैं जिनके पीछे कोई (लौकिक) कारण या वृत्ति न निहित हो।"[2] मनु (२।६) एवं याज्ञ० (१।७) ने घोषित किया है कि वेद (श्रुति), स्मृति एवं शिष्टों का आचार धर्म के प्रमुख मूल हैं। इन ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्द 'शील', 'समय', 'आचार' या 'सदाचार' या 'शिष्टाचार' (अन्तिम तीनों का एक ही अर्थ है) विचारणीय हैं। आपस्तम्ब ने 'समय' एवं 'आचार' दोनों शब्दों का व्यवहार किया है, जिनमें 'समय' का सम्भवतः अर्थ है 'समझौता या परम्परा या प्रयोग', और 'आचार' का अर्थ है 'व्यवहार या रीति'। 'परम्परा' (कस्टम) में प्राचीनता की झलक है, किन्तु 'प्रयोग' अथवा 'रीति' में ऐसी बात नहीं है। 'प्रयोग' अथवा 'रीति' कुछ दिनों पूर्व से प्रचलित हो सकती है, या वह कुछ लोगों के दल के समझौते के रूप में हो सकती है, यथा व्यापारियों आदि का कोई नियम, रीति या समझौता। अब हमें यह देखना है कि धर्म के मूल के रूप में 'आचार' या 'शिष्टाचार' या 'सदाचार' का क्या तात्पर्य है। इन शब्दों के अर्थ की ओर आपस्तम्ब एवं वसिष्ठ द्वारा प्रयुक्त 'प्रमाण' से संकेत मिल जाता है। जिस प्रकार वेद एवं स्मृतियाँ धर्म के विषय में

१. वेदो धर्ममूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले। गौ० (१।१-२); अथातः सामयाचारिकान्धर्मान् व्याख्यास्यामः। धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च। आप० ध० सू० (१।१।१।१-३); श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्। शिष्टः पुनरकामात्मा। अगृह्यमाणकारणो धर्मः। वसिष्ठ० (१।४-७); श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥ याज्ञ० (१।७); वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥ मनु (१।६)।

२. शिष्टों की विशेषताओं के विषय में देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अध्याय २८, जहाँ बौधा० ध० सू०, मनु, मत्स्यपुराण आदि की उक्तियों की चर्चा की गयी है। तैत्ति० सं० (१।११) ने सम्भवतः सर्वप्रथम 'शिष्ट' की परिभाषा दी थी।

प्रामाणिकता उत्पन्न करती हैं, उसी प्रकार जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों में वास्तविक धर्म की खोज में शिष्टों के व्यवहार हमें आवश्यक कसौटी प्रदान करते हैं, अर्थात् शिष्टों के आचार से यह प्रकट हो जाता है कि हमारा कार्य शास्त्र-विहित है कि नहीं। प्राचीन लेखकों का यह सिद्धान्त था कि स्मृतियाँ वेदों के उन भागों पर आधारित हैं जो पहले थे किन्तु अब नहीं प्राप्त होते, उसी प्रकार शिष्टों के आचार भी वेदों के उन भागों पर आधारित हैं जो अब नहीं उपलब्ध हैं। देखिए आप० ध० सू० (१।४।१२।८, १०-१३), मनु (२।७)। शिष्टों के सभी व्यवहार धर्म के लिए प्रमाण नहीं हैं, यथा--उनके वे कार्य जो उनके लाभ या आनन्द के फलस्वरूप होते हैं, प्रमाण नहीं माने जा सकते। मनु (२।१८) ने ब्रह्मावर्त देश के चारों वर्णों एवं वर्णसंकरों में पीढ़ियों से चली आती हुई परम्पराओं के अन्तर्गत सदाचार को निहित मान रखा है। किन्तु बहुत-से लेखकों ने सदाचार को इस प्रकार सीमित नहीं ठहराया है।

अब हम धर्म के **मूलों** या **प्रमाणों** तथा धर्म के **स्थानों** के अन्तर के विषय में लिखेंगे (याज्ञ० १।३ एवं ७)।[3] धर्म के **मूल (प्रमाण) ज्ञापक** हेतु कहे जाते हैं, क्योंकि वे 'धर्म क्या है' के विषय में बतलाते हैं, किन्तु **स्थान** को धर्म-विवेचक लोग सहायक हेतु के रूप में मानते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वेद एवं स्मृतियों के अतिरिक्त अन्य विद्याएँ सीधे रूप से धर्म की मूल नहीं हैं, प्रत्युत वे मध्यस्थता का कार्य करती हैं। यह अन्तर बहुत प्राचीन है, क्योंकि गौतम (११।१९) ने भी कहा है कि राजा को न्याय-शासन में वेद, धर्मशास्त्रों, अंगों (सहायक विद्याओं), उपवेदों एवं पुराण से सहायता मिलती है।[4]

स्मृतियों एवं परम्पराओं की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में पूर्वमीमांसा की स्थिति की विस्तृत विवेचना आवश्यक है। जैमिनि (१।३।१-२) ने विचार किया है कि क्या इस प्रकार की स्मृति-उक्तियाँ, यथा--'अष्टका-श्राद्ध करना चाहिए'[5] या 'तालाब बनवाना चाहिए' या 'प्रपा' (पौसरा) का निर्माण करना चाहिए' या '(गोत्र के अनुसार) सिर पर शिखा रखनी चाहिए', प्रामाणिक हैं? और अन्त में निष्कर्ष निकाला गया है कि ये उक्तियाँ प्रामाणिक हैं, क्योंकि ये उन्हीं लोगों के प्रति सम्बोधित हैं जो इनके अनुसार (वेद के अनुयायी होने के कारण) कर्म करते हैं। तात्पर्य यह है कि जो लोग वेदविहित कार्य करते हैं वे मनु आदि की स्मृतियों के वचनों का भी पालन करते हैं, अर्थात् जो वेद को जानते हैं वे स्मृतियों को भी प्रामाणिक मानते हैं और उनके अनुसार चलते हैं। मेधातिथि (मनु २।६) ने भी ऐसा ही कहा है। शबर ने व्याख्या करते हुए कहा है कि वेदों में भी ऐसी उक्तियाँ हैं जो स्मृतियों के वचनों की ओर संकेत करती हैं, यथा--वैदिक वचन 'यां जनाः' **अष्टका** का, ऋग्वेद (१०।४।१) **प्रपा** का एवं ऋग्वेद (६।७५।१७) शिखा का द्योतक है।[6] किन्तु इस कथन का विरोध यह कहकर उपस्थित किया जा सकता है--स्मृतियाँ मनुष्य-कृत (पौरुषेय) हैं, अतः धर्म के विषय में उनका स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, क्योंकि मनुष्य झूठी या त्रुटिपूर्ण बात भी कह सकता है, और यदि यह कहा जाय कि स्मृतियाँ वही कहती हैं जो वेद द्वारा कहा गया है, तो उनका कहना पुनरुक्तता

३. पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्रांगमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥ याज्ञ० (१।३)।

४. तस्य च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गान्युपवेदाः पुराणम्। गौ० (११।१९)।

५. अष्टका श्राद्धों के लिए देखिए आश्वलायनगृह्यसूत्र (२।४।१); शांखायनगृह्यसूत्र (३।१२-१४); पारस्करगृह्यसूत्र (३।३)

६. तालाब, प्रपा आदि के लिए देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अध्याय २६ एवं चौल में शिखा के लिए देखिए खंड २, अध्याय ६।

एवं व्यर्थता का द्योतक है। यदि वे वेद नहीं हैं तो उनका तिरस्कार होना चाहिए, अर्थात् वे अनपेक्ष हैं। इस विरोध का उत्तर यह है––स्मृतियाँ सामान्यतः प्रामाणिक हैं, क्योंकि मनु जैसे वेदानुयायी मनुष्यों द्वारा प्रणीत हैं और वेदों पर आधारित हैं, क्योंकि उन्होंने जो कुछ कहा है वह पीढ़ियों से शिष्टों द्वारा मान्य ठहराया गया है, अतः वेद को उनका मूल कहना सम्भव है। एक सिद्धान्त यह है कि स्मृतियों की बातें श्रुति-वचनों में भी रही होंगी। कुमारिल ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया है। यथा––

अनुमान प्रत्यक्ष एवं व्याप्ति ज्ञान पर आधारित होता है। स्मृतियों एवं श्रुतियों के वचनों में कोई व्याप्य-व्यापकता नहीं है अतः कोई अनुमान निकालना सम्भव नहीं, क्योंकि ऐसा करना अन्ध-परंपरा मात्र है। मनु ने अपनी स्मृति का लेखन अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा वेद पर आधारित कर्मों के सहारे ही किया होगा। पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुसरण किया होगा। अतः यह अनुमान अन्ध-परम्परा का ही द्योतक है। इतना ही नहीं, इस प्रकार का अनुमान प्रत्यक्षीकरण के विरोध में पड़ता है, क्योंकि वास्तव में सैकड़ों श्रुति-वचन ज्ञात हैं, जो स्मृतियों की संगति में बैठ सकते हैं। एक अन्य दृष्टिकोण (जिसे कुमारिल ने पूर्ववर्ती दृष्टिकोण से अच्छा माना है) यह है कि वे वैदिक वचन, जो स्मृतियों के आधार थे, संप्रति लुप्त (उत्सन्न या प्रलीन) हो गये हैं। इस दृष्टिकोण के समर्थन में कुछ वैदिक वचन, यथा 'अनन्ता वै वेदाः' (तै० सं० ३।१०।११ एवं आ० ध० सू० १।४।१२।१०) मिल जाते हैं। किन्तु तन्त्रवार्तिक एवं अधिकांश मीमांसकों को यह दृष्टिकोण अग्राह्य है।

इस दूसरे दृष्टिकोण के विषय में विरोध इस प्रकार प्रकट किया जाता है––बौद्ध आदि अनीश्वरवादी शाखाओं द्वारा भी यह कहा जा सकता है कि उनके वचन भी उन वैदिक वचनों पर आधारित हैं, जो अब लुप्त हो गये हैं। अतः कोई भी अपने सिद्धान्त की प्रामाणिकता यह कहकर सिद्ध कर सकता है कि वह लुप्त वैदिक वचनों पर आधारित है। यदि ऐसा मान लिया जाय तो मीमांसा का यह कथन कि वेद नित्य है, झूठा पड़ जायगा (क्योंकि वैसा मानने से वेद के कुछ अंश अनित्य सिद्ध हो जायँगे)। उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों में विशिष्ट अन्तर नहीं है। अतः कुमारिल ने यह तीसरा दृष्टिकोण उपस्थित किया है––स्मृतियाँ उन वैदिक वचनों पर आधारित हैं जो आज भी पाये जाते हैं। किन्तु यह दृष्टिकोण भी भ्रामक है, क्योंकि स्मृतियों के वचनों का वैदिक मूल प्राप्त करना सम्भव नहीं है और ऐसा कहना कि वैदिक शाखाएँ बहुत-सी हैं, वे चारों ओर बिखरी पड़ी हैं, वेदानुयायी असावधान हैं, वे घूम-घूमकर वचनों की खोज नहीं करते (तन्त्रवार्तिक, जैमिनि १।३।२); केवल बातों का विस्तारवादी दृष्टिकोण है। स्मृति-वचनों के आधार श्रुति-वचन स्मृतियों में ही क्यों नहीं पाये जाते? इस प्रश्न के उत्तर में कुमारिल कहते हैं कि ऐसा करने से श्रुति-वचनों के सम्यक् संगठन में गड़बड़ी हो जाती, उनके परम्परागत स्वरूप का ह्रास हो जाता। वेद मुख्यतया यज्ञों की चर्चा करते हैं, हाँ, कहीं-कहीं उनमें मानवाचार सम्बन्धी नियम भी पाये जाते हैं। अतः यदि वेद के वचन स्मृतियों में रखे जाते तो उनके मौलिक स्वरूप में भेद पड़ जाता। विश्वरूप (याज्ञ० १।७) ने कुमारिल की उपर्युक्त उक्ति उद्धृत की है और कहा है कि स्मृतियों के सहस्रों नियमों का स्रोत वेद में मिलता है। मेधातिथि (मनु २।६) ने इस विषय में सविस्तर विवेचन किया है और अपने स्मृतिविवेक ग्रन्थ से कतिपय श्लोक उद्धृत किये हैं। उन्होंने प्रथम के दो दृष्टिकोणों को अमान्य ठहराकर कुमारिल के दृष्टिकोण को उत्तम माना है। मीमांसकों एवं मेधातिथि जैसे टीकाकारों ने कहा है कि मनु एवं अन्य स्मृतिकारों ने उन वैदिक वचनों को, जो इतस्ततः बिखरे पड़े हैं या जिन्हें कतिपय शाखाओं के विद्यार्थी नहीं जानते या जिन्हें साधारण एवं दुर्बल बुद्धि के लोग एक स्थान पर नहीं ला सकते, सरलता से समझ में आ जाने के लिए एकत्र कर दिया है।

स्मृतियों की प्रामाणिकता की सिद्धि के उपरान्त एक अन्य प्रश्न उठ खड़ा होता है––जब कोई स्मृति-नियम वेद-वाक्य के विरोध में पड़ जाय तो क्या होगा? जैमिनि (१।३।३।४) ने इस प्रश्न का विवेचन किया है। शबर ने

इस प्रकार के विरोध के विषय में तीन उदाहरण दिये हैं--वेदोक्ति है; 'पुरोहित को औदुम्बर स्तम्भ छूकर स्तोत्र पढ़ना चाहिए', किन्तु स्मृति-कथन यह है कि औदुम्बर स्तम्भ कपड़े से पूर्णतः ढँका रहना चाहिए। वेदोक्ति है; 'जिसको पुत्रोत्पत्ति हुई हो और जिसके बाल अभी काले हों उसे अग्निहोत्र आरम्भ करना चाहिए', किन्तु स्मृति की उक्ति यों है कि अड़तालीस वर्षों तक वैदिक अध्ययन-व्रत करना चाहिए। वेदोक्ति है; 'जब अग्निषोमीय कृत्य समाप्त हो जाय तो यजमान के घर भोजन न करना चाहिए', किन्तु स्मृति-वाक्य यह है कि सोम लता के क्रय के उपरान्त यज्ञ के लिए दीक्षित व्यक्ति के यहाँ भोजन करना चाहिए। इस विषय में जैमिनि का कथन है कि जब विरोध उपस्थित हो जाय तो स्मृति-वचन का तिरस्कार कर देना चाहिए और जब कोई विरोध न प्रकट हो तथा वैसा वचन श्रुति में न पाया जाय तो ऐसा अनुमान लगाना चाहिए कि वह वचन किसी वैदिक वचन पर आधारित है। कुमारिल ने शबर के उदाहरणों की समीक्षा की है और निर्णय किया है कि अन्य उक्तियों से इन उदाहरणों का कोई भेद नहीं प्रकट होता। उन्होंने इस विरोध को दूर करने का प्रयत्न किया है। हम स्थानाभाव से इस विवेचन के विस्तार में नहीं पड़ेंगे।

शबर (जैमिनि १।३।४) ने कहा है कि वेद-वचनों के विरोध में जो तीन स्मृति-वचन दिये गये हैं वे प्रामाणिक नहीं हैं, क्योंकि उनके पीछे लौकिक वृत्ति (लोभ आदि) की सिद्धि सम्भव है। जब किसी स्मृति-वचन के पीछे कोई स्पष्ट वृत्ति प्रकट हो जाय तो उस वचन के लिए वेद का आधार ढूँढ़ना अनुचित है। शबर ने आधुनिक समालोचक के समान पुरोहितों के दोषों को देखा है। कुछ पुरोहितों ने औदुम्बर स्तम्भ को वस्त्र से पूर्णतः इसलिए ढँक दिया कि उन्हें लम्बा वस्त्र दक्षिणारूप में प्राप्त हो जायगा, कुछ पुरोहितों ने सोम-क्रय के उपरान्त ही दीक्षित यजमान के यहाँ भूख के कारण निःशुल्क भोजन पाने की व्यवस्था कर दी (यह भी उनके लोभ का द्योतक है) तथा कुछ लोगों ने अपने अपौरुष (नपुंसकता) को छिपाने के लिए ४८ वर्षों तक वेदाध्ययन की व्यवस्था कर दी।[७] तन्त्रवार्तिक ने प्रयत्न करके सिद्ध करना चाहा है कि इन उदाहरणों में लोभ जैसी स्पष्ट वृत्ति नहीं पायी जाती (पृ० १८८-१८९)।

शबर (जैमिनि १।३।४) ने जो व्याख्या की है उसका तात्पर्य यह है कि जो स्मृति-नियम श्रुति-नियमों के विरोध में पड़ते हैं तथा जिन स्मृति-वचनों में लौकिक वृत्ति की झलक है वे न तो प्रामाणिक ही हैं और न उनके अनुसार चलना आवश्यक ही है, किन्तु स्मृति के अन्य नियम प्रामाणिक हैं।

उपर्युक्त विवेचन से धर्मशास्त्रों में उल्लिखित एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की झलक मिल जाती है। वह सिद्धान्त यह है--"जब किसी नियम या आदेश के विषय में कोई स्पष्ट वृत्ति या उद्देश्य प्रकट हो जाता है तो उसके लिए कोई अलौकिक कारण बताना अनुचित है।" यह सिद्धान्त आप० ध० सू० (१।४।१२।१२) के निम्न वचन से प्राचीन है--"जब व्यक्ति कोई कार्य इस लिए करते हैं कि वैसा करने से उन्हें आनन्द मिलता है, तो वहाँ शास्त्र की बात ही नहीं उठती।" शबर ने भी कहा है--'उन स्मृति-नियमों की प्रामाणिकता उसी उद्देश्य पर निर्भर रहती है जिसके लिए वे बने हुए हैं, किन्तु जिन नियमों के पीछे कोई स्पष्ट उद्देश्य नहीं होता, वे वेद पर आधारित होते हैं (अर्थात् उनकी प्रामाणिकता उसी पर निर्भर है)।' कुल्लूक (मनु ३।७) ने शबर के इन शब्दों को उद्धृत किया है--'मनु का कथन है कि जिस कुल में संस्कारों का तिरस्कार हो, जहाँ पुरुष-संतान न उत्पन्न होती हों, जहाँ वेदाध्ययन न होता हो, जिसके सदस्यों के शरीर पर लम्बे-लम्बे बाल हों, और जो अर्श, यक्ष्मा, मंदाग्नि, अपस्मार (मिर्गी), कृष्ण एवं श्वेत कुष्ठ

७. हेतुदर्शनाच्च। जै० (१।३।४); लोभाद्वास आदित्समाना औदुम्बरीं कृत्स्नां वेष्टितवन्तः केचित्। तत्स्मृतेर्बीजम्। बुभुक्षमाणाः केचित् क्रीतराजकस्य भोजनमाचरितवन्तः। अपुंस्त्वं प्रच्छादयन्तश्चाष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरितवन्तः। तत एषा स्मृतिरवगम्यते। शबर।

जैसे रोगों से पीड़ित हो, उस कुल की कन्या अथवा वैसे रोगों वाली कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए।' कुल्लूक का कहना है कि आयुर्वेद के मत से ऐसे रोग वंशानुक्रमी हैं और यदि इस प्रकार की किसी लड़की से विवाह किया जाय तो उसके वंशज उसके रोगों से पीड़ित हो जायँगे, अतः ऐसा प्रतिबन्ध स्पष्ट मानसिक वृत्ति पर आधारित समझा जायगा। इस कथन से धर्मशास्त्रकारों ने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला है——यदि कोई व्यक्ति कोई धार्मिक कृत्य करते हुए या किसी विषय में संलग्न रहते हुए किसी ऐसे नियम का उल्लंघन करता है जिसके पीछे कोई लौकिक उद्देश्य हो, तो वह कृत्य या विषय अवैधानिक या अपूर्ण नहीं सिद्ध होगा, किन्तु जब कोई ऐसा नियम, जो पारलौकिक उद्देश्य पर आधारित हो, न माना जाय अथवा जब उसका अतिक्रमण किया जाय तो तत्संबंधी कार्य अवैधानिक एवं व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। याज्ञ० (१।५२ एवं ५३) ने व्यवस्था दी है कि निर्वाचित वधू असाध्य रोगों से रहित होनी चाहिए, उसका कोई जीवित भाई होना चाहिए, उसे वर की सपिंड नहीं होना चाहिए और न सगोत्र या सप्रवर होना चाहिए; इस कथन की व्याख्या मिताक्षरा ने इस प्रकार की है——यदि कोई व्यक्ति असाध्य रोग से पीड़ित कन्या से शादी करता है तो विवाह वैधानिक माना जायगा, केवल यही समझा जायगा कि उसने दृष्ट परिणामों (अर्थात् उसके लड़के रोगों से पीड़ित होंगे, यह जानकर भी वह ऐसा करता है) की चिन्ता नहीं की, किन्तु यदि वह किसी सपिंड या सगोत्र या सप्रवर कन्या से विवाह करता है तो वह विवाह न तो वैधानिक माना जायगा और न वह कन्या वैधानिक पत्नी मानी जायगी। सपिंड या सगोत्र कन्या से विवाह न करने के प्रतिबन्ध के साथ कोई अति स्पष्ट उद्देश्य नहीं सम्बन्धित किया जा सकता; अतः इस प्रतिबन्ध के पीछे कोई आध्यात्मिक अथवा पारलौकिक उद्देश्य होगा और इसलिए यदि कोई इसका अतिक्रमण करता है तो तत्संबंधी कार्य (विवाह) अवैधानिक सिद्ध हो जाता है।

कुमारिल के तंत्रवार्तिक ने इस विवेचन के विषय में एक बड़ी लम्बी टिप्पणी दी है। उसने शबर का विरोध किया है, यथा मीमांसा का संबंध धर्म की खोज से है, धर्म के विषयों में श्रुति महत्तम प्रमाण है, मीमांसा का संबंध स्मृतियों से उसी सीमा तक है जहाँ तक धर्म के विषयों में उनकी प्रामाणिकता का प्रश्न उठता है। जिस प्रकार कृषि आदि के विषय में मीमांसा के ग्रंथ मौन हैं क्योंकि ऐसे कार्य केवल लौकिक महत्त्व रखते हैं, उसी प्रकार वे सभी कार्य, जिन्हें व्यक्ति स्पष्ट लौकिक उद्देश्य को लेकर करते हैं, धर्म के अनुसंधान से सम्बन्धित नहीं माने जा सकते। अतः भाष्यकार (शबर) का यह कथन कि श्रद्धास्पदों (वृद्ध मनुष्यों अथवा आचार्यों) का स्वागत उठकर करना चाहिए, स्पष्ट लौकिक उद्देश्य रखता है और इसलिए प्रामाणिक माना जाना चाहिए; ठीक नहीं जँचता। कुमारिल ने आगे कहा है कि दृश्य या अदृश्य (स्पष्ट अथवा अस्पष्ट) या आध्यात्मिक उद्देश्य बहुधा एक-दूसरे-से जटिल रूप से संगुम्फित हैं। जब वेद ऐसी व्यवस्था देता है कि ('व्रीहीनवहन्ति') 'वह धान कूटता है' या 'वर्षा के लिए कारीरी यज्ञ किया जाय', तो वहाँ पर स्पष्ट उद्देश्य (यज्ञ के लिए धान कूटकर चावल निकाला जाना) परिलक्षित है। अतः एक स्पष्ट उद्देश्य वाले कर्म के पीछे वेद का आधार हो सकता है। उसी प्रकार आचार्य के प्रति उठकर सम्मान प्रदर्शित करना एक स्पष्ट परिणाम (यथा आचार्य प्रसन्न होकर उत्साह के साथ शिष्य को पढ़ायेगा) एवं अस्पष्ट परिणाम (यथा निर्विघ्नता के साथ वेदाध्ययन की परिसमाप्ति) का द्योतक हो सकता है। इसी लिए उन्होंने तर्क दिया है कि सभी स्मृतियाँ प्रामाणिक हैं, उस सीमा तक जहाँ उद्देश्य की पूर्ति होती है। उनके वे अंश जो धर्म एवं मोक्ष (संसार से अन्तिम छुटकारा) से सम्बन्धित हैं, वेद पर आधारित हैं और वे अंश जो धन-सम्पत्ति एवं अर्थ काम संबंधी इच्छाओं की पूर्ति से सम्बन्धित हैं, लौकिक व्यवहारों पर आधारित हैं। इसी प्रकार महाभारत एवं पुराणों के उपदेशात्मक अंशों की भी व्याख्या की जा सकती है, क्योंकि उनमें वर्णित घटनाएँ अर्थवादों (ऐसी प्रशंसाओं जो धार्मिक कर्तव्यों के अर्थ में घोषित हैं) के रूप में उपयोगी हैं। पृथ्वी के कतिपय खंडों का वर्णन इसलिए हुआ है क्योंकि धर्म-सम्पादन और उससे उत्पन्न आनन्द के लिए उपयुक्त देशों की ओर संकेत मिल जाते हैं। ये बातें अंशतः वेद और प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित-सी हैं। इसी प्रकार वेदों के सहायक

अंग (यथा ध्वनिविद्या, व्याकरण, छंद आदि) अंशतः वेद और लौकिक अनुभव पर आधारित हैं। मनु (१२।१०५-१०६) के मत से मीमांसा और न्याय वेद की सम्यक् व्याख्या एवं परिज्ञान के लिए आवश्यक हैं। मनु ने तो यहाँ तक कह डाला है कि सांख्य (जो **प्रधान** नामक विश्व के प्रमुख कारण का विवेचन करता है) या वेदान्त (जो **पुरुष** को विश्व का कारण बतलाता है), अणुवाद का सिद्धान्त (कणाद द्वारा घोषित) आदि विश्व की उत्पत्ति एवं नाश की व्याख्या में उपयोगी हैं और यह बतलाते हैं कि किस प्रकार यज्ञ-सम्पादन से सूक्ष्म **अपूर्व** का उदय होता है, जिससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है, और यह भी प्रकट करते हैं कि किस प्रकार मानवीय उद्योग एवं भाग्य का अपना-अपना कार्यक्षेत्र है (अर्थात मानवीय उद्योग के बिना विश्व की उत्पत्ति होती है और उसके रहते विनाश भी होता है)। कुमारिल एक पग आगे भी बढ़ते हैं और यहाँ तक कहते हैं कि विज्ञानवाद, अनात्मवाद, क्षणिकवाद नामक बौद्ध सिद्धान्तों का उदय उपनिषदों के अर्थवाद-बचनों से ही हुआ है और वे विषय-भोग की सीमातिरेक आसक्ति छोड़ने के लिए मनुष्य को प्रेरित करते हैं और इसी लिए उनका अपना उपयोग एवं महत्त्व है। उन्होंने अंत में यह निष्कर्ष निकाला है कि सभी प्रकार के ज्ञानों एवं ग्रन्थों के विषय में, जहाँ कर्म के फल का उदय भविष्य के गर्भ में बतलाया गया है और वर्तमान में उसके घटने का अनुभव सम्भव नहीं है, इस प्रकार का कार्य वेद पर आधारित माना जाना चाहिए। किन्तु जहाँ (यथा आयुर्वेद शास्त्र में) फल को अन्य पुरुषों में घटित होते हुए देखा जा सकता है, वहाँ, अर्थात् जिस ज्ञान पर वह फल आधारित है, वह प्रामाणिक माना जा सकता है, क्योंकि यहाँ फल स्पष्ट रूप में प्रकट हो जाता है।

धर्मशास्त्र-सम्बन्धी निबन्धों ने भी स्मृतियों के वेदाधार या प्रत्यक्षीकृत उपयोग अथवा उद्देश्य या वृत्तियों के विषय में चर्चा की है। अपरार्क (पृ० ६२६-६२७) ने भविष्यपुराण के उन बचनों को उद्धृत किया है जिनमें स्मृति-विषय पाँच कोटियों में बाँटे गये हैं और उनकी व्याख्या की गयी है[८]––(१) वे जो **दृष्ट** या स्पष्ट देखे जानेवाले उद्देश्य (अर्थ) या वृत्ति पर आधारित हैं; (२) वे जो **अदृष्ट** (पारलौकिक) उद्देश्यों पर आधारित हैं; (३) वे जो **दृष्ट** एवं **अदृष्ट** दोनों प्रकार के अर्थों (उद्देश्यों) पर आधारित हैं; (४) वे जो तर्क या न्याय पर आधारित हैं; (५) वे जो केवल अति ख्यात एवं निश्चित बातों को दुहराते हैं। इन पाँचों में प्रथम को छोड़कर सभी, भविष्यपुराण के मत से, वेद पर आधारित हैं। इन पाँचों के उदाहरण इसी पुराण द्वारा इस प्रकार दिये गये हैं, यथा––(१) वह स्मृति (**अर्थशास्त्र** या **दण्डनीति**) जिसमें छः गणों (सन्धि आदि), चार उपायों (साम, दान आदि), राज्य-विभागों के अध्यक्षों तथा कण्टकों का विवेचन किया गया है; (२) 'सन्ध्या करनी चाहिए' या 'श्वमांस नहीं खाना चाहिए' आदि नियम; (३) ब्रह्मचारी को पलाश-दण्ड रखना चाहिए (रक्षा के लिए रखा जानेवाला दण्ड **दृष्टार्थ** है, किन्तु यहाँ पलाश-दण्ड की व्यवस्था है जो **अदृष्टार्थ** का द्योतक है); (४) जब कोई कहे कि होम सूर्योदय के पूर्व करना चाहिए और कोई यह कहे कि सूर्योदय के उपरान्त करना चाहिए, तो यहाँ तर्क से विकल्प का सहारा लेना चाहिए (मनु २।१५);

८. तथा च भविष्यपुराणम्। दृष्टार्था च स्मृति काचिददृष्टार्था तथा परा। दृष्टादृष्टार्थरूपान्या न्यायमूला तथापरा॥ अनुवादस्मृतिस्त्वन्या शिष्टैर्दृष्टा तु पञ्चमी। सर्वा एता वेदमूला दृष्टार्थं (र्थाः ?) परिहृत्य तु॥ षाड्गुण्यस्य यथायोगं प्रयोगात्कार्यगौरवात्। (प्रयोगः कार्य-?)। सामादीनामुपायानां योगो व्याससमासतः॥ अध्यक्षाणां च निक्षेपः कण्टकानां निरूपणम्। दृष्टार्थेयं स्मृतिः प्रोक्ता ऋषिभिर्गरुडाग्रज॥ सन्ध्योपास्तिः सदा कार्या शुनो मासं न भक्षयेत्। अदृष्टार्था स्मृतिः प्रोक्ता ऋषिभिर्ज्ञानकोविदैः पालाशं धारयेद्दण्डमुभयार्थं विदुर्बुधाः। विरोधे तु विकल्पः स्याज्जपहोमश्रुतौ यथा॥ श्रुतौ दृष्टं यथा कार्यं स्मृतौ न सदृशं यदि। अनूक्तवादिनी सा तु पारिव्राज्यं यथा गहात्॥ अपरार्क (पृ० ६२६-६२७)।

(५) जब मनु (६।३८) यह घोषित करते हैं कि ब्राह्मण को परिव्राजक होने के लिए गृहत्याग करना चाहिए तो ऐसा कहना वैदिक वचनों (बृहदारण्यकोपनिषद् ३।५।१, 'व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' या जाबालोपनिषद् ४) को दुहराना मात्र है।

शबर ने जैमिनि (१।३।५-७) की व्याख्या करते हुए स्मृतियों के निम्न वचनों को वेदाधारित कहकर प्रामाणिकता दी है—"शिष्टों का कथन है कि धार्मिक कृत्य आचमन करके करना चाहिए, देवपूजन में जनेऊ को उपवीत विधि से धारण करना चाहिए, सारे धार्मिक कृत्य दाहिने हाथ से करने चाहिए।" प्रश्न यह है कि क्या ऐसे कार्य तभी करने चाहिए जब कि वे वेद-विरुद्ध न हों या जब वे वेद के वचन के विरुद्ध हों तो उन्हें नहीं करना चाहिए? पूर्वपक्ष का मत तो यह है कि ऐसे कार्य नहीं किये जाने चाहिए; क्योंकि वे वेद-विहित क्रम के विरोध में पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, वेद का कथन है—"कुश की वेद नामक गड्डी (या एक मुट्ठा) बना लेने के उपरान्त ही वेदिका (वेदी) बनानी चाहिए।" यहाँ पर गड्डी बना लेने के उपरान्त ही वेदिका-निर्माण की बात कही गयी है। यदि गड्डी बना लेने के उपरान्त छींक आ जाय तो मनु (५।१४५) एवं वसिष्ठ (३।३८) के मत से व्यक्ति को आचमन करके ही वेदिका-निर्माण करना चाहिए। पर ऐसा करना वेद-विहित क्रम के विरुद्ध जाना है। यदि कोई वेद-विहित कृत्य को दोनों हाथों से करे तो वह शीघ्रता से कर सकता है। स्मृति-नियम यह है कि धार्मिक कृत्य दाहिने हाथ से करना चाहिए, इससे धार्मिक कृत्य के शीघ्र सम्पादन में रुकावट आ जाती है। प्रतिष्ठित निष्कर्ष तो यह है कि ये कृत्य (यथा आचमन) शिष्टों द्वारा सम्पादित होते हैं, इनके पीछे कोई दृष्टार्थ नहीं है, अतः ये प्रामाणिक हैं और श्रुति-विरोधी नहीं हैं।" कुमारिल को जै० सूत्रों की ऐसी व्याख्या नहीं जँची, क्योंकि शबर के उदाहरण श्रुति के विरोध में प्रमुख रूप में नहीं जाते दीखते। तन्त्रवार्तिक (पृ० २०१) ने तै० सं० (२।५।११।१), तै० आरण्यक (२।१ एवं ११) के वचनों को उद्धृत कर उपवीत ढंग से जनेऊ धारण करने एवं आचमन करने की बात कही है, अतः इसने सूत्रों को दूसरे ढंग से समझाया है। इसने जैमिनि (१।३।५-७) को दो अधिकरणों में बाँटा है, दोनों एक ही विषय से सम्बन्धित हैं। पूर्वपक्ष यह है—बुद्ध एवं अन्य सम्प्रदायों के संस्थापकों के उपदेश (यथा—मठों एवं वाटिकाओं का निर्माण, कामनारहित होना, ध्यान का अभ्यास करना, अहिंसा, सत्य, इन्द्रिय-निग्रह, दया-दाक्षिण्य) ऐसे हैं जो वेद में भी पाये जाते हैं, वे शिष्टों की भावनाओं के विरोध में नहीं हैं और न वेदज्ञों को क्रुद्ध ही करते हैं, अतः उन्हें प्रामाणिकता मिलनी चाहिए। किन्तु कुछ लोग इन विषयों के रहते हुए भी बौद्ध सिद्धान्त को प्रामाणिकता नहीं देते, क्योंकि केवल परिमित ही (१४ या १८) विद्याओं (४ वेद, ४ उपवेद, ६ वेदांग, १८ स्मृतियाँ, पुराण, दण्डनीति) को शिष्टों ने धर्म के विषय में प्रामाणिक माना है, जिनमें बौद्ध एवं जैन ग्रन्थ सम्मिलित नहीं हैं।[९] जिस प्रकार दूध मूल रूप से शुद्ध रहते हुए भी श्व-चर्मपेटी में रखने से अशुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार बौद्धों के सिद्धान्त, अहिंसा आदि, सत्य पर आधारित होते हुए भी व्यर्थ हैं और वेदानुयायियों के लिए स्वतः प्रामाणिक नहीं हो सकते।

तन्त्रवार्तिक का कथन है कि जैमिनि (१।३।७) का वचन स्वतः एक 'अधिकरण' है और **सदाचार** (परम्पराएँ एवं शिष्टों के आचारण या प्रयोग) की प्रामाणिकता से सम्बन्धित है। स्थिति यह है कि वे ही आचरण प्रामाणिक हैं

९. १४ विद्यास्थानों के लिए देखिए याज्ञ० (१।३)। चार उपवेदों (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व एवं अर्थशास्त्र) के मिल जाने से विद्याएँ १८ हो जाती हैं। देखिए विष्णुपुराण (३।६।२८)। न्यायसुधा (पृ० १८३) के मत से आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, एवं अर्थशास्त्र चार उपवेद हो जाते हैं; मीमांसा एवं न्याय दो उपांग हैं, शिक्षा (ध्वनिशास्त्र वाला वेदांग नहीं) पृथक् रूप से वर्णित है। दण्डनीति अर्थशास्त्र ही है।

जो अभिव्यक्त वैदिक वचनों के विरोधी नहीं हैं, वे वैदिक शिष्टों द्वारा इस विश्वास से आचरित होते हैं कि वे सम्यक् आचरण (धर्म) के द्योतक हैं और उनके लिए कोई दृष्टार्थ (यथा आनन्द या इच्छापूर्ति या धन-प्राप्ति) की योजना नहीं है। शिष्ट लोग वे हैं जो वेदविहित धार्मिक कृत्य सम्पादित करते हैं। उन्हें शिष्ट इसलिए नहीं कहते कि वे उन कार्यों को करते हैं जिन्हें सदाचार की संज्ञा मिली है, नहीं तो 'चक्रिकापत्ति' या 'अन्योन्याश्रय' दोष उपस्थित हो जायगा (यथा—सदाचार वह है जो शिष्टों द्वारा आचरित होता है और शिष्ट वे हैं जो सदाचार के अनुसार आचरण करते हैं)। वे आचरण, जो परम्परा से चले आये हैं और शिष्टों द्वारा धर्म के रूप में ग्रहण किये जाते हैं, धर्म के समान माने जाते हैं और स्वर्ग प्राप्ति कराते हैं (तन्त्रवार्तिक, पृ० २०५-२०६)। तन्त्रवार्तिक ने ऐसे आचरणों के कुछ उदाहरण दिये हैं, यथा—दान, जप, मातृयज्ञ (मातृका देवताओं की आहुतियाँ), इन्द्रध्वज का उत्सव, मन्दिरों के मेले, मास की चतुर्थी को कुमारियों का उपवास, कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को दीप-दान, चैत्र कृष्ण पक्ष के प्रथम दिन वसन्तोत्सव आदि।[१०] तन्त्रवार्तिक ने सभी प्रकार के कृत्यों को शिष्टाचरण नहीं माना है, यथा—कृषि, सेवा (साधारण नौकरी), वाणिज्य आदि जिससे धन तथा सुख की प्राप्ति होती है; मिष्टान्न-पान, मृदु शयन-आसन, रमणीय गृहोद्यान, आलेख्य, गीत-नृत्य आदि, गन्ध-पुष्प आदि; क्योंकि ये म्लेच्छों एवं आर्यों में समान रूप से पाये जाते हैं, अतः ये धर्म के स्वरूप नहीं हैं। ऐसा कहना कि शिष्टों के कुछ आचरण धर्माचरण हैं तो उनके सभी आचरण धर्म-विषयक होंगे; भ्रामक है। सामान्य जीवन में थोड़े-से ही आचरण शिष्टाचार की संज्ञा पाते हैं, अन्य कार्य या आचरण, जो सबमें (शिष्टों में भी) समान रूप से पाये जाते हैं, धर्माचरण नहीं कहे जा सकते। देखिए तन्त्रवार्तिक (पृ० २०६–२०८)। तन्त्रवार्तिक ने गौतम (१।३) एवं आपस्तम्ब ध० सू० (२।६।१३।७-८) के वचनों की चर्चा करते हुए कहा है कि प्राचीन (या श्रेष्ठ) लोग बहुत-सी बातों में धर्मोल्लंघन-पाप के अपराधी थे और उन्होंने साहसिक कार्य किये, किन्तु उनके प्रभाव के कारण उन्हें पाप नहीं लगा, किन्तु उनके बाद के लोग यदि वैसा कार्य करें तो वे नरक में पड़ेंगे।[११] तन्त्रवार्तिक ने अशिष्टाचरण के बारह उदाहरण दिये हैं और कहा है कि ये क्रोध, ईर्ष्या आदि अन्य दुर्वृत्तियों के फलस्वरूप हैं। ये दुराचरण अवतारों में भी देखे गये हैं। उक्त बारह उदाहरण ये हैं—(१) प्रजापति ने अपनी पुत्री उषा से संभोग किया (शतपथ ब्राह्मण १।७।४।१ या ऐतरेय ब्राह्मण १३।९); (२) इन्द्र ने अहल्या के साथ संभोगाचरण किया; (३) इन्द्र की स्थिति प्राप्त करने वाले नहुष ने इन्द्राणी शची के साथ संभोग करना चाहा (उद्योगपर्व, अध्याय १३) और वह अजगर बना दिया गया; (४) राक्षस द्वारा सौ पुत्रों के खा लिये जाने पर वसिष्ठ ने दुखी होकर अपने को बाँधकर विपाशा नदी में फेंक दिया (निरुक्त ९।२६, आदिपर्व १७७।१-६ या १६७।१-६, वनपर्व १३०।८-९, अनुशासन पर्व ३।१२-१३); (५) उर्वशी के वियोग में पुरूरवा ने लटक कर मर जाना चाहा या भेड़ियों द्वारा अपने को भक्षित करा देना चाहा (ऋग्वेद १०।९५।१४,

१०. 'इन्द्रमह' नामक उत्सव के लिए देखिए इस ग्रन्थ का खंड ३, अध्याय २४। वसन्तोत्सव में लोग चैत्र कृष्णपक्ष के प्रथम दिन एक-दूसरे पर सादा पानी या रंगीन पानी छोड़ते हैं; 'फाल्गुन (अमान्त) कृष्णपक्षप्रतिपदि क्रियमाणः परस्परजलसेको वसन्तोत्सवः' मयूखमालिका (शास्त्रदीपिका, जैमिनि० १।३।७)। आजकल यह कृत्य फाल्गुन की पूर्णिमा को होलिका जलाकर किया जाता है। आजकल की होलिका के विषय की जानकारी के लिए देखिए भविष्यपुराण (उत्तरपर्व, अध्याय १३२)।

११. दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च महताम्। अवरदौर्बल्यात्। गौ० (१।३-४); दृष्टो ...साहसं च पूर्वेषाम्। तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते। तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरः। आप० ध० सू० (२।६।१३-७९); भागवतपुराण (१०।३३।३०)।

शत० ब्रा० ११।५।१-८); (६) विश्वामित्र ने शाप से चाण्डाल हुए त्रिशंकु के यज्ञ का पौरोहित्य किया (आदिपर्व ७१।३१-३३); (७) युधिष्ठिर ने छोटे भाई अर्जुन द्वारा (धनुर्विद्या से) जीती हुई द्रौपदी को अपनी स्त्री बनाया और अपने ब्राह्मण गुरु द्रोणाचार्य के मरण के लिए मिथ्या भाषण किया (द्रोणपर्व १९०।५०); (८) कृष्ण द्वैपायन (व्यास) ने जो अपने को नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते थे, माता सत्यवती के कहने पर अपने भाई विचित्रवीर्य की पत्नियों से नियोग-विधि द्वारा दो पुत्र उत्पन्न किये; (९) भीष्म ने जिन्होंने अपने को किसी भी आश्रम में नहीं रखा, पत्नीहीन होने पर भी बहुत-से अश्वमेध यज्ञ किये; (१०) राम ने सीता की सुवर्ण-मूर्ति के साथ अश्वमेधयज्ञ किया; (११) धृतराष्ट्र ने अन्धे होते हुए भी यज्ञ किये; (१२) वासुदेव एवं अर्जुन मद्य का सेवन करते थे और उन्होंने क्रम से रुक्मिणी एवं सुभद्रा से, जो उनके मामा की पुत्रियाँ थीं, विवाह किया (ऐसे विवाह वर्जित हैं)। तन्त्रवार्तिक ने इन अशिष्टाचरणों की व्याख्या करके समझाने का प्रयत्न किया है कि वास्तव में ये अशिष्टाचरण नहीं हैं।

कुमारिल ने आजकल के अलंकारशास्त्री के समान (तन्त्रवार्तिक, पृ० २०८) व्याख्या की है कि 'प्रजापति' का अर्थ है 'सूर्य' जो उषा के पीछे जाता है (उषा के पश्चात् उदित होता है)। यह व्याख्या प्राचीन है (ऐत० ब्राह्मण १३।९)। इसी प्रकार 'इन्द्र' एवं 'अहल्या' का क्रम से अर्थ है 'सूर्य' एवं 'रात्रि' और 'जार' का अर्थ है 'वह जो अतंर्धान कराता है' या 'समाप्त कराता है', न कि 'पापपति' या 'उपपति'। महाकाव्यों में इन्द्र एवं अहल्या की कहानी विविध ढंगों से कही गयी है। देखिए रामायण (१।४८), उद्योगपर्व (१२।६)। यों ये अशिष्टव्यवहार **धर्म-व्यतिक्रम** के उदाहरण हैं। वसिष्ठ का धर्म-व्यतिक्रम-आचरण **साहस** का द्योतक है, वे बहुत दुखी थे। कुमारिल का कथन है कि विश्वामित्र वसिष्ठ के द्रोही एवं घमण्डी थे, उनका पाप-कृत्य उनकी तपःसाधना से समाप्त हो जाता है। अतः उनके कार्य अन्य लोगों द्वारा अनुकरणीय नहीं हैं। व्यास की माता सत्यवती ने कुमारी अवस्था में पराशर के द्वारा व्यास को उत्पन्न किया था। विचित्रवीर्य उनके भाई अवश्य थे किन्तु उनके पिता शान्तनु थे, क्योंकि शान्तनु से विवाह के उपरान्त उनका जन्म हुआ था। ब्रह्मचारी का स्त्री-सम्बन्ध निन्द्य कर्म है। व्यास माता की प्रेरणा पर ही नियोग के लिए तैयार हुए और गौतम (१८।४-५) ने इसके लिए व्यवस्था भी दी है। कुमारिल का कहना है कि व्यास ऐसा तभी कर सके जब कि उनके पीछे तपःसाधना का (पूर्व जीवन और वर्तमान जीवन का) बल था और कोई भी प्रतिबन्धों के रहते हुए ऐसा कर सकता है, क्योंकि महाभारत (आश्रमवासिक पर्व ३०।२४) का कथन है---"सर्वं बलवतां पथ्यम्" (समरथ को नहिं दोष गुसाईं, अर्थात् बलवान् या सामर्थ्यवान् के लिए सभी ठीक या आज्ञापित है)। कुमारिल ने एक सम्यक् उदाहरण दिया है--हाथी वृक्षों की शाखाओं का भक्षण कर सकता है और उसकी हानि नहीं होती, किन्तु कोई अन्य ऐसा करने पर मृत्यु पा सकता है। दक्ष (५।१०) का कथन है--"अनाश्रमी न तिष्ठेत क्षणमेकमपि द्विजः", अर्थात् द्विज को एक क्षण भी बिना किसी आश्रम से सम्बन्धित हुए नहीं रहना चाहिए। भीष्म अपनी पितृ-भक्ति के कारण ही अविवाहित रहे और राम सीता के अतिरिक्त किसी अन्य पत्नी की कल्पना नहीं कर सकते थे। कुमारिल ने साहस के साथ कहा है कि केवल यज्ञ करने के उद्देश्य से भीष्म की एक पत्नी थी (यद्यपि यह बात न तो किसी इतिहास में पायी जाती है और न किसी पुराण में) और इस कथन की सिद्धि के लिए उन्होंने **अर्थापत्ति प्रमाण** का आश्रय लिया है।[12] कुमारिल की

१२. लोभाद्यभिभवात्सन्निहितानर्थादर्शनेनाधर्माचरणं धर्मव्यतिक्रमः। दृष्टस्याप्यनर्थस्य बलदर्पेणानादराद-धर्माचरणं साहसम्। न्यायसुधा (पृ० १८५); भ्रातॄणामेक...मनुरब्रवीत् (मनु ९।१८२)--इत्येवं विचित्रवीर्य-क्षेत्रजपुत्रलब्धपित्रनृणत्वः केवलयज्ञार्थपत्नीसम्बन्ध आसीदित्यर्थापत्त्यानुक्तमपि गम्यते। यो वा पिण्डं पितुः पाणौ विज्ञातेपि न दत्तवान्। शास्त्रार्थातिक्रमाद् भीतो यजेतैकाक्यसौ कथम्॥ तन्त्रवार्तिक (पृ० २०८); अथवा बह्व्य

व्याख्याओं से मीमांसकों की शुष्क तर्कपूर्ण पक्ष-समर्थन की भावना टपकती है। देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अध्याय ११, जहाँ सीता की स्वर्णिम मूर्ति एवं राम का वर्णन है। युधिष्ठिर ने अपने ब्राह्मण आचार्य की मृत्यु के लिए जो मिथ्या भाषण किया, उसके प्रायश्चित्त के लिए युद्धोपरान्त अश्वमेध यज्ञ किया था। अश्वमेध सम्पादन से सारे पाप कट जाते हैं (तै० सं० ५।३।१२।१-२, शतपथ ब्राह्मण १३।३।१।१ आदि)। पाँच पतियोंवाली द्रौपदी के विषय में कुमारिल ने आदिपर्व (१९८।१४ या १९०।१४) को उद्धृत करते हुए कई व्याख्याएँ उपस्थापित की हैं (तन्त्रवार्तिक, पृ० २०९), जिनमें सबसे आश्चर्यजनक व्याख्या यह है कि पाँच भाइयों की एक दूसरी से मिलती-जुलती ऐसी पाँच पत्नियाँ थीं जिनको एक ही माना गया है। जैसा कि न्यायसुधा (पृ० १९४) का कथन है, वे व्याख्याएँ केवल व्याख्या करने की महती क्षमता एवं दक्षता की द्योतक हैं (परिहार-वैभवार्थम्), वास्तव में उचित व्याख्या तो यही थी कि पाण्डवों का आचरण इस विषय में दूषित था और किसी प्रकार अनुकरणीय नहीं माना जा सकता। अन्ध व्यक्ति यज्ञ सम्पादन नहीं कर सकता और न उसे उत्तराधिकार ही प्राप्त होता है। देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अध्याय ३ एवं खंड ३, अध्याय २७। किन्तु कुमारिल का कथन है कि धृतराष्ट्र ने व्यास की अलौकिक शक्ति द्वारा थोड़ी देर के लिए दृष्टि प्राप्त कर ली थी और अपने मृत पुत्रों को देख भी लिया था (आश्रमवासिक पर्व, अध्याय ३२-३७), अतः यज्ञों के समय भी उन्हें दृष्टि मिली होगी, या ऐसा कहा जा सकता है कि उन्होंने केवल दान मात्र किये जो यज्ञों के अर्थ में वर्णित हुए हैं। सुभद्रा के विषय में कुमारिल का कथन है कि आदिपर्व (२१९।१८ या २११।१८) में जो उसे वसुदेव की पुत्री और कृष्ण की भगिनी कहा गया है, ऐसा नहीं है। वास्तव में वह कृष्ण की विमाता की बहिन की पुत्री या उसके विपिता की बहिन की पुत्री की पुत्री थी (लाट देश में पितृव्य-स्त्री को बहिन कहा जाता है)। रुक्मिणी के साथ कृष्ण के विवाह के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। यह आश्चर्य है, जैसा कि खण्डदेव का कथन है; सुभद्रा वसुदेव की पुत्री नहीं थी। लगता है, खण्डदेव ने महाभारत की किसी अशुद्ध प्रति का अध्ययन किया था। वासुदेव (कृष्ण) एवं अर्जुन को जो मद्यप कहा गया है (उद्योग पर्व ५९।५ 'उभौ मध्वासवक्षीवौ') उसके विषय में कुमारिल ने ऐसी व्याख्या की है कि वे दोनों क्षत्रिय थे, केवल ब्राह्मणों के लिए किसी भी प्रकार की मद्य का सेवन वर्जित है (गौ० २।२५), क्षत्रियों और वैश्यों के लिए मधु (मधु या मधूक पुष्पों से निकाला हुआ आसव) एवं सीधु (एक प्रकार की मद्य) नामक दो आसव-प्रकार आज्ञापित थे और केवल पैष्टी (आटे से निकाली हुई मद्य) वर्जित थी (गौ० २।५ एवं मनु० ११।९३-९४)।

कुमारिल ने जैमिनि (१।३।५-६) की अन्य व्याख्याएँ भी उपस्थापित की हैं जिन्हें हम स्थानाभाव से यहाँ नहीं दे रहे हैं।

कुमारिल ने अपने काल के कुछ प्रचलित आचरणों का उल्लेख किया है और उन्हें अन्त में वर्जित एवं अप्रामाणिक ठहराया है। उनका कथन है--"आजकल भी अहिच्छत्र एवं मथुरा की नारियाँ आसव पीती हैं; उत्तर (भारत) के ब्राह्मण लोग घोड़ों, अयाल वाले खच्चरों, गदहों, ऊँटों एवं दो दन्त-पंक्ति वाले पशुओं का क्रय एवं विक्रय करते हैं और एक ही थाल में अपनी पत्नियों, बच्चों तथा मित्रों के साथ भोजन करते हैं; दक्षिण के ब्राह्मण मातुल-कन्या (ममेरी बहिन) से विवाह करते हैं और खाट (मंच) पर बैठकर खाते हैं; उत्तरी और दक्षिणी ब्राह्मण उन पात्रों के पक्वान्न

एव ताः सदृशरूपा द्रौपद्य एकत्वेनोपचरिता इति व्यवहारार्थापत्त्या गम्यते। तन्त्रवार्तिक (पृ० २०९); एवमर्जुनस्य मातुलकन्यायाः सुभद्रायाः परिणयेपि सुभद्राया वसुदेवकन्यात्वस्य साक्षात् क्वचिदप्यश्रवणात्। मीमांसाकौ० (पृ० ४८); किन्तु आदिपर्व (२१९।१८) में सुभद्रा स्पष्ट रूप से वसुदेव की पुत्री कही गयी है--'दुहिता वसुदेवस्य वासुदेवस्य च स्वसा।'

खा लेते हैं जिनमें से उनके मित्र अथवा सम्बन्धी पहले ही खा चुके रहते हैं अथवा जिनका स्पर्श खाते समय उन लोगों से हो गया रहता है; वे दूसरों (अन्य सभी वर्णों) द्वारा स्पर्श किये गये ताम्बूल का चर्वण करते हैं, और ताम्बूल खाने के उपरान्त आचमन नहीं करते, धोबी द्वारा धोये और गदहों की पीठ पर लादे गये वस्त्र धारण करते हैं; महापातकियों (ब्रह्महत्या को छोड़कर) के स्पर्श से दूर नहीं रहते। चारों ओर मनुष्य, जाति या परिवार के लिए व्यवस्थित धर्म-नियमों का उल्लंघन अधिक मात्रा में पाया जा रहा है, जो श्रुति एवं स्मृति के विरोध में पड़ता है और स्पष्टतः ऐसे अप्रामाणिक कृत्य दृष्टार्थ-द्योतक हैं।" इस प्रकार भट्टोजि दीक्षित के शिष्य वरदराज (१६६० ई०) ने अपने गीर्वाणपद-मंजरी नामक ग्रन्थ में एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण एवं विजयनगर के एक संन्यासी के बीच हुई वार्ता में ब्राह्मण अतिथि से कहलाया है कि प्रत्येक देश में कुछ **दुराचार** पाये जाते हैं, यथा दक्षिण में मातुल-कन्या से विवाह, दक्षिणियों में चार वर्ष के पूर्व भी विवाह, कर्णाटक में बिना स्नान किये भोजन करना, महाराष्ट्र में ज्येष्ठ पुत्र के पहले कनिष्ठ पुत्र का विवाह और पहाड़ी प्रदेश में नियोग की प्रथा (देखिए श्री पी० के० गोडे का लेख, भारतीय विद्या, जिल्द ६, पृ० २७-३०)।

शबर के मत से जैमिनि (१।३।८-९) ने आर्यों एवं म्लेच्छों द्वारा विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त **यव, वराह** एवं **वेतस** जैसे शब्दों की व्याख्या की है (यववराहाधिकरण में ये सूत्र पाये जाते हैं)। किन्तु कुमारिल को शबर का यह मत नहीं जँचा है। उन्होंने इन दोनों सूत्रों के लिए एक नया विषय चुना है जो स्मृति एवं सदाचार की पारस्परिक श्रेष्ठता पर प्रकाश डालता है, अर्थात् अवरोध होने पर किसको वरीयता या प्रमुखता दी जाय, इसे व्यक्त किया गया है। इस विषय में तीन सम्भव मत प्रस्तुत किये गये हैं--(१) दोनों समान रूप से बलवान् हैं, अतः विरोध उपस्थित होने पर विकल्प सहायक होता है, (२) आचार अपेक्षाकृत बलवान् है एवं (३) दोनों में स्मृति अधिक बलवान् है। प्रमुख बात तो यह है कि दोनों समान रूप से बलवान् हैं, क्योंकि दोनों (स्मृति एवं सदाचार) का मूल वेद है। कुमारिल का अपना निष्कर्ष यह है कि विरोध उपस्थित होने पर स्मृति को अधिक वरीयता प्राप्त है, क्योंकि दोनों में अन्तर है। लोगों को मनु जैसी स्मृतियों पर पूर्ण विश्वास है; मनु आदि स्मृतिकार प्रबुद्ध अथवा ईश्वर प्रेरित ऋषि माने जाते हैं और विभिन्न वैदिक शाखाओं में बिखरे हुए नियमों के उद्घोषक कहे जाते हैं। किन्तु ऐसी बात आज के मनुष्यों के विषय में नहीं कही जा सकती, अतः उनके आचरणों को वह बल अथवा समर्थन नहीं प्राप्त हो सकता जो मनु आदि ऋषियों द्वारा व्यवस्थापित नियमों को प्राप्त होता है। शिष्टों के आचरण से ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उसका मूल स्मृति में होगा और इसी प्रकार स्मृति का मूल श्रुति में पाया जा सकता है। इस प्रकार आचार वेद से दो स्तर नीचे है और स्मृति केवल एक स्तर नीचे। इसी से कुमारिल कहते हैं कि स्मृति और आचार के विरोध में स्मृति को वरीयता मिलनी चाहिए।

कुमारिल ने जैमिनि के उपर्युक्त सूत्रों की अन्य व्याख्या भी दी है, जिसे हम यहाँ नहीं उपस्थित कर रहे हैं।

जैमिनि (१।३।१५-२३) ने होलाकाधिकरण या सामान्यश्रुतिकल्पनाधिकरण में कुछ विशिष्ट बातें दी हैं। इस अधिकरण में प्रथम और अन्तिम दो सूत्र बड़े महत्त्व के हैं। कुछ कृत्य, यथा होलाका (वसन्त) का उत्सव, पूर्वीय लोगों द्वारा मनाये जाते हैं, आह्नीनैबुक (किसी कुल द्वारा करंज अथवा अर्क के बढ़ते हुए पौधे की पूजा) जैसे कुछ कृत्य दाक्षिणात्यों द्वारा मान्य हैं तथा उद्वृषभ यज्ञ (ज्येष्ठ पूर्णिमा को बैलों को सम्मानित किया जाता है और उनकी दौड़ करायी जाती है) नामक कृत्य भारत के उत्तर-दिशास्थ लोगों द्वारा मान्य रहा है। प्रश्न उठता है कि जब हम ऐसा कहते हैं कि ये कृत्य अथवा विशिष्ट व्यवहार वेदों पर आधारित हैं तो अनुमानित तत्सम्बन्धी वेदवचन पूर्व के लोगों, दक्षिणी लोगों आदि तक ही सीमित क्यों रखे गये। पूर्वपक्ष यह है कि उन कृत्यों के आधार के लिए श्रुति का अनुमान करना केवल कुछ निश्चित व्यक्तियों (प्राच्यों, दाक्षिणात्यों आदि) तक ही सीमित रखा जाना चाहिए था। निश्चित निष्कर्ष यही है कि ये कृत्य सार्वजनीन माने जाने चाहिए, क्योंकि वैदिक व्यवस्थाओं से सम्बन्धित सामान्य नियम ऐसा है कि वे

सभी के लिए प्रयुक्त हैं। प्रत्येक वैदिक नियम के पालनकर्ता को तीन विधियों से जाना जाता है--(१) योग्यता से, (२) अनिषिद्धता से तथा (३) विशेष कर्तव्यों के प्रयोग से। जब ऐसा कहा जाता है कि स्वर्ग की इच्छा करनेवाले को यज्ञ करना चाहिए (स्वर्गकामो यजेत) तो इसका तात्पर्य है कि यह तीन प्रकार के द्विजों (ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों) के लिए है, क्योंकि ये ही लोग पवित्र अग्नियों में होम कर सकते हैं और वेदाध्ययन कर सकते हैं, शूद्र नहीं। पतित लोग एवं क्लीब वैदिक कृत्य नहीं कर सकते। "राजा राजसूयेन यजेत" वेद-कथन है, इसका तात्पर्य यह है कि राजा की (क्षत्रिय होने के कारण) यह विशिष्ट उपाधि या विशेषाधिकार है कि वह राजसूय यज्ञ कर सकता है। जब उपर्युक्त तीन विधियाँ न हों तो अन्य वैदिक विधि सामान्यतः सबके लिए मान्य होती है (**सर्वधर्म**)। **होलाका, वृषभयज्ञ** आदि केवल कुछ देशों के लिए नहीं हैं, ये सबके प्रयोग के लिए हैं। यदि कोई पूर्व को छोड़कर उत्तर चला जाय तो भी वह **होलाका** उत्सव कर सकता है, भले ही कोई प्राच्य व्यक्ति स्वयं उसे न करे। इसके अतिरिक्त 'दाक्षिणात्य', 'प्राच्य' आदि शब्द सापेक्ष (अविविक्त) हैं। कोई दक्षिणी देश किसी दूसरे देश के उत्तर में हो सकता है। अतः **होलाका** आदि उत्सवों की परम्पराएँ किन्हीं विशिष्ट देशों एवं लोगों से सम्बन्धित नहीं हो सकतीं। ऐसी ही बातें अपने ढंग से मेधातिथि (मनु ८।४६) ने भी कही हैं। तन्त्रवार्तिक का कथन है कि ऐसा कभी भी नहीं कहा जा सकता कि अमुक कृत्य अमुक देश के लिए विहित है। किसी देश में जन्म लेने, रहने या वहाँ से आने या वहाँ आने के कारण ही व्यक्तियों को उस देश के गुण-ग्राम प्राप्त होते हैं।

तन्त्रवार्तिक ने व्याख्या की है कि जैमिनि (१।३।१५-२३) के प्रथम दो सूत्रों से एक अन्य प्रश्न उभर आता है--क्या गृह्यसूत्रों एवं गौतमसूत्र जैसे अन्य धर्मसूत्रों के नियम केवल कुछ दलों के लिए प्रामाणिक हैं या सभी के लिए? कुमारिल का कहना है कि पुराण, मनुस्मृति एवं इतिहास (यथा महाभारत) सभी के लिए समान रूप से प्रामाणिक हैं, गोभिल-गृह्यसूत्र एवं गौतमधर्मसूत्र परम्परा से सामवेद के पाठकों द्वारा स्वीकृत हैं, वसिष्ठधर्मसूत्र ऋग्वेद-पाठियों द्वारा स्वीकृत हैं, शंख-लिखित के सूत्र शुक्ल-यजुर्वेद के अनुयायियों को तथा आपस्तम्ब एवं बौधायन के सूत्र तैत्तिरीय शाखा के अनुयायियों को मान्य हैं। शास्त्रदीपिका का कथन है कि एक विद्वान् जो सामवेद का पाठक था, अपने ग्रन्थ को उन शिष्यों को भी पढ़ाता था जो उससे सामवेद भी पढ़ते थे और उसके विद्यार्थी आगे चलकर उसके ग्रन्थ को अन्य लोगों को पढ़ाते थे और इस प्रकार एक ऐसी परम्परा उठ खड़ी हुई कि सामवेद के पाठक गौतमसूत्र भी पढ़ने लगे। अतः ऐसा कहना कि गृह्य-सूत्र किसी विशिष्ट दल से सम्बन्धित थे, भ्रामक है। यही बात विशिष्ट व्यवहारों के विषय में भी है। यह नहीं है कि कोई विशिष्ट उपाधि (कर्तव्य) या विशेषता सार्वजनीन नहीं हो सकती; अतः **होलाका** जैसे कृत्य किसी विशिष्ट देश या जन-समुदाय के लिए ही मान्य नहीं हो सकते, वे सार्वजनीन रूप भी धारण कर सकते हैं।

वैधानिक परम्पराओं की विशेषताएँ पूर्व-मीमांसा के लेखकों द्वारा निम्न रूप से बतायी गयी हैं। वे परम्पराएँ प्राचीन होनी चाहिए, उन्हें श्रुति-स्मृति-सम्मत होना चाहिए, शिष्टों द्वारा उन्हें मान्य होना चाहिए, शिष्ट लोग उन्हें जान-बूझकर जीवन में कार्यान्वित करें, उनके पीछे दृष्टार्थ नहीं होना चाहिए तथा उन्हें अनैतिक नहीं होना चाहिए। परम्पराओं के अतिरिक्त सामान्य प्रयोगों या रीतियों के विषय में पूर्वमीमांसकों ने कोई बन्धन नहीं डाला, केवल इतना ही कहा कि उन्हें भी अदृष्टार्थ होना चाहिए। खण्डदेव का कहना है कि केवल वे ही परम्पराएँ वेद पर आधारित मानी जायँगी जो वेद एवं स्मृतियों के विरोध में न पड़ें और जिन्हें शिष्ट लोग इस विश्वास से स्वीकार करें कि वे ऐसा करने से धर्मानुसरण ही करते हैं। मेधातिथि ने मनु (२।१८) की व्याख्या में कहा है--"वह स्मृति, जो वेद के विरोध में है या जिसके वचन परस्पर-विरोधी हैं या जो दृष्टार्थ है या लौकिक वृत्तियों को प्रतिपादित करती है, वेद पर आधारित नहीं मानी जा सकती।" मीमांसाकौस्तुभ (पृ० ५१, जै० १।३।७) ने एक श्लोक उद्धृत कर कहा है--"केवल वे ही, जिनके पूर्वजों में कुछ रीतियाँ कई पीढ़ियों से मान्य रहती आयी हैं, उन रीतियों को स्वीकार कर सकते हैं (जब कि वे रीतियाँ श्रुति-स्मृति

विरोधी न हों), अन्य लोग जिनके पूर्वजों में ऐसी रीतियाँ स्वीकृत नहीं रही हैं, ऐसा करेंगे तो अपराध माना जायगा।"

कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक (जै० ३।३।१४, पृ० ८५९-८६०) में **बाध** पर एक पाण्डित्यपूर्ण विवेचना उपस्थित की है। उनके द्वारा एकत्र बाधों में कुछ पर इस विवेचना की संगति में हम प्रकाश डालेंगे। उनका कहना है कि प्रत्यक्ष अनुभव के सामने अनुमान का, श्रुति के समक्ष स्मृति का कोई मल्य नहीं है। वह स्मृति जो प्रामाणिक व्यक्ति द्वारा प्रणीत नहीं है और जिसके वचन परस्पर-विरोधी हैं, प्रामाणिक एवं अनात्मविरोधी स्मृति के समक्ष कुछ महत्त्व नहीं रखती। दृष्टार्थ वाली स्मृति अदृष्टार्थ वाली के आगे महत्त्वहीन है। श्रुतिमूलक अनुमान पर आधारित स्मृति या वैदिक वचन की प्रशंसा में कही गयी वैदिक उक्तियों पर आधारित स्मृति स्वयं (प्रत्यक्ष) श्रुति-वचन पर आधारित स्मृति के समक्ष महत्त्वहीन है। (इसी प्रकार) रीति, स्मृति के समक्ष कुछ अर्थ नहीं रखती और कोई रीति शिष्टों द्वारा स्वीकृत रीति के समक्ष महत्त्वहीन है।

अध्याय ३३

परम्पराएँ एवं धर्मशास्त्र-ग्रन्थ

हम इस अध्याय में देखेंगे कि धर्मशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों ने किस प्रकार परम्पराओं एवं रीतियों की प्रामाणिकता एवं उनकी अनुल्लंघनीय शक्ति का विवेचन किया है। हारीत ने **सदाचार** की परिभाषा यों की है--'सत्' का अर्थ है साधु (अच्छा) और साधु लोग वे हैं जो क्षीण-दोष (अनैतिक कर्मरहित) हैं; ऐसे लोगों के आचरण सदाचार कहे जाते हैं।[1] मनु ने भी सदाचार की परिभाषा की है (२।१८)।

अधिकांश प्राचीन सूत्रों ने भी प्रमाणित किया है कि बहुत-सी परम्पराएँ एवं रीतियाँ विभिन्न देशों एवं ग्रामों में उद्भावित हुईं। आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।७।१-२) का कथन है--"वास्तव में देशों (जनपदों) एवं ग्रामों के बहुत-से धर्म (आचार या रीतियाँ) हैं, लोगों को विवाहों में उनका अनुसरण करना चाहिए जो सबमें समान (सार्वजनीन) हैं, हम उनका वर्णन करेंगे।"[2] आप० गृ० सू० (२।१५) में कहा गया है--"किस रीति की विधि का पालन करना चाहिए, इस विषय में लोगों को स्त्रियों से पूछना चाहिए," और आप० ध० सू० (१।७।२०।८= २।११।२९।१४) ने व्यवस्था दी है कि आर्यों द्वारा सभी देशों में सर्व-सम्मति से अनुमोदित आचरण के अनुसार तथा सम्यक् अनुशासित व्यक्तियों, वृद्धों, इन्द्रिय-निग्रहियों, अलोभियों और अदाम्भिकों (छल-छद्मविहीनों) के आचरणों के अनसार व्यक्ति को अपने कर्तव्य का निर्धारण करना चाहिए। और एक सूत्र में कहा गया है--कुछ आचार्यों का कहना है कि धर्मशेष (शास्त्रवर्णित धर्मनियमों से बाकी बचे हुए) कृत्य स्त्रियों से और सभी जाति के मनुष्यों से समझने चाहिए (स्त्रीभ्यश्च सर्ववर्णेभ्यश्च धर्मशेषान्प्रतीयादित्येके। २।२।-२९।१५)। बौ० ध० सू० (१।५।१३) का कहना है कि (श्राद्ध के संबन्ध में)--"अन्य क्रियाओं के विषय में लोक-रीतियों का पालन करना चाहिए।"[3] कतिपय गृह्यसूत्रों (पारस्कर २।१७; मानव गृह्यसूत्र १।४।६) ने कृषि कर्म, छुट्टियों अर्थात् अनध्याय आदि के आरम्भ करने के विषय में लोगों द्वारा पालित होनेवाले आचरणों की ओर संकेत किया है। हम इनके विस्तार के विषय में यहाँ नहीं पड़ेंगे। मनु (४।१७८) ने सभी मनुष्यों के लिए सामान्य व्यवस्था दी है--"व्यक्ति को उसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिए जिस पर सज्जनों के पिता एवं पितामह चलते आये हैं; ऐसा करने से उसकी कोई हानि नहीं होगी।"[4] सामान्य मनुष्यों के लिए यह विधि समझने एवं अनुसरण करने के लिए

१. साधवः क्षीणदोषाः स्युः सच्छन्दः साधुवाचकः। तेषामाचरणं यत्तु स सदाचार उच्यते॥ हारीत (परा० मा० १, भाग १, पृ० १४४); विष्णुपुराण (३।११।३, दीपकलिका--याज्ञ० १।७)।

२. अथ खलूच्चावचा जनपदधर्मा ग्रामधर्माश्च तान् विवाहे प्रतीयात्। यत्तु समानं तद्वक्ष्यामः। आश्व० गृ० सू० (१।७।१-२)।

३. शेषक्रियायां लोकोनुरोद्धव्यः। बौधायनधर्मसूत्र (१।५।१३)।

४. येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः। तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति॥ मनु (४।१७८)। और देखिए तन्त्रवार्तिक (१।३।७); मिता० (याज्ञ० १।१५४) एवं मेधा० (मनु २।१८)।

सरल है। यह वचन स्पष्ट करता है कि परिवर्तन अथवा प्रगतिशीलता की गुंजाइश सदैव अनुभूत होती रही है, परिवर्तन का भय निरर्थक है, जैसा कि बहुधा पहले और आजकल के कुछ लोग भ्रामक ढंग से समझते अथवा करते आये हैं। हमारे धर्मशास्त्रों ने नयी रीतियों अथवा श्रेष्ठ गुरुजनों एवं शिष्टों की रीतियों को, जो समयानुसार समाजकल्याण एवं नयी व्यवस्थाओं के लिए स्थित्यनुकूल परिवर्तित होती रही हैं, सदैव मान्यता दी है। आचार या सदाचार सुस्पष्ट अथवा प्रत्यक्ष होता है और विरोधी मतों की स्थिति में समझौता करने में उसे समझना बड़ा सरल होता है, इसी से प्राचीनतम स्मृतियों एवं पुराणों में इसकी प्रशंसा की गयी है। देखिए मनु (४।१५५-१५८), वसिष्ठ० (६।६-८), अनुशासनपर्व (१०४।६-९), विष्णु० (७१।९०-९२), मार्कण्डेय (३४), ब्रह्मपुराण (१२१।६-९), विष्णुपुराण (३, अध्याय ११-१२) एवं कूर्मपुराण (उत्तरार्ध, अध्याय १५)।

परम्पराओं के अनुल्लंघनीय स्वरूप के विषय में सामान्य नियम निम्न प्रकार का है। गौतम (११।२०) कहते हैं—"देश, जाति एवं कुल के धर्म, जो वैदिक वचनों के विरोध में नहीं पड़ते, प्रामाणिक एवं अनुल्लंघनीय हैं।" गौतम ने इसके आगे के दो सूत्रों में कहा है कि कृषक (खेतिहर), वणिक, पशुपालक, कुसीदी (महाजन या हुंडी चलानेवाले ऋणदाता अथवा व्याज पर रुपया देनेवाले) एवं शिल्पी अपने-अपने वर्गों के लिए धर्म-व्यवस्थाएँ एवं रीतियाँ चला सकते हैं, और इन व्यवस्थाओं अथवा रीतियों से उत्पन्न विवादों के निर्णयों में राजा को उन लोगों से सम्मति लेनी चाहिए जो इन वर्गों में श्रेष्ठता प्राप्त किये रहते हैं।[५] वसिष्ठ (१।१७) का कथन है—"मनु ने घोषित किया है कि देशों, जातियों एवं कुलों की परम्पराएँ वेद-नियमों के अभाव में सम्मानित होनी चाहिए" और उन्होंने आगे चलकर एक स्थान (१९।७) पर व्यवस्था दी है कि "राजा को चाहिए कि वह इन परम्पराओं (धर्मों) को चारों वर्णों द्वारा पालित कराये।" यही बात आप० ध० सू० (२।६।१५।१) ने भी कही है, किन्तु यह मत, लगता है, बौधायनधर्मसूत्र (१।१।१९-२६) को मान्य नहीं है—"दक्षिण और उत्तर में पाँच प्रकार के व्यवहारों में मतैक्य नहीं है। हम दाक्षिणात्यों के नियमों की व्याख्या करेंगे, जो ये हैं—जिनका उपनयन न हुआ हो, उनके साथ (एक ही पात्र में) भोजन करना, पत्नी के साथ उसी प्रकार भोजन करना, पर्युषित भोजन (बासी भोजन) करना, एवं मातुलकन्या या फूफी की पुत्री से विवाह करना। उत्तरी लोगों की विशेष पाँच रीतियाँ ये हैं—ऊर्णाविक्रय (ऊन बेचना), सीधु-पान (सीधु नामक आसव का जो खाँड या सीरा से बनाया जाता है, पीना), दो दंत-पंक्तियों वाले पशुओं का व्यापार, आयुधजीवी (अस्त्र-शस्त्र का पेशा करना) होना तथा समुद्र-यात्रा। अन्य देशों के लोग जब इन रीतियों का अनुसरण करते हैं तो पाप के भागी होते हैं। इन रीतियों को उन्हीं देशों में प्रामाणिकता मिली है जहाँ पर ये विशिष्ट रूप से मान्य होती रही हैं। गौतम का कहना है कि यह बात गलत है और झूठ है; उनके कहने के अनुसार ये रीतियाँ स्वीकार्य नहीं होनी चाहिए, क्योंकि ये शिष्टों की परम्परा के विरुद्ध हैं (या शिष्ट-स्मृतिविरोधी हैं)।" तंत्रवार्तिक (पृ० २११) ने आपस्तम्ब एवं बौधायन की उक्तियों की चर्चा की है और कहा है कि आपस्तम्ब का तत्सम्बन्धी सामान्य नियम वैधानिक नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि वह गौतम (११।२०) के विरोध में पड़ता है, और उसने (तन्त्रवार्तिक ने) बौधायन के कथन की मान्यता प्रकट की है कि वे विशेष आचरण, जो कुछ विशिष्ट स्थानों में प्रचलित हैं, उन विशेष स्थानों के लिए भी वैधानिक एवं अनुल्लंघनीय नहीं समझे जाने चाहिए, क्योंकि वे मनु आदि प्रतिष्ठित, सम्पूज्य एवं प्रामाणिक धर्मज्ञापकों के विरोध में पड़ते हैं।

५. **देशजातिकुलधर्माश्चाम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम्। कर्षकवणिक्कुसीदिकारवः स्वे स्वे वर्गे। तेभ्यश्च यथाधिकारमर्थानप्रत्यवहृत्य धर्मव्यवस्था। गौ० (११।२०-२२); देशधर्मजातिधर्मकुलधर्मान् श्रुत्यभावादब्रवीन्मनुः। वसिष्ठ० (१।१७)।**

मनु ने कतिपय स्थानों पर परम्पराओं एवं रीतियों के प्रतिष्ठापन की व्यवस्था दी है--"विजयी राजा द्वारा विजित देश की वैधानिक परम्पराओं को प्रामाणिकता एवं अनुल्लंघनीयता दी जानी चाहिए" (मनु ७।२०३); "धर्मज्ञ राजा को चाहिए कि वह जाति, जानपदों (देशों), श्रेणियों एवं कुलों के धर्मों (रीतियों या नियमों या विधियों) की जानकारी सावधानी से करे और उन्हें उन विशिष्ट स्थानों में व्यवस्थित करे। शिष्टों (सद् व्यक्तियों) एवं धर्मज्ञ द्विजों द्वारा प्रयुक्त जो धर्माचरण है उसे राजा द्वारा नियम के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहिए, बशर्ते वह जानपदों, कुलों एवं जातियों की परम्पराओं के विरुद्ध न हो" (मनु ८।४१ एवं ४६)।[6] मेधातिथि (मनु २।६) ने कहा है कि यह राजा का कर्त्तव्य है कि वह यह समझ ले कि जानपदों, कुलों, जातियों एवं श्रेणियों की परम्पराएँ वेद-विरुद्ध तो नहीं हैं, अथवा अन्यों के लिए अहितकर तो नहीं हैं, अथवा पूर्णरूपेण अनैतिक (यथा अपनी माँ से विवाह करना) तो नहीं हैं; केवल वे ही परम्पराएँ राजा द्वारा प्रतिष्ठापित होनी चाहिए जो ऐसी नहीं हैं; शिष्टों के सदाचार वेद-स्मृतिकथनों के अभाव में सम्मान्य होने चाहिए और यह समझना चाहिए कि वे वेद पर आधारित हैं (शिष्टों को वेदज्ञ, अलोलुप एवं सदाचारी होना परमावश्यक है)। मेधातिथि ने इस प्रकार के सदाचार के कई उदाहरण दिये हैं और महाभारत (वनपर्व ३१३।११७) के वचनों का सहारा लिया है--"(सत्य) धर्म का तत्त्व अँधेरी गुफा में छिपा हुआ है; (ऐसी स्थिति में एक मात्र) मार्ग वही है जिसका अनुसरण महाजन (शिष्ट जन) करते हैं।"[7] मनु (१।११८) ने घोषित किया है कि उन्होंने अपने शास्त्र (शास्त्र-विधान या व्यवस्था-विधि) में देशों (जनपदों), जातियों एवं कुलों के प्राचीन (बहुत दिनों से चलते आये हुए) कानूनों (या परम्पराओं) एवं पाषंडियों (नास्तिकों या वेद-विरोधियों) तथा श्रेणी (व्यापारियों आदि के वर्ग) के नियमों का विवेचन किया है। याज्ञ० (१।३४३) ने व्यवस्था दी है कि जब विजयी राजा किसी देश को जीतता है तो उसे वहाँ की परम्पराओं, कानूनों एवं व्यवहार-विधियों (कानूनी प्रणालियों) अथवा न्याय-विधियों तथा पीढ़ियों से चली आयी हुई कुलरीतियों (जब कि वे शास्त्र विरोधी न हों) को सुरक्षित रखना चाहिए और जैसा कि मिताक्षरा ने कहा है कि राजा को अपने देश की रीतियों को विजित देश पर लादकर विरोध नहीं खड़ा करना चाहिए। याज्ञ० (२।१९२) ने मनु और गौतम के समान प्रतिपादित किया है कि राजा को उसी प्रकार श्रेणियों (शिल्पियों के समुदायों, दलों अथवा वर्गों), नैगमों (व्यवसायियों), पाषंडियों एवं अन्य समुदायों (यथा आयधजीवियों के समुदाय के समान अन्य समुदायों) की विभिन्न रीतियों को उसी प्रकार मान्यता देनी चाहिए जिस प्रकार वह विद्वान् ब्राह्मणों के प्रयोगों

६. जातिजानपदान्धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्। समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥ मनु (८।४१)। इस पर मेधातिथि ने यों टीका की है--"समीक्ष्य विचार्य किमाम्नायैर्विरुद्धा अथ न तथा पीडाकराः कस्यचिदुत न एवं विचार्य येऽविरुद्धास्तान् प्रतिपादयेत् अनुष्ठापयेदित्यर्थः।...मातृबिवाहादि सार्वभौमेन निवारणीयः।...एककार्यापन्ना वणिक्कारुकुसीदचातुर्विद्यादयः तेषां धर्माः श्रेणीधर्माः।" कुछ ग्रन्थों में ऐसा आया है कि पारसीकों में माता से विवाह करने की अनैतिक प्रथा थी। देखिए यशस्तिलकचम्पू--'श्रूयते हि वंगीमण्डले नृपतिदोषाद् भदेवेष्वासवोपयोगः पारसीकेषु च स्वसवित्रीसंयोगः सिंहलेषु विश्वामित्रसृष्टि-प्रयोग इति।' (चौथा आश्वास, पृ० ९५)। देखिए स्मृतिमुक्ताफल (पृ० १३०) एवं स्मृतिच० (१, पृ० १०)।

७. अथाप्ययं न्यायो महाजनो येन गतः स पन्था इति...। विद्वांसो ह्यत्र निष्कामाः प्रवृत्तिपूर्वा अनिन्द्याश्च लोके। अथाप्रामाणिकी प्रवृत्तिः सापि वेदप्रामाण्यात् सिद्धैवेति। मेधा० (मनु २।१)। वनपर्व (३१३।११७) का मूल श्लोक यह है--'तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्। धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥ विश्वरूप (याज्ञ० १।९) ने भी 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' ये शब्द उद्धृत किये हैं।

अथवा रीतियों का सम्मान करता है। विद्वान् ब्राह्मणों के व्यवहारों अथवा उनके द्वारा प्रयुक्त रीतियों के विषय में याज्ञ० (२।१८६) ने कहा है कि राजा को वेद-स्मृति-वचनों के विरोध में न आनेवाली ऐसी रीतियों को बलपूर्वक प्रतिष्ठा देनी चाहिए (यथा चरागाहों, नहरों, कूपों के निर्माण एवं मन्दिरों के रक्षण के विषय में तथा यात्रियों की सुख-सुविधा, शत्रुओं के साथ अश्वों के क्रय-विक्रय के प्रतिबन्ध आदि के विषय में)। कौटिल्य ने व्यवस्था दी है कि राजा को धन-सम्पत्ति के उत्तराधिकार एवं विभाजन के विषय में देश, जाति, संघ या ग्राम के धर्म (नियम, परम्परा अथवा रीति) का पालन करना चाहिए।[८] देवल एवं बृहत्पराशर (१०, पृ० २८१) में भी याज्ञ० (१।३४३) के समान ही एक श्लोक है।[९] महाभारत का कथन है कि ऐसा कोई आचार अथवा व्यवहार या रीति नहीं है जो सबके लिए समान रूप से कल्याणकारी हो।[१०] इससे यह प्रकट होता है कि राजा आचारों (व्यवहारों अथवा रीतियों) के प्रभेदों पर प्रतिबन्ध नहीं लगाते थे अर्थात् उन्हें ज्यों के त्यों मान्य होने के लिए छोड़ देते थे। बृहस्पति ने राजा को देशों, जातियों और कुलों में प्रचलित पुरानी परम्पराओं को ज्यों की त्यों रहने देने की सम्मति दी है और कहा है कि ऐसा न करने से प्रजाजनों में असंतोष पैदा होगा, क्रांति होगी, जिसके कारण धन-जन की हानि होगी।[११] उन्होंने कुछ विलक्षण व्यवहारों और आचारों के उदाहरण दिये हैं, यथा—"दक्षिण देश के द्विज मातुलकन्या से विवाह करते हैं; मध्यदेश (हिमालय और विंध्य के मध्य का देश जो प्रयाग के पश्चिम और विनशन के पूर्व में है और जहाँ सरस्वती नदी विलीन हो जाती है, मनु २।२१) में कर्मकर एवं शिल्पी लोग गाय का मांस खाते हैं; पूर्व देशों के लोग (ब्राह्मण भी) मछली खाते हैं और उनकी स्त्रियाँ व्यभिचारिणी होती हैं; उत्तर की स्त्रियाँ मद्यपान करती हैं और वहाँ के पुरुष रजस्वला स्त्री को स्पर्श करते हैं; खश देश के लोग अपने भाई की विधवा को ग्रहण करते हैं; ऐसे लोग न तो दंड के अधिकारी हैं और न उन्हें प्रायश्चित्त करना पड़ता है, क्योंकि उनकी ऐसी रीतियाँ ही हैं।"

कात्यायन ने देशों और कुलों के आचारों की परिभाषा दी है और बतलाया है कि कब और कैसे उन्हें कार्यान्वित करना चाहिए—"किसी देश का आचार वह है जो वहाँ प्रचलित हो, सार्वकालिक हो और श्रुति-स्मृति का विरोधी न हो। कुल-धर्म (कुलपरम्परा) वह है जो वंश-परम्परा से कुल में उसके सदस्यों द्वारा सम्यक् आचरण के रूप में पालित होता आया हो; राजा को इसे उसी प्रकार रक्षित करना चाहिए। एक ही देश या पत्तन (राजधानी), पुर, ग्राम आदि

८. देशस्य जात्याः संघस्य धर्मो ग्रामस्य वापि यः। उचितस्तस्य तेनैव दायधर्मं प्रकल्पयेत्॥ अर्थशास्त्र (३।७, पृ० १६५); अक्षपटलमध्यक्षः... निबंधपुस्तकस्थानं कारयेत्। तत्राधिकरणानां संख्यां... देशग्रामजातिकुलसंघातानां धर्मव्यवहारचरित्रसंस्थानं... निबंधपुस्तकस्थं कारयेत्। अर्थशास्त्र (२।७, पृ० ६२)।

९. यस्मिन्देशे पुरे ग्रामे त्रैविद्ये नगरेऽपि वा। यो यत्र विहितो धर्मस्तं धर्मं न विचारयेत्॥ देवल (स्मृतिच० १. पृ० १०)।

१०. न हि सर्वहितः कश्चिदाचारः सम्प्रवर्त्तते। शान्तिपर्व (२६१।१७)।

११. देशजातिकुलानां च ये धर्मास्तत्प्रवर्तिताः। तथैव ते पालनीयाः प्रक्षुभ्यन्त्यन्यथा प्रजाः। जनापरक्तिर्भवति बलं कोशश्च नश्यति। उद्वाह्यते दाक्षिणात्यैर्मातुलस्य सुता द्विजैः। मध्यदेशे कर्मकराः शिल्पिनश्च गवाशिनः। मत्स्यादाश्च नराः पूर्वे व्यभिचाररताः स्त्रियः। उत्तरे मद्यपा नार्यः स्पृश्या नृणां रजस्वलाः। खशजाताः प्रगृह्णन्ति भ्रातृभार्यामभर्तृकाम्। अनेन कर्मणा नैते प्रायश्चित्तदमार्हकाः॥ बृह० (स्मृतिच० १।१०; व्य० नि० पृ० १६; मदनरत्न; स्मृतिमुक्ताफल, वर्णाश्रम पृ० १३०; शुक्रनीति ४।५।४८-५२; व्य० मयूख पृ० ७; व्य० प्र० पृ० २२; हरदत्त, आप० ध० सू० २।१०।२७।३)।

के निवासियों के बीच यदि रीति सम्बन्धी विरोध उठ खड़े हों तो निर्णय परम्परागत रीतियों के आधार पर ही किया जाना चाहिए, किन्तु इन स्थानों के निवासियों एवं अन्य लोगों में मतभेद उत्पन्न हो जायँ तो निर्णय शास्त्रों के मतानुकल किया जाना चाहिए। अतः राजा को लोगों के विवादों को शास्त्र के अनुकूल निपटाना चाहिए, किन्तु शास्त्रवचनों के अभाव में उसे देश के दृष्ट (रीति) के अनुसार न्याय-निर्णय करना चाहिए। जो कुछ देश के लोगों की सम्मति से तय किया जाय, उसे राजा की मुद्रा द्वारा मुद्रित कर रक्षित करना चाहिए। इस प्रकार की परम्पराओं को उसी प्रकार मान्यता मिलनी चाहिए जो शास्त्र द्वारा निरूपित आदेशों को मिलती है और राजा को सावधानीपूर्वक उन पर विचार करके विवादों के विषयों में निर्णय करना चाहिए।" देखिए स्मृतिचंद्रिका (२, पृ० २६); परा० मा० (३।४१); अपरार्क (पृ० ५९९); व्य० प्र० (पृ० २१-२२) एवं व्य० नि० (पृ० १५-१६)। यहाँ पर कात्यायन प्रमुख रूप से उन न्यायिक विवादों के विषय में कहते हैं जो देशों और कुलों के आचारों पर आधारित हैं किन्तु जिनके नियम की सामान्य प्रयोग-सिद्धि भी है। उन्होंने यह भी कहा है कि कानूनों (व्यवहारों) में भेद उत्पन्न होने पर शास्त्र को प्रमुखता मिलती है। पितामह ने भी ग्राम, गोष्ठ, पुर, श्रेणी की रीतियों के विषय में ऐसी ही बात कही है और कहा है कि बृहस्पति का भी ऐसा मत है (स्मृतिचं० २, पृ० २६)। मनु (८।३) ने भी राजा को लोगों के विवाद-निर्णय में देश-दृष्ट हेतु (स्थानीय आचारों) एवं शास्त्र-दृष्ट (शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित नियमों) का सहारा लेने का आदेश दिया है। मेधातिथि ने मनु के इस कथन की टीका में स्थानीय आचारों से सम्बन्धित कुछ मनोरंजक दृष्टान्त उपस्थित किये हैं, दक्षिण के कुछ स्थानों में पुत्रहीन विधवा को न्यायकक्ष में बैठने के लिए एक वर्गाकार आसन मिलता है जहाँ उस पर न्यायिक कर्मचारियों द्वारा पासा फेंका जाता है और उसके उपरान्त उसे पति की सम्पत्ति प्राप्त होती है (देखिए ऋग्वेद १।२५।७ की व्याख्या में निरुक्त ३।५); उत्तर में यह रीति है कि जब कुछ लोग वर की ओर से विवाह के लिए वधू खोजने के लिए जाते हैं और कन्या के पिता के घर में भोजन कर लेते हैं तो इससे यह समझा जाता है कि मानो पिता ने उस वर को अपने दामाद के रूप में ग्रहण करने की स्वीकृति दे दी है। ये दोनों आचार अथवा व्यवहार किसी श्रुति अथवा स्मृति के विरोध में नहीं हैं। मेधातिथि ने कुछ ऐसी स्थानीय रीतियों का वर्णन किया है जो स्मृतिविरोधी हैं, यथा——वसंत में जो अनाज दिया जाता है वह शरद में दूनी मात्रा में लिया जाता है, यह स्मृतियों द्वारा निर्धारित ब्याज की मात्रा के विरोध में पड़ता है।

श्रुति, स्मृति एवं सदाचार की पारस्परिक वरीयता के विषय में जो प्रश्न उपस्थित होता है, उसका समाधान सरल नहीं है, क्योंकि इस विषय में जो नियम प्रतिपादित हैं उनमें मतैक्य नहीं पाया जाता। मनु (२।६), वसिष्ठ (१।४-५) एवं याज्ञ० (१।७) ने धर्म के प्रमाणों के रूप में क्रम से श्रुति, स्मति एवं सदाचार का उल्लेख किया है, इसी से मिताक्षरा का कथन है कि "विरोध की स्थिति में तीनों में प्रत्येक के पूर्ववर्ती प्रमाण को अपेक्षाकृत अधिक वरीयता एवं अनुल्लंघनीयता प्राप्त है (एतेषां विरोधे पूर्वपूर्वस्य बलीयस्त्वम्)। सभी स्मृतिकारों ने उन लोगों के लिए जो धर्म का ज्ञान करना चाहते हैं, श्रुति या वेद को सबसे अधिक प्रामाणिक मानने को कहा है (मनु २।१३ एवं याज्ञ० १।४०)। गौतम (१।५), मनु (२।१४) एवं जाबालि ने घोषित किया है कि जब दो वैदिक वचनों में विरोध उत्पन्न हो तो विकल्प का सहारा लेना चाहिए। इस विषय में जो बहुत-सी बातें कही गयी हैं, हम स्थानाभाव से उन पर यहाँ विचार नहीं करेंगे। हाँ, कुछ ऐसे नियम हैं जो सामान्य होते हैं और कुछ ऐसे हैं जो विशिष्ट कहे जाते हैं, इसी से स्थान-स्थान पर एवं विशिष्ट-विशिष्ट परिस्थितियों में अर्थवाद का सहारा लेकर नये-नये निर्णय किये गये हैं, यथा ब्रह्महत्या महापातक माना गया है (मनु ८।३८१) किन्तु आत्मरक्षा में ब्रह्महत्या करना पातक नहीं ठहराया गया है (मनु ८।३५०), गुरु की हत्या निषिद्ध है किन्तु आततायी गुरु की हत्या वर्जित नहीं मानी जाती। इस विषय में हम कुछ दृष्टान्त आगे देंगे, यहाँ इतना ही पर्याप्त है।

हमने गत अध्याय में पूर्वमीमांसा द्वारा व्याख्यात उन नियमों की ओर संकेत कर दिया है जो श्रुति एवं स्मृति के नियमों के विरोध से सम्बन्धित हैं। जैमिनि (६।१।१३-१४) एवं शबर ने एक दृष्टान्त दिया है; यदि मनु (८।४१६) पर निर्भर होकर पूर्वपक्ष यह तर्क उपस्थित करे कि स्त्रियाँ सम्पत्ति नहीं पातीं, अतः उन्हें वैदिक यज्ञ नहीं करना चाहिए, तो यह श्रुतिविरोधी व्याख्या कही जायगी और स्त्रियों द्वारा उसे मान्यता नहीं प्राप्त हो सकती। इस विषय में स्मृतियों ने भी कुछ सामान्य नियम दिये हैं। लौगाक्षि एवं जाबालि ने प्रतिपादित किया है कि श्रुति एवं स्मृति के विरोध में पहली को अधिक मान्यता मिलती है और यदि विरोध न हो तो यह समझना चाहिए कि स्मृति का वह वचन श्रुतिसमर्थित है। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।४६) ने स्वीकार किया है कि वेदविहित बात स्मृतिविहित किसी विशिष्ट बात से बाधित नहीं की जा सकती। किन्तु उपर्युक्त श्रुतिसम्मत नियमों की वरीयता को प्रकट करनेवाले सामान्य वचनों के रहते हुए भी विश्व-रूप, मेधातिथि एवं विज्ञानेश्वर के समान टीकाकारों को यह स्वीकार करना पड़ा कि श्रुतियों में जो कुछ नियम प्रति-पादित हुए वे स्मृतिवचनों द्वारा अथवा प्रचलित मनोभावों द्वारा या तो बाधित किये गये या खंडित किये गये या परित्यक्त किये गये। अग्निष्टोम यज्ञ में **उदयनीया** कृत्य की परिसमाप्ति के उपरान्त वैदिक वचनों द्वारा एक कृत्य प्रतिपादित किया गया था जिसके द्वारा मित्र और वरुण के लिए एक बाँझ गाय (अनवन्ध्या) की बलि दी जाती थी। किन्तु कालान्तर में इसे निन्द्य ठहराया गया और गाय के स्थान पर आमिक्षा (गर्म दूध और दही के मिश्रण) का प्रयोग होने लगा। देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अध्याय ३३। याज्ञ० (३।२३४) ने गोवध को उपपातकों में प्रथम स्थान दिया है। मेधातिथि (४।१७६) ने यह कहने के उपरान्त कि विश्वजित् यज्ञ में सम्पूर्ण सम्पत्ति के दान या गोवध जैसे कृत्य नहीं सम्पादित होने चाहिए (यद्यपि ये वेदानुमोदित हैं), कहा है कि उन्होंने ऐसी व्याख्या अपने पूर्ववर्ती लेखकों के मतों के अनुसार की है, किन्तु उनके अनुसार श्रुतिकथन स्मृतिकथनों द्वारा बाधित नहीं हो सकता।[१२] और देखिए विश्वरूप (पृ० २६, याज्ञ० १।७)। कभी-कभी सैद्धान्तिक रूप से दुर्बल स्मृतिवचन को श्रुतिवचन से अधिक महत्ता मिल गयी है, यथा--वेद ने सौत्रामणि इष्टि में आसव से कटोरों को भरने की व्यवस्था दी है, जो कलियुग में वर्जित ठहराया गया है (देखिए आगे का अध्याय **कलिवर्ज्य**)।

सामान्य नियम यह है कि जब आचार या रीति श्रुतिवचन के विरोध में हो तो श्रुति (वेद) को ही मान्यता मिलती है। आपस्तम्ब ने इस नियम को कई बार बलपूर्वक प्रतिपादित किया है, यथा--आप० ध० सू० (१।१।४।८, १।१।१३०।८-९ एवं २।९।२३।८-९ आदि)।

स्मृतिवचनों के पारस्परिक विरोध के समाधान का प्रश्न अपेक्षाकृत अधिक कठिनाई उत्पन्न करता है। बहुत प्राचीन काल से ही स्मृतिकारों के वचनों में अत्यधिक विरोध पाया जाता रहा है। कुछ दृष्टान्त द्रष्टव्य हैं। आप० ध० सू० (१।६।१९।२-१२) ने 'किन लोगों के यहाँ ब्राह्मण भोजन कर सकता है' के विषय में अपने पूर्ववर्ती दस लेखकों के मत प्रकाशित किये हैं। हमने ऊपर स्थानीय रीतियों की वैधानिकता के सम्बन्ध में गौतम एवं बौधायन के मतों पर प्रकाश डाल दिया है। मनु ने चार ऋषियों के तीन मत इस विषय में प्रकाशित किये हैं जो उस ब्राह्मण की स्थिति से सम्बन्धित हैं जो शूद्रा से विवाह करता है या उससे पुत्र या संतान उत्पन्न करता है। बौधा० ध० सू० (१।८।२), मनु (३।१३), विष्णु० (२४।१।४), पारस्कर० (१।४) एवं वसिष्ठ (१।२५) ने व्यक्त किया है कि ब्राह्मण लोग शूद्र पत्नी कर सकते हैं, किन्तु याज्ञ० (१।५६) ने इसका विरोध किया है और कहा है कि 'मेरा ऐसा मत नहीं है।' इन स्थितियों

१२. न हि प्रत्यक्षश्रुतिविहितस्य स्मृत्या बाधो न्याय्यः। मेधा० (मनु ४।१७६) तेन वेदविरुद्धाया स्मृतेर्बाध इति स्थितिः। विश्वरूप (पृ० २६, याज्ञ० १।७)।

में मध्यकाल के निबन्धों और टीकाकारों को बाध्य होकर व्याख्या द्वारा नियम प्रतिपादित करने पड़े। बहुत पहले एक बात प्रतिपादित की जा चुकी थी कि जब दो स्मृति-वचनों में विरोध हो तो शिष्टों के व्यवहार पर आधारित तर्क को अधिक बल देना चाहिए (याज्ञ० २।२१)।[१३] मिताक्षरा ने कहा है कि ऐसी स्थिति में ऐसा समझना चाहिए कि एक स्मृति-वचन सामान्य नियम देता है तो दूसरा स्मृति-वचन विशिष्ट नियम, जो सामान्य नियम की अपेक्षा अच्छा समझा जाता है, या ऐसा समझना चाहिए कि वह स्मृति-वचन भिन्न परिस्थितियों से सम्बन्धित है या अन्तिम रूप में उसे विकल्प रूप में लेना चाहिए। किन्तु इन निष्कर्षों तक पहुँचने में शिष्टों के आचारों का अनुसरण करना चाहिए, जो किसी नियम को मान्यता देते हैं, किसी को छोड़ देते हैं या उसकी चिन्ता नहीं करते। बृहस्पति का कथन है--"किसी विवाद के निर्णय में केवल शास्त्रों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए, क्योंकि निर्णय में तर्क के अभाव से धर्म की हानि होती है।"[१४] नारद (१।४०) ने मिताक्षरा के समान ही कहा है--"जब धर्मशास्त्र के वचनों में विरोध हो तो ऐसा घोषित हुआ है कि (उस स्थिति में) तर्क का सहारा लेना चाहिए। क्योंकि लोक-व्यवहार (शिष्टों का आचरण) बलवान् होता है और उससे धर्म (स्मृति-वचन) अपेक्षाकृत दुर्बल पड़ जाता है (अथवा उससे धर्म का उचित ज्ञान हो जाता है)।" निष्कर्ष यह है कि जब शास्त्रीय नियम संकीर्ण सिद्ध हो जायँ या जब वे प्रगतिशील समाज के मतों की संगति में न बैठ सकें तो शिष्टों के वचन को प्रामाणिकता मिलनी चाहिए।

एक नियम ऐसा भी था कि जब धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र के नियमों में विरोध पड़ जाय तो प्रथम को अधिक बल या प्रामाणिकता मिलनी चाहिए और दूसरे को तिरस्कृत कर देना चाहिए।[१५] देखिए आप० ध० सू० (१।९।२४।२३); याज्ञ० (२।२१); नारद (१।३९) एवं कात्यायन (२०)। अर्थशास्त्र के नियमों का सम्बन्ध लौकिक उद्देश्यों की पूर्ति से है और धर्मशास्त्र के नियम अदृष्टार्थ हैं, अर्थात् उनसे पारलौकिक फल प्राप्त होते हैं, अतः आध्यात्मिक दृष्टि-कोण से उसे अपेक्षाकृत अधिक महत्ता प्राप्त है।

स्मृतियों के विरोध के समाधान के लिए कई प्रकार की विधियाँ प्रतिपादित हुई हैं। बृहस्पति का कथन है--"मनुस्मृति को प्रमुखता या प्रधानता प्राप्त है, क्योंकि वह वेदार्थ उपस्थित करती है (अर्थात् वेदों के वचनों के अर्थ को एकत्र करती है); वह स्मृति जो मनु के अर्थ के विपरीत है, अच्छी नहीं मानी जाती, अर्थात् उसे प्रशंसा नहीं मिलती।"[१६]

१३. स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः। याज्ञ० (२।२१)।

१४. न्यायमनालोचयतो दोषमाह बृहस्पतिः। केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो हि निर्णयः। युक्तिहीने विचारे तु धर्महानिः प्रजायते॥ व्य० मयूख (पृ० ७); परा० मा० (३, पृ० ३९); व्य० मातृका (पृ०२८१); स्मृतिच० (२, पृ० २४); व्य० प्र० (पृ० १३); धर्मशास्त्रविरोधे तु युक्तियुक्तो विधिः स्मृतः। व्यवहारो हि बलवान् धर्मस्तेनावहीयते॥ नारद (१।४०)। व्य० मातृका (पृ० २८२) के मत से 'युक्ति' का अर्थ है लोकव्यवहार। और देखिए व्यवहारतत्त्व (पृ० १९९); धर्मशास्त्रयोस्तु विरोधे लोकव्यवहार एवादरणीयः।...अवहीयते अवगम्यते, हि गतावित्यस्माद्धातोः।

१५. यत्र विप्रतिपत्तिः स्याद्धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोः। अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमाचरेत्॥ नारद (१।३९); मेधा० (मनु ७।१)।

१६. वेदार्थोपनिबद्ध(न्द्धृ ?)त्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्। मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते॥ तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च। धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते॥ बृह० (कुल्लूक, मनु १।१)। और देखिए अपरार्क (पृ० ६२८), स्मृतिच० (१, पृ० ६ एवं ७)।

यही बात अंगिरा ने भी कही है। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।३००) ने मनुस्मृति आदि को 'महास्मृति' की संज्ञा दी है। कुछ लेखकों ने वैदिक वचन उद्धृत किया है--"मनु ने जो कुछ कहा है वह, वास्तव में, भेषज (औषध) है।" यहाँ मनु को (मनुस्मृति के लेखक मनु को) वेदों में उल्लिखित मनु के समनुरूप माना गया है।"[१७] किन्तु इससे अधिक सहायता नहीं प्राप्त होती। अतः एक अन्य दृष्टिकोण उपस्थित किया गया कि कुछ कालों में आचार के कुछ विशिष्ट नियम तथा कुछ विशिष्ट स्मृतियाँ विशिष्ट प्रामाणिकता रखती हैं। मनु (१।८५-८६=शान्तिपर्व २३२।२७-२८=पराशर १।-२२-२३=बृहत्पराशर १, पृ० ५५) ने स्वयं कहा है कि किसी प्रचलित युग के विषय (या विभिन्न युगों के विषय) में धर्मों की गति विभिन्न है, यथा--**कृत** (सत्य) में तप प्रमुखतम धर्म था, **त्रेता** में ज्ञान, **द्वापर** में यज्ञ और **कलि** में दान प्रमुखतम धर्म है। इसका केवल तात्पर्य यह है कि किसी विशिष्ट युग में कोई विशिष्ट धर्म महत्त्वपूर्ण माना जाता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि एक युग का विशिष्ट धर्म दूसरे युग में वर्जित है। पराशर (१।२४=बृहत्पराशर १, पृ० ५५) ने घोषित किया है कि कृतयुग में मनु द्वारा उद्घोषित नियम माने जाते थे और इसी प्रकार त्रेतायुग में गौतम द्वारा, द्वापर युग में शंख-लिखित द्वारा एवं कलियुग में पराशर द्वारा उद्घोषित धर्मों को मान्यता मिली है।[१८] इस दृष्टिकोण से भी कठिनाइयाँ दूर नहीं होतीं, क्योंकि मध्यकाल के निबन्धों एवं टीकाओं से पता चलता है कि पराशर द्वारा जो उद्घोषित अथवा आज्ञापित किया गया था उसे लोगों ने या तो निन्द्य समझा अथवा मान्यता न दी। स्मृतियों की बहुत-सी व्यवस्थाएँ इसी कारण से **कलिवर्ज्य** (कलियुग में वर्जित) ठहरा दी गयीं और यह कहा गया कि जो कृत्य किसी समय शास्त्र द्वारा व्यवस्थित अथवा अनुमोदित था, वह अब मान्य नहीं हो सकता, विशेषतः जब कि वह लोगों की दृष्टि में निन्द्य सिद्ध हो और उससे स्वर्ग की प्राप्ति न हो।[१९] यही वचन याज्ञ० (१।१५६), बृहन्नारदीयपुराण (२४।१२), मनु (४।७६), विष्णु (७१।८४-८५), विष्णुपुराण (३।११।७), शुक्र (३।६४) एवं बार्हस्पत्यसूत्र (५।१६) ने भी कहा है। और देखिए इस खंड का अध्याय २७। मिताक्षरा ने उपर्युक्त वचनों को कुछ कृत्यों के वर्जित करने के लिए (यद्यपि वे प्राचीन काल में विहित ठहराये गये थे) प्रमाणस्वरूप माना है (याज्ञ० २।११७ एवं ३।१८)। व्यवहारप्रकाश (पृ० ४४२) आदि में भी यही बात कही गयी है। किन्तु, व्याख्या की ऐसी विधियाँ भी कुछ विवादों के विषय में व्यर्थ सिद्ध होती हैं। किसी की मृत्यु पर क्षत्रियों आदि के लिए सूतक की अवधियों के विषय में स्मृतिवचनों में मतैक्य नहीं है और उनमें इतना विरोध है कि महान् लेखक विज्ञानेश्वर (याज्ञ० ३।२२) को कहना पड़ा कि वे इस विषय में स्मृतिवचनों के अनुरूप कोई विधिवत् व्यवस्था नहीं दे सकेंगे, क्योंकि शिष्टों के वचनों के मतैक्य के अभाव में (बहुत-से शिष्ट उन वचनों से भिन्नता के कारण सहमत नहीं हैं) ऐसा करना व्यर्थ है। ऐसी ही कठिनाई में विश्वरूप (याज्ञ० ३।३०) भी पड़ गये हैं। टीकाकारों (माधव, परा० मा० १।१, पृ० ८४ आदि) ने ऐसा कहा है कि साधारण लोग परिश्रमसाध्य धार्मिक कृत्यों (जिन्हें करने के लिए कठिन से कठिन नियम प्रतिपादित हैं) की अपेक्षा सरल नियमों की ओर दौड़ते हैं।[२०]

१७. **श्रुतिरपि यद्वै किं च मनुरवदत्तद् भेषजम्। स्मृतिमुक्ताफल (वर्णाश्रम, पृ० ६)। यह वचन तै० सं० (२।२।१०।२) एवं काठक (११।५) में पाया जाता है।**

१८. **कृते तु मानवो धर्मस्त्रेतायां गौतमः स्मृतः। द्वापरे शंखलिखितः कलौ पाराशरः स्मृतः।। पराशर (१।२४; स्मृतिचं० १, पृ० ११; आचाररत्न पृ० १२)।**

१९. **परित्यजेदर्थकामौ धर्मपीडाकरौ नृप। धर्ममप्यसुखोदर्कं लोकविद्विष्टमेव च।। विष्णुपुराण (३।२।७); धर्ममपि लोकविक्रुष्टं न कुर्यात् लोकविरुद्धं नाचरेत्। बार्हस्पत्यसूत्र (५।१६)।**

२०. **अतः कलौ प्राणिनां प्रयाससाध्ये धर्मे प्रवृत्त्यसम्भवात् सुकरो धर्मोऽत्र बुभुत्सितः। परा० मा० (१, भाग १, पृ० ८४)।**

कुछ विषयों में ऐसी व्यवस्था दी गयी थी कि जहाँ स्मृतियों में विरोध हो तो बहुमत को मान्यता देनी चाहिए। गोभिलस्मृति (३।१४८-१४९) ने कहा है कि जहाँ (स्मृतियों के) वचनों में विरोध हो, प्रामाणिकता उसी को मिलनी चाहिए जो स्मृतिवचनों के बहुमत से समर्थित हो, किन्तु जहाँ दो वचन समान रूप से प्रामाणिक हों, वहाँ तर्क का सहारा लेना चाहिए।[२१] मेधातिथि (मनु २।२९ एवं ११।२१६), मिताक्षरा (याज्ञ० ३।३२५), स्मृतिचं० (१ पृ० ५), अपरार्क (पृ० १०५३), मदनपारिजात (पृ० ११ एवं ९१) आदि के मत से सभी स्मृतियाँ शास्त्र की संज्ञा पाती हैं और जब एक ही विषय पर कुछ स्मृतिवचनों में विरोध हो तो वहाँ विकल्प होता है और जब कोई विरोध न हो तो सभी स्मृतियों के सभी नियम उस विषय में प्रयक्त होते हैं। यह कथन 'सर्वशाखाप्रत्ययन्याय' या 'शाखान्तराधिकरण' नामक सिद्धान्त पर आधारित है (देखिए जैमिनि २।४।९ और उस पर शबर का भाष्य)।

ऐसा कहा गया है कि पाषण्ड सम्प्रदायों के ग्रन्थों का परित्याग होना चाहिए। मनु उन्हें स्मृतियों के नाम से ही पुकारते हैं, किन्तु वे वेदबाह्य (वैदिक मान्यता के बाहर वाली) कहलाती हैं। मनु (१२।९५) ने घोषित किया है—"वेदबाह्य स्मृतियाँ एवं सभी अन्य झूठे अथवा तर्कहीन मत मृत्यु के उपरान्त निष्फल माने गये हैं, क्योंकि वे तमोनिष्ठ अथवा अज्ञान पर आधारित हैं।"[२२] वेदान्तसूत्र (२।१।१) में भी 'स्मृति' शब्द सांख्यदर्शन-सम्बन्धी ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त किया गया है। तन्त्रवार्तिक (पृ० १९५) का कथन है कि बौद्ध तथा अन्य नास्तिक सम्प्रदाय अपने सिद्धान्तों को वेद पर आधारित नहीं मानते, यह दुष्ट पुत्र द्वारा माता-पिता के प्रति व्यक्त घृणा के समान है; उनमें (उनके ग्रन्थों में) जो व्यवस्थाएँ प्रतिपादित हैं, वे चौदह विद्याओं के विरोध में पायी जाती हैं। केवल कुछ विषयों में, यथा इन्द्रिय-निग्रह, दान आदि से सम्बन्धित उक्तियों में समानता है। वे सब बुद्ध के समान ऐसे लोगों द्वारा प्रतिपादित हैं, जिन्होंने वेदमार्ग का परित्याग किया था और वेदविरोधी हो गये थे, वे ऐसे लोगों के लिए प्रतिपादित हुई थीं जो तीनों वेदों के बाहर थे और अधिकांश में शूद्र थे या ऐसे थे जो चारों वर्णों और आश्रमों के अन्तर्गत नहीं परिगणित होते थे। मेधातिथि (२।६) ने कुमारिल के इस कथन को स्वीकृत कर कहा है कि शाक्य, भोजक एवं क्षपणक लोग वेद को प्रमाण नहीं मानते, और उद्घोष करते हैं कि वेद अप्रामाणिक है और उसके विरोध में सिद्धान्त बघारते हैं। चतुर्विंशतिमत का कथन है कि अर्हत् (जिन), चार्वाक एवं बौद्धों के वचनों का परित्याग करना चाहिए क्योंकि वे विप्रलम्भक (भ्रामक) हैं।[२३]

अब हम स्मृतियों एवं पुराणों के विरोध के प्रश्न पर विचार करेंगे। हमने इस महाग्रन्थ के खंड २, अध्याय १ में दिखलाया है कि पुराण धर्मशास्त्र सम्बन्धी विषयों से सम्पृक्त हैं, अर्थात् पुराणों में धर्मशास्त्र सम्बन्धी बातों की बहुलता पायी जाती है। सूत्रों एवं आरम्भिक स्मतियों ने पुराणों को धर्म का मूल नहीं माना है, यद्यपि गौतम (११।१९) एवं

२१. अल्पानां यो विघातः स्यात्स बाधो बहुभिः स्मृतः। प्राणसंमित (प्राण ?) इत्यादि वासिष्ठं बाधितं यथा।। विरोधो यत्र वाक्यानां प्रामाण्यं तत्र भूयसाम्। तुल्यप्रमाणकत्वे तु न्याय एवं (एव ?) प्रकीर्त्तितः।। गोभिलस्मृति (३।१४८-१४९)। और देखिए वसिष्ठ (११।५७, जहाँ वैश्य ब्रह्मचारी के दंड की लम्बाई के विषय में कहा गया है) एवं मलमासतत्त्व (पृ० ७६७)।

२२. या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः। सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः।। मनु (१२।९५) एवं तंत्रवार्त्तिक (जै० १।३।५, पृ० १९६)।

२३. अर्हच्चार्वाकवाक्यानि बौद्धादिपठितानि च। विप्रलम्भकवाक्यानि तानि सर्वाणि वर्जयेत्।। चतुर्विंशतिमत (स्मृतिमु०, वर्णाश्रम, पृ० ७; स्मतिचं० १, पृ० ५)।

याज्ञ० (१।३) ने पुराणों को ऐसे ग्रन्थों की कोटि में गिना है जिनसे राजा या अन्य कोई धर्म-ज्ञान प्राप्त कर सकता है, आप० ध० सू० (१।६।१९।१३, १।१०।२९।८ एवं २।९।२३।३) ने एक पुराण से उद्धरण दिये हैं और एक स्थान (२।९।२४।६) पर भविष्यपुराण का नाम लिया है। यह विचारणीय है किआपस्तम्ब द्वारा पुराणों के उद्धृत कुछ मत कलिवर्ज्य नामक परिच्छेद में दिये गये मतों के विरोध में हैं और ऐसा कहा जाता है कि वे मध्यकाल के निबन्धों में आदित्य-पुराण से लिये गये हैं। हमने गत अध्याय में देख लिया है कि तन्त्रवार्तिक ने पुराणों, मनुस्मृति एवं इतिहास को पूरे भारतवर्ष में सार्वजनीन माना है। जब कि मनु ऐसा कहते हैं कि स्मृति धर्म का मूल है तो उनके कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि स्मृति के अन्तर्गत पुराण भी सम्मिलित हैं (मनु २।१०)। मनु (३।२३२) एवं याज्ञ० (३।१८९) ने 'पुराणानि' शब्द प्रयुक्त किया है जो स्पष्टतः बहुवचन में है। अतः स्पष्ट है कि स्मृतियों को बहुत-से पुराणों के विषय में जानकारी थी। मेधातिथि ने टिप्पणी दी है कि उनका प्रणयन व्यास द्वारा हुआ था और उन्होंने संसार की सृष्टि आदि के विषय में वर्णन किया है। स्त्रीपर्व (१३।२) ने भी बहुवचन का प्रयोग किया है और स्वर्गारोहणपर्व (५।५६।४७) ने कृष्ण-द्वैपायन (व्यास) को अठारह पुराणों का प्रणेता माना है। आदिपर्व (१।२९३-२९४) का कथन है कि इतिहास और पुराण (के अध्ययन) से वेद को समृद्ध करना चाहिए और वेद उस मनुष्य से भय खाता है जिसका ज्ञान अल्प होता है (यह मेरी हानि करेगा=मामयं प्रहरिष्यति)। भागवतपुराण (१।४।२५) के मत से स्त्रियों, शूद्रों एवं केवल जन्म से ज्ञात होने वाले ब्राह्मणों (ऐसे ब्राह्मण जो वेद नहीं पढ़ते और केवल ब्राह्मणकुल में जन्म लेने के कारण ब्राह्मण कहे जाते हैं) पर व्यास ने कृपा करके महाभारत का प्रणयन किया।[२४] यही बात पुराणों के प्रणयन के उद्देश्य के विषय में भी कही जा सकती है। दक्षस्मृति (२।६९) ने कहा है कि इतिहास और पुराण का पाठ दिन (आठ भागों में विभाजित) के छठे एवं सातवें भाग में करना चाहिए।[२५] औशनसस्मृति (३, पृष्ठ ५१५, जीवानन्द) ने वेदाध्ययन के लिए **उत्सर्जन** के उपरान्त माघ मास से लेकर प्रत्येक मास के शुक्ल पक्ष को उचित माना है और इसी प्रकार वेदांगों और पुराण के अध्ययन के लिए कृष्ण पक्ष की व्यवस्था दी है।

ऐसा लगता है कि उपस्थित पुराणों में कुछ ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में ही प्रणीत हो चुके थे और प्रारम्भिक काल से ही उनमें धर्मशास्त्रीय विषय पाये जाते रहे हैं। हम आगे चलकर **पुराणधर्म** के विषय में एक पृथक् अध्याय लिखेंगे। क्रमशः कुछ शताब्दियों के अन्तर्गत ही पुराण अति विख्यात हो गये, वेद तथा प्रारम्भिक स्मृतियों द्वारा व्यवस्थित कुछ मौलिक कृत्य अप्रचलित हो गये और नये प्रकार की पूजाविधियाँ एवं कृत्य पुराणों द्वारा व्यवस्थित होकर जनसाधारण में फैलने लगे। व्यास-स्मृति (१।४) एवं संग्रह का कथन है कि स्मृति एवं पुराण के विरोध में स्मृति को वरीयता मिलनी चाहिए।[२६] अपरार्क (पृ० ९) ने उद्धरण देकर कहा है कि वही धर्म परम धर्म है जो वेद से समझा जाता है और वह धर्म अवर (जो वर न हो), निकृष्ट, (अप्रधान) धर्म है जो पुराणों आदि

२४. स्त्रीशूद्रद्विजबंधूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा। इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥ भागवत (१।४।२५); तेनोक्तं सात्वतं तंत्रं यज्ज्ञात्वा मुक्तिभाग्भवेत्। यत्र स्त्रीशूद्रदासानां संस्कारो वैष्णवो मतः॥ देखिए परिभाषा-प्रकाश (पृ० २४)।

२५. इतिहासपुराणाद्यैः षष्ठसप्तमकौ नयेत्। दक्ष (२।६९, अपरार्क पृ० १५७)।

२६. श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते। तत्र श्रौतं प्रमाणं स्यात् तयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा॥ व्यास (१।४); श्रुतिस्मृतिपुराणेषु विरुद्धेषु परस्परम्। पूर्वं पूर्वं बलीयः स्यादिति न्यायविदो विदुः॥ संग्रह (स्मृतिमुक्ताफल, वर्णाश्रम, पृ० ७)।

में उद्घोषित है (देखिए परिभाषाप्रकाश, पृ० २९ एवं कृत्यरत्नाकर, पृ० ३९)। अपरार्क (पृ० १५) ने आगे चलकर कहा है कि भविष्यत्पुराण के अनुसार पुराण व्यामिश्र (मिश्रित, शुद्ध वैदिक रूप में नहीं) धर्म उद्घोषित करते हैं।[२७]

पुराणों की प्रामाणिकता के विषय में मध्य काल के लेखकों में मतभेद है। मित्र मिश्र ने (याज्ञ० २।२१ की टीका में) कहा है कि धर्मशास्त्र (अर्थात् स्मृति) पुराण से अधिक प्रामाणिक नहीं है। अतः स्मृतिवचन एवं पुराण के विरोध में तर्क का उसी प्रकार आश्रय लेना चाहिए जिस प्रकार दो स्मृतियों का विरोध होने पर लिया जाता है। किन्तु, दूसरी ओर व्यवहारमयूख ने मनु (९।१२६) एवं देवल का हवाला देते हुए कहा है कि स्मृतिवचन के विरोध में पुराण-वचन का त्याग होना चाहिए और यह भी कहा है कि पौराणिक रीतियों में बहुत-सी स्मृति-विरोधी रीतियाँ पायी जाती हैं (मनु एवं देवल ने जुड़वाँ बच्चों में पहले उत्पन्न होनेवाले बच्चे को ज्येष्ठ घोषित किया है, किन्तु भागवत पुराण ने उसको जो बाद को उत्पन्न होता है, ज्येष्ठ घोषित किया है)। देखिए व्यवहारमयूख (पृ० ९७, ९८) और राजनीति-प्रकाश (पृ० ३७, ३९) जो मित्र मिश्र द्वारा विरचित है। निर्णयसिन्धु (३, पृ० २५१) ने भी यही बात कही है। पुराणों के प्रति पश्चात्कालीन या मध्यकालीन लेखकों की श्रद्धा इस सीमा तक बढ़ गयी कि उन्होंने पुराणों में उल्लिखित भविष्यवाणियों पर निर्भर रहना आरम्भ कर दिया। पुराणों में आया है कि कलियुग में चारों वर्ण अन्तर्हित हो जायँगे, केवल ब्राह्मण एवं शूद्र वर्तमान रहेंगे, अर्थात् क्षत्रिय एवं वैश्य का अस्तित्व समाप्त हो जायगा; यद्यपि मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर आदि स्मृतिकारों एवं विज्ञानेश्वर (मिताक्षरा के लेखक) आदि टीकाकारों ने कहा है कि कलियुग में भी चारों वर्ण पाये जाते हैं।[२८] देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अध्याय ७, जहाँ पर कलियुग में क्षत्रियों के अस्तित्व के विषय में प्रकाश डाला गया है।

अब हम स्मृतियों एवं परम्पराओं के विरोध की चर्चा करेंगे। वसिष्ठ (१।५) एवं याज्ञ० (१।७) के वचनों पर आधारित सामान्य नियम, जो मिताक्षरा (याज्ञ० १।७ एवं २।११७), स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २६६), कुल्लूक (मनु १।२०) एवं अन्यों द्वारा समर्थित है, यह है कि स्मृति शिष्टों की रीतियों से अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक है। किन्तु

२७. अतः स परमो धर्मो यो वेदादधिगम्यते। अवरः स तु विज्ञेयो यः पुराणादिषु स्मृतः॥ व्यास (अपरार्क पृ० ९; परिभाषाप्रकाश पृ० २९ एवं कृत्यरत्नाकर पृ० ३९)। एवं प्रतिष्ठायामपि पुराणाद्युक्तैवेतिकर्त्तव्यता ग्राह्या नान्या। तेषामेव व्यामिश्रधर्मप्रमाणत्वेन भविष्यत्पुराणे परिज्ञाततवात्। अपरार्क पृ० १५।

२८. यदि हम आधुनिक भारतीय समाज की व्यावहारिक गतिविधियों की सम्यक् समीक्षा करें तथा उन पर पड़े गम्भीर विदेशी संस्कृतिविषयक परिवर्त्तन-प्रभावों की परतों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करें, तो शताब्दियों पूर्व पुराणों में कही गयी बातों की सत्यता अपने आप अभिव्यक्त हो जायगी। क्षत्रियों एवं वैश्यों के जाति-कुलधर्म आज ब्राह्मणों द्वारा भी यथावत् सम्पादित हो रहे हैं। आज का ब्राह्मण अथवा शूद्र खेती-बारी, व्यापार, युद्ध, पठन-पाठन आदि कार्य कर रहा है; पुरानी सभी अर्थ-धर्म-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ विलुप्त हो गयी हैं। प्राचीन समाजव्यवस्था लुप्त हो गयी है। अब उसका महत्त्व केवल भावनागत रह गया है। आज के तथाकथित सभी वर्णों के धर्माचारों में उलटफेर हो गया है; जो था, आज नहीं है, जो न था आज प्रकट हो गया है। सभी जाति के लोग सभी कर्म करने लग गये हैं। (--अनुवादक)

प्रारम्भिक काल से ही मत-विपर्यय-सम्बन्धी उक्तियाँ पायी जाती रही हैं। विश्वरूप (याज्ञ० ३।२५०) ने कहा है कि स्मृतियों के अर्थ का अनुसरण तभी करना चाहिए जब कि वह आर्यावर्त में रहनेवाले शिष्टों के निश्चित व्यवहार की संगति में बैठ सके। मेधातिथि (मनु ४।१७६) ने संकेत किया है कि नियोग गौतम (१८।४-१४), याज्ञ० (१।६८-६९) एवं वसिष्ठ (१७।५६-६५) की स्मृतियों द्वारा आज्ञापित एवं अनुमोदित है, किन्तु लोगों द्वारा निन्द्य होने के कारण यह व्यवहृत नहीं होता। इससे यह सिद्धान्त स्थापित किया जा सकता है कि स्मृतियों की (श्रुतियों की भी) व्यवस्थाएँ नहीं भी मानी जा सकतीं और लोगों द्वारा आग्रहपूर्वक निन्द्य होने के कारण वे वर्जित भी हो सकती हैं। आगे के कलिवर्ज्य नामक अध्याय में इस पर अधिक प्रकाश डाला जायगा। मेधातिथि (मनु २।१०) जैसे टीकाकारों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि "धर्मशास्त्र वह है जो धर्म-प्राप्ति के लिए व्यवस्था देता है, स्मृति वह है जिससे कर्तव्य-सम्बन्धी धर्म का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। अतः शिष्टाचार भी स्मृति है।" स्वयं स्मृतियों ने अपने कालों में प्रचलित लोक-व्यवहारों को संगृहीत किया है, जैसा कि मनु (१।१०७) ने घोषित किया है—"इस ग्रन्थ में धर्म का विवेचन हुआ है और कर्मों के गुण-दोष का तथा चारों वर्णों की प्राचीन परम्पराओं एवं रीतियों का विवेचन हुआ है।"[२९] मनु (१।१०८) ने आगे जोड़ा है—"आचार (परम्पराएँ और रीतियाँ) परम धर्म है, और इसी प्रकार वेद और स्मृति में उद्घोषित व्यवहार (धर्म) परम धर्म है, अतः अपने कल्याण की इच्छा रखनेवाले द्विजों को सप्रयास उनका पालन करना चाहिए।"[३०]

आधुनिक न्यायालयों ने परम्पराओं की अनुल्लंघनीयता पर बल देने के लिए मनु के इस वचन को आधार माना है। इसलिए आवश्यक हो जाता है कि हम मनु के इस वचन का वास्तविक अर्थ समझ लें। हम इसे दो प्रकार से समझ सकते हैं—(१) 'आचार' शब्द के दो विशेषण 'श्रुत्युक्त' एवं 'स्मार्त' हो सकते हैं और श्लोक का प्रथम पाद घोषित करता है कि वेद या स्मृति में घोषित आचार परम धर्म है (यह अर्थ मन के अधिकांश टीकाकारों ने लिया है)। (२) 'आचार' तथा श्रुति एवं स्मृति में उद्घोषित अन्य आचार परम धर्म हैं (यहाँ पर श्लोक के प्रथम पाद में तीन प्रकार के आचारों की ओर संकेत किया गया है, जैसा कि गोविन्दराज एवं नन्दन ने किया है)। यदि हम इस श्लोक के पूर्व के और इसके बाद के श्लोकों (जो आचार की प्रशंसा में लिखे गये हैं) पर ध्यान दें तो उपर्युक्त दूसरा अर्थ अधिक स्वाभाविक एवं संगत लगता है और आजकल के निर्णीत विवादों द्वारा गृहीत है। अनुशासन० (१४१।६५) एवं शान्ति० (३५४।६) ने स्पष्ट रूप से कहा है कि धर्म तीन प्रकार का होता है; (१) वेदोक्त, (२) स्मृतिघोषित एवं (३) शिष्टाचार। सुमन्तु ने घोषणा की है कि कुलक्रमागत आचार को शास्त्रानुमोदित व्यवस्थाओं की अपेक्षा अधिक वरीयता मिलनी चाहिए (स्मृतिमुक्ताफल, वर्णाश्रम पृ० ७)। कूर्मपुराण (उत्तरार्ध १५।१९) ने, लगता है, उपर्युक्त दूसरी व्याख्या को उचित माना है, क्योंकि उसमें आया है—"उस आचार का पालन करना चाहिए जो श्रुति एवं स्मृति से घोषित है और जिसका शिष्ट लोग सम्यक् आचरण करते हैं।" 'आचार' शब्द का वास्तविक अर्थ विभिन्न कालों में परिवर्तित होता रहा है और टीकाकारों ने भी इसे कई ढंग से समझा है। आरम्भिक काल में भी, जैसा कि तै० उ०, गौतम (२८।४८ एवं ५१), बौ० ध० सू० (१।१।४-९)

२९. अस्मिन् धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम्। चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः॥ मनु (१।१०७)। इसकी व्याख्या में मेधातिथि कहते हैं—'शाश्वतो वृद्धपरम्परया, नेदानीन्तनैः प्रवर्त्तितः।'

३०. आचारः परमो धर्मः श्रुत्यक्तः स्मार्त एव च। तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥ मनु (१।१०८)। मिलाइए अनुशा० प० (१४१।६५)—वेदोक्तः परमो धर्मः स्मृतिशास्त्रगतोपरः। शिष्टाचीर्णः परः प्रोक्तस्त्रयो धर्माः सनातनाः॥ एवं शान्ति० (२५९।३)—सदाचारः स्मृतिर्वेदस्त्रिविधं धर्मलक्षणम्।

मनु (१२।१०८-१०९) एवं वसिष्ठ (१।६) द्वारा प्रदर्शित है, आचार वह माना गया है जो उत्तम चरित्र वाले एवं स्वार्थ-रहित शिष्टों एवं ब्राह्मणों द्वारा उद्घोषित एवं पालित होता रहा है। मेधातिथि (मनु २।६) का कथन है कि वेदज्ञ शिष्टों का आचार अनुल्लंघनीय होता है। क्रमशः प्रत्येक दृष्टार्थरहित रीति कालान्तर में अनुल्लंघनीय समझी जाने लगी और अन्त में शूद्रों, प्रतिलोम जातियों एवं वर्णसंकर शाखाओं की रीतियाँ राजा द्वारा विज्ञापित की जाने लगीं।

स्मृतियों, टीकाओं एवं निबंधों के मत से सम्यक् रीतियों की विशिष्टताएँ पूर्व-मीमांसा के लेखकों द्वारा नियमित विशिष्टताओं के समान ही हैं; अर्थात् परम्पराओं एवं रीतियों को प्राचीन होना चाहिए, श्रुति-स्मृति के नियमों की विरोधी न होना चाहिए, शिष्टों द्वारा अनुमोदित होना चाहिए, उन्हें इस प्रकार व्यवस्थित होना चाहिए कि अनधिकारी लोग उन्हें छू न सकें, उन्हें अनैतिक नहीं होना चाहिए अथवा उनका स्वरूप ऐसा नहीं होना चाहिए कि वे प्रचलित मनोभावों द्वारा निन्द्य ठहरा दी जायँ। अप्रचलित परम्पराएँ त्याज्य होती हैं, जैसा कि हम कलिवर्ज्य के अध्याय में आगे स्पष्ट करेंगे।

गौतम, मनु, बृहस्पति, कात्यायन आदि लेखकों के आधार पर कहा जा सकता है कि परम्पराएँ एवं रीतियाँ देशों (या जनपदों), पुरों एवं ग्रामों, जातियों, कुलों तथा अन्य सम्प्रदायों, यथा--गणों, श्रेणियों, संघों, नैगमों एवं वर्गों द्वारा व्यवस्थित, अनुमोदित अथवा मान्य होती हैं। इनके विषय में तथा गोत्रों एवं शाखाओं के रीति-रिवाजों के विषय में हम आगे पढ़ेंगे। अभी हम सामान्यतः परम्पराओं के विषय में ही कुछ आरम्भिक विचार उपस्थित करेंगे। मध्यकाल के धर्मशास्त्रलेखकों ने यह स्पष्ट किया है कि प्रचलित स्मृति की व्यवस्थाओं के विरोध में परम्पराएँ सुव्यवस्थित रूप से गठित होनी चाहिएँ और उन्हें विशिष्ट मान्य परम्पराओं के बाहर के विषयों की सीमा से दूर रहना चाहिए, अर्थात् समानता के आधार पर वे सीमा का अतिक्रमण कर अन्य परम्पराओं को छू नहीं सकतीं। उदाहरणार्थ, स्मृतिच० (१, पृ० ७१) एवं स्मृतिमुक्ताफल (वर्णाश्रम, पृ० ३१) का कथन है कि यद्यपि किसी स्थान की परम्परा के अनुसार मातुलकन्या से विवाह हो सकता है, किन्तु मौसी या मौसी की पुत्री से विवाह सम्बन्ध कभी नहीं हो सकता, क्योंकि प्रचलित मनोभाव इसके विरोध में है और प्रचलित मनोभाव का आदर होना ही चाहिए (मनु ४।१७६)। इसी प्रकार संस्कारकौस्तुभ (पृ० ६१३) एवं धर्मसिन्धु का कथन है कि जहाँ विवाह के लिए सपिंड सम्बन्ध की सीमाओं को संकीर्ण करने के लिए स्थानीय अथवा कुल की रीति हो, वहाँ केवल वे ही, जो उस स्थान के रहनेवाले हों या उस कुल से सम्बन्धित हों, उस रीति का पालन कर सकते हैं, किन्तु यदि वह व्यक्ति, जो किसी अन्य स्थान का हो और किसी दूसरे कुल का हो, इस प्रकार की सपिंड सम्बन्ध वाली रीति का अनुसरण करे तो वह पापी ठहराया जायगा। भारतवर्ष विशाल देश है, अतः किसी एक स्थान का सदाचार किसी सुदूर स्थान के लिए अनुकरणीय नहीं हो सकता (परा० मा० १।२, पृ० ६५)।

अब हम कुछ शब्द देशों की परम्पराओं (रीतियों) के विषय में लिखेंगे। वैदिक काल में भी रीतियाँ कृत्य संबंधी विस्तारों के विषय में एक दूसरी से भिन्न थीं। शतपथ ब्राह्मण (१।१।४।१३) का कथन है कि प्राचीन युगों में यजमान की पत्नी ही हविष्कृत् के लिए उठती थी, किन्तु इस (शतपथ के) काल में पत्नी या पुरोहित वैसा करने के लिए उठता है। व्यवहार संबंधी अन्य प्रकार की विभिन्नताओं के लिए और देखिए उसी ब्राह्मण में (१२।३।५।१ एवं १२।६।१।४१)। ऐतरेय ब्राह्मण में मतों का प्रकाशन एवं उन्हीं का परित्याग दोनों वर्णित हैं ('तत् तथा न कुर्यात्' या 'तत् तत् नादृत्यम्' १२।७, १७।१, १८।८, २८।१, २९।५)। और देखिए तै० ब्रा० (१।१।८, १।३।१ एवं ३।८।८)। गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों के काल में विभिन्न देशों में विवाह संबंधी एवं अन्य विषय संबंधी विभिन्न परम्पराएँ थीं जिनके विषय में हमने इस अध्याय के आरम्भ में ही संकेत कर दिया है। बौधायन ने उत्तरीय और दक्षिणी लोगों के आचारों का अन्तर बतलाया

है। बहुत-से निबंधकारों एवं टीकाकारों ने भी उत्तरीय और दक्षिणी लोगों के विभिन्न आचारों पर प्रकाश डाला है, किन्तु हम इस विषय के विस्तार में स्थानाभाव से नहीं पड़ेंगे।

विवाह के क्षेत्र में बहुत प्राचीन काल से ही देशों एवं कुलों के आचार स्वीकृत किये गये हैं। हमने इस अध्याय के आरम्भ में ही आश्व० गृ० सू० (१।७।१-२) का उल्लेख कर दिया है। इस गृह्यसूत्र के टीकाकार हरदत्त एवं नारायण ने वर्णन किया है कि कुछ देशों में विवाह के उपरान्त ही पति-पत्नी में शरीर-संबंध स्थापित हो जाता है, किन्तु इस गृह्यसूत्र (१।१।१०) के अनुसार लम्बी अवधि नहीं तो कम से कम तीन रातों तक ब्रह्मचर्य रखना चाहिए। किन्तु टीकाकारों ने यहाँ पर देश की रीति की अपेक्षा गृह्यसूत्र-वचन को वरीयता दी है। आप० गृ० सू० (२।१५) ने कहा है कि लोगों को स्त्रियों से विधि सीखनी चाहिए, अर्थात् देश के आचार के अनुसार विधि के पालन में स्त्रियों की सम्मति ली जानी चाहिए। इस गृह्यसूत्र के टीकाकार सुदर्शनाचार्य का कहना है कि कुछ विशिष्ट कृत्य, यथा--**नक्षत्रपूजा**, **अंकुरारोपण** एवं **प्रतिसर** (कलाई में बाँधा जानेवाला धागा) रीति-प्राप्त कृत्य हैं और वैदिक मंत्रों से सम्पादित होते हैं। काठक गृह्यसूत्र (२५।७) ने देशों एवं कुलों के आचारों अथवा रीतियों को विवाह के लिए मान्य ठहराया है और टीकाकारों ने ऐसे आचारों की चर्चा भी की है, यथा--देवपाल ने आगमन-उद्देश्य के कथन, कन्या के नाम के उच्चारण, कुलदेवता की पूजा, लता-फूलों के फेंकने की ओर संकेत किया है। टीकाकार ब्राह्मणबल का कथन है कि कश्मीर में विवाह के समय सास अथवा कोई सधवा नारी वर और वधू के सिरों पर शुभसूचक माला बाँधती है, सास वर के पैरों, घुटनों, कंधों एवं सिर पर पुष्प रखती है और कन्या के शरीर के उन्हीं स्थानों पर उलटी विधि से पुष्प (पहले दायें अंग पर, तब बायें अंग पर) रखे जाते हैं।

हरदत्त (गौतम ११।२०) ने निम्न रीतियों का उल्लेख किया है; चोल देश में, जब सूर्य वृष राशि में रहता है तो कुमारियाँ विभिन्न रंग के वर्णों से पृथ्वी पर सूर्य के वृत्त को परिचारकों के साथ खींचती हैं और प्रातः-सायं पूजा करती हैं; मार्गशीर्ष की पूर्णिमा को कुमारियाँ आभूषण धारण कर गाँव में घूमती हैं और इस भ्रमण से उन्हें जो कुछ प्राप्त होता है, उसे मंदिर की मूर्ति पर चढ़ा देती हैं। जब सूर्य कर्क राशि में होता है तो वे उमा देवी की पूजा करती हैं और (जब चन्द्रमा पूर्वा फाल्गुनी नक्षत्र में रहता है) देवताओं को उर्द (मुद्ग) के दाने चढ़ाती हैं। जब सूर्य मीन राशि में होता है और चन्द्रमा उत्तरा फाल्गुनी में, तो गृहस्थ लोग लक्ष्मी की पूजा करते हैं। और देखिए आप० ध० सू० (२।६।१३।६०) एवं बृहस्पति तथा तंत्रवार्तिक, जिनके कथनों का उल्लेख इस सिलसिले में ऊपर किया जा चुका है। इसी प्रकार के अन्य लेखकों द्वारा प्रस्तुत दृष्टांत उपस्थित किये जा सकते हैं, किन्तु हम स्थानाभाव से उनका यहाँ उल्लेख नहीं करेंगे।

पारस्करगृह्यसूत्र (१।८) के मत से ग्राम-वचनों का भी पालन किया जाना चाहिए--"विवाह और अंत्येष्टि कृत्यों के विषय में गाँव में प्रवेश करना चाहिए" (ग्राम-वृद्धों की सम्मति ली जानी चाहिए), क्योंकि "ग्राम इन दोनों विषयों में प्रमाण माना जाता है।"

प्राचीन काल से लेकर आज तक बहुत-से जाति-आचारों एवं प्रचलनों को मान्यता मिलती रही है। गौतम (११।२०), वसिष्ठ (१।१७), मनु (१।११८, ८।४१ एवं ४६), कौटिल्य (३।७) तथा शुक्र (४।५।४७) ने जाति-आचारों की वैधानिकता पर बल दिया है और राजा द्वारा उन्हें रक्षित एवं शासित किया जाना माना है। याज्ञ० (१।३६१) ने उन लोगों को राजा द्वारा दंडित होने योग्य माना है जो कुल, जाति, श्रेणी या वर्ग के आचारों से हट जाते हैं। कात्यायन (४०) ने व्यवस्था दी है कि राजा को प्रतिलोम जातियों के स्थिर आचारों एवं पर्वतीय दुर्गों या दुर्लंघ्य स्थानों के निवासियों के व्यवहारों का भी तिरस्कार नहीं करना चाहिए, भले ही वे स्मृति-नियमों के विरोध में पड़ जाते हों। परिभाषाप्रकाश में मित्र मिश्र ने कहा

है कि नैतिक दोषों से रहित अच्छे शूद्रों के आचार, उनके पुत्रों और अन्यों के लिए अनुल्लंघनीय हैं (भले ही वे वेद को न जानते हों)।

पश्चिमी देशों की तुलना में प्राचीन भारत में अत्यधिक धार्मिक सहिष्णुता पायी जाती थी। देखिए इस ग्रंथ का खंड २, अध्याय ७ एवं अध्याय १९ जहाँ पर हमने इस विषय में कुछ प्रकाश डाल दिया है। अशोक ने अपने सातवें स्तम्भाभिलेख (एपि० इ०, जिल्द २, पृ० २७२) में कहा है कि उसने संघों, ब्राह्मणों, आजीवकों और अन्य सम्प्रदायों (पाषंडों) की परवाह (मत-रक्षा) की है। भगवद्गीता (९।२३-२५) ने घोषणा की है कि जो भक्त अन्य देवताओं की पूजा करते हैं वे स्वयं कृष्ण की ही पूजा करते हैं और जो पितरों एवं अन्य तत्त्वों की पूजा करते हैं, वे भी कांक्षित फल की प्राप्ति करते हैं। मानसोल्लास ने प्रतिपादित किया है कि दूसरे देवताओं के प्रति निन्दा एवं घृणा का परित्याग करना चाहिए और किसी मूर्ति या मंदिर को देखकर श्रद्धा प्रकट करनी चाहिए न कि घृणा की दृष्टि से आगे चला जाना चाहिए। विभिन्न प्रदेशों के लोगों ने निस्संदेह एक-दूसरे के आचारों और रीतियों की खिल्ली उड़ायी है, उदाहरणार्थ जीवन्मुक्तिविवेक नामक दार्शनिक ग्रंथ का कहना है कि दक्षिण के ब्राह्मण उत्तर के ब्राह्मणों को मांसभोजी कहकर निन्दित करते हैं और उत्तर के ब्राह्मण दक्षिण के ब्राह्मणों को मातुलकन्या से विवाह करने के कारण गर्हित कहते हैं। उन्होंने इसलिए भी उनकी निन्दा की है कि दक्षिणी ब्राह्मण लोग मेलों अथवा यात्राओं में मिट्टी के बरतन लेकर जाते हैं। यह धार्मिक सहिष्णुता सम्बन्धी सामान्य मनोवृत्ति का ही फल था कि स्मृतियों एवं निबन्धों ने नास्तिक सम्प्रदायों के आचारों को राजा द्वारा शासित होने को कहा है। याज्ञवल्क्य ने व्यवस्था दी है कि राजा को श्रेणियों, व्यवसायियों, पाषंडों एवं सैनिकों के धर्मों अथवा विधियों को खंडित होने से बचाना चाहिए।[31] नारद (समयस्यानपाकर्म, १-३) ने कहा है कि राजा को पाषंडों, व्यापारियों, श्रेणियों एवं अन्य वर्गों के समयों (रीतियों या विधानों) की रक्षा करनी चाहिए और जो भी परम्परागत आचार-कृत्य, उपस्थिति-विधि एवं जीविका-साधन आदि उनमें विशिष्ट रूप से पाये जायँ उनको राजा द्वारा बिना किसी परिवर्तन का रंग लगाये छूट मिलनी चाहिए। बृहस्पति ने प्रतिपादित किया है कि कृषकों, कारुओं, मल्लों (कुश्तीबाजों), कुसीदिओं (ब्याज पर धन देनेवालों), श्रेणियों, नर्तकों, पाषण्डों, चोरों के विवादों का निर्णय उनकी रीतियों के अनुसार होना चाहिए।[32] इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कुछ स्मृतियों ने नास्तिकों आदि के लिए कठिन नियम बना दिये हैं। गौतम (९।१७) के मत से स्नातक को म्लेच्छों, अपवित्र लोगों एवं पापियों (अधार्मिकों) से बातचीत नहीं करनी चाहिए।[33] मनु (९।२२५) का कथन है कि राजा को राजधानी के जुआरियों, नर्तकों, नास्तिकों (पाषंडों), शौंडिकों (सुराजीवियों) आदि को निकाल बाहर करना चाहिए। मनु (४।३०) ने पुनः कहा है कि नास्तिकों, दुष्टों आदि को शब्द द्वारा अर्थात् मौखिक रूप से भी आतिथ्य नहीं देना चाहिए। जहाँ नास्तिक लोगों का आधिपत्य हो गया हो वहाँ निवास नहीं करना चाहिए। याज्ञ० (२।७०) एवं नारद (ऋणादान १८०) के मत से पाषण्डियों या नास्तिकों को साक्षी नहीं बनाना चाहिए। इन उक्तियों की व्याख्या कई ढंग से की जा सकती है। सम्भवतः गौतम एवं मनु के वचन उन युगों के द्योतक हैं जब कि बौद्धों एवं जैनों तथा वेदधर्मानुयायियों के मनोभावों के बीच पड़ी गहरी खाई तब तक ताजी ही थी, अर्थात् उन्हीं दिनों वे वेदविरोधी धर्म उदित हुए थे और उनके विरोध में बातें कही जाने लगी थीं। किन्तु

३१. श्रेणिनैगमपाखंडिगणानामप्ययं विधिः। भेदं चैषां नृपो रक्षेत्पूर्ववृत्तिं च पालयेत्॥ याज्ञ० (२।१९२)।

३२. कीनाशाः कारुका मल्लाः कुसीदश्रेणिनर्तकाः। लिंगिनस्तस्कराश्चैव स्वेन धर्मेण निर्णयः॥ बृह० (व्य० मा० पृ० २८१; व्य० नि०, पृ० ११; व्य० प्र०, पृ० २३)।

३३. न म्लेच्छाशुच्यधार्मिकैः सह सम्भाषेत। गौतम (९।१७)।

उपर्युक्त व्यवस्थाओं में अधिकांश वेदानुयायियों के लिए व्यक्तिगत रूप में ही प्रतिपादित हुई थीं। उनसे नारद, बृहस्पति आदि के उपर्युक्त वचन खंडित नहीं माने जा सकते। बिना किसी विरोधाभास के यह बात कही जा सकती है कि चौथी शताब्दी के उपरान्त भारतीय शासननीति सभी प्रकार के धर्मों के रक्षण करने में प्रवृत्त थी, अर्थात राजा किसी भी प्रकार किसी के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करता था।

कुलाचारों के विषय में हम आगे कुछ विशेष संकेत करेंगे। और देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अध्याय ६।

विभिन्न वैदिक शाखाओं के अनुयायियों द्वारा अनुमोदित या उनमें पाये जानेवाले तथा गृह्यसूत्रों में वर्णित धार्मिक कृत्यों के विषय में जो आचार, रीतियाँ आदि हैं उनके विषय में निबन्धों ने बहुत से उदाहरण उपस्थित किये हैं। दृष्टान्त-स्वरूप हम कुछ उदाहरण यहाँ दे रहे हैं। याज्ञ० (१।२४२) के मत से श्राद्ध के लिए आमन्त्रित ब्राह्मणों को भोजन कराने के उपरान्त ही पितरों को पिण्ड देना चाहिए, किन्तु मनु (३।२६१) ने कहा है कि ब्राह्मणों को भोजन कराने के पहले भी पिण्डदान किया जाता है। स्मृतिचन्द्रिका (श्राद्ध, पृ० ४७१) का कथन है कि इस विषय में अपनी वैदिक शाखा का अनुसरण करना चाहिए। पञ्चमहायज्ञों में एक **पितृयज्ञ** भी है, जो कुछ लोगों (यथा कात्यायन) के मत से **तर्पण** है और मनु (३।८१) के मत से **श्राद्ध** है, किन्तु स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० २०८) का कथन है कि इस विषय में अपनी शाखा का अनुसरण करना चाहिए। यही बात तर्पण के विषय में भी लागू है (स्मृतिचं० १, पृ० १९१ एवं मदनपारिजात पृ० २८६)। गर्भाधान के मास में, जब कि **सीमन्तोन्नयन** संस्कार किया जाता है, अपने गृह्यसूत्र के नियमों का अनुसरण करना चाहिए (स्मृतिचं० १, पृ० १७ एवं परा० मा० १, भाग २, पृ० २२)। यही बात **नामकरण** संस्कार के विषय में भी है (स्मृतिचं० १, पृ० २१ एवं परा० मा० १, भाग २, पृ० २५)। गौतम (११।२१-२२) आदि का कथन है कि राजा को श्रेणियों तथा समुदाय की रीतियों का पालन कराना चाहिए। ऐसी रीतियों के विषय में देखिए इस खंड के अध्याय २१ का आरम्भिक अंश।

अध्याय ३४

कलिवर्ज्य

(कलियुग में वर्जित कृत्य)

हमने गत अध्याय में इसकी चर्चा कर दी है कि कतिपय स्मृतिवचनों के विरोधात्मक स्वरूपों के समाधान की विधियों में एक विधि अथवा एक स्थापना ऐसी थी कि उन वचनों में कुछ युगान्तर (अतीत युग) से संबंधित कहे गये थे। उदाहरणार्थ जब हारीत ने स्त्रियों के लिए उपनयन-संस्कार की व्यवस्था दी तो स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० २४) एवं पराशरमाधवीय (१,२, पृ० ८३) ने कहा कि वह वचन कल्पान्तर अर्थात् अन्य प्राचीन युग का द्योतक है। इस ग्रंथ के द्वितीय खंड में कतिपय स्थानों पर कलियुग में वर्जित बहुत से कृत्यों की ओर संकेत कर दिया गया है। इस संबंध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब पराशरस्मृति (१।२४) ने स्पष्ट रूप से कलियुग के धर्मों की व्यवस्था कर दी थी, तब भी आदित्यपुराण (जिसे १२वीं शताब्दी एवं पश्चात्काल के लेखकों ने बहुधा उद्धृत किया है) ने निम्न बातें (जो पराशर द्वारा कलियुग के लिए व्यवस्थित ठहरायी गयी थीं, ४।३० एवं ११।२२) कलियुग में वर्जित मानी हैं--विधवाविवाह (पराशरस्मृति ४।३०), ज्ञानी एवं चरित्रवान् ब्राह्मणों के लिए जन्म-मरण-सम्बन्धी अशुद्धता की अवधि में भिन्नता (पराशर० ३।५-६) एवं शूद्रों की पाँच कोटियों के यहाँ भोजन करने के लिए ब्राह्मण को अनुमति (पराशर० ११।२१)।[1] अतः युग सम्बन्धी सिद्धान्त के उद्भव एवं विकास तथा कलिवर्ज्य के विषय में छानबीन करना आवश्यक है।

महाभारत (शान्ति० ५९), मनु (१।८१), नारद (१।१-२), बृहस्पति एवं पुराणों के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि उनके कथनानुसार आदिकाल में आदर्श समाज की स्थापना थी, जो क्रमशः पश्चात्कालीन युगों में अवनति को प्राप्त हो गयी और मानव की नैतिकताओं, स्वास्थ्य एवं जीवन-विस्तार में क्रमशः ह्रास दिखाई देने लगा। किन्तु उन्होंने इस बात में भी विश्वास रखा कि इस प्रकार की अधोगति सुदूर भविष्य में नैतिक विशिष्टता के कारण समाप्त-सी हो जायगी। दुःख की बात यह है कि सभी उपस्थित ग्रंथों में यही बात प्रकट की गयी है कि उनका युग पापयुग है; किसी भी ग्रंथ ने यह नहीं कहा कि विशिष्ट सुन्दर-युग निकट भविष्य में प्रकट होनेवाला है।

वर्धमान नैतिक अधःपतन वाले सिद्धान्त का मूल ऋग्वेद में भी मिलता है। यम और यमी के प्रसिद्ध उपाख्यान में यम ने एक जगह आक्रोश किया है (१०।१०।१०)--वे युग अभी आनेवाले ही हैं जब भगिनी (बहिन) अपने

१. पराशरस्मृति (४।३०) के कुछ मुद्रित संस्करणों में आया है--नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ। पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो न विद्यते ।। जिसे पराशरमाधवीय (२।१, पृ० ५३) ने त्रुटिपूर्ण माना है और कहा है कि कट्टर लोगों ने ही यह अनर्थ किया है। माधव ने 'पतिरन्यो न विद्यते' के स्थान पर 'पतिरन्यो विधीयते' को शुद्ध माना है और कहा है--'अयं च पुनरुद्वाहो युगान्तरविषयः।' पराशरस्मृति का यह श्लोक नारद (स्त्रीपुंसप्रकरण ९७) में भी पाया जाता है।

लिए अयोग्य (बहिनों के लिए अयोग्य ठहराये गये) कार्य करेंगी। ऋग्वेद में कम से कम ३३ बार युग शब्द का प्रयोग हुआ है किन्तु इसका वास्तविक अर्थ कुछ अंशों में संदेहास्पद है। कुछ स्थानों पर इसका तात्पर्य 'जुआ' (बैल जोतने का विशेष काष्ठ) है (ऋ० १०।६०।८, १०।१०।१३ एवं ४)। कतिपय स्थानों पर इसका सम्भवतः अर्थ है अल्प काल की अवधि (ऋ० ३।२६।३)। सामान्यतः इसका अर्थ है एक पीढ़ी (ऋ० १।९२।११, १।१०३।४, १।१२४।२, २।२।२, ३।३३।८, ५।५२।४)। ऋग्वेद (१।१५८।६) में 'दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान् दशमे युगे' में **युग** का सम्भवतः अर्थ है 'चार या पाँच वर्षों की अवधि', जब कि ऋग्वेद (६।१५।८, ६।८।५, १०।७२।२, १०।९४।१२, १०।९७।१) में इसका तात्पर्य है 'समय की एक लम्बी अवधि'। अथर्ववेद (८।२।२१) में युग का सम्भवतः अर्थ है कई सहस्र वर्षों का काल, दो युग दस सहस्र वर्ष से अधिक का काल कहा गया है (शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृमः)। यहाँ पर चार युगों की ओर स्पष्ट संकेत है और यह भी परिलक्षित होता है कि युग एक लम्बे काल का द्योतक है। ऋग्वेद के मंत्रों में युग शब्द का जो भी अर्थ हो किन्तु वहाँ **कृत, त्रेता, द्वापर** एवं **कलि** नामक विख्यात युगों के नाम नहीं आये हैं। ऋग्वेद में उल्लिखित 'कृत' शब्द का अर्थ कदाचित् द्यूत में पासे या विभीतक के बीजों का सुन्दर उत्क्षेपण (फेंकना) है (ऋ० १०।३४।६ एवं १०।४३।५)। अथर्ववेद (७।५२।२, ५, ६) में 'कृत' का यही अर्थ है। **कलि** ऋग्वेद के (८।६६।१५) मंत्र का लेखक है ('कालयो मा विभीतन' अर्थात् हे कलि के वंशज, भय मत करो)। ऋ० (१०।३९।८) में आया है कि अश्विनौ ने बूढ़े कलि का कायाकल्प कर दिया। और देखिए ऋग्वेद (१।११२।१५) जहाँ ऐसा उल्लेख है कि कलि को अश्विनौ से एक पत्नी प्राप्त हुई। किन्तु कलि का पासे फेंकने वाला अर्थ ऋग्वेद से नहीं प्रकट होता। अथर्ववेद (७।११४।१) में कलि का अर्थ पासे फेंकने के अर्थ में है। **कृत, त्रेता, द्वापर** एवं **आस्कन्द** नामक शब्द तै० सं० (४।३।३), वाज० सं० (३०।१८) एवं शत० ब्रा० (१३।६।२।९-१०) में प्रयुक्त हुए हैं।[2] पश्चात्कालीन साहित्य में कलि को तिष्य कहा गया है (यथा भीष्मपर्व १०।३ में)। तै० ब्रा० (३।४।१६) में 'आस्कन्द' के स्थान पर 'कलि' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[3] ऊपर के सभी स्थानों में **कृत** और अन्य तीन शब्द द्यूत में उत्क्षेपण (फेंकने) के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। तै० ब्रा० (१।५।११) में '४ स्तोम (त्रिवृत, पंचदश, सप्तदश एवं एकविंश) **कृत** हैं और पाँच **कलि** हैं' ऐसा पढ़ते हैं। इससे प्रकट होता है कि **कृत** चार बार या चार के गुने के अर्थ में लिया जाता था और कलि उस फेंकने के अर्थ में लिया जाता था जब चार के भाग देने पर एक शेष रहता था। ऐतरेय ब्रा० ने कृत एवं अन्य तीन शब्दों का प्रयोग मानवक्रिया के अपेक्षाकृत अधिक उपादेय स्वरूपों के रूपक अर्थ में किया है--"सोया हुआ व्यक्ति कलि है, उठने के लिए सन्नद्ध होते समय वह द्वापर हो जाता है, जब उठता है तो त्रेता हो जाता है और जब इधर-उधर चलने लगता है तो कृत हो जाता है।"[4] शतपथ ब्रा० (५।४।४।६) ने कलि को 'अभिभू' (हरानेवाला) कहा है और निर्देश किया है कि कलि वह पाँच का उत्क्षेपण है जो अन्यों को हरा देता है। छान्दोग्योपनिषद् (४।१।४) में आया है--"जिस प्रकार (द्यूत खेल में) सभी नीचे के उत्क्षेपण

२. इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी। घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे ॥ अथर्व० (७।११४।१)। अक्षराजाय कितवं कृतायादिनवदर्शं त्रेतायै कल्पिनं द्वापरायाधिकल्पिनमास्कन्दाय सभास्थाणुम्। वाजसनेयी संहिता (३०।१८)। कृताय सभाविनं त्रेताया आदिनवदर्शं द्वापराय बहिःसदं कलये सभास्थाणुम्। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।४।१६)।

३. ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत्। अथ पञ्च कलिः सः। तस्माच्चतुष्टोमः। तै० ब्रा० (१।५।११)।

४. कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः। उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥ ऐतरेय ब्राह्मण (३३।३)।

कृत क्षेपण में परिगणित हो जाते हैं, उसी प्रकार उस (रैक्व) के पास मनुष्यों द्वारा सम्पादित अच्छे कर्तव्यों का प्रभाव चला आता है।" यहाँ शंकराचार्य ने व्याख्या की है कि ४ चिह्नों वाला क्षेपण **कृत** है और ३, २ या १ चिह्नों वाले उत्क्षेपण क्रमशः त्रेता, द्वापर और कलि कहे जाते हैं। मुंडकोपनिषद् (१।२।१) ने त्रेता की ओर संकेत किया है, "यही सत्य है; वे यज्ञ संबंधी कृत्य जिन्हें ऋषियों ने मंत्रों में देखा, त्रेता में कई प्रकार से सम्पादित हुए हैं।"[५] अन्तिम वाक्य की व्याख्या शंकराचार्य ने दो प्रकार से की है, जिसमें प्रथम यह है--होता, अध्वर्यु एवं उद्गाता नामक तीन पुरोहितों के कर्मों के रूप में जो निर्देशित है, वह तीनों वेदों पर आधारित है, और विकल्प से त्रेता युग की ओर संकेत करता है। इस विवेचन से यह प्रकट होता है कि वैदिक साहित्य के अंतिम चरणों तक अर्थात् उपनिषदों तक **कृत, त्रेता** एवं **कलि** द्यूत-क्रीडा में पासा फेंकने के अर्थ में प्रयुक्त होते थे और यह सन्देहात्मक है कि वे विश्व के विभिन्न युगों के द्योतक थे। यहाँ तक कि महाभारत में भी **कृत** और **द्वापर** शब्द उसी अर्थ में लिये जाते थे (विराटपर्व ५०।२४)। गोपथ ब्राह्मण (१।२८) में द्वापर युग के आरम्भ की ओर संकेत है।

वेदांगज्योतिष में भी 'युग' शब्द पाँच वर्षों की अवधि का द्योतक है (पञ्चसंवत्सरमयं युगाध्यक्षं प्रजापतिम्)। प्राचीन पितामहसिद्धान्त के मत से वराहमिहिर की पंचसिद्धान्तिका (१२।१) में 'युग' का अर्थ होता है सूर्य और चन्द्रमा के पाँच वर्ष (रविशशिनोः पञ्च युगं वर्षाणि पितामहोपदिष्टानि)।[६] यही अर्थ शान्तिपर्व (११।३८) में भी है। निरुक्त (१।२०) ने प्राचीन ऋषियों और पश्चात्कालीन ऋषियों में अन्तर इस प्रकार व्यक्त किया है--प्राचीन ऋषि साक्षात्कृतधर्मा (धर्म के प्रत्यक्षदर्शी) थे और उन्होंने असाक्षात्कृत धर्म वाले ऋषियों को शिक्षा द्वारा मंत्रज्ञान दिया।[७] किन्तु इसने न तो चारों युगों के सिद्धान्त का वर्णन किया है और न किसी प्रकार का संकेत ही किया है। गौतम (१। ३-४) एवं आप० ध० सू० (२।६।१३।७-९) ने स्पष्ट कहा है कि 'प्राचीन ऋषियों में धर्मोल्लंघन एवं **साहस** के कार्य देखे गये हैं, किन्तु आध्यात्मिक महत्ता के कारण वे पापी नहीं हो सके, किन्तु पश्चात्कालीन मनुष्य को आध्यात्मिक शक्तिदौर्बल्य के कारण वैसा नहीं करना चाहिए, नहीं तो वह कष्ट में पड़ जायगा।' यहाँ पर स्पष्टतः प्राचीन ऋषियों एवं पश्चात्कालीन ऋषियों के आध्यात्मिक गुणों के विषय में अन्तर बताया गया है, किन्तु चारों युगों के नामों अथवा उनके सिद्धान्त के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। आप० ध० सू० (१।२।५।४) का कहना है कि आगे के मनुष्यों में नियमातिक्रमण के कारण ऋषि उत्पन्न नहीं होते।[८] अतः ऐसा कहना सम्भवतः भ्रामक न सिद्ध होगा कि गौतम एवं आपस्तम्ब के आरम्भिक धर्मसूत्रों के समय में भी युग-संबंधी सिद्धान्त का पूर्ण विकास नहीं हुआ था, यद्यपि दोनों ने यही कहा है कि वे पतन के युग में हैं और मंत्रद्रष्टा ऋषियों के उपरान्त वाले ऋषि लोग निकृष्ट हैं।

युगों की सिद्धान्त-सम्बन्धी निकटतम सीमा के स्थापन में हमें राजाओं द्वारा उपस्थापित शिलालेख आदि सहायता देते हैं। अशोक के शिलालेख (संख्या ४, ५) में जो कालसी और दो अन्य स्थानों के हैं, निम्न शब्द आये हैं--'आव कपं' (यावत कल्पम्) तथा गिरनार वाले में 'आव सम्वर कप', जिसका अर्थ है "कल्प के अंत तक" या "कल्प

५. तदेतत्सत्यं मंत्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि। मुंडकोप० (१।२।१)।

६. माघशुक्लप्रपन्नस्य पौषकृष्णसमापिनः। युगस्य पंचवर्षस्य कालज्ञानं प्रचक्षते।। वेदांगज्योतिष (५)।

७. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्संप्रादुः। निरुक्त (१।२०)। और देखिए वनपर्व (१८३-६७)।

८. तस्मादृषयोऽवरेषु न जायन्ते नियमातिक्रमात्। आप० ध० सू० (१।२।५।४)।

के अंत तक जब कि संवर्त नामक बादल एवं अग्नियाँ उभड़ेंगी।"[१] देखिए कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, जिल्द १, पृ० ८, १०, ३०-३३। इससे प्रकट होता है कि कल्प (काल की वह लम्बी अवधि जिसके अंत में विश्व का प्रलय होता है) की भावना, जो युगों के सिद्धान्त का एक अंश है, ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी में उत्पन्न हो चुकी थी। रुद्रदामन् (१५० ई०) के जूनागढ़ अभिलेख में आया है--'वायु जिसका वेग युग के निधन (अंत) के सदृश घोर (भयानक) था।' देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृ० ३६ एवं ४३। पल्लव राजाओं (तीसरी या चौथी ई०) के आरम्भिक शिलालेखों में वे 'कलियुग के बुरे प्रभावों के कारण गर्त में पड़े धर्म को निकालने में सदैव तत्पर' कहे गये हैं (कलियुग-दोषावसन्नधर्मोद्धरणनित्यसन्नद्धस्य)। गुप्तकाल (४१५-१६ ई०) के ९६वें वर्ष के एक अभिलेख में ध्रुवशर्मा को **कृत** युग के सद्धर्म का पालक कहा गया है। और देखिए गुप्ताभिलेख संख्या ५५, पृ० २३७ एवं २४० जहाँ **कृत** युग का वर्णन है और तालगुंड अभिलेख (एपि० इन्डि०, जिल्द ८, पृ० ३४) जहाँ कलियुग की ओर संकेत है। पश्चात्कालीन अभिलेखों का हवाला देना नितान्त आवश्यक नहीं है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि युगों और कल्पों के सिद्धान्त का उदय ईसा पूर्व चौथी या तीसरी शताब्दी में हो गया था और ईसा के उपरान्त प्रथम शताब्दी के आते आते उनका पूर्ण विकास हो गया। पूर्ण विकास के लिए लम्बी अवधि आवश्यक है। उदाहरणार्थ ब्रह्मगुप्त (ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त ११।१०) का कथन है कि युगों, मनुओं एवं कल्पों का सिद्धान्त जो आर्यभट द्वारा प्रतिपादित था, स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त से भिन्न था।

यदि हम संस्कृत-साहित्य का पर्यवलोकन करें तो उपर्युक्त निष्कर्ष की सिद्धि हो जाती है। महाभारत (वन-पर्व के अध्याय १४९ एवं १८८, शान्तिपर्व के अध्याय ६९, २३१-२३२), मनु (अ० १), विष्णु ध० सू० (१९।१-२१), पुराणों (यथा विष्णु १।३, ६।३; मार्कण्डेय ४६; ब्रह्म २२९-२३०; मत्स्य १४२-१४४) एवं ब्रह्मगुप्त जैसे ज्योतिषियों के ग्रंथों में युगों एवं मन्वन्तरों के सिद्धान्त की चर्चा संक्षेप में निम्न रूप में मिलती है--कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलि युग तथा **संध्या** (जो प्रत्येक युग के पूर्व का काल है) एवं **संध्यांश** (जो प्रत्येक युग के उपरान्त का काल है) मिलकर १२,००० वर्ष होते हैं, अर्थात् कृत, त्रेता, द्वापर और कलियुग क्रम से ४,०००, ३,०००, २,०००, १,००० वर्षों की अवधि के होते हैं तथा संध्या एवं संध्यांश क्रम से ४००, ३००, २००, १०० वर्ष की अवधियों के द्योतक हैं (अर्थात् कृत की संध्या ४०० वर्ष वाली एवं संध्यांश ४०० वर्ष वाला आदि-आदि)। किन्तु ये दिव्य वर्ष हैं। प्रत्येक दिव्य वर्ष ३६० मानवीय वर्षों के बराबर होता है। अतः चारों युगों के मानव वर्षों की जानकारी के लिए हमें १२,००० में ३६० का गुणा करना होगा (अर्थात् वास्तविक संख्या ४३,२०,००० है)। कृतयुग अपनी संध्या एवं संध्यांश के साथ १७,२८,००० मानवीय वर्षों के बराबर होता है, त्रेता १२,९६,००० वर्षों के बराबर, द्वापर ८,६४,००० वर्षों के बराबर और कलियुग ४,३२,००० वर्षों के बराबर होता है। ये चारों युग मिलकर कभी-कभी चतुर्युग (मनु १।७१) या केवल **युग** (वनपर्व १४८।२७; शान्ति प० २३२।२९) के नाम से पुकारे गये हैं; इन चारों युगों के १००० वर्ष ब्रह्मा के एक दिन के बराबर होते हैं जिसे **कल्प** की संज्ञा दी गयी है। यही बात ब्रह्मा की रात्रि की अवधि के बारे में भी है। **कल्प** के अन्त में विश्व ब्रह्मा में लीन हो जाता है जिसे **प्रलय** कहा जाता है और ब्रह्मा की रात्रि के अन्त में विश्व का पुनः उदय होता है। ब्रह्मा के एक दिन में १४ **मनु** होते हैं। अतएव प्रत्येक मन्वन्तर लगभग ७१ चतुर्युगों (१०००÷१४) के बराबर होता है। ब्रह्मा की आयु सौ वर्ष है जिसका आधा समाप्त हो गया है, अतः **वर्तमान** समय

१. मिलाइए 'ततः संवर्तको वह्निर्वायुना सह भारत। लोकमाविशते पूर्वमादित्यैरुपशोषितम्।। वनपर्व (१८८।६९)।

ब्रह्मा के जीवन का अर्धांश अथवा द्वितीय परार्ध कहा जाता है और आज का चलता हुआ कल्प वाराह कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट होता है कि पुराणों के मत से विश्व की उत्पत्ति और उसका प्रलय कई बार हुआ है और इसी प्रकार कई मन्वन्तर (मनु० १।८०) हुए हैं। अपनी विशेषताओं के आधार पर चारों युग एक दूसरे से भिन्न हैं। कृत इसलिए कहा जाता है कि इस युग में प्रत्येक कार्य पूर्ण (कृत) कर दिया जाता है और कुछ छोड़ा नहीं जाता।[10] चारों युगों के प्रतीकात्मक रंग हैं श्वेत, पीत, लोहित एवं कृष्ण (वनपर्व १८९।३२)। कृत में धर्म पूर्णता के साथ प्रचलित रहता है और चारों पैरों पर खड़ा रहता है (मनु ८।१६ एवं वनपर्व १९०।९ आदि में धर्म को आलंकारिक रूप में वृष (बैल) कहा गया है)[11] और यह आगे के युगों में चौथाई रूप में पतन को इस प्रकार प्राप्त होता है (मनु १।८१-८२=शान्ति २३२।२३-२४) कि कलि में केवल एक चौथाई (अर्थात् केवल एक पैर) बच रहता है और तीन चौथाई (अर्थात् तीन पैरों) में अधर्म समाविष्ट हो जाता है। कृत में सब लोग रोगों से मुक्त रहते हैं, अभिलषित फल प्राप्त करते हैं और मानव-जीवन चार सौ वर्षों के बराबर होता है। कृत युग की ये विशेषताएँ अन्य तीन युगों में एक चौथाई रूप से घटती जाती हैं (मनु १।८३=शान्ति २३२।२५)। चारों युगों के धर्म भिन्न होते हैं; कृत में तप परम धर्म था, त्रेता में दार्शनिक ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलि में केवल दान (मनु १।८५-८६=पराशर १।२२-२३= शान्ति० २३२।२७-२८)।

कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग के धर्मों की उद्घोषणा क्रम से मनु, गौतम, शंख-लिखित एवं पराशर ने की है (पराशरस्मृति १।२४)। कृत में केवल एक वर्ण था किन्तु कलि के अन्त में सभी शूद्र हो जायँगे (ब्रह्म० २२९।५२, मत्स्य० १४४।७८)। पराशर (१।२५-२८) ने चारों युगों की विशेषताओं का वर्णन किया है जिसे यहाँ हम स्थानाभाव से नहीं दे रहे हैं। मनु (९।३०१-३०२) के मत से युग काल के संकीर्ण अथवा बँधे-बँधाये भाग नहीं हैं। राजा अपने आचरण द्वारा एक युग की विशेषताओं को दूसरे में प्रवाहित कर सकता है। मेधातिथि (मनु ९।३०१) ने व्याख्या की है कि राजा को इस गलतफहमी में नहीं पड़ना चाहिए कि कलि-काल कोई ऐतिहासिक भाग है और वह इसलिए कलि या कृत नहीं हो सकता, बल्कि बात तो यह है कि राजा अपने आचरण द्वारा प्रजाजनों में कतिपय युगों की परिस्थितियों को उत्पन्न कर सकता है।

वनपर्व (१४९।११-३८), वायु० (३२ एवं ५७-५८), लिंग० (३९), मत्स्य० (१४२-१४४), गरुड़० (२२३), नारदीय० (पूर्वार्ध ४१) एवं अन्य पुराणों में चारों युगों के स्वभाव का वर्णन है जिसे हम यहाँ स्थानाभाव के कारण उल्लिखित नहीं कर सकते। किन्तु महाभारत एवं पुराणों में वर्णित कलियुग के स्वभाव के विषय की जानकारी आवश्यक है। वनपर्व (अध्याय १८८ एवं १९०), युगपुराण (गर्गसंहिता का अ०), हरिवंश (भविष्य० अ० ३।५), ब्रह्म० (२२९-२३०), वायु० (५८ एवं ९९।३९१-४२८), मत्स्य० (१४४।३२-४७), कूर्म० (१।३०), विष्णु पु० (६।१।२), भागवत (१२।२), ब्रह्माण्ड (२।३१), नारदीय (पूर्वार्ध ४१, २१-८८), लिंग (४०), नृसिंह (५४। ११-४९) एवं अन्य ग्रंथों ने अधिकांशतः समान श्लोकों में कलियुग के विषय में बहुत ही निराशाजनक, अन्धकारपूर्ण एवं अत्यन्त हृदयस्पर्शी बातें कही हैं।

प्रमुख बातें ये हैं कि कलियुग में शूद्र एवं म्लेच्छ राजाओं का राज्य होगा, नास्तिक सम्प्रदायों की प्रधानता

१०. कृतमेव न कर्त्तव्यं तस्मिन् काले युगोत्तमे। वनपर्व (१४९।११)।

११. कृते चतुष्पात्सकलो निर्व्याजोपाधिवर्जितः। वृषः प्रतिष्ठतो धर्मो मनुष्ये भरतर्षभ॥ वनपर्व (१९०।९)।

होगी, जाति-सम्बन्धी कर्तव्यों एवं सुविधाओं में उलट-फेर होगा और शारीरिक एवं नैतिक शक्तियों का ह्रास हो जायगा।

पुराणों के समय के विषय में मतैक्य न होने के कारण युगों से सम्बन्धित सिद्धान्त के पूर्ण विकासकाल के विषय में कहना कठिन है, किन्तु इतना निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि चौथी शताब्दी ई० के आते-आते यह सिद्धान्त भली-भाँति विकसित हो चुका था। आर्यभट (कालक्रियापाद १०) ने कहा है कि जब महायुग के (कृत, त्रेता एवं द्वापर) तीन पाद और ३६०० वर्ष व्यतीत हो चुके थे तो वे २३ वर्ष के थे। आज की गणना के अनुसार वे सन् ४९९ ई० में २३ वर्ष के थे, स्पष्ट है, उनका जन्म ४७६ ई० में हुआ था। वराहमिहिर (५०५ से ५८७ ई०) ने अपनी पुस्तक पंच-सिद्धान्तिका में बहुत-से ज्योतिष सिद्धान्तों के आँकड़ों का निष्कर्ष दिया है, जिसमें रोमक सिद्धान्त भी सम्मिलित है, जिसके विषय में ब्रह्मगुप्त का कथन है कि वह स्मृतियों के बाहर की वस्तु है, क्योंकि इसने (रोमक सिद्धान्त ने) युगों, मन्वन्तरों एवं कल्पों को, जिन्हें स्मृतियों ने कालगणना में उपयोगी माना है, छोड़ दिया है। रघुवंश (१५।९६) में कालिदास ने धर्म को त्रेता में केवल तीन पैरवाला कहा है। यह उस समय की बात है जब राम ने इस संसार से बिदा होने के लिए विचार किया था। आज का कोई भी विद्वान् कालिदास को पाँचवीं शताब्दी के उपरान्त का नहीं बता सकता। अतः युग-सम्बंधी सिद्धान्त ४०० ई० से पहले ही पूर्णता को प्राप्त हो चुका होगा। डॉ० का० प्र० जायसवाल का कथन है कि गर्गसंहिता वाले युगपुराण का अध्याय लगभग ५० ई० पू० सन् में प्रणीत हुआ था। सम्भवतः उनका यह विचार ठीक है।

आजकल कलिवर्ष ५०६१ (बीता हुआ) १९६० ई० या शक संवत् १८८२ या विक्रम संवत् २०१६ के बराबर है (यह हिन्दी अनुवाद सन् १९६० में किया गया है)। किन्तु कलियुग के आरम्भ की तिथि के विषय में कई मत हैं। उपर्युक्त गणना के विषय में निश्चित तिथि ई० पू० ३१०२ की १८वीं फरवरी का शुक्रवार है। एक मत यह है कि कलियुग का आरम्भ महाभारत की लड़ाई के समय से हुआ (आदिपर्व २।१३, शल्य० ६०।२५ एवं वन० १४९। ३८)। यह मत ऐहोल अभिलेख में उल्लिखित है जहाँ यह कहा गया है कि कलियुग का आरम्भ महाभारत की लड़ाई से हुआ और ३७३५ वर्ष (बीते हुए) शक संवत् ५५६ के बराबर हैं (ए० इ०, जिल्द १, पृ० १, ७)। आर्यभट को यह गणना ज्ञात थी, क्योंकि उन्होंने कहा है कि जब वे २३ वर्ष के थे तो महायुग के तीन भाग एवं ३६०० वर्ष व्यतीत हो चुके थे (कालक्रियापाद, १०)। पुराणों में जो मत प्रकाशित है वह यह है कि जब कृष्ण ने अपना अवतार समाप्त कर स्वर्गारोहण किया तो कलियुग का आरम्भ हुआ।[१२] इस मत से कलियुग का आरम्भ प्रथम मत के कई वर्ष उपरान्त माना जायगा। देखिए मौसलपर्व (अ० १।१३ एवं २।२०) जहाँ कृष्ण के दिवंगत होने के पूर्व के ३६ वर्ष की ओर संकेत किया गया है। युगपुराण ने द्रौपदी की मृत्यु के दिन से कलियुग का प्रारम्भ माना है (जे० बी० ओ० आर० एस०, जिल्द १४, पृ० ४००)। वराहमिहिर[१३] का एक पृथक् मत है। उनका कहना है कि जब युधिष्ठिर राज्य कर रहे थे तो चित्रशिखण्डी नक्षत्र मघा में थे। यह काल शक-संवत् में २५२६ वर्ष जोड़कर उपस्थित किया गया। इससे युधिष्ठिर कलियुग के ६५३वें वर्ष में माने जायँगे (आज की गणना के अनुसार), न कि द्वापर में या कलियुग के

१२. यस्मिन्कृष्णो दिवं यातस्तस्मिन्नेव तदा दिने। प्रतिपन्नः कलियुगस्तस्य संज्ञां निबोधतः॥ वायु० (९९। ४२८-४२९); ब्रह्माण्ड० (२।७४।२४१)।

१३. आसन् मघासु मुनयः शासति पृथ्वीं युधिष्ठिरे नृपतौ। षड्द्विकपञ्चद्वियुतः शककालस्तस्य राज्ञश्च॥ बृहत्संहिता (१३।३)।

आरम्भ में। राजतरंगिणी (१।५६) ने बृहत्संहिता को उद्धृत कर कहा है कि कौरव एवं पाण्डव कलियुग के ६५३वें वर्ष में थे (१।५१)। विद्वानों ने बहुत प्रयास करके इस भेद को मिटाना चाहा है और इस विषय में बृहत्संहिता के शब्द 'षड्द्विक-पञ्च-द्वियुतः' को कई प्रकार से समझाया है, जो संतोषप्रद समाधान देने में असमर्थ है। हम 'द्विक' शब्द को 'दो' के अर्थ में क्यों न लें? लीलावती एवं बृहत्संहिता ने इसे 'दो' के अर्थ में ही लिया है।

शककाल, जो उपर्युक्त श्लोक में आया है, वह पञ्चसिद्धान्तिका (१।८) एवं बृहत्संहिता (८।२०-२१) में प्रयुक्त **शकेन्द्रकाल** या **शकभूपाल** से भिन्न है, ऐसा मानना कठिन है। वराहमिहिर ने कोई ऐसा संकेत नहीं दिया है कि हम उसे भिन्न मानें। श्री चि० वि० वैद्य ने **शककाल** को बुद्ध के निर्वाण का काल माना है (महाभारत, एक समीक्षा, पृ० ८०-८१)। किन्तु ऐसा मानना अनुचित है। उनका 'षड्-द्विक-पञ्च-द्वियुतः' को २५६६ (न कि २५२६) मानना बुरा नहीं है, क्योंकि उससे युधिष्ठिर के काल-निर्णय के तर्क पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। इस व्याख्या से युधिष्ठिर ई० पू० २४८८ ई० में माने जायँगे न कि २४४८ ई० में। किन्तु 'षट्' (६), 'द्विक्' (२) आदि शब्दों के साधारण मूल्यों को न मानने में कोई तर्क नहीं है।

यदि भास्कर वर्मा के निधानपुर ताम्रपत्रों की तिथि की उचित समीक्षा की जाय तो वराहमिहिर की स्थिति के पक्ष में बल प्राप्त हो जाता है। इन ताम्रपत्रों ने भास्कर वर्मा की वंशावली को निश्चित करने के लिए उस नरक से आरम्भ किया है जिसका पुत्र भगदत्त कौरवों की ओर से लड़ा था और अर्जुन द्वारा मारा गया था (द्रोणपर्व, अ० २९)। भास्कर वर्मा सातवीं शताब्दी में हर्षवर्धन का समकालीन था। वह पुष्य वर्मा से १२वीं पीढ़ी में था। अर्जुन से मारे जानेवाले भगदत्त का पुत्र वज्रदत्त था जिसके वंशजों ने कामरूप (आसाम) पर ३००० वर्षों तक राज्य किया और तब पुष्य वर्मा राजा हुआ। यदि हम प्रत्येक राज्य-काल के लिए २० वर्षों की औसत अवधि मानें तो पुष्य वर्मा पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में पड़ता है। यदि हम पुष्य वर्मा एवं वज्रदत्त के बीच के ३००० वर्ष जोड़ दें तो हम वज्रदत्त को ई० पू० २५०० सन् में पाते हैं जो महाभारत के सम्भावित काल का द्योतक है। यह वराहमिहिर की गणित तिथि (युधिष्ठिर के राज्यकाल की तिथि) ६५३ कलियुग (ई० पू० २४४८ ई०) की समीपता का द्योतक है। यदि हम यह मान लें कि महाभारत की लड़ाई ई० पू० ३१०१ में हुई या कलियुग इसी समय से आरम्भ हुआ, तो पुष्य वर्मा, जो महाभारत के ३००० वर्षों के उपरान्त आविर्भूत हुआ, ई० पू० १०१ में रखा जायगा और ऐसी स्थिति में पुष्य वर्मा एवं भास्कर वर्मा में ७०० या ७५० वर्षों की दूरी पड़ जायगी। १२ राजाओं के लिए ७०० या ७५० वर्षों की अवधि से प्रत्येक राजा के लिए लगभग ६० वर्षों का राज्यकाल मानना पड़ेगा जो सम्भव नहीं है। अतः निधानपुर अभिलेख से महाभारत की तिथि ई० पू० ३१०१ नहीं जँचती, प्रत्युत इससे वराहमिहिर की ई० पू० २५०० वाली तिथि को बल मिल जाता है।

कुछ पुराणों के कुछ ऐतिहासिक वचनों से महाभारत एवं कलियुग के आरम्भ के काल पर प्रकाश पड़ता है। वायुपुराण (९९।४-१५) एवं मत्स्यपुराण (२७३।३६) का कथन है कि परीक्षित के जन्मकाल से लेकर महापद्मनन्द के राज्याभिषेक की अवधि १०५० वर्षों की है। भागवतपुराण (१२।२।२६) में यह अवधि १०१५ वर्षों की है। यहाँ पुराण-उक्तियों में कुछ त्रुटि है। मत्स्य (२७१।१७।३०) ने जरासंध के पुत्र सहदेव के वंशज, मगध के बार्हद्रथ राजाओं के नाम गिनाये हैं और कहा है कि यह वंश सहस्र वर्षों तक राज्य करेगा। इसने आगे (२७२।२-५) चलकर पाँच ऐसे राजाओं का वर्णन किया है जिनके उपरान्त शिशुनाक वंश चलेगा और कहा है कि पाँचों राजा मिलकर ३६० वर्ष तक राज्य करेंगे, जिनमें अन्तिम राजा महानंदि (श्लोक ६-१३) होगा, जिसका शूद्रा से उत्पन्न पुत्र महापद्म (२७२।१८) होगा। अतः यदि इन तीन वंशों के वर्ष जोड़े जायँ तो हमें १५०० की अवधि प्राप्त होगी। यह बात भागवतपुराण (९।२२।४८ एवं १२।१-२) एवं वायुपुराण (९९।३०८-३२१) द्वारा समर्थित है।

वायुपुराण का कथन है कि बार्हद्रथ वंश १००० वर्ष तक राज्य करेगा, उसके उपरान्त ५ वीतिहोत्र राजा (प्रद्योत आदि) १३८ वर्ष तक राज्य करेंगे और इसके उपरान्त शिशुनाक (भागवत एवं ब्रह्मांड पुराण ३।७४।१३४-१३५ में 'शिशुनाग' शब्द आया है) वंश ३६२ वर्ष तक राज्य करेगा (स्पष्टतः १५०० वर्ष)। ये अवधियाँ विष्णुपुराण (४।२३ एवं २४) एवं ब्रह्मांडपुराण (३।७४।१२१-१३५) द्वारा भी उपस्थित की गयी हैं। श्रीधर ने भागवत (१२।२।२६) की टीका में कहा है कि परीक्षित एवं नन्द (महापद्म) के बीच १४९८ वर्ष की अवधि है (जैसा कि भागवत ने कहा है) तथा शिशुनाग वंश ने ३६० वर्षों तक राज्य किया। अतः वायुपुराण या मत्स्यपुराण या भागवतपुराण में शुद्ध पाठ 'पंच-शतोत्तरम्' ठीक है न कि 'पंचाशदुत्तरम्' या 'पंचदशोत्तरम्'। परीक्षित और नन्द के बीच में १५०० वर्षों की अवधि को मानते हुए तथा आधुनिक विद्वानों के मतानुसार यह मानते हुए कि नन्द राजा ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में हुए, यह कहा जा सकता है कि अर्जुन के पौत्र परीक्षित, महाभारत युद्ध एवं कलियुग का आरम्भ तीनों ईसा पूर्व १९वीं शताब्दी में रखे जा सकते हैं। अतः उपर्युक्त विवेचनों के उपरान्त महाभारत की तीन विभिन्न तिथियाँ हुईं; ३१०१ (ई० पू०), २४४८ (ई० पू०) एवं लगभग १९०० (ई० पू०)। ये तीनों तिथियाँ ईसा के उपरान्त ५वीं शताब्दी से लेकर प्राप्त साक्ष्यों द्वारा प्रमाणित हैं। कोई ऐसा नहीं कह सकता कि इन तीनों में कोई एक परम्परा ही युक्तिसंगत है। केवल यही कहा जा सकता है कि किसी को एक परम्परा जँचती है तो दूसरे को दूसरी या तीसरी। ईसापूर्व १९वीं शताब्दी वाली तिथि पुराणों द्वारा कतिपय राजाओं के नामों और उनके राज्यकालों के दृष्टांतों के साथ विस्तारपूर्वक स्थापित है, अतः मेरी समझ में, महाभारत युद्ध के लिए यह तिथि अन्य दोनों की अपेक्षा अधिक ठीक जँचती है। कल्पनात्मक अथवा खींचातानी से युक्त व्याख्याओं तथा संदिग्ध वचनों के आधार पर कही गयी बातों की अपेक्षा यह कहना उत्तम है कि हम महाभारतयुद्ध के लिए कोई निश्चित तिथि निकालने में असमर्थ हैं। हम महत्त्वपूर्ण पुराणों की उत्तम पाण्डुलिपियों की आलोचनात्मक व्याख्याएँ करके उनके सुन्दर संस्करण उपस्थित तो कर सकते हैं, किन्तु उनके विद्वान् पाठकों के (निष्कर्षों द्वारा स्थापित) विभिन्न मतों में एकता स्थापित करने में समर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि विद्वान् अपनी-अपनी विभिन्न परीक्षण-प्रणालियाँ उपस्थित करने में दक्षता प्रकट करने लगते हैं (मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना)। भारतीयता-शास्त्र के अनन्य विद्वान् श्री पार्जिटर ने अपनी प्रख्यात पुस्तक 'दि पुराण टेक्ट्स ऑव दि डायनेस्टिज ऑव दि कलि एज' द्वारा इस विषय में एक बहुत विद्वत्तापूर्ण श्लाघ्य कार्य किया है।

महाभारत युद्ध की तिथि से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या जो कतिपय विद्वानों द्वारा उपस्थापित की गयी है, हम स्थानाभाव से उसे यहाँ नहीं दे रहे हैं। किन्तु दो एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यहाँ दिये जा रहे हैं। अपनी पुस्तक 'दि क्रोनोलौजी ऑव ऐंश्येण्ट इण्डिया' (अ० २, पृ० ५१-१०४) में श्री वेलण्डि गोपाल ऐयर ने महाभारत द्वारा उपस्थापित ज्योतिष-आँकड़ों की जाँच की है और बृहत्संहिता के शब्दों की भ्रामक व्याख्या करके तथा कलियुग के आरम्भ के सम्बन्ध में मलावार के कोल्लम युग को ईसा पूर्व ११७७ ई० का ठहराकर यह निष्कर्ष निकाला है कि महाभारत युद्ध ई० पू० ११९४ ई० के अन्तिम भाग में हुआ था। यह सिद्धान्त, स्पष्टतः, उपर्युक्त तीन सिद्धान्तों के विरोध में उठ खड़ा होता है। हमने देख लिया है कि उपर्युक्त तीनों सिद्धान्त प्राचीन एवं प्रामाणिक साक्ष्यों के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित हैं।

इस विवादग्रस्त समस्या पर मेगस्थनीज की 'इण्डिका' के कतिपय अंशों पर आधारित सूचना कुछ प्रकाश डालती है। एक स्थान (पृ० ११५, मेगस्थनीज आदि द्वारा वर्णित प्राचीन भारत) पर आया है—"उससे (बेक्कस से) लेकर अलेक्जेन्डर महान् तक ६४५१ वर्ष होते हैं जिनमें ३ अतिरिक्त मास जोड़ दिये गये हैं, गणना उन १५३ राजाओं के राज्यकालों को लेकर की गयी है जिन्होंने इस बीच की अवधि में राज्य किया।" प्लीनी (लीनी) के उद्धरण में राजाओं की संख्या १५४ है। इसके विरोध में एरियन (दूसरी शताब्दी) की 'इण्डिका' की स्थापना है—"डायोनिसस

से सैंड्राकोट्टस (चन्द्रगुप्त) तक भारतीयों ने १५३ राजाओं के नाम परिगणित किये और ६०४२ वर्षों की अवधि दी, किन्तु इन सबों में एक गणतंत्र राज्य तीन बार स्थापित हुआ.....दूसरा गणतंत्र ३०० वर्षों और एक अन्य दूसरा १२० वर्षों तक चलता रहा। भारतीयों का यह भी कहना है कि डायोनिसस हेराक्लीज से १५ पीढ़ियों पहले हुआ था और उसके अतिरिक्त किसी अन्य ने भारत पर आक्रमण नहीं किया।" यह उक्ति बड़ी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह सिद्ध करती है कि ई० पू० चौथी शताब्दी में कोई एक बहुत शताब्दियों से चलती आयी किंवदन्ती प्रसिद्ध थी जो भारतीय सभ्यता एवं सुव्यवस्थित शासन के इतिहास को ई० पू० चौथी शताब्दी से पहले ६ हजार वर्ष तक ले जाती थी। किन्तु मेगस्थनीज ने जो लिखा है, उसके विषय में संदेह उत्पन्न हो जाता है और वर्षों तथा राजाओं की संख्या के विषय में कुछ भिन्नता उत्पन्न हो जाती है। इसके अतिरिक्त महाभारत युद्ध की तिथि एवं कलियुग के आरम्भ के विषय में कोई सीधा संबंध नहीं स्थापित किया जा सकता, जब तक कि 'हेराक्लीज' को हम कुछ विद्वानों के मतानुसार 'हरि-कृष्ण' न मान लें।[14] हेराक्लीज के विषय की चर्चा कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित किंवदन्तियों से कुछ मेल खाती है (मैक्रिण्डल का ग्रंथ, पृ० २०१-२०३)—"वह सौरासेन्वाय (शूरसेन) द्वारा सम्मानित हुआ था, सौरासेन्वाय एक भारतीय जाति है और उसके अधिकार में मे-थोरा (मथुरा) और क्लेयीसोबोरा नामक दो विशाल नगर हैं, हेराक्लीज की बहुत पत्नियाँ थीं।" किन्तु हेराक्लीज के जीवन के कुछ वृत्तान्त मेल नहीं भी खाते, यथा "उसकी पण्डैया नामक एक पुत्री थी जिसकी सात वर्ष की अवस्था में हेराक्लीज ने एक शक्तिवाली जाति उत्पन्न करने के लिए उससे शरीर-सम्बन्ध स्थापित किया।" यहाँ पर पण्डैया अथवा 'पाण्डैअ' शब्द को लेकर पाण्डवों एवं कुन्ती या दक्षिण के पाण्ड्य राज्य से सम्बंधित कुछ सन्देह उत्पन्न हो सकता है जो कुछ सीमा तक जँच भी सकता है। इसके अतिरिक्त १५३ या १५४ राजाओं के लिए ६,००० वर्ष एक बहुत लम्बी अवधि है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि ये ६,००० वर्ष (जिससे प्रत्येक राज्य-कार्य के लिए औसत ४० वर्ष पड़ते हैं) राजाओं के कालों की ओर संकेत करते हैं, क्योंकि हमें ज्ञात है कि वायु एवं मत्स्य पुराणों ने राज-वंशों की अवधियाँ दी हैं, राजाओं के राज्यकाल और प्रत्येक वंश के राजाओं के नामादि भी दिये हैं। यह बात ठीक है कि कतिपय राजाओं के नामों, उनकी संख्या एवं राज्यकालों की अवधि के विषय में पुराणों में कहीं-कहीं अन्तर पड़ गया है। ऐसा लगता है कि वे पुराण जिनमें ऐतिहासिक विवरण उपस्थित किया गया है, कई बार संशोधित हुए हैं, यथा वायुपुराण (९९।३८३) ने गुप्त राजाओं का उल्लेख किया है किन्तु मत्स्यपुराण इस विषय में मौन है। प्रस्तुत पुराणों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने ऐतिहासिक वंशों के विषय में कल्पनात्मक बातें भर दी हैं, क्योंकि उनके सामने पहले की प्राचीन किंवदन्तियाँ एवं लेख आदि अवश्य रहे होंगे। उन्होंने नये राजाओं के नामों एवं उनके राज्य-कालों की अवधियों का आविष्कार नहीं किया है। उन्होंने, इसमें सन्देह नहीं कि एक-दूसरे में पायी जानेवाली विभिन्नताओं को दूर नहीं किया और जो कुछ किंवदन्तियों से अथवा लेखों से उन्हें प्राप्त हुआ, लिखित कर दिया। आज हम अभाग्यवश प्राचीन काल के संयमित इतिहास के विषय में पुराणों को आधार नहीं मान सकते, किन्तु पुराण हमारे ध्यान को हठात् अपनी ओर खींचते हैं और हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम उनकी यथातथ्य परिचर्या करें।

१४. देखिए श्री सी० वी० वैद्य की पुस्तक 'महाभारत, ए क्रिटिसिज्म' (पृ० ७५-७६) जहाँ पर उन्होंने ६०४२ अथवा ६४५१ नामक संख्याओं की अवज्ञा करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि कृष्ण ई० पू० ३१०१ ई० के आसपास अवस्थित थे, क्योंकि हेराक्लीज एवं सैण्ड्राकोटस (चन्द्रगुप्त) के बीच १३८ राजा लगभग २७६० वर्षों तक राज्य करते रहे होंगे (प्रत्येक राज्यकाल के लिए २० वर्षों की औसत अवधि दी गयी है)।

अब हम महाभारत के काल के विषय में उसमें प्राप्त ज्योतिष-संकेतों के आधार पर विवेचना उपस्थित करेंगे।

महाभारत युद्ध एवं कलियुग के कालों के विषय में बहुत-से ग्रंथ एवं निबन्ध आदि प्रकाशित हुए हैं। दो-एक की चर्चा यहाँ अपेक्षित है। श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'भारतीय ज्योतिष शास्त्रा चा इतिहास' (द्वितीय संस्करण, सन् १९३१) में इस विषय में लिखा है (पृ० १०७-१२७)। और देखिए चि० वि० वैद्य (महाभारत, एक समीक्षा, १९०४, पृ० ५५-७८, अनुक्रमणिका, टिप्पणी ५)। वैद्य ने महाभारत युद्ध के काल के विषय में परम्परा के आधार पर ई० पू० ३१०१ को ठीक माना है। श्री एन० जगन्नाथ राव ने अपनी पुस्तक 'महाभारत का युग' (अंग्रेजी, १९३१) में लिखा है कि मेगस्थनीज द्वारा उल्लिखित 'सैण्ड्राकोट्टस' मौर्य-चन्द्रगुप्त नहीं है, प्रत्युत वह गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त है। उनके कथन से इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य का समय लगभग ई० पू० १५३५ होगा। उन्होंने बृहत्संहिता के शककाल को पारसी सम्राट् साइरस का काल माना है जो लगभग ई० पू० ५५० माना जाता है। इस प्रकार उनके मतानुसार महाभारत युद्ध ई० पू० ३१३९ ई० में हुआ। श्री राव का ग्रंथ गम्भीरता से नहीं लिखा गया, इसकी उक्तियाँ छिछली हैं। श्री के० जी० शंकर ने भारतीय वंशावली-संबंधित कुछ समस्याओं के विषय में विस्तार के साथ एक मनोरंजक निबंध उपस्थित किया है (इन एनल्स ऑव दि बी० ओ० आर० इन्स्टीट्यूट, पूना, जिल्द १२, पृ० ३०१-३६१) जिसमें उन्होंने महाभारत युद्ध की ई० पू० ११९८ ई० तिथि को मान्यता दी है। 'केसरी' (पूना) के सम्पादक श्री जे० एस० करन्दीकर ने अपने कुछ लेखों (मराठी में) द्वारा महाभारत एवं पुराणों के ज्योतिष-आँकड़ों की जाँच की है और यह निष्कर्ष निकाला है कि महाभारत का युद्ध ई० पू० १९३१ ई० में किया गया था। यद्यपि मैं इनकी बहुत-सी उक्तियों से सहमत नहीं हूँ, तथापि विद्वानों द्वारा उपस्थापित कतिपय तिथियों में जो दो युक्तिसंगत अथवा उत्तम तिथियाँ समझी जा सकती हैं, उनमें इनकी प्रतिपादित तिथि को रखने में कोई संकोच नहीं करता। प्रो० पी० सी० सेनगुप्त ने एक निबंध (जे० बी० ए० एस्०, १९३७, जिल्द ३, पृ० १०१-११९) में यह दर्शाया है कि महाभारत युद्ध लगभग २४४९ में हुआ। यह भी एक सम्भावित तिथि है जिसके पीछे बृहत्संहिता की परम्परा का प्रमाण है (युधिष्ठिरकाल के उपरान्त शककाल २५२६ वर्षों के उपरान्त आता है)। और देखिए प्रो० सेनगुप्त का निबंध (वही सन् १९३८, जिल्द ४, पृ० ३९३-४१३)। डॉ० के० एल० दफ्तरी ने महाभारत की सभी ज्योतिष-सम्बंधी उक्तियों को बड़े परिश्रम के साथ जाँचकर निष्कर्ष निकाला है कि महाभारत युद्ध ई० पू० ११९७ ई० में हुआ (नागपुर-विश्वविद्यालय व्याख्यानमाला, सन् १९४२)। किन्तु, हम उनके निष्कर्ष को स्वीकार करने में असमर्थ हैं। प्रो० सेनगुप्त ने भी उनकी उक्तियाँ अमान्य ठहरायी हैं (जे० ए० एस० बी०, १९४३, जिल्द ९, पृ० २२१-२२८)। प्रो० के० बी० अभयंकर ने अपने निबंध (बी० ओ० आर० आई०, १९४४, जिल्द २५, पृ० ११६-१३६) में बहुमत के सिद्धान्त का समर्थन किया है और बहुत छान-बीन के उपरान्त ई० पू० ३१०१ ई० को ठीक माना है। लगता है, उन्होंने डॉ० दफ्तरी एवं प्रो० सेनगुप्त की आलोचनाओं का अध्ययन नहीं किया था। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि महाभारत की तिथि को ज्योतिष के आँकड़ों से सिद्ध करना सरल नहीं है, क्योंकि उसी विधि से अन्य विद्वान् ई० पू० ११९३ एवं ई० पू० ३१०१ के बीच में ही झूलते दृष्टिगोचर होते हैं और किसी प्रकार इन तिथियों के आगे नहीं बढ़ पाते। इसके कई कारण हैं।

पहली बात यह है कि महाभारत में वर्णित बहुत से संकेत अथवा संज्ञाएँ सुसंगत नहीं हैं, दूसरी बात यह है कि बहुत-से विद्वानों ने इस महाकाव्य का भारतयुद्ध के उपरान्त केवल तीन वर्षों में, अर्थात् बहुत अल्प अवधि में लिखा जाना माना है (आदि पर्व, अ० ६२।५२=५६।३२)। तीसरी बात यह है कि युद्ध के समय की तिथिपंजिका (पंचांग) के विषय में हम अभी अंधकार में हैं। बहुत-से विद्वानों का ऐसा कहना है कि उस समय की व्यवहृत पंजिका

(ऋग्वेद के) 'वेदांगज्योतिष' के नियमों से मेल खाती थी। इस विषय में मतैक्य नहीं है कि उस समय मासों का अन्त अमावस्या से होता था या पूर्णिमा से, अर्थात् वे **अमान्त** थे अथवा **पूर्णिमान्त**।[15] वैदिककाल में भी मास पूर्णिमान्त होता था, इस विषय में कोई वि ाद नहीं है। उदाहरणार्थ तै० सं० के मत से पूर्वाफाल्गुनी वर्ष की अन्तिम रात्रि है और उत्तराफाल्गुनी उसका मुख (अर्थात् आरम्भ)। इसी प्रकार तै० सं० (७।४।८।२) ने घोषित किया है कि चित्रा पूर्णमासी वाले वर्ष का मुख है, किन्तु शांखायन ब्राह्मण (४।४) का कहना है कि फाल्गुनी पूर्णमासी वर्ष का मुख है। महाभारत के लेखक, या लेखकों ने किसी भयानक घटना के अत्यधिक अशुभ सूचक तत्त्वों को एक ही स्थान पर एकत्र कर दिया है और यह नहीं सोचा है कि वे इस प्रकार अपनी विशेषताओं के कारण एक स्थान पर नहीं रखे जा सकते (उद्योगपर्व १४३।५-२९ एवं भीष्मपर्व २।१६-३३)। उदाहरणार्थ, अरुन्धती वसिष्ठ के पास गयी (भीष्म, २।३१), घोड़ी ने गाय के बछड़े को जन्म दिया, कुतिया ने शृगाल जन्मा (भीष्म० ३।६) तथा देवताओं की प्रतिमाएँ काँप उठीं, हँस पड़ीं एवं रक्त उगलने लगीं (भीष्म० २।२६ जिसकी तुलना बृहत्संहिता ४५।८ से एवं गर्ग के श्लोकों से की जा सकती है)। ऐसा कई बार कहा गया है कि चन्द्र और सूर्य का ग्रहण अनुचित तिथि (अपर्वणि) में हुआ है या दोनों राहु से ग्रसित हुए हैं (भीष्म० ३।२८ एवं ३२।३३ तथा आश्वमेधिक ७७।१५)। इन्हीं श्लोकों में आया है कि सूर्य और चन्द्र के ग्रहण एक ही दिन हुए और एक ही मास के १३वें दिन हुए। इन सब बातों को लेकर विद्वानों की गणना में बहुत मतभेद हो गया है, किन्तु हम इन विस्तारों के चक्कर में न पड़ेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि कुसमय में होनेवाले ग्रहणों से विपत्तियाँ घिर आती हैं। वराहमिहिर (बृहत्संहिता ५।२६, ९७-९८) का कहना है कि यदि चन्द्रग्रहण सूर्यग्रहण के पहले या उपरान्त एक ही पक्ष में प्रकट होता है तो भयंकर फल दीख पड़ते हैं।

जब कृष्ण ने कौरवों से शान्ति स्थापना की चर्चा आरम्भ कर दी तब से जो ज्योतिष संबन्धी आँकड़े हमारे सामने उपस्थित होते हैं उनमें कुछ महत्त्वपूर्ण आँकड़ों की चर्चा यहाँ की जा रही है। उद्योगपर्व (८३।६-७) में आया है कि कृष्ण ने शान्तिदूतता का कार्य शरद ऋतु के अन्त में और जाड़े के आगमन पर जब कि चंद्र रेवती नक्षत्र में था या मैत्र मुहूर्त में था, तब कार्तिक मास में आरम्भ किया (कौमुदे मासि)।[16] आजकल आश्विन और कार्तिक **शरद्** ऋतु के द्योतक हैं तथा मार्गशीर्ष और पौष **हेमन्त** के। यह श्लोक एक कठिनाई उत्पन्न करता है। कार्तिक की पूर्णिमा को चन्द्र कृत्तिका नक्षत्र में और तीन दिन पहले अर्थात् कार्तिक शुक्ल द्वादशी के दिन वह रेवती नक्षत्र में होता है। यदि हम इसे 'शरदन्ते' शब्द के साथ ले जायँ तो मास पूर्णिमान्त हो जाता है; किन्तु दूसरे अर्थ में (यदि मास अमान्त हो) यह

१५. कनिष्ककाल के खरोष्ठी के अभिलेखों से पता चलता है कि उत्तर-पश्चिमी भारत में उन दिनों मास पूर्णिमान्त थे (एपि० इन्०, जिल्द १८, पृ० २६६ एवं वही, जिल्द १९ पृ० १०)। अपरार्क (पृ० ४२३) ने ब्रह्मपुराण से 'अश्वयुक् कृष्णपक्षे तु श्राद्धं कार्यं दिने दिने' उद्धृत कर कहा है कि भाद्रपद कृष्णपक्ष को इस श्लोक में आश्विन का कृष्ण पक्ष कहा गया है। भविष्यपुराण (उत्तरपर्व १३२।१७) में फाल्गुन की पूर्णिमा मास के अंत की द्योतक है (किमर्थं फाल्गुनस्यान्ते पौर्णमास्यां जनार्दन। उत्सवो जायते लोके ग्रामे ग्रामे पुरे पुरे)। मत्स्यपुराण (१५९।४-६) में आया है कि स्कंद एवं विशाख चैत्र के कृष्ण पक्ष के १५वें दिन उत्पन्न हुए थे, और चैत्र के शुक्ल पक्ष में ५वें दिन इन्द्र ने दोनों से एक लड़का उत्पन्न किया और छठे दिन उसे राजा के रूप में अभिषिक्त कर दिया। इससे प्रकट होता है कि मत्स्य में चैत्र पूर्णिमान्त है, अमान्त नहीं।

१६. मैत्रे मुहूर्ते सम्प्राप्ते मृद्वर्चिषि दिवाकरे। कौमुदे मासि रवत्यां शरदन्ते हिमागमे॥ उद्योगपर्व (८३।६-७)। और देखिए शत० ब्रा० (१०।४।२।१८, २५, २७) एवं तै० ब्रा० (३।१०।१।१)।

कहना अत्यंत अनुचित होगा कि कार्तिक शुक्ल द्वादशी के दिन शरदन्त था। असफल होने पर कृष्ण पांडवों के पास लौट आये और दुर्योधन से जो कुछ बातचीत हुई थी, उसकी चर्चा की (इसमें कार्तिक शुक्ल द्वादशी के बाद कुछ दिन अवश्य लगे होंगे। कृष्ण ने जो बातें कहीं उनमें दो महत्त्वपूर्ण हैं; पहली यह कि दुर्योधन ने अपने मित्रों से कहा है--"युद्ध के लिए कुरुक्षेत्र को चलो; आज चन्द्र पुष्य नक्षत्र में है (उद्योगपर्व १५०।३)।" यदि कृष्ण अपने शान्तिकार्य के लिए उस समय तक चले जब कि चंद्र रेवती नक्षत्र में था (कार्तिक शुक्लपक्ष के १२वें दिन) तो दुर्योधन के ये शब्द उनकी उपस्थिति में कहे गये या कार्तिक कृष्ण पंचमी के दिन (या मार्गशीर्ष कृष्ण पंचमी के दिन, यदि मास पूर्णिमान्त था) कहे गये। कृष्ण की दूसरी महत्त्वपूर्ण बात वह है जो उन्होंने कर्ण से, जिसे उन्होंने अपनी ओर मिलाना चाहा, कही--"यह वह सौम्य मास है जब ईंधन एवं चारा सरलता से प्राप्त होता है, यह वह समय है जो न अधिक गर्म है न ठंडा है; आज से सातवें दिन अमावस्या होगी, उस दिन संग्राम किया जा सकता है, उस दिन इन्द्र देवता का रक्षण प्राप्त होता है।" अतः उनकी यह बात मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी या उसके आस-पास हुई होगी, किन्तु उस मास का नाम क्या है ? यदि गणना पूर्णिमान्त से होती थी तो वह मास मार्गशीर्ष था, यदि गणना अमान्त थी तो कार्तिक। एक बात और है, इन्द्र ज्येष्ठा नक्षत्र का देवता है और अमावस्या में ज्येष्ठा नक्षत्र पाया जाना चाहिए (उद्योग० १४२।१६।१८)। आजकल यह कार्तिक अमावस्या में सम्भव है, मार्गशीर्ष अमावस्या को आजकल ज्येष्ठा नक्षत्र नहीं पाया जाता। किन्तु उपर्युक्त कथन (उद्योग० १४२।१६-१८) शल्यपर्व (३५।१०) के कथन का विरोधी है, क्योंकि वहाँ चन्द्र पुष्य में कहा गया है। यदि कर्ण से कृष्ण ने उस दिन बात की जब कि चंद्र अमावस्या वाले ज्येष्ठा नक्षत्र में था, तो शल्यपर्व की उक्ति से प्रकट होता है कि युद्ध का आरम्भ कार्तिक अमावस्या के १६वें या १७वें दिन से होगा, किन्तु यह बात कहीं अन्य स्थान पर नहीं पायी जाती। इसी प्रकार के बहुत-से ज्योतिष-संबंधी आँकड़े उपस्थित किये जा सकते हैं, जिनके आधार पर युद्ध-समय संबंधी व्याख्याएँ उपस्थित की जाती हैं।

महाभारत युद्ध के आरम्भ की तिथि एवं नक्षत्र के विषय में गहरा मतभेद है, हम उसके विस्तार में यहाँ नहीं पड़ेंगे, क्योंकि स्वयं उस महाकाव्य में इसके विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। विद्वानों ने श्लोकों के शब्दों को इधर-उधर परिवर्तित कर बहुत-सी अटकल-पच्चू बातें की हैं। हम जानते हैं कि महाभारत के पीछे शताब्दियों की परम्पराएँ हैं, उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन कर देना श्रेयस्कर नहीं है। हमें उसके काल-निर्णय के विषय में अन्य साक्ष्यों का सहारा लेना होगा, किन्तु स्थानाभाव से हम उनके विवेचन में यहाँ नहीं पड़ेंगे।

कलियुग का आरम्भ आज (सन् १९६०) से केवल ५०६१ वर्ष पहले हुआ और यह युग ४,३२,००० वर्षों तक चलता रहेगा (जैसा कि पुराणों का कथन है), तो यह कहना उचित ही है कि हम लोग अभी कलियुग की देहली पर खड़े हैं और यह हमारी कल्पना के बाहर की बात है कि आज से लगभग ४,२७,००० वर्षों के उपरान्त कलियुग के अन्त में कौन-सी घटनाएँ या दुर्घटनाएँ घटित होंगी। पुराणों ने भविष्यवाणी की है कि इस महान् युग के अन्त में सम्भल ग्राम में भगवान् विष्णु **कल्कि** के रूप में प्रादुर्भूत होंगे और म्लेच्छों, शूद्र-राजाओं, पाखण्डियों आदि का नाश करेंगे और धर्म की स्थापना करेंगे जिससे कृतयुग का पुनरारम्भ होगा। यहाँ पर भी अन्य बातों की भाँति पौराणिक कथाओं में मतभेद पाया जाता है। वायुपुराण (५८।७५-९०) एवं मत्स्यपुराण (१४४।५०-६४) का कथन है कि **प्रमति भार्गव** विष्णु के अवतार होंगे तथा म्लेच्छों, पाखण्डियों एवं शूद्र राजाओं का नाश करेंगे, किन्तु वायुपु० (९८।१०४-११० एवं ९९। ३९६-३९७), वनपर्व (१९०।९३-९७) एवं भागवत (१२।२।१६-२३) का कथन है कि कल्कि म्लेच्छों को जीतेंगे और धर्मविजयी के समान चक्रवर्ती राजा होंगे और इस प्रकार कृत युग का आरम्भ करेंगे। कहीं-कहीं कल्की नाम आया है तो कहीं-कहीं उन्हें ब्राह्मण-विष्णु का पुत्र कहा गया है (विष्णुयश को सम्भल ग्राम का मुखिया कहा गया है)। कहीं-कहीं तो ऐसा कहा गया है कि इनका प्रादुर्भाव हो चुका है और कहीं-कहीं उन्हें अभी आगे प्रादुर्भूत होनेवाला माना गया

है। पुराणों में चारों युग कई बार व्यतीत होते और आरम्भ होते दिखाये गये हैं, अतः कल्कि का अवतार अतीत एवं भविष्य दोनों कालों में वर्णित है। कल्किपुराण (१।२।३३ एवं १।३।३२-३३) का कहना है कि कल्कि माहिष्मती के राजा विशाखयूप के समकालीन थे और वायु० (९९।३१२-३१४), मत्स्य० (३७२।४) एवं विष्णु० (४।२४) का कथन है कि विशाखयूप प्रद्योत वंश का तीसरा राजा था। कल्किपुराण ने कल्कि के विषय में अतीत काल का कई बार प्रयोग किया है किन्तु आरम्भ में (१।१०) वह भविष्य के लिए कहा गया है। एक मनोरंजक बात जयराम-कृत पर्णाल पर्वत-ग्रहणाख्यान (१६७३ ई०) में बीजापुरी सेना के सेनापति बहलोल खान द्वारा वज़ीर खवास खाँ से कहलायी गयी है जो यह है--"हिन्दू शास्त्रों में कुछ लोगों का कहना है कि विष्णु के दसवें अवतार कल्कि का प्रादुर्भाव होगा जो यवनों का नाश करेंगे। शिवाजी उस कल्कि के अग्रदूत के रूप में आ गये हैं।"

यद्यपि पुराणों ने कलियुग के नैतिक और भौतिक पतन के विषय में विस्तारपूर्वक निन्दा के शब्द कहे हैं, किन्तु उन्होंने कहीं भी कलियुग में वर्जित विषयों (कर्मों) के बारे में कुछ नहीं संकेत किया। अब हमें यह देखना है कि 'कलि-वर्ज्य' के विषय को कब प्रमुखता प्राप्त हुई और वे कौन-सी बातें हैं जिन्हें पहले युगों में वर्जित नहीं माना गया था और जो कालान्तर में निन्द्य एवं वर्जित ठहरायी गयीं।

आप० ध० सू० (२।६।१४।६-१०) ने पैतृक सम्पत्ति को सम्पूर्ण रूप में या अधिकांश रूप में ज्येष्ठ पुत्र को देना शास्त्रविरुद्ध माना है। इसने दूसरे स्थान (२।१०।२७।२-६) पर कुछ अन्य लोगों के मत की ओर संकेत करते हुए कि स्त्री विवाहित होने पर वर के सम्पूर्ण कुटुम्ब को दे दी जाती है, नियोग-प्रथा को निन्द्य घोषित किया है। ये दोनों आचार (उद्धार या ज्येष्ठ पुत्र को भाग देना एवं नियोग) कलिवर्ज्य के अन्तर्गत आते हैं। अपरार्क ने बृहस्पति को उद्धृत कर उन आचारों की ओर संकेत किया है जो प्रारम्भिक स्मृतियों में प्रतिपादित किन्तु कलियुग में वर्जित मान लिये गये हैं। यथा नियोग एवं कतिपय गौण पुत्र द्वापर एवं कलि युगों में मनुष्यों की आध्यात्मिक शक्ति के ह्रास के कारण असम्भव ठहरा दिये गये हैं। अपरार्क (७३९) एवं दत्तकमीमांसा ने शौनक का हवाला देकर कहा है कि औरस या दत्तक पुत्र के अतिरिक्त अन्य पुत्रों को कलियुग में वर्जित माना गया है। प्रजापति (१५१) ने कहा है कि श्राद्धों में मांस एवं मद्य की प्राचीन प्रथा अब कलियुग में वर्जित ठहरा दी गयी है। व्यास (निर्णयसिन्धु में उद्धृत) एवं अन्य ग्रन्थों ने कलियुग के ४४०० वर्षों के उपरान्त अग्न्याधान एवं संन्यास ग्रहण करना वर्जित माना है।[१७] लघु-आश्वलायन-स्मृति (२१।१४-१५) का कथन है कि **कुण्ड** एवं **गोलक** नामक पुत्र जो पहले युगों में स्वीकृत थे और जिनका संस्कार किया जाता था, कलियुग में वर्जित हैं। विश्वरूप एवं मेधातिथि ने कलिवर्ज्य के विषय में एक भी उद्धरण नहीं दिया है, यह विचारणीय है। अन्य पश्चात्कालीन टीकाकारों ने ऐसा कहा है कि वेदाध्ययन के लिए अशुचिता की अवधियों को कम करना कलि में वर्जित है। मेधातिथि (मनु ९।११२) ने कुछ स्मृतियों का मत नियोग एवं उद्धार विभाग के विषय में केवल अतीत युगों के लिए ही समीचीन ठहराया है, क्योंकि स्मृतियाँ विशिष्ट युगों तक ही अपने को बाँधती हैं (मनु १।८५); किन्तु उन्होंने इस मत का खण्डन किया है और मनु की व्याख्या करते हुए कहा है कि धर्म (गुण या वस्तुओं

१७. अतएव कलौ निवर्तन्ते इत्यनुवृत्तौ शौनकेनोक्तम्--दत्तौरसेतरेषां तु पुत्रत्वेन परिग्रहः--इति। अपरार्क पृ० ७३९। मद्यमप्यमृतं श्राद्धे कलौ तत्तु विवर्जयेत्। मांसान्यपि हि सर्वाणि युगधर्मक्रमाद् भवेत्॥ प्रजापति (१५१)। चत्वार्यब्दसहस्राणि चत्वार्यब्दशतानि च। कलेर्यदा गमिष्यन्ति तदा त्रेतापरिग्रहः। संन्यासस्तु न कर्त्तव्यो ब्राह्मणेन विजानता॥ चतुर्विंशतिमत (पृ० ५५ की टीका में भट्टोजि दीक्षित द्वारा उद्धृत)। और देखिए इस ग्रंथ का खंड २, अ० २८।

के स्वभाव) युग-युग में उसी प्रकार परिवर्तित होते हैं जिस प्रकार ऋतु पर ऋतु। इससे प्रकट होता है कि उन्होंने यह नहीं माना कि आचार जो एक युग में प्रचलित हैं, दूसरे में वर्जित ठहराये गये हैं। विज्ञानेश्वर ने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें नियोग प्रथा, ज्येष्ठ पुत्र को विशिष्ट भाग देना एवं यज्ञ में गोहत्या कलियुग में निन्द्य एवं वर्जित माने गये हैं। स्मृतिचं० ने ऋतु को उद्धृत किया है जो कलियुग में चार कृत्यों को वर्जित मानता है, यथा नियोग, विधवा विवाह, यज्ञ में गोवध तथा कमण्डलु-धारण। नारदीय-महापुराण में कलिवर्ज्य के विषय में चार श्लोक हैं जिनमें पूर्वप्रचलित कुछ कृत्य कलियुग में वर्जित माने गये हैं, यथा समुद्रयात्रा, कमण्डलु-धारण, अपने से नीच जाति की कन्या से विवाह नियोग, मधुपर्क में पशु-हनन, श्राद्ध में मांसदान, वानप्रस्थाश्रम, विवाहित अक्षत-योनि कन्या का पुनर्विवाह, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, नरमेध, अश्वमेध, महाप्रस्थान गमन, गोवध।[१८] अपरार्क (पृ० ९८) ने ब्रह्मपुराण को उद्धृत कर विधवा-विवाह, नियोग, स्त्री-स्वातन्त्र्य को कलियुग में इसलिए वर्जित माना है कि मनुष्य इस युग में पापी होते हैं। अपरार्क (पृ० २३३) ने पुनः किसी स्मृति (जिसका नाम नहीं दिया गया है) को उद्धृत कर निम्न कृत्य वर्जित ठहराये हैं––यज्ञ में गोवध, नियोग (देवर द्वारा), सत्रों का सम्पादन, कमण्डलु-धारण, सौत्रामणी में मद्य-पान, परमहंस नामक संन्यासी होना। अन्य पाँच वर्जित कृत्य ये हैं––नरमेध, गोवध, कमण्डलु-धारण, नियोग एवं अक्षत-कन्या का पुनर्दान। अपरार्क (पृ० २३३) ने मार्कण्डेय पुराण को उद्धृत कर मधुपर्क में गौ के स्थान पर स्वर्णपात्र की व्यवस्था दी है और कहा है कि भृगु ने कलि में पशु-यज्ञ को वर्जित माना है। स्मृतिच० (१, पृ० १२) ने एक पुराण का उद्धरण दिया है––विधवा-विवाह, ज्येष्ठांश, गोवध, नियोग एवं कमण्डलु-धारण, ये पाँच कलि में वर्जित हैं। हेमाद्रि एवं सह्याद्रि-खण्ड का कथन है––'अग्निहोत्र, गवालम्भ (गोवध), संन्यास, पलपैतृक (श्राद्ध में मांसदान), देवर से पुत्रोत्पत्ति कलि में वर्जित हैं।' और देखिए स्मृतिमुक्ताफल (वर्णाश्रम, पृ० १७६, यतिधर्मसंग्रह, पृ० २)। हेमाद्रि ने दानखण्ड में गरुड़पुराण को उद्धृत कर निम्न सात बातों को कलि में वर्जित ठहराया है––अश्वमेध, गोसव, नरमेध, राजसूय, अक्षत-कन्या का पुनर्दान, कमण्डलु-धारण एवं देवर से पुत्रोत्पत्ति। स्मृत्यर्थसार (पृ० २) ने बिना किसी ग्रन्थ का हवाला दिये २६ कलिवर्ज्यों का उल्लेख किया है। स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि के चतुर्वर्गचिन्तामणि (३, भाग २, पृ० ६६६), पराशरमाधवीय (१, भाग १, पृ० १०३-१३७), मदनपारिजात (पृ० १५-१६), मदनरत्न (समयोद्योत), उद्वाहतत्त्व (पृ० ११२), समयमयूख, मित्र मिश्र के समय-प्रकाश (पृ० २६१-२६३), निर्णयसिन्धु (३, पूर्वार्ध, अन्त में) भट्टोजि (चतुर्विंशतिमत), स्मृतिमुक्ताफल (वर्णाश्रम, पृ० १३), स्मृतिकौस्तुभ, धर्मसिन्धु (पृ० ३५७-३५८) तथा अन्य ग्रन्थों ने किसी पुराण (कुछ ने आदित्यपुराण का नाम दिया है) के श्लोकों को उद्धृत कर ५० कलिवर्ज्यों के नाम दिये हैं। नीलकण्ठ (१७वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) के बड़े भाई दामोदर द्वारा कृत कलिवर्ज्यविनिर्णय या कलिवर्ज्यनिर्णय में बहुत-सी बातें वर्णित हैं और इसने आदित्य-पुराण, ब्रह्मपुराण आदि को उद्धृत किया है।

ऊपर जिन कलिवर्ज्यों की ओर संकेत किया गया है वे सुव्यवस्थित ढंग से नहीं रखे गये हैं। हम सर्वप्रथम यहाँ उन कलिवर्ज्यों की चर्चा करेंगे जो व्यवहार (कानून) से सम्बन्धित हैं, इसके उपरान्त अन्यों का वर्णन क्रमानुसार होगा और अन्त में उनका वर्णन होगा जो उद्धरणों में नहीं पाये जाते।

(१) **ज्येष्ठांश, उद्धार या उद्धार-विभाग**––ज्येष्ठ पुत्र को जब सम्पूर्ण पैतृक सम्पत्ति या कुछ विशिष्ट अंश दे दिया जाता है तो उसको ज्येष्ठांश या उद्धार या उद्धार-विभाग की संज्ञा मिलती है, यह कलि में वर्ज्य है। देखिए इस खंड का अध्याय २७।

१८. नारदीय महापुराण (पूर्वार्ध, २४।१३-१६)। और देखिए उद्वाहतत्त्व (पृ० ११२); निर्णयसिन्धु (पृ० ३६७); स्मृत्यर्थसार (पृ० २) एवं मदनपारिजात (पृ० १६)।

(२) **नियोग**--इसके विषय में हमने इस ग्रन्थ के खंड २, अध्याय १३ में विस्तार के साथ लिखा है। जब पति या पत्नी पुत्रहीन होते हैं तो पति के भाई अर्थात् देवर या किसी सगोत्र आदि द्वारा पत्नी से सन्तान उत्पन्न की जाती है तो यह प्रथा नियोग कहलाती है। अब यह कलिवर्ज्य है।

(३) **गौण पुत्रों** में औरस एवं दत्तक पुत्र को छोड़कर सभी कलिवर्ज्य हैं। देखिए इस खंड का अध्याय २७।

(४) **विधवाविवाह**--देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अध्याय १४। कुछ वसिष्ठ (१७।७४) आदि स्मृति-शास्त्रों ने अक्षत कन्या के पुनर्दान और अन्य विधवाओं (जिनका पति से सम्बन्ध स्थापित था) के विवाह में अन्तर बतलाया है और प्रथम में पुर्नविवाह उचित और दूसरे में अनुचित ठहराया है। किन्तु कलिवर्ज्य वचनों ने दोनों को वर्जित माना है।

(५) **अन्तर्जातीय विवाह**--इस पर हमने इस ग्रन्थ के खंड २, अध्याय ९ में लिख दिया है। यह कलिवर्ज्य है।

(६) **सगोत्र** कन्या या **मातृसपिण्ड** कन्या (यथा मामा की पुत्री) से विवाह कलिवर्ज्य है। देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अ० ९, जहाँ इस विषय में विस्तारपूर्वक कहा गया है। कलिवर्ज्य होते हुए भी मामा की पुत्री से विवाह बहुत-सी जातियों में प्रचलित रहा है। नागार्जुनकोण्डा (३री शताब्दी ई० के उपरान्त) के अभिलेख में आया है कि शान्तमूल के पुत्र वीरपुरुषदत्त ने अपने मामा की तीन पुत्रियों से विवाह किया (एपि० इन०, जिल्द २०,. पृ० १)।

(७) आततायी रूप में उपस्थित **ब्राह्मण की हत्या** कलिवर्ज्य है। देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अ० ३ एवं अ० ९।

(८) पिता और पुत्र के विवाद में साक्ष्य देनेवालों को अर्थदण्ड देना कलिवर्ज्य है। प्राचीन भारत में साधारणतः पति-पत्नी एवं पिता-पुत्रों के विवाद को यथासम्भव बढ़ने नहीं दिया जाता था। मत्स्यपुराण के काल में सम्भवतः यह कलिवर्ज्यों में नहीं गिना जाता था।

(९) तीन दिनों तक भूखे रहने पर नीच प्रवृत्ति वालों (शूद्रों से भी) से अन्न ग्रहण (या चुराना) ब्राह्मण के लिए कलिवर्ज्य है। गौतम (१८।२८-२९), मनु (११।१६) एवं याज्ञ० (३।४३) ने इस विषय में छूट दी थी। प्राचीन काल में भूखे रहने पर ब्राह्मण को छोटी-मोटी चोरी करके खा लेने पर छूट मिली थी, किन्तु कालान्तर में ऐसा करना वर्जित हो गया।

(१०) प्रायश्चित्त कर लेने पर भी **समुद्र-यात्रा** करनेवाले ब्राह्मण से सम्बन्ध करना कलिवर्ज्य है। प्रायश्चित्त करने पर व्यक्ति पाप-मुक्त तो हो जाता है, किन्तु इस नियम के आधार पर वह लोगों से मिलने-जुलने के लिए अयोग्य ठहरा दिया गया है। बौधायनधर्मसूत्र (१।१।२२) ने समुद्र-संयान (**समुद्र-यात्रा**) को निन्द्य माना है और उसे महापातकों में सर्वोपरि स्थान दिया है (२।१।५१)। मनु ने समुद्र-यात्रा से लौटे ब्राह्मण को श्राद्ध में निमन्त्रित होने के लिए अयोग्य ठहराया है (३।१५८), किन्तु उन्होंने यह नहीं कहा है कि ऐसा ब्राह्मण जातिच्युत हो जाता है या उसके साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं करना चाहिए। उन्होंने उसे केवल श्राद्ध के लिए अयोग्य सिद्ध किया है। औशनसस्मृति ने भी ऐसा ही कहा है। ब्राह्मण लोग समुद्र पार करके स्याम, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि देशों में जाते थे। राजा और व्यापारी-गण भी वहाँ आते-जाते थे। देखिए बावेरू जातक (जिल्द ३, संख्या ३३९, फौस्बॉल), मिलिन्द-पन्हो, राजतरंगिणी (४।५०३-५०६), मन (८।१५७), याज्ञ० (२।३८), नारद (४।१७९) आदि। वायुपुराण (४५।७८-८०) ने भारतवर्ष को नौ द्वीपों में विभाजित किया है, जिनमें प्रत्येक समुद्र से पृथक् है और वहाँ सरलता से नहीं जागा जा सकता। इन द्वीपों में **जम्बूद्वीप** भारत है और अन्य आठ द्वीप ये हैं--इन्द्र, कसेरु, ताम्रपर्णी, गभस्तिमान्, नाग, सौम्य (स्याम ?), गन्धर्व, वारुण (बोर्नियो ?)। स्पष्ट है, पौराणिक भूगोल के अनुसार भारतवर्ष में आधुनिक भारत एवं बृहत्तर भारत सम्मिलित थे। यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों ने शूद्रों के लिए समुद्र-यात्रा वर्जित नहीं मानी थी, किन्तु

आज के शूद्र सम्भवतः अपने को अन्य जातियों के समान उच्च घोषित करने के लिए अपने लिए भी समुद्र-यात्रा वर्जित मानते हैं।

(११) **सत्र**--सत्र यज्ञ-सम्बन्धी कालों से सम्बन्धित हैं। पहले कुछ यज्ञ १२ दिनों, वर्ष भर, १२ वर्षों या उससे भी अधिक अवधियों तक चलते रहते थे। उन्हें केवल ब्राह्मण लोग ही करते थे (जैमिनि ६।६।१६-२३)। शबर के मत से सत्रों के आरम्भकर्ता को १७ वर्षों से कम का तथा २४ वर्षों से अधिक का नहीं होना चाहिए। सत्र करनेवालों में सभी लोग (चाहे वे यजमान हों या पुरोहित हों) याज्ञिक (यजमान) माने जाते थे। देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अध्याय ३५, जहाँ सत्रों का वर्णन है। सत्रों के कलिवर्ज्य होने का कारण यह है कि उनमें बहुत समय, धन आदि लगता था और लोग परिश्रम-साध्य वैदिक यज्ञों के स्थान पर सरल कृत्य करना अच्छा समझने लगे थे।

(१२) **कमण्डलु-धारण**--बौधायन (१।४) ने मिट्टी या काठ के जलपूर्ण पात्रों के विषय में कई सूत्र दिये हैं। प्रत्येक स्नातक को शौच (शुद्धि) के लिए अपने पास जलपूर्ण पात्र रखना पड़ता था। उसे उस पात्र को जल से धोना या हाथ से रगड़ना पड़ता था। ऐसा करना **पर्यग्निकरण** (शुद्धि के लिए अग्नि के चारों ओर घुमाने या तपाने) के समान माना जाता था। स्नातक को बिना पात्र या कमण्डलु लिये किसी के घर या ग्राम या यात्रा में जाना वर्जित था। देखिए वसिष्ठ (१२।१४-१७), मनु (४।३६) एवं याज्ञ० (१।१३३), जहाँ इसके विषय में व्यवस्थाएँ दी गयी हैं। विश्वरूप ने व्याख्या की है कि स्नातक इसे स्वयं नहीं भी धारण कर सकता है, उसके लिए कोई अन्य भी उसे लेकर चल सकता है। वास्तव में, उसे ढोना परिश्रम-साध्य एवं अस्वास्थ्यकर था, अतः ऐसा करना क्रमशः अव्यवहार्य हो गया। इसी से यह कलिवर्ज्य हो गया।

(१३) **महाप्रस्थान-यात्रा**--बृहन्नारदीय पुराण (पूर्वार्ध २४।१६) ने भी इसे वर्जित माना है। मनु (५।३२) एवं याज्ञ० (३।३५) का कहना है कि वानप्रस्थाश्रमी जब किसी असाध्य रोग से पीड़ित हो जाता था और अपने आश्रम के कर्तव्य का पालन नहीं कर सकता था, तो उस दशा में उसे उत्तर-पश्चिम दिशा में महाप्रस्थान कर देने की अनुमति प्राप्त थी। इस प्रस्थान में व्यक्ति तब तक चला जाता था जब तक कि वह थककर गिर न जाय और फिर न उठ सके। इसी प्रकार ब्रह्म-हत्या के अपराधी को धनुर्धरों के बाणों से विद्ध होकर मर जाने या अपने को अग्नि में झोंक देने की अनुमति प्राप्त थी। अपरार्क (पृ० ८७७-८७९) ने आदिपुराण को उद्धृत कर कहा है कि यदि कोई व्यक्ति, जो असाध्य रोग से पीड़ित होने के कारण हिमालय की ओर महाप्रस्थान यात्रा करता है या अग्नि-प्रवेश द्वारा आत्महत्या करता है या किसी प्रपात से गिरकर अपने को मार डालता है तो वह पाप नहीं करता, प्रत्युत स्वर्ग को जाता है। आदिपुराण (या आदित्य-पुराण) एक स्थान पर महाप्रस्थान यात्रा की प्रशंसा करता है तो दूसरे स्थान पर उसे कलिवर्ज्य मानता है। यह विचित्र-सी बात है। कलिवर्ज्यविनिर्णय ने इस विषय में पाण्डवों की महाप्रस्थान यात्रा का उल्लेख किया है।

(१४) **गोसव नामक यज्ञ में गोवध** कलिवर्ज्य है। प्राचीन काल में बहुत-से अवसरों पर गोवध होता था। अग्निष्टोम की उदयनीया इष्टि के अन्त में गाय (अनुबन्ध्या) की बलि दी जाती थी। मधुपर्क में, जो किसी सम्मानित अतिथि को दिया जाता था, एक गाय या तो काटी जाती थी या अतिथि की इच्छा के अनुसार स्वतन्त्र कर दी जाती थी। देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अ० १०। तीन या चार अष्टका श्राद्धों में से किसी में एक गाय काटने की व्यवस्था थी (देखिए खादिरगृह्यसूत्र ३।४।१; गोभिलगृह्यसूत्र ३।१०।१६)। आप० ध० सू० (२।७।१६।२५) का कथन है कि यदि श्राद्ध में गाय का मांस दिया जाय तो पितर एक वर्ष तक तृप्त रहते हैं। प्राचीन काल में **गोसव** या **गोमेध** नामक यज्ञ होता था, जो एक ऐसा **उक्थ्य** था जिसकी दक्षिणा दस सहस्र गायों के रूप में थी और जो कुछ लोगों के मत से केवल वैश्य द्वारा ही सम्पादित होता था (कात्यायनश्रौतसूत्र २२।११।३-८)। **शूलगव** नामक कृत्य में आहुति देने के लिए एक बैल काटा जाता था (देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अ० २४)। कालान्तर में मांस खाना बुरा माना जाने लगा,

गोहत्या अत्यन्त घृणित समझी जाने लगी और कलिवर्ज्य-सम्बन्धी उक्तियों ने इस विषय में इस प्रकार की मान्यता को, जो शताब्दियों से चली आ रही थी, केवल पंजीकृत कर दिया।

(१५) **सौत्रामणी में मद्यपान का प्रयोग** कलिवर्ज्य है। सौत्रामणी सोमयज्ञ नहीं है, प्रत्युत यह पशुयज्ञ के साथ एक इष्टि है। यह शब्द सुत्रामन् (इन्द्र के एक नाम) से बना है। आजकल इसके स्थान पर दूध दिया जाता है, जिसे आपस्तम्बश्रौतसूत्र ने प्राचीन काल में भी प्रतिपादित किया था। गौतम (८।२०) ने सौत्रामणी को सात हविर्यज्ञों में रखा था। **राजसूय** के अन्त में या अग्निचयन में या तब जब कोई व्यक्ति अत्यधिक सोमपान करने से वमन करने लगता था या अधिक मलत्याग करने लगता था, तो इसका सम्पादन होता था। इस विषय में देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अध्याय ३५।

(१६) **अग्निहोत्रहवणी का चाटना तथा चाटने के उपरान्त भी उसका प्रयोग** कलिवर्ज्य है। अग्निहोत्र में **स्रुव** को दाहिने हाथ में तथा **स्रुच** (अग्निहोत्रहवणी) को बायें हाथ में रखा जाता था तथा अग्निहोत्रहवणी में स्रुव द्वारा दुग्धपात्र से दूध निकालकर डाला जाता था। अग्निहोत्र होम के उपरान्त अग्निहोत्रहवणी को दो बार चाट लिया जाता था जिससे दुग्ध के अवशिष्ट अंश साफ हो जायँ, इस प्रकार चाटने के उपरान्त उसे कुश के अंकुरों से पोंछकर उसका प्रयोग पुनः किया जाता था। सामान्यतः यदि कोई पात्र एक बार चाट लिया जाता है तो किसी धार्मिक कृत्य में उसे फिर से प्रयोग करने के पूर्व पुनः शुद्ध कर लेना परमावश्यक है। किन्तु यह नियम अग्निहोत्रहवणी एवं सोम के चमसों (पात्र, प्यालों) के विषय में लागू नहीं था। किन्तु अब यह कृत्य कलिवर्ज्य है।

(१७) **वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश** करना अब कलिवर्ज्य है। धर्मशास्त्र में इसके विषय में नियम सविस्तर दिये गये हैं। देखिए गौतम (३।२५-३४), आप० ध० सू० (२।९।२१।१८ से २।९।२३।२ तक), मनु (६।१-३२), वसिष्ठ (९।१-११) एवं याज्ञ० (३।४५-५५)। और देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अ० २७। **संन्यास** के विषय में हम आगे लिखेंगे।

(१८) **वैदिक अध्ययन एवं व्यक्ति की जीवन-विधि के आधार पर अशौचावधि में छूट** अब कलिवर्ज्य है। अघ का अर्थ है **अशौच; वृत्त** (जीवन-विधि) का सम्बन्ध है पवित्र **अग्निहोत्र करने** या शास्त्रानुमोदित नियमों के अनुसार जीवन-यापन करने से (मनु ४।७-१०)। किसी सपिण्ड की मृत्यु पर ब्राह्मण के लिए अशौचावधि दस दिनों की होती है (गौतम १४।१; मनु ५।५९ एवं ८३), किन्तु अंगिरा (मिताक्षरा, याज्ञ० ३।२२) ने सभी वर्णों के लिए इस विषय में दस दिनों की अशौचावधि प्रतिपादित की है। दक्ष (६।६) एवं पराशर (३।५) का कहना है कि वह श्रोत्रिय ब्राह्मण जो वैदिक अग्निहोत्र करता है और वेदज्ञ है, अशौच से एक दिन में मुक्त हो जाता है, अग्निहोत्र न करनेवाला वेदज्ञ ब्राह्मण तीन दिनों में; किन्तु जो दोनों गुणों से हीन है, दस दिनों में मुक्त होता है। अपरार्क (पृ० १९४) एवं हरदत्त (गौतम १४।१) ने इसी विषय में बृहस्पति के वचन दिये हैं। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२८-२९) का कथन है कि अशौचावधि का संकोच (कम करना) सब बातों के लिए सिद्ध नहीं है, इसका प्रयोग केवल विशिष्ट बातों तक ही सीमित है, यथा दानग्रहण, अग्निहोत्र-सम्पादन, वेदाध्ययन तथा वे कृत्य जिनके सम्पादन में अशौचावधि में संकोच न करने के कारण कष्ट या कोई विपत्ति आ सकती है। मिताक्षरा के इस कथन से यह स्पष्ट सिद्ध है कि विज्ञानेश्वर (११वीं शताब्दी के अन्त में) अशौचावधि के संकोच की वर्जना के विषय में अनभिज्ञ थे और उसके विषय में उन्होंने किसी प्रकार का आदर नहीं प्रदर्शित किया है। अशौचावधि के संकोच के मूल में सम्भवतः यही आशय था कि इससे गड़बड़ी हो सकती थी, क्योंकि एक व्यक्ति अपने को विद्वान् कहकर छुटकारा पा सकता है तो उसका पड़ोसी ऐसा अधिकार नहीं जता सकता।

(१९) **ब्राह्मणों के लिए प्रायश्चित्तस्वरूप मृत्यु-दण्ड** कलिवर्ज्य है। मनु (११।८९) ने व्यवस्था दी है कि

यदि कोई व्यक्ति जान-बूझकर ब्रह्महत्या करता है तो उसके लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है। उन्होंने (११।९०) सुरापान के पापमोचन के लिए खौलती हुई सुरा पीकर मर जाने की व्यवस्था दी है, और कहा है (११।१४६) कि यदि कोई जान-बूझकर सुरापान करे तो उसके लिए मृत्यु के अतिरिक्त कोई दूसरा प्रायश्चित्त नहीं है। विष्णुधर्मसूत्र (अ० ३४) का कथन है कि माता, पुत्री या पुत्र-वधू के साथ व्यभिचार **अतिपातक** (महापातक) है, ऐसे पापियों के लिए अग्निप्रवेश से बड़ा कोई अन्य प्रायश्चित्त नहीं है। और देखिए गौतम (२१।७)। कुछ स्मृतियों ने ऐसे महान् अपराधों के लिए प्रपात से गिरकर मरने या अग्निप्रवेश के अतिरिक्त अन्य किसी प्रायश्चित्त की व्यवस्था नहीं दी है। किन्तु आगे चलकर ब्राह्मण का शरीर क्रमशः अधिक पवित्र माना जाने लगा, अतः ब्राह्मण पापी के लिए मृत्यु का दण्ड प्रायश्चित्त रूप में वर्जनीय समझा गया, चाहे उसका पाप कितना भी गम्भीर क्यों न हो। किन्तु यह छूट क्षत्रियों आदि के लिए नहीं थी।

(२०) पतित की संगति (सहाचरण) से प्राप्त अपवित्रता या पाप कलिवर्ज्य है। मनु (११।१८०=शान्ति० १६५।३७=बौधायन ध० सू० १।८८) तथा विष्णुधर्मसूत्र (३५।२-५) ने कहा है कि वह व्यक्ति पतित हो जाता है जो किसी महापातकी के संसर्ग में एक वर्ष तक रहता है, उसके साथ एक ही आसन या वाहन पर बैठता है या उसके साथ बैठकर एक ही पंक्ति में खाता है। किन्तु वह व्यक्ति उसी क्षण पतित हो जाता है जो किसी पापी का पुरोहित बनता है या उसे गायत्री या वेद पढ़ाने के लिए उसका उपनयन-संस्कार करता है या उसके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करता है। पराशर (१।२५-२६) का कहना है कि कृतयुग में पतित से बोलने, त्रेता में उसको देखने, द्वापर में पतित के घर में बना भोजन खाने से व्यक्ति पतित हो जाता है, किन्तु कलियुग में अपराध-कर्म करने से व्यक्ति पतित होता है। कृत युग में वह जनपद, जहाँ पतित निवास करता है, छोड़ देना पड़ता है और त्रेता में पतित के ग्राम को, द्वापर में उसके केवल कुल को एवं कलि में केवल पतित को छोड़ देना पड़ता है। पराशर (१२।७९) ने निस्सन्देह यह कहा है कि 'बैठने या साथ सोने या एक ही वाहन या आसन का प्रयोग करने, उससे बोलने या एक ही पंक्ति में पतित के साथ खाने से पाप उसी प्रकार अपने में आ जाते हैं जैसे जल में तैल की एक बूंद फैल जाती है। किन्तु इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि पतित का संसर्ग बुरा है, इससे यह न समझना चाहिए कि पतित के संसर्ग से कोई व्यक्ति उसी समय अपवित्र अथवा पापी हो उठता है। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२६१) ने देवल एवं वृद्ध-बृहस्पति को उद्धृत कर संसर्ग की उत्पत्ति निम्न नौ प्रकारों में बाँटी है, यथा--संलाप से, स्पर्श से, निःश्वास से (एक ही कक्ष में रहने से), सहयान से, सहआसन से, सहाशन (एक पंक्ति में साथ बैठकर खाने) से, याजन (पुरोहिती) से या वेदाध्ययन से या वैवाहिक-सम्बन्ध स्थापन से।[१९] परा० मा० का कथन है कि पराशर ने कलि में कई प्रकार के संसर्गों में पातित्य नहीं माना है, अतः उन्होंने संसर्ग के लिए कोई प्रायश्चित्त निर्धारित नहीं किया। यही बात निर्णयसिन्धु एवं भट्टोजि दीक्षित ने भी कही है। और देखिए उद्वाहतत्त्व। अधिकांश में सभी निबन्ध इस विषय में एकमत हैं कि मनु एवं बौधायन द्वारा प्रतिपादित संसर्ग-सम्बन्धी कठिन नियम कालान्तर में संशोधित हो गये, क्योंकि कलियुग में पापी से बातचीत करना या उसे देखना पाप-कर्म नहीं समझा गया।

१९. संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्। याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात्॥ मनु (११।१८०); बौ० ध० सू० (२।१।८८)। त्यजेद् देशं कृतयुगे त्रेतायां ग्राममुत्सृजेत्। द्वापरे कुलमेकं तु कर्तारं च कलौ युगे॥ कृते सम्भाषणात्पापं त्रेतायां चैव दर्शनात्। द्वापरे चान्नमादाय कलौ पतति कर्मणा॥ पराशर (१।२५-२६)। आसनाच्छयनाद्यानात्सम्भाषात् सहभोजनात्। संक्रामन्ति हि पापानि तैलबिन्दुरिवाम्भसि॥ पराशर (१२।७९)। संलापस्पर्शनिःश्वाससहयानासनाशनात्। याजनाध्यापनाद्यौनात्पापं संक्रमते नृणाम्॥ देवल (मिता०, याज्ञ० ३।२६१; अपरार्क पृ० १०८७)।

(२१) **चोरी के अतिरिक्त अन्य महापातकों के लिए गुप्त प्रायश्चित्त** कलिवर्ज्य है। हारीत (परा० माध० २, भाग २, पृ० १५३) ने उस ब्राह्मण के लिए गुप्त प्रायश्चित्त की व्यवस्था की है जिसने धर्मशास्त्र का पण्डित होते हुए भी कोई ऐसा पाप किया है जिसे कोई अन्य नहीं जानता। गौतम (अ० २४) ने ब्रह्महत्या, सुरापान, व्यभिचार और सोने की चोरी जैसे महापातकों के लिए गुप्त (छिपे तौर से किये जानेवाले, अर्थात् जिन्हें कोई अन्य न जाने) प्रायश्चित्तों की व्यवस्था की है। वसिष्ठ (अ० २५) ने भी इसका समर्थन किया है और कहा है (२५।२) कि केवल वे ही लोग गुप्त प्रायश्चित्तों के अधिकारी हैं जो वैदिक अग्निहोत्र करते हैं, अनुशासित और वृद्ध या विद्वान् (श्रुति-धर्म, स्मृति-धर्म आदि में विज्ञ) हैं। विष्णु ध० सू० (५५) ने गुप्त प्रायश्चित्तों का विवेचन किया है। पराशर (९।६१) ने सामान्य नियम दिया है कि व्यक्ति को अपने अपराध की घोषणा कर देनी चाहिए। कलिवर्ज्य-सम्बन्धी उक्तियों में ऐसा आया है कि महापातकों में से केवल चोरी के लिए गुप्त प्रायश्चित्त करना चाहिए, यद्यपि प्रारम्भिक युगों में अन्य महापातकों के लिए भी ऐसी व्यवस्था थी। निर्णयसिन्धु के मतानुसार गुप्त प्रायश्चित्त की अनुमति केवल ब्राह्मणों को ही मिली है। धर्मसिन्धु का कथन है कि कलियुग में ब्रह्महत्या एवं अन्य महापातकों के कारण प्रायश्चित्त करने से व्यक्ति नरक में गिरने से बच नहीं सकता, किन्तु सामाजिक सम्बन्धों के लिए वह योग्य सिद्ध हो जाता है। परन्तु सोने की चोरी जैसे महापातक का प्रायश्चित्त करने से व्यक्ति नरक में गिरने से भी बच जाता है और सामाजिक सम्बन्धों के योग्य भी हो जाता है। कलिवर्ज्यविनिर्णय के मतानुसार कलियुग में सभी गुप्त प्रायश्चित्त निषिद्ध अथवा वर्जित हैं।

(२२) **वैदिक मन्त्रों के साथ वर (दूल्हे), अतिथि एवं पितरों के सम्मान में पशूपाकरण (पशु-बलि का कार्य)** कलिवर्ज्य है। प्राचीन काल में कई अवसरों पर पुरोहित (यज्ञ के समय या स्वागतार्थ), राजा, स्नातक, आचार्य, श्वशुर, चाचा, मामा एवं वर (दूल्हे) को **मधुपर्क** दिया जाता था। आरम्भ में किसी सम्मानित अतिथि के लिए गाय या बैल का वध किया जाता था, किन्तु कालान्तर में जब गाय अति पवित्र मानी जाने लगी तो किसी अन्य पशु का मांस दिया जाने लगा; जब मांस-प्रयोग भी निन्द्य कर्म समझा जाने लगा तो पायस एवं अन्य खाने योग्य फल-मूल की व्यवस्था हो गयी। देखिए मांस-भोजन के विषय में इस ग्रन्थ का खंड २, अध्याय २२। याज्ञ० (१।२५८-२५९) ने श्राद्ध में पितरों के लिए भाँति-भाँति के पशुओं के मांसदान की अति प्रशंसा की है। १७वीं शताब्दी के नैयायिक विश्वनाथ ने ब्राह्मणों द्वारा यज्ञों, श्राद्ध, मधुपर्क, जीवन-भय में एवं किसी अन्य ब्राह्मण द्वारा आज्ञापित होने पर मांस-भोजन का समर्थन किया है और उन लोगों की भर्त्सना की है जो बौद्ध सिद्धान्तों के अनुयायियों के समान मांस-भोजन को वर्जित मानते हैं। विश्वनाथ ने धन के लोभ से ब्रह्महत्या करनेवालों, मातुलकन्या या अन्य मातृसपिण्डों से विवाह करनेवालों के लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है, यद्यपि ये दोनों कार्य कलिवर्ज्य ठहराये गये हैं।

(२३) **असवर्ण स्त्रियों के साथ व्यभिचार करने के उपरान्त प्रायश्चित्त करने पर भी जातिसंसर्ग** कलिवर्ज्य है। अपनी जाति या उच्च जाति या नीच जाति की नारी के साथ व्यभिचार करने पर प्रायश्चित्त के विषय में मतैक्य नहीं है। प्राचीन सूत्र इस विषय के अपराधियों के प्रति अति कठोर हैं, किन्तु स्मृतियों ने कुछ ढिलाई प्रदर्शित की है। गौतम (२३।१४-१५) एवं वसिष्ठ (२१।१-३) ने नीच जाति के पुरुष को जब वह किसी उच्च जाति की नारी से व्यभिचार करता है, कई प्रकार से मार डालने की व्यवस्था दी है। यदि कोई ब्राह्मण किसी चाण्डाल या श्वपाक नारी से सम्भोग करे तो उसे पराशर (१०।५-७) के मत से तीन दिनों का अनशन, शिखा के साथ शिर-मुण्डन, तीन प्राजापत्य तथा ब्रह्मकूर्च करने पड़ते हैं, ब्राह्मण-भोजन कराना पड़ता है, लगातार गायत्री-जप करना पड़ता है, दो गौ दान में देनी पड़ती हैं और तब कहीं वह शुद्ध हो पाता है। किन्तु इसी दुष्कर्म के लिए शूद्र को एक प्राजापत्य एवं दो गायों का दान करना पड़ता है। यदि कोई नीच जाति का व्यक्ति किसी उच्च जाति की नारी से सम्भोग करे (यथा शूद्र ब्राह्मण नारी से) तो संवर्त (श्लोक १६६-१६७) ने एक महीने तक केवल गोमूत्र एवं यावक (जौ की लप्सी) पर

रहने के प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है। यदि ब्राह्मण किसी शूद्र या चाण्डाल नारी से व्यभिचार करे तो संवर्त (१६९-१७०) के मत से उसे चान्द्रायण-व्रत करना पड़ता है, किन्तु पराशर (१०।१७-२०) ने इससे अधिक कठिन प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है। किन्तु कलिवर्ज्य की व्यवस्था ऐसी है कि प्रायश्चित्त के उपरान्त भी असवर्ण नारियों के साथ व्यभिचार के अपराधी व्यक्ति अपनी जाति के लोगों के साथ सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकते, अर्थात् वे जातिच्युत हो जाते हैं। और देखिए धर्मसिन्धु (२, पूर्वार्ध, पृ० ३५८) जहाँ यही बात शूद्रों के लिए कही गयी है। यह कलिवर्ज्य निस्सन्देह नैतिकता की कठोरता के लिए व्यवस्थापित है, किन्तु इससे जाति-गुणविशेष की रक्षा भी हो जाती है।

(२४) **किसी नीच जाति के व्यक्ति से सम्भोग करने पर माता (या उसके जैसी सम्मान्य स्त्री) का परित्याग** कलिवर्ज्य है। स्त्रियों के व्यभिचार के लिए प्रायश्चित्त के विषय में सूत्रों एवं स्मृतियों की व्यवस्थाएँ सभी कालों में एक-सी नहीं रही हैं। गौतम (२३।१४) एवं मनु (८।३७१) के मत से किसी नीच जाति के पुरुष से सम्भोग करने वाली स्त्री को राजा द्वारा कुत्तों से नोचवा डाला जाना चाहिए। किन्तु अन्य स्मृतियाँ (स्वयं मनु ११।१७७) इतनी कठोर नहीं हैं, प्रत्युत वे व्यभिचारियों से सम्बन्धित व्यवहार (कानून) के विषय में अधिक उदार हैं। मनु (९।५९) एवं याज्ञ० (३।२-५) ने पुरुष के व्यभिचार (पारदार्य) को उपपातक कहा है और सभी उपपातकों के लिए चान्द्रायण व्रत प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है (मनु ११।११७ एवं याज्ञ० ३।२६५)। वसिष्ठ (२१।१२) के मत से तीन उच्च वर्णों की नारियाँ यदि किसी शूद्र से व्यभिचार करायें और उन्हें कोई सन्तानोत्पत्ति न हुई हो तो उन्हें प्रायश्चित्त से शुद्ध किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। याज्ञ० (१।७२) ने कहा है कि वह नारी व्यभिचार के अपराध से बरी हो जाती है जिसे व्यभिचार के उपरान्त मासिक धर्म हो जाय, किन्तु यदि व्यभिचार से गर्भाधान हो जाय तो वह त्याज्य है। मिताक्षरा (याज्ञ० १।७२) ने कहा है कि याज्ञ० और वसिष्ठ के मत को एक ही अर्थ में लेना चाहिए और परित्याग का तात्पर्य घर से निकाल देना नहीं है, प्रत्युत उसे धार्मिक कृत्यों तथा उसके साथ सम्भोग से उसे वंचित कर देना मात्र है। वसिष्ठ (२१।१०) ने चार प्रकार की स्त्रियों को त्याज्य माना है—पति के शिष्य से या पति के गुरु से सम्भोग करनेवाली तथा पतिहन्ता या नीच जाति के पुरुष से व्यभिचार करनेवाली नारी। याज्ञ० (३।२९६-२९७) ने कहा है कि पतित नारियों के लिए नियम पुरुषों के समान हैं, किन्तु उन्हें भोजन, वस्त्र एवं रक्षण मिलना चाहिए और नीच जाति के पुरुष से सम्बन्ध करने पर उन्हें जो पाप लगता है, वह स्त्रियों के तीन महापातकों में परिगणित होता है। देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२९७)। उपस्थित कलिवर्ज्य में आया है कि वह स्त्री, जो अपने सम्बन्ध (माता, बड़ी बहिन आदि) के कारण व्यक्ति से सम्मान पाने का अधिकार रखती है, उसके द्वारा न तो त्याज्य है और न सड़क पर छोड़ दिये जाने के योग्य है, भले ही वह किसी नीच जाति के व्यक्ति के साथ व्यभिचार करने की अपराधिनी हो। स्पष्ट है, यह कलिवर्ज्य वचन स्त्रियों के प्रति प्राचीन वचनों की अपेक्षा अधिक उदार है। और देखिए इस विषय में इस ग्रन्थ का खंड २, अ० ११। आप० धर्मसू० (१।१०।२८।९) ने कहा है कि पुत्र को अपनी माता की सेवा करनी चाहिए और उसकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए, चाहे वह पतित ही क्यों न हो। अत्रि (१९५-१९६) एवं देवल (५०-५१) का कथन है—"यदि कोई स्त्री असवर्ण पुरुष के सम्भोग से गर्भ धारण कर ले तो वह सन्तानोत्पत्ति तक अशुद्ध है। किन्तु जब वह गर्भ से मुक्त हो जाती है या उसका मासिक धर्म आरम्भ हो जाता है, तब वह सोने के समान पवित्र हो जाती है।" अत्रि (१९७-१९८) ने आगे कहा है कि यदि स्त्री अपनी इच्छा से किसी अन्य के साथ सम्भोग करे या वह वंचित होकर ऐसा करे या उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई वैसा करे या छिपकर वैसा करे तो वह त्याज्य नहीं होती; मासिक धर्म तक उसे देख लेना चाहिए और वह पुनः रजस्वला होने पर पवित्र हो जाती है। अत्रि एवं देवल की उदारता कलिवर्ज्य वचन से और चमक उठती है, क्योंकि वह व्यभिचारिणी माँ को त्याज्य नहीं कहता, पर नीच जाति से सम्भोग करनेवाली अन्य स्त्रियों के त्याग की अनुमति देता है। देवल ने म्लेच्छों द्वारा बलपूर्वक संभुक्त एवं गर्भवती बनायी गयी नारियों को 'सान्तपन'

नामक प्रायश्चित्त द्वारा पवित्र बना लेने की व्यवस्था दी है (४७-४९)। और देखिए अत्रि (२०१-२०२) एवं पराशर (१०।२४-२५)।

(२५) **दूसरे के लिए अपने जीवन का परित्याग** कलिवर्ज्य है। विष्णुधर्म सू० (३।४५) का कथन है कि जो लोग गौ, ब्राह्मण, राजा, मित्र, अपने धन, अपनी स्त्री की रक्षा करने में प्राण गँवा देते हैं वे स्वर्ग प्राप्त करते हैं। उन्होंने आगे (१६।१८) यहाँ तक कह डाला है कि अस्पृश्य लोग (जो चारों वर्णों की सीमा के बाहर हैं) भी ब्राह्मणों, गायों, स्त्रियों एवं बच्चों के रक्षार्थ प्राण गँवाने पर स्वर्ग प्राप्त करते हैं। आदित्यपुराण (राजधर्मकाण्ड, पृ० ९१) में भी यही श्लोक है। और देखिए समयमयूख एवं भट्टोजि दीक्षित (चतुर्विंशतिमत, पृ० ५४)। यह कलिवर्ज्य मत आत्मत्याग की वर्जना इसलिए करता है कि इससे केवल स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यह कलिवर्ज्य केवल द्विजों के लिए है, शूद्रों के लिए नहीं (कलिवर्ज्यविनिर्णय १।२०)।

(२६) **उच्छिष्ट (खाने से बचे हुए जूठे भोज्य पदार्थ)** का दान कलिवर्ज्य है। मधुपर्क प्राशन में सम्मानित अतिथि मधु, दूध एवं दही का कुछ भाग स्वयं ग्रहण करता था और शेष किसी ब्राह्मण (या पुत्र या छोटे भाई) को दे देता था। अब यह कलिवर्ज्य है। देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अ० १०, जहाँ मधुपर्क के विषय में सविस्तर लिखा गया है। आप० ध० सू० (१।१।४।१-६) ने कहा है कि शिष्य गुरु का उच्छिष्ट प्रसाद रूप में पा सकता है, किन्तु गुरु को चाहिए कि वह वैदिक ब्रह्मचारियों के लिए वर्जित मधु या मांस या अन्य प्रकार का भोज्य पदार्थ शिष्य को न दे। याज्ञ० (१।२१३) का कथन है कि यदि कोई सुपात्र व्यक्ति दान ग्रहण कर उसे अपने पास न रखकर किसी और को दे देता है, तो वह उन उच्च लोकों की प्राप्ति करता है जो उदार दानियों को प्राप्त होते हैं।

(२७) **किसी विशिष्ट देवमूर्ति की (जीवन भर) विधिवत् पूजा करने का प्रण करना** कलिवर्ज्य है। इस प्रकार के वर्जन का कारण समझना कठिन है। अतः इस विषय में भट्टोजि दीक्षित, कलिवर्ज्यविनिर्णय, समयमयूख एवं अन्य लोगों द्वारा उपस्थापित व्याख्याएँ सन्तोषप्रद नहीं हैं। निर्णयसिन्धु की व्याख्या अपेक्षाकृत अच्छी है, क्योंकि इसने इस वर्ज्य को पारिश्रमिक पर की जानेवाली किसी विशिष्ट प्रतिमा-पूजा तक सीमित रखा है। अपरार्क (४५० एवं ९२३) ने किसी स्मृतिवचन को उद्धृत कर **देवलक** की परिभाषा दी है और कहा है कि देवलक वह ब्राह्मण है जो किसी प्रतिमा का पूजन पारिश्रमिक के आधार पर तीन वर्षों तक करता है, जिसके लिए वह श्राद्धों के पौरोहित्य के लिए अयोग्य हो जाता है। स्पष्ट है, इस कथन के अनुसार देवलक ब्राह्मण वित्तार्थी है। मनु (३।१५२) ने देवलक को श्राद्धों तथा देवताओं के सम्मान में किये गये कृत्यों में निमन्त्रित किये जाने के लिए अयोग्य घोषित किया है। कुल्लूक ने देवल को उद्धृत कर इस विषय में कहा है कि जो व्यक्ति किसी देवस्थान के कोष पर निर्भर रहता है, उसे देवलक कहा जाता है। वृद्ध हारीत (८।७७-८०) के मत से केवल शिव के वित्तार्थी पूजक देवलक कहे जाते हैं।

(२८) **अस्थिसंचयन के उपरान्त अशौचवाले व्यक्तियों को छूना** कलिवर्ज्य है। शव-दाह के उपरान्त अस्थि-संचयन के दिन के विषय में धर्मशास्त्रकारों में मतभेद है। इसी कारण मिताक्षरा ने अपने-अपने गृह्यसूत्रों के अनुसरण की बात कही है। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।१७) ने कहा है कि संवर्त (३८) के मत से अस्थियाँ पहले, तीसरे, सातवें या नवें दिन संचित की जानी चाहिए; विष्णुध० सू० (१९।१०-११) के मत से चौथे दिन अस्थियाँ संगृहीत कर गंगा में बहा दी जानी चाहिए और कुछ लोगों के मत से उनका संग्रह दूसरे दिन होना चाहिए। मिताक्षरा ने पुनः (याज्ञ० ३।१८) देवल का इसी विषय में उद्धरण देकर कहा है कि अशुद्धि की अवधि के तिहाई भाग की समाप्ति के उपरान्त व्यक्ति स्पर्श के योग्य हो जाते हैं और इस प्रकार चारों वर्णों के सदस्य क्रम से ३, ४, ५ एवं १० दिनों के उपरान्त स्पर्श के योग्य हो जाते हैं। और देखिए संवर्त (३९।४०)। उपस्थित कलिवर्ज्य वचन ने यह सब वर्जित माना है और अशुद्धि के नियमों के विषय में कठिन नियम दिये हैं।

(२९) **यज्ञ में बलि होनेवाले पशु का ब्राह्मण द्वारा हनन** कलिवर्ज्य है। श्रौत यज्ञ में पशु की हत्या गला घोट कर की जाती थी। जो व्यक्ति श्वासावरोध कर अथवा गला घोटकर पशु-हनन करता था, उसे **शामित्र** कहा जाता था। कौन शामित्र हो, इस विषय में कई मत हैं। जैमिनि (३।७।२८-२९) ने स्वयं अध्वर्यु को शामित्र कहा है; किन्तु सामान्य मत यह है कि वह ऋत्विजों के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति होता था। आश्वलायनश्रौतसूत्र (१२।९।१२-१३) ने कहा है कि वह ब्राह्मण या अब्राह्मण हो सकता है। अधिक विस्तार के लिए देखिए इस ग्रन्थ का द्वितीय खंड, अ० ३२। पशुयज्ञ कालान्तर में निन्द्य या वर्जित मान लिये गये, अतः ब्राह्मण का शामित्र होना भी वर्जित है।

(३०) **ब्राह्मण द्वारा सोमविक्रय** कलिवर्ज्य है। केवल ब्राह्मण ही सोमरस-पान कर सकते थे। सोम लता क्रय की जाती थी, जिसके विषय में प्रतीकात्मक मोल-तोल होता था। कात्या० श्रौ० सू० (७।६।२-४) एवं आप० श्रौ० सू० (१०।२०।१२) के मत से प्राचीन काल में सोम का विक्रेता कुत्स गोत्र का कोई ब्राह्मण या कोई शूद्र होता था। मनु (११।६०=शान्ति० १६५।७) एवं नारद (दत्ताप्रदानिक, ७) ने सोम-विक्रेता ब्राह्मण को श्राद्ध में निमंत्रित किये जाने के अयोग्य ठहराया है और उसके यहाँ भोजन करना वर्जित माना है। मनु (१०।८८) ने ब्राह्मण को जल, हथियार, विष, सोम आदि विक्रय करने से मना किया है। देखिए इस ग्रंथ के द्वितीय खंड का अध्याय ३३।

(३१) **अपने दास, चरवाहे (गोरक्षक), वंशानुगत मित्र एवं साझेदार के घर पर गृहस्थ ब्राह्मण द्वारा भोजन करना** कलिवर्ज्य है। गौतम (१७।६), मनु (४।२५३=विष्णु० ५७।१६), याज्ञ० (१।१६६) एवं पराशर (११।१९) का कहना है कि ब्राह्मण इन लोगों का तथा अपने नापित (नाई) का भोजन कर सकता है। हरदत्त (गौतम १७।६) एवं अपरार्क (पृ० २४४) का कथन है कि ब्राह्मण अत्यंत विपत्तिग्रस्त परिस्थितियों में इन शूद्रों के यहाँ भोजन कर सकता है। इससे यह विदित होता है कि १२वीं शताब्दी तक यह कलिवर्ज्य या तो ज्ञात नहीं था अथवा इसको मान्यता नहीं प्राप्त हुई थी। कलिवर्ज्यों ने भोजन और विवाह के विषयों में संकीर्णता को और कठिनतर बना दिया।

(३२) **अति दूरवर्ती तीर्थों की यात्रा** कलिवर्ज्य है। ब्राह्मण को वैदिक एवं गृह्य अग्नियाँ स्थापित करनी पड़ती थीं। यदि वह दूर की यात्रा करेगा तो इसमें बाधा उत्पन्न होगी। आप० श्रौ० सू० (४।१६।१८) ने व्यवस्था दी है कि लम्बी यात्रा में अग्निहोत्री को अपने घर की अग्निवेदिका की दिशा में मुँह कर मानसिक रूप से अग्निहोत्र एवं दर्श-पूर्णमास की सारी विधि करनी पड़ती है। देखिए इस विषय में गोभिलस्मृति (२।१५७) भी। स्मृतिकौस्तुभ का कहना है कि यह कलिवर्ज्य समुद्र पार के या भारतवर्ष की सीमाओं के तीर्थस्थानों के विषय में है। आश्चर्य है कि यह कलिवर्ज्य ब्राह्मण को दूरस्थ तीर्थ की यात्रा करने से मना तो करता है किन्तु उसे यज्ञों के सम्पादन द्वारा धन कमाने के लिए यात्रा करने से नहीं रोकता।

(३३) **गुरु की पत्नी के प्रति शिष्य की गुरुवत् वृत्तिशीलता** कलिवर्ज्य है। आप० ध० सू० (१।२।७।२७), गौतम (२।३१-३४), मनु (२।२१०) एवं विष्णु (३३।१-२) ने कहा है कि शिष्य को गुरु की पत्नी या पत्नियों के प्रति वही सम्मान प्रदर्शित करना चाहिए जिसे वह गुरु के प्रति प्रदर्शित करता है (केवल प्रणाम करते समय चरण छूना एवं उच्छिष्ट भोजन करना मना है)। शिष्य बहुधा युवावस्था के होते थे और गुरुपत्नी युवा हो सकती थी। अतः मनु (२।२१२, २१६ एवं २१७=विष्णु ३२।१३-१५) का कहना है कि बीस वर्ष के विद्यार्थी को गुरुपत्नी का सम्मान पैर छूकर नहीं करना चाहिए, प्रत्युत वह गुरुपत्नी के समक्ष पृथ्वी पर लेटकर सम्मान प्रकट कर सकता है, किन्तु यात्रा से लौटने पर केवल एक बार पैरों को छूकर सम्मान प्रकट कर सकता है। अतः स्पष्ट है कि यह कलिवर्ज्य मनु एवं विष्णु के नियमों का पालन करता है। स्मृतिकौस्तुभ एवं धर्मसिन्धु (३, पृ० ३५८) का कहना है कि इस कलिवर्ज्य से याज्ञ० (१।४९) का वह नियम कट जाता है जिसके अनुसार नैष्ठिक ब्रह्मचारी मृत्यु पर्यंत अपने गुरु या गुरुपुत्रों या (इन दोनों के अभाव में) गुरुपत्नी के यहाँ रह सकता है।

(३४) आपत्तिकाल में ब्राह्मण द्वारा जीविका-साधन के लिए अन्य विधियों का अनुसरण कलिवर्ज्य है। ब्राह्मणों की जीविका (वृत्ति) के विशिष्ट साधन ये हैं--दानग्रहण, वेदाध्यापन एवं यज्ञों में पुरोहिती करना (पौरोहित्य)। इसके लिए देखिए गौतम (१०।२), आप० (२।५।१०।५), मनु (१०।७६।१।८८), वसिष्ठ (२।१४) एवं याज्ञ० (१।११८)। प्राचीन काल से ही यह प्रतिपादित था कि यदि ब्राह्मण उपर्युक्त साधनों से जीविका न चला सके तो आपत्ति काल में क्षत्रिय एवं वैश्य की वृत्तियाँ धारण कर सकता है (गौतम ७।६-७, बौधा० २।२।७७-८१, वसिष्ठ २।२२, मनु १०।८१-८२ एवं याज्ञ० ३।३५)। और देखिए इस ग्रंथ का खंड २, अ० ३। यह कलिवर्ज्य केवल पुस्तकों के पृष्ठों तक सीमित रह गया है। आरम्भिक काल से ब्राह्मणों ने सभी प्रकार की वृत्तियाँ अपनायी हैं और यह नियम सम्मानित नहीं हो सका है।

(३५) अग्रिम दिन के लिए सम्पत्ति (या अन्न) का संग्रह न करना कलिवर्ज्य है। मनु (४।७) एवं याज्ञ० (१।१२८) ने ब्राह्मणों को चार भागों में बाँटा है--(१) वे जो एक कुशल भर अन्न एकत्र रखते हैं, (२) जो एक कुम्भी भर अन्न एकत्र रखते हैं, (३) जो केवल तीन दिनों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए अन्न संग्रह करते हैं तथा (४) वे जो आनेवाले कल के लिए भी अन्न-संग्रह नहीं करते। स्मृतियों ने इनमें से प्रत्येक पूर्ववर्त्ती से उत्तरवर्ती को अधिक गुणशाली माना है। कुशूल-धान्य के अर्थ के विषय में मतैक्य नहीं है, कोई इसे तीन वर्षों के लिए और कोई इसे केवल १२ दिनों के अन्न संग्रह के अर्थ में लेते हैं; यही बात कुम्भीधान्य के विषय में भी है, किसी ने इसे साल भर के और किसी ने केवल ६ दिन के अन्नसंग्रह के अर्थ में लिया है। देखिए इस ग्रंथ का खंड २, अध्याय ३। मिताक्षरा (याज्ञ० १।१२८) का कथन है कि तीन दिनों या एक दिन के लिए भी अन्न संग्रह न करना सभी ब्राह्मणों के लिए नहीं है, प्रत्युत यह उनके लिए है जो **यायावर** कहे जाते हैं। इससे प्रकट होता है कि मिताक्षरा को यह कलिवर्ज्य कथन या तो ज्ञात नहीं था या उसने इस पर गम्भीरता से विचार नहीं किया। इस कलिवर्ज्य का तात्पर्य यह है कि कलियुग में अति दरिद्रता एवं संग्रहाभाव का आदर्श ब्राह्मणों के लिए आवश्यक नहीं है।

(३६) नवजात शिशु की दीर्घायु के लिए होनेवाले जातकर्म होम के समय (वैदिक अग्नि के स्थापनार्थ) जलती लकड़ी का ग्रहण कलिवर्ज्य है। गार्हपत्य अग्नि को प्रकट करने के लिए अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष की दो टहनियाँ जिन्हें **अरणी** कहा जाता है, रगड़ी जाती हैं। कुछ शाखाओं में जातकर्म कृत्य में अग्नि उत्पन्न करने के लिए अरणियाँ रगड़ी जाती थीं, और उनसे उत्पन्न अग्नि आगे चलकर बच्चे के चूड़ाकरण, उपनयन एवं विवाह के संस्कारों में प्रयुक्त होती थी। इससे यह समझा जाता था कि बच्चा लम्बी आयु का होगा।

(३७) ब्राह्मणों द्वारा लगातार यात्राएँ करते रहना कलिवर्ज्य है। महाभारत (शान्ति २३।१५) का कथन है कि जिस प्रकार सर्प बिल में छिपे हुए चूहों को निगल जाता है, उसी प्रकार यह पृथ्वी अविरोद्धा (आक्रामक से न लड़ने वाले) राजा एवं अप्रवासी (यात्रा न करनेवाले) ब्राह्मण को निगल जाती है। प्रवासी-ब्राह्मण का तात्पर्य है उस ब्राह्मण से जो प्रसिद्ध आचार्यों के यहाँ विद्याध्ययन के लिए जाता रहता है। यह कलिवर्ज्य उस लम्बी यात्रा से सम्बन्धित है जो निरुद्देश्य की जाती है, उससे नहीं जो विद्याध्ययन एवं धार्मिक कृत्यों के लिए की जाती है।

(३८) अग्नि प्रज्वलित करने के लिए मुँह से फूंकना कलिवर्ज्य है। मनु (४।५३) एवं ब्रह्मपुराण (२२१। १०२) ने मुखाग्निधमन क्रिया को वर्जित ठहराया है, क्योंकि ऐसा करने से थूक की बूंदों से अग्नि अपवित्र हो सकती है। हरदत्त (आप० ध० सू० १।५।१५।२०) ने कहा है कि वाजसनेयी शाखा में आया है कि अग्नि को मुख से फूँककर उत्तेजित करना चाहिए, क्योंकि ऐसा उच्छ्वास विधाता के मुख से निकला हुआ समझा जाता है (पुरुषसूक्त, ऋग्वेद १०। ९०।१३)। अतः हरदत्त एवं गोभिलस्मृति (१।१३५-१३६) के अनुसार **श्रौत** अग्नि मुख की फूँक से जलायी जा

सकती थी, किन्तु **स्मार्त** अग्नि अथवा साधारण अग्नि इस प्रकार नहीं जलायी जानी चाहिए (उसे पंखे या बाँस की फूँकनी से जलाना चाहिए)। कलिवर्ज्य उक्ति ने **श्रौत** अग्नि को भी मुख से उत्तेजित करना वर्जित माना है।

(३९) **बलात्कार आदि द्वारा अपवित्र स्त्रियों (जब कि उन्होंने प्रायश्चित्त कर लिया हो) की शास्त्रानुमोदित सामाजिक संसर्ग-सम्बन्धी अनुमति** कलिवर्ज्य है। वसिष्ठ (२८।२-३) का कथन है—"जब स्त्री बलात्कार द्वारा या चोरों द्वारा भगायी जाने पर अपवित्र कर दी गयी हो तो उसे छोड़ना नहीं चाहिए; मासिक धर्म आरम्भ होने तक बाट देखनी चाहिए (तब तक उससे प्रायश्चित्त कराते रहना चाहिए) और उसके उपरान्त वह पवित्र हो जाती है।" यही बात अत्रि ने भी कही है। मत्स्यपुराण (२२७।१२६) इस विषय में अधिक उदार है और उसका कथन है कि बलात्कारी को मृत्युदंड मिलना चाहिए, किन्तु इस प्रकार अपवित्र की गयी स्त्री को अपराध नहीं लगता। पराशर (१०।२७) ने कहा है कि यदि स्त्री किसी दुष्ट व्यक्ति द्वारा एक बार बलवश अपवित्र कर दी जाय तो वह प्राजापत्य व्रत के प्रायश्चित्त द्वारा पवित्र हो जाती है (मासिक धर्म होने के उपरान्त)। देवल जैसे पश्चात्कालीन स्मृतिकार ने कहा है कि किसी भी जाति की कोई स्त्री यदि म्लेच्छ द्वारा अपवित्र कर दी जाय और उसे गर्भ धारण हो जाय तो वह सान्तपन व्रत के प्रायश्चित्त से शुद्ध हो सकती है। किन्तु यह कलिवर्ज्य निर्दोष एवं अभागी स्त्रियों के प्रति कठोर है, क्योंकि यह प्रकट करता है कि प्रायश्चित्त के उपरान्त भी ऐसी स्त्रियाँ सामाजिक संसर्ग के योग्य नहीं होतीं।

(४०) **सभी वर्णों के सदस्यों से संन्यासी द्वारा शास्त्रानुमोदित भिक्षा लेना** कलिवर्ज्य है। स्मृतिमुक्ताफल (पृ० २०१, वर्णाश्रम) ने काठक ब्राह्मण, आरुणि-उपनिषद्, पराशर (गद्य में) को इस विषय में उद्धृत कर कहा है कि **यति** सभी वर्णों के सदस्यों के यहाँ से भोजन की भिक्षा माँग सकता है। यही बात बौधा० ध० सू० (२।१०।६९) ने एक उद्धरण देकर कही है। वसिष्ठ (१०।७) ने कहा है कि यति को पहले से न चुने हुए सात घरों से भिक्षा माँगनी चाहिए और आगे (१०।२४) कहा है कि उसे ब्राह्मणों के घरों से प्राप्त भोजन पर ही जीना चाहिए। उपस्थित कलिवर्ज्य यतियों को भी भोजन के विषय में जाति-नियम पालन करने को बाध्य करता है।

(४१) **नवीन उदक (नये वर्षाजल) का दस दिनों तक सेवन न करना** कलिवर्ज्य है। हरदत्त (आप० ध० सू० १।५।१५।२), भट्टोजि दीक्षित (चतुर्विंशतिमत, पृ० ५४), स्मतिकौस्तुभ (पृ० ४७९) ने एक श्लोक उद्धृत किया है—"अजाएँ (बकरियाँ), गायें, भैंसें एवं ब्राह्मण-स्त्रियाँ (संतानोत्पत्ति के उपरान्त) दस रात्रियों के पश्चात् शुद्ध हो जाती हैं और इसी प्रकार पृथ्वी पर एकत्र नवीन वर्षा का जल भी।" किन्तु इस कलिवर्ज्य के अनुसार वर्षाजल के विषय में दस दिनों की लम्बी अवधि अमान्य ठहरा दी गयी है। भट्टोजि दीक्षित ने एक स्मृति का सहारा लेकर कहा है कि उचित ऋतु में गिरा हुआ वर्षाजल पवित्र होता है किन्तु तीन दिनों तक इसे पीने के काम में नहीं लाना चाहिए। जब वर्षा असाधारण ऋतु में होती है तो उसका जल दस दिनों तक अशुद्ध रहता है और उसे यदि कोई व्यक्ति उस अवधि में पी ले तो उसे एक दिन और एक रात भोजन ग्रहण से वंचित होना चाहिए। भट्टोजि दीक्षित का कहना है कि कलिवर्ज्य वचन केवल दस दिनों की अवधि को अमान्य ठहराता है, किन्तु तीन दिनों तक न पीने के नियम को अमान्य नहीं ठहराता।

(४२) **ब्रह्मचर्यकाल के अन्त में गुरुदक्षिणा माँगना** कलिवर्ज्य है। प्राचीन आचार के अनुसार गुरुदक्षिणा के विषय में कोई समझौता नहीं होता था। देखिए बृहदारण्यकोपनिषद् (४।१।२)। गौतम (२।५४-५५) ने कहा है कि विद्याध्ययन के उपरान्त विद्यार्थी को जो कुछ वह दे सके, उसे स्वीकार करने के लिए गुरु से प्रार्थना करनी चाहिए, या गुरु से पूछना चाहिए कि वह उन्हें क्या दे और गुरुदक्षिणा देने या गुरु द्वारा आज्ञापित कार्य करने के उपरान्त या यदि गुरु उसे बिना कुछ लिये हुए घर जाने की आज्ञा दे दे, तो उसको (विद्यार्थी को) स्नान (ऐसे अवसर पर जो कृत्य स्नान के साथ किया जाता है) करना चाहिए। देखिए मनु (२।२४५-२४६) और इस ग्रंथ का खंड २, अ० ७। याज्ञ०

(१।५१) ने भी ऐसी ही बात कही है। इन्हीं व्यवस्थाओं के कारण हमें प्राचीन साहित्य में ऐसे उपाख्यान उपलब्ध होते हैं जिनमें आचार्यों (गुरुओं) या उनकी पत्नियों की चित्र-विचित्र माँगों के दृष्टान्त व्यक्त हैं। यह कलिवर्ज्य वचन गुरु द्वारा अपेक्षित माँगों को अमान्य तो ठहराता है किन्तु विद्यार्थी द्वारा अपनी ओर से दी गयी दक्षिणा को वर्जित नहीं कहता।

(४३) ब्राह्मण आदि के घरों में शूद्र द्वारा भोजन आदि बनाना कलिवर्ज्य है। आप० ध० सू० (२।२।३। १-८) ने कहा है कि वैश्वदेव के लिए भोजन तीन उच्च वर्णों का कोई भी शुद्ध व्यक्ति बना सकता है और विकल्प से यह भी कहा है कि शूद्र भी किसी आर्य का भोजन बना सकता है; यदि वह प्रथम तीन उच्च वर्णों की देख-रेख में ऐसा करे, जब वह अपने बाल, शरीर का कोई अंग या वस्त्र छूने पर आचमन करे, अपने शरीर एवं सिर के बाल, दाढ़ी एवं नाखून प्रति दिन या महीने के प्रति आठवें दिन या प्रतिपदा एवं पूर्णिमा के दिन कटाये तथा वस्त्र सहित स्नान करे। इस कलिवर्ज्य ने इस अनुमति को दूर कर दिया है।

(४४) अग्नि-प्रवेश या प्रपात से गिरकर वृद्ध लोगों द्वारा आत्महत्या करना कलिवर्ज्य है। अत्रि ने कुछ विषयों में आत्महत्या निंद्य नहीं ठहरायी है। उनका (२१८-२१९) कथन है--"यदि कोई बूढ़ा हो गया हो (७० वर्ष के ऊपर), यदि कोई (अत्यधिक दुर्बलता के कारण) शरीर-शुद्धि के नियमों का पालन न कर सके, यदि कोई इतना बीमार हो कि सभी औषधें व्यर्थ सिद्ध हो जाती हों और यदि कोई इन परिस्थितियों में प्रपात से गिरकर या अग्नि-प्रवेश करके या जल द्वारा या अनशन से आत्महत्या कर लेता है, तो उसके लिए सूतक केवल तीन दिनों का रहता है और चौथे दिन उसका श्राद्ध किया जा सकता है।" यही बात अपरार्क (पृ० ५३६) ने भी अपने ढंग से कही है। देखिए इस ग्रंथ का खंड २, अ० २७। यह कलिवर्ज्य उन लोगों के लिए भी वर्जना-स्वरूप है जो जान-बूझकर महापातकों का अपराध करके फलतः प्रायश्चित्त के लिए अग्नि-प्रवेश करके या प्रपात से गिरकर आत्महत्या कर डालना चाहते हैं। देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२२६)। शुद्धितत्त्व (पृ० २८४-२८५) का कथन है कि कलियुग में केवल शूद्र लोग जल-प्रवेश आदि से आत्महत्या कर सकते हैं, ब्राह्मणों आदि के लिए यह वर्जित है।

(४५) शिष्टों द्वारा गोतृप्ति मात्र जल से आचमन-क्रिया करना कलिवर्ज्य है। मनु (५।१२८), वसिष्ठ (३।३५), बौधा० ध० सू० (१।५।६५), याज्ञ० (१।१९२) एवं विष्णु (२३।४३) के अनुसार पृथ्वी पर इकट्ठा हुआ जल पवित्र माना जाता है और इससे आचमन किया जा सकता है, यदि वह एक गाय की प्यास बुझाने भर के लिए पर्याप्त हो। किन्तु यह कलिवर्ज्य स्वास्थ्य-सम्बन्धी बातों के आधार पर पृथ्वी पर एकत्र अल्प जल को आचमन आदि के लिए वर्जित मानता है।

(४६) यति द्वारा उस घर में, जिसके निकट वह सायंकाल ठहरा हो, (भिक्षार्थ) रहना कलिवर्ज्य है। आप० ध० सू० (२।९।२१।१०) एवं मनु (६।४३, ५५-५६) के मत से यति अग्नि नहीं जलाता, वह गृहहीन होता है और वह दिन में केवल एक बार अपराह्ण में या संध्या समय तब भिक्षा माँगता है जब कि लोगों के रसोईघर से धूम न उठ रहा हो, जब जलते हुए कोयले बुझ गये हों और जब लोग खा-पी चुके हों। वसिष्ठ (१०।१२-१५) का कहना है कि संन्यासी को अपना निवास बदलते रहना चाहिए, उसे गाँव की सीमा (सरहद) पर या मंदिर में, किसी निर्जन घर में या किसी पेड़ के नीचे ठहरना चाहिए या लगातार किसी वन में रहना चाहिए। शंख (७।६) का कथन है कि संन्यासी (यति) को किसी खाली घर में या वहाँ जहाँ सूरज डूब जाय, ठहरना चाहिए। शंख की इस व्यवस्था को कलिवर्ज्य की इस उक्ति ने अमान्य ठहराया है। कृष्ण भट्ट (निर्णयसिन्धु, पृ० १३१०) के मत से इन शब्दों का अर्थ मनु (६।५६) की उस व्यवस्था के विरोध में पड़ जाता है कि संन्यासी को सन्ध्या समय जब रसोईघरों से धूम निकलना बन्द हो गया हो, ग्राम में घर-घर से भिक्षा माँगनी चाहिए, अर्थात् यह कलिवर्ज्य-उक्ति दुपहर में भिक्षा माँगने की अनुमति देती है। एक प्रकार से यह अच्छी व्याख्या है।

यह उपर्युक्त कलिवर्ज्यों की पूर्ण सूची है जो आदित्यपुराण से (एक या दो को छोड़कर) उद्धृत की गयी है। अब हम उन कलिवर्ज्यों को, जो अन्य ग्रन्थों में इतस्ततः बिखरे पड़े हैं, इस विवेचन को पूर्ण करने के लिए आगे दे रहे हैं।

(४७) **संन्यास ग्रहण**--व्यास ने कलियुग के ४४०० वर्षों के उपरान्त संन्यास को वर्जित ठहराया है, किन्तु देवल ने (निर्णयसिन्धु, ३, पूर्वार्ध पृ० ३७०; स्मृतिमुक्ताफल, वर्णाश्रम, पृ० १७६; यतिधर्मसंग्रह, पृ० २-३) एक अपवाद इस सीमा तक दिया है कि जब तक समाज में चारों वर्णों का विभाजन चलता रहे एवं वेद का अध्ययन चलता रहे तब तक कलियुग में संन्यास लिया जा सकता है। निर्णयसिंधु ने व्याख्या की है कि तीन दण्डों वाला (त्रिदण्ड) संन्यास ही वर्जित है न कि एक दंड वाला। बौधायन (२।१०।५३, एकदण्डी वा) ने विकल्प दिया है कि संन्यासी **त्रिदंडी** या एकदंडी हो सकता है, किन्तु याज्ञ० (३।५८) ने यति को **त्रिदंडी** ही कहा है। मनु (१२।१० = दक्ष ७।३०) ने कहा है कि वह व्यक्ति **त्रिदंडी** है जो अपने शरीर, वाणी एवं मन पर नियंत्रण रख सकता है। दक्ष (७।२९, अपरार्क, पृ० ९५३) का कथन है कि यति को त्रिदंडी इसलिए नहीं कहा गया है कि वह बाँस के तीन दंडों को धारण करता है, प्रत्युत इसलिए कि वह आध्यात्मिक नियंत्रण रख सकता है (श्लोक २९)। दक्ष (१।१२-१३) ने कहा है कि जिस प्रकार मेखला, मृगचर्म एवं काष्ठदण्ड वैदिक ब्रह्मचारी के बाह्य लक्षण हैं, उसी प्रकार तीन दंड यति के लिए विशिष्ट चिह्न हैं। देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अ० २७। यदि कलिवर्ज्य का यह वचन संन्यास को सर्वथा वर्जित ठहराता है तो यह भी कहा जा सकता है कि वास्तव में संन्यास धर्म का पालन कभी नहीं किया गया और न इसको कभी वास्तविक सम्मान ही मिला। फिर भी आज भी प्रति वर्ष सैकड़ों-हजारों संन्यासी होते चले जा रहे हैं। यदि जैसा कि निर्णयसिन्धु का कथन है, यह कलिवर्ज्य केवल तीन दण्डों को अमान्य ठहराता है तो यह व्यर्थ का वर्ज्य है, क्योंकि इससे केवल बाहरी लक्षणों को महत्ता मिलती है न कि तत्सम्बन्धी वास्तविक रहस्य को।

(४८) **अग्निहोत्र का पालन या अग्न्याधान करना**--व्यास (भट्टोजि दीक्षित, चतुर्विंशतिमत, पृ० ५५) ने कलियुग में **श्रौत-अग्निहोत्र** को **संन्यास** के साथ वर्जित कर दिया है, किन्तु जैसा कि हमने गत कलिवर्ज्य में देख लिया है, देवल ने इस विषय में अपवाद दिया है। कुछ निबंधों एवं लेखकों ने, यथा निर्णयसिन्धु एवं भट्टोजि ने व्याख्या की है कि कलियुग में **सर्वाधान** अग्निहोत्र ही वर्जित है न कि **अर्धाधान अग्निहोत्र। अग्निहोत्र** का अर्थ है 'आधान' अर्थात् श्रौत अग्नियों को स्थापित रखना। जब कोई व्यक्ति तीन श्रौत अग्नियाँ स्थापित करता है तो वह ऐसा अपनी आधी स्मार्त अग्नि के साथ करता है और आधी स्मार्त अग्नि को अलग रखता है। इसी को अर्धाधान कहते हैं। जब वह स्मार्त अग्नि को अलग नहीं रखता तो यह सर्वाधान कहलाता है। यह बात लौगाक्षि (निर्णयसिन्धु, ३, पृ० ३७०), भट्टोजि आदि ने भी कही है। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।४५) ने भी सर्वाधान एवं अर्धाधान का उल्लेख किया है। अतः इन व्याख्याओं के अनुसार सर्वाधान को प्राचीन युगों में अनुमति प्राप्त थी (एक व्याख्या से कलियुग में ४४०० वर्षों तक), किन्तु कलियुग में (कम से कम कलि के ४४०० वर्षों के उपरान्त) केवल अर्धाधान की अनुमति मिली है।

(४९) **नरमेध**--इस विषय में विशेष जानकारी के लिए देखिए नारदीय पुराण (पूर्वार्ध, २४।१३-१६)। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।४।१-१९) ने नरमेध की विधि का वर्णन किया है (ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते क्षत्राय राजन्यम्। मरुद्भ्यो वैश्यम्। तपसे शूद्रम्)। प्राचीनतम उक्तियाँ यह नहीं व्यक्त करतीं कि कोई मानव मारा जाता था, सारी विधि प्रतीकात्मक मात्र है। वाजसनेयी संहिता (३०।५) के बहुत-से वचन तैत्तिरीय ब्राह्मण के समान हैं। तै० ब्रा० (३।४।१ = वाज० सं० ३०।५) में आया है--"ब्राह्मण ब्राह्मण को दिया जाना चाहिए (आध्यात्मिक शक्ति), क्षत्रिय क्षत्र को (सैनिक शक्ति), वैश्य मरुतों को" आदि। आप० श्रौ० सू० (२०।२४) के मत से ब्राह्मण या क्षत्रिय इस यज्ञ को सम्पादित करता है जिसके द्वारा वह शक्ति एवं शौर्य तथा सारी समृद्धि की उपलब्धि करता है। इसमें अग्नि एवं सोम को ११ पशु भेंट दिये जाते हैं जिनके लिए ११ यज्ञ-यूप (स्तम्भ) होते हैं। जब ब्राह्मण एवं अन्यों पर **पर्यग्निकरण** का

कृत्य हो जाता है तो वे कतिपय देवताओं को समर्पित किये जाते हैं और तब यूपों से उन्हें अलग कर दिया जाता है, ११ बकरे काटे जाते हैं और उनका मांस एवं उनके शरीरांशों की आहुतियाँ दी जाती हैं। वाजसनेयी संहिता के टीकाकार के मत से इसका आरम्भ चैत्र शुक्ल दशमी से होता है और यह ४० दिनों तक चलता रहता है। इस अवधि में २३ **दीक्षाएँ**, १२ **उपषद्** एवं ५ **सुत्य** किये जाते हैं (वे दिन, जब सोमरस निकाला जाता है)। इस **याग** के उपरान्त यजमान संन्यासी होकर वन में चला जाता है (आप० श्रौ० २०।२४।१६-१७)।

(५०) **अश्वमेध**--तै० सं० (५।३।१२।२) का कथन है--"जो अश्वमेध यज्ञ करता है, वह ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है" (तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते)। इस वैदिक प्रमाण के रहते हुए भी बृहन्नारदीय एवं अन्य पुराणों ने इसे वर्जित कर दिया है, किन्तु किसी ने इस वर्जना पर कान नहीं दिया और ऐतिहासिक काल के कतिपय राजाओं ने इसे सम्पादित किया (ई० पू० २०० सन् से १८वीं शताब्दी तक, राजा जयसिंह अन्तिम अश्वमेध यज्ञ करनेवाले हैं। देखिए इस ग्रंथ का खंड २, अ० ३५)।

(५१) **राजसूय**--यह एक जटिल कृत्य था जो अनवरत दो वर्षों तक चलता रहता था। इसे कोई क्षत्रिय ही कर सकता था। देखिए इस ग्रंथ का खंड २, अ० ३४। कलिंगराज खारबेल ने इसे सम्पादित किया था (एपि० इ०, जिल्द २०, पृ० ७१ एवं ७९)। नानाघाट के अभिलेख (आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑव वेस्टर्न इण्डिया, जिल्द ५, पृ० ६०) से पता चलता है कि रानी नायनिका ने भी इसे सम्पादित किया था।

(५२) **नैष्ठिक ब्रह्मचर्य**--वैदिक ब्रह्मचारियों के दो प्रकार थे; (१) उपकुर्वाण (जो घर लौटते समय कुछ गुरुदक्षिणा देते थे) एवं (२) **नैष्ठिक** (जो मृत्यु पर्यंत ब्रह्मचारी या विद्यार्थी रहते थे)। देखिए इस ग्रंथ का खंड ३, अ० २९। हारीत, दक्ष (१।७) तथा अन्य लोगों ने इन दोनों प्रकारों का उल्लेख किया है किन्तु याज्ञ० (१।४९), व्यास (१।४१) एवं विष्णुध० सू० (२८।४६) ने नैष्ठिक का नाम और वर्णन दोनों दिये हैं। मनु (२।२४३-२४४), याज्ञ० (१।४९-५०) एवं वसिष्ठ (७।४-५) ने कहा है कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी को मृत्यु पर्यंत गुरु के साथ रहना चाहिए। गुरु की मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र के साथ या गुरुपत्नी के साथ रहना चाहिए और अग्निहोत्र करते रहना चाहिए, यदि वह मृत्यु पर्यंत अपनी इन्द्रियों का निग्रह करता रहता है तो ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है और पुनः जन्म नहीं लेता, अर्थात् मुक्त हो जाता है। यह बहुत ही कष्टसाध्य जीवन था, वासनाएँ प्रबल होती हैं, अतः बृहन्नारदीय आदि ने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य को वर्जित कर दिया है।

(५३) **लम्बी अवधि का ब्रह्मचर्य**--बौ० ध० सू० (१।२।१-५) ने घोषणा की है--प्राचीन काल में वेदाध्ययन के लिए छात्र-जीवन प्रत्येक वेद के हिसाब से ४८ या २४ या १२ वर्षों तक चलता था, या (तै० सं० के) प्रत्येक काण्ड के लिए कम से कम एक-एक वर्ष निश्चित था, या यह (छात्रजीवन) तब तक चलता था जब तक वेद कण्ठस्थ न हो जाय। क्योंकि जीवन क्षणभंगुर है और वेद आज्ञापित करता है--'जब तक बाल काले हैं, वह अग्निहोत्र करता रहे।' आप० ध० सू० (१।१।२।११-१६) का कथन है कि ब्रह्मचारी को अपने आचार्य (गुरु) के यहाँ ४८, २४ या कम से कम १२ वर्षों तक रहना चाहिए। मनु (३।१) ने भी कहा है; गुरु के यहाँ तीनों वेदों के अध्ययन करने का संकल्प ३६ वर्षों या उसके आधे समय तक या चौथाई समय तक या उस समय तक करना चाहिए जब तक कि वेद कण्ठस्थ न हो जायँ। कलियुग में वेदाध्ययन के लिए ४८, ३६ या २४ वर्षों (गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने के पूर्व) की लम्बी अवधियाँ वर्जित हैं। यह कोई नयी बात नहीं थी। याज्ञ० (१।३६) ने प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्षों की अवधि की अनुमति दी है या ५ वर्ष की भी अनुमति उन्हें दे दी है जो सभी वेदों का अध्ययन नहीं करना चाहते, केवल एक ही वेद पढ़ना चाहते हैं। इस प्रकार वेदाध्ययन की अल्पावधि याज्ञवल्क्य के मत से कम से कम ५ वर्ष है। बहुत ही कम लोग ४८ या ३६ वर्षों तक वेदाध्ययन करते रहे होंगे। शबर (जैमिनि १।३।३) ने बौधायन के उस वचन को

श्रुति-विरुद्ध माना है जो गृहस्थ के काले बाल रहने तक अग्निहोत्र करते रहने के सम्बन्ध में है, और इसी से उसे अमान्य ठहराया है। इस विषय में देखिए सदाचार सम्बन्धी इस खंड का अध्याय ३२।

(५४) **पशुयज्ञ**——मार्कण्डेय पुराण (अपरार्क, पृ ९२९) ने कलियुग में पशुयज्ञ वर्जित कर दिया है। यद्यपि क्रमशः सामान्य भावना यही रही है कि श्राद्धों एवं मधुपर्क में मांसदान न किया जाय, तथापि सभी युगों में पशुयज्ञ होते रहे हैं और आज भी विरोधों के रहते हुए भी यही परिपाटी चलती आ रही है।

(५५) **मद्यपान**——वैदिक काल में पुरोहित लोग सोम का पान करते थे और सुरा का प्रयोग साधारण लोग करते थे, जो साधारणतः देवताओं को नहीं दी जाती थी। सोम और सुरा का भेद लोगों को ज्ञात था (तै० सं० २।५।१।१; वाज० सं० १९।७ एवं शत० ब्रा० ५।१।५।२८)। शत० ब्रा० (५।१।५।२८) ने अन्तर बतलाया है——"सोम सत्य है, समृद्ध है और है प्रकाश; सुरा असत्य है, विपन्नता है और है अन्धकार।" सौत्रामणी इष्टि में एक ब्राह्मण सुरा पान के लिए पारिश्रमिक पर बुलाया जाता था और यदि कोई ब्राह्मण नहीं मिलता था तो सुरा चींटियों के ढूह पर उड़ेल दी जाती थी (तै० ब्रा० १।८।६ एवं शबर-जै० ३।५।१४-१५)। काठकसंहिता (१२।१२) से पता चलता है कि उस काल तक आते-आते ब्राह्मणों ने सुरापान को पापमय मान लिया था। छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।९) में मद्यपान पाँच प्रकार के महापापों में गिना गया है। आश्वलायनगृह्यसूत्र (२।५।३-५) में आया है कि अन्वष्टका के कृत्यों में जब पुरुष-पितरों को पिण्डदान किया जाता है तो नारी-पितरों, यथा——माता, पितामही एवं प्रपितामही को सुरा एवं भात का माँड़ दिया जाता है। निर्णयसिन्धु (३, पृ० ३६७) ने आश्वलायन के इस वचन का उल्लेख किया है और कहा है कि कलिवर्ज्य वचन ने मतवाले करनेवाले पदार्थों के साथ इसे भी वर्जित माना है।

मद्य शब्द उन सभी प्रकार के पेय पदार्थों की ओर संकेत करता है जिन्हें पीकर लोग मतवाले हो उठते हैं। सुरा के तीन प्रकार कहे गये हैं——(१) गुड़ या राब से उत्पन्न की हुई, (२) मधु या मधूक-पुष्पों (महुआ) या अंगूरों से उत्पन्न तथा (३) आटे से उत्पन्न की हुई (मनु ११।९४, विष्णु २२।८२ एवं संवर्त ११७)। विष्णु (२२।८३-८४) ने मद्य के दस प्रकार गिनाकर उन्हें ब्राह्मणों के लिए अस्पृश्य माना है। गौ० (२।२५), आप० ध० सू० (१।५।१७।२१), मनु (११।९५) ने ब्राह्मणों के लिए जीवन के सभी स्तरों में मद्य को वर्ज्य माना है। आप० (१।७।२१।८), वसिष्ठ (१।२०), मनु (११।५४) एवं विष्णु (३५।१) ने सुरापान को पाँच महापातकों में गिना है और याज्ञ० ने इस सिलसिले में 'सुरा' के स्थान पर 'मद्य' का प्रयोग किया है। बौधा० (१।१।२२) ने उत्तरदेशीय ब्राह्मणों के विशिष्ट पाँच आचरणों में सीधु को भी सम्मिलित किया है और उसे निन्द्य माना है। मनु के सुरा-संबंधी तीन प्रकारों के विषय में विभिन्न व्याख्याएँ उपस्थित की गयी हैं। विश्वरूप (याज्ञ० ३।२२२), मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२५३), अपरार्क (पृ० १०६९) आदि ने कहा है कि सुरा पैष्टी (आटे से बना पेय पदार्थ) है और ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों के लिए वर्जित है, इसका पान महापातकों में गिना जाता है। इन लोगों ने सभी युगों में ब्राह्मणों के लिए मदोन्मत्त करनेवाले पदार्थों का पान वर्जित माना है, किन्तु **पैष्टी** (जो राव या महुआ से न बनायी जाय) के अतिरिक्त अन्य मदोन्मत्त करने वाले पदार्थों को क्षत्रिय एवं वैश्यों के लिए वर्जित नहीं ठहराया है। मनु (११।९३) का कहना है कि सुरा पक्वान्न (चावल) के उच्छिष्ट से बनायी जाती है, अतः तीन उच्च जातियों के सदस्यों के लिए त्याज्य है। इससे स्पष्ट होता है कि मनु ने सुरा का अर्थ केवल पैष्टी (चावल के भात से बना पेय पदार्थ) लिया है। विष्णु (२२।८४) ने स्पष्ट कहा है कि क्षत्रिय और वैश्य मद्यों के दस प्रकारों के स्पर्श से अपवित्र नहीं होते। उद्योगपर्व (६९।५) में कृष्ण और अर्जुन मदोन्मत्त दिखलाये गये हैं और तन्त्रवार्त्तिक ने इसे बुरा नहीं माना है, क्योंकि वे दोनों क्षत्रिय थे। शूद्रों के लिए मद्य पीना वर्जित नहीं माना गया था। सभी वर्णों के ब्रह्मचारियों को किसी प्रकार का भी मद्य सेवन मना था। अपरार्क (पृ० ६३) ने ब्रह्मपुराण को उद्धृत कर कहा है कि कलियुग में तीन उच्च वर्णों के लिए मद्यपान वर्ज्य है, किन्तु ब्राह्मणों

के लिए सभी युगों में। किन्तु यह कथन भ्रामक है, क्योंकि आदिपर्व में आया है, कि शुक्राचार्य ने ही सर्वप्रथम ब्राह्मणों के लिए मद्य वर्जित ठहराया। देखिए इस ग्रंथ का खंड २, अ० २२। कलिवर्ज्य वचन ने सभी द्विजों के लिए मद्यपान वर्जित माना है, किन्तु क्षत्रियों एवं वैश्यों ने इस उक्ति पर कभी ध्यान नहीं दिया। यहाँ तक कि आजकल कुछ ब्राह्मण इसका शौक से सेवन करते हैं। कलिवर्ज्यविनिर्णय, कृष्ण भट्ट एवं स्मृतिकौस्तुभ ने कहा है कि 'वामागम' संबन्धी शाक्त ग्रंथों में तीनों वर्णों द्वारा देवप्रतिमा पर मद्य चढ़ाना मान्य ठहराया गया है, और क्षत्रियों द्वारा विनायक-शमन-संबंधी कृत्यों तथा मूल नक्षत्र में उत्पन्न बच्चे के लिए मद्य-प्रयोग ठीक माना गया है, किन्तु इस कलिवर्ज्य ने यह सब अमान्य घोषित कर दिया है।

यदि हम उपर्युक्त ५५ कलिवर्ज्यों का विश्लेषण करें तो हमें मनोरंजक परिणाम प्राप्त होंगे। इनमें एक-चौथाई का संबंध श्रौत विषयों से है। बहुत-से ऐसे वचन हैं जो अग्निहोत्र, अश्वमेध, राजसूय, पुरुषमेध, सत्र, गोसव, पशुयज्ञ आदि यज्ञों को वर्जित करते हैं, और बहुत-से ऐसे हैं जो यज्ञ-विषयक बातों से सम्बन्धित हैं (देखिए सं० ११, १४-१६, २९-३०, ३८, ४८-५१ एवं ५४)। इनमें प्रथम नौ का सम्बन्ध वैधानिक विषयों एवं सम्बन्धों से है। कुछ तो केवल जाति-सम्बन्धी हैं (सं० ५, १०, ३१, ४० एवं ४३)। कुछ वैवाहिक सम्बन्ध की पवित्रता, जटिल नैतिकता तथा स्त्रियों से सम्बन्ध रखनेवाली एवं शुचिता एवं भद्रता की भावना से उद्भूत हैं (सं० २, ३, ४, ५, ९, १५, २३, २४, ३३, ३९ एवं ५५)। कुछ दया, न्याय एवं सर्वसमता की भावनाओं पर आधारित हैं (सं० १, ८, २४, २५, ४२)। कुछ ब्राह्मणों के शरीर की पवित्रता एवं उनकी उच्च सामाजिक स्थिति से सम्बन्धित हैं (सं० ७, १०, २७, २९ एवं ३०)। कुछ की उत्पत्ति स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुविचारणाओं पर आधारित है (सं० १२, १६, २८, ३८, ४१ एवं ४५)। कुछ का उदय पाप, प्रायश्चित्त एवं संस्कार-सम्बन्धी शुद्धता एवं अशुद्धता की भावनाओं से हुआ है (सं० १३, १८-२१, २८ एवं ४४)। इनमें से दो ऐसे हैं जो वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमों को वर्ज्य ठहराते हैं, जिससे आश्रम-सम्बन्धी प्राचीन योजना खंडित-सी हो जाती है (देखिए १७ एवं ४७)।

उपर्युक्त कलिवर्ज्य-सम्बन्धी विवेचन उन लोगों का मुँहतोड़ जवाब है जो "अप्रगतिशील पूर्व" के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। प्राचीन काल के अत्यधिक स्थिर समाजों के अन्तर्गत भी सामाजिक भावनाओं एवं आचारों में पर्याप्त गम्भीर परिवर्तन होते रहे हैं। बहुत-से ऐसे आचार एवं व्यवहार, जिनके पीछे पवित्र वेदों (जो स्वयमुद्भूत एवं अमर माने गये हैं) का आधार था, और जिनके पीछे आप०, मनु एवं याज्ञवल्क्य की स्मृतियों की प्रामाणिकता थी, वे या तो त्याज्य ठहराये गये या प्रचलित मनोभावों के कारण गर्हित माने गये। महान् विचारकों ने कलियुग के लिए ऐसी व्यवस्थाएँ प्रचलित कीं जिनके फलस्वरूप धार्मिक आचार-विचारों एवं नैतिकता-सम्बन्धी भावनाओं में यथोचित परिवर्तन किया जा सका। कलिवर्ज्य वचनों ने ऐसे लोगों को भी पूर्ण उत्तर दिया जो धर्म (विशेषतः आचार धर्म) को अपरिवर्तनीय एवं निर्विकार मानते रहे हैं। इस अध्याय के विवेचन से पाठकों को लगा होगा कि वेद एवं प्राचीन ऋषियों तथा व्यवहार-प्रतिपादकों के अत्यन्त प्रामाणिक सिद्धान्त अलग रख दिये गये, क्योंकि वे प्रचलित विचारों के विरोध में पड़ते थे। जो महानुभाव भारतीय समाज से सम्बन्ध रखनेवाले विवाह, उत्तराधिकार आदि विषयों में सुधार करना चाहते हैं, उन्हें इस अध्याय में उल्लिखित बातें प्रेरणा देंगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है। हमने यह देख लिया है कि कलिवर्ज्य उक्तियों के रहते हुए भी आज बहुत-से घोर और घृणित आचार हमारे समाज में अभी तक घुन की तरह पड़े हुए हैं, यथा मातुल-कन्या-विवाह, संन्यास, अग्निहोत्र और श्रौत पशुयज्ञ। यद्यपि ये अब उतने प्रचलित नहीं हैं।

कुछ ग्रंथ कलिवर्ज्य वचनों के साथ दो और वचन जोड़ देते हैं जिनका तात्पर्य यह है—"शाप अथवा अनिष्टकारी वचन, अशुभ चिह्न, स्वप्न, हस्तविद्या, अलौकिक वचनों का श्रवण, मनौती (प्रार्थना स्वीकृत हो जाने पर किसी देवता

को भेट आदि देने का वचन), फलित ज्योतिषियों द्वारा भविष्यवाणियाँ—कदाचित् ही ये सब सत्य के द्योतक हैं। हम लोगों को अपनी इच्छापूर्ति के लिए अथवा अच्छे फलों की प्राप्ति के लिए इन सब बातों में विश्वास नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार कुछ ऐसे भी कर्म हैं जिन्हें हमें कलियुग में छोड़ देना चाहिए, क्योंकि वे मनुष्यों द्वारा अधर्म कार्यों के अन्तर्गत सम्मिलित कर दिये गये हैं।[२०]

प्राचीन स्मृतियों ने कलिवर्ज्य का वर्णन नहीं किया है, और न विश्वरूप, मेधातिथि एवं विज्ञानेश्वर की टीकाओं ने कलिवर्ज्यों की लम्बी सूचियाँ ही दी हैं। सर्वप्रथम ये सूचियाँ स्मृत्यर्थसार, स्मृतिचंद्रिका एवं हेमाद्रि द्वारा ही प्रकाशित की गयीं (और ये ग्रंथ अथवा लेखक १२वीं-१३वीं शताब्दी के हैं)। अतः अत्यंत सम्भव अनुमान यही है कि कलिवर्ज्यों की ये सूचियाँ सर्वप्रथम १०वीं या ११वीं शताब्दी में उपस्थित की गयीं।

२०. देखिए स्मृतिकौस्तुभ (पृ० ४७७)।

अध्याय ३५

आधुनिक भारतीय व्यवहार-शास्त्र में आचार

यद्यपि 'आंग्ल भारतीय' व्यवहार-शास्त्र (एंग्लो-इण्डियन लॉ) में पाये जानेवाले आचारों का विस्तृत विवेचन इस पुस्तक के क्षेत्र के बाहर है, तथापि आधुनिक काल के आचारों के विषय में कुछ शब्द इस अध्याय में लिख देना विषयान्तर न होगा। जब अँग्रेजों ने भारत में राजनीतिक सत्ता स्थापित करना आरम्भ कर दिया, उन्हें भारतीयों के आचारों की महत्ता स्वीकार करनी पड़ी। इस विषय में सर्वप्रथम सन् १७५३ ई० में बम्बई में स्थापित मेयर के न्यायालय का चार्टर (शासनपत्र) प्रसिद्ध है, जिसमें अप्रत्यक्ष रूप से मनु (७।२०३) एवं याज्ञ० (१।३४३) के सिद्धान्त प्रविष्ट हो गये और इस प्रकार हठात् भारतीयों के व्यवहारों एवं आचारों को ब्रिटिश राजकीय पत्रों में प्रतिष्ठा मिल गयी।[1] ब्रिटिश पार्लियामेन्ट एवं भारतीय विधानसभाओं ने कालान्तर में शासन एवं न्याय-सम्बन्धी व्यवहार (कानून) में इन आचारों को महत्ता प्रदान की है। देखिए इस विषय में पाद-टिप्पणी।[2] इस तरह क्रमशः नये-नये कानूनों द्वारा उत्तराधिकार, रिक्थ, विवाह, जाति, धार्मिक संस्थाओं आदि के विषय में प्राचीन आचार-व्यवहार संबंधी नियमों को प्रतिष्ठा मिलती चली गयी।

विवादों की चर्चाओं के सिलसिले में बहुत-से आधारभूत तत्त्व प्रकट होते चले गये। प्रश्न यह उठा कि किसी नियम के प्रतिपादन ये कितने पुराने प्रमाणों को स्थान दिया जाय। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२७) ने स्मार्त काल (जितने पुराने काल तक स्मरण की पहुँच हो सके) को, किसी भोग के सम्बन्ध में एक सौ वर्ष की अवधि का माना है, किन्तु कात्यायन एवं व्यास ने केवल साठ वर्ष की सीमा बाँध दी है।[3] किसी आचार के प्रचलन के प्रमाण के लिए २०, ३०, ८० या ९० वर्ष भी न्यायालयों द्वारा स्वीकृत हुए हैं और यह कहा गया है कि यदि प्रमाण के विरोध में कोई अन्य साक्ष्य (गवाही)

१—Vide Lopes v. Lopes 5. Bom. H. C. R. (O. C. J.) 172, 183.

२—37, Geo. III Chap. 142 (1796 AD), Sec. 13, Bombay Regulation IV of 1827, Sec. 26, The Government of India Act of 1915 (5 & 6 Geo. V Chap. 61, Sec. 112), Government of India Act 1935 (25 Geo. V Chap. 2, Sec. 223), the Madras Civil Courts Act (III of 1873, Sec. 16), the Bengal, North-West Provinces and Assam Civil Courts Act (XII of 1887 Sec. 37), Central Provinces Laws Act (XX of 1875, Sec. 5), the Oudh Laws Act (XVIII of 1876, Sec. 3), the Bengal Laws Act (XVI of 1872, Sec. 5).

३. मुख्या पैतामही भुक्तिः पैतृकी चापि संमता। त्रिभिरेतैरविच्छिन्ना स्थिरा षष्टचब्दिकी मता॥ कात्या० (अपरार्क पृ० ६३६)। वर्षाणि विंशतिं भुक्ता स्वामिनाव्याहता सती। भुक्तिः सा पौरुषी भूमेर्द्विगुणा तु द्विपौरुषी। त्रिपौरुषी च त्रिगुणा न ततोन्वेष्य आगमः॥ व्यास (स्मृतिचन्द्रिका, अ० २, पृ० ७५)।

न उठ खड़ा हो तो इतने पुराने आचार वैधानिक ही समझे जायँगे और यह कहा जायगा कि उनके पीछे युगों की परम्पराएँ रही हैं। आचार की प्रामाणिकता की सिद्धि के लिए उदाहरणों की आवश्यकता होती है, किन्तु इस विषय में उदाहरणों की संख्या पर कोई बल नहीं दिया जाता, ऐसा आधुनिक न्यायालयों ने निर्णय दिया है। कुछ विशिष्ट विवादों में विशिष्ट उदाहरणों की आवश्यकता नहीं भी समझी जाती, किन्तु ऐसे लोगों की संमतियाँ, जो किसी आचार के अस्तित्व की जानकारी रखने के योग्य समझे जाते हैं, अधिक बल रखती हैं, भले ही उनके पीछे कोई विशिष्ट उदाहरण या दृष्टांत न हो। इस विषय में यह कह देना आवश्यक है कि पुराने काल के बहुत-से आचार, विशेषतः कुलाचार किसी अचानक घटना, प्रचलित मनोभाव में परिवर्तन या सम्बन्धित व्यक्तियों की सहमति के कारण कभी-कभी अप्रचलित मान लिये जाते हैं। किसी जाति में यदि ममेरी बहिन से विवाह आचार द्वारा व्यवस्थित है तो इससे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि मौसी या फूफी की पुत्री से भी विवाह करना वैधानिक होगा। देखिए इस ग्रंथ का खंड २, अ० ९। किसी आचार की सिद्धि, प्रयोग अथवा रीति की एकरसता एवं अनवरतता पर निर्भर रहती है, ऐसा नहीं है कि आचार की उत्पत्ति केवल आचरण, अनुकरण एवं अबोधता या पारस्परिक समझौते से होती है। आचार अयुक्तिसंगत नहीं होना चाहिए। हमने देख लिया है कि हिन्दू समाज में पुत्रियों को उत्तराधिकार से बंचित करना अयुक्तिसंगत नहीं माना गया है। प्राचीन काल में किसी मन्दिर अथवा उसकी पूजा पर किसी विशिष्ट जाति का अधिकार आचारसंगत या युक्तिसंगत समझा जा सकता था, किन्तु यह आज की सुसंस्कृत वृत्तियों की दृष्टि से गर्हित-सा लगता है।

आचार को अनैतिक नहीं होना चाहिए। आचार की अनैतिकता सम्पूर्ण जाति की भावना से समझी या जाँची जा सकती है। वह आचार, जो नीच जातियों की स्त्री को बिना तलाक दिये या बिना जाति को कुछ दंड दिये दूसरा विवाह करने की अनुमति देता है, अनैतिक समझा जाता है और बम्बई के उच्च न्यायालय ने इस विषय में स्पष्ट निर्णय दिया है। बम्बई के उच्च न्यायालय ने नर्तकियों द्वारा दत्तक-पुत्रिका ग्रहण करना अवैधानिक माना है, किन्तु मद्रास के उच्च न्यायालय ने इसे वैधानिक माना है, यदि उस पुत्रिका का ग्रहण वेश्यावृत्ति के उद्देश्यों से न किया जाय। ब्रह्मपुराण (१११।१५ एवं ४४-४६) का कथन है कि क्षत्रियों में कई प्रकार के विवाह प्रचलित हैं, यथा वधू को बलपूर्वक उठा ले जाकर विवाह करना अथवा (वर के) हथियारों से विवाह करना। कुछ जातियों में कृपाण-विवाह प्रचलित है। आधुनिक काल में कृपाण एवं तलवार-विवाह न्यायालयों द्वारा शूद्रों के लिए भी अवैधानिक कहा गया है।

बहुत-से आचार एवं रीतियाँ आज कानूनों द्वारा वर्जित कर दिये गये हैं, यथा सती, शिशु-हत्या, दासता, कुछ अवस्था तक बच्चों के विवाह, मंदिरों में देवदासियों के रूप में स्त्रियों का समर्पण। ऐसा हो जाने पर कोई न्यायालय आज किसी को इन विषयों में आचार का सहारा नहीं लेने देगा।

किस प्रकार किसी समय प्रचलित आचार एवं व्यवहार समाप्त हो सकते हैं अथवा अमान्य ठहराये जा सकते हैं, यह बात गत अध्याय के कलिवर्ज्यों से प्रमाणित हो जाती है। गत अध्याय में कुछ वैधानिक कलिवर्ज्यों का भी वर्णन कर दिया गया है।